वर्ष १४
किरण, १

सम्पादक-मण्डल
जुगलकिशोर मुख्तार
छोटेलाल जैन
जयभगवान जैन
एडवोकेट
परमानन्द शास्त्री

विषय-सूची

वीर सेवा मन्दिर, देहली

मूल्य: ।)

जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर

श्री भगवान महावीर

जिनकी २५१३वीं शासन-जयन्ती वीरसेवामन्दिरके नूतन-भवन २१ दरियागंजमें ता० २३ जुलाई सन् १९५६ को समारोहके साथ सानन्द मनाई गई

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ६)

एक किरण का मूल्य ।)

वर्ष १४ किरण, १	वीरसेवामन्दिर, २१, दरियागंज, देहली श्रावण, शुक्ला वीरनिर्वाण-संवत २४८३, विक्रम संवत २०१३	अगस्त, १९५६

श्रीवर्धमान-जिनस्तुति

श्रियः पतिः श्रीवर मंगलालये सुखं निषण्णो हरिविष्टरेऽनिशम् ।
निषेव्यते योऽखिललोकनायकैः स मंगलं नोऽस्तु परंपरो जिनः ॥१॥
सिद्धार्थ सिद्धिकर शुद्ध समृद्ध बुद्ध, मध्यस्थ सुस्थिर शिवस्थित सुव्यवस्थ ।
वाग्मिन्नुदार भगवन् सुगृहीतनामननन्दरूप पुरुषोत्तम मां पुनीहि ॥२॥
देवाधिदेव परमेश्वर वीतराग सर्वज्ञ तीर्थकर सिद्ध महानुभाव ।
त्रैलोक्यनाथ जिनपुंगव वर्द्धमान स्वामिन् गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते ॥३॥
कल्पद्रुमामृत रसायन कामधेनो चिन्तामणे गुणसमुद्र मुनीन्द्रचन्द्र ।
सिद्धौषधे सुखनिधे सुविधे विधेया धीस्ते स्तुतौ मम यथाऽस्ति तथा विधेया ॥४॥
अदृष्टपर्यन्त-सुखप्रदायिने विमूढ-सत्त्व-प्रतिबोध-हेतवे ।
अजन्मने जन्मनिबन्धनच्छिदे निरावृत्तिज्ञानमयाय ते नमः ॥५॥
चतुर्णिकायामरवंदिताय घातिक्षयावाप्तचतुष्टयाय ।
कुतीर्थतर्काजितशासनाय देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥=॥

(अजमेर बड़ामन्दिर शास्त्रभण्डारके एक प्राचीन गुटकेसे)

वाग्मी कविर्गमकवादिशिरोऽवतंसः।

समन्तभद्र-स्तोत्र

[स्तोता—'युगवीर']

(१)

श्रीवर्द्धमान-वरभक्त-सुकर्मयोगी
सद्बोध-चारुचरिताऽनघवाक्स्वरूपी।
स्याद्वाद-तीर्थजल-पूत-समस्त-गात्रः
जीयात्स मान्य-गुरुदेव-समन्तभद्रः॥

(२)

दैवज्ञ-मान्त्रिक-भिषग्वर-तान्त्रिको यः
सारस्वतं सकल-सिद्धि-गतं च यस्य।
महाकविर्गमक-वाग्मि-शिरोऽवतंसो
वादीश्वरो जयति धीर-समन्तभद्रः॥

(३)

सर्वज्ञ-शासन-परीक्षण-लब्धकीर्तिर्-
एकान्त-गाढ-तिमिराऽर्शन-तिग्मरश्मिः।
तेजोनिधिः प्रवरयोग-युतो यतिर्यः
सोऽज्ञानमाशु विधुनोतु समन्तभद्रः॥

(४)

आज्ञा-सुसिद्ध-गुणरत्न-महोदधिर्यो
बन्धुः सदा त्रिभुवनैकहितेऽनुरक्तः।
आचार्यवर्य-सुकृती स्ववशी वरेण्यः
श्रेयस्तनोतु सुखधाम-समन्तभद्रः॥

(५)

येन प्रणीतमखिलं जिनशासनं च
काले कलौ प्रकटितं जिनचन्द्रबिम्बम्।
प्राभावि भूपशिवकोटि-शिवायनं स
स्वामी प्रपातु यतिराज-समन्तभद्रः॥

(६)

देवागमादि-कृतयः प्रभवन्ति यस्य
यासां समाश्रयणतः प्रतिबोधमाप्ताः।
पात्रादिकेसरि-समा बहवो बुधाश्च
चेतः पुनातु वचनर्द्धि-समन्तभद्रः॥

(७)

यद्भारती सकल-सौख्य-विधायिनी च
तत्त्व-प्ररूपण-परा नय-शालिनी च।
युक्त्याऽऽगमेन च सदाऽप्यविरोधरूपा
सद्धर्म दर्शयतु शास्तृ-समन्तभद्रः॥

(८)

यस्य प्रभाववशतः प्रतिभापरस्य
मूकंगताः सुनिपुणाः प्रतिवादिनोऽपि।
वाचाट-धूर्जटि-समाः शरणं प्रयाताः
प्राभाविको जयतु नेतृ-समन्तभद्रः॥

(९)

श्रीवीर-शासन-वितान-धिया स्वतंत्रो
देशान्तराणि विजहार पदर्द्धिको यः।
तीर्थं सहस्रगुणितं प्रभुणा तु येन
भावी स तीर्थंकर एष समन्तभद्रः॥

(१०)

यद्ध्यानतः स्फुरति शक्तिरनेकरूपा
विघ्नाःप्रयान्ति विलयं सफलाश्च कामाः
मोहं त्यजन्ति मनुजाः स्वहितेऽनुरक्ताः
भद्रं प्रयच्छतु मुनीन्द्र-समन्तभद्रः॥

(११)

यद्भक्तिभाव निरता मुनयोऽकलंक-विद्यादिनन्द-जिनसेन-सुवादिराजाः।
गायन्ति युक्तवचनैः सुयशांसि यस्य भूयाच्छ्रियै स युगवीर-समन्तभद्रः॥

समन्तभद्रका समय-निर्णय

दिगम्बर जैनसमाजमें स्वामी समन्तभद्रका समय आम तौरपर विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। एक 'पट्टावली' + में शक सं० ६० (वि० सं० १९५) का जो उनके विषयमें उल्लेख है वह किसी घटना-विशेषकी दृष्टिको लिये हुए जान पड़ता है। उनका जीवन-काल अधिकांशमें उससे पहले तथा कुछ बादको भी रहा हो सकता है। श्वेताम्बर जैनसमाजने भी समन्तभद्रको अपनाया है और अपनी पट्टावलियोंमें उन्हें 'सामन्तभद्र' नामसे उल्लेखित करते हुए उनके समयका पट्टाचार्य-रूपमें प्रारम्भ वीरनिर्वाण-संवत् ६४३ (वि० सं० १७३) से हुआ बतलाया है। साथ ही, यह भी उल्लेखित किया है कि उनके पट्टशिष्यने वीरनि० सं० ६९५ (वि० सं० २२५) × में एक प्रतिष्ठा कराई है, जिससे उनके समयकी उत्तरावधि विक्रमकी तीसरी शताब्दीके प्रथम चरण तक पहुंच जाती है ❀। इससे समय-सम्बन्धी दोनों सम्प्रदायोंका कथन मिल जाता है और प्रायः एक ही ठहरता है।

इस दिगम्बर पट्टावली-मान्य शक सं० ६० (ई० सं० १३८) वाले समयको डाक्टर आर० जी० भाण्डारकरने अपनी 'अर्ली हिस्टरी आफ डेक्कन' में, मिस्टर लेविस राइसने, अपनी 'इंस्क्रिप्शंस ऐट् श्रवणबेल्गोल' नामक पुस्तककी प्रस्तावना तथा 'कर्णाटक-शब्दानुशासन' की भूमिकामें, मेसर्स आर० एण्ड एस० जी० नरसिंहाचार्यने अपने 'कर्नाटक कविचरिते' ग्रन्थमें और मिस्टर एडवर्ड पी० राइसने अपनी 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' में मान्य किया है। और भी अनेक ऐतिहासिक विद्वानोंने समन्तभद्रके इस समयको मान्यता प्रदान की है। अब देखना यह है कि इस समयका समर्थन शिलालेखादि दूसरे कुछ साधनों या आधारोंसे भी होता है या कि नहीं और ठीक समय क्या कुछ निश्चित होता है। नीचे इसी विषयको प्रदर्शित एवं विवेचित किया जाता है।

मिस्टर लेविस राइसने, समन्तभद्रको ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दीका विद्वान् अनुमान करते हुए जहाँ उसकी पुष्टिमें उक्त पट्टावलीको देखनेकी प्रेरणा की है वहाँ श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) को भी प्रमाणमें उपस्थित किया है, जिसमें मल्लिषेण-प्रशस्तिको उत्कीर्ण करते हुए, समन्तभद्रका स्मरण सिंहनन्दीसे पहले किया गया है। शिलालेख-की स्थितिको देखते हुए उन्होंने इस पूर्व-स्मरणको इस बातके लिये अत्यन्त स्वाभाविक अनुमान माना है कि समन्तभद्र सिंहनन्दीसे अधिक या कम समय पहले हुए हैं। चूँकि उक्त सिंहनन्दी मुनि गंगराज्य (गंगवाड़ि) की स्थापनामें सविशेषरूपसे कारणीभूत एवं सहायक थे, गंगवंशके प्रथम राजा कोंगणिवर्मा के गुरु थे, और इसलिए कोंगुदेशराजाक्कल (तामिल क्रानिकल) आदिसे कोंगणिवर्माका जो समय ईसाकी दूसरी शताब्दीका अन्तिम भाग (A. D. 188) पाया जाता है वही सिंहनन्दीका अस्तित्व-समय है ऐसा मानकर उनके द्वारा समन्तभद्रका अस्तित्व-काल ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दी अनुमान किया गया है। श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंकी उक्त पुस्तकको सन् १८८९ में प्रकाशित करनेके बाद राइस साहबको कोंगुणिवर्माका एक शिलालेख मिला, जो शक संवत् २५ (वि० सं० १६०, ई० सन् १०३) का लिखा हुआ है और जिसे उन्होंने सन् १८९४ में, नंजनगूड़ ताल्लुके (मैसूर) के शिलालेखोंमें नं० ११० पर प्रकाशित कराया है❀

+ यह पट्टावली हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थोंके अनुसंधान-विषयक डा० भण्डारकरकी सन् १८८३-८४ की अंग्रेजी रिपोर्टके पृष्ठ ३२० पर प्रकाशित हुई है।

× कुछ पट्टावलियोंमें यह वीर नि० सं० ५९५ अर्थात् वि०सं० १२५ दिया है जो किसी ग़लतीका परिणाम है और मुनिकल्याणविजयने अपने द्वारा सम्पादित 'तपागच्छ-पट्टावली' में उसके सुधारकी सूचना भी की है।

❀ देखो, मुनिकल्याणविजय-द्वारा सम्पादित 'तपागच्छ-पट्टावली पृ० ७९-८१।

❀ इस शिलालेखका आद्य अंश निम्न प्रकार है—
'स्वस्ति श्रीमत्कोंगुणिवर्म्मधर्ममहाधिराजप्रथमगंगस्य दत्तं शकवर्षगतेषु पंचविंशति २५ नेय शुभकितुसंवत्सरसु फाल्गुन-शुद्धपंचमी शनि रोहणि..................।'

(E. C. III)। उससे कोंगुणिवर्माका स्पष्ट समय ईसाकी दूसरी शताब्दी का प्रारम्भिक अथवा पूर्व-भाग पाया जाता है, और इसलिए उनके मतानुसार यही समय सिंहनन्दीका होनेसे समन्तभद्रका समय निश्चित रूपसे ईसाकी पहली शताब्दी ठहरता है—दूसरी नहीं।

श्रवणबेल्गोलके उक्त शिलालेखमें, जो शक सं० १०५० का लिखा हुआ है, यद्यपि 'ततः' या 'तदन्वय' जैसे शब्दोंके प्रयोग-द्वारा ऐसी कोई सूचना नहीं की गई जिससे यह निश्चित रूपमें कहा जासके कि उसमें पूर्ववर्ती आचार्यों अथवा गुरुओंका स्मरण कालक्रमकी दृष्टिसे किया गया है परंतु उससे पूर्व-वर्ती शक संवत ९९९ के लिखे हुए दो शिलालेखों और उत्तरवर्ती शक सं० १०९९ के लिखे एक शिला-लेखमें समन्तभद्रके बाद जो उन सिंहनन्दी आचार्य-का उल्लेख है वह स्पष्टरूपसे यह बतला रहा है कि गंगराज्यके संस्थापक आचार्य सिंहनन्दी स्वामी समन्तभद्रके बाद हुए हैं। ये तीनों शिलालेख शिमोगा जिलेके नगरताल्लुकेमें हुमच स्थानसे प्राप्त हुए हैं, क्रमशः नं० ३५, ३६, ३७ को लिये हुए हैं और एपिग्रेफिका कर्णाटिकाकी आठवीं जिल्दमें प्रकाशित हुए हैं। यहाँ उनके प्रस्तुत विषयसे सम्ब-न्ध रखने वाले अंशोंको उद्धृत किया जाता है, जो कनडी भाषामें हैं। इनमेंसे ३६ व ३७ नम्बरके शिला लेखोंके प्रस्तुत अंश प्रायः समान हैं इसीसे ३६ वें शिलालेखसे ३७वेंमें जहाँ कहीं कुछ भेद है उसे ब्रेकटमें नम्बर ३७ के साथ दे दिया गया है—

"...भद्रबाहुस्वामीगलिन्द् इत्तर्कलिकालवर्तनेयिं गण-भेद पुट्टिदुद् अवर अन्वयक्रमदिं कलिकालगणधरु शास्त्र-कर्तुगलुम् एनिसिद् समन्तभद्रस्वामीगल् अवरशिष्यसंतानं शिवकोट्याचार्य्यर् अवरिं वरदत्ताचार्य्यर् अवरिं तत्त्वार्थसूत्र-कर्तुगल् एनिसिद् आर्य्यदेवर अवरिं गंगराज्यमं माडिद सिंहनन्द्याचार्य्यर अवरिंद् एकसंधि - सुमतिभट्टारकर अवरिं.........।" (नं० ३५)

"...श्रुतकेवलिगल् एनिसिद् (एनिय ३७) भद्रबाहु-स्वामीगल् (गलिंद३७) मोदलागि पलम्बर (हलम्बर ३७) आचार्य्यर पोदिम्बलियं समन्तभद्रस्वामिगल् उदयिसिदर अवरअन्वयदोल (अनन्तरं ३७) गंगराज्यमं माडिद सिंहनन्द्याचार्य्यर् अवरिं......।" (नं० ३६, ३७)

३५वें शिलालेखमें यह उल्लेख है कि भद्रबाहु-स्वामीके बाद यहाँ कलिकालका प्रवेश हुआ—उसका वर्तना आरम्भ हुआ, गणभेद उत्पन्न हुआ और उनके वंश-क्रममें समन्तभद्रस्वामी उदयको प्राप्त हुए, जो 'कलिकालगणधर' और 'शास्त्रकार' थे, समन्त-भद्रकी शिष्य-सन्तानमें सबसे पहले 'शिवकोटि' आचार्य हुए, उनके बाद वरदत्ताचार्य, फिर तत्त्वार्थ-सूत्र× के कर्ता 'आर्यदेव', आर्यदेवके पश्चात् गंगराजका निर्माण करनेवाले 'सिंहनन्दी' आचार्य और सिंहनन्दीके पश्चात् एकसन्धि-सुमति-भट्टारक हुए। और ३६वें-३७वें शिलालेखोंमें समन्तभद्रके बाद सिंहनन्दीका उल्लेख करते हुए सिंहनन्दीका समन्त-भद्रकी वंशपरम्परामें होना लिखा है, जो वंशपर-म्परा वही है जिसका ३५वें शिलालेखमें शिव-कोटि, वरदत्त और आर्यदेव नामक आचार्योंके रूपमें उल्लेख है।

इन तीनों या चारों शिलालेखोंसे भिन्न दूसरा कोई भी शिलालेख ऐसा उपलब्ध नहीं है जिसमें समन्तभद्र और सिंहनन्दी दोनोंका नाम देते हुए उक्त सिंहनन्दीको समन्तभद्रसे पहलेका विद्वान् सूचित किया हो, या कम-से-कम समन्तभद्रसे पहले सिंहनन्दीके नामका ही उल्लेख किया हो। ऐसी हालतमें मिस्टर लेविस राइस साहबके उस अनु-मानका समर्थन होता है जिसे उन्होंने केवल 'मल्लिषेणप्रशस्ति'नामक शिलालेख (नं० ५४) में इन विद्वानोंके आगे पीछे नामोल्लेखको देखकर ही लगाया था। इन बादको* मिले हुए शिलालेखोंमें 'अवरिं', 'अवरअन्वयदोल' और 'अवर अनन्तरं' शब्दोंके प्रयोगद्वारा इस बातकी स्पष्ट घोषणा की गई है कि

× मल्लिषेण-प्रशस्तिमें आर्यदेवको 'राद्धान्त-कर्त्ता' लिखा है और यहाँ 'तत्त्वार्थसूत्र-कर्ता'। इससे 'राद्धान्त' और 'तत्त्वार्थसूत्र' दोनों एक ही ग्रन्थके नाम मालूम होते हैं और वह गृध्रपिच्छाचार्य उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रसे भिन्न जान पड़ता है।

* श्रवणबेलगोलका उक्त ५४वाँ शिलालेख सन् १८८९ में प्रकाशित हुआ था और नगरताल्लुकके उक्त तीनों शिलालेख सन् १९०४ में प्रकाशित हुए हैं, वे सन् १८८९ में लेविस राइस साहबके सामने मौजूद नहीं थे।

सिंहनन्दी आचार्य समन्तभद्राचार्यके बाद हुए हैं। अस्तु; ये सिंहनन्दी गंगवंशके प्रथम राजा कोंगुणिवर्माके समकालीन थे, इन्होंने गंगवंशकी स्थापनामें खास भाग लिया है, जिसका उल्लेख तीनों शिलालेखोंमें 'गंगराज्यम माडिद' इस विशेषण-पदके द्वारा किया गया है, जिसका अर्थ लेविस राइसने who made the Gang kingdom दिया है—अर्थात् यह बतलाया है 'कि जिन्होंने गंगराज्यका निर्माण किया' (वे सिंहनन्दी आचार्य)। सिंहनन्दीने गंगराज्यकी स्थापनामें क्या सहायता की थी इसका कितना ही उल्लेख अनेक शिलालेखोंमें पाया जाता है, जिसे यहाँ पर उद्धृत करनेकी जरूरत मालूम नहीं होती—श्रवणबेल्गोलका वह ५४वाँ शिलालेख भी सिंहनन्दी और उनके छात्र (कोंगुणिवर्मा) के साथ घटित-घटनाकी कुछ सूचनाको लिये हुए है❀।

यहाँपर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि सन् १९२५ (वि० सं० १९८२) में माणिकचन्द जैनग्रन्थमालासे प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनाके 'समय-निर्णय' प्रकरणमें (पृ० ११७) मैंने श्री लेविस राइस साहबके उक्त अनुमान पर इस आशयकी आपत्ति की थी कि उक्त शिलालेखमें 'ततः' या 'तदन्वय' आदि शब्दोंके द्वारा सिंहनन्दीका समन्तभद्रके बादमें होना ही नहीं सूचित किया बल्कि कुछ गुरुओंका स्मरण भी क्रम-रहित आगे पीछे पाया जाता है, जिससे शिलालेख कालक्रमसे स्मरण या क्रमोल्लेखकी प्रकृतिका मालूम नहीं होता, और इसके लिए उदाहरणरूपमें पात्र-केसरीका श्रीअकलंकदेव और श्रीवर्द्धदेवसे भी पूर्व स्मरण किया जाना सूचित किया था। मेरी यह आपत्ति स्वामी पात्रकेसरी और उन श्रीविद्यानन्दको एक मानकर की गई थी जो कि अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंके कर्ता हैं, और उनके इस एक व्यक्तित्वके लिये 'सम्यक्त्वप्रकाश' ग्रन्थ तथा वादिचन्द्रसूरिका 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक और 'जैनहितैषी' भाग ९, अंक ९, पृ० ४३९-४४० को देखनेकी प्रेरणा की गई थी; क्योंकि उस समय प्रायः इन्हीं आधारोंपर समाजमें दोनोंका व्यक्तित्व एक माना जाता था, जो कि एक भारी भ्रम था। परन्तु बादको मैंने 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' नामक अपने खोजपूर्ण निबन्धके दो लेखोंद्वारा❀ इस फैले हुए भ्रमको दूर करते हुए यह स्पष्ट करके बतला दिया है कि स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्दसे कई शताब्दी पहले हुए हैं, अकलंकदेवसे भी कोई दो शताब्दी पहलेके विद्वान् हैं, और इसलिये उनका अस्तित्व श्रीवर्द्धदेवसे भी पहलेका है। और इसीसे अब, जब कि सम्यक्त्वप्रकाश-जैसे ग्रन्थकी पोल खुल चुकी हैं, मैंने उक्त तीनों शिलालेखोंकी मौजूदगीको लेकर यह प्रतिपादन किया है कि उनसे श्री राइस साहबके अनुमानका समर्थन होता है, वह ठीक पाया गया और इसीसे उसपर की गई अपनी आपत्तिको मैंने कभीका वापिस ले लिया है।

जब स्वयं कोंगुणिवर्माका एक प्राचीन शिलालेख शक संवत् २५ का उपलब्ध है और उससे मालूम होता है कि कोंगुणिवर्मा वि. सं. १६० (ई० सन् १०३) में राज्यासन पर आरूढ़ थे तब प्रायः यही समय उनके गुरु एवं राज्यके प्रतिष्ठापक सिंहनन्दी आचार्यका समझना चाहिये, और इसीलिये कहना चाहिये कि सिंहनन्दीकी गुरु-परम्परामें स्थित स्वामी समन्तभद्राचार्य अवश्य ही वि० संवत् १६० से पहले हुए हैं; परन्तु कितने पहले, यह अभी अप्रकट है। फिर भी पूर्ववर्ती होने पर कम-से कम ३० वर्ष पहले तो समन्तभद्रका होना मान ही लिया जा सकता है; क्योंकि ३५वें शिलालेखमें सिंहनन्दीसे पहले आर्यदेव, वरदत्त और शिवकोटि नामके तीन आचार्योंका और भी उल्लेख पाया जाता है, जो समन्तभद्रकी शिष्यसन्तानमें हुए हैं और जिनके लिये १०-१० वर्षका औसत समय मान लेना कुछ अधिक नहीं है। इससे समन्तभद्र निश्चितरूपसे विक्रमकी प्रायः दूसरी शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान्

❀ योऽसो घातिमल-द्विषद्बल-शिला-स्तम्भावली-खण्डन-
ध्यनासिः पटुरर्हतो भगवतस्सोऽस्य प्रसादीकृतः।
छात्रस्यापि स सिंहनन्दि-मुनिना नो चेत्कथं वा शिला-
स्तम्भोराज्य-रमागमाध्व-परिघस्तेनाऽसखण्डो घनः ॥१॥

❀ ये दोनों लेख इस निबन्धसंग्रहमें अन्य पृ० ५२७ से ५६७ तक प्रकाशित हो रहे हैं।

ठहरते हैं। और यह भी हो सकता है कि उनका अस्तित्वकाल उत्तरार्धमें भी वि. सं. १६५ (शकसं. ६०)तक चलता रहा हो; क्योंकि उस समयकी स्थितिका ऐसा बोध होता है कि जब कोई मुनि आचार्य-पदके योग्य होता था तभी उसको आचार्य-पद दे दिया जाता था और इसतरह एक आचार्यके समयमें उनके कई शिष्य भी आचार्य हो जाते थे और पृथक्-रूपसे अनेक मुनि-संघोंका शासन करते थे; अथवा कोई-कोई आचार्य अपने जीवनकालमें ही आचार्य-पदको छोड़ देते थे और संघका शासन अपने किसी योग्य शिष्यके सुपुर्द करके स्वयं उपाध्याय या साधु परमेष्ठीका जीवन व्यतीत करते थे। ऐसी स्थितिमें उक्त तीनों आचार्य समन्तभद्रके जीवन-कालमें भी उनकी सन्तानके रूपमें हो सकते हैं। शिलालेखोंमें प्रयुक्त 'अवरि' शब्द 'ततः' वा 'तदनन्तर जैसे' अर्थका वाचक है और उसके द्वारा एकको दूसरेसे बादका जो विद्वान् सूचित किया गया है उसका अभिप्राय केवल एकके मरण दूसरेके जन्मसे नहीं, बल्कि शिष्यत्व-ग्रहण तथा आचार्य-पदकी प्राप्ति आदिकी दृष्टिको लिये हुए भी होता है। और इसलिये उस शब्द-प्रयोगसे उक्त तीनों आचार्योंका समन्तभद्रके जीवन-कालमें होना बाधित नहीं ठहरता। प्रत्युत इसके समन्तभद्रके समयका जो एक उल्लेख शक सम्वत् ६० (वि० सं० १६५) का—सम्भवतः उनके निधन*का—मिलता है उसकी संगति भी ठीक बैठ जाती है। स्वामी समन्तभद्र जिनशासनके एक बहुत बड़े प्रचारक और प्रसारक हुए हैं, उन्होंने अपने समयमें श्री वीरजिनके शासनकी हजार गुणी वृद्धि की है, ऐसा एक शिलालेखमें उल्लेख है, अपने मिशनको सफल बनानेके लिये उनके द्वारा अनेक शिष्योंको अनेक विषयोंमें खास तौरसे सुशिक्षित करके उन्हें अपने जीवन-कालमें ही शासन-प्रचारके कार्यमें लगाया जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है, और इससे सिंहनन्दी जैसे धर्म-प्रचारकी मनोवृत्तिके उदारमना आचार्यके अस्तित्वकी सम्भावना समन्तभद्रके जीवन-कालमें ही अधिक जान पड़ती है। अस्तु।

ऊपरके इन सब प्रमाणों एवं विवेचनकी रोशनीमें यह बात असंदिग्धरूपसे स्पष्ट हो जाती है कि स्वामी समन्तभद्र विक्रमकी दूसरी शताब्दीके विद्वान थे—भले ही वे इस शताब्दीके उत्तरार्धमें भी रहे हों या न रहे हों। और इसलिये जिन विद्वानोंने उनका समय विक्रम या ईसाकी तीसरी शताब्दीसे भी बादका अनुमान किया है वह सब भ्रम-मूलक है। डा० के० बी० पाठकने अपने एक लेखमें समन्तभद्रके समयका अनुमान ईसाकी आठवीं शताब्दीका पूर्वार्ध किया था, जिसका युक्ति पुरस्सर निराकरण 'समन्तभद्रका समय और डा० के० बी० पाठक' नामक निबन्ध (नं० १८) में विस्तारके साथ किया जा चुका है और उसमें उनके सभी हेतुओंको असिद्धादि दोषोंसे दूषित सिद्ध करके निःसार ठहराया गया है (पृ० २६७-३-२)।

* जिस पट्टावलीमें यह समय दिया हुआ है, उस पर सरसरी नज़र डालनेसे मालूम हुआ कि उसमें जो दूसरे आचार्यादिका समय दिया हुआ है वह सब उनके जीवन-कालकी समाप्तिका सूचक है, और इससे समन्तभद्रका उक्त समय भी उनके जीवनकालकी समाप्तिका सूचक जान पड़ता है।

यहाँ इस पट्टावलीके सम्बन्धमें इतना और भी प्रकट कर देना उचित जान पड़ता है कि यह पट्टावली किसी श्वेताम्बर आचार्य या विद्वान्के द्वारा संकलित की गई है। इसमें उन्हीं आचार्यादिकोंके नाम पट्टक्रमके रूपमें दिये हैं जिन्हें संकलनकर्ता 'श्रीवर्द्धमानस्वामि-प्ररूपित शुद्ध धर्मका आराधक' समझता था; जैसा कि पट्टावलीके "श्रीवर्द्धमानस्वामिप्ररूपितशुद्धधर्माराधकानां पट्टानुक्रमः" इस वाक्यसे स्पष्ट है। पट्टावलीमें सत्तरहवें पट्टपर समन्तभद्रका नामोल्लेख करते हुए उन्हें 'दिगम्बराचार्य' लिखा है। पट्टावलीका वह उल्लेखवाक्य इस प्रकार है—

६० शाके राज्ये दिगम्बराचार्यः १७ श्रीसामन्तभद्रसूरिः

श्वेताम्बरोंके द्वारा 'पट्टावलिसमुच्य' आदि जो पट्टावलियाँ प्रकाशित हुई हैं, उनमें जहाँ १७वें आदि पट्टपर सामन्तभद्रका नाम दिया है वहाँ साथमें 'दिगम्बराचार्य' यह विशेषण नहीं पाया जाता; इससे मालूम होता है कि यह विशेषण बादको किसी दृष्टिविशेषके वश पृथक् किया गया है।

डॉक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणने, अपनी 'हिस्टरी आफ़ दि मिडियावल स्कूल आफ़ इंडियन लॉजिक'में यह अनुमान प्रकट किया था कि समन्तभद्र ईसवी सन ६०० के लगभग हुए हैं। परन्तु आपके इस अनुमानका क्या आधार है अथवा किन युक्तियोंके बल पर आप ऐसा अनुमान करनेके लिये बाध्य हुए हैं, यह कुछ भी सूचित नहीं किया। हाँ, इससे पहले इतना जरूर सूचित किया है कि समन्तभद्रका उल्लेख हिन्दू तत्त्ववेत्ता 'कुमारिल'ने भी किया है और उसके लिये डॉ० भाण्डारकरकी संस्कृत ग्रन्थोंके अनुसन्धान-विषयक उस रिपोर्टके पृ० ११८ को देखनेकी प्रेरणा की है जिसका उल्लेख इस लेखके शुरूमें एक फुटनोट-द्वारा किया जा चुका है। साथ ही, यह प्रकट किया है कि 'कुमारिल' बौद्ध तार्किक विद्वान् 'धर्मकीर्ति'का समकालीन था और उसका जीवन-काल आम तौर पर ईसाकी ७वीं शताब्दी (६३५ से ६५०) माना गया है। शायद इतने परसे ही—कुमारिलके ग्रन्थमें समन्तभद्रका उल्लेख मिल जाने मात्रसे ही—आपने समन्तभद्रको कुमारिलसे कुछ ही पहलेका अथवा प्रायः समकालीन विद्वान् मान लिया है, जो किसी तरह भी युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। कुमारिलने अपने श्लोकवार्तिकमें, अकलंकदेवके 'अष्टशती' ग्रन्थपर उसके 'आज्ञाप्रधानाहि……' इत्यादि वाक्योंको लेकर, कुछ कटाक्ष किये हैं ❀ जिससे अकलंकके 'अष्टशती' ग्रन्थका कुमारिलके सामने मौजूद होना पाया जाता है। और यह अष्टशती ग्रन्थ समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका भाष्य है, जो समन्तभद्रसे कई शताब्दी बादका बना हुआ है। इससे विद्याभूषणजीके अनुमानकी निःसारता सहज ही व्यक्त हो जाती है।

इन दोनों विद्वानोंके अनुमानोंके सिवाय पं० सुखलालजीका 'ज्ञानबिन्दु'की परिचयात्मक प्रस्तावनामें समन्तभद्रको विना किसी हेतुके ही पूज्यपाद (विक्रम छठी शताब्दी) का उत्तरवर्ती बतलाना और भी अधिक निःसारताको लिये हुए हैं—वे पूज्यपादके 'जैनेन्द्र' व्याकरणमें '**चतुष्टयं समन्तभद्रस्य**' और '**वेत्तेः सिद्धसेनस्य**' इन दो सूत्रोंके द्वारा समन्तभद्र और सिद्धसेनके उल्लेखको जानते-मानते हुए भी सिद्धसेनको तो एक सूत्रके आधार पर पूज्यपादका पूर्ववर्ती बतला देते हैं परन्तु दूसरे सूत्रके प्रति गज-निमीलन जैसा व्यवहार करके उसे देखते हुए भी अनदेखा कर जाते हैं और समन्तभद्रको यों ही चलती क़लमसे पूज्यपादका उत्तरवर्ती कह डालते हैं। साथ ही, इस बातको भी भुला जाते हैं कि सन्मतिकी प्रस्तावनामें वे पूज्यपादको समन्तभद्रका उत्तरवर्ती बतला आए हैं और यह लिख आए हैं कि 'स्तुतिकाररूपमें प्रसिद्ध इन दोनों आचार्योंका उल्लेख पूज्यपादने अपने व्याकरणके उक्त सूत्रोंमें किया है उनका कोई भी प्रकारका प्रभाव पूज्यपादकी कृतियों पर होना चाहिये' जो कि उनके उक्त उत्तरवर्ती कथनके विरुद्ध पड़ता है। उनके इस उत्तरवर्ती कथनका विशेष ऊहापोह एवं उसकी निःसारताका व्यक्तीकरण 'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन' नामक २७वें निबन्ध के 'सिद्धसेनका समयादिक प्रकरण' (पृ० ५४३-५६६) में किया गया है और उसमें तथा 'सिद्धसेनका सम्प्रदाय और गुणकीर्तन'नामक प्रकरण (पृ० ५६६-८५) में यह भी स्पष्ट करके बतलाया गया है कि समन्तभद्र न्यायावतार और सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनोंसे ही नहीं, किन्तु प्रथमादि द्वात्रिंशिकाओंके कर्त्ता सिद्धसेनोंसे भी पहले हुए हैं। 'स्वयम्भूस्तुति' नामकी द्वात्रिंशिकामें सिद्धसेनने '**अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः**' जैसे वाक्योंके द्वारा सर्वज्ञपरीक्षकके रूपमें स्वयं समन्तभद्रका स्मरण किया है और अन्तिम पद्यमें '**तव गुणकथोत्का वयमपि**' जैसे वाक्योंका साथमें प्रयोग करके वीरस्तुतिके रचनेमें समन्तभद्रके अनुकरणकी साफ़ सूचना भी की है—लिखा है कि इस सर्वज्ञद्वारकी परीक्षा करके हम भी आपकी गुणकथा करनेमें उत्सुक हुए हैं।

समयका अन्यथा प्रतिपादन करनेवाले विद्वानोंके अनुमानादिकको ऐसी स्थितिमें समन्तभद्रका विक्रमकी दूसरी अथवा ईसाकी पहली शताब्दीका समय और भी अधिक निर्णीत और निर्विवाद हो जाता है।

—जुगलकिशोर मुख्तार

❀ देखो, प्रोफेसर के० बी० पाठकका 'दिगम्बर जैन-साहित्यमें कुमारिलका स्थान' नामक निबन्ध।

कसाय पाहुड और गुणधराचार्य

(परमानन्द शास्त्री)

ग्रन्थ-परिचय

भारतीय मुनि-पुंगव आचार्योंमें श्रीगुणधराचार्यका नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है, क्योंकि वे गोवर्द्धनाचार्यके शिष्य भद्रबाहु श्रुतकेवलीकी शिष्य-परम्परामें होनेवाले पूर्वधर आचार्योंमें से हैं। उन्होंने ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्वके दशवें वस्तु नामक अधिकारके तृतीय प्राभृतसे, जिसका नाम 'पेज्जदोस पाहुड' है, 'कसाय पाहुडसुत्त'की रचना की थी। उन्होंने उस पूर्वका समस्त सार अथवा नवनीतामृत १८० मूल गाथाओं और ५३ विवरण गाथाओंमें उपसंहारित किया था। कसायपाहुडसुत्तके मूल पाठपरसे ऐसा प्रतिभासित होता है कि यह ग्रन्थ बीजपद रूप है और वे बीजपद गम्भीर अर्थके द्योतक और प्रमेय-बहुल हैं। इससे आचार्य गुणधरकी उक्त रचना कितने महत्व की है यह उसके टीका-ग्रन्थोंके अध्ययनसे स्पष्ट है जो छह हजार और ६० हजार श्लोक-प्रमाणको लिये हुए वर्तमानमें उपलब्ध हैं। यद्यपि इस महान् ग्रन्थ पर और भी अनेक विशाल टीका-टिप्पण लिखे गये हैं; परन्तु खेद है कि वे इस समय उपलब्ध नहीं हैं किन्तु कसायपाहुडकी सरणी-जैसा बीज पदरूप संक्षिप्त-सार एक भी प्राचीन आगम दिगम्बर-श्वेताम्बर समाजमें अद्यावधि उपलब्ध नहीं है। जैन-समाजका सौभाग्य है कि जो यह प्राचीन आगम ग्रन्थ अपनी चूर्णि और जयधवला टीकाके साथ उपलब्ध हैं।

कसाय-पाहुडका दूसरा नाम 'पेज्जदोस-पाहुड' है। 'पेज्ज' शब्दका अर्थ राग (प्रेम) और 'दोस' शब्दका अर्थ द्वेष होता है। अतः जिसमें राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभादिक दोषोंकी उत्पत्ति, स्थिति, तज्जनित कर्मबन्ध और उनके फलानुभवनके साथ-साथ उन रागादि दोषोंको उपशम करने—दबाने, उनकी शक्ति घटाने, क्षीण करने अथवा आत्मामेंसे उनके अस्तित्वको सर्वथा मिटा देने, नूतन बन्ध रोकने और पूर्वमें संचित 'कषाय-मलचक्र' को क्षीण करने—उसका रस सुखाने—और आत्माके शुद्ध, एवं सहज विमल अकषाय भावको प्राप्त करनेका जिसमें विवेचन किया गया हो, उसे 'पेज्ज दोसपाहुड' या कसायपाहुड कहते हैं। मोह-कर्म आत्माका सबसे प्रबल शत्रु है। राग-द्वेषादिक दोष मोह कर्मकी ही पर्याय हैं। दृष्टिगत होने वाला यह संसारचक्र सब इसी मोहका विस्तृत परिणाम है। उसीके जीतनेका इस ग्रंथमें सुन्दर विधान किया गया है। विवेकी जनोंको उसका स्वरूप समझ लेना कषायचक्रके तापसे छूटनेकी अनुपम औषधि है। उसीसे मानव जीवनकी सफलता है। यह ग्रन्थ मुमुक्षुओंके बड़े कामकी चीज है।

ग्रन्थकर्ता आचार्य गुणधर

इस महान् आगम ग्रन्थके कर्ता आचार्य प्रवर गुणधर हैं, उनकी गुरुपरम्परा क्या है वे कब हुये हैं और उनका निश्चित समय क्या है? इसके जाननेका कोई साधन प्राप्त नहीं है और न उनके यथार्थ समयकी द्योतक खास सामग्री ही अद्यावधि उपलब्ध है जिससे उनकी गुरु-परम्परा पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा सके। फिर भी अन्य साधनोंसे उनके समयके सम्बन्धमें विचार किया जाता है। आशा है कि विद्वान् उस पर विचार करनेकी कृपा करेंगे।

वर्तमानमें उपलब्ध श्रुतावतारों और पट्टावलियोंसे भी आचार्य गुणधरके समय-सम्बन्धी निर्णय करनेमें कोई सहायता नहीं मिलती। किन्तु इन्द्रनन्दीने तो अपने श्रुतावतारमें यह बात साफ तौरसे सूचित की है कि हमें गुणधर और धरसेनाचार्यकी गुरु-परम्परा ज्ञात नहीं है; क्योंकि उसके बतलाने वाले मुनिजनोंका इस समय अभाव है ×। इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि गुणधराचार्यकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन थी, इसीसे लोग उसे भूल गये। प्राकृत पट्टावलीसे ज्ञात होता है कि पुण्ड्रवर्धन नगरके आचार्य अर्हद्बलीने जो अष्टांग महानिमित्तके वेत्ता और शिष्योंके निग्रह-अनुग्रह करनेमें

× तदन्वयकथकागम-मुनिजनाभावात्

—इन्द्रनन्दि श्रुतावतार

समर्थ थे। विद्वान् और तपस्वी थे। उन्होंने युगप्रतिक्रमणके समय विविध स्थानोंसे समागत साधु-संतों से, जो उक्त सम्मेलनमें भाग लेनेके लिये ससंघ आये हुए थे आचार्य-प्रवरने पूछा कि सकल-संघ आ गया, तब समागत साधुओंने उत्तर दिया कि हम सब अपने-अपने संघसहित आ गये हैं। इससे आचार्य अर्हद्बलीको यह निश्चय हो गया कि अब साधुगण संघकी एकताको छोड़कर विविध संघों और गण-गच्छोंमें विभक्त हो जावेंगे। अतएव उन्होंने उन साधुओंमेंसे किन्हींको 'नन्दि' संज्ञा किन्हींको देव' संज्ञा, और जो शाल्मलीद्रुममूलसे आये हुए थे उनमेंसे किन्हींको 'गुणधर' संज्ञा और किन्हींको 'गुप्त' संज्ञासे विभूषित किया ॐ।

इससे स्पष्ट है कि आचार्य अर्हद्बली से पहले क्षपणक जैन श्रमणसंघमें किसी तरहका कोई संघ-भेद न था; किन्तु युग-प्रति क्रमणके समय-से ही संघ-भेद शुरू हुआ। और उस समय अर्हद्बली जैसे बहुश्रुत आचार्योंके हृदयोंमें गुणधराचार्य के प्रति बहुमान मौजूद था। यही कारण है कि उन्होंने 'गुणधर' संज्ञा के द्वारा उनके प्रति केवल बहुमान ही प्रदर्शित नहीं किया; किन्तु उनके अन्वय को उज्जीवित करने का प्रयत्न किया है। अतः 'गुणधर' यह संज्ञा आचार्य गुणधरके अन्वय की सूचक है। पर उस समयके साधु-सन्तोंके हृदयोंमें से गुणधराचार्य की गुरु-परम्परा विस्मृत हो चुकी थी, फिर भी गुणधराचार्य के महान व्यक्तित्व की छाप तात्कालिक श्रमण-संघके हृदय-पटल पर अंकित थी। प्राकृत पट्टावली के अनुसार अर्हद्बलीका यह समय वीर निर्वाण संवत् ५६५ (वि० संवत् ६५) है। और उनका पट्टकाल २८ वर्ष बतलाया गया है उनके बाद माघनन्दी और धरसेनाचार्य का पट्टकाल क्रमशः २१ और १६ वर्ष उद्घोषित किया है।

ॐ ये शाल्मलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपगतास्तेपु।
कांश्चिद् गुणधरसंज्ञान्कांश्चिद् गुप्ताह्वयानकरोत् ।६५।
—इन्द्रनन्दि श्रुतावतार

पंचसये पणसट्ठे अंतिम-जिन-समय-जादेसु ।
उववण्णा पंच जणा इयंगधारी मुणेयव्वा ॥ स० ६।
अहिवल्लि य माघणंदिय धरसेण पुफ्फ यंत भूयबली।
अडवीसे इगिवीसे उगणीसे तीस वीप वास पुणो ।।१६
प्राकृत पट्टावली १५

कसाय पाहुडकी प्राचीनता

इससे स्पष्ट है कि आचार्य गुणधर अर्हद्बली माघनन्दी और धरसेनाचार्यसे पूर्ववर्ती हैं, कितने पूर्ववर्ती हैं यह अभी विचारणीय है।

दूसरे यह जान लेना भी आवश्यक है कि धरसेनाचार्य द्वारा पढ़ाये गए पुष्पदंत-भूतबली आचार्यों द्वारा विरचित षट्खण्डागम नामक आगम ग्रन्थ-में उपशम क्षायिक सम्यक्त्व उत्पत्ति के जो सूत्र दिये हैं उन पर कसायपाहुडकी निम्न दो गाथाओंका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है और इससे भी गुणधराचार्यका समय पूर्ववर्ती सिद्ध होता है।

दंसणमोहस्सुवसामगो दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो।
पंचिंदिओ य सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो ॥ ६४ ॥
—कसायपाहुड

"उवसामेंतो कम्हि उवसामेदि ? चदुसु वि गदीसु उवसामेदि। चदुसुवि गदीसु उवसामेंतो पंचिंदिएसु उवसामेदि, णो एइंदिय-विगलिंदिएसु। पंचिंदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु-उवसामेदि, णो असण्णीसु। सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु। गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि, णो अपज्जत्तएसु। पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्ज वस्साउगेसु वि उवसामेदि, असंखेज्जवस्साउगेसु वि।

—षट्खंडागम. सम्मत्तचूलि० पु० ६,

दंसण मोहक्खवणा पट्ठवगो कम्मभूमि जादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥ ११०

दंसणमोहणीयं कम्मं खवेदुमाढवेंतो कम्हि आढवेदि ? अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पण्णारस कम्मभूमीसु जम्हि जिणा केवली तित्थयरा तम्हि आढवेदि ।।१२।। णिट्ठवओ पुण चदुसु वि गदीसु णिट्ठवेदि ।।१३।।

षट्खण्डागम, सम्म० चू० पु० ६

चूंकि गुणधराचार्य पांचवें पूर्व-गत पेज्ज दोस पाहुडके ज्ञाता थे, अतः उनकी यह रचना विक्रम संवत् से कमसे कम दो सौ वर्ष पूर्व की तो होनी ही चाहिये। अतः यह ग्रन्थ विक्रम पूर्व द्वितीय शताब्दी के लगभगका होना चाहिये। यह उस समयकी पुरातन रचना है जब ग्रन्थ रचने का

जैन परम्परा में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः यह ग्रन्थभारतीय आगम-ग्रन्थोंमें सबसे पुरातन लिखी जाने वाली प्रथम रचना है। जिसका भगवान महावीरकी वाणीसे साक्षात् सम्बन्ध है। यही वजह है कि इस ग्रन्थका अपना विशिष्ट स्थान है। इस ग्रंथकी महत्ताका वे ही मूल्य आंक सकेंगे, जो उसके मनन और चिन्तन द्वारा कसाय-शत्रु को विनष्ट करने में यत्नशील होंगे।

कविवर ठकुरसी और उनकी कृतियाँ

(पं० परमानन्द शास्त्री)

जीवन-परिचय और रचनाएँ

विक्रमकी १६वीं शताब्दीके विद्वान कवियोंमें कविवर ठकुरसीका नाम भी उल्लेखनीय है। कवि ठकुरसी कविवर घेल्हके पुत्र थे। उनकी माता बड़ी ही धर्मिष्ठा थी। गोत्रपहाड़या था और जाति खण्डेलवाल तथा धर्म दिगम्बर जैन था। आप उस समयके अच्छे कवि कहे जाते थे; और कविता करना एक प्रकारसे आपकी पैतृक सम्पत्ति थी। आपके पिता भी अच्छी कविता करते थे; परन्तु अद्यावधि उनकी कोई रचना मेरे देखने में नहीं आई। हो सकता है कि वह अन्वेषण करनेपर प्राप्त होजाय।

कविवर ठकुरसीकी इस समय चार कृतियोंका पता चला है। ये सभी कृतियाँ अभी तक अप्रकाशित हैं। इनका अवलोकन करनेसे जहाँ कविकी काव्य शक्तिका परिचय मिलता है वहाँ उनकी प्रतिभाका भी दर्शन हुए बिना नहीं रहता। रचनाओंमें स्वभावतः माधुर्य और प्रासाद है, उन्हें पढ़ते हुए जीमें अरुचि नहीं होती; किन्तु शुरू करने पर उसे पूरी किये बिना जी छोड़ने को नहीं चाहता। आपकी कृतियोंके नाम हैं,—कृपण चरित्र, मेघमालावयकहा, पंचेन्द्रियवेल, और नेमि-राजमतीवेल। इनमेंसे पाठक प्रथम रचनाके नामसे परिचित हैं क्योंकि उसका किंचित् परिचय पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईने अपने हिन्दी साहित्यके जैन इतिहासमें कराया था।

प्रस्तुत 'कृपणचरित्र'की एक प्रतिलिपि मेरे पास है जिसे मैंने जयपुरके किसी गुटके परसे कुछ वर्ष हुए नोट की थी। कविने इसमें अपनी आँखों देखी एक घटनाका विस्तृत परिचय कराया है*। घटना

* जिसु कृपणु इकु दीठु तिसो गुण तासु बखाणयौं।

कृपणचरित्र

सजीव है और कविने उसे ३५ पद्योंमें रखनेका यत्न किया है रचना सरस और प्रासाद गुणसे युक्त है। और उसे वि० सं० १५८० के पौष महीनेकी पंचमीके दिन पूर्ण किया गया है। उक्त घटनाका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है:—

एक प्रसिद्ध कृपण व्यक्ति उसी नगरमें रहता था जहाँ कविवर निवास करते थे। वह जितना अधिक कृपण था उसकी धर्मपत्नी उतनी ही अधिक उदार थी। वह दान-पूजा, शील आदिका पालन करती थी, किन्तु उस कृपणने सम्पदाको बड़े भारी यत्न और अनेक कौशलोंसे प्राप्त किया था। धन संचय-की लालसा उसकी बहुत बढ़ी हुई थी, वह जोड़ना जानता था, खर्च करनेमें उसे भारी भय लगा रहता था। वह रातदिन इसी चिन्तामें रहता था कि किसी तरहसे सम्पत्ति संचित होती रहे, परन्तु कभी दान, पूजा यात्रा आदि धर्मकार्योंमें खर्च नहीं किया था। माँगनेवालोंको कभी भूलकर भी नहीं देता था, और न किसी देवमन्दिर गोठ या सह-भोजमें ही धनको व्यय करता था। भाई, बहिन, बुआ, भतीजा, और भाणिजी आदिके न्योता आने पर कभी नहीं जाता था किन्तु रूखा सा बना रहता था उसने कभी सिरमें तेल डालकर स्नान नहीं किया था, धनके लिये झूठ बोलता था, झूठा लेख लिखाता था, कभी पान नहीं खाता, न खिलाता था, और न कभी सरस भोजन ही करता था, और न कभी चन्दनादि द्रव्यका लेप ही किया, न कभी नया कपड़ा पहिनता था, कभी खेल-तमाशे देखने भी न जाता था और न गीतरस ही सुहाता था, कपड़ा फटजाने के भयसे उन्हें कभी धोता भी न था, कभी किसी

अभ्यागत या पाहुनेके आजाने पर भी उसे नहीं खिलाता था, मुँह छिपाकर रह जाता था। इसीसे पत्नीसे रोजाना कलह होती थी जैसा कि कविकी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है:—

> झूठ कथन नित खाइ लखै लेखौ नित झूठौ,
> झूठ सदा महु करै झूठु नहु होइ अपूठौ।
> झूठी बोलै साखि झूठे झगड़े नित्य उपावै,
> जहिं तहिं बात विस सि धूतिधनु घरमहि ल्यावै।
> लोभ कौल यौं चेते न चित्ति जो कहि जै सोई खवै,
> धनकाज झूठु बोलै कृपणु मनुव जनम लाधो गवै ॥५
> कदे न खाइ तंबोलु मरसु भोजनु नहि भक्खै,
> कदे न कापड नवा पहिरि काया सुखि रक्खै।
> कदे न सिर में तेलु घालि मलि मूरख न्हावै,
> कदे न चंदन चरचै अंगि अवीरु लगावै।
> पेषणो कदे देखै नहीं श्रवणु न सुहाई गीन रसु,
> घर घरिणि कहे इम कंत स्यौं दई काइ दीन्हौं न यसु॥६
> वह देण खाण रखचै न किवें दुवै करहिदिनिकलहश्रांत
> सगी भतीजी भुवा वहिणि भाणिजी न ज्यावै,
> रहे रुसडो मांडि आपु न्योतो जब आवै।
> पाहुणो सगो आयो सुणै रहइ छिप्पौ मुँह राखिकर।
> जिव जाइ तिवहि परिनीसरै यों धनुसंच्यो कृपण नर,

कृपण की पत्नी, जब नगर की दूसरी स्त्रियों को अच्छा खाते-पीते और अच्छे वस्त्र पहिनते और धर्म-कर्म का साधन करते देखती तो अपने पतिसे भी वैसा ही करने को कहती, इस पर दोनों में कलह हो जाती थी। तब वह सोचती है कि मैंने पूर्वमें ऐसा क्या पाप किया है? जिससे मुझे ऐसे अत्यन्त कृपण पतिका समागम मिला। क्या मैंने कभी कुदेवकी पूजा की, सुगुरु साधुओंकी निन्दा की, कभी झूठ बोला, दया न पाली, रात्रिमें भोजन किया, या व्रतोंकी संख्याका अपलाप किया, मालूम नहीं मेरे किस पापका उदय हुआ जिससे मुझे ऐसे कृपणपतिके पाले पड़ना पड़ा, जो न खावे न खर्च करने दे, निरन्तर लड़ता ही रहता है।

एक दिन पत्नीने सुना कि गिरनारकी यात्रा करनेके लिये संघ जा रहा है। तब उसने रात्रिमें हाथ जोड़कर हँसते हुए संघयात्राका उल्लेख किया और कहा कि सब लोग संघके साथ गिरनार और शत्रुंजयकी यात्राके लिये जा रहे हैं। वहाँ नेमि-जिनेन्द्रकी वन्दना करेंगे, जिन्होंने राजमतीको छोड़ दिया था। वे वन्दना पूजा कर अपना जन्म सफल करेंगे। जिससे वे पशु और नरकगतिमें न जायगे। किन्तु अमर पद प्राप्त करेंगे। अतः आप भी चलिये। इस बातको सुनकर कृपणके मस्तकमें सिलवट पड़ गई वह बोला कि क्या तू बावली हुई है जो धन खरचनेकी तेरी बुद्धि हुई। मैंने धन चोरीसे नहीं लिया और न पड़ा हुआ पाया, दिन-रात नींद, भूख प्यासकी वेदना सही, बड़े दुःखसे उसको प्राप्त किया है, अतः खरचनेकी बात अब मुँहसे न निकालना।

तब पत्नी बोली हे नाथ! लक्ष्मी तो बिजलीके समान चंचला है। जिनके पास अटूट धन और नवनिधि थी, उनके साथ भी धन नहीं गया, केवल जिन्होंने संचय किया उन्होंने उसे पाषाण बनाया, जिन्होंने धर्म-कार्यमें खर्च किया उनका जीवन सफल हुआ। इसलिये अवसर नहीं चूकना चाहिए, नहीं मालूम किन पुण्य परिणामोंसे अनन्त धन मिल जाय। तब कृपण कहता है कि तू इसका भेद नहीं जानती, पैसे बिना आज कोई अपना नहीं है। धनके बिना राजा हरिश्चन्द्रने अपनी पत्नीको बेचा था। तब पत्नी कहती है कि तुमने दाता और दानकी महत्ता नहीं समझी। देखो, संसारमें राजा कर्ण और विक्रमादित्यसे दानी राजा हो गये हैं, सूमका कोई नाम नहीं लेता जो निःस्पृह और सन्तोषी है, वह निर्धन होकर भी सुखी है, किन्तु जो धनवान होकर भी चाह-दाहमें जलता रहता है वह महा दुःखी है। मै किसीकी होड़ नहीं करती, पर पुण्य-कर्ममें धनका लगाना अच्छा ही है। जिसने केवल धन संचय किया, किन्तु स्व-परके उपकारमें नहीं लगाया वह चेतन होकर भी अचेतन जैसा है जैसे उसे सर्पने डस लिया हो।

इतना सुनकर कृपण गुस्सेसे भर गया और उठकर बाहर चला गया। तब रास्तेमें उसे एक पुराना मित्र मिला। उसने कृपणसे पूछा मित्र! आज तेरा मन म्लान क्यों है? क्या तुम्हारा धन राजाने छीन लिया या घरमें चोर आगये, या घरमें

कोई पाहुना आ गया है. या पत्नीने सरस भोजन बनाया है। किम कारणसे तेरा मुख आज म्लान दीख रहा है। कृपणने कहा कि मित्र ! मुझे घरमें पत्नी सताती है, यात्रा चलनेके लिये धन खरचनेको कहती है, जो मुझे नहीं भाता, इसी कारणसे मैं दुर्बल हो रहा हूँ, रात-दिन भूख नहीं लगती। मित्र मेरा तो मरण आ गया है। तब मित्रने कहा कि हे कृपण ! सुन, तू मनमें दुःख न कर। पापिनी-को पीहर पठाय दे, जिससे तुझे कुछ दिनों सुख मिले। यह सुनकर कृपणको अति हर्ष हुआ। एक आदमीको बुलाकर एक झूठा लेख लिख दिया कि तेरे जेठे भाईके घर पुत्र हुआ है, अतः तुझे बुलाया है। यद्यपि पत्नी पतिके इस प्रपंचको जानती थी किन्तु फिर भी वह उस पुरुषके साथ पीहर चली गई।

जब संघ यात्रासे लौटकर आया, तब ठौर-ठौर ज्यौनारें की गईं, महोत्सव किये गए। और माँगने वालोंको दान दिया गया, अनेक बाजे बजे, और लोगोंने असंख्य धन कमाया। जब इस बातको कृपणने सुना तो अपने मनमें बहुत पछताया, यदि मैं भी गया होता तो खूब ज्योंणार खाता, व्यापार करता और धन कमाकर लाता, पर हाय कुछ भी नहीं कर सका। दैवयोगसे कृपण बीमार हो गया, उसका अन्त समय समझ कर कुटुम्बियोंने उसे समझाया और दान पुण्य करनेकी प्रेरणा की। तब कृपणने गुस्सेसे भरकर कहा कि मेरे जीते या मरने पर कौन मेरा धन ले सकता है मैंने धनको बड़े यत्नसे रक्खा है। राजा, चोर और आगसे उसकी रक्षा की है। अब मैं मृत्युके सम्मुख हूं अतः हे लक्ष्मी तू मेरे साथ चल, मैंने तेरे कारण अनेक दुःख सहे हैं। तब लक्ष्मी कृपण से कहती है कि—

"लच्छि कहै रे कृपण झूठ हौं कदे न बोलौं,
जु को चलण दुइ देइ गैल लागी तासु चालौं।
प्रथम चलण मुझु एहु देव देहुरे ठविज्जै।
दूजै जात पतिट्ठ दाणु चउसंघहिं दिज्जै,
ये चलण दुवे तैं भंजिया ताहिविहूणो क्यौ चलौं।
झखमारि जाइ तुं हौ रहो वहुडि न संगि थारे चलौं॥"

मेरीदो बातें हैं उनमें से प्रथम तो देव मन्दिरों में रहती हूँ। दूसरे यात्रा, प्रतिष्ठा दान और चतुर्विध संघ पोषणादिकार्य हैं। उनमें से तूने एक भी नहीं किया अतः मै तुम्हारे साथ नहीं जा सकती।

इस तरह कृपण विचार कर ही रहा था कि जीभ थक गई, वह बोलनेमें असमर्थ हो गया। वह इस संसारसे विदा हो गया और मर कर कुगतिमें गया, पश्चात् पत्नी आदिने उसे संचित द्रव्य को दान धर्मादि कार्योंमें लगाया।

कवि की दूसरी कृति 'मेघमाला व्रत कथा' है। इस कथा की उपलब्धि भट्टारक हर्षकीर्ति अजमेर के शास्त्रभंडार के एक गुटके परसे हुई है। यह कथा ११५ कडवक, और २११ श्लोकोंके प्रमाण को लिये हुए हैं। इस ग्रन्थ की आदि अन्त प्रशस्तिमें इस कथा के बनाने में प्रेरक, तथा कथा कहां बनाई गई वहाँके राजा और कथा के रचने का समय भी दिया हुआ है।

इस ग्रन्थ की आदि प्रशस्ति में बतलाया है कि ढुंढाहड देशके मध्यमें चम्पावती (जयपुर राज्यका वर्तमान चाटसु) नामकी एक नगरी है, जो उस समय धन-धान्यादि से विभूषित थी, और जिसके शासक राजा रामचंद्र जी थे, वहां भगवान पार्श्वनाथका एक जिनमन्दिर भी बना हुआ था, जिसमें तत्कालीन भट्टारक प्रभाचन्द्र गौतम गणधर के समान बैठे हुए थे, और जो नगर निवासी भव्यजनों को धर्मामृतका पान करा रहे थे। उनमें मल्लिदास नामक वणिक पुत्र ने कवि ठकुरसी से मेघमालाव्रत कथाके कहने की प्रेरणा की। उस समय चम्पावती नगरीमें अन्य समाजोंके साथ खण्डेलवाल जाति के अनेक घर थे। जिनमें अजमेरा, और पहाड्या गोत्रादि सज्जनों का निवास था, जो श्रावकोचित क्रियाओंका सदा अनुष्ठान करते रहते थे। वहाँ तोषक नामके एक विद्वान भी रहते थे। श्रावकजनोंमें उस समय जीणा, ताल्हु, पारस, वाकुलीवाल, नेमिदास, नाथूसि, और भुल्लण आदि श्रावकोंने मेघमाला व्रत ग्रहण किये थे। यहां हाथुव शाह नामके एक महाजन भी रहते थे उनके और भट्टारक प्रभाचन्द्रके उपदेश से कवि ने मेघमाला व्रत को कब और कैसे करना चाहिये आदि पूरी विधिका उल्लेख करते

हुये इस ग्रन्थ को संवत् १५८० में प्रथम श्रावण सुदि छठके दिन पूर्ण किया है ×।

पंचेन्द्रिय बेल

कवि की तीसरी कृति पंचेन्द्रिय की बेल हैं यह खण्ड रचना भी कवि की बड़ी ही रसीली कृति है। जिसमें जीवको पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे छुड़ाने का यत्न किया गया है। इस ग्रन्थमें एक एक इन्द्रियके विषयसे होने वाली हानि को दिखलाते हुये पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होने का अच्छा उपाय बतलाया गया है। यहाँ पाठकों की जानकारी के लिये घ्राण इन्द्रिय का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है जिससे पाठक उक्त खण्ड रचना का आस्वाद कर सके।

"कमल पयट्ठो भमर दिनि घ्राण गंध रस रूढ।
रमणि पडीतो संवुड्यौ नीसरि सक्यौ न मूढ।
सो नीसरि सक्यौ न मूढौ अतिघ्राण गंधरस रूढौ।
मनचिंते रयणि गवाई, रसलेस्यु आजि अघाई।
जब ऊगै लौ रवि विमलौ, सरवर विगसै लो कमलौ।
तब नीसरिस्यौं यह छोड़ै रसुलेस्यों आइ बहोडे।
चितति तितै गजु इकु आयौ दिनकरु उगिया न पायौ।
जलु पैठि सरोवर पीयौ नीसरत कमल पाखडी लीयौ।
गहि सूंडि पांवतलि चांप्यो अलि मारयो थरहरि कंप्यौ।
यह गंध विषै वसि हूओ अलि अहल अखूटो मूवो।
अलि मरण करण दिठि दीजै अनि गन्धलोभु नहि कीजै।"

इसमें बतलाया गया है कि गंधलोलुपी एक भंवर कमलकी परागका रस लेता हुआ उसमें इतना आसक्त हुआ कि कमल कलीसे समय पर निकलना भूल गया, जब दिनास्त होनेसे कमलकली संपुट (बन्द) हो गई तब वह सोचता है कि रात्रि व्यतीत होगी. सूर्योदय होगा, यह कमल पुनः खिल जायगा, तब मैं रस लेकर इसमेंसे निकल जाऊँगा। इतना विचार ही कर रहा था, कि इतनेमें एक हाथी सरोवरमें जल पीने आया, और जल पीकर उस कमलनालको जड़से उखाड़कर पाँव तले दाब कर उसे खा गया। बेचारा अलि उसीमें मर गया ×। इसी तरह यह अज्ञप्राणी अपने घ्राण इंद्रियके विषयमें मूढ़ हुआ अपने प्राण खो बैठता है। जब एक-एक इन्द्रियका विषय प्राणोंका उच्छेदक है तब पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त इस मानवकी क्या दशा होगी सो विचार देख।

कविने अपनी इस रचनाको विक्रम संवत् १५८५ में कार्तिक सुदि तेरसके दिन समाप्त किया है जैसा कि उसके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

"कवि घेल्ह सुतनु गुणगाऊँ, जगि प्रगट ठकुरसी नाऊँ।
तिथि पणरह सेर पिच्यासी, कातिक सुदि तेरसि मासी।
करि वेलि सरस गुण गाया, चित चतुर पुरिस समझाया।"

नेमीसुरकी वेल

कविकी चतुर्थ कृति 'नेमीसुरकी वेल' है, जिसमें जैनियोंके २२वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ और राजुलके जीवनका परिचय और उनकी सुन्दर संक्षिप्त झांकीका दिग्दर्शन मिलता है जो बड़ा ही शिक्षाप्रद है। कविकी इस रचनामें कोई समय नहीं पाया जाता, सम्भवतः वह भी उक्त समयके भीतर या बाद में रची गई होगी।

इस तरह कवि की इन चार रचनाओं का संक्षिप्त परिचय है। कविने अन्य क्या रचनाएँ रचीं, यह कुछ मालूम नहीं होता, पर ज्ञात होता है कि कवि की अन्य कृतियाँ भी जरूर रहीं होगी। आशा है विद्वज्जन कवि की अन्य कृतियों का पता लगाकर उन्हें प्रकाश में लाने का यत्न करेंगे।

कवि की इन कृतियों की भाषा अपभ्रंश नहीं कही जा सकती; क्योंकि इनमें हिन्दी शब्दोंकी बहुलता के साथ कहीं कही कोई शब्द अपभ्रंश और देसी भाषा का पाया जाता है। यह रचना पुरानी हिन्दी का विकसित रूप कहा जा सकता है। रचना साधारण होते हुये भी भावपूर्ण हैं, और अपने विषय का स्पष्ट विवेचन करती है।

×हाथु व साह महत्ति महतें, पद्दाचन्द गुरु उवएसंते।
पणदह सइजि असीते अगगल सावण मासि छठिखिय मंगल।
मेघमाला व्रत कथा।

× इस कथा का संक्षिप्त रूप निम्न पद्यमें अंकित है:—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं।
भास्वानु देष्यति हसिष्यति पंकजश्री।
एतद् विचिंतयति कोष गते द्विरेफे,
हा, हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

पं० भागचन्द्र जी

जीवन-परिचय

पं० भागचन्द्रजी ईसागढ़ (ग्वालियर) के निवासी थे। इनकी जाति ओसवाल और धर्म दिगम्बर जैन था। आप 'दर्शनशास्त्र' के विशिष्ट अभ्यासी थे। कहा जाता है कि आप आचार्य विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीके अच्छे विद्वान थे। संस्कृत और हिन्दी भाषामें अच्छी कविता करते थे। जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ विद्वान थे। शास्त्र प्रवचन और तत्वचर्चा में आपको विशेष रस आता था। आप सोनागिर (दतिया) क्षेत्र पर वार्षिक मेलेके समय यात्रार्थ जाते थे और वहां शास्त्र प्रवचन तत्त्वचर्चा और शंका समाधानादि द्वारा धर्मामृतकी वर्षा भी किया करते थे। आपके पदसंग्रहका बारीकीसे अध्ययन करने पर आपके जीवनसम्बन्धमें अनेक बातोंके जाननेका साधन प्राप्त हो जाता है और उससे आपके जीवन पर पड़नेवाले प्रभावका भी सहज ही परिज्ञान परिलक्षित होता है। आपकी जैनधर्ममें पूरी निष्ठा, भक्ति और जीवनमें आचार-विचारके प्रवाहका यत्किंचित् दिग्दर्शन होता है।

जिनदर्शन

एक समय आप जिनालयमें जिनमूर्तिके समक्ष अपनी दृष्टि लगाये हुए स्तुति करनेमें तल्लीन थे शरीरकी क्रिया निस्तब्ध थी; परन्तु वचनोंसे जिनगुणोंका वर्णन करते हुए कह रहे थे कि हे नाथ! आप वीतराग हैं। संसारमें ऐसा कौन पुरुष है जो आपकी महिमाका गुणगान कर सके। हे जिन! आपके दोष और आवरणके विनाशसे अनन्त चतुष्टय उसी तरह प्रकट हुए हैं जिस तरह मेघ-पटलके विघटनसे आकाशमें सूर्यका प्रकाश प्रकट हो जाता है।

वीतराग जिन महिमा थारी,
वरन सकै को जन त्रिभुवनमें।

× × × ×

निज उपयोग आपनै स्वामी,
गाल दिया निश्चल आपनमें।
है असमर्थ बाह्य निकसनको,
लवन घुला जैसे जीवनमें।
तुमरे भक्त परम सुख पावत,
परत अभक्त अनन्त दुखनमें।
जैसो मुख देखो तैसो है भासत,
जिम निर्मल दर्पन में।
तुम कषाय बिन परम शान्त हो,
तदपि दक्ष कर्मारि-हतनमें।
जैसे अति शीतल तुषार पुनि,
जार देत द्रुम भारि गहनमें।
अब तुम रूप जथारथ पायो,
अब इच्छा नहि अनकुमतनमें।
भागचन्द्र अमृतरस पीकर,
फिर को चाहै विष निजमनमें।

अर्थात् हे वीतराग जिन! आपकी महिमाका तीन लोकमें कौन वर्णन कर सकता है क्योंकि वह अनन्त है और दोषाभावके कारण अत्यन्त निर्मल है। हे स्वामिन्! आपने अपने उपयोगको—ज्ञान दर्शनरूप चैतन्य परिणतिको—अपने ज्ञानानन्द निश्चल रूपमें गाल दिया है—उसीमें रमा दिया है—तन्मय कर दिया है, अतः वह उपयोग अब बाहर निकलनेमें सर्वथा असमर्थ है—वह आत्म-प्रदेशोंमें इस तरह घुल गया है जिस तरह नमक पानीमें घुल जाता है। हे भगवन्! आपके भक्त अपनी निष्काम भक्ति द्वारा परम सुखी होते हैं किन्तु आपके गुणोंके निन्दक अभक्तजन स्वयं ही अपने कर्तव्यों द्वारा अनन्त दुःखके पात्र बनते हैं, किन्तु आपकी परम उदासीनता—राग द्वेषका अभाव रूप समता—परम वीतरागताको प्रकट करती है, जैसा मुख होगा वैसा ही दर्पणमें झलकता है। दर्पणकी यह स्वच्छता है कि उसमें रंगीन या विकृत वस्तु ज्यों की त्यों झलकती है। इसी तरह आत्म-दर्पणमें भी वस्तु ज्यों की त्यों प्रतीत होती है। हे जिनेन्द्र! आपने कषाय मलको नष्ट कर दिया है। अतः आपकी आत्मा परम शान्त है, तो भी वह कर्मशत्रुओं के विनाश करनेमें दक्ष है जिस तरह शीत ऋतुमें अति भीषण शीतल तुषार वृक्ष समूहको जलानेमें समर्थ होता है। हे नाथ! अब मुझे आपके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति हुई है इस कारण अब मुझे अन्य देवोंके देखनेकी जरा भी इच्छा नहीं है और यह ठीक भी है, ऐसा कौन मनुष्य होगा जो अमृतको पीकर विषपानकी इच्छा करेगा।

कामना

कविवर कहते हैं कि हे भगवन्! मुझे आपकी भक्तिकी

तब तक आवश्यकता है जब तक मैं कर्मबन्धनसे न छूट जाऊँ। मैं चाहता हूँ कि मेरी दृष्टि दोषवादमें (दूसरोंके दोष कहनेमें) न जाय, किन्तु मैं मौन रहूँ और सभी प्राणियोंके प्रति मेरा व्यवहार आत्मीय जैसा हो, सबसे हित मित प्रिय वचन बोलूँ पावन पुरुषोंके गुणोंका गान करूँ, और वीत-राग भावकी अभिवृद्धि करनेमें समर्थ हो सकूं। बाह्य दृष्टिसे परे होकर मैं अन्तर्दृष्टिमें लीन रहूँ और चिरकाल तक स्वरू-पानन्दका पान करता रहूँ। हे प्रभो! यह वरदान मुझे दीजिये। और मेरी बुद्धिको निर्मल बनानेमें सहायक हूजिये।

कविवर सोचते हैं कि वास्तवमें निष्काम भक्ति कर्म-बन्धनको ढीला करनेमें उसी तरह समर्थ है जिस तरह चन्दनके वृक्ष पर मोरके आने पर कृष्णसर्पोंके बन्धन ढीले होकर नीचे खिसकने लगते हैं। भगवद्भक्तिमें लीन हुआ मानव पाषाणकी प्रतिकृतिरूप उस प्रशान्त जड़मूर्तिमें अनन्त गुणोंके पिण्ड उस मूर्तिमान परमात्माके दिव्यरूपको देखता है उन्हींके गुणोंका चिन्तन-आराधन और मनन करता है, वह उसीमें तन्मय हो भक्तिरसका पान करता हुआ हर्षा-तिरेकसे पुलकित हो उठता है। वह उसी प्रकार प्रमुदित होता है जैसे कोई रंक-गरीब व्यक्ति अमूल्य चिन्तामणि रत्नको पाकर खुश होता है। जिसने भक्ति गंगामें स्नान कर निर्मलता प्राप्त की है उसकी सब अभिलषित वांछाएं पूरी हो जाती हैं। कविवर कहते हैं कि मुझे जिस अविचल शिवधामके पानेकी उत्कट अभिलाषा थी वह अब अनायास पूरी हो रही है।

जिन-गिरा-स्तुति और स्वरूपकी झलक

कविवर केवल जिनभक्त ही न थे किन्तु आपने जिनवाणीकी स्तुति करते हुए उसे मोहनधूलिको दबाने वाली तथा क्रोधानल (क्रोधाग्नि) को बुझाने वाली प्रकट किया है। भगवानकी वह पावन ध्वनि मुझे बड़े भारी भाग्योदयसे प्राप्त हुई है इतना ही नहीं किन्तु बुधजन रूप केकीकुल जिसे देखकर चित्तमें हर्षित होते हैं; क्योंकि वह वाणी मेरी तत्त्व प्रतीतिका कारण है, और उससे मेरी मिथ्या दृष्टि दूर हुई है। और उसके द्वारा ही मैंने स्वरससे परिपूर्ण चैतन्य रूप निज मूर्तिको जड़से भिन्न देखा है, अनुभव किया है इससे ही परमें होने वाले अहंकार ममकार रूप बुद्धिका विनाश होता है, और अब पाप-पुण्य रूप कर्मबन्ध व्यवस्था अत्यन्त दुःख-जनक प्रतिभासित हो रही है और वीतराग विज्ञानरूप आत्मपरिणति सुखद प्रतीत हो रही है, अब मेरे अन्तरमें समता रस रूप मेघझरी बरस रही है जिससे परपदार्थोंकी चाह रूपी अग्नि जो मुझे निरन्तर सन्तापित करती थी और जो मुझे कुपथगामी बनाने में सहायक होती थी, वह सहज ही शान्त हो गई, अब स्वात्मोत्थ उस निरंजन निराकुल पदसे मेरी प्रीति बढ़ रही है, और मुझे अब दृढ़ निश्चय हो गया है कि मैं निश्चयसे संसार-बन्धनको काटनेमें समर्थ हो जाऊँगा। जैसा कि कवि-वरके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

धन्य धन्य है घड़ी आजकी, जिन धुनि श्रवन परी।
तत्त्व प्रतीति भई अब मेरे, मिथ्या दृष्टि टरी॥
जड़तैं भिन्न लखी चिन्मूरति, चेतन स्वरस भरी।
अहंकार ममकार बुद्धि पुनि, पर में सब परि हरी॥
पाप पुन्य विधि बंध अवस्था भासी अति दुख भरी।
वीतराग विज्ञान भावमय परिणति अति विस्तरी॥
चाह-दाह विनसी वरसी पुनि समता मेघ झरी।
बाढी प्रीति निराकुल पदसों भागचन्द्र हमरी॥

कवि की यह अन्तर्भावना यदि किसी कारण वश मलिन, स्खलित और विनष्ट न हुई तो वह दिन दूर नहीं जब वे स्वातम रस में रमेंगे ही नहीं किन्तु आनन्द विभोर होकर स्वरूपानन्दी बन जायगे, अस्तु।

एक दिन पंडित जी सामायिक से उठे, तब उनकी दृष्टि यकायक एक ऐसे भोगी व्यक्ति पर पड़ी, जो भोगों में मस्त हो रहा था। उन्हें ही अपना सर्वस्व मान रहा था, दिन भर स्त्री के ही पास बैठे रहना और भोगों में अपने को खपा देना ही जिसका काम था, और अन्य किसी भी काम में अपना समय ही नहीं लगाता था। उसे देखते ही पंडित जी सहसा कह उठे मोहके उदयमें इस अज्ञानी जीव की परिणति दुख-दायक होती है, परन्तु यह जीव भ्रमवश सांसारिक विषयों में इतना तन्मय हो जाता है, कि अपने स्वरूपको भूल जाता है और पर पदार्थोंको अपनाता चला जाता है। पर पदार्थों का परिणमन अपने आश्रित नहीं है यह उनकी प्रतिकूल परिणति को देखकर अत्यन्त आकुलित होता है और रागादि विभाव भावोंका सेवन करता हुआ कर्म-बंध की परम्पराको बढ़ाता हुआ चला जाता है। आत्माके हितके कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, वैराग्यकी ओर दृष्टि प्रसार कर भी नहीं देखता, किन्तु इन्द्रिय-विषयों के संग्रह और उनके भोगनेमें तत्पर रहता है। भोगोंसे उसे जरा भी ग्लानि नहीं होती है।

और न यही विचार आता है कि बड़े बड़े महापुरुषों ने भव भोगों को भुजंगके समान जानकर उनका त्याग कर दिया और आत्म-साधना द्वारा स्वपद प्राप्त करने का उद्यम किया है। परन्तु यह यह मोही जीव कितना अज्ञानी है, कि अपने स्वभावका परित्याग कर पर-पदार्थो में जो इसकी जाति के नहीं है, इससे अत्यन्त भिन्न हैं उन्हें अपना मान रहा है। उनके वियोगमें दुःख और संयोग में सुख मान रहा है। मैं भी जब अपनी पूर्व अवस्थाका विचार करता हूँ तो मुझे यह भान होता है कि हे आत्मन्! तूने अपने ये दिन यों ही विना विवेक के खोये है। अनादि से ही मोह मदिरा का पानकर चिर कालसे पर-पद में सोता रहा है, किन्तु सुखकारक उस चिप्पिण्ड रूप आत्म पद की ओर झांक कर भी नहीं देखा, जो अनन्त गुणों का पिण्ड है, बहिर्मुख होकर राग-द्वेषादि के द्वारा कर्मरूपी बीजों का वपन किया है, और उसके परिणामरूप सुख-दुख सामग्री को देखकर चित्तमें हंसता-रोता रहा हूँ। किन्तु शुक्लध्यानके पवित्र जल-प्रवाहसे कर्मरूप आस्रव-मल को धोनेका कभी यत्न नहीं किया, और न कर्मास्रवके कारण परद्रव्योंकी चाहको ही रोकनेका प्रयत्न किया है, किन्तु मूर्छा परिणामकी वृद्धि करने और विविध वस्तुओंके संकलन करने में ही अमूल्य जीवनको गमा दिया है*। यह कितने खेद की बात है! अब भाग्योदयने अपने स्वरूपका भान हुआ है, इस कारण अब मुझे यह संसार दुःखदायी और शरीर काराग्रहके समान प्रतिभासित हो रहा है इतना ही नहीं किन्तु मुझे अपनी पूर्व अवस्थाका जब जब स्मरण आता है तब तब हृदय पश्चात्तापसे भर जाता है। अज्ञान अवस्थामें होनेवाले पाप मेरे हृदयमें ग्लानि उत्पन्न करते हैं। ऐसी स्थितिमें स्व-पदका कैसे अनुभव हो सकता है? इसमें कर्मकी वरजोरी कारण है। कर्मोदयमें मेरा ज्ञानीपन कहां चला जाता है, जिससे मैं अपने चिदानन्द स्वभावको भूलकर परमें अपनत्वकी कल्पना करने लगता हूँ।

किन्तु अब भाग्योदयसे जो स्वरूपमें सावधानता प्राप्त हुई है, अन्तःस्वरूपका जो झलकाव हुआ है, अथवा स्व पदकी पहिचान हुई है, वह स्थिर रहे, और कर्मकलंकसे उन्मुक्त होनेकी मैं अपनी चिर अभिलाषा पूर्ण कर सकूं यही मेरी भावना है। ऐसा विचारते हुए कविवर स्वरूपमें निमग्न हो गए, उस समय उनकी मुद्रा बड़ी ही शान्त और निश्चल प्रतीत होती थी। कुछ समयके बाद जब उनकी समाधि टूटी तब कविवर कहते हैं कि—

आत्मानुभवकी महत्ता

जब निज आतम अनुभव आवै, और कछु न सुहावै।
सब रस नीरस हो जाय ततच्छिन, अक्ष-विषय नहिं भावै
गोष्ठी कथा कौतूहल विघटै, पुद्गल प्रीति नमावै ॥२॥
राग द्वेष द्वय चपल पक्ष जुत मन पक्षी मर जावै ॥३॥
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अन्तर न समावै, ॥४॥
भागचन्द ऐसे अनुभवके हाथ जोरि सिर नावै ॥५॥

वास्तवमें स्वानुभवकी दशा विचित्र है वह किन्हीं ज्ञानी पुरुषोंको प्राप्त होती है। उसमें आन्तरिक सुधारसका जो झरना बहता है वह आत्म-प्रदेशोंमें नहीं समाता। वह वचनका विषय भी नहीं है—वचनातीत है, उसमें सुदृष्टि को जो आनन्दानुभवन होता है वह कल्पनाके बाहिर की वस्तु है। यद्यपि उसमें आत्म-प्रदेशोंका साक्षात्कार नहीं होता किन्तु अन्तरमें जो विवेकरस शान्त और निश्चलभावोंमें उदित होता है, उसमें आत्म तोषका अमिट आनन्द निमग्न है। क्योंकि उस समय मन वचन और शरीरकी क्रिया तीनों ही स्थिर अथवा निर्जीव सी होरही है। केवल ज्ञायक रस धीरे धीरे थिरक रहा है। जो वचन अगोचर है। इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसलिये उसमें आकुलताका भान नहीं होता, किन्तु उसके विघटते ही आत्माकी दशा कुछ और ही होजाती है। ज्ञानीकी यह सूक्ष्मदशा ही उसकी आत्म जागृति अथवा स्वरूप-सावधानी की ओर संकेत करती है।

सेवा कार्य—

पं० भागचन्द्र जीने अपने जीवनमें जो सेवा कार्य किये, उन्होंने उसकी कोई सूची बनाई हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। हां, साहित्यिक सेवा-कार्य भी उन्होंने अपनी धार्मिक भावनाके अनुसार किये हैं। यद्यपि सत्तास्वरूपको पं० जीकी कृति बतलाया जाता है, परन्तु वह उन्हींकी कृति है, इसका निर्णय भण्डारोंकी पुरातन प्रतियोंको देखे बिना करना सम्भव नहीं है। 'महावीरा अष्टक' उनकी स्वतन्त्र संस्कृत रचना है। जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि वे हिन्दीके समान संस्कृत भाषा में सुन्दर पद्य रचना कर सकते थे। इसके अतिरिक्त

---

* देखो, पद संग्रहमें कविका निम्न पद—

जे दिन तुम विवेक विन खोये।

उनकी चार कृतियोंके नाम अन्य ग्रन्थ सूचियोंमें उपलब्ध होते हैं—शिखर विलास, उपदेशसिद्धान्त रत्नमाला, प्रमाणपरीक्षा भाषा और नेमिनाथ पुराण। इनमेंसे प्रमाण परीक्षा टीका उन्होंने ग्वालियर लश्करके जिनमन्दिरमें बैठ कर सं० १६१३ में बनाकर समाप्त की है। अन्य टीकाओंमें उन ग्रन्थोंका रचनाकाल नहीं मिला। फिर भी वे सं० १६१३ से पूर्व या पश्चात्वर्ती हो सकती हैं। आपके टीका ग्रन्थोंकी भाषा पुरानी हिन्दी है। उसमें ब्रज भाषा का तो असर है ही।

अन्तिम जीवन

कहा जाता है कि पण्डितजीको अपने अन्तिम जीवनमें आर्थिक हीनताका कष्ट सहन करना पड़ा था, क्योंकि लक्ष्मी और विद्या का परस्पर वैर है, नीति भी ऐसी ही है कि पण्डितजन निर्धन होते हैं। हां, इसके प्रतिकूल कुछ अपवाद भी देखनेको मिलते हैं। पण्डित जी जहां विवेकी थे, वहां सहन शील भी थे, उन्होंने दारिद्रदेवका स्वागत किया; परन्तु किसीसे धन पानेकी आकांक्षा तक व्यक्त नहीं की, फिर भी प्रतापगढ़ (राजस्थान) के एक उदार सज्जनने जिनका नाम मुझे स्मरण नहीं रहा उन्हें दुकान आदि देकर उनकी आर्थिक कठनाईका हल कर दिया था। आर्थिक हल होजाने पर भी पण्डितजी में वही सन्तोषवृत्ति अपने उसी रूपमें दीख रही थी। जो सदृष्टि विवेकीजन होते है उनकी परवस्तुमें ममता नहीं होती, वे कर्मोदयसे प्राप्त वस्तुमें ही सन्तोष रखते हैं। पर पदार्थोंमें कर्तृत्व बुद्धि हटने पर तज्जनित अहंकार ममकार भी उन पर अपना प्रभाव अंकित करनेमें समर्थ नहीं हो पाते। अस्तु, आपने कितनी अवस्थामें कब और कहां से देव-लोक प्राप्त किया, यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। पर संभवतः उनका अंतिम जीवन प्रतापगढ़में ही समाप्त हुआ है। इसका कोई निश्चित कारण ज्ञात नहीं हो सका, होने पर उसे प्रकट किया जायगा।

श्री संतराम बी० ए० की 'सुमागधा'

(ले०—मुनीन्द्र कुमार जैन, ए० ए०, जे० डी०, दिल्ली)

अवन्तिकाके मई १९५६ के अंकमें श्री सन्तराम बी० ए० की 'सुमागधा' नामक कहानी प्रकाशित हुई है। कहानी को पढ़कर मैं स्तब्ध-सा रह गया। मुझे इस बातका खेद हुआ कि इस कहानीके लेखक श्री सन्तराम बी० ए० जैसे वयोवृद्ध व्यक्ति हैं और साथ ही यह अवन्तिका जैसी उच्च-कोटिकी साहित्यिक पत्रिकामें प्रकाशित हुई है। मैं समझता हूँ कि श्री सुधांशुजीने कार्यमें अधिक व्यस्त रहनेके कारण बिना देखे ही इस प्रकारकी कटु-वचनों और धार्मिक मत-भेदोंसे भरी रचना अपनी पत्रिकामें प्रकाशित कर दी है। मैं इस विषयमें अधिक न लिखकर इस कहानी और इसमें वर्णित खेदजनक और धर्मान्ध आक्षेपोंका ही उत्तर यहां देना चाहता हूँ।

श्री सन्तराम लिखते हैं—'जगत पूज्य भगवान जिन (जैनधर्म प्रवर्तक) मेरे गृहमें आगमन करेंगे—लेखकका आशय 'जिन' शब्दको लिखनेसे और साथ ही कोष्टकमें में जैन धर्म प्रवर्तक दोहरानेसे भगवान महावीरकी मुद्रा की ओर है। भगवान महावीरकी मुद्रा और वेष जहां तक सब लोग जानते हैं बहुत ही सौम्य और चित्ताकर्षक थी। उनके दर्शनोंसे प्राणी मात्र आकर्षित होकर धार्मिक उपदेशोंके लिये उनकी शरणमें आ जाते थे। किन्तु धर्म-द्वेषकी पट्टी आंखों पर बांधकर लेखकने जिस प्रकार आगे जैन साधुओंका वर्णन किया है वह इस प्रकार है—'दिगम्बर-भिक्षुगणने धनवतीके भोज्य-सम्भारकार्यकी व्यय कथा जानकर सदल-बल सुमागधाके श्वसुर-भवनमें आगमन किया। नंगे साधु जटाजूटजारी, भस्म विभूषित एवं विकटवदन थे। दम्भके कारण, उनके बदन भयंकर प्रतीत हो रहे थे और मुख तथा चक्षुसे क्रोध-भाव सुस्पष्ट प्रतिभासित हो रहा था……।

लेखककी जानकारीके लिये मैं यहां पर कुछ मोटी-मोटी बातें बता देना चाहता हूँ। पहली तो यह कि दिगम्बर साधु न्यौता देने पर किसीके घर जाकर भोजन नहीं करते। दूसरी बात यह है कि नग्न वेषधारी होने पर भी वह जटा-जूट धारण नहीं करते, न ही वह शरीर पर भस्म या राख मलते हैं, साथ ही जैन साधुओंसे अधिक शान्ति किसी अन्य मतके साधुओंके मुख पर नहीं दिखाई दे सकती। इसलिये उनको दम्भी और भयंकर बदनवाला कह कर लेखकने अपनी विशेष बुद्धिका ही परिचय दिया है।

शायद इस कहानीको लिखनेसे पहले ही लेखकके

हृदयमें जैनोंके प्रति द्वेषकी भावना प्रज्वलित हो चुकी थी क्योंकि आगे चलकर वह फिर निन्दनीय शब्दोंमें लिखते हैं—'इन सब निर्लज्ज, नग्न, मांस-भक्षणके अभ्यास से भैंसे की भांति स्थूलकाय हुए सन्यासियोंको देखने ही सुमागधा तुरन्त वस्त्रसे अपने मुखको आच्छादित कर विमर्शभावसे लौट गई····।'

ऐसा मालूम होता है कि वृद्धावस्थाके कारण श्री सन्तरामकी बुद्धिमें विकार उत्पन्न हो गया है। क्योंकि उन्होंने जैन साधुओंके लिये निर्लज्ज और मांस-भक्षणके अभ्यासी आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। इस विषयमें मैं उनसे पूछता हूँ कि यदि निर्लज्जताका उदाहरण देखना है तो शैव मन्दिरों और महन्त तथा पुजारियोंकी रास-लीलामें देखो। जो साधू संसार छोड़ चुके हैं वे यदि वस्त्रका त्याग करते हैं तो क्या बुरा है? क्या हिन्दू धर्ममें बाबाजीकी लंगोटी वाली कहावत प्रसिद्ध नहीं है? जब लंगोटीको चूहोंसे बचानेके लिये बाबाजीको सारी गृहस्थी पालनी पड़ी थी। लेखकके मार्ग-दर्शनके लिये मैं यहां पर जैन मुनियोंके विषयमें दो संस्कृत श्लोकोंका वर्णन करता हूं:—

तनोर्विरक्तो ह्युपवासपूर्व
लोचं द्वितीयादिकमास एव।
कुर्वन्सदा याचनदोषमुक्त-
स्तिष्ठेन्निजे यः स च वंद्यसाधुः॥

—जो मुनिराज याचनादोषसे रहित होकर और शरीरसे विरक्त होकर उपवासपूर्वक दूसरे तीसरे वा चौथे महीने में सदा केशलौंच करते हैं और सदा काल अपने आत्मामें लीन रहते हैं ऐसे साधु वंदनीय साधु कहलाते हैं।

आदाय वस्त्ररहितं जिनशुद्धलिंगं
कुर्वन् रतिं निजपदे स्वसुखे सदा वः।
लोके शशीव विमलश्चलतीह शान्त्यै।
साधुं नमामि सकलेन्द्रियजाविकारम्॥

—जो मुनिराज सब प्रकारके वस्त्रोंका त्यागकर भगवान् जिनेन्द्र देवके शुद्ध लिंगको धारण कर अपनी आत्मामें वा आत्मजन्य सुखमें लीन रहते हैं और समस्त संसारमें शांति स्थापना करते हुए चन्द्रमाके समान निर्मल अवस्था धारण कर विहार करते हैं ऐसे समस्त इन्द्रियोंके विकारों रहित उन साधुओं को मैं नमस्कार करता हूँ।

आगे चलकर सन्तराम लिखते हैं—'यदि ये लोग साधु हैं तो फिर असाधु कौन है? ये सकल शृंगहीन पशु अपने गेहमें भोजन करते हैं। ये मनुष्य नहीं हैं। इसलिए पुरवासिनी महिलाएं इनको देखकर लज्जित नहीं होती। इन जैसे दुर्जनोंके प्रति यदि भक्ति रखते हैं, तो कहना पड़ेगा कि हमने अयोग्य पात्र को भक्ति समर्पित की है। यह कैसा नियम है? जो व्यक्ति भोजनका त्याग नहीं कर सकता, वह वस्त्रका त्याग कैसे करता है? इन पशुओंकी जिस देश में पूजा होती है वह देश परित्याज्य है।'

इस विषयमें तो इतना ही कहना उचित है कि संतराम जैसे लेखकों को जो अन्य सम्प्रदायके साधुओंके प्रति शृंगहीन पशुओं जैसे विशेषणोंका प्रयोग करते हैं; अपनी विषैली रचनाओंसे हिन्दी साहित्यको गंदा करनेसे अच्छा तो यह है कि या तो वह किसी धर्म विशेषके प्रचारक बनकर स्टेज पर जाकर अपनी बेसुरी आवाज सुनायें या अनेकान्त जैसी पत्रिका का आश्रय छोड़कर किसी बाजारू पत्रिकामें ऐसे लेख लिखे। मेरी समझमें नहीं आता कि किस प्रकार एक विद्वान् लेखक दूसरे धर्मको बिना जाने इतनी निम्न भाषामें उसका अपमान कर सकता है। उन्हें जानना चाहिए कि:—

पृथ्वीशिलातृणमये शयनं प्रकुर्वन्
यः स्वात्मसौख्यघटिते स्वपदे सदा वै॥
जाग्रंस्तथा सुखकरेऽखिलविश्वकार्ये।
गुप्तोऽस्ति शान्तिनिलये स यतिः प्रपूज्यः॥

—जो मुनिराज पृथ्वीपर, वा घास फूसकी शय्या पर शयन करते है आत्माको मोक्षरूप सुख देने वाले समस्त कार्योंमें सदाकाल जगते हुए और शांतिके परमस्थान ऐसे अपने आत्मामें लीन हुए जो मुनिराज अपने आत्माके अनंत सुखस्वरूप शुद्ध आत्मामें सदा काल शयन करते रहते हैं ऐसे वे मुनिराज सदा काल पूज्य माने जाते हैं।

यावद्बलं मम तनौ प्रविहाय लोभ
स्थित्वा करोमि निजपाणिपुटेऽल्पभुक्तिं।
स्थानत्रिकेऽतिविमले निजशुद्धभावं
ध्यायन् स एष कथितः स्थितमुक्तसाधुः॥

—मेरे शरीरमें जबतक बल है तब तक मैं लोभको छोड़कर तथा खड़े होकर अपने करपात्रमें थोड़ा सा भोजन करूँगा, तथा वह भी तीनों स्थानों की शुद्धि होने पर करूँगा और उस समय भी अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतन करता रहूंगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा करनेवाले साधुओंके स्थितिभोजन नामका उत्तम गुण होता है।

दृग्बोधवृत्तममतादिविवर्द्धनार्थं।
कुर्वन् यथोक्तसमये च किलैकभुक्तिं।

लीनोऽस्थि यो ह्यनुपमः स मुनिश्च वंद्यः ॥

वे मुनिराज अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और समता आदि गुणोंकी वृद्धिके लिये शास्त्रोंमें कहे हुए नियत समय पर एक ही बार आहार लेते हैं। वे मुनिराज सूर्योदय से तीन घड़ी तक आहार नहीं लेते, सूर्य अस्त होने के तीन घड़ी पहले तक आहारसे निबट लेते हैं और मध्यकालमें सामायिकका समय छोड़ देते हैं। शेष किसी एक ही समयमें आहार लेते हैं। तथा परम पवित्र ऐसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन रहते हैं। ऐसे वे उपमारहित मुनि वंदनीय गिने जाते हैं।

यदि इतनेमें भी सन्तरामजी की यह समझमें नहीं आता कि क्यों भारतकी २० लाख जनता जैनधर्मके प्रति श्रद्धा रखती है और क्यों बुद्धधर्मसे हजारों वर्ष पहले आरम्भ होनेसे आज हजारों वर्ष बाद तक जैनधर्म और उसके सिद्धांत भारतमें जीवित हैं तो हम उनकी बुद्धि पर केवल खेद प्रकट कर सकते हैं। साथ ही हम उन्हें मित्रवत् सलाह देते हैं कि जिस देशमें चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जैसे धर्म दिवाकर जैन साधु हों वह देश परित्याज्य नहीं है बल्कि पूजने योग्य है।

धर्मद्वेषकी दृष्टि से ही नहीं किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे भी मैं संतरामजी को यह बताना चाहता हूं कि उन्होंने जैसा लिखा है···जो सफल भिक्षुगण प्रभावशाली हैं और शून्य मार्गसे विचरण कर सकते हैं केवल उन्हींको निमंत्रण—शलाका—पत्र प्रदान करो।

ऐसा वर्णन केवल तिलस्मी उपन्यासोंमें ही शोभा देता है। क्योंकि बौद्ध साहित्यमें तो प्रामाणिक रूपसे किसी भी साधूने शून्य मार्गसे विचरण किया नहीं। हां यदि लेखक की बुद्धि इस कार्यको सम्भव बना दे तो ऐसा हो सकता है।

इसीप्रकार···दिव्य-शक्ति संपन्न भिक्षुगण कोई कनक-पद्म पर आरोहण कर सौरभ विस्तार करते-करते आगमन करने लगे।

लेखक ने ऐसा बौद्ध साधुओंके सम्बन्धमें लिखा है, मुझे इस पर और भी अधिक तरस आता है। निस्पृह और निर्विकार बौद्ध साधुओंको भी सम्पदाशाली और जादूकी शक्ति वाले बताकर लेखकने अपनी बुद्धिका ही चमत्कार दिखाया है।

मेरी समझमें नहीं आता यदि लेखकका उद्देश्य केवल एक कहानी ही लिखना था तो पृष्ट ४६६ पर बौद्धधर्मके सम्बंधमें व्याख्यान देनेका क्या अर्थ है। इससे पूर्णतया प्रकट होता है कि लेखकने कहानीको कहानीकारके दृष्टिकोण से नहीं बल्कि धर्मद्वेष फैलाने और अपने मनकी निम्न हवस को शब्दोंमें व्यक्त करनेकी इच्छासे ही यह त्रुटिपूर्ण भ्रामक और अपवादी लेख लिखा है।

मैं अवंतिकाके पाठकोंके साथ-साथ सम्पादक-मंडलका ध्यान भी इस ओर दिलाना चाहता हूं कि यदि वास्तवमें वह एक विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका का ही संचालन करना चाहते हैं तो इस प्रकारके लेखोंको जिनसे किसी धर्म पर आक्षेप फैलानेका अवसर मिले कदापि अपनी पत्रिकामें स्थान न दें।

सम्पादकीय नोट

इस लेखके लेखकने सन्तरामजीकी जिस भारी भूलका दिग्दर्शन कराया है वह निस्सन्देह अक्षम्य भूल है। कहानीके शब्दोंको पढ़नेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सन्तरामजीने जैनधर्म और उसके साधुओं पर घृणित, निन्द्य एवं असत्य आक्षेप कर अपनी कुत्सित मनोवृत्तिका परिचय दिया है। उक्त टिप्पणी लिखनेके पश्चात् हाल ही के जैन गजट अंक ३५ में आपका प्रकाशित क्षमायाचना पत्र देखनेमें आया। जो इस प्रकार है:—

'सुमागधा' कहानीके लेखकका क्षमा याचना पत्र

प्रिय श्री पाटनीजी,

आपके वकील श्रीशिवनारायन शंकर द्वारा भेजा हुआ आपका नोटिस मिला, पटनाकी मासिक पत्रिका 'अवंतिका' के मई अंक में प्रकाशित 'सुमागधा' शीर्षक मेरे लेख से आपको और कई अन्य दिगम्बर जैन सम्प्रदायके भाइयों को दुःख हुआ, इसका मुझे बड़ा खेद है। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मैंने यह लेख किसी दुर्भावनासे प्रेरित होकर नहीं लिखा। इसमें मेरा उद्देश्य किसी महापुरुषको बदनाम करना या उसके अनुयाइयोंकी भावनाओंको ठेस पहुँचाना बिल्कुल नहीं था। उनके प्रति स्वभावतः वही मेरे मन में सन्मान और आदर बुद्धि है।

आप लोगों को मेरे लेख से जो कष्ट हुआ है उसका मुझे बड़ा खेद है। भगवान महावीर क्षमा के अवतार थे, आप अपने को उनका अनुयायी मानते हैं इसलिये मुझे पूर्ण आशा है कि आप भी इस भूलके लिये क्षमा करेंगे। मैंने

'अवंतिका' के सम्पादकको भी इस अनजानेसे होनेवाली भूल के लिये खेद प्रकाशित कर देने के लिये लिख दिया है।

आपका सन्तराम

उक्त क्षमा पत्रमें लेखकने कहीं भी अपनी भूलको स्पष्ट स्वीकार नहीं किया है। और न यही बतलाया गया है कि मुझसे कहां और किन किन शब्दोंकी भूल हुई है? पत्रमें उनका कोई संकेत नहीं किया गया। और न उनका यथा स्थान परिमार्जन करनेका ही प्रयत्न किया गया है। ऐसी स्थितिमें क्षमा याचना पत्रका कोई महत्व नहीं है जब तक कि लेखक की बुद्धिका सुधार नहीं हो जाता, और कहानीमें प्रयुक्त हुए अशिष्ट एवं अभद्र शब्दोंको जो जैन मुनियोंकी घोर निन्दाके सूचक हैं और जो जैन समाजके हृदयको उत्पीड़ित करते हैं वे, अनजानेमें नहीं लिखे गये। किन्तु जान बूझ कर प्रयुक्त किये गए हैं। ऐसी स्थितिमें लेखक जब तक उनका उचित प्रतीकार अपनी कहानीमें नहीं करता, और न उनकी जगह पर दूसरे सुन्दर शब्दोंको अंकित करनेकी योजना ही प्रस्तुत करता है। तब तक लेखकका क्षमा-याचना पत्र कुछ अर्थ नहीं रखता। वह तो गोलमाल करने जैसी बात है। आशा है सुमागधा कहानीके लेखक अपनी भूलको स्पष्ट स्वीकार करते हुए कहानीमें प्रयुक्त अशिष्ट एवं अभद्र अंशोंका परिमार्जन करते हुए उनका सुधार प्रकट करेंगे। अन्यथा हमें उचित प्रतिकारके लिये बाध्य होना पड़ेगा।

सन्त-विचार

[पं० भागचन्द्रजी]

सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसैं, आतमरूप अबाधित ज्ञानी ॥
रोगादिक तो देहाश्रित हैं, इनतैं होत न मेरी हानी।
दहन दहत ज्यों दहन न तद्गत, गगन दहन ताकी विधि ठानी ॥१॥
वरणादिक विकार पुद्गल के, इनमें नहिं चैतन्य निशानी।
यद्यपि एक क्षेत्र अवगाही, तद्यपि लक्षण भिन्न पिछानी ॥२॥
मैं सर्वांग पूर्ण ज्ञायक रस, लवण खिल्लवत लीला ठानी।
मिलौ निराकुल स्वाद न यावत, तावत परपरनति हित मानी ॥३॥
भागचन्द्र निरद्वन्द्व निरामय, मूरति निश्चल सिद्ध समानी।
नित अकलंक अवंक शंक विन, निर्म्मल पंकबिना जिमि पानी ॥४॥
सन्त निरन्तर चि०............

कोप्पलके शिलालेख

(श्री पं० बलभद्र जी जैन)

भारतीय साहित्यमें कोप्पम् या कोपणका अनेक स्थलोंपर उल्लेख मिलता है। यह नगर ६वीं शताब्दीमें सुप्रसिद्ध तीर्थ था और एक महानगरके रूपमें इसकी चारों ओर ख्याति थी। शताब्दियों तक यह जैनधर्मका प्रसिद्ध केन्द्र रहा। इस नगरके सम्बन्धमें आधुनिक विद्वानोंमें काफी मतभेद पाये जाते हैं। डॉ० फ्लीट आदि पुरातत्ववेत्ता विद्वानोंके मतसे यह स्थान खिद्रापुर या खेद्रापुर होना चाहिये, जो कोल्हापुरसे आग्नेयकोणमें ३०मील दूर है और कृष्णानदीके तट पर स्थित है। उन्होंने अपना यह मत एक तामिल शिलालेखके आधार पर बनाया है। उस शिलालेखमें दो पद आये हैं—

नोट—इस लेख के लिखनेमें मुझे The Kannad inscsptins of Kopbal by Mr. C. R. ~~KaisnaMa-Cearlu~~ से बहुत सहायता मिली है। इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

-Kristam Charlu

(१) सेव्य म-तीर्थ (बड़ा तीर्थ) और (२) पेरनि-गरई (महानदीका तट)। इन दो पदोंकी दृष्टिसे डॉ० फ्लीटके मतानुसार खिद्रापुर ही कोप्पम् हो सकता है; क्योंकि यहां कोपेश्वरका प्राचीन मन्दिर भी है और यह कृष्णानदी-के तट पर भी अवस्थित है।

किन्तु आधुनिक पुरातत्ववेत्ता विद्वानोंकी सम्मतिमें यह कोप्पम् खिद्रापुर न होकर कोप्पल या कोपवल हो सकता है। उनकी यह सम्मति कुछ अधिक ठोस प्रमाणों पर आधारित प्रतीत होती है। एक तो यह कि कोप्पम्के सम्बन्धमें एक जो यह पद आया है पेरारु अर्थात् यह नगर महानदीके तट पर अवस्थित था। किन्तु यह महानदी कृष्णा या तुंगभद्रा न होकर हिरेहल्ल होनी चाहिये, जिसका स्वयं अर्थ है महानदी, जिसके दायें तट पर यह कोप्पल नगर बसा हुआ है। दूसरे कोप्पम्के साथ एक ऐतिहासिक घटनाका भी सम्बन्ध रहा है। वहां पर चोल और चालुक्योंका प्रसिद्ध युद्ध हुआ था। इस दृष्टिसे भी कोप्पल ही वह स्थान हो सकता है। यहां पुरातत्वकी सामग्री चारों ओर बिखरी पड़ी है, जिससे उसकी प्राचीनता असंदिग्ध हो जाती है। कुछ शास्त्रीय प्रमाण भी इस सम्बन्धमें मिले हैं जो अत्यन्त रोचक है। 'चामुण्डरायपुराण' और कवि रन्नके 'अजित पुराण'में कोपणका उल्लेख आया है। उस उल्लेखके अनुसार कोपण किसी पहाड़ीके निकट बसा हुआ था और नगरमें ७७२ वसतियां (मन्दिर) थीं। यह बात भी कोप्पल या कोपवलके ही पक्षमें अधिक संगत जान पड़ती है; क्योंकि कोपवलके निकट इन्द्रकिला या अर्जुनशिला नामक एक छोटी सी पहाड़ी है। यहां कुछ शिलालेख भी मिले हैं जिनमें कोपवलके विभिन्न मन्दिरोंके लिये भूमि-दानका निर्देश है। इन सब प्रमाणोंसे यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि कोप्पल या कोपवल ही वास्तवमें ऐतिहासिक कोपण है।

कोप्पल हिरेहल्लके बायें तट पर बसा हुआ है। यह तुङ्गभद्रा नदीकी एक सहायक नदी है। इसके आसपास सम्राट् अशोकके कई शिलालेख मिलने हैं, जिससे इस नगरका ऐतिहासिक महत्व बहुत बढ़ जाता है। स्वयं कोप्पल-के उपनगर गविमठ और पल्किगुण्डुमें ऐसे दो शिलालेख मिले हैं। इसी तरह कोप्पलसे ४४ मील दूर मस्कीमें और पूर्वकी ओर ६४ मील दूर इर्रागुडीमें भी अशोकके शिला-लेख मिलते हैं। इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि कोप्पल किसी समयमें एक समृद्ध नगर था और इसके महत्वने मौर्य सम्राट् अशोकका भी ध्यान इसकी ओर आकर्षित किया था। इसके आस-पासमें कुछ ऐसे समाधिस्थल तथा दूसरी पुरातन चीजें मिलती हैं, जिनका सम्बन्ध उनके नामोंके कारण मौर्यकाल या मौर्य शासकोंसे जोड़ा जाता है। यदि ऐतिहासिक तथ्यका इस मान्यतामें थोड़ा-सा भी लेश हो तो निश्चय ही कोपप्लका पुरातत्व आजसे २२ सौ वर्ष पहले तक पहुँच जाता है और इस प्रकार यह मान लिया जा सकता है कि कोप्पल प्रागैतिहासिक कालसे दक्षिणका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह निश्चित रूपसे एक महानगर और महातीर्थ या आदि तीर्थ था।

यहां कुछ शिलालेख दिये जा रहे हैं, जो मूलतः कनड़ी में हैं। इनसे जैन इतिहास की कई महत्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़ता है।

शिलालेख नं० १

यह लेख चन्द्रबण्डो शिलापर खुदा हुआ है। इसमें समृद्ध कोपणके चन्द्रसेनदेवके शिष्य गुरुगल भण्डय्यकी निषधिकाका उल्लेख है। संभवतः यह शिलालेख ईस्वीकी १३वीं शताब्दीका है। शिलालेख इस प्रकार है—

(१) श्री कोप्यनड
(२) चन्द्रसेन देव
(३) र गुड्ड गुरु गल
(४) भण्ड (य्य) न नि—
(५) षिद्धि

शिलालेख नं० २

यह शिलालेख भी पूर्व शिलालेखकी तरह चन्द्रबण्डी शिलापर उत्कीर्ण है। इस पर शक सं० ८०३ पड़ा हुआ है। इसमें लिखा हुआ है कि कुन्दकुन्द शाखाके एक चट्टुगढ भट्टारकके शिष्य सुप्रसिद्ध सर्वनन्दी भट्टारक यहाँ आकर विराजे, इस ग्रामका उन्होंने बड़ा उपकार किया; इस पवित्र भूमि पर उन्होंने बहुत समय तक तपस्या की और अन्तमें यहीं उन्होंने समाधिमरण किया।

इस शिलालेखकी उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें पूर्वकी चार पंक्तियाँ कनडी गद्य में हैं और अन्तिम दो पंक्तियाँ संस्कृतके आर्याछन्द में हैं। शिलालेख इस प्रकार है—

१—स्वस्ति श्रीशक वर्ष ऐण्टु-नुर मुराानेय वर्ष-
२—दण्डु कुन्दकुन्दान्वयड इक चट्टुगड-भट्टारर शिष्यर

३—श्री सर्वनन्दि भट्टारर-इल्ल इलडु (उ) एगन तीर्थक्कम उपका-

४—पल-कलन-तपंगेयडु सन्यासनन नोन्तु मुडिपिडर

५—अनवरत शास्त्र दान प्रविमल-चरित्र-जल धारैश्चित्रम्

६—दुरित निदाघ विघटम् कुर्यात् श्री सर्वनन्दीन्द्रः मंगलम्

अर्थ—समृद्ध शक संवत् ८०३ में कुन्दकुन्दान्वयी एक चट्टुगड भट्टारकके विख्यात शिष्य सर्वनन्दि भट्टारकने यहाँ पधारकर, इस नगर और इस पवित्र भूमि (तीर्थ)का महान् उपकारकर, बहुत कालतक यहाँ तपश्चरणकर संन्यास मरण किया।

श्री सर्वनन्दीन्द्र अपने अनवरत शास्त्रदान और विशुद्ध चारित्रके द्वारा पापोंके आतापको दूर करें और मंगल करें।

शिलालेख नं० ३

यह शिलालेख पूर्वके दो लेखों की तरह चन्द्रवण्डी पर खुदा हुआ है। इसमें श्री अप्यएसन अजल। इससे आगे का भाग स्पष्ट नहीं पढ़ा जाता। इसमें जिस व्यक्तिकी चर्चा है, उसका सम्बन्ध ६वीं शताब्दी से है।

शिलालेख नं० ४

यह लेख भी चन्द्रवण्डी चट्टान पर है। इसमें मूलसंघके सेनगणान्वयी···भट्टारकके भक्त, चोक्क वोडेयनकि सेट्टिके पुत्र पदनस्वामी पायकलकी निषधिका का उल्लेख है। यह तेरहवीं शताब्दी का है। शिलालेख इस प्रकार है—

१—श्रीमत् मूल संघद

२—सेनगण···(द) व भट्टार—

३—र वर (गुड्ड) (चो)क्क-वो—

४—डेयनकि सेट्टिय मग—

५—प···दन स्वामी पाय (क)—

६—(ल) न निषधि

शिलालेख नं० ५

यह शिलालेख पल्किगुण्डुके पश्चिममें चंदोवेदार एक चट्टानके नीचे उत्कीर्ण है। इससे मालूम पड़ता है कि यहाँ पर देवेन्द्रकीर्ति भट्टारकके प्रिय शिष्य वर्धमानदेवने छाया-चन्द्रनाथ स्वामी की एक प्रतिमा उत्कीर्ण कराई थी यह लेख अट्ठारहवीं शताब्दीका प्रतीत होता है। इस शिलालेखके बिल्कुल निकट दाईं ओर एक आलेमें एक जैनसाधुकी खड्गासन प्रतिमा है, जिनके सिरके ऊपर तीन छत्र हैं। उस आलेके दोनों ओर उड़ती हुई मोरपिच्छी है। शिलालेखकी नकल इस प्रकार है—

१—श्रीमच्छाया-चन्द्रनाथ स्वामी···ना (थ)

२—श्रीमद्देवेन्द्रकीर्ति भट्टारकरा —

३—वर प्रिय शिष्य रह वर्धमानदेवक निडिडसिधरू

शिलालेख नं० ६

यह शिलालेख पल्किगुड्डु पहाड़ी पर अशोकके शिला-लेखके बिल्कुल निकट खुदा हुआ है। इसमें यह बताया है कि च॰ द ा ने यहां पर पूज्य जटासिंहनन्दी आचार्यके चरण स्थापित किये थे। शिलालेखके ऊपर दाईं ओर आचार्य महाराजके चरण अंकित हैं। इनका समय लगभग ७वीं शताब्दी है। शिलालेखका बाईं ओरका भाग इस प्रकार पढ़ा गया है—

१—जटासिंहनन्दि आचार्य पादव

२—च (म्) वय्यम् सिडोम

शिलालेख नं० ७

यह शिलालेख पल्किगुड्डु पहाडी की दक्षिण गुफाकी छतमें खुदा हुआ है। इसका सम्बन्ध (पश्चिमी चालुक्य-वंशी) विक्रमादित्य नरेशसे है। शिलालेखसे प्रतीत होता है कि यह विक्रमादित्य पंचम था (सन् १००६ से १०१७)। इसमें इस बातका उल्लेख है कि सुप्रसिद्ध आचार्य सिंहनंदि-तम्माडिगलने एक मास पर्यन्त इंगिनीमरण धारण किया और इस समयमें श्री सिहनन्दी अन्न, मतिसागर अन्न, नरलोकमित्र और ब्रह्मचारी अन्नने उनकी वैयावृत्य की। स्वामी कुमारने इस अवधिमें जिन-विम्बकी पूजा की। सिंहनन्द्याचार्यके समाधिकरणके पश्चात् कल्याणकीर्तिने जैन शासन चलाया। इनका सम्बन्ध बिच्छुकुण्डेकी नागदेव-वसदि से था और यह देशिक गण और कुन्दकुन्दान्वयके थे और इन्होंने चान्द्रायण जेसे व्रत किये थे। उनकी देशनासे अनेकोंने कर्म क्षय किये (?) उनके पश्चात् इण्डोलीके रवि-चन्द्राचार्य आचार्य-पदपर आसीन हुए। उनके शिष्योंमें गुणसागर मुनिपति, गुणचन्द्र-मुनीन्द्र, अभयनन्दी मुनीन्द्र माघनन्दी, जिनकी ख्याति गणदीपकके रूपमें थी, थे।

इस लेखसे यह भी पता चलता है कि मुनि कल्याण कीर्तिने उसी स्थान पर एक जिन-चैत्यका निर्माण कराया था, जहां सिंहनन्द्याचार्यने कठोर तप किया और निधनको प्राप्त हुए थे। उन्होंने बिच्छुकुण्डी ग्राममें शान्तिनाथ भगवान्

की प्रतिमा विराजमान कराई। इस लेखका जो भाग कनड़ी में है, वह छन्दोबद्ध है। प्रथम दो और अन्तिम तीन पाद कायड छन्द में हैं और तीसरा शार्दूलविक्रीडितमें है।

शिलालेख इस प्रकार है—

१—स्वस्ति श्री विक्रमादित्यन प्रथम-राज्यडएडु श्री सिंहनन्दी-तम्माडिगल इंगिनीमर (न) म्

२—ओंदु टिंगलिम् साधिसिडोर श्री सिंहनन्दी-अन्नानु (म्) मतिसागर अन्नानुम् नरलो-

३—कामित्रानुम ब्रह्मचारि-अन्नानुम् नलवाल्म विनयम् (गे) यडोर स्वा (मि) कुमारानु

४—पोसटु जिनविम्बमम पूजिसे डिदिजर्वे-विच्छुकुण्डेयोल निरिसि जागक्क-इसेलिडानागदेवन वसदिय क-

५—ल्याणकीर्ति कीर्तिसे नोन्तम् इम गहनमो निरि-सिदान-

उत्तुंग अद्रियमेगे सिंहनन्द्याचार्यम वण्ड-इंगिनिमर-

६—णम् गेयडोडा संगडे कल्याणकीर्ति जिनशासनमम मोडल-इन्दिन्तअलवट्ट देसिग-गण-श्रीकौण्ड-कुण्डान्वया

७—स्पदम्-आचार्यर वर्य-वीर्मर अनघ चान्द्रायणाधीउरो पोडव-इलदन्त-अबरि (म्) वालिक्के पलरूम्

८—कर्म-क्षयंगेडार-अरुदाने म्बवेम्बालि किट सन्डा रविचन्द्रा-चार्यर इण्डोलियोल गुण-

९—सागर मुनिपतिगल गुणचन्द्र मुनीन्द्रर, अभयन्दि मुनीन्द्र—गणदीपकर-इनिसिड माघनन्दिगल नेगाल डार इरवरुम् क-

१०—मडिएडम् कडु-तापम् इंगिनी-मरणडोल- ओडालम् तवे नोण्टु सिंहनन्द्याचार्यर मूडि पिडेडे (योल) बे दाङ्गम् पादेदिरे माडिखी जिनेन्द्र चैत्यालयमम्

११—अतिशयडे शान्तिनाथन प्रतिष्ठेयम् विच्छु कुण्डी-योल मडि महोत्म धर्म कार्यडिम् वसुमति योल कल्याणकीर्ति-मुनिपर नेगालडार

शिलालेख नं० ८

यह शिलालेख ग्रामके वेंकटेश-गुडीमें खड़े शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण है। इसका सम्बन्ध विजयनगर-नरेश कृष्णदेव-रायसे है। इसमें भण्डरड अप्पार सय्यके पुत्र भण्डारड तिम्मप्पय्य द्वारा दिये हिरिय सिन्डोगी ग्राम (जो कोपण की सीमामें स्थित है)के दानका उल्लेख है।

इस लेखमें शक सं० १४४३ वृष वैशाख शु० १ है। शिलालेख इस प्रकार है—

१- शुभ मस्तु स्वस्ति श्री जयाभ्युदय-शा-

२—लिवाहन शक वर्ष १४४३ नेय वृष

३—संवत्सरड वैशाख सु १ लु श्रीमन्म-

४—हाराजाधिराज राज-परमेश्वर श्री वीर कृष्ण-

५—राय-महारायरु पृथ्वी-राज्यम् गेयुत्तम थिरकुलु

६—भण्डारड अप्पारसय्यनवर मक्कलु भण्डारड तिम्म-

७—(प्या) नवस कोपनड चेन्न-केशवदेवरिगे समर्प-सिडड ग्रा-

८—मड धर्म-शासनड क्रमवेन्तेण्डरे नामगे कृष्णराय महा-

९—रायरु नायकतनके पालिसिड कोपनड सीमे-ओलग-

१०—ण हिरिय (सिण्डो) गी ग्रामवणु देवर अमृतयादि अंग-

११—रंग-वैभोग मासोत्सव मुन्तड देवर सेवगे हिरिय-

१२—सिण्डोगिय-ग्रामवणु समर्पि सिदेवगि अ सिण्डो-गाय-ग्रा-

१३—मके अवर ओवरु तप्पिड वरु तम्म मातृ पितृ गलन्नु वाराण-

१४—सियल्लिवधेय मडिड पटकक्के होहारु सहस्र कपिलेय-

१५—नु वधेय मडिड पट (क) क्के होहारु इम् (ड) कोट्ट सिण्डोगिय-

१६—ग्रामड धर्म शासन

१७—से २१ पंक्ति तकके अक्षर पढ़े नहीं जासके हैं।

शिलालेख नं० ९

यह शिलालेख एक जैन मूर्तिके सिंहासनके नीचे खुदा हुआ है। यह मूर्ति कोप्पलमें मिली थी और अब नवाब-सालारगंजके संग्रहालयमें सुरुर नगरमें है श्री नरसिंहाचार्यके मतसे यह मूर्ति कोप्पलके चतुर्विंशति तीर्थंकर वसतिमें मिली है।

इस शिलालेखके अनुसार वोपन्न, जो इम्मेभर पृथ्वी गौड़ से उत्पन्न हुआ था और समृद्धकोपणतीर्थकी उसकी प्रियभली मालव्वे, जो सुप्रसिद्ध रायराजगुरु मण्डलाचार्य माघनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्तीकी प्रिय शिष्या थी, इन दोनोंने कई धार्मिक अनुष्ठानोंके सम्पन्न होनेके अवसरपर चौबीस तीर्थकरोंकी प्रतिमा मदनदण्ड नामक द्वारा निर्मित वसतिके लिए समर्पित की। यह वसति मूलसंघके देशियगणसे

सम्बन्धित थी।

इस चौवीसीमें मूल नायक प्रतिमा भ० पार्श्वनाथकी है और प्रभामण्डल तेईस तीर्थंकरोंके चारों ओर बहुत साधारण ही है। नीचे की ओर धरणेन्द्र और पद्मावतीकी मूर्तियां हैं।

शिलालेख इस प्रकार हैं—

स्वस्ति श्री मूलसंघ देशीय गणड मदन-दण्ड नायक मडिसिड़ा व (मदि) गे-रा—

२—य-राजगुरु मण्डलाचार्यरप्पा श्रीमद् माघनन्दी-सिद्धान्त चक्रवर्ति गलप्रि (य गुड्डगलु) श्री कोपण।

तीर्थड इम्मेथर (प्रिथ्वी) गौदान प्रियांगने मालव्वेगे पुट्दि सुपुत्रारु वोपन्न-तम···व्ज-

४—लि-मुक्यवग्री इ (ह्न) नोंपिगेयु चौबीस तीर्थंकर मडिसी कोटरु मंगल महा श्री श्री श्री

शिलालेख नं० १०

यह शिला लेख भी कोप्पलमें प्राप्त एक जैन प्रतिमाके सिंहासनमें खुदा हुआ है। यह प्रतिमा भी नवाब सालार जंगके संग्रहालयमें है।

इस शिलालेखमें बताया गया है कि यह पंचपरमेष्ठियों की प्रतिमा अचन्नमके पुत्र देवना द्वारा निर्मित हुई थी। यह एरम्बरंग नामक राजधानीके कुलगिरि सेनावो थे और जो मूलसंघके देशियगणसे सम्बन्धित पुस्तक गच्छकी इंगलेश्वर शाखाके माधवचन्द्र भट्टारकके प्रिय शिष्य थे, धार्मिक अनुष्ठानोंके कारण यह सिद्धचक्रड नौम्पी और श्रुतपंचमी नौम्पी कहलाते थे। इन अनुष्ठानोंका विवरण श्री नरसिंहाचार्यने अपनी रिपोर्टमें इस प्रकार दिया है:— सिद्धचक्र नौम्पी सिद्धोंके स्मरण रक्खा जाने वाला एक व्रत है और श्रुतपंचमी नौम्पी एक व्रत है -- जो जैन शास्त्रोंके उपलक्षमें ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीको रक्खा जाता है।

इस मूर्तिमें अर्हन्त, सिद्ध-आचार्य उपाध्याय और साधु उन पंचमेष्ठियोंका रूप है। इसमें केवल अर्हन्त परमेष्ठीके सिर पर छत्र सुशोभित है किन्तु यहां चतुर्विंशति तीर्थंकर प्रतिमाकी तरह छत्रमय नहीं है।

वेदीमें सिद्धचक्र भी प्राप्त हुआ है, जो वर्गाकार पीतल का है। इसमें आगेकी ओर जल निकलनेके लिए एक नलिका है। इसका मध्य भाग पटेका पुष्पकी भांति मुड़ा हुआ है और अष्टकोणका है। मध्यमें और एकान्तरवर्ती चार कोणों पर लघु प्रतिमाएँ अंकित हैं। मध्यमें अर्हन्तदेव विराजमान हैं पृष्टकोण पर सिद्ध दांई ओर आचार्य, बांई ओर साधु और सामनेकी ओर उपाध्याय परमेष्ठी आसीन हैं। इस गोलाकारमें बीच-बीचके बचे हुए चार कोणोंमें सिद्ध भगवानके बांई ओर तप, दांई ओर दर्शन, उपाध्यायकी बांई ओर चारित्र और दांई ओर ज्ञान है। इन पंचपरमेष्ठियोंके आदि अक्षरोंसे ॐ बनता है। ॐकारमें जिस प्रकार पांच प्रतिमाओंका प्रतिनिधित्व है। उसी प्रकार पंचतीर्थ नामक जैन पूजामें भी इन्हीं पंचपरमेष्ठियोंका प्रतिनिधित्व होता है। जैनोंकी पूजामें एक और बात सामान्यतम पाई जाती है कि चौबीस तीर्थंकरोंका प्रतिनिधित्व संगमर्मरके चतुर्विंशपट्ट या चौविस्त्रतमें मान लेते हैं।

शिलालेख इस प्रकार है—

१—स्वस्ति श्री मूलसंघ देशियगण पुस्तक गच्छ इंगले

२—श्वरड बाजिम माधवचन्द्र भट्टारकर गुड्ड श्रीम-

३—द-राजधानी पत्तनम इरंवरोय कुल (गिर) सेनावो

४—व अचन्न (यव्वर) माग देवननु सिद्धचक्रड नौनोंपि श्रु-

५—तपंचमी-नोम्पिगे मडिसिडा पंच परमेष्ठिगल प्रतिमे

६—मंगलम्

इस प्रकार कोप्पल के इन शिला लेखों से कोप्पल या कोपवाल की महत्ता का स्वयं अन्दाज लगा सकते हैं। आशा है विद्वान अपनी नवीन खोजोंसे उक्त विषय पर प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे।

श्रीमान बाबू रघुवरदयालजी जैन एम० ए०. एलएल० बी.
करौलबाग, न्यू देहली ५.
जिन्होंने अपने पूज्य पिता श्री रामदयाल जी. तथा पूज्य मातेश्वरी
श्री चमेलीबाई जैन की पुण्य स्मृति में वीरसेवामन्दिर,
२१ दरियागंज, दिल्ली के नूतन भवन की तीसरी
मंजिल में पूर्व की ओर के तीनों कमरे बनवाये हैं।

पुराने साहित्यकी खोज

(जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर')

१. समन्तभद्रके तृतीय परिचय-पद्यका अन्यत्र दर्शन

स्वामी समन्तभद्रके आत्म-परिचय विषयक पहले दो ही पद्य मिलते थे—एक 'पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्यनगरे भेरी मया ताडिता' और दूसरा 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं'। तीसरा पद्य आजसे कोई बारह वर्ष पहले स्वयम्भूस्तोत्रकी प्राचीन प्रतियोंका अनुसन्धान करते समय मुझे दिल्ली पंचायती मन्दिरके एक अतिजीर्ण-शीर्ण गुटके परसे उपलब्ध हुआ था, जिसपर मैंने २ दिसम्बर सन् १९४४ को 'समन्तभद्रका एक और परिचय पद्य' नामक लेख लिखकर उसे अनेकान्त के ७वें वर्षकी संयुक्त किरण ३-४में प्रकाशित किया था। उस पद्यसे स्वामीजीके परिचय-विषयक दस विशेषण खास तौरसे प्रकाशमें आये थे और जो इस प्रकार हैं—१आचार्य, २ कवि, ३ वादिराट्, ४पण्डित(गमक), ५ दैवज्ञ (ज्योतिर्विद्), ६ भिषक् (वैद्य), ७ मान्त्रिक (मन्त्र-विशेषज्ञ), ८ तान्त्रिक (तंत्र विशेषज्ञ), ९ आज्ञासिद्ध और १० सिद्धसारस्वत। वह तृतीय पद्य इस प्रकार है:—

> आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
> दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
> राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
> माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम् ॥

यह पद्य भी पूर्वतः उपलब्ध दो पद्योंकी तरह किसी नगर-विशेषकी राजसभामें राजाको लक्ष्य करके कहा गया है। इस पद्यकी उपलब्धि अभी तक दिल्लीके उक्त शास्त्र-भंडारके अतिरिक्त अन्य कहींके भी भण्डार आदिसे नहीं हो रही थी। अन्यत्र उसकी खोजके लिए मेरा प्रयत्न बराबर चालू था। हर्षकी बात है कि गत भादों मासमें अजमेरके बड़ा धड़ा पंचायती मन्दिरके शास्त्र-भण्डारका निरीक्षण करते हुए एक प्राचीन गुटके परसे मुझे उक्त पद्यका दूसरी बार दर्शन हुआ है। यह गुटका वि० सं० १६०७के भाद्रपदमासकी सुदि नवमीको लिखा गया है और इसमें भी उक्त पद्य स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तमें दिया हुआ है। दोनों गुटकोंकी इस विषयमें इतनी ही विशेषता है कि दिल्लीवाले गुटकेमें तीनों पद्य क्रमशः एक साथ दिये हैं और अजमेरवाले गुटकेमें पहले दो पद्योंको देकर बीचमें दो पद्य अन्य दिये हैं और फिर नं० ५ पर उक्त तृतीय पद्य दिया है। बीचके दो पद्य समन्तभद्रके आत्म-परिचयसे सम्बन्ध नहीं रखते। उनमेंसे एक तो समन्तभद्रकी स्तुतिको लिए हुए अकलंकदेवकी अष्टशतीका 'श्रीवर्धमानमकलंकमनिन्द्यवंद्य' नामका पद्य है और दूसरा जिनेन्द्रकी स्तुतिको लिए हुए 'ये संस्तुता विविधभक्त-समन्तभद्रैः' नामका पद्य है। मध्यके ये दोनों पद्य उक्त तृतीय श्लोकके अनन्तर लिखे जाने चाहिये थे किन्तु लेखकादिकी किसी भूलसे वे मध्यमें संकलित हो गये हैं। दो एक भूलें इस तृतीय पद्यके लिखनेमें भी हुई हैं; जैसे कि 'भिषगहमहं' के स्थान पर भिषगमहमहं'; 'मांत्रिकः' के स्थान पर 'मंत्रिकाः' और 'सिद्धसारस्वतोहं'की जगह 'सिद्धसारस्वतोयं' का लिखा जाना। ये सब अशुद्धियां साधारणतया लेखककी असावधानीका परिणाम जान पड़ती हैं और इसलिए इन्हें कोई विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता—दोनों प्रतियोंमें तीनों पद्य एक ही हैं।

अन्तमें पाठकोंसे निवेदन है कि यदि उन्हें प्राचीन गुटकों आदिका स्वाध्याय तथा अवलोकनादि करते समय समन्तभद्रके आत्मपरिचय-विषयक उक्त तृतीय पद्य या इन तीनोंके अतिरिक्त अन्य कोई पद्य दृष्टिगोचर हो तो वे उससे मुझे सूचित करनेकी जरूर कृपा करें।

२. समन्तभद्रका भावी तीर्थंकरत्व

माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनाके साथ स्वामी समन्तभद्रका इतिहास लिखते समय मैंने 'भावी तीर्थंकरत्व' नामक एक प्रकरण लिखा था और उसमें समन्तभद्रके भविष्यमें तीर्थंकर होनेके सूचक प्रमाणोंको संकलित किया था। उन प्रमाणोंमें एक प्राचीन गाथा भी निम्न प्रकारसे थीः—

> अट्ठहरी णवपडिहरि चक्किचउक्कं च एय बलभद्दो।
> सेणिय समन्तभद्दो तित्थयरा हुंति णियमेण ॥

गत भादों मासमें उपलब्ध हुए अजमेरके पंचायती मंदिर-स्थित शास्त्र-भण्डारके एक गुटकेका निरीक्षण करते हुए हाल-

में मुझे एक दूसरी गाथा इसी विषयकी और मिली है। उसमें भी समन्तभद्रको भावी तीर्थंकरोंमें परिगणित किया है। वह गाथा इस प्रकार है—

अट्ठहरी तह पडिहरि चउनक्की पभंजणो सेणी।
हलिणो समन्तभद्दो होइसी भव्यं (?) तित्थयरा॥

यह गाथा साहित्यिक भेदको छोड़कर पूर्वगाथाके साथ दो खास भेदोंको लिये हुए हैं। इसमें प्रथम तो नौ प्रतिहरिके स्थान पर 'तह' पदके द्वारा आठ प्रतिहरियोंकी सूचना की गई है और दूसरे भावी तीर्थंकरोंमें 'प्रभंजन' नामक एक महापुरुषकी भी नई सूचना की गई है। अस्तु, इस नई उपलब्ध गाथासे भी समन्तभद्रके भावी तीर्थंकरत्वका समर्थन होता है और ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन समयमें इस विषयकी अनेक गाथाएँ रही हैं, उन्हीं परसे संस्कृतादिक ग्रन्थोंमें इस विषयको चर्चित किया गया है। यह गाथा जिस गुटकेमें मिली है वह वि० सं० १६७२ का लिखा हुआ है।

३. मूलसंघके भेद

अजमेरके भट्टारकीय प्राचीन शास्त्र-भण्डारकी छान बीन करते समय गत वर्ष एक अतीव जीर्ण-शीर्ण पुराना गुटका मिला है, जिसमें मूलसंघके भेदोंका निम्न प्रकारसे उल्लेख है:—

"श्रीमूलसंघस्य भेदाः॥ नंदिसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे नामानि ४ नंदि १ चन्द्र २ कीर्ति ३ भूषण ४। तथा नंदिसंघे पारिजातगच्छो द्वितीयः॥छ॥ देवसंघे पुस्तकगच्छे देसीगणे नाम ४ देव १ दत्त २ नाग ३ तुंग ४॥छ॥ सेनसंघे पुष्करगच्छे सूरस्थगणे नाम ४ सेन १ भद्र २ राज ३ वीर॥४ छ॥ सिहसंघे चंद्रकपाटगच्छे काणूरगणे नाम ४ सिंह १ कुंभ २ आश्रव ३ सागर ४॥छ॥"

उक्त गद्यके पश्चात् दो गाथाएँ भी प्रमाणरूपमें दी हैं, जो इस प्रकार हैं:—

'णंदी चंदो कित्ती भूसणणामेहिं णंदिसंघस्स।
सेणो रज्जो वीरो भद्दो तह सेणसंघस्स॥१॥
सिंघो कुंभो आसव सायरणामा हु सिंहसंघस्स।
देवो दत्तो णागो तुंगो तह देवसंघस्स॥२॥"

और इन दोनों गाथाओंके अनन्तर इनके प्रमाण स्थानकी सूचनारूपमें निम्न वाक्य दिया है:—

"इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिशिष्यशिवकोट्याचार्यविरचित बोधिदुर्लभमध्ये(?)मुच्यंते।"

इस सब उल्लेखके द्वारा यह सूचित किया गया है कि मूलसंघके मुख्य भेद चार हैं—१ नंदि, २देव, ३सेन और ४ सिंह। नंदिसंघमें 'सरस्वती' और 'पारिजात' नामके दो गच्छ रहे हैं और गणका नाम 'बलात्कार' है। इस गणमें नंदि, चन्द्र, कीर्ति और भूषण नामके अथवा नामान्त मुनि जन हुए हैं। देवसंघमें 'पुस्तक' गच्छ और 'देशी' गण रहे हैं और इस गणमें होने वाले मुनि देव, दत्त, नाग और तुंग नामके या नामान्त हुए हैं। सेनसंघके गच्छका नाम 'पुष्कर' और गणका नाम 'सूरस्थ' है और इस गणमें सेन भद्र, राज और वीर नामधारी या नामान्त मुनि हुए हैं। सिंहसंघके 'चन्द्रकपाट' गच्छमें 'काणूर' नामका एक गण हुआ है, जिसमें सिंह, कुम्भ, आस्रव और सागर नामके या नामान्त मुनि हुए हैं।

प्रमाणरूपसे उद्धृत की हुई गाथाओंमें प्रत्येक संघमें होनेवाले चार-चार प्रकारके नामोंका तो उल्लेख है परन्तु गण गच्छके नामोंका साथमें कोई उल्लेख नहीं है, और इससे ऐसा जान पड़ता है कि चारों शाखा-संघोंमें गण गच्छोंकी कल्पना बादको हुई है। अस्तु; उक्त दोनों गाथाएँ अन्यत्र कहींसे उपलब्ध नहीं है, वे प्रमाणवाक्यके अनुसार स्वामी समन्तभद्रके शिष्य शिवकोटि आचार्यकी होनेसे बहुत प्रचीन—विक्रमकी दूसरी शताब्दीकी—होनी चाहिये। प्रमाणवाक्यका अन्तिम अंश(मुच्यंते)यद्यपि कुछ अशुद्ध होरहा है फिर भी उसके पूर्ववर्ती अशसे यह साफ सूचना मिलती है कि उक्त दोनों गाथाएँ 'बोधिदुर्लभ' प्रकरणकी है और शिवकोटिके द्वारा प्राकृत-भाषामें इस नामका कोई प्रकरण लिखा गया है हो सकता है कि अणुवेक्खा (अनुप्रेक्षा)—जैसे उनके किसी ग्रन्थ विशेषका वह एक प्रकरण हो। कुछ भी हो, इस उल्लेखसे स्वामी समन्तभद्रके शिष्य शिव कोटि द्वारा एक अज्ञात ग्रथके लिखे जानेका पता ज़रूर चलता है और वह भी प्राकृत-भाषामें। शास्त्र-भण्डारोंमें न मालूम कितनी ऐसी महत्वकी सूचनाएँ दबी-छुपी पड़ी हैं। साहित्यका प्रामाणिक इतिहास तय्यार करनेके लिए सारे उपलब्ध साहित्यकी पूरी छान-बीन होनी चाहिये।

४. गोम्मटसारकी प्राकृत-टीका

'गोम्मटसार' जैन समाजका एक सुप्रसिद्ध ग्रंथ है, जो जीवकांड और कर्मकांडके भेदसे दो भागोंमें विभक्त है। इन दोनों भागों पर संस्कृतादि-भाषाओंके अनेक टीका टिप्पण पाये जाते हैं; परन्तु प्राकृतकी कोई टीका अभी तक उपलब्ध नहीं थी। हां, कुछ समय पहले एक पंजिकाकी उपलब्धि

ज़रूर हुई है, जिसे गणधरकीर्ति आचार्यने प्रायः प्राकृत भाषामें लिखा है और जिसका उल्लेख अभयचन्द्राचार्यकी संस्कृत-टीकामें मिल रहा था। प्राकृतटीकाका कोई उल्लेख भी अभी तक कहींसे देखनेको नहीं मिल रहा था। गत सितम्बर मासमें अजमेर के उस बड़े भट्टारकीय भंडारसे तीन संस्कृत टिप्पणादिके अतिरिक्त एक प्राकृतटीका भी उपलब्ध हुई है, यह बड़े हर्षकी बात है। यह टीका दोनों कांडों पर लिखी गई है, परन्तु उपलब्ध प्रतिका आदि और अन्तिम भाग खंडित होनेसे एक भी काण्डकी टीका पूरी नहीं है। प्रारम्भके १०१ पत्र न होनेसे जीवकांडकी टीका १ से ५८० गाथाओं तककी नहीं है शेष ५८१ (एयदवियम्मि०) से ७३३ (अज्जज्जसेण०) तक गाथाओंकी टीका उपलब्ध है। और अन्तके १०-१२ पत्र न होनेसे कर्मकांडके अंतिम भाग (गाथा ६१४ से ९७२ तक) की टीका त्रुटित हो रही है। इस प्रतिमें कर्मकांडका प्रारम्भ पत्र नं० १२४ से होता है और १६५वें पत्र तक एक रूपमें चला गया है। उसके बाद पत्र संख्या एकसे प्रारम्भ होकर १०१ तक चली है। हाशिये पर कहीं भी ग्रन्थका नाम नहीं दिया है और इसीसे पत्रों का क्रम गड़बड़में होरहा था, जिसे परिश्रम-पूर्वक ठीक किया गया है। और इस तरह ग्रंथकी पत्रसंख्या २७५ के लगभग जान पड़ती है। प्रतिपत्र ४० श्लोकोंके औसतसे ग्रंथकी कुल संख्या ११००० श्लोकके करीब होनी चाहिये, जबकि उक्त पंजिकाकी श्लोकसंख्या ५००० ही है। अस्तु।

ग्रंथकी स्थितिको देखते हुए यह मालूम नहीं होता कि आदि-अंतके पत्र यों ही टूट-टाट कर नष्ट भ्रष्ट होगये हों। बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि वे पत्र कहीं बाहर चले गये, किसी अन्य ग्रंथके साथ बँध गये, रल मिल गये और या खंडित पड़े हुए पत्रोंमें शामिल होगये हैं। ऐसे खंडित पत्र हजारोंकी संख्यामें वेष्टनोंमें बँधे हुए उक्त भंडारमें पड़े हुए हैं। यदि उन खंडित पत्रोंकी छान-बीन की जाये तो बहुत संभव है कि उक्त प्रतिके त्रुटित अंशकी पूर्ति होजाय।

इस प्राकृत-टीकावाली प्रतिमें उपलब्ध गोम्मटसारकी कुछ गाथाएं नहीं हैं, कुछ नवीन हैं और कुछ भिन्न क्रमको लिए हुए आगे पीछे पाई जाती हैं।

टीकाकारने कुछ गाथाओं पर तो विस्तृत-टीका लिखी है, कुछ पर बिलकुल ही नहीं लिखी है—उन्हें 'सुगम' कह कर छोड़ दिया है। टीकामें कहीं कहीं मूल गाथाओं को पूरा लिखा है और कहीं कहीं गाथाके प्रारम्भिक चरणको ही दे दिया है। साथ ही, कहीं-कहीं षट्खंडागमके सूत्र तथा कसायपाहुडके चूर्णिसूत्र भी दिये हुए हैं और कितने ही स्थलों पर समन्तभद्रके नामोल्लेखके साथ उनके ग्रन्थोंकी अनेक 'कारिकाएं' भी 'उक्तं च' रूपमें उद्धृत की गई है। आदि अन्तके भाग त्रुटित होनेसे प्रयत्न करने पर भी टीकाकारका नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

इस प्राकृत टीकामें कहीं कहीं कोई वाक्य संस्कृतमें भी पाये जाते हैं, जैसा कि धवलादिक-टीकाओं तथा इस ग्रन्थकी पंजिकामें भी उपलब्ध होते हैं। इस टीकाके दो एक स्थलों-का पंजिकाके साथ मिलान करनेसे ऐसा मालूम होता है कि पंजिकाकारके सामने यह टीका रही है, इसीसे इसके कुछ वाक्योंका पंजिकामें अनुसरण पाया जाता है। पंजिकाका रचना-काल शक सं० १०१६ (वि० सं० ११५१) है और इससे यह टीका उससे कोई ५० ६० वर्ष पूर्वकी होनी चाहिये। ऐसी प्राचीन महत्वकी टीकाका इस प्रकारसे खंडित होना बड़े ही दुर्भाग्यकी बात है। अतः इस टीकाकी दूसरे भंडारोंमें शीघ्र खोज होनी चाहिये और अजमेरके उक्त शास्त्रभंडारको भी पूरी तौरसे टटोला जाना चाहिए—खासकर उन खण्डित पत्रोंकी पूरी छानबीन होनी चाहिये जो अपने-अपने यूथसे बिछुड़कर कूड़े-कचरेके ढेर रूप बस्तोंमें बँधे पड़े हैं और बेकारीका जीवन बिता रहे हैं। ऐसा होने पर दूसरे भी अनेक खंडित ग्रन्थोंके पूर्ण हो जानेकी पूरी सम्भावना है। इसके लिये अजमेरके भाइयोंको शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करके वे अनेक ग्रन्थोंके उद्धारका श्रेय प्राप्त करेंगे।

५. वृषभनन्दीका जीतसारसमुच्चय

गत सितम्बर अक्तूबर मासमें सवा महीना अजमेर ठहरकर साहित्यिक अनुसन्धानका जो कार्य किया गया है और उसमें जिन अनेक अश्रुतपूर्व प्राचीन ग्रन्थोंकी नई उपलब्धि हुई है उनमें वृषभनन्दीका 'जीतसार-समुच्चय' भी एक खास ग्रन्थ है। ग्रन्थ संस्कृत भाषामें निबद्ध है, मुनियों तथा श्रावकोंके अथवा चतुःसंघके प्रायश्चित्त-विषयसे सम्बन्ध रखता है और मूलमें 'प्रमाणं षट् शतानि' वाक्यके द्वारा इसकी श्लोकसंख्या ६०० बतलाई है। ग्रंथ-प्रति अति जीर्ण है, भुवनकीर्ति-द्वारा लगभग ४०० वर्ष पूर्वकी लिखी हुई है और इसकी पत्र संख्या

३२ है; परन्तु आठवाँ पत्र नहीं है।

इस ग्रन्थके प्रायश्चित्त-विषयका अधिकांश संबंध उस अति जीर्ण-शीर्ण पुस्तिकासे है जो 'जीतोपदेश-दीपिका'के रूपमें श्रीकोंडकुंदाचार्यके नामाङ्कित थी, जिसे मान्यखेटमें सिद्धभूषण नामके सैद्धान्तिक मुनिराजने एक मंजूषामें देखा था, प्रार्थना करके प्राप्त किया था और जो उसे प्राप्त करके संभरी-स्थानको चले गये थे। उन्हीं मुनिराजने वृषभनन्दी-के हितार्थ उसकी व्याख्या की थी, जिसका इस ग्रन्थ-में अनुसरण किया गया है, ऐसा ग्रन्थके निम्न प्रशस्ति-वाक्योंसे जाना जाता है:—

"मान्याखेटे मंजूषेक्षी सैद्धान्तः सिद्धभूषणः।
सुजीर्णां पुस्तिकां जैनीं प्रार्थ्याप्य संभरीं गतः ॥३४॥
श्रीकोंडकुंदनामांकां जीतोपदेशदीपिकां।
व्याख्याता मद्धितार्थेन मयाप्युक्ता यथार्थतः ॥३५॥
सद्गुरोः सदुपदेशेन कृता वृषभनन्दिना।
जीतादिसारसंक्षेपो नंद्यादाचंदुतारकं ॥३६॥"

इन पद्योंके बाद ग्रन्थकारने एक पद्यमें, अपनी मन्दबुद्धिआदिका उल्लेख करते हुए, रचनामें जो दोष रह गया हो उसके संशोधनकी प्रार्थना की है और तदनन्तर अपनी गुरुपरम्परादिका जो उल्लेख किया है वह इस प्रकार है:—

पुरतः। चर्याधुर्यो रुद्राचार्यो रुद्रयात्कर्म्मभर्म्मी।
शिष्यो रत्नी रामनंदी लक्षणाक्षणचक्षुः।
अंतेवासी शास्त्रार्थज्ञः पंकधारी तपांकः
सिद्धांतज्ञः सेव्योस्य स्यात् नंदनंदी गणेशः ॥३८॥
श्रीकीर्तिः स शिष्यो दक्षः दुःख (स)मे विदी (?)
तस्य भ्राता श्रीनंदी ध्यानजीताविदग्धः
सिद्धांतज्ञस्तस्य भ्राता वृषभनंदी समीर्ये
जीताद्यर्थं श्रीकोंडकुंदीयं जीतसारांबुपायी ॥३९॥
अनुजहर्षनंदिना सुलिख्य जीत—
सारशास्त्रमुज्वलोद्धृतं ध्वाजापने।
वृषभनंदि-कोंडकुंद-वंश-कोटि-
वासिभानुभवनिस्तमसायते।
जगति भव्यजीवलग्नघातिकर्म—
वादिदर्पभंजिशुष्कपंडितायते।
विमलबोधवीरवाक्यदुग्धवार्धि—
निर्जरद्धिमस्य सूरिहंसायते ॥४०॥

समाप्तं चैतज्जीतसारसमुच्चयमिति।"

प्रशस्तिके ये पद्य कहीं कहीं पर कुछ अशुद्ध प्रतीत होते हैं, पर इनमें जिस गुरु-परम्पराका उल्लेख है वह इतना ही जान पड़ता है कि रुद्राचार्य-के शिष्य रत्नी रामनन्दी, रामनन्दीके शिष्य नन्दनन्दी और नन्दनन्दीके शिष्योंमें प्रस्तुत ग्रन्थकार वृषभनन्दी हुए हैं। यहां नन्दनन्दीके शिष्योंमें अपने पूर्ववर्ती दो गुरुभाईयों श्रीकीर्ति और श्रीनन्दीका नामोल्लेख किया गया है, जो पूर्वदीक्षित एवं बड़े होनेसे गुरुकोटिमें स्थित हैं, और अपने उत्तरवर्ती एक गुरुभाई 'हर्षनन्दी'का अनुज-रूपमें उल्लेख किया है, जिसने इस ग्रन्थकी सुन्दर प्रतिलिपि लिख-कर तय्यार की थी। इस तरह प्रशस्तिमें श्रीनंदनंदी मुनिराजके, जिन्हें शास्त्रार्थज्ञ, पंकधारी, तपांक, सिद्धांतज्ञ, सेव्य और गणेश जैसे विशेषणोंके साथ स्मृत किया है, चार शिष्योंका उल्लेख मिलता है; परन्तु उनके एक प्रमुख शिष्य 'गुरुदासाचार्य' भी रहे हैं, जिन्हें ग्रंथकी आदिमें निम्नवाक्यके द्वारा स्मृत किया गया है:—

"श्रीनंदनंदिवत्सः श्रीनंदिगुरुपदाब्ज-षट्चरणः।
श्रीगुरुदासो नंद्यातीक्ष्णमतिः श्रीसरस्वतीसूनुः ॥२॥"

इस वाक्यमें गुरुदासको स्पष्टरूपसे श्रीनंद-नन्दीका 'वत्स' (शिष्य) बतलाया है, साथ ही यह भी सूचित किया है कि वे श्रीनन्दिगुरुके चरण-कमलोंके भ्रमर थे, और इससे यह जाना जाता है कि नन्दनन्दीके शिष्योंमें जिन श्रीनन्दीका प्रशस्तिमें उल्लेख है और जिन्हें जीत(प्रायश्चित्त)शास्त्रमें विदग्ध तथा सिद्धान्तज्ञ लिखा है वे गुरुदाससे पूर्व-वर्ती बड़े गुरुभाईके रूपमें हुए हैं, वृषभनन्दी गुरुदास-से भी उत्तरवर्ती शिष्य हैं। यहाँ गुरुदासको 'तीक्ष्णमति' तथा सरस्वतीसुनु' लिखा है और इस-से पूर्ववर्ती पद्यमें उनके लिये विशिष्टगुणरत्नभू जैसे विशेषणपदका प्रयोग किया गया है। साथही, ग्रन्थ-कर्तृत्वका उल्लेख करते हुए प्रायश्चित्त-विषयक ग्रंथ-कर्ताओंकी परम्पराको उस वक्त उनतक ही सीमित किया है; जैसाकि ग्रंथके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

तीर्थकृद्गणभृत्कर्ता तच्छिष्याचयतः क्रमात्।
यावच्छ्रीगुरुदासोथ विशिष्टगुणरत्नभूः ॥४॥

इस सब कथनसे गुरुदासाचार्यका विशिष्ट महत्व ख्यापित होता है और यह जान पड़ता है कि वे एक महान विद्वान् हुए हैं। उनका बनाया हुआ चूलिकासहित 'प्रायश्चित्तसमुच्चय' ग्रन्थ एक बड़ी ही श्रेष्ठ और अपूर्व रचना है। बहुत वर्ष हुए जब वह मुझे पहलीबार मिली थी तभी मैंने स्वयं अपने हाथसे उसकी प्रतिलिपि अपने अध्ययनार्थ, टीका परसे टिप्पणी करते हुए, उतारी थी, जो अभी तक मेरे संग्रहमें सुरक्षित है।

वृषभनन्दीने उक्त ५वें पद्यमें गुरुदासका परिचय देनेके अनन्तर, 'तद्वद्वृषभनन्दीति' इस छठे पद्यके द्वारा अपनेको गुरुदासकी तरह नन्दनन्दीका वत्स और श्रीनन्दीके चरणकमलका भ्रमर सूचित किया है। साथही, यह भी व्यक्त किया है कि वह स्वल्पश्रुत होते हुए भी दोनों गुरुओंको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके उनके उपदेशको प्रकाशित करनेमें प्रवृत्त हुआ है, और प्रशस्ति पद्य ३६,) में यह प्रकट किया है कि वह श्रीकोंडकुंदीय जीतार्थको सम्यक् प्रकार अवधारण करके 'जीतसाराम्बुपायी' (जीतसाररूप अमृतका पान करनेवाला) बना है। इससे साफ मालूम होता है कि वृषभनन्दीको श्रीकोंडकुन्दाचार्यकी उस मंजूषास्थित अतीव शीर्ण-क्षीर्ण-पुस्तिकासे प्रायश्चित्त-विषयक ग्रन्थोंके अध्ययनादिकी खास प्रेरणा मिली है और इस ग्रन्थमें श्रीकोण्डकुन्दाचार्यके प्रायश्चित्त-विषयको प्रमुखतासे अपनाया गया है। दूसरे जिन ग्रन्थादिका आधार इस ग्रन्थमें लिया गया है उनके नामकी सूचना निम्न-प्रकारसे की गई हैं :—

> द्वात्रिंशदद्वितयाचारे चाष्टोतर्यां प्रकीर्णके,
> छेदपिंडे यदुक्तं च तत्किंचिन्मात्रमुच्यते ॥९॥
> जीतादिभ्यः समुच्चित्य सारं सूरिमतादपि
> त्रयोदशाधिकारोक्तं जीतसारसमुच्चयं ॥१०॥

इस रचनामें १ द्वात्रिंशद्द्वितयाचार २ अष्टोत्तरी ३ प्रकीर्णक, ४ छेदपिण्ड और ५ जीत नामक ग्रन्थोंका उल्लेख तो स्पष्ट है, शेषमेंसे कुछको 'आदि' शब्दके द्वारा ग्रहण किया गया है और साथही अपने आचार्यके मतको भी समाविष्ट करनेकी बात कही गई है। सूचित ग्रन्थोंमें पहले दो नाम अश्रुतपूर्व जान पड़ते हैं और 'छेदपिण्ड' ग्रन्थ वही मालूम होता है जो इन्द्रनन्दी आचार्यकी कृति है और माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है। इस उल्लेखसे उसके समयादि-सम्बन्धमें अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह उन इन्द्रनन्दी आचार्यको कृति जान पड़ता है जिनका उल्लेख ज्वालामलिनी-कल्पके कर्ता इन्द्रनन्दीने अपने गुरु बप्पनन्दीके दादागुरुके रूपमें किया है—अर्थात् वासवनन्दी जिनके शिष्य और बप्पनन्दी प्रशिष्य थे—और इसलिये जिनका समय विक्रमकी ६वीं शताब्दीका *प्रायः मध्यवर्ती होना चाहिए; क्योंकि ज्वालामालिनी* कल्पकी रचना शक सं० ८६१ (वि० ६६६) में हुई है और नन्दनन्दी के शिष्य श्रीनन्दी, गुरुदास तथा वृषभनन्दी ये सब ६वींशताब्दीके उत्तरार्धके विद्वान् हैं।

अब मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मूलमें ग्रन्थकी श्लोकसंख्या यद्यपि ६०० बतलाई है परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रतिमें वह ७०० से ऊपर पाई जाती हैं, और इससे ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थ-प्रतिमें कुछ पद्य बाहरसे शामिल होरहे हैं। अनेक स्थानों पर 'उक्तं च' रूपसे कुछ प्राकृत-गाथाएँ तथा संस्कृतके पद्य दिए हुए हैं। और उन पर क्रमांक डाले गए हैं। साथ ही, ऐसे भी कुछ पद्य हो सकते हैं जिन पर उक्तं च' न लिखा गया हो और वे वैसे ही लेखकोंकी कृपासे ग्रन्थमें प्रविष्ट हो गए हों। ऐसे सब पद्योंकी ठीक जांच विशेष अध्ययन तथा दूसरी ग्रन्थ-प्रतियोंके सामने होनेसे सम्बन्ध रखती है। इसके लिए दूसरी ग्रन्थ-प्रतियोंकी खोज होनी चाहिये।

हाँ, ग्रन्थ-प्रतिके २८वें पत्रसे चलकर ३१वें पत्रकी दूसरी पंक्ति तक 'हेमनाभ'नामका एक प्रकरण भी इस प्रतिमें, द्वितीय चूलिकाकी समाप्तिके अनन्तर, पाया जाता है, जिसमें संज्ञिव्रतोंके अतिचारोंकी शुद्धिका विषय है और उसका पूर्व सम्बन्ध 'हेमनाभ' (नाभेयऋषभदेव) से जोड़ कर—दोनों के प्रश्नोत्तर-वाक्योंको साथमें देते हुए—यह कहा गया है कि भरतचक्रीने प्रश्नका जो उत्तर अपने पिता (हेमनाभ)से सुना वही उत्तर श्रेणिकने 'वीर' भगवानके मुखसे सुना और उसीको गौतम (गणधर)

ने अंग-पूर्व तथा बाह्यांगमें गूँथा वही आचार्यक्रम-से चला आया शुद्धिविधान मैंने संज्ञीके लिये कहा है। इसके बाद वह प्रकरण दिया है जो श्रावकोंके भेदोंसे प्रारंभ होकर चतुर्थ शिक्षाव्रतकी शुद्धि तक है और उसके अन्तमें लिखा है—"हेमनाभं समाप्त" इस प्रकरण का सम्बन्ध व्यक्त करने वाले प्रारम्भके चार पद्य इस प्रकार हैं :—

> "भगवान् हेमनाभाख्यो नत्वा पृष्ठोऽथ चक्रिणा
> संक्षिप्तव्रतातिचाराणां शुद्धिं ब्रूहि ममोचितां ॥१॥
> भरतमाह नाभेयः प्रथमं चक्रवर्तिनं ।
> शृणु चक्रेश वक्ष्येऽहं श्रावकीं शुद्धिमुत्तमाम् ॥२॥
> कालानुरूपतः सर्वं यच्छ्रुतं चक्रिणा पितुः ।
> तथैव श्रेणिकोऽश्रौषीद्वीराद्दुःषमशोधनम् ॥३॥
> तदंगपूर्वबाह्यांगे ग्रंथयामास गौतमः ।
> तदाचार्यक्रमायातं संज्ञिने कथितं मया ॥४॥

इन प्रास्ताविक पद्योंकी स्थितिको देखते हुए यह बहुत संभव जान पड़ता है कि यह सारा ही प्रकरण, जो ७२ (५६+१३) श्लोक-जितना है, ग्रन्थमें बादको किसीके द्वारा प्रक्षिप्त किया गया है; क्योंकि इन पद्योंका सम्बन्ध साहित्यादिकी दृष्टिसे ग्रन्थके साथ कुछ ठीक बैठता हुआ मालूम नहीं होता। इनसे पूर्व और 'गद्यपद्योक्तद्वितीया चूलिका समाप्ता' इस अधिकार—समाप्ति-वाक्यसे पहले प्रशस्तिके वे प्रथम दो पद्य दिये हुए हैं जो 'मान्या-खेटे मंजूषेक्षी' और 'श्रीकोंडकुन्दनामांकां' से प्रारम्भ होते हैं, जिनसे ऐसा भान होता है कि वहाँ प्रशस्ति दी जानेको थी जिसका दिया जाना रोका गया है और द्वितीया चूलिकाकी समाप्ति करके 'हेमनाभ' प्रकरण दिया गया है, जिसका अधिकारोंकी सूची-में खास तौर से कोई नाम भी नहीं है।

अन्तमें मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि ग्रन्थके विषय पर सामान्यतः सरसरी नजर डालनेसे यह मालूम होता है कि ग्रंथ अच्छा महत्व-का है, सरल है और उसमें अनेक ऐसे विषय चर्चित हैं जो दूसरे प्रायश्चित्त—ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते, अथवा उनमें कोई सूत्ररूपसे संकेत मात्र को लिए हुए हैं जो इसमें अच्छी स्पष्टताके साथ दिये गये हैं। इस ग्रथका दूसरे प्रायश्चित्त ग्रंथोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन होनेकी बड़ी जरूरत है, उससे अनेक विषयों पर अच्छा प्रकाश पड़ सकेगा। इसके लिए किसी विद्वानको खास तौरसे प्रयत्न करना चाहिए। यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशमें लानेके योग्य है।

श्रावण कृष्णा ५ सं० २०१३
२१, दरियागंज, दिल्ली

हमारा प्राचीन विस्मृत वैभव

(श्री पं० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य)

श्री अतिशय क्षेत्र पटनागंज

गत ग्रीष्मावकाशमें हमें कुछ दिनोंके लिये सागर (मध्यप्रदेश) जानेका अवसर मिला था। मित्रवर श्रीयुत पं० चन्द्रमौलिजीकी प्रेरणासे श्री अतिशय क्षेत्र पटनागंज भी, जो सागर रहलीके निकट है, जानेका सौभाग्य मिला। वहां १३वीं शताब्दीसे लेकर १८वीं शताब्दी तकके निर्मित अनेक जीर्ण-शीर्ण विशाल शिखरबन्द जिनालयोंको देखकर हमारा मस्तक नत होगया। लगभग सात-आठसौ वर्ष पूर्व इस प्रान्तके धर्मप्राण श्रद्धालु बन्धुओंने जिस उत्कट भक्ति और हार्दिक धार्मिक भावनासे प्रेरित होकर अपने सद्द्रव्यका सदुपयोग किया है स्तुत्य है। श्री पंचमेरु-मन्दिर, नन्दीश्वर द्वीपकी रचना, सहस्रकूट चैत्यालय, बावन जिना-लय तथा छोटी-छोटी अनेकों टोंकें और सैकड़ों मनोज्ञ वेदियां इस बातके प्रमाण हैं कि यहां कितना सांस्कृतिक वैभव बिछा पड़ा है और हमारे पूर्वज किस तरह इन धार्मिक कार्योंमें तत्पर रहते थे। किन्तु एक हम हैं, जो उनका जीर्णोद्धार भी करनेमें असमर्थ हैं। मन्दिर, मूर्ति और शास्त्र ये संस्कृतिकी स्मारक वस्तुएँ हैं। इनसे संस्कृतिके सम्बन्धमें हमें जानकारी मिलती है और ज्ञात होता है संस्कृतिका अतीत गौरव। विश्व-विख्यात श्रवणबेल्गोलकी गोम्मटेश्वर बाहुबलीकी उत्तुंग मूर्ति आज भी जैन संस्कृतिका गौरव प्रदर्शित करती है। खजुराहो, देवगढ़ आदिके मनोज्ञ एवं

कलापूर्ण प्रतिबिम्ब आज भी कला प्रेमी और संस्कृति प्रेमियोंको आकर्षित करते हैं तथा भारतके गौरवपूर्ण सांस्कृतिक इतिहासके निर्माणमें असाधारण मूक सहायता करते हैं।

पटनागंजका भव्य स्थान भी ऐसा ही है जो सोन नदी के निकट बसा हुआ अपने अतीतके हर्षपूर्ण दिवसोंकी स्मृति दिला रहा है। आश्चर्य नहीं कि इस भव्य स्थानके चारों ओर हजारोंकी संख्यामें जैनोंका निवास रहा हो और वे सब तरह धन-धान्यसे भरपूर हों। यहां जो लेख हैं उनके प्रकाशमें आने से व्यक्तियों, जातियों और अनेक गोत्रोंके सम्बन्धमें अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। सिर्फ आवश्यकता उस ओर ध्यान देने की है।

श्री अतिशय क्षेत्र मदनपुर

इन्हीं दिनों हमें एक दूसरा अतिशय क्षेत्र मदनपुर भी, जो सागर व ललितपुरके मध्यमें सागर-मदनपुर-मड़ावरा रोडपर अवस्थित है, देखनेका सुअवसर मिला। इसका श्रेय सोंरई (ललितपुर) के जैन बन्धुओंको है, जो पिछले कई वर्षसे प्रेरणा कर रहे थे और हमने तथा सुहृद्वर पं० परमानन्दजी शास्त्रीने उद्धार करनेका एक-दो बार निश्चय भी किया था, पर जानेका योग्य नहीं मिल सका था। इस मनोज्ञ स्थान पर भी जो एक छोटी एवं थोडी ऊंची पहाड़ी पर है, हमारा धार्मिक वैभव दीन हीन अवस्थामें पड़ा हुआ है। हम 'दीन-हीन अवस्था' इसलिये कह रहे हैं कि वस्तुतः इस सुन्दर एवं प्राचीन गौरवपूर्ण स्थानकी ओर समाजका शताब्दियोंसे लक्ष्य नहीं गया। सं० १११०से लेकर सं० १६१८ तकके तीन विशाल मन्दिर पहाडपर विद्यमान हैं और पांच मढ़ियां (मन्दिर), जो पंचमढ़ियोंके नामसे विश्रुत हैं, पहाडके नीचे हैं, पर दहलाने तोड़ डाली गई हैं, जिनका कलापूर्ण एवं सुन्दर पत्थर आस-पास चारों ओर बिखरा पड़ा है और बहुत कुछ आस-पासके लोग अपने मकानोंके लिये उठा ले गये हैं। इन पत्थरोंकी कला एवं बनावट देखकर १०वीं, ११वीं व १२वीं शताब्दीकी मूर्ति एवं मंदिर निर्माण कलाका स्मरण हो आता है।

इन मन्दिरों तथा पंचमढ़ियोंमें सब जगह शान्ति, कुन्थु और इन तीन तीर्थंकरोंकी विशाल उत्तुंग खड्गासन मूर्तियां प्रतिष्ठत हैं, जो अधिकांश खण्डितावस्थामें हैं। किसीकी नासिका भंग कर दी गई है, किसीका हाथ टूटा हुआ है और किसीका लिङ्गस्थान नष्ट कर दिया गया है। इतनी सुन्दर मूर्तियोंकी इस खण्डितावस्थाको देखकर जहां दुख होता है वहां धार्मिक उन्मादके भी दर्शन होते हैं। पता नहीं, ये विशाल मन्दिर व उनकी मूर्तियां कब, किनके द्वारा खण्डित की गई हैं और कबसे अरक्षित दशामें पड़ी हुई हैं।

इनका यहां कुछ परिचय दिया जाता है:—

मन्दिर नं० १ (पहाड़ पर)

इसमें शान्ति, कुन्थु और अर इन तीन तीर्थंकरोंकी खड्गासन मूर्तियां हैं। शान्तिनाथकी मूर्ति १० फुट, कुन्थुनाथकी ८ फुट और अरनाथकी मूर्ति ७ फुट है। सिर्फ नासिका व लिङ्ग भङ्ग है और सब सर्वाङ्ग सुन्दर है। एक शिलालेख है, जो साधन न होने से पढा नहीं गया। सिर्फ संवत् पढ़ा गया जो १११० है।

मन्दिर नं० २ (पहाड़ पर)

यह मन्दिर उक्त मन्दिर नं० १ के पास ही है। इसमें भी उक्त तीनों तीर्थंकरोंकी खड्गासन मूर्तियां विराजमान हैं जो क्रमशः ८, ६, ६ फुट हैं। यहां भी शिलालेख है। सिर्फ संवत् पढ़ा गया जो १२०४ है। मूर्तियोंमें सिर्फ शान्तिनाथकी मूर्तिका हाथ टूटा हुआ है। शेष दोनों ठीक हैं। मूर्तियां बहुत मनोज्ञ हैं, इन दोनों मन्दिरोंके चारों ओर परकोटा बना हुआ है जो तोड़ दिया गया है। बहुत सुंदर बना मालूम होता है।

मन्दिर नं० ३ (पहाड़ पर)

यह मंदिर उक्त दोनों मंदिरों से कुछ दूर सामने बना हुआ है। बीचमें जंगलके वृक्षोंसे व्यवधान होगया है। इसमें भी उक्त तीनों तीर्थंकरोंकी मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं और खड्गासन ही हैं। शांतिनाथकी मूर्ति ६ फुट, कुन्थुनाथकी ७ फुट और अरनाथकी ७ फुट ऊँची है। इनमें सबके हाथ वगैरह ठीक है सिर्फ नासिका खंडित है। यहां भी शिलालेख है जो नहीं पढ़ा जासका। संवत् १६८८ की ये प्रतिष्ठित हैं। इस मन्दिरके चारों ओर चार दहलानें हैं और चारोंमें कोठों पर मूर्तियां विराजमान हैं। हां, एकमें लुप्त है। मालूम होता है कि किसीने उसे तोड फोड़कर अन्यत्र फेंक दी है।

मन्दिर नं० ४ (पहाड़के नीचे पंचमढ़ी)

इसमें पांच मढ़ियां बनी हुई हैं। और चारों ओर चार

तथा बीचमें एक मढ़िया (मन्दिर) बनी है बीचकी मढ़ियामें पांच मूर्तियां खड्गासन हैं। वे निम्न क्रमशः १ चन्द्रप्रभ, २ नेमिनाथ, ३ धर्मनाथ, ४ श्रेयांसनाथ और ५ कुंथुनाथ की हैं।

इसमें शिलालेख है जो पढ़ा नहीं गया। सिर्फ संवत् पढ़ा गया जो आषाढ़ सुदी ५ गुरौ सं० १६२२ है। इसी मन्दिरकी सीढ़ियों पर एक महत्वपूर्ण शिलालेखका विशाल पत्थर और पड़ा है जो बिल्कुल अरक्षित है। अन्य चार मढ़ियोंमेंसे सिर्फ सामनेकी एक मढ़ियामें कुछ खड्गासन मूर्तियां विराजमान हैं जिनका विशेष परिचय मालूम नहीं हो सका। ये सब एक पत्थर पर उत्कीर्ण हैं।

कहना न होगा कि ये विशाल मन्दिर और मूर्तियां हमारे प्राचीन सांस्कृतिक गौरव पूर्ण वैभवको प्रकट कर रहो हैं। पर अत्यन्त दुःख है कि इनकी ओर समाजका बिलकुल ध्यान नहीं है। हां, सोंरईकी जैन समाज तथा मदनपुर के धर्मानुरागी जमींदार लोदी ठाकुर अजैन बन्धु श्री गजराजसिंह बी० ए० तथा उनके छोटे भाई श्री रघुनाथसिंहका कुछ अवश्य प्रयत्न है कि यह स्थान रक्षित हो जाये और सरकारसे रक्षित घोषित करवा दिया जाय। लेकिन यह महान कार्य समग्र जैन समाजके सहयोग पर ही वे कुछ कर सकते हैं। समाजसे हमारा अनुरोध है कि वे अपने प्राचीन सांस्कृतिक वैभवकी सम्हाल करें और अपनी लक्ष्मीका उसके संरक्षणमें सुन्दर उपयोग करें। तीर्थक्षेत्र कमेटीको भी इस ओर पूरा ध्यान देना चाहिये। ये ऐसे स्थान हैं जो पुरातत्वकी दृष्टिसे बड़े महत्वके हैं और हमारे इतिहासकी एक कड़ी हैं। अतएव हमें इनकी अवश्य रक्षा करनी चाहिए और शिलालेखोंको सुरक्षित करके उनमें क्या लिखा है, प्रकाशमें लाना चाहिये।

'अनेकान्त' की पुरानी फाइलें

अनेकान्त की कुछ पुरानी फाइलें वर्ष ४-५, और वर्ष से १३ वें वर्षतक की अवशिष्ट हैं, जिनमें समाजके लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन और साहित्यके सम्बन्धमें खोजपूर्ण लेख लिखे गये हैं और अनेक नई खोजों द्वारा ऐतिहासिक गुत्थियोंको सुलझानेका प्रयत्न किया गया है। लेखोंकी भाषा संयत सम्बद्ध और सरल है। लेख पठनीय एवं संग्रहणीय हैं। फाइलें थोड़ी ही शेष रह गई हैं। अतः मंगानेमें शीघ्रता करें। प्रचारकी दृष्टिसे अनेकान्त हाल की ११वें १२वें १३वें वर्षकी फाइलें दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें अर्ध मूल्यमें दी जायंगी और शेष वर्षोंकी फाइलें लागत मूल्यमें दी जायेगी। पोस्टेज खर्च अलग होगा।

मैनेजर-'अनेकान्त',

समाज से निवेदन

अनेकान्त जैन समाज का एक साहित्यिक और ऐतिहासिक सचित्र मासिक पत्र है। उसमें अनेक खोजपूर्ण पठनीय लेख निकलते रहते हैं। पाठकोंको चाहिये कि वे ऐसे उपयोगी मासिक पत्रके ग्राहक बनाकर तथा संरक्षक या सहायक बनकर उसको समर्थ बनाएं। हमें दो सौ इक्यावन तथा एक सौ एक रुपया देकर संरक्षक व सहायक श्रेणी में नाम लिखानेवाले केवल दो सौ सज्जनों की आवश्यकता है। आशा है समाज के महानुभाव एक सौ एक रुपया प्रदान कर सहायक श्रेणीमें अपना नाम अवश्य लिखाकर साहित्य-सेवामें हमारा हाथ बटाएंगे।

मैनेजर 'अनेकान्त'

जैनग्रन्थ-प्रशस्तिसंग्रह

(आद्यन्तादिभागसचयात्मक)

१—पउमचरिय [पद्मचरित्र] महाकवि स्वयंभु

आदिभागः—

णमह णव-कमल-कोमल मणहर-वर-बहल कंति मोहिल्लं ।
उसहस्स पायमकमलं स-सुरासुरवंदियं सिरसा ॥१॥
दीहर-समास णालं सद्दलं अत्थकेसरुग्घवियं ।
बुह महुयर-पीय-रसं सयंभु-कव्वुप्पलं जयउ ॥२॥

... ...

घत्ता—जे काय-वाय-मणे णिच्छिरिय, जे काम-कोह-दुण्णय तिरिय
ते एक्क-मणेण सयंभुएण, वंदिय गुरु परमायरिय ॥

... ...

वड्ढमाण-मुह-कुहर-विणिग्गय,
रामकहा-णइ एह कमागय ।
अक्खर-वास जलोह-मणोहर,
सु-अलंकार-छन्द मच्छोहर ॥
दीह-समास-पवाहावंकिय,
सक्कय-पायय-पुलिणालंकिय ।
देसीभासा-उभय-तडुज्जल,
क वि दुक्कर-घण सद्द-सिलायल ॥
अत्थ बहल कल्लोलाणिट्ठिय,
आसासय-सम-तूह परिट्ठिय ।
एह राम कह-सरि सोहंती,
गणहर-देवहिं दिट्ठ बहंती ॥
पच्छइं इंदभूइ आयरिएं,
पुणु धम्मेण गुणालंकरिएं ।
पुणु एवहिं संसाराराएं,
कित्तिहरेण अणुत्तरवाएं ।
पुणु रविसेणायरिय-पसाएं,
बुद्धिए अवगाहिय कइराएं ।
पउमिणि-जणणि गब्भ सभूएं,
मारुयएव-रूव-अणुराएं ॥
अइतणुएण पईहरगत्तें,
छिव्वर-णासें पविरल दंतें ।

घत्ता—णिम्मल-पुण्ण पवित्त-कह-कित्तणु आढप्पइ ।
जेण समाणिज्जंतएण थिरकित्ति विढप्पइ ॥२॥

बुहयण सयंभु पइं विण्णवइ,
मइं सरिसउ अण्णु णत्थि कुकइ ।
व यरणु कयावि ण जाणियउ,
णउ वित्तिसुत्तु वक्खाणियउ ॥
णउ पच्चाहारहो तत्ति किय,
णउ संधिहे उप्परि बुद्धि थिय ।
णउ णिसुणिउ सत्त विहत्तिआउ,
छव्विहउ समास-पउत्तियाउ ॥
छक्कारय दस लयार ण सुय,
वीसोवसग्ग पच्चय बहुय ।
ण बलाबल-धाउ-णिवायगणु,
णउ लिंगु उणाइ वक्कु वयणु ॥
णउ णिसुणिउ पंच महाय कव्वु,
णउ भरहु ण लक्खणु छन्दु सव्वु ।
णउ बुज्झिउ पिंगल पत्थारु,
णउ भम्मह दंडियलंकारु ।
ववसाउ तो वि णउ परिहरमि,
वरि रयडावुत्तु कव्वु करमि ॥

... ...

इय एत्थ पउमचरिए धणंजासिय-सयंभुएवकए ।
जिण-जम्मुप्पत्ति इमं पढमं चिय साहियं पव्वं ॥

अन्तिमभाग—

तिहुयण-सयंभु-णवरं एक्को कइराय-चक्किणुप्पण्णो ।
पउमचरियस्स चूडामणि व्व सेसं कयं जेण ॥१॥
कइरायस्स विजय-सेसियस्स वित्थारिओ जसो भुवणे ।
तिहुयण-सयंभुणा पउमचरिय सेसेण णिस्सेसो ॥२॥
तिहुयण-सयभु-धवलस्स को गुणो वण्णिउं जए तरइ ।
बालेण वि जेण सयंभु-कव्वभारो समुव्वूढो ॥३॥
वायरण-दढक्खंधो आगम-अंगोपमाण-वियडपओ ।
तिहुयण-सयंभु-धवलो जिण-तित्थे वहउ कव्वभरं ॥४॥
चउमुह-सयंभुएवाण वण्णियत्थं अचक्खमाणेण ।
तिहुयण-सयभु-रइयं पंचमि-चरियं महच्छरियं ॥ ५
सव्वे वि सुया पंजर सुयव्व पढिअक्खराइँ सिक्खंति ।
कइरायस्स सुओ सुयव्व सुइगब्भ संभूओ ॥६॥

तिहुयण-सयंभु जइ ण हुंतु णंदणो सिरि सयंभुदेवस्स ।
कव्व कुलं कवित्तं तो पच्छा को समुद्धरइ ॥७॥
जइ ण हुउ छंदचूडामणिस्स तिहुयणसयंभु लहु तणउ ।
तो पद्धडिया कव्वं सिरिपंचमि को समारेउ ॥८॥
सव्वो वि जणो गेण्हइ णियताय-विढत्त दव्व-संताणं ।
तिहुयण-सयंभुणा पुण गहियं ण सुकइत्त-संताणं ॥६॥
तिहुयण-सयंभुमेकं मोत्तूण सयंभुकव्व-मयरहरो ।
को तरइ गतुमंतं मज्झे णिस्सेस-सीसाणं ॥१०॥
इय चारु पोमचरियं सयंभुएवेण रइय सम्मत्तं ।
तिहुयण-सयंभुणा तं समाणियं परिसमत्तमिणं ॥११॥
मारुय-सुय-सिरिकइराय तणय-कय-पोमचरिय अवसेसं ।
संपुण्णं संपुण्णं वंदइओ लहउ संपुण्णं ॥१२॥
गोइंद-मयण सुयणंत विरइयं (?) वंदइय-पढमतणयस्स ।
वच्छलदाए तिहुयण सयंभुणा रइयं महप्पयं ॥
वंदइय-णाग-सिरिपाल-पहुइ-भव्वयण-समूहस्स ।
आरोगत्त समिद्धी संति सुहं होउ सव्वस्स ॥
सत्त महा संसग्गी तिरयणभूसा सु रामकह-कण्णा ।
तिहुयण-सयंभु-जणिया परिणउ वंदइय मणतणउ ॥

इय रामायण पुराण समत्तं

सिरि विज्जाहर-कंडे संधीओ हुंति वीस परिमाणं ।
उज्झाकंडंमि तहा बावीस मुणेह गणणाए ॥
चउदह सुंदरकंडे एक्काहिय वीसजुज्झकंडेण ।
उत्तरकंडे तेरह सन्धीओ णवइ सव्वाउ ॥छ॥

लिपिकार-प्रशस्ति

संवत् १५१४ वर्षे वैशाख सुदि १५ सोमवार ग्रन्थ-संख्या १२००० ।

२—रिट्ठणेमिचरिउ [हरिवंश पुराण]—महाकविस्वयंभू,

आदिभागः—

सिरि परमागम-णालु सयल-कला-कोमल-दलु ।
करहु विहूसणु कण्णे जयव कुरुव-कुलुप्पलु ॥

× × ×

चिंतवइ सयम्भु काइं करमि,
हरिवंस-महण्णउ के तरम्मि ।
गुरु - वयण - तरंडउ लद्धु णवि,
जम्महो वि ण जोइउ कोवि कवि ॥
णउ णाइउ वाहत्तरि कलाउ,
एक्कु वि ण गंथु परिमोक्कलाउ ।
तहिं अवसरि सरसइ धीरवइ,
करि कव्वु दिण्णु मइ विमलमइं ।
इंदेण समप्पिउ वायरणु,
रसु भरहें वासे वित्थरणु ।
पिंगलेण छन्द-पय-पत्थारु,
भम्मह-दण्डिणिहिं अलंकारु ।
वाणेण समप्पिउ घण घणउ,
तं अक्खर-डंबरु अप्पणउ ।
सिरिहरिसे णिय णिउत्तणउ,
अवरेहि मि कइहिं कइत्तणउ ।
छड्डणिय-दुवइ-धुवएहिं जडिय,
चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय ।
जण णयणाणंद जणेरियए,
आसीसए सव्वहु केरियए ।
पारंभिय पुणु हरिवंस-कहा,
स-समय-पर-समय वियार-सहा ।

घत्ता—पुच्छइ मागहणाहु, भव जर-मरण-वियारा ।
थिउ जिण सासणु केम, कहि हरिवंस भडारा ॥२॥

× × ×

इय रिट्ठणेमिचरिए धवलइयासिय सयंभुएवकए
पढमो समुद्दविजयाहिसेयणामो इमो सग्गो ॥१॥

अन्तिमभागः—

इह भारह-पुराणु सुपसिद्धउ,
णेमिचरिय-हरिवंसाइद्धउ ।
वीर-जिणेण भवियहो अक्खिउ,
पच्छइ गोयमसामिण रक्खिउ ।
सोहम्में पुणु जंबूसामें,
विण्हुकुमारें दिग्गयगामें ।
णंदिमित्त अवरज्जिय णाहें,
गोवद्धणेण सुभद्दहणाहें ।
एम परंपराइं अणुलग्गउ,
आयरियह मुहाउ आवग्गउ ।
सुणु संखेव सुत्तु अवहारिउ,
विउसें सयंभें गहि वित्थारउ,
पद्धडिया छन्दें सुमणोहरु ।
भवियण-जण-मण-सवण-सुहंकरु,
जस परिसेसि कवहिं जं सुण्णउ ।
तं तिहुयण-सयंभु किउ पुण्णउ,
तासु पुत्तें पिउ-भर-णिव्वाहिउ ।

पिय-जसु णिय-जसु भुवणे पयाहिउ,
गय तिहुयण-सयम्भु सुरठाणहो।
जं उव्वरिउ किंपि सुणियाणहो।
तं जसकित्ति मुणिहि उद्धरियउ,
णिए वि सुत्तु हरिवंसच्छरियउ।
णिय गुरु-सिरि-गुणकित्ति-पमाए,
किउ परिपुण्णु मणहो अणुराए।
सरह संघेदं (सहससंघ) सेठि-आएसें,
कुमर-णयरि आविउ-सविसेसें।
गोवग्गिरिहे समीवे विसालए,
पणियारहे जिणवर-चेयालए।
सावयजणहो पुरउ वक्खाणउ,
दिढु मिच्छत्तु मोहु अवमाणिउ।
ज अमुणंते इह मइ साहिउ,
तं सुयदेवि खमउ अवराहउ।
णंदउ णरवइ पय-पालन्तहो,
णंदउ भवियण-कय उच्छाहहो।
णंदउ णरवइ पय-पालंतहो,
णंदउ दय-धम्मु वि अरहंतहो।
कालं वि य णिच्च परिसक्कउ,
कासुवि धणु कणु दिंतु ण थक्कउ।
भद्दवमासि विणासिय-भवकलि,
हुउ परिपुण्ण चउद्दसि णिम्मलि

घत्ता—इय चउविह सप्पहं, तिहुणिय-विग्घहं,
णिण्णासिय-भव-जर-मरणु।
जसकित्ति-पयासणु, अखलिय-सासणु
पयडउ संतिसयंभु जिणु ॥१७॥

इय रिट्ठणेमिचरिए धवलइयासिय-सयंभुएव—उव्वरिए।
तिहुवण-सयंभु-रइए समाणियं कण्हकित्ति हरिवंसं ॥१॥
गुरु-पव्व-वासभयं सुयणाणाणुक्कमं जहां जायं।
सयमिक्क-दुदह-अहियं सन्धीओ परिसमत्ताओ ॥२॥
इति हरिवंशपुराणं समाप्तं। सन्धि ११२

३-सुदंसणचरिउ(सुदर्शनचरित्र)नयनंदी रचनासं० ११००

आदिभागः—

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं ॥१॥
इह पंच णमोकारइं लहेवि गोवहु वउ-सुदंसणु।
गउमोक्खहो अक्खमि तहो चरिउ वचउ वग्गपयासणु ॥

× × × ×

इत्थ सुदंसण-चरिए पंचणमोक्कार फल-पयासरे माणिक्कणंदि-तइविज्ज-सीसु-णयणंदिणा रइए असेस सुर संथुयं णवेवि वड्ढमाणं जिणं तउवि पट्टणं णरय-पच्छिओ पव्वयं समोसरण संगय महापुराण-आउत्थणं इमाण कय पढमो संधि सम्मत्तओ। संधि १

अन्तिमभागः—

जिणंदस्स वीरस्स तित्थे महंते।
महा कुंदकुंदण्णए एत संते।
ससिक्खाहिहाणो तहा पोमणंदी।
पुणो विण्हुणंदी तवो णंदणंदी
जिणुद्दिट्ठ-धम्मं धुराणं विसुद्धो।
कयाणेय गंथो जयंते पसिद्धो।
भवांबोहि पोओ महाविस्सणंदी
खमाजुत सिद्धंतउ विसहणंदी ॥१॥
जिणिंदागमाहासणो एय-चित्तो।
तवायारणिट्ठाय लद्धीय जुत्तो।
णरिंदामरिंदेहि सो णंदवंदी।
हुओ तस्स सीसो गणी रामणंदी ॥२॥
असेसाण गंथम्मि पारम्मि पत्तो,
तवे यंग बीभव्व राईव मित्तो।
गुणावास-भूओ सु-तेलोक्कणंदी।
महापडिऊ तस्स माणिक्कणंदी।
(तइविज्ज-सीसो कई णयणंदी,)
भुयणप्पहाऊ इमो णाम कंदी ॥३॥

घत्ता—

पढम सीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंदी अणिंदउ
चरिउ सुदंसण णाह हो तेण अवाहहो विरइउ बुह अहिणंदिउ

आराम गाम-पुरवर-णिवेस।
सुपसिद्ध अवंतीणाम देस ॥४॥
सुरवइ-पुरिव्व विबुहयण इट्ठ।
तहिं अत्थि धारणयरी गरिट्ठ।
रण दुद्धरु अरिवर सेलवज्ज।
रिद्धिए देवा सुर-जणिय-चोज्ज ॥५॥
तिहुवण णारायण सिरिणिकेउ।
तहिं णरवर पुंगमु भोयदेउ।
मणि-गण पह-दूसिय-रवि-गभत्थि।
तहिं जिणहरु बहु-विहार अत्थि ॥६॥
णिव विक्कम कालहो ववगएसु।

एयारह संवच्छर-सएसु ।
तहिं केवलि चरिउ अमयच्छरेण ।
णायणंदी-विरयउ वित्थरेण ।
जो पढइ सुणइ भावइ लिहेइ ।
सो सासय-सुहु अइरे लहेइ ।

घत्ता-णयणंदियहो मुणिदहो कुवलयचंदहो णर-देवा सुर वंदहो ।
देउ दिणमइ णिम्मलु भवियह मंगलु वाया जिणवर इंदहो ॥

एत्थ सुदंसणचरिए पंचणमोक्कार-फल पयासयरे माणिक्कणंदि-तइविज्जसीमु-णायणंदिणा रइए गइंद, परि वित्थरो सुरवरिंद थोत्तं तहा मुणिंद सहमंडवंत-मुत्तिमोक्ख वासे ठामे गमणमो पयफलं पुणो सयल साहुणामावलो इमाण कथ वण्णणो संधि दो दहमो सम्मत्तो ॥छ॥ संधि १२

४—पासपुराण (पार्श्वनाथपुराणं) पद्मकीर्ति रचनाकाल सं० ९९९

आदि भागः—

चउवीस वि जिणवर सामिय,
सिव-सुह गामिय पणविवि अणुदिणु भावें ।
पुणकहं भुवण पयास हो,
पयडमि पास हो जणहो मज्झ सहावें ॥ ३ ॥

अन्तिम भागः—

अट्ठारह संधिउ इय पुराणु, तेसट्ठिपुराणे महापुराणु ।
सय तिण्णि दहोत्तर कडवयाइं, णाणाविह छंद सुहावयाइं ॥
तेवीससयइं तेवीसयाइं, अक्खरइं कहमि सत्तिसयाइं ।
इउ एत्थु सत्थु गंथह पमाणु फुडु पयडु असेसु वि कय पमाणु॥
सुपसिद्ध महापहु णियमधरु ॥
माथुरहं गच्छिउ पुहमिभरू ।
तहो चन्दसेणु णामेण रिसी,
वय-संजम णियमइ जाउ किसी ॥
तहो सीसु महामइ णियमधारि,
णयवन्तु महामइबम्भचारि ।
रिसि माहउसेणु महाणुभाउ,
जिणसेण सीसु सुणु तासु जाउ ॥

तहो पुव्व सणेहें पउमकित्ति, उप्पण्णु सीसु जिणु जासु चित्ति ।
ते जिणवर-सासण-भाविएण, कइ-विरइय जिणसेणहो मएण ॥
गारवमय-दोस-विवज्जएण, अक्खर-पय-जोडिय लज्जिएण ।
कुकइत्तु वि जणे सुकइत्तु होइ, जइं सुयणइं भावइ एत्थ लोइ ॥
' अम्हइं कुकइहिं किंपि वुत्तु, खमिएव्वउ सुयणहो तं णिरुत्तु ॥

घत्ता—रिसि गुरुदेव पसाएं कहिउ असेसुवि चरित्तु मइं ।
पउमकित्ति मुणि-पुंगवहो देउ जिणेसरु विमलमइं ॥
जइवि विरुद्धं एयं णियाणबंधं जिणिंद-उवसमए ।
तहं वि तहय चलणं कित्तणं जयउ पउमकित्तिस्स ॥
रइयं पासपुराणं भमियापुहमी जिणालया दिट्ठा ।
एहिय जीविय-मरणे हरिस-विसाओ ण पउमस्स ॥
सावय-कुलम्मि जम्मो जिणचरणाराहणा कइत्तं च ।
एयाइ तिण्णि जिणवर भवि भवि (महु) होउ पउमस्स ॥
णव-सय-णउवाणुइए कत्तियमासे अमावसी दिवसे ।
लिहियं पासपुराणं कइणा णामं पउमस्स ※ ॥
संधिः अष्टादश ॥१८॥ इति पार्श्वनाथचरित्रं समाप्तं

५—धम्मपरिक्खा (धर्मपरीक्षा) बुध हरिषेण रचनाकाल सम्बत् १०४४

आदि भागः—

सिद्धि-पुरंधिहि कंतु सुद्धें तणु मण-वयणें ।
भत्तिए जिणु पणवेवि चिंतउ बुह-हरिसेणें ॥
मणुय-जम्मि बुद्धी किं किज्जइ,
मणहरु जाइ कव्वु ण रइज्जइ ।
त करत अवियाणिय आरिस,
हासु लहहिं भड रणि गय-पोरिस ॥
चउमुह कव्व-विरयणि सयंभुवि,
पुप्फयंतु अण्णाणु णिसुंभिवि ।
तिण्णि वि जोग्ग जेण तं सीसइ,
चउमुह-मुहेथिय ताव सरासइ ॥
जो सयंभू सो देउ पहाणउ,
अह कयलोयालोय-वियाणउ ।
पुप्फयंतु णवि माणुसु वुच्चइ,
जो सरसइए कयावि ण मुच्चइ ॥
ते एवंविह हउं जडु माणउ,
तह छन्दालंकार विहूणउ ।

※ पार्श्वपुराणकी अन्तिम प्रशस्तिके ये चार पद्य कारंजा भण्डारकी सं० १४७३ की लिखितमें नहीं पाये जाते, अतः रचनादि सम्बत्को लिए हुए होनेके कारण इस प्रशस्तिको यहां स्थान दिया गया है ।

१—लेखकने भूलसे आमेर भण्डारकी प्रतिमें सन्धि-वाक्योंको उक्त चार गाथाओंके ऊपर दे दिया है जो किसी गलतीका परिणाम जान पड़ता है ।

कव्वु करंतु केम णवि लज्जमि,
तह विसेस पिय जणु किह रंजमि ॥
तो वि जिणिंद-धम्म-अणुराएँ,
बुहसिरि- सिद्धसेण-सुपसाएँ।
करमि सयं जि णलिणि-दल थिउ जलु,
अणुहरेइ णिरुवमु मुत्ताहलु ॥

घत्ता—जा जयरामें आसि विरइय गाह-पबन्धि ।
साहम्मि धम्मपरिक्ख सा पद्धड़िया-बन्धि ॥१॥

× × ×

इय धम्मपरिक्खाए चउवग्गाहिट्ठियाए चित्ताए बुहहरिसेण कए पढमो सन्धी परिसमत्तो ॥ संधि १ ॥

अन्तिम भागः—

इह मेवाड-देसि-जण-संकुलि,
सिरिउजहर-णिग्गय-धक्कड-कुलि ।
पाव-करिंद-कुम्भ-दारण हरि,
जाउ कलाहिं कुसलु णामें हरि ॥
तासु पुत्त पर-णारि-सहोयरु,
गुणगण-णिहि कुल-गयण-दिवायरु ।
गोवड्ढणु णामें उप्पण्णउ ।
जो सम्मत्त-रयण-संपुण्णउ ॥
तहो गोवड्ढणासु पिय गुणवइ,
जो जिणवर-पय णिच्च वि पणवइ ।
ताए जणिउ हरिसेणे णाम सुउ,
जो संजाउ विबुह-कइ-विस्सुउ ।
सिरि-चित्तउडु चइवि अचलउरहो,
गयउ-णिय-कज्जें जिणहर-पउरहो ।
तहिं छंदालंकार-पसाहिय,
धम्मपरिक्ख एह तें साहिय ॥
जे मज्झत्थ-मणुय आयण्णहिं,
ते मिच्छत्त भाउ अवगण्णहिं ।
ते सम्मत्त जेण मलु खिज्जइ,
केवलणाणु ताण उप्पज्जइ ॥

घत्ता-तहो पुणु केवलणाणहो णेय-पमाणहो जीव पएसहिं सुहडिउ,
बाहारहिउ अणंतउ अइसयवंतउ मोक्ख-सुक्खु-फलुपयडियउ ॥

विक्कम-णिव-परिवत्तिय कालए,
गयए वरिस सहस चउतालए ।
इउ उप्पण्णु भवियजण सुहयरु,
डंभ-रहिय धम्मासय-सायरु ॥
ते णंदहिं जे लिहइ लिहावइ,
ते णंदहि जे भत्तिह भावहि ।
जे पुणु के विहु पढहि पढावहि,
ते णिय-पर-दुहु दूरे लुंटावहि ॥
एयहो अत्थु के वि जे पयडहिं,
ताण णिरंतर सोक्खहि सुहडहिं ।
जे णिसुणेवि परिक्खए भत्तिए,
ते जुज्जहि णिम्मल मइ सत्तिए ॥
सयल पाणिवग्गहो दुहु हिज्जइ,
सोम समिद्धिए महि सोहिज्जइ ।
परहिय करणि विहंडिय-अंहहो,
होउ जिणत्तणु चउविह संघहो ॥
पयडिय बहु पयाव अरिवारें,
णंदउभूवइ सहु परिवारें ।
धम्म पवत्तणेण दुह-हारें,
णंदउ पय बहुविह ववहारें ।

घत्ता—सखए दुसहसु साहिउ सदरिय। हिउ इउकह रयणु अगव्वहं॥
जो हरिसेण धराधर उयहि गयणधर ताम जणउसु-भव्वहं ॥

इय धम्म परिक्खाए चउवग्गाहिट्ठियाए बुह-हरिसेण कयाए एयरसमो संधि समत्तो ॥ सन्धि ११ ॥

६—जंबूसामिचरिउ [जंबूस्वामीचरित] कविवर वीर रचनाकाल संवत् १०७६

आदिभागः—

विजयंतु वीर-चरणग्गि-चंपए मंदिरंमि थरहरए ।
कलसु छलंतं तोए सुतरंगि-लग्गंत-बिंदु-छंकारा ॥१॥
सो जयउ जस्स जम्माहिसेय-पय-पूर-पंडुरिज्जंतो ।
जणियहि मसि हरिसंको कणयगिरि राइओ तइया ॥२
जयउ जिणो जस्सारुण-णह-मणि-पडिलग्ग-चक्खु सह सक्खो ।
अणिइच्छिय सव्वावदुयवत्थ-परिकलिय-लोयणो जाओ ॥३॥
समिरसु अवेय भामिय जोइसगण-जणिय-रयणि-दिणि-संकं ।
इय जयउ जस्स पुरओ पणच्चियं चारु सुरवहुणा ॥४॥
सो जयउ महावीरो झाणाणल-हुणिय-रइ सुहो जस्स ।
णाणंमि फुरइ भुअणं एक्कं णक्खत्तमिव गयणे ॥५॥
जयउ जिणो पासट्ठिय णमि-विणमि-किवाण-फुरियपडिबिंबो ।
गहियाणं रूव-जुयलोव्व ति-जय-मणु सामिओ रिसहो ॥६॥
जयउ सिरिपासणाहो रेहइ जस्संग णीलमाभिण्णो ।
फलिणो तडि छिडिय णव-घणोव्व मणि-गब्भिणो फणकडप्पो

इह अत्थि परम-जिण-पय-सरणु,
गुडखेड विणिग्गउ सुहचरणु ॥१॥
सिरिलाडवग्गु तहि विमल जसु,
कइदेवयत्तु निबुड्ढ कसु ।
बहु भावहिं जे वरंगचरिउ,
पद्धडिया बंधें उद्धरिउ ।
कवि गुण-रस-रंजिय-विउस सहं,
वित्थारिय सुद्धय वीरकहं ।
भव्वरिय-बंधि विरइउ सरसु,
गाज्जइ मतिउ तारु जसु ।
नच्चिज्जइ जिण-पय सेवयहिं,
किउ रासउ अंबादेवि यहिं ।
सम्मत्त-महा-भर-धुर-धरहो,
तहो सरसइ-देवि लद्ध-वरहो ।
नामेण वीरु हुउ विणयजुओ,
संतुव गब्भब्भ पढमसुओ ।

घत्ता—अक्खलिय-सर-सक्कय, कइकलिवि आएसिउ सुउ पियरें ।
पायय पबन्धु वल्लहु जणहो, विरइज्जउ किं इयरें ॥४॥

अह मालवम्मि धण-कण दरसी,
नयरी नामेण सिंधु-वरिसी ।
तहिं धक्कड़-वग्गें वंस-तिलउ,
मह सूयण णंदणु गुणणिलउ ॥
णामेण संट्ठि तक्खडु वसई,
जस पडहु जासु निहुयणि रसई ।
मह कइ देवदत्तही परम सुही,
तें भणिउ वीरु-वय सुवण-दिही ॥
चिरु कइहि बहुलगंधुद्धरिउ,
संकिल्लहिं जंबुसामिचरिउ ।
पढिहाइ न वित्थरु अज्जु जणे,
पडि भणइ वीरु सकियउ मणे ॥
भो भव्वबंधु किय तुच्छ कहा,
रंजेसइ केमवि सिट्ठ सहा ।
एत्थंतरे पि सुणसीह सरहो,
तक्खडु कणिट्ठु बोल्लइ भरहो ॥
वित्थर संखेवहु दिव्व झुणी,
गुरु पारउ अंतरु वीरु सुणी ।

घत्ता—सरि-सर-निवाणु-ठिउ बहु विजलु,सर सुन तिह मणिणज्जइ
धोवउं करयत्थु विमलु जणेण,अहिलासें जिह पिज्जइ ॥५॥

अवियः—
संट्ठि सिरि तक्खडेण भणियं च तओ समत्थमाणेण ।
वड्ढइ वीरस्स मणे कइत्त-करणुज्जमो जेण ॥१॥
मा होंतु ते कइंदा गरुय पबंधे वि जाण निव्वूढा ।
रसभाव मुग्गिरंती वित्थरई न भारई भुवणे ॥२॥
संतिगई वाईविहु वण्णुक्करि सेसु फुरिय-विण्णाणो
रस-सिद्धि संठियत्थो विरलो वाई कई एक्को ॥३॥
विजयंतु जए कइणो जाण वाणी अइट्ठ पुव्वत्थे ।
उज्जोइय धरणियलो साहइ वट्टिव्व णिव्वडइ ॥४॥
जाणं समग्ग सद्दो हज्मे हुउ रमइ मइ फडक्कम्मि ।
ताणं पिहु उवरिल्ला करस व बुद्धी परिप्फुरई ॥५॥

इय जंबुसामिचरिए सिंगार वीर-महाकव्वे महाकइ देवयत्त-सुअ-वीर-विरइए सेणिय-समवसरणागमो णाम पढमो संधि ॥१॥

अन्तिम प्रशस्तिः—
वरिसाण सय-चउक्के सत्तरि-जुत्ते जिणिंद-वीरस्स ।
णिव्वाणं उववण्णे विक्कमकालस्स उप्पत्ती ॥१॥
विक्कम णिव कालाओ छाहत्तरि दस-सएसु वरिसाणं ।
माहम्मि सुद्ध-पक्खे दसमी-दिवसम्मि संतम्मि ॥२॥
सुणियं आयरिय - परंपराए वीरेण वीर णिद्दिट्ठं ।
बहुलत्थ-पसत्थ-पयं पवरमिणं चरियमुद्धरिय ॥३॥
इच्छे (इट्टे?)व दिये महवण-ट्टणे वड्ढमाण जिण-पडिमा
तेणा वि महा कइणा वीरेण पयट्ठि-या पवरा ॥४॥
बहुराय-कज्ज-धम्मत्थ-काम गोट्ठी-विहत्त समयस्स ।
वीरस्स चरिय - करणे इक्को संवच्छरो लग्गो ॥५॥
जस्स कय-देवयत्तो जणणो सच्चरिय-लद्धमाहप्पो ।
सुह-सील सुद्धवंसो जणणी सिरिसंतुआ भणिया ॥६॥
जस्स य पसण्ण वयणा लहुणो सुमइ स सहोयरा तिण्णि ।
सीहल्ल लक्खणंका जसइ-णामेत्ति विक्खाया ॥७॥
जाया जस्स मणिट्ठा जिणवइ पोमावइ पुणो बीया ।
लीलावइत्ति तइया पच्छिम भज्जा जयादेवी ॥८॥
पढम कलत्तं गरुहो संताण कइत्त विडवि पारोहो ।
विणय-गुण-मणि-णिहाणो तणउ तह णेमिचंदो त्ति ।
सो जयउ कइ वीरो वीरजिणंदस्स कारियं जेण ।
पाहाणमयं भवणं पियरुद्देसेण मेहवणे ॥९॥
अह जयउ जस्स णिव्वासो जसणाउ पंडिउत्ति विक्खाओ ।
वीर जिणालय सरिसं चरियमिणं कारियं जेण ॥१०॥
इति जंबूसामिचरियं समत्तं ।

७—कहा कोसु (कथाकोष) श्रीचन्द्

आदि भाग—

ओंनम पणवेवि चित्त थवेवि णट्ठट्ठाटम दोसु ।
लोयत्तय वंदु देउ जिणेंदु आहासमि कहकोसु ॥

पणवेप्पिणु जिणु सुविसुद्धमई,
चिंतइ मणि मुणि सिरिचंदुकई ।
संसारु असारु सव्वु अथिरु,
पिय-पुत्त-मित्तु माया तिमिरु ॥
संपय पुणु संपहे अणुहरइ,
खणि दीसइ खणि पुणु ऊसरइ ।
सुविणय समु पेम्मु विलासविही,
देहु वि खणिभंगुर दुक्खतिही ॥
जोव्वणु गिरि वाहिणि वेयगउ,
लायण्णु वण्णु कर सलिल सउ ।
जीविउ जल-बुव्वय फेण णिहु,
हरिजालु वरज्जु अवज्ज गिहु ॥
अवरुवि जं किंपिवि अत्थि जणे,
तं तं धाहिव्व पलाइ खणे ।
इंदिय सुहु सोक्खाभासु फुडु,
जइ णं तो सेवइ किंण्ण पडु ॥

घत्ता— इय जाणि वि णिच्चु सव्वु अणिच्चु,
मणु विसएसु ण ण्णिचिउ ।
जें दाणु ण दिण्णु णउ तउ चिण्णु,
तेणप्पा णउ वंचिउ ॥
बहु दुक्खेणज्जिउ वलि किज्जणु,
मुय मणुय हो पउवि ण जाइ धणु ।
बंधव-यणु लज्जइ णो सरइ,
सुहु सत्थभूउतामणुसरइ ॥
सह भूउ साया जो पोसियउ,
सो देहुवि दुज्जण विलसियउ ।
णउ जाइ समउ ना केम वरू,
वसु-पुत्त-कलत्त बंधु-णियरु ॥
अणुगमइ सुहासुहु केवलउ,
परभव पाहुणयहो संबलउ ।
वावारु करइ सव्वाण कए,
अणुहवइ दुक्खु पर एक्कु जए ॥
पच्छा साइज्जइ भाइयहिं,
धणु पुत्त-कलित्तहिं दाइयहिं ।
णाणियंति णियंत अयाणमणा,
पर पुरिसु पलोयइ सवणियणा ॥

घत्ता— इय बुत्थि विपत्ते पुण्ण पवित्ते,
दिज्जइ सइं विलसिज्जइ ।
गुत्तिउ फलु अत्थे जणिमाणत्थे,
जं वुत्थिमणि वइज्जइ ॥

× × × ×

अन्तिम प्रशस्तिः

सर्वज्ञ-शासने रम्ये घोराघौघ-विनाशने ।
धर्मानेक-गुणाधारे सूरस्थे सुरसंस्तुते ॥ १ ॥
अणहिल्लपुरे रम्ये सज्जनः सज्जनोऽभवत् ।
प्राग्वाटवंश-निष्पन्नो मुक्तारत्न-शतामणीः ॥ २ ॥
मूलराज-नृपेन्द्रस्य धर्मस्थानस्य गोष्ठिकः ।
धर्मभार-धराधारः कूर्म्मराज-समः पुरा ॥ ३ ॥
कृष्णनामा सुतस्तस्य गुणरत्न महोदधेः ।
बभूव धर्म-कर्मण्ये जनानां मौलिमंडनं ॥ ४ ॥
निद्रान्वय-महामुक्ता-माजायां नायकोपमः ।
चतुर्विधस्य संघस्य दान-पीयूष वारिदः ॥ ५ ॥
अम्बिकाजयनी तस्य कृष्णस्येव सुभद्रिका ।
राणूनाम प्रिया साध्वी हिमांशोरिव चन्द्रिका ॥ ६ ॥
तस्यां पुत्रत्रयं जातं विश्व-सर्वस्व-भूषणं ।
बीजासाहणपालाख्यौ सोढदेवही स्तृतीयकः ॥ ७ ॥
चतस्रश्च सुतास्तस्या धर्म-कर्मैककोविदाः ।
श्री शृंगारदेवी च सूः सोखूरिति क्रमात् ? ॥८॥
कलिकाल-महाव्याल-विष व्यालुप्त चेतसः ।
जैनधर्मस्य संपन्ना जीवास्तु स्तत्र सुंदका ॥ ९ ॥
महाश्रावक-कृष्णस्य संतानेन शुभात्मना ।
व्याख्यायितः कथाकोशः स्वकर्म-क्षयहेतवे ॥१०॥
कुन्देंदु-निर्मले कुंदकुंदाचार्यान्वयेऽभवत् ।
धर्मो मूर्त्तः स्वयं वा श्रीकीर्तिनामा मुनीश्वरः ॥११॥
तस्मात्तमोपहः श्रीमान्स प्रभावोऽति निर्मलः ।
श्रुतकीर्तिः समुत्पन्नो रत्नं रत्नाकरादिव ॥१२॥
विद्वान्समस्तशास्त्रार्थ-विचारचतुराननः ।
शरच्चन्द्रकराकार-कीर्तिव्याप्त-जगत्त्रयः ॥१३॥
व्याख्यातृत्व-कवित्वादि-गुणहंसैकमानसः ।
सर्वज्ञ-शासनाकाश-शरत्पार्वण-चन्द्रमाः ॥१४॥
गांगेय भोजदेवादि-समस्त-नृप-पुंगवैः ।
पूजितोत्कृष्ट पादार विंदो विध्वस्त कल्मषः ॥१५

भव्य-पद्माकरानन्दी सहस्रांशुरिवापरः ।
ततो गुणाकरः कीर्ति सहस्रोव पदोऽजनि ॥१६॥
कर्पूर-पूरोज्ज्वल-चारुकीर्तिः सर्वोपकारोद्यत-चित्तवृत्तः ।
शिष्यः समाराधित वीरचन्द्रस्तस्य प्रसिद्धो भुवि वीरचन्द्रः १७
सूरेश्चारित्र-सूर्यस्य तस्य तत्त्वार्थवेदिनः ।
विवेक वसति विद्वान्सोऽस्य श्रीचन्द्रोऽभवत् ॥१८॥
भव्य-प्रार्थनया ज्ञात्वा पूर्वाचार्यकृतां कृतिः ।
तेनायं रचितः सम्यक् कथाकोशोऽतिसुन्दरः ॥१९
यदत्र स्खलितं किंञ्चित् प्रमाद वशतो मम ।
तत्क्षमंतु क्षमाशीलाः सुधियः सोधयंतु च ॥२०॥
यावन्मही मरुन्मर्त्या मरुतो मदरोरगाः ।
परमेष्ठी पावनो धर्मः परमार्थ-परमागमः २१॥
यावत्सुराः सुराधीशाः-स्वर्गचन्द्रार्क-तारकाः ।
तावत्काव्यमिदं स्थेयाच्छ्रीचन्द्रोज्वल-कीर्तिमत् ॥२२॥

८—रयणकरंडसावयायार (रत्नकरण्डश्रावकाचार)
पण्डित श्रीचन्द्र, रचना काल सं० ११२३

आदिभागः—

सो जयउ जम्मि जिणो पढमो पढमं पयासिउं जेण ।
कुगईसु पडंताणं दिण्णंकर-लंबणा धम्मो ॥१॥
सो जयउ संतिणाहो विग्घं सहस्साइं णाममित्तेण ।
जस्सावहत्थिऊणं पाविज्जइ ईहिया सिद्धी ॥२॥
जयउ सिरि वीरइंदो अकलंको अक्खओ णिरावरणो ।
णिम्मल-केवलणाणो उज्जोइय सयल- भुवणयलो ॥३॥
सिद्धिवि विजय बुद्धि तुट्ठि पुट्ठि पीयंकर ।
सिद्ध सरूव जयंतु दिंतु चउवीस वि तित्थंकर ॥४॥
घत्ता—अवरवि जे जिणइंदा सिद्ध-सूरि पाठय वर ।
संजय साहु जयतु दिंतु बुद्धि महु सुंदर ॥१॥

पणवेप्पिणु जिण वयणुग्गयाहँ विमलइं पयाइं सुयदेवयाहँ ।
दंसण-कह-रयणकरंडुणामु आहासमि कव्वु मणोहिरामु ।
एक्केक्क पहाणु महा मइल्ल इत्थत्थि अणेय कई छइल्ल ।
हरिणंदि मुणिंदु समंतभद्द, अकलंक पयो परमय-विमद्दु ।
मुणिव्वइ कुलभूसणु पायपुज्ज,तहा विज्जाणंदु अणंतविज्ज
वध ? रसेणु महामइ वीरसेणु जिणसेणु कुबोहि-विहंजसेणु
गुणभद्दवणंकुह उच्छमल्लु सिरि सोमराउ परमय-स-सल्लु
चउमुह चउमुहु व पसिद्ध भाई कइराइ संयंभु सयंभुणाइं ।
तह पुप्फयंतु णिम्मुक्कदोसु वण्णिज्जइ किं सुयएवि कोसु ।
सिरिहरिस-कालियासाइं सार, अवरुवि को गणइ कइराकार ।
हीणहिं मइ संपइ आरिसेहि किं कीरइ तहिं अम्हारिसेहिं ।

घत्ता—सो सिरिचंद सुरिंद फणि णरिंद वंदिय पयउ ।
अक्खय सुक्ख णिवासु होइ देव परमप्पउ ॥३१॥

इय पंडियसिरिचंदकए पयडियकोऊहलसए सोहणभाव-पव्वत्तए परितोसिय-बुह-चित्तए दंसणकहरयणकरंडए मिच्छत्त-पउहिं तिरंडिए कोहाइ-कसाय-विहंडए सत्थम्मि महागुण-मंडए देव-गुरु-धम्मायण-गुणदाम-पयासणो णाम पढमपरिच्छेओ समत्तो ॥ संधि १ ॥

अन्तिमभागः—

परमार-वंस-मह गुण उरणाइं ।
कुंदकुंदाइरियहो अण्णाइं ।
देसीगण पहाणु गुण गणहरु,
अवइण्णउ णावइ सइ गणहरु ॥
तव पहा वि भाविय वाम्पउ,
धम्मज्झाण विणिहय पावासउ ।
भव्वमणो णलिणाण दिणेसरु,
सिरिकित्ति तिसु चित्त मुणासरु ॥
तासु सीस पंडिय-चूडामणि,
सिरि-गंगेय-पमुह पउरावणि ।
पोलत मिय सुइया सरोरु कुमुणि,
उंहुलिय मय गयण सहासकुसल ॥
वरस-पमरय-साहिय-महियलु,
णियमहत्त-परिणिज्जिय-णहयलु ।
चउविह-संघ-महाधुर-धारण,
दुस्सह-काम-सर-घोर-णिवारण ॥
धम्मु व रिसिरूवें जस रूवउ,
सिरि-सुयकित्ति-णाम संभूयउ ।
तासु वि परवाइय-मय-भंजणु,
णाणा बुहयणमणि अणुरंजणु ॥
चारु-गुणोहर-मणि-रयणायरु,
चाउरंग-गण-वच्छल्लय यरु ।
इंदिय चंचल मयहं मयाहिउ,
चउकसायसार गमिगाहिउ ॥
सिरिचंदुज्जल-जस संजायउ,
णामें सहसकित्ति विक्खायउ ।
घत्ता—तहो देव इंदुगुरु सीसु हुउ,
बीयउ वासव मुणि वोरिंदु ॥
उदयकित्तीवि तहा तुरिय,
सुहइंदु वि पंचमउ भणि उ ।

सम्पादकीय

गत वर्षकी १२वीं किरणमें पत्रके प्रधान सम्पादक श्रीमान् आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने सम्पादकीय वक्तव्यमें 'अनेकान्तकी वर्ष समाप्ति और कुछ निवेदन' शीर्षकके अन्तर्गत यह प्रकट किया था कि—'इस नये भयंकर रोगके धक्केसे मेरी शक्तियाँ और भी जीर्ण-शीर्ण हो गई हैं। इसीसे शरीरमें शक्तिके पुनः संचार एवं स्वास्थ्य-लाभकी दृष्टिसे मैं कम-से-कम एक वर्षके लिये सम्पादकत्वसे अवकाश ग्रहण कर रहा हूँ। अतः इस किरणके साथ अपने पाठकोंसे बिदाई ले रहा हूँ। यदि जीवन शेष रहा, तो फिर किसी-न-किसी रूपसे उनकी सेवामें उपस्थित हो सकूंगा।' पुन: इसके अनन्तर 'अनेकान्तका हिसाब और घाटा' शीर्षकमें अनेकान्तके प्रकाशनमें होने वाले घाटेका जिक्र करके 'अगले वर्षकी समस्या' शीर्षकके भीतर यह प्रकट किया था कि इस घाटेकी स्थितिमें पत्रको आगे कैसे प्रकाशित किया जाय? इसके सम्बन्धमें उन्होंने अपने और अन्य लोगोंके कुछ सुझाव भी प्रस्तुत किये थे—जिनमेंसे पहला तो यह था कि 'पत्रको त्रैमासिक करके एकमात्र साहित्य और इतिहासके कामोंके लिये ही सीमितकर दिया जाय।' और दूसरा यह भी था कि 'पृष्ठसंख्या कमकरके पत्रको जैसे तैसे चालू रखा जाय।' इस प्रकारके वक्तव्यके साथ १३वें वर्षकी १२वीं किरणको प्रकाशित किया गया था। इत्यादि।

मुख्तार साहबने इस प्रकार उक्त वक्तव्य प्रकट करके केवल 'अनेकान्त'से ही विदाई नहीं ली, अपितु अपनी अस्वस्थता और अशक्तिताके कारण वीरसेवामन्दिरके अधिष्ठाता पदकी जिम्मेदारियोंसे भी अवकाश ग्रहण कर लिया।

पाठकोंको यह ज्ञातही होगा कि दिल्लीमें वीरसेवामन्दिर के निजी भवनके निर्माणका कार्य विगत वर्षसे हो रहा है। गतवर्ष इसी कार्यको सुन्दर बनानेके निमित्तसे श्रीमान् बा० छोटेलालजी अध्यक्ष वीरसेवामन्दिर कलकत्तासे दिल्ली आकर पूरे पांच माह ठहरे थे। अनेकान्तके आप दूसरे सम्पादक हैं। एक तो आप शरीरसे जन्मजातही कृष एवं दुर्बल हैं; फिर दिल्लीकी भयंकर गर्मीमें रात-दिन भवन-निर्माणके कार्यमें व्यस्त और आर्थिक समस्याको हल करनेके लिये व्यग्र रहनेके कारण आप रोग-ग्रस्त हो गए, और अन्तमें भवन-निर्माणके कार्यको अधूरा छोड़कर ही आपको कलकत्ते जाना पड़ा। वहां पहुंचकर भी प्रथम तो एक लम्बे समय तक अस्वस्थ ही रहे, और स्वस्थ होते ही अन्यकार्योंमें व्यस्त हो गए। पुनः ऐतिहासिक खोज-शोधके कार्यके लिये मद्रास चले गए। इत्यादि कारणोंसे वे भी अनेकान्तके लिये कोई लेखादि लिखकर नहीं भेज सके।

तीसरे सम्पादक श्रीमान् बाबू जयभगवानजी एडवोकेट पानीपत हैं। आप वीर सेवामन्दिरके मंत्री भी हैं। साहित्यिक और ऐतिहासिक शोध-खोजके कार्योंमें अत्यन्त रुचि होने पर भी वकालतका पेशा होनेके कारण उन्हें अदालतसे ही अवकाश कम मिलता है। फिर इधर कुछ वर्षोंसे दमेका दौरा भी चल रहा है। गार्हस्थिक चिन्तायें तो उन्हें प्रारम्भसे ही घेरे हुये रही हैं? इन सब कारणोंसे चाहते हुए भी वे न तो पत्रके सम्पादनमें ही इन पिछले दिनों कोई योग दे सके और न कोई लेखादि भी लिख सके। इस प्रकार अपने सम्पादक मण्डलके तीनों प्रधान सहयोगके बिना मैं एकदमही अपंग होगया। लेखकोंको बार-बार लिखने पर भी कहींसे कोई लेखादि तो पहलेहा दुर्लभ होरहे थे। फलस्वरूप एक वर्षके लिए पत्रका प्रकाशन स्थगित करना ही समुचित समझा गया और इस प्रकार पूरे एक वर्ष तक 'अनेकान्त' बन्द रहा।

इस वर्ष जून मासमें वीर सेवामन्दिरकी कार्य-कारिणीकी बैठक हुई और उसमें वीर शासनजयन्तीसे अनेकान्तके पुनः प्रकाशनका निश्चय किया गया। समाचार पत्रोंमें इसकी सूचना भी कर दी गई और मैटर प्रेसमें दे दिया गया। परन्तु बार बार लिखापढ़ी करने पर भी पोस्ट मास्टर जनरल के आफिससे रजिस्ट्रेशन नम्बर नहीं प्राप्त हो सका और इस प्रकार पत्र तैयार होने परभी वीर शासनजयन्ती पर सूचनाके अनुसार पाठकोंकी सेवामें १४वें वर्षकी प्रथम किरण नहीं भेजी जा सकी।

पोस्ट मास्टर जनरलके यहाँ से रजिस्ट्रेशन नम्बर सितम्बरके दूसरे सप्ताहके मध्यमें प्राप्त हुआ। साथ ही पत्रके प्रकाशनकी तारीख १५ सितम्बरको स्वीकृत होनेकी सूचना मिली। उस वक्त पर्यूषण पर्वका समय होनेसे श्री मुख्तार साहब भी व्यावर गए हुए थे और मैं भी स्थानीय पर्यूषण पर्वके प्रोग्राममें व्यस्त था। फलस्वरूप अगस्त मास वाली पहली किरणको १५ सितम्बरको भी पाठकोंकी सेवामें नहीं भेजी जा सकी। अब श्रावण (अगस्त) और भाद्रपद (सितम्बर) मासकी दोनों किरणें एक साथ १५ अक्टूबरको रवाना की जा रही हैं। इस अव्यवस्थाके कारण ही अश्विन (अक्टूबर) और कार्तिक (नवम्बर) मासकी तीसरी-चौथी किरण संयुक्त रूपसे प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया है, जिससे प्रकाशनमें जो विलम्बजन्य गड़बड़ी उत्पन्न हो गई है, उसे दूर किया जा सके।

अनेकान्तकी भावी रूप-रेखा तो वीरसेवा-मन्दिरके उद्देशानुसार यथापूर्व ही रहेगी, किन्तु पत्रको ऊँचा उठाने और लोकप्रिय बनानेका समुचित प्रयत्न किया जा रहा है। उसके लिये पाठकों और लेखक महानुभावोंका उचित सहयोग प्राप्त करनेका पूरा प्रयत्न किया जायगा। चालू वर्षकी इस प्रथम किरणमें यह विशेष योजना प्रारम्भ की गई है कि अनेकान्तकी प्रत्येक किरणके अन्तमें एक फार्मका मैटर प्रशस्ति-संग्रहका रहे। वीरसेवा-मन्दिरके तत्वावधानमें अभी तक जितने ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ संगृहीत की गई हैं, उनमेंसे बहुत सी प्रशस्तियोंका एक संग्रह तो वीरसेवा-मन्दिर ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो चुका है। अवशिष्ट अपभ्रंश आदिके ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंके प्रकाशनार्थ उक्त व्यवस्था की गई है। इस योजनासे पाठकोंको कितनी ही नवीन बातोंकी जानकारी प्राप्त होगी और इस प्रकार उनके पास सहजमें ही एक 'प्रशस्ति-संग्रह' हो जायगा।

—परमानन्द जैन

अनेकान्तके ग्राहकोंसे निवेदन

अनेकान्तके ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे अनेकान्तको प्रतिवर्ष होने वाले घाटेसे मुक्त करनेके लिये अपना सहयोग प्रदान करनेकी कृपा करें।

सहयोगके प्रकार निम्न हैं :—

(१) वीर सेवामन्दिरके स्थायी सदस्य बनिये, या अनेकान्तके संरक्षक तथा सहायक स्वयं बनिये और दूसरों को बनाइये।
(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनिये और और दूसरोंको बनानेकी प्रेरणा कीजिये।
(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरों पर अनेकान्तको अच्छी सहायता भिजवाइये।
(४) अपनी ओरसे अनेकान्त भेंट स्वरूप कालेजों, लाइब्रेरियों, सभा, सोसाइटियों और जैन अजैन विद्वानोंको भिजावाइये।
(५) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें स्वयं दीजिये और दिलाइये।
(६) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजिये तथा चित्रादि सामग्रीको प्रकाशनार्थ भिजवाइये।
(७) जैन पुरातत्त्व या प्राचीन हस्तलिखित सचित्र ग्रन्थोंके चित्रोंके फोटो आदि भेजिये।

इन सब मार्गोंसे ग्राहक महानुभाव अनेकान्तकी सहायता कर संचालकोंको निराकुल करनेमें समर्थ हो सकते हैं। और उस समय संचालकगण पत्रको समुन्नत बनाते हुए पाठकोंकी विशेष सेवा कर सकेंगे।

प्रकाशक—

Regd. No D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर
२५१) सेठ तुलारामजी नथमलजी लाडनूवाले कलकत्ता

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० शान्तिनाथजी कलकत्ता
१०१) बा० निर्मलकुमारजी कलकत्ता
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१ बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ,,
१०१ बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलाल जीसरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) श्री जयकुमार देवीदास जी, चवेर कारंजा
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री वीर सेवामंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली। मुद्रक—रूपवाणी प्रेस, २१, दरियागंज देहली

वर्ष १४
किरण, २

सम्पादक-मंडल
जुगलकिशोर मुख्तार
छोटेलाल जैन
जयभगवान जैन एडवोकेट
परमानन्द शास्त्री

विषय-सूची

मूल्य: ||)

दशलक्षण-पर्वमें वीर-सेवा मंदिरके विद्वानों द्वारा धर्म-प्रभावना

पर्यूषण-पर्वमें वीर सेवा मन्दिरके विद्वानोंको बुलानेकी बावत कितनेही स्थानोंसे तार पर तार आए। ब्यावरसे, तो लगातार तीन तार विशेष प्रेरणाके लिए हुए थे। उसी बीचमें पं० श्रीहीरालालजी सिद्धान्त शास्त्रीकी स्वीकृति खुरई और श्री पं० परमानन्दजी शास्त्रीकी स्थानीय नया मन्दिर और लालमन्दिरको दी जा चुकी थी। श्रीमान् आदरणीय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार सा० विशेष कारण वश फिरोज़ाबाद तथा कानपुर गए हुए थे। आप फिरोजाबाद तथा कानपुरसे शनिवार ता० ८-९-५६को प्रातः देहली आए, संस्थाके समाचार ज्ञात किये, साथ ही ब्यावरसे आये हुए तारोंकी बात मालूम कर आपके एकदम विचार हुए, कि ब्यावरकी विशेष प्रेरणा है, जरूर चलना चाहिए। जिस समय में अजमेरमें शास्त्र भण्डारकी खोज कर रहा था उस समयसे उनका बुलानेका आग्रह बराबर बना हुआ है। हम श्री मुख्तार सा०के इस अदम्य उत्साह एवं लगनको देखकर दंग रह गये और हृदयमें हर्ष एवं विशेष श्रद्धा पैदा हुई। श्री मुख्तार सा०की प्रबल भावना देखकर ब्यावरको तार दे दिया गया कि आ रहे हैं। श्रीमान् आदरणीय मुख्तार सा० और श्री० पं० जयन्ती प्रसादजी शास्त्रीको साथ लेकर ब्यावर गये, इससे वहांकी जैन समाजमें अपार हर्ष हुआ, लोगोंने सौभाग्य माना। दिनमें प्रातः९ बजेसे १२बजे तक और शामको ६॥ बजेसे ९ बजे तक शास्त्र-प्रवचन श्री पं० जयन्ती प्रसादजी शास्त्रीका और भाषण श्री मुख्तार सा०का होता था, ब्यावरमें श्रीमान रा० ब० सेठ मोतीलाल तोतालालजी रानी वालोंके कारण सारे समाजमें धार्मिक-निष्ठा प्रशंसनीय है। सभी स्त्री-पुरुष, बड़े उत्साहके साथ पूजन तथा शास्त्र-प्रवचनमें भाग लेते थे। श्री मुख्तार सा० तथा श्री पं० जयन्तीप्रसादजी शास्त्रीके भाषणोंसे प्रभावित होकर श्रीमान रा० ब० सेठ मोतीलालजी रानीवाले, श्रीमती सौ० नर्वदादेवीजी ध. प. श्री रा. ब. सेठ तोतालालजी रानी वाले, श्रीमान सेठ धर्मचन्द्रजी सौगानी, श्रीमान सेठ गुमानमलजी बाकलीवाल, श्रीमान सेठ मूलचन्दजी पहाड्या, तथा दि० जैन पंचायत,ने सहर्ष वीरसेवामन्दिरके आजीवन सदस्य २५१), २५१)रु० दे देकर बनाना स्वीकार किया। इस बीचमें ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती-भवन ब्यावरका निरीक्षण किया, वहां का शास्त्र संग्रह देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। वहां का क्षमा-वाणी-पर्व तो देखते ही बनता था ऐसा दृश्य अब तक देखनेमें नहीं आया। केकड़ीसे श्रीयुत पं० रतनलालजी कटारियाने सानुरोध केकड़ी आनेके लिए लिखा। श्री मुख्तार सा० और श्री पं० जयन्तीप्रसादजी शास्त्री केकड़ी गये। वहां श्री पुज्य क्षुल्लक सिद्धसागरजीके पधारनेसे अच्छी धार्मिक जागृति होरही है। आप बहुत ही सरल स्वभावी मिलनसार, और प्रकाण्ड विद्वान् एवं त्यागी हैं, उनके दर्शन किये। रातको श्री मुख्तार सा०का सार गर्भित भाषण हुआ जिससे प्रभावित होकर केकड़ीकी जैनसमाजने २५१) रुपये देकर वीरसेवामन्दिरका आजीवन सदस्य बनना स्वीकार किया। साथ ही एक बहुत ही महत्त्वका 'प्रस्ताव, जिसमें यह निर्णय किया गया कि विवाहादि कार्योंमें मन्दिरको दिये जानेवाले दानमेंसे २५ प्रतिशत साहित्य प्रचारके लिए निकाला जाय'' पास हुआ। जो इसी किरणमें अन्यत्र दिया जारहा है वह सभी स्थानोंकी समाजके लिये अनुकरणीय है। बादमें अजमेर आये वहां की समाजने श्री मुख्तार सा०को रोकनेका बहुत आग्रह किया, परन्तु समयाभावके कारण न रुक सके। श्रीमान् पं० हीरालाजी सिद्धान्त शास्त्रीके प्रवचन और भाषण खुरईकी जैन समाजने बहुत पसन्द किये और उनका अभिनन्दन किया। और २०१)रु० सहायताके प्रदान किये। श्री पं० परमानन्दजी शास्त्रीसे स्थानीय जैन समाजमें विशेष जागृति बनी रही। और नये मन्दिरको शास्त्रसभाकी ओरसे १०१) रु० भेंट स्वरूप प्राप्त हुए। तथा समस्त दि० जैन समाज कलकत्ताकी ओरसे २५०) रु०की सहायता बाबू मिश्रलालजी कालाकी मारफत प्राप्त हुई, इसके लिये वहांकी समाज विशेष धन्यवादकी पात्र है। इस तरह वीरसेवामन्दिरको पर्यूषण पर्वमें ढाई हजारके लगभग सहायता प्राप्त होगई।

प्रेमचन्द जैन
संयुक्त मंत्री—वीर सेवामन्दिर
दिल्ली

शोक समाचार

रायसाहब बाबूज्योतिप्रसादजी म्युनिस्पल कमिश्नरकी पूजनीया माताजीका ८५ वर्षकी वृद्ध अवस्थामें ता० २-अक्टूबर सन् १९५६को दिनके १२बजे स्वर्गवास होगया। वीरसेवामन्दिर परिवार आपके इस इष्ट वियोग जन्य दुखमें सम्वेदना प्रकट करता हुआ दिवंगत आत्माको परलोकमें सुख और शान्तिकी कामना करता है।

ॐ अर्हम्

वर्ष १४ किरण, २	वीरसेवामन्दिर, २१, दरियागंज, देहली भाद्रपद, शुक्ला वीरनिर्वाण-संवत् २४८३, विक्रम संवत् २०१३	सितम्बर, १९५६

चतुर्विंशति-तीर्थंकर-स्तुतिः

(चतुर्विंशतिसन्धानात्मिका)

[यह स्तुतिपद्य सबसे पहले जयपुरके लश्कर मन्दिर-शास्त्र-भंडार का अवलोकन करते हुए मुझे ३ मार्च सन् १९५० को संस्कृत टीका-सहित उपलब्ध हुआ था। उसके बाद गत वर्षके भादों मासमें अजमेरके पंचायती मन्दिर-शास्त्र-भंडारका अवलोकन करते हुए भी उसी संस्कृत टीकाके साथ प्राप्त हुआ है, जिसके अनन्तर 'एषा पंचवटी' आदि चार पद्य और भी सटीक हैं जो श्री रामचन्द्रजी आदिकी स्तुतिसे संबन्ध रखते हैं। इस स्तुतिपद्यके चौबीस तीर्थंकरों की स्तुतिको लेकर २४ अर्थ होते हैं। संस्कृत टीकामें वृषभ जिनकी स्तुतिको स्पष्ट किया गया है और शेष अजितादि तीर्थंकरोंकी स्तुतिको उसी प्रकारसे स्पष्ट कर लेनेकी प्रेरणा की गई है। इस स्तुतिमें २४ तीर्थंकरोंके नामोंका समावेश है। एक तीर्थंकरकी स्तुतिमें शेष तीर्थंकरोंके नाम उसके विशेषण रूपमें प्रयुक्त हुए हैं और वे स्तुति परका काम देते हैं। प्रत्येक तीर्थंकरका नाम किस किस अर्थको लिये हुए हैं यह टीकामें स्पष्ट किया गया है। इसीसे प्रस्तुत स्तुतिको उपयोगी समझ कर यहां टीका सहित दिया जाता है। साथ में पं० हीरालालजी शास्त्रीका वह अर्थ भी दिया जाता है जो उन्होंने टीका परसे फलित करके लिखा है, जिससे हिन्दी पाठक भी इस स्तुतिके महत्वको समझ सकें।]

—जुगलकिशोर

श्रीधर्मो वृषभोऽभिनन्दन अरः पद्मप्रभः शीतलः,
शान्तिः संभव-वासुपूज्य-अजितश्चन्द्रप्रभः सुव्रतः।
श्रेयान् कुन्थुरनन्त-वीर-विमलः श्रीपुष्पदन्तो नमिः
श्रीनेमिः सुमतिः सुपार्श्व जिनराट् पार्श्वो मलिः पातु वः॥

टीका—वृषभः प्रथम-तीर्थंकरदेवः वो युष्मान् पातु रक्षतु । किंविशिष्टो वृषभः ? श्रीधर्मः—संसारसमुद्रे निमजन्तं जन्तुमुद्धृत्य इन्द्र-नरेन्द्र-मुनीन्द्र-वन्दिते (पदे) धरतीति धर्मः । श्रिया अभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणया उपलक्षितो धर्मो यस्य स श्रीधर्मः । किंविशिष्टो वृषभः ? अभिनन्दनः—अभि समन्तात् नन्दयति निजरूपाद्यतिशयेन प्रजानामानन्दमुत्पादयतीत्यभिनन्दनः । अथवा न विद्यते भीर्भयं यत्र, तानि अभीनि । 'स्वरो ह्रस्वो नपुंसके' । अभीनि भयरहितानि नन्दनानि अशोक-सप्तपर्ण-चम्पकादीनां समवसरणे यस्य, सोऽभिनन्दनः । पुनः किंवि० ? अरः—'ऋ गतौ' अरति गच्छति केवलज्ञानेन लोकालोकं जानात्यरः । 'सर्वे गत्यार्थाः धातवो ज्ञानार्था' इति वचनात् । अथवा 'ऋ सृ गतौ' इति धातुरदादौ वर्तते, तत्र इयर्ति गच्छति त्रैलोक्यशिखरमारोहतीत्यरः; एकेन समयेन मुक्तिं प्राप्नोतीत्यरः । अथवा अर्यते मोक्षार्थिभिर्गम्यते-ज्ञानिभिर्ज्ञायते इत्यरः । अथवा संसारमोक्षये अरः शीघ्रगो वा । अथवा धर्मरथप्रवृत्तिहेतुत्वादरश्चक्रांगभूतः । अथवा अं शिवं राति ददातीति भव्यानां अरः । अथवा न विद्यते रः कामो भयं वा यस्य (स) अरः । पुनः किंवि० ? पद्मप्रभः—पदोश्चरणयोः मा लक्ष्मीः यस्य स पद्मः । प्रकृष्टा भा दीप्तिर्यस्य स प्रभः । पद्मश्चासौ प्रभश्च पद्मप्रभः । अथवा पद्मैर्निधिविशेषैः प्रभाति प्रकर्षेण शोभत इति पद्मप्रभः । अथवा पद्मैः योजनैकप्रमाणसपादद्विशतहेममयकमलैः प्रभाति शोभते यः स पद्मप्रभः । उक्तं च—हस्तिबिन्दौ मतं पद्मं पद्मोऽपि जलजे मतः । संख्याऽहि-निधि-वृन्देषु पद्मध्वनिरयं स्मृतः ॥ पुनः किंवि० ? शीतलः—शीतं लाति सहते छद्मस्थावस्थायां शीतलः । तदुपलक्षणं उष्णस्य वर्षायां च त्रिकालयोगवानित्यर्थः । अथवा शीतलः—शान्तिमूर्त्तिः । पुनः किंवि० ? शान्तिः—शाम्यति सर्वकर्मक्षयं करोतीति शान्तिः । 'तिक्क्तौ संज्ञायामाशिषि' संज्ञायां पुल्लिंगे तिक्प्रत्ययः । पुनः किंवि० ? संभवः—सं समीचीनो भवो यस्य स संभवः । वा शंभव इति पाठे शं सुखं भवति यस्मादितिः शंभवः । पुनः किंवि० ? वासुपूज्यः—वासुः शक्रस्तस्य पूज्यः वासुपूज्यः । अथवा वेन वरुणेन पवनेन वा इन्द्रादीनां वृन्देन वा गन्धेन वा, आ समन्तात् सुष्ठु अतिशयेन पूज्यः वासुपूज्यः । अथवा वा इति शब्दः स्त्रीलिंगेषु वर्तमानः मन्त्रवाची वर्तते, अमृतात्मकत्वात् । तेनायमर्थः—वया 'ॐ ह्रीं श्रीवासुपूज्याय नमः' इति मंत्रेण सुष्ठु अतिशयेन पूज्यः वासुपूज्यः । पुनः किंवि० ? अजितः—न केनापि काम-क्रोधादिना शत्रुणा जितः अजितः । अथवा अः सूर्यस्तं निजप्रभामण्डलतेजसा जयतीत्यजितः । पुनः किंवि० ? चन्द्रप्रभः—चन्द्रा आल्हादकारिणी प्रभा यस्य स चन्द्रप्रभः । पुनः किंवि० ? सुव्रतः—सुष्ठु शोभनानि व्रतानि अहिंसादीनि यस्य स सुव्रतः । पुनः किंवि० ? श्रेयान्—अतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान् । पुनः किंवि० ? कुन्थुः—'कुन्थु हिंसा संक्लेशनयोः'; कुन्थयति समीचीनं तपःक्लेशं करोति कुन्थुः । पुनः किंवि० ? अनन्तः—न विद्यते अन्तो यस्य सोऽनन्तः । पुनः किंवि० ? वीरः—शूरः । अथवा विशिष्टां ईं लक्ष्मीं मोक्षलक्ष्मीं राति ददाति निजभक्तानां वीरः । पुनः किंवि० ? विमलः—विगतो विनष्टो मलः कर्ममलकलंको यस्य स विमलः । अथवा विशिष्टा मा लक्ष्मीर्येषां ते विमा इन्द्रादयो देवास्तान् लाति निजपादाक्रान्तान् करोतीति विमलः । अथवा विगता दूरीकृता मा लक्ष्मीर्यैस्ते विमाः । विमाः निर्ग्रन्थाः मुनयस्तान् लाति स्वीकरोतीति विमलः । अथवा विगतं मलमुत्सारः प्रस्रावश्च यस्य स विमलः । अथवा विशेषेण मं मलं लुनातीति विमलः । पुनः किंवि० ? श्रीपुष्पदन्तः—पुष्पवत् कुन्दकुसुमवत् उज्ज्वला दन्ताः यस्य स पुष्पदन्तः । श्रियोपलक्षितश्चासौ पुष्पदन्तश्च श्रीपुष्पदन्तः । पुनः किंवि० ? नमिः—नम्यते इन्द्र-चन्द्र-मुनीन्द्रादिभिर्नमिः । पुनः किंवि० ? श्रीनेमिः—नयति स्वधर्मं नेमिः । श्रियोपलक्षितो नेमिः श्रीनेमिः । पुनः किंवि० ? सुमतिः—सुष्ठु शोभना लोकालोकप्रकाशिका मतिर्यस्य स सुमतिः । पुनः किंवि० ? सुपार्श्वः—सुष्ठु शोभने पार्श्वे वामदक्षिणप्रदेशौ यस्य स सुपार्श्वः । पुनः किंवि० ? जिनराट्—जिनानां गणधरदेवादीनां राट् स्वामी जिनराट् । पुनः किंवि० ? पार्श्वः—निजभक्तस्य पार्श्व अदृश्यरूपेण तिष्ठतीति पार्श्वः । यत्र कुत्र प्रदेशे स्मृतः सन् स्वामी समीपे वर्त्येव वर्तते पार्श्वः । पुनः किंवि० ? मल्लिः—'मल-मल्ल धारणे' मल्यते निजशिरस्सु देवादिभिर्मल्लिः । अथवा मलते धारयति भव्यजीवान् मोक्षपदे स्थापयति इति मल्लिः । ईदृग्विधो वृषभो देवः वः युष्मान् पातु रक्षतु । अथवा अजितः—द्वितीयतीर्थंकरदेवो वो युष्मान् पातु । कथंभूतोऽजितः ? वृषभः—वृषेण अहिंसालक्षणोपलक्षितेन धर्मेण भाति शोभते इति वृषभः । पुनः किंविशिष्टोऽजितः ? संभवः । पूर्ववत् । एवं शेषाणां द्वाविंशतितमानां तीर्थंकराणामपि स्तुतिर्ज्ञेया ॥

अर्थ—प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभदेव आप सबकी रक्षा करें। कैसे हैं वृषभदेव ? श्री धर्म हैं—संसार-समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंका उद्धार करके उन्हें इन्द्र, नरेन्द्र और मुनीन्द्रों से वन्दित अभ्युदय तथा निःश्रेयस—लक्ष्मी रूप उत्तम पदमें स्थापित करते हैं। पुनः कैसे हैं वृषभदेव ? अभिनन्दन हैं—अपने अतिशय युक्त रूप-गुणादिके द्वारा प्रजाको आनन्द उत्पन्न करते हैं; अथवा जिनके समवसरणमें अशोक, सप्तच्छद और चम्पक आदि वृक्षोंके वन प्रजाको भय-रहित एवं आनन्द-सहित करते हैं। पुनः कैसे हैं ऋषभदेव ? अर हैं—केवलज्ञानके द्वारा लोक और अलोकके जानने वाले हैं; अथवा अघाति कर्मों-का क्षय करके एक ही समयमें त्रैलोक्यके शिखर पर आरोहण कर मुक्तिको प्राप्त करने वाले हैं, अथवा मोक्षार्थी ज्ञानी जनोंके द्वारा ही गम्य हैं—जाने जाते हैं; अथवा संसार—विमोक्षणमें शीघ्रता करनेवाले हैं; अथवा धर्मरूप रथके संचालनार्थ चक्रांग-स्वरूप हैं; अथवा भव्य जीवोंको (अं) (र) दाता हैं, शिवके (र) अथवा काम तथा भयसे (अ) रहित हैं। पुनः कैसे हैं ऋषभदेव ? पद्मप्रभ हैं—चरणकमलोंकी उत्कृष्ट प्रभाके धारक हैं; अथवा पद्मनामक निधि-विशेषोंसे अत्यन्त शोभित हैं; अथवा विहारके समय देव-निर्मित स्वर्णमयी कमलों पर संचार करते हैं। पुन कैसे हैं ऋषभ देव ? शीतल हैं—छद्मस्थ अवस्थामें जिन्होंने शीत उष्णादिकी भारी परीषहोंको सहन किया है; (यहाँ पर 'शीत' पदसे उष्णादि परीषह और वर्षादि योग भी उपलक्षित हैं); अथवा शान्तिकी मूर्ति हैं। पुनः कैसे हैं ऋषभदेव ? शान्ति हैं—सर्व कर्मोंके शान्त-क्षय करनेवाले हैं पुनः कैसे हैं ऋषभदेव ? संभव हैं—समीचीन भव पर्यायके धारक हैं; अथवा शंभव हैं—(शं) सुखके (भव) जनक हैं। पुनः कैसे हैं ऋषभदेव ? वासुपूज्य हैं—(वासु) इन्द्रसे पूजित हैं; अथवा व—वरुण और तदुपलक्षित सोम, यमादि देव-वृन्दसे वन्दित हैं; अथवा वा पद मंत्रवाचक भी है, अतः भक्तजनोंके द्वारा 'ॐ-ह्रीं श्रीवासु पूज्याय नमः' इस मंत्रके द्वारा नित्य आराधना किये जाते हैं। पुनः कैसे हैं ऋषभदेव ? अजित हैं—काम-क्रोधादि शत्रुओंके द्वारा अजेय हैं; अथवा (अं) सूर्यको अपने प्रभामण्डलके द्वारा जीतनेवाले हैं। पुनः कैसे हैं ऋषभ देव ? चन्द्रप्रभ हैं—चन्द्रमाके समान जगत्-आल्हादिनी प्रभाके धारक हैं;—सुव्रत हैं—अहिंसादि सुन्दर व्रतोंके धारक हैं; श्रेयान् हैं—अतिशय प्रशंसाके योग्य हैं।—कुन्थु हैं—(कुन्थति) समाचीन करनेवाले हैं। अनन्त हैं—अन्त-विनाश-से रहित हैं। पुनः कैसे हैं ऋषभ देव ? वीर हैं—शूर हैं। अथवा अपने भक्तोंको वि विशिष्ट (ई) लक्ष्मी-मोक्षलक्ष्मीके (र) दाता हैं। और विमल हैं—कर्म मलसे रहित हैं; अथवा (विमा) विशिष्ट ऐश्वर्यके धारक इन्द्रादि देव जिनके चरणोंकी नित्य वन्दना करते हैं; अथवा (विमा) सर्व परिग्रहसे रहित जो निर्ग्रन्थ मुनियोंके द्वारा आराध्य हैं; अथवा मूत्र- पुरीषादि सर्व प्रकारके द्रव्य-मलोंसे रहित हैं; अथवा राग-द्वेषादि सर्व प्रकारके भावमलोंसे रहित हैं। पुनः कैसे हैं ऋषभ देव ? श्रीपुष्पदन्त हैं—कुन्द पुष्पके समान शोभायमान उज्ज्वल दन्तोंके धारक हैं; और नमि हैं—इन्द्र, चन्द्र और मुनीन्द्रादिकोंके द्वारा नित्य नमस्कृत हैं, और श्री नेमि हैं—(श्री) मोक्षलक्ष्मी रूप आत्मधर्मके प्राप्त करने वाले हैं। पुनः कैसे हैं ऋषभदेव ? सुमति हैं—लोकालोककी प्रकाश करनेवाली सुन्दर मति-बुद्धिके धारक हैं। और सुपार्श्व हैं—सुन्दर वाम और दक्षिण पार्श्व भागोंके धारक हैं। और जिनराट् हैं—विषय-कषायोंके जीतनेवाले गणधरादि-जिनोंके स्वामी हैं। पुनः कैसे हैं ऋषभदेव ? पार्श्व हैं—निज भक्तोंके सदा समीपवर्ती हैं—जब कोई भक्त जहां कहीं भी आपत्तिके समय उन्हें स्मरण करता है, तभी उसकी आपत्ति शीघ्रतासे दूर हो जाती है, जिससे भक्त यह अनुभव करता है कि भगवान् मानो अदृश्य रूपसे मेरे समीपस्थ ही हैं। पुनः कैसे हैं ऋषभदेव ? मल्लि या मलि हैं—देवताओंके द्वारा (मल्यते) अपने शिरों पर धारण किये जाते हैं; अथवा भव्य-जीवों-को लोक शिखर पर मलते स्थापित करते हैं।

इसी प्रकार द्वितीय तीर्थंकर अजितदेव भी आप सबको रक्षा करें। कैसे हैं अजितदेव ? ऋषभ

हैं—(वृषे) अहिंसा लक्षणधर्मकी (भांति) श्री आदि धारण करनेवाले हैं। ऊपर जितने विशेषण ऋषभदेव-के लिये प्रयुक्त किये हैं, उन सबको अजितदेवके पक्षमें भी लगाना चाहिए। इसी तरह संभव आदि शेष बाईस तीर्थंकरोंकी स्तुति करते समय शेष सर्व विशेषणोंका प्रयोग उनकी स्तुतिके रूपमें करना चाहिए।

अनुसन्धानका स्वरूप

(प्रो० गोकुलप्रसाद जैन, एम० ए० एल० एल० बी०)

रिसर्च के लिये आजकल अनुसंधान, अन्वेषण, शोध, खोज आदि शब्दोंका प्रयोग होता है। संस्कृतमें यद्यपि इनके अर्थोंमें सूक्ष्म अन्तर है, तथापि हिन्दीमें ये शब्द प्रायः पर्याय ही माने जाते है। इनमें से अनुसंधानका अर्थ है समीक्षण, परिपृच्छा, परीक्षा आदि। अन्वेषणका प्रयोग गवेषणा या लुप्त तथा गुप्त सामग्रीको प्रकाशमें लानेके अर्थ-में होता है। शोधमें प्राप्त सामग्रीका संस्कार, परिष्कार निविष्ट है। अतः ये सभी शब्द प्रायः समान अर्थ रखते हुए अनुसन्धान कार्यके भिन्न भिन्न रूपोंके द्योतक है। फिर भी इस क्षेत्रमें अनुसन्धान तथा गवेषणा शब्दोंका व्यापक रूपसे प्रयोग होता है।

अनुसन्धानका अपना व्यापक अर्थ होते हुए भी वर्त-मान कालमें इसका प्रयोग मुख्यतः वैज्ञानिक अन्वेषणके लिये होता है। इसका उद्देश्य ज्ञानके क्षेत्रमें उठी हुई शंकाओंका समाधान करना है। इसकी प्रक्रियाके अन्तर्गत केवल वस्तुविषयक तात्त्विक चिन्तन या गवेषणा ही नहीं आती है प्रत्युत उसके सूक्ष्म निरीक्षण तथा विश्लेषणको भी उचित स्थान मिला होता है। इसमें प्रत्येक अंशका अन्योन्य कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित कर उसके विश्लेषण द्वारा इसी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष तक पहुँचनेका प्राधान्य रहता है। आज-के अनुसन्धानका प्रमुख उद्देश्य पूर्ण अनन्त एवं शृंखला-बद्ध ज्ञानको प्रकाशमें लाना है। आजका अनुसन्धित अनुसन्धान कार्यमें केवल जिज्ञासाकी प्रेरणासे प्रवृत्त नहीं होता, वह और भी व्यापक क्षेत्रमें कार्य-निष्ठ रहता है। वह जिज्ञासाकी तृप्ति मात्रसे सन्तुष्ट नहीं। उसे विशाल क्षेत्र चाहिये जहां वह निरन्तर शक्तिकी खोज कर वास्तविक और ताथ्यिक सत्यकी खोज कर सके। अनुसंधित्सुको किसी वस्तु या तथ्य विशेषसे रागद्वेष नहीं। वह तो केवल सत्यान्वेषी और सत्यार्थी होता है। अन्वेषण एक तटस्थ निरीक्षकका कार्य है।

हमारे भारतमें प्राचीनकालसे ही मनीषियोंकी प्रवृत्ति अनुसन्धानकी ओर रही है जिसकी हमारी अपनी परम्पराएँ हैं। हमारे देशमें ज्ञान और अनुसन्धानकी चिन्तन और अनुभव-प्रणालियां जो वेदों और उपनिषदों में पाई जाती हैं, खण्डन-मण्डन-प्रणालियां जिनका परिचय दर्शन व्या-करण नीति काव्यशास्त्र आदिसे मिलता है, तथा मंथन प्रणालियां जिसकी संस्कृत वाङ्मयमें एक अविच्छिन्न धारा प्राप्त होती हैं, भारत की अपनी प्रणालियां हैं।

आज की विश्वविद्यालयीन कार्यशैली के अनुसार अनु-सन्धान के मुख्य तत्त्व ये हैं:—

(१) अनुपलब्ध तथ्योंका अन्वेषण तथा निरूपण।
(२) ज्ञात तथ्यों तथा सिद्धांतों का पुनराख्यान।
(३) मौलिक कार्य।
(४) विषय-प्रतिपादनकी सुष्ठु शैली।

इन चारोंका सापेक्षिक महत्त्व अनुसन्धानके विषय पर निर्भर रहता है। वैसे अन्वेषणके अन्तर्गत अज्ञात लेखकों तथा ग्रन्थोंकी खोज, अप्राप्त सामग्रीका प्रकाशमें लाना, उपलब्ध सामग्रीका शोधन करना, विचारों या सिद्धान्तों-का अन्वेषण करना, शैली-विषयक अन्वेषण करना तथा पूर्वापर ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारोंसे सम्बन्ध स्थापित करना है। पुनराख्यानकार्यमें नवीन उपलब्ध सामग्री तथा तथ्योंका आख्यान करना और पूर्वोपलब्ध तथ्योंका पुनराख्यान करना सन्निविष्ट हैं। मौलिकताके आधीन समीक्षात्मक तथा आलोचनात्मक सामग्री आती है जिसका महत्त्व मूलान्वेषणसे कोई कम नहीं है। मौलिकतामें तथ्यान्वेषण, पाठशोध, पाठाध्ययन, निर्वाचन, नवाविष्करण भी सम्मिलित है।

अनुसंधित्सुओंको अपने विषयकी इयत्ताओं के आधीन रहते हुए उपरोक्त कतिपय अनुदेशोंका पालन करना अभीष्ट एवं हितकर होगा।

श्रीबाबा लालमन दासजी

(यह चित्र श्रीमान् लाला प्रकाशचन्द्रजी शीलचन्द्रजी जैन सर्राफ चांदनी चौक देहलीके सौजन्यसे प्राप्त)

श्रीबाबा लालमनदासजी और उनकी तपश्चर्याका म

(परमानन्द जैन)

जीवन-परिचय

"होनहार विरवान के होत चीकने पात।"

यह कौन जानता था कि दरिद्रकुलमें जन्म लेने वाला साधारण व्यक्ति भी अपनी साधनासे महान बन जायगा, समाजमें आदरणीय गिना जायगा। जिसकी कठोर आत्म-साधना और दृढ़ आत्मविश्वास उसे इस योग्य बना देगा कि वह जिस व्यक्तिसे जो कुछ भी कह देगा वह उसी तरह से ही निष्पन्न होगा। दरिद्र धनवान बन जायेगा, और रोगी रोग-मुक्ति पाजायगा। यह सब उसकी आत्म-श्रद्धा एवं तपश्चर्याकी साधनाका परिणाम है। आज एक ऐसे ही व्यक्ति की जीवन-घटनाओं पर प्रकाश डालना ही मेरे इस लेखका प्रमुख विषय है।

बाबा लालमनदासजी का जन्म मेरठ शहरमें संवत् १८२० या २१ में हुआ था। आपकी जाति अग्रवाल थी। घर आर्थिक दशामें साधारण था। आपका एक छोटा भाई और भी था जिसका नाम ईश्वरी-प्रसाद था, जो कुछ ही वर्ष हुए दिवंगत हुए हैं। घरकी आर्थिक स्थिति साधारण होनेके कारण आपकी शिक्षा-दीक्षा विशेष न हो सकी; परन्तु अपनी आजीविकाके निर्वाह-हेतु जो कुछ भी थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त किया था, उससे ही वे अपना सब कार्य निष्पन्न करते थे। शिक्षा अल्प होने पर भी दृष्टिमें विवेक एवं विचारकी कुछ झलक अवश्य थी। यद्यपि गृहस्थ जीवन साधारण था, फिर भी जीवनमें उनके संस्कार धार्मिक थे। जिनेन्द्रकी भक्ति और श्रद्धा थी। हृदयमें सचाई और पापसे घृणा एवं भय था. किन्तु मनमें पवित्रताका सचार था, और यह कसक भी थी कि कोई भी व्यक्ति मेरी दूकानकी वस्तुसे दुःखी और ठगाकर न जाय। आप आजीविकाके लिये हलवाईकी दुकान करते थे, पर दुकानमें इस बातकी सावधानी खास तौरसे रखते थे कि कभी किसी अपवित्र वस्तुसे दुकानकी चीजोंका सम्पर्क न होजाय। और खान-पीने वालोंको अपवित्र पदार्थ न खाना पड़े। अतः वे अपनी सभी क्रियाएँ विवेक-पूर्वक करते हुए जीवन यापन करते थे। चाहे नफा कम हो या ज्यादा, इसकी वे पर्वाह नहीं करते थे और ग्राहकोंको वे अपनेसे कभी भी अप्रसन्न नहीं होना देना चाहते थे। और न ऐसा कार्यकर कभी अपयशकी कालिमासे ही वे अपनेको कलंकित होने देना चाहते थे। वे कहा करते थे कि—केवल पैसा संचित करना ही मेरे जीवनका ध्येय नही है। किन्तु मानवताको सुरक्षित रखना ही मेरा कर्तव्य है। दूसरे गरीब और अमीर सभी व्यक्तियोंके साथ मेरा व्यवहार मृदु और सुकोमल होना चाहिये।

क्योंकि मानव-जीवन बार-बार नहीं मिलता। इसलिये अपने जीवनमें ठगाई या धोखा देने जैसी बुरी आदतें न आनी चाहिये। जहां तक भी बन सके सदा सत्यका व्यवहार करते हुए इस जीवनको यापन करना ही अपना एक मात्र लक्ष्य है। जब आप मन्दिरजीमें जाते, तब दर्शन, सामायिक और स्वाध्याय अवश्य करते थे, तब उनके विचारोंकी पवित्रता और भी बढ़ जाती थी। और कभी कभी उनकी विचार-धारा बड़ी ही उग्र हो उठती थी, पर गृह कार्य-संचालनकी हल्की-सी बाधा कभी कभी उन्हें अपने पथसे विचलित भी कर देती थी। फिर भी वह सोचते जीवन उन्हींका सार्थक है, जिन्होंने अपने जीवनका कुछ भाग अपनी आत्म-साधनामें व्यतीत किया है। विना आत्म-साधनाके जीवनमें आदर्शता नहीं आ सकती और न स्वोपकारके साथ परोपकार ही बन सकता है। जीवनमें सचाई और ईमानदारीका होना बहुत जरूरी है। उसके विना जीवन नीरस रहता है। अनुदारता नीरसताकी साथिन है। अतः जीवनको सरस बनानेके लिये उदारताकी भी आवश्यकता है। आचार और विचारोंसे ही जीवन बनता है। फिर मैं जिस कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ उसकी मर्यादाकी रक्षाके लिये जीवनमें धार्मिकताका अंश आना जरूरी है। इस तरह आप अपना विचार-धाराके साथ जीवन यापन किया करते थे।

एक बार आपने मेरठके एक दूसरे हलवाई कल्लूमलके साथ साझा करके गढ़के मेलेमें जानेका निश्चय किया। गाड़ीमें दोनों दुकानोंका सामान था और साथमें उसी गाड़ीमें कल्लूमलजीके बच्चे भी बैठे थे। दैवयोगसे उनमें से किसी एक छोटे बच्चे-ने गाड़ीमें सहसा पेशाब करदी और उसके छींटे सन्दूक और उसमें रक्खी हुई कुछ मिठाई पर भी पड़े। इस बातको देख कर लाला लालमनदास जीसे न रहा गया और उन्होंने ला० कल्लूमल जीसे कहा कि जिस मिठाईमें पेशाबके छींटे पड़ गए हैं उसे न बेचा जाय, किन्तु उसे बाहर फिकवा दीजिये, उसको बेचनेकी आवश्यकता नहीं। परन्तु लाला कल्लूमलजी इस प्रस्तावसे सहमत न थे, उन्होंने कहा ऐसा करना ठीक नहीं है। छींटे ही तो पड़े हैं कोई हर्ज नहीं, मैं मिठाई नहीं फेंक सकता, उसमें क्या बिगड़ गया, अन्दर की चीजें तो कोई खराब नहीं हुइ। दूसरे वह अबोध बालक ही तो ठहरा, उसका कोई विचार नहीं किया जाता। यह सुन कर लालमनदासजी अपनी दुकानका सब सामान छोड़ कर बीचमें से ही घर वापिस लौट आए। लोगोंके पूछने पर कुछ भी उत्तर नहीं दिया। परन्तु घर आते ही उनके विचारोंमें एक तूफान-सा उठ खड़ा हो गया—विचारों का तांता बराबर जारी रहा, वे सोचने लगे कि देखो, इस मानव जीवन को बितानेके लिये मनुष्य कितनी विवेक-हीन प्रवृत्ति करता है—वह कितना खुदगर्ज है, शुद्धि-अशुद्धियोंको भी नहीं देखता, वह केवल पैसा उपार्जन करना ही अपना ध्येय बनाये हुए है। ऐसा विवेक-हीन जीवन बितानेसे तो कहीं मर जाना अच्छा है, अथवा सब कौटुम्बिक झंझटोंको छोड़ कर साधु हो जाना। पर विवेकको खोना अच्छा नहीं है और न दूसरोंके धर्म तथा ईमानको खोना ही अच्छा है। इससे मुझे जो ग्लानि और कसक होती है उससे बचनेका उपाय करना चाहिये। दूसरे हलवाईका अपना पेशा भी ठीक नहीं है, परन्तु वह मेरी आजीविकाका साधन होनेसे उसे जल्दी ही कैसे छोड़ा जा सकता है। फिर भी यथा समय उससे मुक्त होनेका प्रयत्न करूँगा। भगवन्! मुझसे भूल में भी ऐसा कोई कार्य निष्पन्न न हो जिससे दूसरोंके ईमानको ठेस पहुँचे।

इसके बाद उन्होंने फलों और शाक बेचनेकी दुकान करली थी, उसे भी उन्होंने कुछ समय तक ही कर पाई। जब ला० कल्लूमल जी गढ़के मेलेसे वापिस आये तब परस्परका साझा बांट दिया गया। उस समय भी ला० लालमनदासजीने इस बात-का ध्यान रखा कि जिस मिठाई पर बच्चेकी पेशाब के छींटे पड़े थे उसके पैसे नहीं लगाए और आगे उस व्यापारसे भी मुख मोड़ लिया। इस तरह घर-में कुछ दिन और व्यतीत करने पर एक दिन सहसा उनकी दृष्टि चली गई, और वे पदार्थोंके अवलोकन करनेमें सर्वथा असमर्थ हो गए। इससे केवल उन्हें ही कष्ट या दुःख नहीं हुआ किन्तु इस से उनके परिवारके लोगोंको भारी ठेस पहुँची और उन्हें अपना पारिवारिक जीवन बिताना दूभर हो गया। पर क्या करें. कोई चारा नहीं था। उदयागत शुभाशुभ कर्मका फल अवश्य भोक्तव्य है, अतः वे शान्त रहे, यद्यपि दृष्टि जानेसे आपको भारी आकुलता उत्पन्न हो गई, और जीवन भार-स्वरूप जँचने लगा, परन्तु कर्मके आगे किसकी चलती है, यही सोच कर कुछ धीरज रखते। परन्तु बराबर यह सोचते कि मैंने ऐसा कौन घोर पाप किया जिससे नेत्र विहीन होना पड़ा। अस्तु, आपके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैंने कुछ दिनोंसे जिन दर्शन नहीं किये, परन्तु दुःख है कि मैं वहाँ पहुँच कर भी जिनमूर्तिको नहीं देख सकता। अतः किसीका सहारा लेकर किसी तरह मंदिर जी में पहुँचे और भक्ति भावसे दर्शन करके एक स्थान पर बैठ गये और उन्होंने एक माला मंगवाई। माला हाथ में लेकर जाप कर रहे थे कि वह अक-स्मात् टूट गई और उसके दाने इधर-उधर बिखर गए। कोई दाना किसी कोने में गिरा कोई किसी दूसरे कोने में, और कोई दाना वेदीके पासके किनारे वाले खूंट पर गिरा। बेचारे लालमनजी उन दानोंको हाथ से टटोलते-तलाशते रहे परन्तु पूरे दाने नहीं मिल सके। तब आपने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं सब दाने ढूंढ कर माला पूरी न कर लूंगा और

अपनी जाप पूरी न करूंगा तब तक मैं मन्दिरसे बाहर नहीं जाऊंगा, और न अन्न-जल ही ग्रहण करूंगा। फिर सोचते हैं--भगवन् ! मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया है जिससे यकायक मेरी दृष्टि चली गई। मुझे तो आपकी ही शरण है। आपके गुणों का चिन्तन ही स्व-पर-विवेकका कारण है, उससे ही स्वात्म-निधिका परिचय मिलता है और वही मेरी विपत्तिसे रक्षा करेगा। अतः अब मैं यहाँसे उसी समय जाऊंगा, जब मेरी दृष्टि पुनः अपने रूपमें आ जायगी, और मैं माला पूरी कर अपनी जाप पूरी करने में समर्थ हो जाऊंगा। इस तरह लालमनजी को बैठे हुए एक दिन व्यतीत हो गया।

दूसरा दिन भी इन्हीं विचारों में बीता। परन्तु तीसरे दिन उन्होंने मालाके दाने ढूंढने का अच्छा प्रयत्न किया और काफी दाने प्राप्त हो गये, प्रायः एक दो दाने की ही कमी रह गई। इस तरह तीसरा दिन भी बीत गया, किन्तु चौथे दिन प्रातःकाल ज्योंही आपने अवशिष्ट दाने ढूंढने का यत्न किया और अपना हाथ वेदी की दाईं ओर के कोने की ओर बढ़ाया, उसी समय वेदी का किनारा उनके मस्तक में लगा उसके लगते ही खून की धारा बह निकली, उस विकृत खून के निकलते ही आपको निर्मल दृष्टि ज्यों की त्यों प्राप्त हो गई। दृष्टि प्राप्त होते ही आपने अपनी माला पूरी कर जाप पूरी की और जिनेन्द्रकी स्तुति कर बाद में घर गए और नैमित्तिक क्रियाओं से निबट कर भोजन किया। भोजन के पश्चात् आपके विचारों में मौलिक परिवर्तन हो गया। श्रद्धा में दृढता और निर्मलता आगई। आपने विचार किया कि अब मुझे सब व्यवहार व्यापार छोड़ कर साधु जीवन व्यतीत करना चाहिये। घरमें रहकर तो आत्म-साधना नहीं बन सकेगी और इस समय आस-पास किसी योग्य गुरुका सांनिध्य भी प्राप्त नहीं है जो मेरी भावनाको मूर्तमान कराने में समर्थ हो सके और मुझे देह रूप कारागारसे छुड़ाकर भव-पासके छेदने में मेरा सहायक बन सके।

वैराग्यकी ओर

अब आपकी परिणति अत्यन्त उदासीन होगई, सांसारिक पदार्थोंके भोगोपभोगसे रुचि हट गई, देह-भोगों से विरक्ति की भावना जोर पकड़ने लगी। अब आपको घरमें रहना कारागारसे भी अधिक दुखद प्रतीत होने लगा। दिल चाहता था कि किसी संयमीके चरणोंमें रहकर आत्म-साधना करूं। परन्तु इस समय यह संयोग मिलना अत्यन्त कठिन था। चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ाई, परन्तु कोई ऐसा साधु उन्हें प्राप्त न हुआ जो उनकी मनःस्थिति को सुदृढ करता, वे सुबह शाम बारह भावनाओंका चिन्तन करते, कभी पाठ करते और कभी स्वाध्याय करते या मन्दिरजीमें जाकर दर्शनादि क्रिया करते, परन्तु मनकी गति अधीर हो रही थी। वे चाहते थे कि घरबार छोड़ दूं और आत्म-साधना में निरत रहूँ। पर घर छोड़ना सहज कार्य नहीं था फिर भी आपने रात्रिमें बहुत देर तक विचार-विनिमय किया और प्रातःकाल स्नानादि क्रिया से मुक्त होकर जिनमन्दिर जी में गए और वहाँ पार्श्व प्रभुकी स्तुति कर मनमें यह निश्चय किया कि मैं बिना किसी गुरुके जिनेन्द्रकी मूर्तिके समक्ष यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं नियमतः सप्तम प्रतिमाको धारण करता हूँ परन्तु यथाशक्य जल्दी ही क्षुल्लकके व्रतोंका अनुष्ठान करनेकी मेरी भावना है। अतः मैं एक लगोटी और एक छोटी चादर तथा पीछी कमंडलु रक्खूंगा, तथा दिनमें एक बार शुद्ध प्रासुक आहार-पान करूंगा। ऐसी प्रतिज्ञा कर घरसे बाहर चले गए।

आपने अपने तपस्वी जीवन में अनेक ग्रामों, नगरों और शहरों में विहार किया। देहली खतौली, मेरठ, हापुड़, सुनपत, मुजफ्फर नगर, सहारनपुर आदि में वे अनेक बार गये, और वहां की जनताको धर्मोपदेश-द्वारा कल्याण मार्गमें लगानेका प्रयत्न किया। उन्होंने गांवोंकी जनतासे केवल जीव-हिंसा ही नहीं छुड़ाई, प्रत्युत हरे वृक्ष काटना या हरी घास व ईख आदि जलाना, जुआ, चोरी, मांस व मदिरा आदि का त्याग करवाया। साथ ही जहाँ जिन-मन्दिर नहीं हुए, वहाँ उन्हें भी बनवानेकी प्रेरणा की। परिणाम-स्वरूप अनेक मन्दिरों

का निर्माण भी उत्तरप्रांतमें उनके समय किया गया, जो अब भी मौजूद हैं।

सुनपतका रथोत्सव

इस तरह आप विहार करते हुए सुनपत पहुँचे। सुनपत एक बहुत प्राचीन नगर है। यह उन श्वनि लोगोंका प्राचीन स्थान था, जो भारतकी प्राचीन आर्य परम्पराके अनुयायी थे। श्वनिपदका अपभ्रंश बिगड़ा हुआ रूप अब सुनपत रह गया। यह नगर शाही जमानेमें भी खूब सम्पन्न तथा विशाल दुर्ग और उसकी प्राचीरोंसे संरक्षित था, जो अब धराशायी होगया है। जैनियोंका यह प्रमुख केन्द्र रहा है। यहां १२वीं १३वीं शताब्दीसे भट्टारकोंकी प्राचीन गद्दी रही है. पर वह अब सदाके लिये समाप्त होगई। उस समय अनेक जैन ग्रंथ वहाँके श्रावकों तथा भट्टारकों द्वारा प्रतिलिपि किये व कराये गये थे जो यत्र तत्रके शास्त्र-भण्डारोंमें उपलब्ध होते हैं। यहांके भट्टारक दिल्ली, हिसार, आगरा और ग्वालियर आदि स्थानोंमें विचरण करते रहते थे। खेद है कि वहांके भट्टारकीय शास्त्रभण्डारके ३००० हजार हस्तलिखित ग्रन्थ कुछ वर्ष हुए पनवाड़ीकी पानकी पुड़ियोंमें काममें लाये गए। परंतु किसी जैनी भाईने उनके संरक्षणका कोई प्रयत्न नहीं किया। ऊपरके कथनसे नगरकी महत्ता, और प्राचीनताका अन्दाज लगाया जा सकता है। यहां जैनियोंकी जन-संख्या भी अच्छी रही है, और वे सम्पन्न भी रहे हैं। बाबा लालमनजीने यहां संवत् १६४६में चातुर्मास किया था, और चातुर्मासके बाद वहाँ एक रथोत्सव करनेकी प्रेरणा की गई थी। सुनपतका रथोत्सव बड़ी शान-शौकतके साथ सम्पन्न हुआ था। इस रथोत्सवके सम्बन्धमें राजवैद्य शीतलप्रसादजीने एक लावनी भी बनाई थी जिसकी एक जीर्ण-शीर्ण मुद्रित प्रति आपके ज्येष्ठ पुत्र वैद्यराजश्री महावीर प्रसादजीकी कृपासे मेरे देखनेमें आई है।

तपस्वी जीवन और अन्य घटनाएँ

आपका तपस्वी जीवन बड़ा ही सुन्दर रहा है। आप केवल इच्छाओंके ही निरोधक नहीं थे किंतु इन्द्रियोंका दमन भी करते। पर उन्हें बाह्य किसी भी पदार्थसे विशेष राग नहीं था। आपके इस महत्वपूर्ण जीवनमें आत्म-श्रद्धाकी दृढ़ता उत्तरोत्तर वृद्धि पाती गई और उधर कठोर तपश्चर्यासे चित्त-शुद्धि भी होती गई। इसीसे उनके जीवनमें जो घटनाएँ घटित हुई, उनमें कितनी ही घटनाएँ बड़ी ही महत्वपूर्ण और दूसरोंको आश्चर्य जनक प्रतीत होती हैं, परन्तु उनकी दृष्टिमें वे साधारण रही हैं। यदि उनकी उपलब्ध या सुनी जानेवाली सभी घटनाओंका उल्लेख करते हुए उन पर विचार किया जाय तो एक बड़ा ग्रन्थ हो जायगा। परन्तु इस छोटेसे लेखमें उनकी कुछ मार्मिक घटनाओंका ही उल्लेख करनेका यत्न किया जायगा, जिनका उनके व्यक्तित्वके साथ खास सम्बन्ध रहा है। आपका तपस्वी जीवन बड़ा ही निस्पृह और उदार रहा है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि, जब वे ध्यानस्थ खड़े होते थे तब चित्र लिखितसे होजाते थे, उनकी दृष्टि निष्कंप और निर्मल रहती था। वे कड़ीसे कड़ी धूपमें और सर्दीमें घण्टों आत्म-चिंतन करनेमें लीन रहते थे। ध्यान-मुद्राके समय वे कभी किसीसे बोलते न थे किन्तु मौनपूर्वक ही स्वरूप चिन्तन किया करते थे। शारीरिक-वेदनाको वे प्रसन्नताके साथ सहते थे पर उससे चित्तमें मलिनता या खिन्नताको कोई प्रश्रय नहीं देते थे। यद्यपि वें उत्तम श्रावकके व्रत पालते थे, तथापि निर्मोही होनेके कारण उनकी भावना भावमुनिसे कम न थी। बाह्य-शुद्धिकी ओर भी उनका विशेष ध्यान रहता था; क्योंकि बाह्य-अशुचिता अन्तरके परिणामोंको मलिन बनानेमें साधक होती हैं। अत: वे अन्तर और बाह्य पवित्रताका खास ध्यान रखते थे। वे जिस किसी व्यक्तिके यहां आहार विधिपूर्वक लेते थे, वे उससे कोई खास नियम तो नहीं करवाते थे किन्तु हिंसासे बचनेके साथ साथ उसकी उंगलियों के नाखूनोंको जरूर घिसवाते थे, जिससे नाखूनोंमें मलका सम्पर्क न रह सके। उनके आहारमें जिस भैंसका दूध उपयोगमें लिया जाता था उसे अपने सामने नहला धुलवाकर साफ करवाते थे और स्नानकर स्वच्छ वस्त्र पहनकर दूध निकाला जाता था। पर बच्चेके लिये दो थन छोड़ दिये जाते थे। जहां वे अपनी आवश्यक क्रियाओंमें सावधान रहते

थे, वहां उपवास आदि में भी सुदृढ़ रहते थे। समय पर सामायिक करना और समागत विघ्न-बाधाओंको निर्भयताके साथ सहना। वे कहा करते थे कि जो प्रतिज्ञा या नियम जिस रूपमें कर लिया हो उसे सिंह-वृत्तिके साथ पालना चाहिये और सुख-दुःखमें समभाव रखना चाहिये। सामायिकके समय वे इतने आत्म-विभोर होजाते थे तथा शरीरसे निष्पृह और हलन-चलन क्रियासे शून्य ठूंठके समान निश्चल एवं मूर्तिके समान सुस्थिर हो जाते थे कि दूसरा कोई भी व्यक्ति उनकी वृत्तिका पता नहीं चला सकता था, वह तो दूरसे ही बाबाजीको देखकर गद्‌गद होकर भक्तिसे उन्हें प्रणाम करके चला जाता था। तपश्चर्याके साथ आत्मश्रद्धा, तेजस्विता, और यथार्थवादिता उनकी वचनसिद्धिमें कारण थे।

श्रीसम्मेदशिखरकी स-संघ तीर्थयात्रा

संवत् १९५६में बाबा लालमनदासजी हापुड़ और दिल्लीके जैनियोंके साथ श्रीसम्मेद-शिखरकी यात्रार्थ गए थे। यात्रियोंमें ला० रामचन्द्रजी और मुन्शीलालजी आदि प्रमुख थे। वहां पहुँच कर बाबाजी मधुवनके जंगलमें एक शिला पर सामायिकके लिये पर्यकासन से बैठ गए। दैवयोगसे वहाँ एक सर्प आया और उसने बाबाजीके पैरमें काट लिया, तब बाबाजीने यह प्रतिज्ञा की, कि जब तक वह सर्प स्वयं आकर अपना विष नहीं चूस लेता, तब तक मैं इसी शिला पर ध्याना-वस्थित रहूंगा मेरे तब तक आहार आदि का सर्वथा त्याग है। भगवन् ! क्या मैं तीर्थयात्रासे वंचित रहूंगा जिसके लिये इतनी दूरसे श्रीपार्श्व-प्रभु की वन्दनाके लिये आया हूँ। नहीं, मैं जरूर यात्रा करके सानन्द वापिस जाऊँगा। बाबाजी प्रतिज्ञाको बड़ा महत्व देते थे और उसके पालनेमें वे जरा भी शिथिलता नहीं करते थे। उनमें अटूट साहस और धीरता थी। वे स्वरूपचिन्तनमें तल्लीन होगए, इस तरह उन्हें एक दिन व्यतीत हो गया। पर वे अपने ध्यानसे जरा भी विचलित नहीं हुए। जब उनके साथ वाले बाबाजीको ढूंढते हुए वहां गए, तब उन्हें, पासही जंगलमें एक शिलापर ध्यानस्थ बैठे पाया। सामने जाकर प्रणाम किया और वापिस चलनेके लिये कहा, परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। तब वे सज्जन धर्मशालामें वापिस आगए, और सब समाचार अपने साथियोंसे कहा। प्रातःकाल संघके कुछ और आदमी उनके साथ वहां गए जहां बाबाजी ध्यानस्थ बैठे थे। बोलने पर उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला, पर उन्हें उसी तरह ध्यानस्थ पाया, तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई, मालूम नहीं क्या कारण है ? दो दिन हो गए, पर बाबाजी ध्यानस्थ ही बैठे हैं। उन्होंने आहारादि कुछ नहीं किया। वे वापिस चले गए। तीसरे दिन उस सर्पने आकर स्वयं विष चूस लिया और तब वे अपना ध्यान पूरा करके धर्मशाला पहुँचे, और नित्यक्रियासे निबटकर श्री-गिरिराजकी सानन्द यात्रा की। यात्रासे लौटनेपर संघके सभी सज्जनोंने बाबाजीको प्रणामकर उन्हें घेर लिया, और लगे उनसे पूछने, तब बाबाजीने कहा कि पहले जिनमन्दिरमें दर्शन करलूं तब मैं आपको उन दिनोंकी बात बतला दूंगा, निश्चिन्त रहो। मंदिरजीसे आकर आहार होचुनेके बाद बाबाजीने स्वयं उस घटनाको बतलाया, और कहा-कि मेरी प्रतिज्ञानुसार उस सर्पने स्वयं आकर अपना विष चूस लिया था, तभी मैं निर्विष होकर आपके सामने उपस्थित हूँ। और मैंने सानन्द तीर्थयात्रा की है। अगले दिन सब लोग यात्रार्थ पहाड़पर पुनः गए। वापिस आनेपर ला० मुंशीलालजीकी मां बुखारसे पीडित होगई। बुखार इतना जोरसे था कि वे तन-मनकी सुध भूल गई। उनकी बीमारीसे संघके साथीजनभी व्याकुल हुए और सभी संघमें चिन्ताकी लहर दौड़गई। आखिर विवश होकर उन्होंने सब हाल बाबाजीसे निवेदन किया। तब बाबाजीने कहा कि चिन्ताकी कोई बात नहीं है। तुम इन्हें लेजाकर सीतानालेमें स्नान कराओ वे अच्छी हो जावेंगी। कुछ लोगोंकी रायमें यह बात नहीं जंची, कि उन्हें बुखारमें सीतानाले ले जाकर स्नान कैसे कराया जाय ? परन्तु फिरभी बाबाजीकी आज्ञासे उन्हें डोलीपर सीतानाले लेजाया गया, उसमें स्नान करते ही उनका बुखार दूर होगया। और उन्होंने कहाकि मैं पहाड़पर यात्रा करके ही धर्म-

शाला वापिस जाऊँगी। तब वे यात्रार्थ पहाड़पर पैदल गई, और वहांसे सानन्द वापिस आई।

सम्मेद शिखरजीके जिस संघका ऊपर उल्लेख किया गया था उसमें नानौता जिला सहारनपुरके ला० सुन्दरलालजी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रामीबाई भी थीं, जो मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके बाबा और दादी होती थीं। उन्होंने छह पैसेकी धान लेकर उसके चावल निकालकर आहार बनाया, और उसे भक्तिपूर्वक बाबाजीको प्रदान किया। उन्होंने जो चावल परोसे उसमेंसे बाबाजीने सिर्फ ५ या ७ दानेही गिनकर लिये और दो-ढाई सेर पानी पिया। आहार हो चुकनेपर उन्होंने कहाकि अन्य सबको भोजन कराइये। चुनांचे जो लोग मिले उन्हें भी भोजन कराया गया, किन्तु फिरभी वह भोजन अवशिष्ट रहा, उसी दिन ला० सुन्दरलालजीको गुर्दे का दर्द बड़ी तेजीसे उठ खड़ा हुआ, जिससे उपस्थित यात्रियों और घरवालोंमें बेचैनी दौड़ गई। बाबाजीने लोगोंकी बेचैनी देखकर पूछा कि क्या बात है? जो आप लोग सब परेशान हो रहे हैं। तब लोगोंने सारा हाल कह सुनाया कि ला० सुन्दरलालाजी को गुर्देका दर्द तीव्र वेदनाके साथ उठ गया है, इसीसे सब परेशान हो रहे हैं। बाबाजीने कहाकि बड़ी हरड़ मंगवाकर उसे ठण्डे पानीके साथ दे दीजिये दर्द जाता रहेगा, किन्तु लोगोंको दर्दमें ठण्डा पानी देना अनुचित प्रतीत हुआ, फिरभी बाबाजीकी आज्ञानुसार हरड़ पानीके साथ देदी गई, उससे सब दर्द शान्त हो गया और फिर वह जीवनपर्यन्त उदित नहीं हुआ। इन सब बातोंसे लोगोंकी बाबाजीमें आस्था और भी दृढ़ होगई। अस्तु, वहांसे संघ सानन्द हापुड़ आया। तब बाबाजीको स्थानीय जनताने वहां ही रोक लिया। बाबाजीने वहां ही चातुर्मास किया और वहां मन्दिरजीके लिये प्ररणा की, परिणामस्वरूप मंदिरजीको तीन दुकानें प्राप्त हुई।

अन्य घटनाएँ

एक बार एक बड़े प्रतिष्ठित धनीका इकलौता पुत्र सहसा बीमार हो गया। यहां तक कि जीवन की आशा छोड़ कर उसे जमीन पर लिटा दिया गया। अनेक वैद्य व डाक्टर इकट्ठे हुए, पर उसकी बीमारी पर किसी का वश चलता दिखाई नहीं दिया और उन वैद्य-डाक्टरों में से उनका धीरे २ खिसकना भी शुरू हो गया। लड़के का बाप और मां बड़ी चिंता में निमग्न थे और यह सोच रहे थे कि क्या किया जाय इसी चिन्तासे व्यग्र हो लड़के का पिता बाबा लालमनदास जी के पास दौड़ा गया और रोया। लड़के की बीमारी और अपनी परेशानी की सब कथा कह सुनाई और प्रार्थना की, कि किसी तरह यह बच्चा अच्छा हो जाय। तब बाबाजीने उसे सान्त्वना देते हुए कहा, घबड़ाओ नहीं। आपने गलत कहा है, बच्चा अच्छी हालत में है और वह खिचड़ी मांग रहा है। तुम घर जाकर देखो तो सही, घबड़ाओ नहीं और वहां पहुँच कर वापिस आ जाना। लड़के का पिता घर जाकर देखता है तो लड़का बराबर बोल रहा है और खाने को खिचड़ी मांग रहा है। इस घटनासे वहांकी सारी जनतामें बाबाजीके प्रति जो श्रद्धा और आदर भाव बढ़ा, वह लेखनीका विषय नहीं। अब जनता अधिकाधिक संख्यामें उनके पास आती और उनसे धर्मका उपदेश सुन कर वापिस चली जाती।

दूसरी घटना मेरठ जिले के एक भनेरी ग्रामकी है, जो आलम या आलमपुर स्टेशनके पास है। बाबाजी ने ग्रामवासी जैनियोंसे वहां एक जिनमन्दिर बनवाने की प्रेरणा की, तब उनके निर्देशानुसार साधर्मी भाइयोंने जिन मन्दिर बनवाने का कार्य शुरू कर दिया। पर स्थानीय जाटोंने मन्दिर के कार्य के लिये अपने कुएँ से पानी लेना बन्द कर दिया। वहाँ दूसरा कोई कुआं नहीं था जिससे पानी लेकर मन्दिर का निर्माण कार्य किया जाता। जैनियों ने उन जाटोंसे बहुत कुछ अनुनय-विनय की, परन्तु उसका कोई फल न हुआ—वे टस से मस नहीं हुए, और उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि हम जैनमन्दिरके लिये पानी नहीं लेने देंगे, चाहे मन्दिर बने या न बने। तब जैनी लोग बड़े संकट में पड़ गए कि मन्दिरका निर्माण-कार्य कैसे सम्पन्न हो, फलतः निराश और अत्यन्त दुखी हो बाबाजी के पास

मेरठ आये और सारा हाल कह सुनाया। बाबाजी ने कहा कि चिन्ता की कोई बात नहीं है। उनके कुएँ के पास ही जो अपनी जमीन हो वहां से लेकर अपने मन्दिर तक एक नाली सी खुदवालो, पानी आ जायगा और मैं परसों वहाँ आ जाऊंगा। जैनियोंने ऐसा ही किया, चुनांचे ज्योंही बाबाजी वहाँ आए, उसी समय उस नाली में से जोरसे पानी वह निकला और जाटोंका कुआं खाली होने लगा। यह दशा देखकर वहाँ के जाट बाबाजीके चरणों में पड़ गए और क्षमा मांगी, तथा प्रार्थना की कि महाराज इसी कुयें से पानी लेकर मन्दिर बनाया जाय। इस तरह वह मन्दिर बन कर आज भी अपने इस इतिवृत्तको अंचलमें छुपाए हुए जैन साधु की निष्ठा और तपश्चर्या की महत्ताको प्रकट कर रहा है।

एक समय बाबाजी मेरठसे हस्तिनापुर जारहे थे। मार्गमें एक किसान अपने खेतमें ईख जला रहा था, बाबजीने उसे बुलाकर पूछा तुम क्या कर रहे हो। वह बोला महाराज! मैं ईख जला रहा हूं जिससे अगले वर्ष इस खेतमें ५० मन गुड़ पैदा होगा। बाबाजीने कहा, यदि तुम ईख जलाना छोड़ दो तो अगले वर्ष ६० मन गुड़ पैदा होगा। किसानने कहा कि महाराज! मैं आपकी बातको कैसे मानलूं कि ईख न जलाने पर मुझे अगले वर्ष ६० मन गुड़ मिल जायगा। तब बाबाजीने अपने साथीकी ओर इशारा करके किसानसे पूछा कि तुम इन्हें जानते हो, उसने कहा हाँ, महाराज, ये तो हमारे साहूकार हैं। बाबाजीने पुनः किसानसे कहा कि ईख न जलानेका नियम लो, तो अगले वर्ष तुम्हारे खेतमें ६० मन गुड़ पैदा होगा, और यदि किसी कारण वश साठ मन गुड़ पैदा न हो तो तुम्हारे नुकसानको ये अपनी ओरसे पूरा कर देंगे। इस बातको दोनोंने स्वीकार कर लिया। किसान बाबाजीको सिर झुका कर चल दिया और बाबाजी हस्तिनापुरको चले गये। अगले वर्ष उस किसानके खेतमें ६० मन गुड़ पैदा हुआ और उसने इसकी सूचना अपने साहूकारके पास पहुँचा दी। और वह भी बाबाजीका भक्त बन गया। परन्तु जिस व्यक्तिने अपनी प्रतिज्ञा भंगकी, या उसके पालनेमें प्रमाद किया अथवा अवहेलना की, या उसका ठीक तरहसे पालन नहीं किया, उसे अपनी भूल पर पछताना ही पड़ा, जिसके दो तीन उदाहरण भी यहाँ दिये जाते हैं।

एक बार बाबाजीके पास एक आदमी आया, और बोला महाराज! मेरा गुजारा नहीं चलता, मैं बड़ा दुःखी हूँ। बाबाजीने पूछा तुम क्या करते हो? उसने कहा कि मैं उबालकर सिंघाडा बेचता हूँ, बाबाजीने पूछा, कितने सिंघाडे उबालते हो? उसने कहा महाराज! चार टोकरे उबालकर बेचता हूं फिर भी मेरा गुजारा नहीं होता— रोजाना एक रुपया भी नहीं बचता, बाबाजीने कहा यदि १) रुपया रोजना तुम्हें बचने लगे तो फिर तुम्हारा गुजारा आनन्दसे होने लगेगा। उसने कहा हाँ महाराज मेरा गुजारा आनन्दसे हो जायगा। बाबाजीने कहा अच्छा भाई तुम कलसे चार टोकरे की वजाय एक टोकरा सिंघाड़ा उबाल कर बेचा करो, तुम्हें १) रुपया रोजाना बच जाया करेगा। निदान उसने वैसा ही किया तो उसे रोजाना एक रुपया शामको बच जाया करता था। इस तरह उसका कार्य आनन्दसे चलने लगा। एक दिन उसने सोचा कि कल मेलेका दिन है दो टोकरे सिंघाड़े उबाल लूं, यह विचारकर उसने वैसा ही किया। किन्तु शामको बेचकर हिसाब लगाया गया तब उसे मूलमें से भी आठ आने कम निकले। बादमें वह बहुत पछताया, परन्तु अब पछतानेसे क्या होता है। वह अपने लोभके कारण प्रतिज्ञासे गिर चुका था उसीका परिणाम उसे भोगना पड़ा।

एक दिन एक पुरुष जिसे कोई अन्दरूनी बीमारी हो रही थी बाबाजीके पास आया और बोला महाराज! यदि किसी तरह मर जाऊँ तो मेरा पिण्ड इस बीमारीसे छूट जायगा, बड़ी वेदना है। सही नहीं जाती। बाबाजीने कहा कि यदि जीवन पर्यन्तके लिये तू परस्त्रीका त्याग कर दे तो अच्छा हो जायगा। उसने प्रतिज्ञा ले ली और वह कुछ दिनोंमें ही बिल्कुल अच्छा होगया। किन्तु उसने अपनी प्रतिज्ञाके विरुद्ध छह महिने बाद ही परस्त्री

सेवन किया, जिससे वह पुनः रुग्ण हो गया। अब-की बार उसके शरीरसे दुर्गन्ध और पीव आने लगी। वह पुनः बाबाजीके पास दौड़ा गया, और दीनवृत्तिसे प्रार्थना की, परन्तु बाबाजीने उससे स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि तेरा इलाज तेरे ही पास है, मैं कुछ नहीं कर सकता, तुम यहाँ से चले जाओ।

पहाड़ी धीरज पर ला० कुंवरसैनजी रहते थे, पहले वे सब तरहसे सम्पन्न थे, किन्तु कुछ वर्षोंके बाद असाताके उदयसे सम्पत्तिका अभाव होगया, तब वे आजीविकाके निर्वाहार्थ जुआरियोंके पास बैठने उठने लगे, उससे उन्हें जो थोड़ीसी आय हो जाती थी उसीसे वे अपना निर्वाह करते थे। वे भी बाबाजीके पास आया जाया करते थे, जब बाबाजी को यह ज्ञात हुआ कि वे जुआरियोंके पास उठते बैठते हैं, तब एक दिन बाबाजीने उनसे कहा कि तुम जुआरियोंके पास उठना बैठना छोड़ दो, तब उन्होंने अपनी सारी स्थिति बाबाजीसे बतलाई, और कहा कि ऐसेमें उसे कैसे छोडूँ। तब बाबाजीने कहा कि यह कार्य अपनी कुलमर्यादा और धर्मके विपरीत है इसे अवश्य छोड़ देना चाहिये। उन्होंने उसका नियम ले लिया, उनके नियम लेनेके बाद उनसे कहा कि तुम रोजाना लाल किलेके पास चिंटियोंको आटा डाल आया करो। चुनांचे वे प्रतिदिन चिटियोंको आटा डालनेके लिये लालकिले के पास जाया करते थे, उस समय उन्हें दो दिनका फाका भी करना पड़ा। किन्तु तीसरे दिन दरीबा-कलांमें काजी मुहम्मद हुसैनखां सब जजके सरिश्ते-दार ला० मन्नूलालजीके पास एक आदमी आया और उसने कहा कि आपके पास अमुक आदमीका एक मुकदमा है। और मैं ये सौ रुपया देता हूँ, उन्हें आप ला० कुंवरसैनजीको दे देना। ला० मुन्नालाल जी ने रुपया ले लिया। और जब आफिसमें आए तब मुकदमोंकी लिस्ट देखी और उसमें उस आदमी का नाम तलाश किया, किन्तु वह नहीं मिला। परन्तु जब कुंवरसैनजी मिले, तब उन्हें वह रुपया दे दिया गया। उन्होंने सौ रुपया लेकर उससे बूरा बेचनेकी दुकान खोली, उससे १५-२० वर्षोंमें उन्होंने अच्छा पैसा प्राप्त कर लिया, किन्तु उसके बाद वे अपनी प्रतिज्ञा भूल गए और पुनः वे जुआरियों-के पास बैठने लगे। निदान उसी समयसे उनकी सम्पत्ति भी कम होती गई, और अन्तमें वे उसी अवस्थामें पहुँच गए।

बड़ौतके पास किसी एक ग्राममें प्रतिष्ठा महोत्सव-का कार्य सम्पन्न हो रहा था। उसमें चार हजार जनतामें लड्डुओंके बांटनेके लिये व्यवस्था की गई थी, किन्तु दैवयोगसे जैन जनता दस हजारसे भी कुछ अधिक आगई थी। ऐसी स्थितिमें प्रबन्धकोंकी बड़ी चिन्ता हुई, और वे बहुत घबड़ा गए, तथा किंकर्तव्य विमूढ़से हो गए। इसी कारण वे सबके सब बाबा लालमनजीके पास दौड़े गए, और उन्हें नमस्कार कर निवेदन किया कि महाराज! जन-समूह कल्पनासे अधिक आगया है, अब निर्वाह कैसे होगा? इतना प्रबन्ध तो इतनी जल्दी होना संभव नहीं है। और यदि प्रबन्ध नहीं होता है तो लोक हँसाई और बदनामी होगी, एवं उससे जैन-धर्मको भी ठेस पहुँचनेकी संभावना है। इस कारण हम आपसे सादर निवेदन करते हैं कि महाराज! अब हमें केवल आपका ही सहारा है, आप ही हमारी नैयाको पार लगा सकते हैं। बाबाजीने कहा कि आप लोग चिन्ता मत करो। धर्मके प्रसादसे सब कार्य पूरा होगा। किन्तु जैसा मैं कहूँ उसके अनुसार ही प्रवृत्ति करते जाओ। उन्होंने एक कपड़ा मंगवाया और उस पर उन्होंने एक मंत्र लिख कर दिया और कहा कि यह कपड़ा जिस वर्तनमें लड्डू रक्खे हैं उस पर ढांक दीजिये और एक व्यक्ति नहा धोकर शुद्ध वस्त्र पहिन कर उसमें-से लड्डू निकाल कर देता रहे। चुनाँचे ऐसा ही किया गया। और दश हजारसे अधिक व्यक्तियोंको लड्डू बराबर बाँटे गए, परन्तु वे फिरभी बचे रहे। तब बाबाजीने कहा कि और जो कोई रहा हो उन सबको बांट दीजिये। इससे लोगोंको आश्चर्य हुआ और बाबाजीमें विशेष श्रद्धा हुई।

बाबाजीका निवास दिल्लीमें बहुत अर्से तक रहा। धर्मपुराके नये मन्दिरजीकी धर्मशाला तथा सेठके कूचेकी धर्मशालामें तो वे अन्तिम

समय तक भी रहे। और वहाँ रहते हुए तपश्चर्या का अनुष्ठान करते हुए अपना समय धर्म-ध्यानमें व्यतीत करते थे। वे कुछ समय पहाड़ी धीरज पर भी रहे हैं और नये मन्दिरजीसे भी पहाड़ी धीरज आते जाते रहे हैं। जब वे पहाड़ी धीरज पर जाते थे तब राजवैद्य शीतलप्रसादजीसे मन्दिरजी में शास्त्र जरूर सुनते थे। उनसे उन्हें कुछ अनुराग भी था। एक बार वैद्यजी बीमार हो गए, उससे काफी कमजोर हो गए। उनमें उठने बैठनेकी भी विशेष क्षमता न रही, दैवयोगसे उन्हीं दिनों बाबाजी पहाड़ी धीरज पहुँचे, और उन्होंने वैद्यजी को बुलवाया, तब उन्हें मालूम हुआ कि वैद्यजी सख्त बीमार हैं। उनसे उठा नहीं जाता और न चल फिर ही सकते हैं, इसलिये इस समय आनेसे मजबूर हैं। यह सुन कर बाबाजी उस दिन तो वैसे ही लौट आये; किन्तु अगले दिन पुनः पहाड़ी पर गए और वैद्यजीको बुलानेके लिये आदमी भेजा। आदमीने जाकर वैद्यजीसे कहा कि बाबाजी ने आपको अभी बुलाया है, उन्होंने कहा कि इस समय तबियत खराब है कैसे चलूं। तब उस आदमी-ने कहा कि बाबाजीने कहा है कि उन्हें किसी तरहसे यहाँ अवश्य ले आओ। चुनांचे वैद्यजीको डोलीसे ले गए। वैद्यजी मन्दिरजीके पास डोलीमेंसे उतरे और बाबाजीसे मिले। मिलते ही वैद्यजीकी तबियत स्वस्थ-जैसी जँचने लगी। वैद्यजीने बाबाजीको शास्त्र पढ़कर सुनाया। उसके बाद जब वे घर गए तब स्वस्थ होकर पैदल ही गए और उस दिनसे उनकी तबियत बिल्कुल ठीक हो गई।

इन थोड़ी सी घटनाओं परसे जहाँ बाबाजीकी तपश्चर्या, आत्म-साधना और जिन-धर्म पर उनकी निर्मल दृढ़ प्रगाढ़ श्रद्धाका भान होता है, वहाँ उनकी अन्तर निर्मल परिणतिका भी स्पष्ट आभास हो जाता है। उन्हें तपकी शक्तिसे वचनसिद्धि प्राप्त हो गई थी। इन्हीं सब कारणोंसे बाबाजी अल्पज्ञानी होते हुए भी एक साधक सन्तके समान थे। जब कभी कोई व्यक्ति उनसे प्रतिज्ञा न लेनेके लिए किसी वजहसे असमर्थ होकर निवेदन करता, तब बाबाजी उसे दबाते और धमका कर भी धर्म-भावनासे प्रेरित हो प्रतिज्ञा लेनेके लिये कहते। और यह भी कह देते थे कि भाई यदि तू प्रतिज्ञा नहीं लेगा तो मैं स्वयं आहार-पानीका त्याग किये देता हूँ। तब वह भयसे स्वयं प्रतिज्ञा ले लेता था। पर ऐसा कहने पर भी बाबाजीके हृदयमें कोई रोष नहीं होता था। किन्तु करुणा और परहितकी भावनाका प्रबल उद्रेक ही उसमें विशेष कारण था।

अन्तिम जीवन और समाधिमरण

इस तरह बाबाजीसे अपनी आत्म-साधनामें जो कुछ भी उनसे बन सकता था उसे सोत्साह करते रहे। अन्तिम समयमें दो दिन पूर्व उन्हें यह मालूम हो गया कि परसों अमुक समय पर तेरी देह छूटने वाली है, अतः उन्होंने पंडित संसारचन्द्र-जीको बुला कर उनसे कहा कि भाई परसों अमुक समय पर मेरी मृत्यु होगी। अतः मन्दिरोंके निर्माणका जो कार्य चल रहा है उस विषय में जो मेरी जानकारी है उसे नोट करलो जिससे मैं निःशल्य हो जाऊँ। चुनांचे पंडितजी ने ऐसा ही किया। और बाबाजी अपने में सविशेष रूपसे सावधान हो गए और आज से कोई ४० वर्ष पूर्व सं० १९ ३ में उन्होंने अपने शरीरका परित्याग कर देवलोक प्राप्त किया।

बाबाजीके सम्बन्धमें पाठकोंको जो कुछ नवीन घटनाएँ और जीवन-सम्बन्धी बातें ज्ञात हों, उन्हें लाला प्रकाशचन्द्र शीलचन्द्रजी जौहरी चाँदनी चौक देहलीके पते पर भेजनेकी कृपा करें।

महाकवि स्वयम्भू

और उसका

तुलसीदासकी रामायणपर प्रभाव

(परमानन्दजी जैन)

अपभ्रंश भाषा के कवियोंमें चउमुह और स्वयंभू का नाम खासतौरसे उल्लेखनीय है। यद्यपि चउमुहकी बहुमूल्य कृतियाँ सम्प्रति अनुपलब्ध हैं ; किन्तु उनका उल्लेख स्वयंभूने स्वयं किया है और इससे चतुर्मुख स्वयंभू से पूर्ववर्ती हैं यह स्वत: सिद्ध है।

स्वयंभूदेवका कुल ब्राह्मण था, परन्तु जैनधर्म पर उनकी आस्था हो जाने के कारण उनकी उस पर पूरी निष्ठा एवं भक्ति थी। इनके पिताका नाम कवि मारुतदेव और माताका नाम पद्मिनी था※। कविने स्वयं अपने छन्द ग्रन्थमें मारुतदेवके नामसे उद्धरण दिया है। इससे संभव है कि वे कविके पिता ही हों। कविकी तीन पत्नियाँ थीं, आदित्य देवी, जिसने अयोध्याकाण्ड लिपि किया था×। दूसरी सामिअब्बा, जिसने 'पउम चरिउ'की बीस संधि लिखवाई थी†, और तीसरी सुअब्बा, जिसके पवित्र गर्भसे त्रिभुवन स्वयंभू जैसा प्रतिभा सम्पन्न पुत्र उत्पन्न हुआ था। जो अपने पिताके समान ही विद्वान और कवि था‡। कविवरके सुपुत्र त्रिभुवनस्वयंभू को छोड़ कर अन्य पुत्रादिकोंका कोई पता नहीं चलता। कविवर शरीरसे दुबले पतले और उन्नत थे। उनकी नाक चपटी और दांत विरल थे१।

※ पउमिणि जणणि गब्भ संभूएं,
मारुतएव रूव अणुरायें । २१-२

× आइच्चुएवि-पडिमोवमायें आइच्चम्बिमाए १।
बीउ मउज्झा-कंडं सयंभू घरिणीय लेहवियं॥ संधि. ४२

† धुवरायवत इयलु अप्पणत्ति णत्तीसुयांणु पाढेण (?)।
णामेणसामिअब्बा सयंभू घरिणी महासत्ता, संधि २०
तीए लिहाविय मिणं वीसहिं आसासएहिं पडिबद्धं।
सिरि विज्जाहर-कंडं, कण्डं पिव कामएवस्स ॥ २०

‡ सव्वे वि सुआ पंजर सु अव्व पडिअक्खराइं सिक्खंति।
कइरा अस्स सुओ सुअव्व-सुइ-गब्भ संभूओ ॥

१ अइतणुएण पईहरगत्ते छिव्वर णासे पविरल दंतें ॥ २१-२

कवि स्वयंभू में नैसर्गिक काव्य प्रतिभा थी। यह उनकी काव्य रचनाओं के अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि स्वयंभूदेव प्रकृतिके विशिष्ट अभ्यासी थे। यही कारण है कि जहाँ उनकी काव्य-धारा में सरलता है वहाँ प्रकृतिके रमणीय वर्णनसे उसकी शोभा द्विगुणित हो गई है, और श्रोतागण रूपचातक जन उसकी मधुरिमाका पान करते हुए तृप्त नहीं होते। यद्यपि कविकी उपलब्ध कृतियाँ अद्यावधि अप्रकाशित हैं। उनकी पाँच कृतियों के बनाए जानेका उल्लेख मिलता है जिनमेंसे इस समय तीन ही उपलब्ध हैं। पउमचरिउ, हरिवंशपुराण और स्वयंभू छन्द। शेष दो कृतियाँ स्वयंभू व्याकरण और पंचमी चरिउ अभी तक अनुपलब्ध हैं। ये सभी कृतियाँ अपभ्रंश या देशी भाषामें रची गई हैं।

रामकथाकी महत्ता और लोकप्रियता

रामकी कथा कितनी लोकप्रिय है, इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं। भारतीय साहित्यमें ऐसा कोई साहित्य होगा, जिसमें रामकथाका कोई उल्लेख न किया गया हो। जैन, वैदिक और बौद्ध साहित्यमें रामकथा पर अनेक आख्यान पाये जाते हैं। यद्यपि जैन वैदिक रामायणोंको छोड़कर बौद्ध रामायण मेरे अवलोकनमें नहीं आई इस कारण यहाँ उसके सम्बन्धमें कुछ लिखना सम्भव नहीं है, तथापि बौद्धधर्मकी अपेक्षा जैनधर्ममें 'रामकथा' का खासा प्रचार रहा है। उसमें तद्विषयक साहित्यकी सृष्टि प्राकृत संस्कृत-अपभ्रंश और हिन्दी भाषामें की गई है। जिनके नाम पउमचरिउ, बलभद्रचरित, रामचरित, सीताचरित, पद्मचरित, पद्मपुराण और रामपुराण आदि हैं। यद्यपि जैन रामायणमें भी मान्यताभेद तथा पात्रोंके चरितमें कुछ मतभेद पाया जाता है परन्तु उससे मूल कथामें कोई अन्तर नहीं पड़ता। जैन समाजमें रामकी कथाका जितना समादर है उतना समादर पूर्वकालमें अन्य धर्मोंमें भी नहीं था, और इसका कारण रामका पावन जीवन-परिचय ही है। हिन्दू समाजमें रामकथाका जो भारी प्रभाव इस समय देखा जाता

है वह सब तुलसीदासजीके बादसे हुआ है, उस समय सहस्रों हिन्दू परिवार रामकी कथासे प्रायः अपरिचित ही थे। रामको देवता माननेकी कल्पना भी नूतन तो नहीं है, किन्तु पुरातन है। कितनी पुरानी है यह अभी विचारणीय है। जैनकथा-ग्रन्थोंमें रामकी महत्ताका सुन्दर चित्र अंकित किया गया है, यही कारण है कि मानवका चित्त उसे पढ़ते ही रामके गुणोंकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता; क्योंकि रामके जीवनकी महत्ता, और लोकप्रियता उनकी ओर आकृष्ट होनेका हेतु है। वे मानवताकी साक्षात् मूर्ति थे, उनकी सौम्य मुद्रा हृदयहारिणी थी। दूसरे सीताके आदर्श सतीत्वकी अग्नि-परीक्षा ही उसके जीवनका सबसे बड़ा मापदण्ड है, जो उसकी कीर्तिको आज तक भी अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। सीता केवल सती ही नहीं थी किन्तु विदुषी और विवेकशीला भी थी। रामचन्द्रके द्वारा लोकापवादके भयसे कृतान्तवक्र सेनापति द्वारा भीषण जंगलमें छुड़वाए जाने पर भी सीताने रामचन्द्र पर कोई कोप नहीं किया और न किसी प्रकारका दुर्भाव ही व्यक्त किया। किन्तु सेनापतिसे यह कहा कि रामचन्द्रसे कह देना कि जिस लोकापवादके भयसे आपने मेरा परित्याग किया उसी तरह लोकापवादके भयसे अपने धर्मका परित्याग न कर देना, सीताके यह वाक्य उसके विवेक और अमित धीरताके सूचक हैं, जो विपत्तिमें भी विषाद नहीं करते, वे ही जगमें सन्त कहे जाते हैं, वे ही महान् और समादरणीय होते हैं। वास्तवमें राम और सीताका चरित जीवनकी आदर्शताका उज्ज्वल नमूना है। हाँ, तुलसीदासजीने भक्तिवश रामके गुणोंका कीर्तन अतिशयोक्तिको लिये हुए किया है। यद्यपि वैदिक रामकथा और जैनकथाओंमें काफी मतभेद है, क्योंकि उनमें कितनी मान्यताएँ साम्प्रदायिक दृष्टिकोणको लिये हुए हैं।

पउमचरिउ

स्वयंभूकी रामकथा (पउमचरिउ) या रामायण बहुत ही सुन्दर कृति है। इसमें ९० सन्धियाँ हैं जिनमें स्वयंभूदेवकी ८३ सन्धियाँ हैं। शेष सन्धियाँ उनके पुत्र त्रिभुवन-स्वयंभू की हैं। वह ग्रन्थ उतनेमें ही पूरा होजाता है परन्तु शेष सात सन्धियाँ उनके सुपुत्र त्रिभुवन स्वयंभू द्वारा रची गई हैं जिनमें कुछ नवीन विषयोंकी चर्चा की गई है। ग्रन्थकर्ताने अपनी उस रामकथामें उन सभी विषयोंकी चर्चा की है जिनका कथन एक महाकाव्यमें आवश्यक होता है। इस दृष्टिसे यदि पउमचरिउको महाकाव्य कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। ग्रन्थमें कोई दुरुहता नहीं है वह सरस और काव्य-सौंदर्यकी अनुपम छटाको लिये हुए है। कर्ण प्रिय और मनोहर है पढ़ते हुए उससे पाठकका जी नहीं ऊबता; किन्तु उसकी उत्कंठाको और भी अधिक बलवती बना देता है।

ग्रन्थमें नारीके सौंदर्यका ही सुन्दर वर्णन नहीं है किन्तु विभिन्न देशोंकी नारियोंके वेष-भूषा रहन सहन और अलंकारोंकी चर्चा भी की गई है, पर उनमें राष्ट्रकूट नारीका चित्रण बड़ाही सजीव है और उससे ऐसा ज्ञात होता है कि संभवतः कविने अपना यह ग्रंथ राष्ट्रकूट राजाओं के राज्य-कालमें बनाया हो; क्योंकि उन्होंने स्त्रियोंके वेष-भूषा आदिका जो भी चित्रण किया है, वह सब मान्यखेट या उसके पासवर्ती इलाकों, नगरों और समीपवर्ती देशोंमें जहाँ उनकी पहुंच आसानी से हो सकती थी और वे उसे नजदीक से देखनेमें समर्थ हो सके थे। यही कारण है कि वे उसे इतने अच्छे रूपमें दर्शानेमें अथवा अंकित करनेमें सफल हो सके हैं। अयोध्याके रणवासका चित्रण कविने दिया है उसपर भी उसका गाढ़ा रंग चढ़ा हुआ प्रतीत होता है। इससे राहुलजीके शब्दोंमें इस प्रकार कहा जा सकता है कि "राष्ट्रकूट राजाओंके राज्यकालमें कविको नारियोंके वेष-भूषा रहन-सहन आदिको नजदीकसे देखनेका सुअवसर मिला है।" इसीसे ग्रन्थ में उनका सांगोपांग कथन दिया हुआ है। कविकी कथन-शैली बड़ी ही मनोमोहक है। उसमें ऋतुओंका वर्णन तो नैसर्गिक है ही, किन्तु और भी कितना प्राकृतिक सौन्दर्यका विवेचन यत्र तत्र मिलता है। वनोंका वर्णन भी प्राकृतिक और सरस ज्ञात होता है। उदाहरणके लिये यहाँ वसन्त ऋतुका वर्णन करने वाली कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं:—

कुब्वर-णयरु पराइय जावेंहि,
फग्गुण-मासु पवोलिउ तावेंहि ।१
पइटठु वसन्त-राउ आणन्दें,
कोइल-कलयल-मङ्गल-सद्दें ।२
अलि-मिहुणेहि वन्दिणेहिं पठन्तेहिं,
वरहिण-वावणेहिं णच्चन्तेहिं ।३
अन्दोला-सम-तोरण-वारेहिं,
ढुक्कु वसन्तु अणेय-पयारेहिं ।४

कत्थइ चूय वणाइँ विपल्लवियइँ,
णव-किसलय-फल-फुल्लब्भहियइँ ।५
कत्थइ गिरि-सिहरइँ विच्छयइँ,
खल-मुहइँ व मसि-वण्णइँ णावइँ ।
कत्थइ माहव-मासहो मेइणि.
पिय-विरहेण व सूसइ कामिणि ।
कत्थइ गिज्जइ वज्जइ मन्दुल,
णर-मिहुणेहिं पणच्चिउ गोन्दलु ।८
तं तहो णयरहो उत्तर-पासेंहिं,
जण-मणहरु जोयण-उद्देसेहि ।।६
दिट्ठु वसना तिलउ उज्जाणउ ।
सज्जण-हियउ जेम अ-पमाणउ ॥१०

इसी तरह पावस और ग्रीष्म आदि ऋतुओंका भी कथन सहज रूपमें किया गया है जिसे पढ़ कर चित्त प्रसन्न होजाता है। यद्यपि कविने अपनी लघुता व्यक्त करते हुए अपनेको, व्याकरण, काव्य, छन्द और अलंकार आदिके परिज्ञानसे रहित बतलाया है। परन्तु जब हम ग्रन्थको भाषाको देखते और मनन करते हैं तब हमें कविवरके पद्य बड़े ही कर्ण प्रिय और शब्द नपे-तुले तथा कथनमें हर जगह नवीनताको पाते हैं। इससे कविकी महानता का सहज ही पता चल जाता है। माननीय लेखक राहुलसांकृत्यायनजीने स्वयंभूको सबसे बड़ा कवि बतलाया है, और उसे प्रकृतिका सबसे गहरा अध्येता भी प्रकट किया है। जैसाकि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"स्वयंभूने प्रकृतिका बहुत गहरा अध्ययन किया है। वह हमारे दिये हुए उद्धरणोंसे मालूम होगा। वे समुद्र और कितने ही अन्य स्थलों एवं प्राकृतिक दृश्योंका वर्णन करनेमें अद्वितीय हैं। और सामन्त समाजके वर्णनमें उसकी किसीसे तुलना नहीं की जासकती। किसी एक सुन्दरीके सौन्दर्यको जितना अच्छी तरह उसने चित्रित किया है, वह तो किया ही है, लेकिन सुन्दरियोंके सामूहिक सौन्दर्यका वर्णन करनेमें उसने कमाल कर दिया है। चित्रकारकी भाँति कविके सामने भी कोई साकार नमूना रहना चाहिये। स्वयंभूने राष्ट्र कूटोंके रनिवास और उनके आमोद-प्रमोदको नजदीकसे देखा था। वहां परदा बिल्कुल नहीं था, इसलिये और भी सुविधा थी। उसी सौन्दर्यको उसने रावण और अयोध्याके रनिवासोंके सौन्दर्यके रूपमें चित्रित किया है।

विलाप-चित्रणमें भी उसने बड़ी सफलता प्राप्त की है। रावणके मरने पर मन्दोदरी और विभीषणके विलाप सिर्फ पाठकके नेत्रोंको ही सिक्त नहीं करते, बल्कि उनका मन मन्दोदरी और विभीषण तथा रावणके गम्भीर और उदात्त भावोंकी दाद देता है।" हिन्दी काव्यधारा पृ० ५१

रामायण पर प्रभाव

इस सब कथन परसे स्वयंभूदेवकी रामायणकी महत्ताका पता सहज ही चल जाता है, वह कितनी लोकोपयोगी और बहुमूल्य कृति है। उनकी इस कृतिका हिन्दी भाषाके प्रसिद्ध कवि गोस्वामी तुलसीदासजी और उनकी कृति 'रामचरित मानस' पर अमित प्रभाव पड़ा है और उसका कविने बहुत ही आदरके साथ स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख भी किया है जो मानसके शब्दोंमें निम्न प्रकार है:—

जे प्राकृत कवि परम सयाने,
भाषों जिन हरि चरित बखाने।
भये जे अहहिं जे होहहिं आगे,
प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे ।।

इसमें बतलाया गया है कि प्राकृत (अपभ्रंश) के जो चतुर कवि हुए हैं, जिन्होंने रामदेवका चरित बनाया है, वे हुए हैं, और आगे होंगे, मैं (तुलसीदास) उन सबकी कपट रहित होकर वन्दना करता हूँ। यहाँ यह बात खास तौरसे नोट करने योग्य है कि प्राकृतमें हरिका चरित सिर्फ जैन कवियोंने ही बनाये हैं। पूर्वकालसे अब तक अपभ्रंश रचनाओंकी प्राकृतमें ही गणना की जाती रही है, क्योंकि प्राकृतका बिगड़ा हुआ रूप ही अपभ्रंश है। इसीसे उसका उल्लेख ग्रन्थभंडारोंकी सूचियों आदिमें भी उल्लिखित है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है कि भारतीय साहित्यमें जैन कवियोंको छोड़कर रामकथाकी कोई अपभ्रंश रचना अब तक प्रकाशमें नहीं आई है। किन्तु जब मैं मानसको बारीकीसे अध्ययन करता हूँ तब मुझे यह स्पष्ट आभास होता है कि उस पर किसी अपभ्रंश रचनाका प्रभाव जरूर रहा है। रामचरित मानसमें रचनाका क्रम, उकार बहुल शब्दोंकी बहुलता भाव तथा अर्थविन्यास ये सब बातें और भी स्पष्ट कर रही हैं। यद्यपि उसकी कथावस्तु वैदिक धर्मानुसार ही बाल्मीकि रामायण आदिसे ली गई जान पड़ती है, किन्तु स्वयंभूदेवका 'पउम चरिउ' ही रामचरित मानसकी ऐसी रचनामें प्रेरक हुआ है। स्वयंभूने अपनी

[शेष टाइटल पृष्ट ३ पर]

अतिथिसंविभाग और दान

(श्री पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री)

[श्रावकके बारह व्रतोंमें 'अतिथि संविभाग' नामका बारहवाँ व्रत है और श्रावकके छह आवश्यकोंमें 'दान' यह छठा आवश्यक है। इन दोनोंमें क्या अन्तर है तथा इन दोनोंका प्रारम्भमें क्या रूप रहा और पीछे जाकर दोनोंका क्या रूप हो गया, यह बतलाना ही इस लेखका उद्देश्य है।

—सम्पादक]

भारतवर्षमें प्राचीन कालसे ही गृहस्थोंके भीतर दान देनेकी प्रथा रही है। इसके दो कारण रहे हैं—एक तो यह कि जिन लोगोंने आत्म-कल्याण करनेकी भावनासे गृह-जंजालका परित्याग कर दिया और जो अहर्निश आत्म-साधनामें निरत रहने लगे, उनकी साधनामें सहायक होना गृहस्थोंने अपना अति आवश्यक कर्त्तव्य समझा और इस प्रकार घर-बार छोड़कर साधु-जीवन बिताने वालोंके भोजन-पानादिका उत्तरदायित्व उन्होंने अंगीकार किया। प्रकारान्तरसे अपनेको घर-बार छोड़नेमें असमर्थ पाकर एवं गृह-त्यागी पुरुषोंके धर्म-साधनमें कारित और अनुमोदनासे सहायक बनकर साधु बननेकी अपनी भावनाको उन्होंने कायम रखा। दूसरा कारण यह रहा है कि गृहस्थके न्यायपूर्वक आजीविका करते हुए भी चक्की चलाने, धान्यादि कूटने, पानी भरने, झाड़ू-बुहारी देने और भोजनादि बनानेमें अगणित जीवोंकी हिंसा होनेसे महान् पापका संचय होता रहता है। उस पापकी निवृत्तिके लिए भी गृहस्थने प्रतिदिन दान देना अपना कर्त्तव्य माना। इस प्रकार दान देनेकी भावनामें हमें स्पष्टरूपसे उक्त दो कारण ज्ञात होते हैं।

जैनाचार्योंने प्रथम कारणको ध्यानमें रखकर उसे 'अतिथिसंविभाग' नाम दिया और उसे श्रावकका बारहवाँ व्रत बतलाया। दूसरे कारणको लक्ष्यमें रख उसे 'दान' कहा, और उसे श्रावकके छह आवश्यकोंमें परिगणित किया। अतिथिको देनेके लिए गृहस्थ अपने भोग्य पदार्थोंमेंसे जो समुचित विभाग करता है उसे अतिथिसंविभाग कहते हैं। शास्त्रोंमें 'अतिथि' शब्दकी निरुक्ति दो प्रकारसे की गई है। जो कि इस प्रकार हैं—

"संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः॥" (सर्वार्थसिद्धि, अ० ७, सू० २१)

संस्कृत साहित्यमें 'अत्' धातु निरन्तर गमन करनेके अर्थमें प्रयुक्त होती है। तदनुसार जो अपने संयमकी रक्षा करते हुए निरन्तर गमन करता है, अर्थात् घर बनाकर किसी एक स्थान पर नहीं रहता है उसे 'अतिथि' कहते हैं। अथवा जिसके अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व-तिथियोंका विचार नहीं है, अर्थात् सर्व पापोंका सर्वदाके लिए परित्याग कर देनेसे जिसके सभी तिथियां समान हैं, उसे 'अतिथि' कहते हैं। इन दोनों ही निरुक्तियोंके अनुसार 'अतिथि' शब्दका वाच्य गृह-त्यागी और संयम-धारक साधु-साध्वियोंसे रहा है। पीछे पीछे 'अतिथि' शब्दका उक्त यौगिक अर्थ गौण हो गया और वह वीतराग धर्मके धारण करनेवाले साधु-साध्वियोंके अतिरिक्त श्रावक और श्राविकाओंके लिए भी प्रयुक्त होने लगा। जैसा कि इस उल्लेखसे स्पष्ट है—

"अतिथयः वीतरागधर्मस्थाः साधवः साध्व्यः श्रावकाः श्राविकाश्च। (धर्मबिन्दु, वृ० १५१)

इसी प्रकार संविभाग पदका भी अर्थ प्रारम्भमें साधुजनोंको खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय रूप चार प्रकारके आहार देनेसे रहा है। जैसा कि निम्न प्रकारसे स्पष्ट है—

अशनं पेयं स्वाद्यं खाद्यमिति निगद्यते चतुर्भेदम्।
अशनमतिथेर्विधेयो निजशक्त्या संविभागोऽस्य॥

(अमितगति श्रावकाचार, ६, ६६)

श्रावकके छह आवश्यकोंमें दान नामक जो छठा आवश्यक बतलाया गया, उसके द्वारा गृहस्थको यह उपदेश दियागया कि वह साधुजनोंको प्रतिदिन आहार देनेके अतिरिक्त बीमारीकी अवस्थामें औषधिका भी दान करे। भयभीतोंको अभयदान दे और ज्ञानके इच्छुक जनोंको ज्ञानदान भी देवे। इस प्रकार गृहस्थके दान आवश्यकके अन्तर्गत आहारदान, औषधि-

दान, अभयदान और ज्ञानदानके रूपमें चार प्रकारके दान का विधान किया गया।

जैन शास्त्रोंमें दिये गये अतिथिसंविभाग और दानके क्रम-विकसित लक्षणोंपर दृष्टिपात करनेसे सहजमें ही यह ज्ञात हो जाता है कि अतिथि-संविभागका क्षेत्र जैन या वीतरागधर्मस्थ मनुष्यों तक ही सीमित रहा है, जब कि दानका क्षेत्र प्राणि-मात्र तक विस्तृत रहा है। लेकिन दोनोंके इस सामित और असीमित क्षेत्रके कारण कोई यह न समझ लेवे कि दान देना अधिक लाभप्रद होगा। फलकी दृष्टिसे तो दोनोंमें महान अन्तर है, अपात्रोंमें दिया गया भारी भी दान अल्प फलका देनेवाला होता है, जब कि पात्रमें दिया गया अल्प भी दान महान् फलका दाता होता है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे स्पष्ट है—

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥
(रत्नकरण्डक, श्लो० ११६)

अर्थात् जैसे उत्तम भूमिमें बोया गया बटका छोटासा भी बीज आगे जाकर विशाल छाया और मिष्ट फल दाता होता है, इसी प्रकार योग्य पात्रमें दिया गया थोड़ा सा भी दान समय आने पर महान् इष्ट फलको देता है।

किन्तु उक्त उल्लेखसे कोई यह न समझ लेवे कि जब ऐसा है, तब केवल अतिथि या योग्य पात्रको ही दान देना चाहिए, अन्यको नहीं। अतिथि-संविभाग-में धार्मिक भावकी प्रधानता है, जब कि सर्वसाधारण-को दान देनेमें कारुण्य भावकी प्रधानता है। इसी भावको तत्त्वार्थसूत्रकारने 'भूत-व्रत्यनुकम्पादान' पदसे ध्वनित किया है। दोनोंके फलोंमें एक दूसरा महत्त्व-पूर्ण अन्तर और भी है और यह अन्तर वही है जो कि धर्म और पुण्यके फलमें बतलाया गया है। धर्मका फल पारमार्थिक है, अर्थात् सांसारिक दुःखोंसे छुड़ा-कर आत्माके स्वभाविक सुखकी उपलब्धि कराना है, जब कि पुण्यका फल ऐहिक है, अर्थात् सांसारिक सुखोंका प्राप्त कराना है। इसे हम दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अतिथि-संविभाग त्याग-प्रधान होनेसे धर्मरूप है, जबकि दान प्रवृत्ति-प्रधान होनेसे पुण्यरूप है। गृहस्थके लिए दोनोंकी आवश्यकता है, इसी कारण आचार्योंने उक्त दोनोंका विधान किया है। अतिथिसंविभागका फल आत्मिक गुणोंका विकास करना है, जब कि आहार दानका फल धन-ऐश्वर्यकी प्राप्ति, औषधिदानका फल शरीरकी निरोगता, ज्ञानदानका फल ज्ञान-प्रतिष्ठा-सन्मानकी प्राप्ति और अभयदानका फल निर्भयता बतलाया गया है। इस प्रकार ऐहिक सुखदायक पुण्यकार्य होने पर भी दानकी अपेक्षा अतिथिसंविभागव्रतका महत्व कई गुणा अधिक हो जाता है, क्योंकि यह श्रावकका एक महत्वपूर्ण आवश्यक धर्म है।

श्रावकधर्मका प्रतिपादन करने वाले शास्त्रोंमें हम श्रावकाचारका क्रम विकसित रूपसे देखते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्त्तिकेय, उमास्वाति और समन्त-भद्रने श्रावकके बारह व्रतोंका ही विधान किया है; उनके ग्रन्थोंमें देवपूजादि छह आवश्यकोंका कहीं भी पृथक् निर्देश दृष्टिगोचर नहीं होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उनमेंसे कुछ एक आवश्यकोंका यथा-सम्भव बारह व्रतोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारके पश्चात् रचे गये श्रावकाचारों-में देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान नामक छह कर्त्तव्योंका प्रतिदिन करना जरूरी माना गया है और इसी कारण उन्हें आवश्यक संज्ञा दी गई है।

प्रारम्भमें श्रावकोंके छह आवश्यकोंका विधान न होने और पीछे उनका विधान किया जानेकी तहमें क्या रहस्य है, इस पर गंभीरतासे विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि काल-क्रमसे जब मनुष्योंमें श्रावकके बारह व्रतोंको धारण करनेकी शिथिलता या असमर्थता दृष्टिगोचर होने लगी और कुछ इने-गिने विशेष व्यक्ति ही उन बारह व्रतोंके धारक होने लगे, तब तात्कालिक आचार्योंने मनुष्योंके आचार-विचारको स्थिर बनाये रखनेके लिए देवपूजादि छह आवश्यक कर्त्तव्योंके प्रतिदिन करनेका विधान किया

और इस प्रकार उन्होंने गृहस्थोंके दिन पर दिन गिरते हुए आचारको बनाये रखनेका एक प्रशस्त प्रयास किया।

अन्तमें एक और भी बातकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि जहाँ अन्य आचार्योंने श्रावकका बारहवाँ व्रत 'अतिथिसंविभाग' और छठा आवश्यक 'दान' बतलाया, वहाँ समन्तभद्र स्वामीने उन दोनोंके स्थानपर 'वैयावृत्य' नामके व्रतका विधान किया है। इस व्रतका स्वरूप-निरूपण करते हुए उन्होंने 'अतिथिसंविभाग' और 'दान' का समावेश तो कर ही लिया है, साथ ही उसके सम्बन्धमें उन्होंने कुछ और भी आवश्यक बातें विस्तारके साथ वर्णन की हैं। वहाँ बतलाया गया है कि गृहस्थ गुणानुरागसे प्रेरित होकर संयमी जनोंके ऊपर आई हुई आपत्तियोंको दूर करे, रोगी और चर्यासे क्लान्त साधुओंकी पग-चम्पी करे, सेवा-टहल और सार-संभाल कर सर्व प्रकारसे उनकी वैयावृत्य करे। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'जिन-पूजन' को भी वैयावृत्यके ही अन्तर्गत करके श्रावकाचारोंमें सर्वप्रथम नित्य देव-पूजाका विशेषरूपसे विधान किया है। इस प्रकार श्रावकके इस बारहवें व्रतका 'वैयावृत्य' नाम देकर समन्तभद्राचार्यने इस व्रतको और भी व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

पौराणिक कथा

पश्चात्ताप

(पं० जयन्तीप्रसादजी शास्त्री)

आज कामलता उदास थी। रत्नोंके उस हारको देखकर अपनी हार मान रही थी, जीवन बेकार सा मालूम पड़ने लगा। हर समय हार पानेकी चिन्तामें सब कुछ भूल गयी थी। मानो, उस हारने अपनी चमकके साथ उसकी चमकको खींच लिया हो। फिर भी एक आशा थी, भरोसा था अपने प्रेमी पर। आंखोंमें इन्तजार था उसके आने का। बार बार उस पथको देखती थी, उठ उठ कर घूमती थी, पर चैन न था। लहरों की भाँति एक पर एक विकल्प आता और विलीन हो जाता था, पर अन्त न था।

अचानक ही पद-चाप सुनाई दिया, व्याकुल मन फिर अपने स्थान पर लौट आया, परन्तु उदासीनता और बढ़ गई। सब कुछ कहनेकी इच्छा रखते हुए भी कुछ न कह पाई, एक बार उसको देखकर फिर देखा भी नहीं और देखा भी तो अधिक देर न देख सकी। कहाँ बहुत सी बातें कहनेको सोच रही थी, सोचना अब भी जारी था पर कह न सकी। उसको उस समय देखकर ऐसा मालूम पड़ता था, मानो, सारी बातें हवाके रूपमें परिणित होकर ब्लैडरमें भर गई हों।

विद्युतके सामने सदा विकसित रहने वाला फूल आज मुरझा रहा था, उससे न रहा गया। बोला—प्रिये, उदास क्यों हो? मेरे रहते हुए इतनी उदासीनता, बोलो—क्या चाहती हो, अपनी प्राणप्यारीके लिये मैं क्या नहीं कर सकता ? बोलो—देरी न करो बोलो।

सुन्दरीके मनका भार कुछ हलका हुआ, सोचने लगी। नारी नरको जब जैसा चाहे वैसा बना सकती है। मानव कितना भोला प्राणी है ? नहीं, मैं इसको भोलापन नहीं, विषयान्धता कहूंगी। यह जानता हुआ भी कि मुझे पैसोंसे प्यार है मनुष्यसे नहीं, फिर भी मेरे लिये सब कुछ करनेको तैयार। इस प्रकारके विचार क्षणमें आए और चले गये। कुछ संभल कर भौंहें चढ़ाकर बोली—मेरे लिये सब कुछ कर सकते हो, इसमें कितना झूठ और कितना सच है ? मैं तो अब तक इसे बनावटी प्रेम ही समझती हूँ।

विद्युत ऐसा सुनकर पुतलेकी भांति खड़ा का खड़ा रह गया। यह सब उसे सपना दिखाई दिया जो आँख खोलनेके बाद कुछ भी नहीं रहता, फिर भी विचार करने लगा, शायद मेरी ओरसे कुछ गलती

हो गई होगी। कहने लगा—सुमुखि! मुझे क्षमा करो और जल्दी बताओ, उदास क्यों हो? अगर आपको कुछ संदेह है तो परीक्षण कर देखो।

सुन्दरीने उसके अन्तर्भावोंको फौरन ही पढ़ लिया, समझ लिया कि विषयान्ध नारीके इंगितों पर इस प्रकार नाचा करते हैं जैसे मदारीके इशारों पर बन्दर। बोली—परीक्षण, तो सुनो आज मैंने महारानीके गलेमें एक अति दैदीप्यमान रत्नोंका हार देखा है, उसे जैसे बने वैसे लाओ। हारके बिना मेरा जीवन और यौवन सभी सूना है। कितनी ही बार तुम चोरी करनेमें अपनी बहादुरीकी डींग मारा करते थे, पर आज पता लग जायगा।

इसमें नारीकी ताड़ना थी और प्रेरणा थी उसकी इच्छा-पूर्ति करनेकी, विषयासक्त नारीके लिये क्या २ करनेको तैयार नहीं हो जाते। वह विषयान्ध विद्युच्चोर भी ताड़ना सहता हुआ उसी समय रातको चल पड़ा। विपयान्धता उसको उस ओर लिये जा रही थी, मैं पकड़ा जाऊँगा, मेरा क्या होगा, मानों इन बातोंकी कोई चिन्ता ही नहीं थी। चिन्ता थी केवल अपनी सुन्दरीको खुश करनेकी।

जैसे तैसे राजाके महलमें जाकर हार चुरानेमें सफल हो गया। खुशीका ठिकाना न रहा, अब उसे जल्दी से जल्दी अपनी प्यारीके पास पहुँचनेकी धुन थी। उसकी धुनने उसके विवेकको खो दिया था। वह उस हारको भली भांति न छिपा सका, उस हारका दिव्यतेज उस अंधियारी रातमें चमक गया। चमकको देखकर सिपाही पहरेदार चिल्लाते हुए दौड़ पड़े। नगरमें शोर हो गया, चारों ओरसे चोर चोर शब्द गूंजने लगा। अब विद्युच्चोरका भाग निकलना बड़ा ही मुश्किल था, वह भागते भागते विचारने लगा अब मैं पकड़ा जाऊँगा, बच निकलना बहुत मुश्किल है, क्या करूं? इसी विचारमें भागते हुए विद्युत्‌को एक आदमी श्मशान भूमिमें ध्यान लगाये हुए दिखाई दिया, उसे देखते ही सूझ आई कि इस हारको उसके पास रखदूं, पीछे दौड़ती हुई जनता इसे पकड़ लेगी और मैं छिपकर बच जाऊंगा।

उसने ऐसा ही किया, ध्यानमुद्रामें लीन उस आदमीके सामने हारको रखकर भाग गया। मनुष्य अपना बचाव चाहता है, भले ही दूसरे जानसे मर जांय। सिपाहियोंने आकर उस आदमीको पकड़ लिया, हार सामने पड़ा हुआ था, प्रत्यक्षको प्रमाणको क्या आवश्यकता थी।

सिपाही पहिचान कर भौंचक्के रह गये, आश्चर्यका ठिकाना न रहा, दिलमें भय समा गया, किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गए, सारी परिस्थितियां उनके चित्तपट पर आ-आकर झूमने लगीं, सोचने लगे—राजकुमार वारिषेण! यह तो बड़ा साधु आदमी है, इसके सदाचारके गीत सारी जनता गाती और विश्वास करती है, बड़ा त्यागी और वैरागी है, फिर ऐसा क्यों? *क्या त्याग और वैराग्यका यह कोरा ढोंग है? क्या* दुनियाँको ठगनेके लिए ही त्याग और वैराग्य किया जाता है। धिक्कार है ऐसे त्याग और वैराग्यको।

सिपाहियोंकी हिम्मत काम नहीं कर रही थी, पकड़नेके लिए। इतनेमें एक सिपाहीने निर्भीक होकर कहा—जो चोरी करता है, वह चोर होता है, चाहे राजा ही क्यों न हो! अन्यायको पकड़ना हमारा कर्त्तव्य है, हमारे ऊपर सुरक्षाका भार है, ये राजपुत्र हैं तो हम इन्हें छोड़ थोड़े ही देंगे, पकड़ लो।

राजकुमार वारिषेणको पकड़ लिया गया। परन्तु राजकुमार यह सब देख रहे थे और अपने कर्मोंकी लीला पर मुस्करा रहे थे। कैसी विचित्रता है कर्मोंकी, किसी भी अवस्थामें नहीं छोड़ते। हर समय इस आत्माको नाच नचाते फिरते हैं। तब तक, जब तक आत्मा अपनेको नहीं समझ लेता, आगे देखूं क्या-क्या होता है।

राजाने सुना, चोरी राजकुमार वारिषेणने की है। धमाका हुआ, सिर चकरा गया, क्रोधके मारे आंखें लाल हो गईं, ओठ कप-कपाने लगे, हृदयकी धड़कन बढ़ गई, आँखोंसे क्रोधकी ज्वाला निकलने लगी, मानो, वारिषेणको भस्म ही कर देगी। गर्ज कर कहा—देखो इस पापीका नीच कर्म जो, श्मशानमें जाकर ध्यान करता है, लोगोंको यह बतला कर कि

मैं बड़ा धर्मात्मा हूँ ठगता है, धोका देता है। पापी कुल कलंक! देख लिया तेरे धर्मका ढोंग ? सच है, दुराचारी, लोगोंको धोखा देनेके लिए क्या क्या नहीं करते। जिसे मैं राज-सिंहासन पर बिठाना चाहता था, वह इतना दुराचारी। अय जल्लादो! इस पापीको ले जाओ, मार डालो, मैं न्यायका गला नहीं घोंट सकता।

जनता चित्र-लिखेकी तरह सब कुछ सुन रही थी, कोई आँसू बहा रहा था, और कह रहा था—इतना बड़ा अपराध तो नहीं था, जो प्राण-दण्ड दिया जाय। कोई कह रहा था—राजा बड़ा न्यायवान है जो अपने पुत्रको भी सजा देनेसे नहीं चूका। वास्तवमें राजा ऐसा ही होना चाहिये।

राजाज्ञा थी। जल्लाद वध्य-भूमिमें वारिषेणको ले गये। वह अब भी कर्मोंकी लीला और संसारकी इस दशापर मुस्करा रहा था, शान्त था, गम्भीर था, उस समय उसकी शान्तमुद्रा देखते ही बनती थी। जल्लादने तलवार उठाई। एक बार उसका भी हृदय काँप गया। अपार जन-समूह था मानों किसी नदीमें भयंकर बाढ़ आगई हो। जल्लादने तलवारका प्रहार किया। वारिषेण पहले जैसा ही मुस्करा रहा था। कई तलवारके वार किये गए पर राजकुमार वारिषेणकी गर्दन पर एक भी घाव नहीं हुआ। जनताका कौतूहल हर्षमें परिणित हो गया, हृदयका हर्ष गगनभेदी नारोंमें निकल पड़ा। वारिषेण निर्दोष है, वारिषेणकी जय हो, सत्यकी जय हो।

राजाने जब इस अलौकिक घटनाको सुना, सुनकर अपनी बुद्धि पर बारंबार पछताने लगा। मैंने बिना किसी जांचके प्राण दण्डकी आज्ञा देदी, यह राज-धर्म नहीं है, विवेक नहीं है, न्याय नहीं है, यह सरासर अन्याय है, मूर्खता है। चाहे बात सच हो या झूंठ, सारी बातोंकी छान-बीन करनेके बाद ही न्याय करना न्याय है अन्यथा अन्याय है। क्रोधमें आकर यकायक ऐसा करना महापाप है। काश! राजकुमार मर जाता तो जनता यही समझती वारिषेण चोर था, बहुत कुछ पश्चाताप करते हुए राजाका हृदय पुत्रस्नेहसे भर गया। ममताका सागर आँखोंसे निकलने लगा, श्मशान भूमिको पैदल ही दौड़ा गया। जाकर पुत्रको छातीसे लगा लिया, रोता रहा, इतना रोया जितना जीवनमें कभी नहीं रोया था। आज हृदयमें इतना पुत्रस्नेह था जितना पुत्र-जन्मके समय भी नहीं था। आज बिना विचारे दी गई राजाज्ञा जनताको प्रेरणा दे रही थी कि बिना विचारे कुछ मत करो।

पिता आज पुत्रसे क्षमा मांग रहा था, एक बड़े देशका अधिपति आज सत्यके आगे झुक रहा था, अपनी भूलको मान रहा था, पश्चातापसे हृदय शुद्ध कर रहा था, आँखोंके आँसू आज उसके इस पापको धो रहे थे। बोला—पुत्र, क्षमा करो।

वारिषेण अपने पूज्य पिताकी मोहके वश यह विचित्र दशा देखकर कहने लगा—पिताजी! यह आप क्या कहते हैं, आप अपराधी कैसे? आपने तो अपने कर्त्तव्यका पालन किया है। और कर्त्तव्यपालन कोई अपराध नहीं है। मान लीजिये आप पुत्रस्नेहमें आकर दंडकी आज्ञा न देते, तो जनता क्या समझती। आपने अपने पवित्र वंशकी लाज रक्खी है। इसमें क्षमाकी कोई आवश्यकता नहीं है। इससे तो आपको प्रसन्न होना चाहिए।

यह तो मेरे ही पापकर्मका उदय था, कि निरपराधी होते हुए भी अपराधी बना, फिर भी इसका मुझे तनिक भी दुख नहीं।

वारिषेणकी सत्यता और साधुताकी चर्चा घर घर होने लगी, लोगोंने वारिषेणके चित्रको दीवालों-कागजों पर ही नहीं रहने दिया बल्कि हृदय, हृदयमें अंकित कर लिया। लोग कहने लगे—यह मानवरूपमें देवता है। न जाने, किसने चोरी की थी और नाम पड़ी वारिषेणके। देखो उस नीचकी नीचता और वारिषेणकी साधुता।

इस प्रकार वारिषेणकी प्रशंसा सुन सुन कर विद्युच्चोर मन ही मन बड़ा पछता रहा था, हर समय सोचता था विचारता था अपनी नीचता पर। उस नीचता पर जिसने ये सारे कर्म कराये थे उसे अपना मुंह दिखानेमें भी संकोच हो रहा था, आज उसके

दिलमें उस वेश्या मगधसुन्दरीके प्रति घृणा थी तिरस्कार था, उसका नाम तक लेना पसन्द नहीं कर रहा था और अपनी बुद्धि पर बारंबार सोचता था, धिक्कारता था अपनी विषयासक्तिको। आज वह वारिषेणके दर्शन करके चरणोंमें गिर कर अपने पापों की क्षमा-याचना करना चाह रहा था, चाह रहा था उनके चरणोंमें पश्चातापके दो आँसू गिराना।

भागता भागता गया, चरणोंमें गिर पड़ा, वारिषेण केन और अपने निंद्यकर्मके लिए क्षमाकी भीख माँगने लगा। जनता तथा राजा, विद्युच्चोरको इस प्रकार क्षमा-याचना करते देखकर सब लोग दंग रह गये। आज उस विद्युच्चोरके प्रति जनतामें श्रद्धा हो गई प्रशंसा होने लगी, वह आदमी धन्य है जो अपने पापों पर पछताता है और पछताकर उनको छोड़ देता है। एकदम गिरा हुआ व्यक्ति भी निमित्त पाकर कितना अच्छा बन सकता है। अब वह विद्युच्चोर नहीं, सहस्रों लोगोंके हृदयोंमें श्रद्धा प्राप्त कर चुका था। उसने सब ओरसे मुंह मोड़ कर शान्त और स्वपर कल्याणकारी मार्गको अपनाया था।

इधर राजाने पुत्रसे कहा-घर चलो तुम्हारी माता तुम्हारे वियोगसे अति दुखी हो रही हैं।

उत्तरमें वारिषेणने कहा—पिताजी, अब मैं जान बूझकर अपनेको दुखमें फंसाना नहीं चाहता। मैंने संसारकी लीला देख ली। यहाँ मानव, स्वार्थमें अन्धा हो दूसरेके हिताहितको नहीं देखता, यहाँ मानवमें मायाचार है, एक दूसरेको हड़पनेकी कोशिश करता है; भाई भाई में झगड़े हैं। स्वार्थमय संसार सपना ही सपना है। हाथमें दीपक लेकर भी कुएमें कौन गिरना चाहेगा। आप मुझे क्षमा करें। अब मुझे वास्तवमें मेरे शत्रु जो क्रोध, मान, माया और लोभ हैं इन पर विजय करना है इनसे ही मेरी आत्माका कल्याण हो सकता है।

राजाने उनकी अटल प्रतिज्ञाको देखकर आगे कुछ नहीं कहा। वारिषेणने श्रीसूरदेव मुनिके पास जाकर दिगम्बरी दीक्षा लेली, अनेक देशोंमें प्राणि-मात्रका हितकारी उपदेश करते हुए विहार करने लगे।

एक बार पुष्पडाल नामक मंत्रि-पुत्रने उनको आहार दिया, उनके उपदेशसे प्रभावित होकर दीक्षा लेली, परन्तु वह अपनी इन्द्रियोंपर पूरा पूरा कंट्रोल न कर सके, वैरागको छोड़कर फिरसे सरागी होनेकी भावना पैदा होगई। स्त्रियोंके भोगोंकी याद आने लगी विचारने लगे—वह पद बड़ा कठिन है, इन्द्रियों पर नियंत्रण करना महान कठिन है। विचारोंमें मलिनता एवं आचारमें शिथिलता दिन पर दिन बढ़ने लगी।

एक दिन पद छोड़कर घरकी ओर चल पड़े, मुनि वारिषेण उनको इस प्रकार जाता देखकर कल्याणकी भावनासे उनको पुन: वैराग्यमें दृढ़ करनेके लिए साथ-साथ चल दिये।

मुनि वारिषेण उस पुष्पडालको साथ लेकर अपने राज-महलमें पहुँचे, माताने देखकर सोचा, क्या पुत्र वारिषेणसे उस दिगम्बरी दीक्षाका पालन नहीं हो सका। परीक्षण-हेतु कार्य किये, संतोष हुआ, नमस्कार किया और पूछा—हे मुनिराज! किस प्रकार आना हुआ?

मुनि वारिषेणने कहा—मेरी सभी स्त्रियोंको आभूषणोंसे सुसज्जित करके यहाँ भेज दीजिये। महारानीने वैसा ही किया। वे बड़ी रूपवती देव-कन्याओंके तुल्य थीं, आईं और मुनि वारिषेणको नमस्कार किया।

वारिषेणने अपने शिष्य पुष्पडालसे कहा—क्यों देखते हो, ये सब मेरी सम्पत्ति है, इतना बड़ा राज्य है, ये सब स्त्रियें हैं। अगर तुम्हें ये सब अच्छी मालूम देती हैं तो सभी राज्य सम्पदा ले लो और सम्हालो।

वारिषेण मुनिको आश्चर्यमें डालने वाले कार्यमें कितनी वास्तविकता तथा वैराग्यकी झलक थी। पुष्पडाल अपने विचारों पर पछताया और मुनिराज-के चरणोंमें गिर पड़ा, प्रायश्चित मांगने लगा। आज पुष्पडालकी आँखें खुल गईं, अंतरंगका दीपक जगमगा उठा। तूफान आये और चले गए।

पुराने साहित्यकी खोज

(जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

(गत किरणसे आगे)

६. प्राभृतसार

गत वर्षके भादों मासमें अजमेरके बड़ा धड़ा पंचायती मंदिरके शास्त्र-भण्डारकी छानबीन करते हुए 'प्राभृतसार' नामका भी एक अश्रुतपूर्व प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। यह ग्रंथ संस्कृत भाषामें निबद्ध गद्य रूपको लिये हुए है और एक गुटकेके प्रारम्भमें सवा तीन पत्रों पर अंकित ७० श्लोक जितने प्रमाणवाला है गुटका चैत्र सुदि १५ सम्वत् १५०६का लिखा हुआ है, टोंकमें लिखा गया और वह ब्रह्म आनन्दके लिए किसी शाहके द्वारा लिखाया गया है; जैसा कि पत्र ४३-११ पर दिये गये निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"सम्वत् १५०६ वर्षे चैत्र सुदि १५ टोंक स्थानात् । ब्रह्म आनन्द योग्यं पुस्तिका लिखापितं साह"

इस ग्रन्थके कर्ता रियनन्दि पंच-शिक्षिक देव हैं, जिन्हें 'मोह-तिमिर-मार्तण्ड' विशेषणके साथ उल्लेखित किया गया है; जैसा कि ग्रंथके अन्तमें दिये गए निम्न समाप्ति सूचक वाक्यसे प्रकट है—

"इति प्राभृतसार: समाप्त: । मोहतिमिरमार्तण्डरियनन्दि-पंचशिक्षिकदेवेनेदं कथितं"

ग्रंथकारका यह नाम भी अश्रुत-पूर्व है और साथमें लगे हुए विशेषण उसके महत्वको ख्यापित करते हैं। ग्रंथ और ग्रंथकार दोनोंके नाम अन्यत्र किसी सूचीमें भी अभी तक उपलब्ध नहीं हुए और इसलिये प्रस्तुत ग्रंथकी खोज खास महत्व रखत है।

इस ग्रंथमें गुणों, पर्यायों तथा नयोंका कुछ विशेष रूपसे वर्णन है और अनेक स्थानोंपर कथित विषयको पुष्ट करनेके लिए संस्कृतादिके प्राचीन पद्य भी उद्धृत किये गये हैं। जिसमें एक दोहा 'कारण-विरहिउ सुद्ध जिउ'नामका परमात्मप्रकाशका भी है। परमात्मप्रकाश के कर्ता योगीन्दुदेवका समय डा० ए०एन० उपाध्यायने ईसाकी छठी शताब्दी निर्णय किया है। उसके अनुसार यह ग्रन्थ ईसाकी छठी शताब्दीके बादका मालूम होता है।

संस्कृतके जो पद्य इसमें 'उक्तंच' रूपमें उद्धृत हैं वे अभी तक किसी दूसरे ग्रंथमें अपनेको उपलब्ध नहीं हुए। और इससे भी यह ग्रंथ काफी प्राचीन मालूम होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अनेक नय-दृष्टियोंको लेकर प्राय: सात प्रकार के मोक्ष-मार्गका निरूपण किया है। यह ग्रंथ शीघ्र ही अनुवादादिके साथ प्रकाशमें आनेके योग्य है।

ग्रन्थकी स्थिति बहुत ही जीर्ण-शीर्ण है। जिस गुटकेके प्रारम्भमें वह पाया जाता है उसके पत्र अलग-अलग हो गये जान पड़ते हैं और उनकी मरम्मत बड़े परिश्रमके साथ की गई है और उन्हें जोड़कर रक्खा गया है। कितने ही पत्र टूट-टाट कर अलग हो गये जान पड़ते हैं। गुटकेके पत्रोंपर जो अंक पूर्वमें दिये हुए हैं वे अनेक स्थानों पर पत्रोंके टूट जानेसे विलुप्त अथवा कुछ खंडित होगए हैं, जीर्णोद्धार करनेवालेने बड़े परिश्रमसे विषय-क्रमको लेकर उपलब्ध पत्रोंपर नए क्रमसे नम्बर डाले हैं और अनेक स्थानोंपर पुराने नम्बर भी ज्योंके त्यों अथवा खंडित अवस्थामें अंकित हैं। एक पत्र पर, जिसका मूल-पत्रांक नष्ट हो गया है, क्रमिक नम्बर १२ पड़ा है, उसके अन्तमें 'आलापपद्धति नयचक्र' नामक ग्रंथकी समाप्ति-सूचिका सन्धि है और उसके आगे १३वें पत्रमें अपभ्रंश भाषाके 'अप्प-संबोह-कव्वो' नामक ग्रंथके

तृतीय परिच्छेदके अन्तिम वाक्योंको देते हुए जो परिच्छेदका अन्तिम भाग दिया है, वह इस प्रकार है:—

घत्ता ॥ "सम्मत्तबलेण गाणु लहेवि चरेवि चरणु ।
साहिज्जइ मोक्खु भव्वहि भव-दुह-मवहरणु ॥११॥
इय अप्पसबोहकव्वे सयलजणमण-सवण-सुहयरे अबला-
बालसुहबुज्झ पयडत्थे तइइग्रो संधि परिच्छेग्रो सम्मत्तो ॥"

इससे मालूम होता है कि इस पत्रके पूर्वमें 'अप्प-संबोह-कव्व, (आत्म-संबोध-काव्य) के प्रायः तीन परिच्छेद रहे हुए हैं, जिनकी संख्या आगेके पत्रों पर दिये हुए अंकोंका हिसाब लगानेसे ११ पत्र जितनी होती है। अपभ्रंश भाषाका यह काव्य रइधु कविका बनाया हुआ है और वह तीन परिच्छेदका ही लिये हुए है। इसीसे प्रस्तुत गुटकेमें आगे परमात्मप्रकाश-की टीकाको प्रारम्भ किया गया है।

केकड़ीकी जैनसमाजका स्तुत्य कार्य

गत आसोज वदी ५को केकड़ी जिला अजमेरकी जैन पंचायत (समाज)ने मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी तथा क्षुल्लक सिद्धिसागरजीकी प्रेरणाको पाकर साहित्य प्रचारकी दृष्टिसे एक बड़ा ही उपयोगी प्रस्ताव पास किया है जो अन्य सभी स्थानोंकी पंचायतों अथवा समाजोंके द्वारा अनुकरणीय है। ऐसा होनेपर साहित्य-प्रचारका बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न हो सकेगा, जिसकी आज अतीव आवश्यकता प्रतीत हो रही है। इस प्रस्तावके अनुसार विवाह-शादियोंके अवसरों पर मन्दिरोंमें चढ़ाई जानेवाली रकममेंसे २५ प्रतिशत साहित्यके प्रचारार्थ दिया जाना स्थिर हुआ है। आशा है दूसरे स्थानोंकी पंचायतें एवं समाज भी केकड़ीकी पंचायतके इस स्तुत्य कार्यका शीघ्र अनुकरण करेंगी, जिससे साहित्य-प्रकाशन और समयकी आवश्यकतानुसार नव-साहित्यके निर्माण-कार्यको अच्छा प्रोत्साहन मिले।

जयन्तीप्रसाद जैन

प्रस्ताव इस प्रकार है—

॥ श्रीः ॥

आज शुभ मिती आश्विन कृष्णा ५ सं० २०१३ सोमवारको सर्व दिगम्बर जैन समाज केकड़ीकी मीटिंग हुई, उसमें निम्न लिखित कार्यवाही श्रीक्षुल्लक सिद्धिसागरजी और पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार सरसावा निवासीके समक्ष सम्पन्न हुई है।

१ प्रस्तावः—जो विवाहमें सोलह आनेके अवसर पर वर पक्षकी तरफसे चढ़ावा होता है उसकी भविष्य में किस प्रकार व्यवस्था की जावे।

सर्व सम्मतिसे यह तय हुआ कि सोलाणेमें जो रकम वर पक्षकी तरफसे भेंट की जावेगी उसमेंसे रु० २१) चैत्यालयके (जो पहिलेसे कटते आ रहे हैं) काटकर बाकी रकम जो रहे उसके चार हिस्से किये जाकर दो हिस्सेकी रकम तो उस मंदिरजीमें ही (जिसमें कि सोलाणा किया गया है) रहने दी जावे और बाकी २ हिस्सेकी रकममेंसे एक हिस्सेकी रकम [illegible] न साहित्यिक कार्यमें लगानेको दी जावे [illegible] एक [illegible] रकम श्री दि०जैन संस्था केकड़ीको दी जावे। [illegible] तय हुआ है कि जहाँ तक हो सके सोलाणेमें [illegible] रकम ही चढ़ाई जानी चाहिए। उपकरणादि [illegible] तो मंदिरके हिस्सेकी रकम जितने चढ़ाये ज: [illegible]

नोटः—सोलाणेमें चढाये जानेवाली रकममेंसे कोई बाहर गाँवके मंदिरजीमें भेजना चाहे तो वह अधिकसे अधिक उसका दसवाँ हिस्सा भेज सकता है। बाकी रकमका बटवारा ऊपर लिखे मुताबिक होगा।

सकल दिगम्बर जैन समाज
केकड़ी

जो चरण कमल आयम पुराणु,
णाउत्तइं बहु साइम-समाणु ॥
आइरिय महा-गुण-गण-समिद्धु,
वच्छल्ल-महोवहि जय पसिद्धु ।
तहो वीरइंदु मुणि पंच मासु,
बूरुज्झिय-दुम्मइ, गुण-णिवासु ॥
सउजण्ण-महामाणिक्क-खाणि,
वय-सीलालंकिउ दिव्व-वाणि ।
सिरिचंदु णाम सोहण मुणीसु,
संजायउ पंडिय पढम सीसु ॥
तेणेउ अणेय छरिय-धामु,
दंसण-कह-रयण-करंडु णामु ।
किउ कव्वु विहिय-रयणोह-धामु,
ललियक्खरु सुयणु मणोहिरामु
जो पढइ पढावइ एयचित्तु,
संलिहइ लिहावइ जो णिरुत्तु ॥
आयण्णइ मण्णइ जो पसत्थु,
परिभावइ अह-णिसु एउ सत्थु ।
जिप्पइ ण कसायहिं इंदएहिं,
तोलिय इह सो पासंडिएहिं ॥
तहो दुक्किय कम्मु असेसु जाइ,
सो लहइ मोक्ख-सुक्खइं भवाइं ।
जिणणाह-चरण-जुय भत्तएण,
अमुणंते कव्वु करंतएण ॥
जं काइं वि लक्खण-छंद-हीणु,
जह मत्तइं तुत्तउ अह अहिय-हीणु ।

घत्ता—तं खमउ सव्वु जण णमिय,
सुय-देवय अरणाण मह ॥
जमि पुज्जणिज्ज सिरिचंदमई,
तह य भडारी विउसमह ।

एयारह तेवीसा वाससया विक्कमस्स महिवइणो ।
जइया गया हु तइया समाणिए सुंदरं रइयं ॥
कण्णणरिंदहो रज्जसुहि सिरि सिरिवालपुरम्मि बुह ।
चालुपुर मंह सिरियंदे एउ कउ संदउ कम्मु जयम्मि ॥
जयउ जिणवरु जयउ जिणुधम्मु वि
जयउ जइ जयउ साहु संतइ सुहंकर ।
पणवंत हो भव्वयण
कुणउ जयहो सा सुह परंपर ।
दाण पुज्ज दय-धम्म-रय सच्च सउच्च वि चित्त ।
भव्व जयंतु सया सुयण बहुगुण परहिय चित्त ॥
जयउ णरवइ णाम णयणेत्तु पयपालउ धम्मुरउ ।
सयणबंधु परिवारि सहियउ
णिण्णासिय विउणु जणु ।
जेण णियय णियकम्मि णिहियउ
पच्चयउ मेहणि सइं हवउ ।
वरिसउ देवसया वि किंत्ति धम्मु
णायाइं जयउ जसु खंडण ण कयावि ॥
जाम मेहणि जाम महणइउ
कुल-पव्वय जाम तहिं ।
जाम दीव गह रिक्ख-णह
पालइ आयम सयल ।
जाम सग्गु सुर णियरु सुरवइ
जाम रायणु चंदु-रवि ।
जं जिणधम्मु पसत्थु ताम जणउ
सुहुभव्वयणि जयउ एहु जइ सत्थु ।
जो सव्वणु तिलोयवइसिद्ध सहावें भंडु ।
ताम जणउ सुहु भव्वयणि दंसणकह रयणकरंडु ॥

इति श्री पंडिताचार्य-श्रीचन्द विरचिते रत्नकरण्डनाम शास्त्रं समाप्तम् ।

सुकमालचरिउ (सुकुमालचरित)

विबुध श्रीधर रचना सं० १२०८

आदिभाग :—

सिरि पंच गुरुहं पय पंकयइं पणविवि रंजिय समणहं ।
सुकमालसामि कुमरहो चरिउ आहासमि भव्वयणहँ ॥

× × ×

एक्कहिं दिणे भव्वयण-पियारए,
वलडइ णामे गामे मणहारए ।
सिरि गोविंदचंद णिव पालिए,
जणवइ सुहयारयकर लालिए ।
दुग्गणिय वारह जिणवर मंडिए,
पवणणुद्धयधवल धवलंछिए ।
जिणमंदिरे वक्खाणु करंते,

भव्वयणहं चिरु दुरिउ हरंते ।
कलवाणीए बुहेण अणिंदे,
पोमसेणु णामेण मुणिंदे ।
भासिउ संति अणेयइं सत्थइं,
जिण सासणे अवराइ पसत्थइं ।
पर सुकमालसामिणा भालहो,
करहु सुह विवरिय वरवालहो ।
चारु चरिउ महुँ पडिहासइ तह
गोवरु बुहयणमण हरणु वि जह ।
तं णिसुणे वि महियले विक्खाएं,
पयडसाहु पीथे तणु जाएं,
सलखणु जणणी गब्भुप्पण्णें,
पउमा भत्तारेण रवण्णें ।
सहरसेण कुमरेण पउत्तउ,
भो मुणिवर पइं पभणिउ जुत्तउ ।
तं महु अमाइ कियउ समासहि,
विवरेविणु माणसु उल्लासहि ।
ता मुणि भणइ वप्प जइ णिसुणहि,
पुव्व-जम्म-कय दुरियइं विहुणहि ।
घत्ता—अब्भत्थि वि णिरुसिरिहरु, सुकइ तच्चरित्तु विरयावहि ।
इह रत्ति वि किंसिणु तव तणउ सुहु परत्थे धुउ पावहि ॥२
ता अयणहि दिणि तेण छइल्लें,
जिणभणियागम सत्थ रसल्लें ।
कइ सिरिहरु विणएण पउत्तउ,
तुहु परियाणिय जुत्ताजुत्तउ ।
पुहुं बुहु हियय सोक्ख-वित्थारणु,
भवियण मण चिंतिय सुहकारणु ।
जइ सुकमालसामि कह अक्खहि,
विरएविणु महु पुरउ ण रक्खहि ।
ता महु मणहु सुक्खु जाइय लइ,
तं णिसुणेवि भासइ सिरिहरु कइ

× × ×

भो पुरवाड-वंस सिरिभूसण,
धरिय-विमल-सम्मत्त विहूसण ।
एक्कचित्तु हो एवि आयण्णहि,
अंपइ पुच्छिउ मा अवगण्णहि ।

इयसिरि सुकुमालसामि मणोहरचरिए सुंदरयर गुण-रयण णियरस भरिए विवुह सिरिसुकइ-सिरिहरविरइए साहु पीथे पुत्त कुमरणामंकिए अग्गिभूइ-वाउभूइ-सूरमित्त मेलावणयणं णाम पढमो परिच्छेओ समत्तो ॥१॥

अन्तिमभागः—

आसि पुरा परमेट्ठिहि भत्तउ,
चउविह चारु दाण अणुरत्तउ ।
सिरिपुरवाड-वसमंडण चंधउ,
णिय गुण णियराणंदिय बंधउ ।
गुरु भत्तिय परणमिय मुणीसर,
णामें साहु जग्गु वणीसर,
तहो गल्हा णामेण पियारी,
गेहिणि मण इच्छिय सुहयारी ।
पविमल सीलाहरण विहूसिय,
सुह सज्जण बुहयणह पसंसिय ।
ताहें तणुरुहु पीथे जायउ,
जण सुहयरु महियले विक्खायउ ।
अवरु महिंदे बुच्चइ बीयउ,
बुहयणु मणहरु तिक्कउ तइयउ ।
जल्हणु णामें भणिउ चउत्थउ,
पुणु वि सलक्खणु दाण-समत्थउ ।
छट्टउ सुउ संपुण्णु हुअउ जइ,
समुदपाल सत्तमउ भणउ तइ ।
अट्ठमु सुउ णयपालु समासिउ,
विणयाइय गुण गणहिं विहूसिउ ।
पढमहो पिय णामेण सलक्खण;
लक्खण-कलिय-सरीर-वियक्खण ।
ताहे कुमरु णामेण तणुरुहु,
जायउ मुह पह पहय सरोरुह ।
विणय-विहूसण भूसिउ कायउ,
मय-मिच्छत्त-माया-परिचत्तउ ।
घत्ता—णाणु अवरु बीयउ पवरु कुमरहो हुअ वर गेहिणि ।
पउमा भणिया सुअणहिं गणिय जिण-मय-पर बहुगेहिणि ॥
तहे पाल्हणु णामेण पहूयउ,
पढम पुत्तु णं मयण-सरूवउ ।
बीयउ साल्हणु जो जिणु पुज्जइ,
अणु रूवेण ण मणहरु पुज्जइ ।

तइयउ वले भवि वि जाणिज्जइ,
बंधव-सुयणहिं सम्माणिज्जइ।
तुरियउ जवउ सुपउ णामें,
णवइ णियसरु दरसिउ कामें।
एयहं णोसेसहं कम्मक्खउ,
जिणमयर महं होउ दुक्खक्खउ।
मज्झुविए जि कज्ज ण श्रयणें,
.......................।
चडविहु संघु महीयलि णंदउ,
जिणवर-पय-पंकय एवं दउ।
खहु जाउ पिसुणु खलु दुज्जणु,
दुट्ठ दुरासउ णिंदिय सज्जणु।
एउ सत्थु मुणिवरहं पढिज्जउ,
भत्तिए भवियणेहिं णिसु णिज्जउ।
जाम णहं गणि चंद-दिवायर,
कुलगिरि-मेरु-महीयल-सायर।
पीथे वंसु ताम अहिणंदउ,
सज्जण सुहि मणाइं श्रणिंदउ।
बारह सयइं गयइं कय हरिसइं,
श्रट्ठोत्तरं महीयले वरिसइं।
कसण पक्खे श्रगहणे जायए,
तिज्ज दिवसे ससिवार समायए।

घत्ता—बारह सयइं गयइं कयइं पद्धडिएहि र-वणणउ।
जण-मण-हरणु-सुहु-वित्थरणु एउ सत्थु संपुण्णउ ॥१२

इय सिरि सुकुमालसामि मणोहर चरिए सुंदर यर गुण-रयण-णियरभरिए विबुहसिरि सुकइ सिरिहर विरइए साहु पीथे पुत्त कुमार णामंकिए सुकुमालसामि सव्वत्थ-सिद्धि गमणो णाम छट्ठो परिच्छेश्रो समत्तो ॥संधि ६॥

हरिवंस पुराणु (हरिवंश पुराण) धवलकवि

आदि भागः—

णमिऊण जीहणालं णेमि-दलो-कण्ह-केसर सुसोहं।
भइ पुरिस तिसट्ठिदलं हरिवंस सरोरुह जयउ ॥ १ ॥
हरि-पंडुवाण कहा चउमुह वासेहिं भासियं जइ या।
तह विरयमि लोयपिया जेण णं णासेइ दंसणं पवरं ॥ २ ॥
विस-मीसिय वरखीरं जह सा चारित्त खंडियारी।
उज्झउ दंसण महया मिच्छत्तकरंवियं कव्वं ॥ ३ ॥
जइ गोत्तमेण भणियं सेणियराएण पुच्छियं जइ या।
जइ जिणसेणेण कयं तह विरयमि किंपि उद्देसं ॥ ४ ॥
अप्पा किं भणमि हरी कप्पयरो सायरो-सुरसेलो।
णं णं अप्पपसंसा परणिंदा गरहिया लोये ॥ ५ ॥
अप्पाणं जेण थुवं बुद्धिविहीणेण णिंदियं तेण।
पुक्कार णवइ अणो पहायरो पायडो तह वि ॥ ६ ॥
जो लोडइ विमिल पया विसुद्धा जिणवरेहि जइ भणिया।
णाहं तेण वि सरसो भवियाणयण वच्छलो तह वि ॥ ७ ॥
सुव्वउ भवियाणंदं पिसुण चउक्काय भव्वजणसूलं।
धणसुय धवलेण कयं हरिवंस-स-सोहणं कव्वं ॥ ८ ॥
श्रत्थसारउदोसपरिमुक्कु, श्रयाणहंणिप्पाइयउधवलु कव्वुमणोहरु
एहु कसिउ सवियक्खणहि, करहु कयण जण गुणमहायरु ॥९॥
जिणणाहहोकुसुमंजलिदेवणु, णिक्भूमणगुणिवरपणवेप्पिणु
पवर चरिय हरिवंस कवित्ते, श्रप्पउ पयडिउ सूरहो पुत्ते ॥१० ॥

× × ×

कई चक्कवइ पुव्वि गुणवंतउ,
धीर (धर ?) सेणु होंतउ सुपसिद्धउ।
पुणु सम्मत्त जुत ससागउ,
जेण पमाणगंथु किउ चगउ।
देवणंदि बहुगुण जस भूसिउ,
जे वायरणु जिणिंदु पयासिउ।
वज्जसूरु सुपसिद्धउ मुणिवरु,
जें णय-पमाणु-गंथु किउ सुंदरु।
मुणि महसेणु सुलोयणु जेण,
पउमचरिउ मुणि रविसेणेण।
जिणसेणेण हरिवंसु पवित्तु,
जडिल मुणि ण वरंगचरित्तु।
दिणयरसेणें चरिउ श्रणंगहो,
पउमसेणे आयरिय पासहो
अंधसेणु जे अमियाराहणु,
विरइय दोस विवज्जिय सोहणु।
जगि चंदप्पह चरिउ मणोहरु,
पाव-रहिउ धणयत्त सु-सुंदरु।
श्रवणमि किम एमाइ बहुत्तइं,
विबुहुणेण रिसिएण चरित्तइं।
सीहणंदि गुरुवे अणुवेहा,
णरदेवें णवयार सुबोहा।
सिद्धसेणु जे णेय णागउ,
भविय विणोय पयासिय चंगउ।

रामणंदि जे विविह-पहाणा,
जिण सासणि बहु-रइय-कहाणा।
असगु महाकइ जे सु-मणोहरु,
वीर जिणिंद चरिउ किउ सुंदरु।
केत्तिय कहमि सुकइ-गुण-आयर,
गेय कव्व जहि विरइय सुंदर।
सणक्कुमारु जे विरयउ मणहरु,
कइ गोविंद पवरु सेयंवरु।
तह वक्खइ जिण रक्खिय सावउ,
जे जय धवलु भुवणि विक्खायउ।
सालिहद्द कय जीयउ देदउ,
लोए चउमुह-दोण-पसिद्धउ।
एक्कहि जिण सासणे अच्छलियउ।
सेदु महाकइ जसु णिम्मलियउ।
पउमचरिउ जि भुवणि पयासिउ,
साहु णरेहि णरवरहिं पसंसिउ।
हुउ जहु तो वि किंपि अब्भासमि,
महियले जिणिय बुद्धि पयासमि।

घत्ता—

सहस किरणु रइ वे विगय णिचहे वि तिमिर असेसु पयासहिं।
यसत्ते मणि दीवउ जइविसु थोवउतोवि उज्जोवि पयासहिं ॥३

× × × ×

मूले कहिउ इहु वीर जिणिंदु,
पुणु गोत्तमेण सुधम्मु मुणिंदु।
जंबूसामि विविहृद रसएण,
णंदिमित्त अवरज्जिय कएण।
गोवद्धणु तह भद्दबाहु मुणि,
तह विसाहु पोट्ठिलु खत्तिउ मुणि।
पुणु जय तह णाग सु सिद्धत्थु,
धिइसेणहो ए माइ सत्थु।
विजयहो बुद्धिलं गंगदेवहो,
धम्मसेण णक्खत्त मुणिंदहो।
जयपालहो पंडुहो धुवसेणहो,
कंसायरियहो तहव सुभद्दहो।
जयभद्दहो तह पुणु जसभद्दहो,
आउ सत्थु एहु लोहाइज्जहो।
पुणु कमेण बहु गय सुयहाणहो,
एहु सत्थु आयउ जिणसेणहो।

जिणसेणें पुणु इह उज्जोयउ,
अंबसेण रिसिणा महु ढोयउ।
एवइ हउं भवियणहं पयासमि,
पयदउ अत्थु असेसुवि दरिसमि।
बालो किह्नो वि तिहइ सुहेण,
मुक्खु विविउ सुवि बुज्झइ जेण।

घत्ता—

एहु जिण वयणु पराइउ कम-कम
आयउ आगउ पुणु पवित्तु।
णिसुणहो पावपणासणु भवियहु
बहुगुणु अविचलु-धरिविणु चित्तु ॥१॥

मइ विप्पहो सूरहो णंदणेण,
केसुल्ल उवरि तह संभवेण।
जिणवरहो चरण अणुरत्तएण,
णिग्गंथहं रिसियहं भत्तएण।
कुतित्थ कुधम्म विरत्तएण,
णामुज्जलु पयडु वहंतएण।
हरिवंसु सयलु सुलक्षिय इएहिं,
मइं विरयउ सुट्ठु सुहावएहिं।
सिरि अंबसेणु गुरवेण जेम,
वक्खाणि कियउ अणुकमेण तेण।

सज्जण मुणे वि बहुगुण भणंति,
दुज्जण पच्चोलिउ दोस लिंति।
इहु दुट्ठहं खलहं सहाउ को वि,
लाए वि दोस णिद्दोस हो वि।
जे खाहि पियहिं घणु विहवंति,
अप्पाउ समत्ता खल भणंति।
जे विउ वि विसंचहि अत्थु केवि,
तिट्ठाउ खुल्लहिं खलहि तेवि।
वक्खाणहिं जाणहिं जे पढंति,
वायंतरि हूया ते भणंति।
जे वि वह सत्थे णे मुणंति केवि,
जसु सुक्ख व लक्खण भणहिं ते वि।
वसहहि महंत जे संति पर,
ते वुच्चहिं खलहिं असक्कयार।
जे परिहिउण सहहि पोरुसेण,
परचंडा वुच्चहिं खलयणेण।

जे माय विसल्लहिं गियपढवि,
तहु दुक्करु छुट्टइ अरणुको वि ।

घत्ता—

जो उवहसिउ ण तेहि असुरेहिं सोहउ सुर्वणि ण देवणि ।
पउरवलहं देविणुरिसिय णवेविणु जणणिसुणाहु कइ अक्खमि ॥६

अन्तिम भाग—,

जिणचक्क-हरी-बलएव जेवि,
चउवयण मंगल देंतु तेवि ।
रोहइ हरंतु सुत वित्थरंतु,
सग्गा-पवग्ग-पहु-णायडंतु ।
मइ बुद्धि विहूणें कहिउ जंजि,
जिणमुहणिग्गय महो खमउ तंजि
मुणिदेव पसाएण अलुहएण,
धिट्ठत्तणि जंपिउ जंपिएण ।
छंदालंकारें जं विहीणु,
महु दोस ण दीवउ बुद्धिहीणु ।
जह बालुय जंपइ जेम तेम,
तह एण लिणिय भसीवसेण ।
जिणसेण सुत्तु पेक्खेवि एहु,
मइ विरयउ भवियहो पुणु विलेहु
जो को वि सुणाइ एहु महपुराणु,
हरिवंसणामु इच्छिय पहाणु
जो लिहइ लिहावइ को वि भव्वु,
सग्गा-पवग्गु तहो होइ सव्वु
हो एह विहव वहिराहु कयण,
अंधाहणेत्त पुत्त वि कलत्त ।
समप्पइ लोयह सयल काल,
जो भावइ हरिकुल णाम माल ।
दे साहु संति रायाहिराउ,
विहरंतु णेमिजिणु हरउ पाउ ।
पाउसु वरिसउ णिय समय सासु,
णिप्पज्ज सयलु महिपयासु

घत्ता—

जो चित्ते अवहारइं पुणणुवियारइं णिसुणइ भविउ जो सहहइ
तहो पावणिवारणु सिव-सुहकारणु होउ णेमि धवलुवि कहइ ॥

इय हरिवंस पुराणं समत्तं

छक्कमोवएस (षट्कर्मोपदेश)

अमरकीर्ति, रचनाकाल सं० १२४७

आदि भाग:—

परमप्पय-भावणु सुह-गुण - पावणु
णिहणिय-जम्म-जरा-मरणु ।
सासय-सिरि-सुंदरु पणय-पुरंदरु,
रिसहु णविवि भवियण सरणु ॥

× × ×

अह गुज्जर-विसयहु मज्झिदेसु,
णामेण महीयडु, बहु-पएस ।
णयरामर-वर-गामहिं णिरुद्ध,
णाणा-पयार-संपइ-समिद्धु ।
तहिं णयरु अत्थि गोदहय णामु,
णं सग्गु विचित्तु सुरेस-धामु ।
पासायहं पंतिउ जहिं सहंति, (लसंति ?)—
सरयब्भहु सोहा ण वहंति । ·
धय-किंकिणि कलरावहिं सरिद्धि,
णं कहइ सुरहं पाविय पसिद्धि ।

घत्ता—

देसागय-लोयहिं जाय-पमोयहिं,
अणियवि मणि मणियायउ ।
एवहिं संकासउ लच्छि-पयासउ,
णायरुण अयणु पवणियायउ ॥४॥
तं चालुक्क-वंसि णय-जाणउ,
पालइ कण्ह-णरिंदु पहाणउ ।
जो वज्झतरारि-विद्धंसणु,
भत्तिए सम्माणिय-छद्दंसणु ।
णिव-वंदिणदेव-तणु-जायउ,
खत्तधम्मु णं दरिसिय-कायउ ।
सयल-काल-भाविय-णिव-णिउजउ,
पुहविहिं···वि णत्थि तहो विउजउ ।
धम्म-परोवयार-सुह-दायाहं,
णिच्च-महो सव बुद्धि-समायाइं ।
जासु रज्जि जणु एयइं मायइं,
दुक्खु दुहिक्खु रोउ णं वियाणइं ।
रिसह-जिणेसहो तहिं चेईहरु,
तुंगुसिहा-सोहिउ णं ससहरु ।

दंसणेण जसु दुरिउ विलज्जइ,
पुण्ण-हेउ जं जणि मणिणज्जइ ।

घत्ता—

अमियगइ महामुणि, मुणिचूडामणि,
आसितित्थु समसील-धणु ।
विरइय-बहु-सत्थउ, कित्ति-समत्थउ,
सगुणाणंदिय-णिवइ-मणु ॥ ५ ॥

गणि संतिसेणु तहो जाउ सीसु,
णिय-चरण-कमल-णामिय- महीसु ।
माहुर-संघाहिउ अमरसेणु
तहो हुउ विणेउ पुणु हय-दुरेणु ।
सिरिसेणसूरि पंडिय-पहाणु,
तहो सीसु वाइ-काणण-किसाणु ।
पुणु दिक्खिउ तहो तवसिरिणिवासु,
अत्थिवण-संघ-बुह-पूरियासु ।
परवाइ-कुंभ-दारण महंदु,
सिरिचंदकित्ति जायउ मुणिंदु ।
तहो अणुउ सहोयरु सीसु जाउ,
गणि अमरकित्ति णिहणिय पमाउ ।
अहणिसु सुकइत्त विलोय लीणु,
जामच्छइ बहु-विह-सुय-पवीणु ।
तामण्णहिं दिणि विहियायरेण,
णायर-कुल-गयण-दिणेसरेण ।
चच्चिणि गुणवालहं णंदणेण,
भव दिवणदाण पेरिय मणेण ।

घत्ता—

भव्वयण पहाणें बुहगुण जाणें, थंधवेण अणुजायइं ।
सो सूरि पवित्तउ, लहु विण्णत्तउ, भत्तिएँ अंब पसाइं ॥ ६ ॥

परमेसर पइ णवरस-भरिउ,
विरइयउ णेमिणाहहोचरिउ ।
अण्णु वि चरित्तु सव्वत्थ-सहिउ,
पयडत्थु महावीरहो विहिउ ।
तीयउ चरित्तु जसहर-णिवासु,
पद्धडिया-बंधें किउ पयासु ।
टिप्पणउ धम्मचरिय हो पयडु,
तिह विरइउ जिह बुज्झेइ जडु ।
सक्कय-सिलोय-विही-जणियदिही,
गुंफियउ सुहासिय-रयण-णिही ।
धम्मोवएस-चूडामणिक्खु,
तहो झाण-पईउ जि झाणसिक्खु ।
छक्कम्मुवएसें सहुं पबंध,
किय अट्ठ संख सइं सच्चसंध ।
सक्कय-पाइय कव्वय घणाइं,
अवराइं कियइं रंजिय-जणाइं ।
पइं गुरुकुलु ताय हो कुलु पवित्तु,
सुकइत्तें सासउ किउ महंतु ।
कइयण-वयणामउ जे पियंति,
अजरामर होइ वि ते णियंति ।
जिह राम-पमुह सुयकित्तिवंत,
कइमुह-सुहाइ पेच्छहि जियंत
कइ तुट्ठउ अप्पापरु समणु,
अक्खयतणु करइ पसिद्धगणु ।

घत्ता—

संतोसहिं-देवहं, किय चिरसेवहं, धुय पहाउ णहु सोसइं ।
परकाय-पवेसणु, किय-सासयतणु तिहजिह कइहिं पदीसइ ॥ ७

महु आहासहि पयणिय सम्मइं,
अह काहएणें गिहि- छक्कम्मइं ।
जाइं करंतउ भवियणु संचइ,
दिणि दिणि सुहु दुक्कयहिं विमुच्चइ ।
तेहिं विवज्जिउ णरभउ भव्वहं,
छगा-गल-थण-समु गय-गव्वहं (?)
महं मइमूढें किं पि ण चिंतउ,
पुण्णकम्मु इय कम्मु पवित्तउ ।
भव-काणणि भुल्लहो महु अक्खहि,
सम्म-मग्गु सामिय मा वेक्खहि ।
अमरसूरि तव्वयणाणंतरु,
पयडइ गिहि छक्कम्मइं वित्थरु ।
सुणि कणहपुर वंस-विजयद्धय,
णियरूवोहिय-मयरद्धय ।
पूयय देवहं सुइ-गुरु वासणा,
समय-सुद्ध-सज्झाय-पयासणा ।
संजम-तव-दाणाहं संजुत्तइं,
जिणइसणि छक्कम्मइं वुत्तइं ।

घत्ता—रयणतव-जुत्तउ, सव्वहि चत्तउ,
गुण-सील-तउ-हणिय-मणु ।

जो दिण्णि-दिण एयइं करइ विहेयइं,
मणुअ जम्मु तहो पर सहलु ॥८॥

इय छक्कम्मोवएसे महाकइ सिरि अमरकित्ति विरइए महा कव्वे गुणपाल चिच्चिवणि णंदण महाभव्व अंबपसायाणु मणिणए छक्कमणिरयणय वण्णणोणाम पढमो संधि समत्तो।

अन्तिमभागः—

ताइं मुणिवि सोहेवि णिरंतरु,
होणाहिउ विरुद्धु णिहुयक्खरु।
फेडेवउ समत्तु भावंतिहिं,
अम्हहं उप्परि बुद्धि-महंतिहिं।
छक्कम्मोवएसु इहु भवियहो,
वक्खाणिव्वउ भत्तिइं णवियहो।
अंबपसायइं चच्चिणिपुत्तें,
गिह-छक्कम्म-पवित्त-पवित्तें।
गुणवालहु सुपण विरयाविउ,
अवरेहि मि णियमणि संभाविउ।
बारह सयइं समत्त-चयालिहिं,
विक्कम-संवच्छरहु विसालहिं।
गयहिं मि भद्दवयहु पक्खंतरि,
गुरुवारम्मि चउद्दिसि वासरि।
इक्कें मासें यहु सम्मत्तिउ,
सइं लिहियउ आलसु अवहत्थिउ।
णंदउ परमासण-णियणासणु,
सयलकाल जिणणाहहु सासणु।
णंदउ तहवि देवि वाएसरि,
जिणमुह-कमलुब्भव परमेसरि।
णंदउ धम्मु जिणिंदें भासिउ,
णंदउ संघु सुसीलें भूसिउ।
णंदउ महिवइ धम्मासत्तउ,
पय परिपालण-णाय-महंतउ।
णंदउ भावयणु णिम्मल-दंसणु,
छक्कम्महिं पाविय जिणसंसणु।
णंदउ अंबपसाउ वियक्खणु,
अमरसूरि-लहु-बंधु सुलक्खणु।
णंदउ अवरुवि जिण-पय-भत्तउ,
विवुह-वग्गु भाविय-रयणत्तउ।

घत्ता—

णंदउ णिरु तावहिं सत्थु इहु
अमरकित्ति-मुणि-विहिउ पयत्तें।
जावहि महि मारुव-मेरु-गिरि-णहयलु
अंब पसायणिमित्तें ॥ १८ ॥

इय छक्कम्मोवएसे महाकइसिरि-अमरकित्ति-विरइए-महाकव्वे महाभव्व अंबपसायाणु मणिणए तव-दाण-वण्णणोणाम चउदसमो संधी परिच्छेओ समत्तो ॥ छ ॥
॥ संधि १४ ॥

पुरंदर विहाण-कहा (पुरंदरविधान कथा)

अमरकीर्ति

आदिभागः—

परमप्पय भावणु सुहगुण पावणु,
णिहणियजम्म-जरा-मरणु।
सासय सिरि सुंदरु पणय पुरंदरु,
रिसहुणविवि तिहुयण सरणु।
सिरिवीर जिणंदे समवसरणि,
सेणियराएँ पुच्छियणिहि।
जिणपूय-पुरंदर विहिकहि कहिउ तं,
आयण्णहि विहिय दिहि।

अन्तिम भागः—

अवराइमि सुरगिरि सिहरत्थइं,
तह णंदीसर दीवि पसत्थइं।
जाइ वि बहु सुरवर समवाएँ,
अइभत्तिए कय दुंदहिनाएं।
ण्हाइ कि सुरतरु कुसुमिहि अंचइ,
णिरवहि पुण्णविसेसे संचइ।

घत्ता—

जिण पूय पुरंदर विहि करइ एक्कवार जो एत्थ णरु।
सो अद पसाइह वेइ लहु अमरकित्ति सिय सेसरु॥

जिणदत्त चरिउ (जिनदत्तचरित)

पं लक्खण, रचनाकाल सं० १२७५

आदि भागः—

सए व सरकल हंसहो,
हियकल हंसहो सेयंस वहा।
भणमि भुअण कलहंसहो रणकलहंस हो
णविवि जिणहो जिणयत्त कहा।

× × ×

इय पयावेवि हय संसार-सरणि,
पुरवाडवंस तामरस तरणि ।
विल्हण तणुरुह पायडिय धामु,
जिणहरु जिणभत्तु पसिद्ध णामु ।
तहो णंदण णयणाणंद-हेउ,
णामेण सिरिहरु सिरिणिकेउ ।

णिय गोत्तामर पंथो सहीसु,
वणिणीइ तरंगिणि तीरिणीसु ।
दुव्वसण कसर भर समण-मेहु,
अगलिय गउरउ गुण गरु अगेहु ।
परिवार भार धुर-धरण-धीरु,
विलसिय विलास सुरवर सरीरु ।

मुणि वयण कमल मयरंद भसलु,
पवयण वयणाहिल मुणण कुसलु ।
सो विलरामे णिवसंतु मंतु,
तहं णिवसइ लक्खणु सीलवंतु ।
तें सिरिणामें कह वसु पयार,
विरइ व पयडिय तहो पुरउ सार ।
णिसुणेवि कहा जिणहरहो पुत्त,
संपभणइ लक्खणहो सुबुद्ध जुत्त ।

घत्ता—

मुणिणा हिलवर लक्खण भोकइ !
लक्खण कह णिसुणे वि अणुरंजियउ ।
महु मणु गुण-गण सारउ
पावणु पावें अहं जियउ ॥
पुणु पभणइ सिरिहरु णिसुणि वल्ल,
पर पडिय सत्थ रस मइ महल्ल ।

वणि अरुहदत्त कह कहहि तेम,
अहिणव विरइवि महु पुरउ जेम ।
फिट्टइ मण संमउ अज्जु सज्जु,
पाविज्जइ किंप परत्त कज्जु ।
तेसु पसाएं महु सहलु जम्मु,
लहु हवइ बप्प णिहणिय कु-कम्मु ।
अम्हाणुप्परि किज्जउ पसाउ,
महु लज्जण परिगलिय गाउ ।
तुहुं अणुदिणु मे मणि पुज्ज णिज्ज,
पइं परि भाइउ भउ णिंद णिज्ज ।

मुहु मुहु पभणइ कर फंसि जाणु,
लक्खणहो सिरिहरु हरियमाणु ।
बहु भत्ति कुणि वि मउलिय स-पाणि,
दय किज्जउ बंधव परमणाणि ।

घत्ता—

पर चित्तु परिक्खणु तस तणु रक्खणु
सुवियक्खणु लक्खणु स-धणु ।
तं णिसुणेवि पडिहासइ सिरि वि सरासइ
कुमइ-पंसु उवसमइ घणु ॥ ३ ॥
हो हो सिरिहर वणिवर कुमार,
मारावयार कय चारु चार ।

चारहडि चउर चउ रस्स उर,
उरणाहिव सणिणह भोय पउर ।
पउरिस रस रसिय सरीर मोह,
सोहाहिल कलिय पमुक्क मोह ।
मोहिय रूवें पुर रमणि विंद,
वंदियण सासण केलि कंद ।
कंदाविय दुट्ठ जणाण मुद्ध,
मुद्धमइ विवज्जिय जस विसुद्ध ।

सुद्धा साहु ऊरिय तेयतार,
तारच्छवि तिरयण रयणसार ।
सारंग वग्ग वर दीहणेत्त,
णेत्ता ? राम तामरस वत्त ।
.........पीणिय सुयण सत्थ,
म थेहिं वियाणिय णिरु णायत्थ
अत्थाविपसुय-पय-रस-विसेस,
सेसिय ? कुविसय विसरस पएस ।

हावाइ णट्ट रस मुणिय भंग,
अब्भंग य सासिय सिहरि संग ।
सिंगार विहवि पोसणु सुमेह,
मेहायर कय पंडिय णेह णेह ।
णेहिल्ल जणहिं कयकित्तिमाल,
मालइ मालंकिय कुडिल बाल ।
बालक्कु किरण तणु-तेय लील,
लीलारस पयडिय कामकील ।
कीलारविंद मयरंद भिंग,
भिंगारहिं हाविय जिण णिसिंग ।

[पृष्ठ ८८ का शेष]

रामायणमें आठ चौपाइयाँ लिखनेके बाद एक घत्ता दिया है, जबकि तुलसीदासजीने प्रायः आठ चौपाइयोंके बाद एक दोहा या सोरठा दिया है। दूसरे अपभ्रंश भाषाके अनेक शब्दोंके प्राचुर्यको देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसीदासजीने अपभ्रंश भाषाका अध्ययन ही न किया हो। किन्तु 'घूमउ, 'भनति-भणइ' 'पिपीलिकउ' 'कवनु-कवणु' (देशी) 'केवट-केवट्ट' (सं० कैवर्त), 'गयउ', अपनयउ' आदि शब्द इस बातके सूचक हैं कि मानसमें अपभ्रंश भाषाके शब्दोंकी बहुलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। तुलसीदासजी केवल जैन रामायणसे ही परिचित नहीं थे किन्तु उनके परिचयमें अन्य जैन ग्रन्थ भी आये थे। जिसका एक उदाहरण १०वीं शताब्दीके कवि धनपालकी भविष्यदत्त पंचमी कथाकी कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं जिनका रामायणकी पंक्तियोंके साथ तुलना करने पर स्पष्ट आभास मिल जाता है—

'सुणिमित्तइं जायइं तासुताम,
गय पयहिणंति उडुडेवि साम।
वामंगि सुत्ति रुहुरुहरुवाउ,
पिय मेलावउ कुलु कुलइ काउ
वामउ किलि किंचउ लावएण,
दाहिणउ अंगु दरिसिव मएण।
दाहिणु लोयणु फंदइ सबाहु,
णं भणइं एण मग्गेण जाहु॥"

"दाहिन काग सुखेत सुहावा,
नकुल दरस सब काहु न पावा।
सानुकूल वह विविध बयारी,
सघट सवाल आव वरनारी॥
लावा फिरिफिरि दरस दिखावा,
सुरभी सन्मुख शिशुहिं पिआवा।
मृगमाला दाहिन दिशि आई,
मंगल गन जनु दीन्ह दिखाई।"

स्वयंभूदेवसे पहले 'चउमुह' ने अपभ्रंश भाषामें रामायण बनाई थी, परन्तु खेद है कि वह आज उपलब्ध नहीं है। और १२वीं शताब्दीके उत्तरार्द्ध के विद्वान कविवर रइधूने भी उक्त भाषामें रामायण लिखी है और महाकवि पुष्पदन्तने भी रामकथा महापुराणके अन्तर्गत लिखी है, इस प्रकार जैन समाजमें रामकथाका अनुक्रम बराबर चलता रहा है।

तुलसीदासजीने 'मानस' के शुरूमें जहाँ यह प्रकट किया है कि रामायणमें जहाँ अनेक पुराण, निगम और आगम सम्मत तथा अन्यत्रसे भी वैदिक साहित्यसे भिन्न जैन साहित्य से भी कुछ लिया गया है। इसमें 'क्वचिदन्यतोऽपि' वाक्य खासतौरसे विचारणीय है जिससे स्पष्ट है कि मानसमें वैदिकसाहित्यसे भिन्न जैनसाहित्यसे भी कुछ लिया गया है। इसके अतिरिक्त 'मानस' की अन्तिम प्रशस्तिमें तो उन्होंने उसका स्पष्ट रूपसे उल्लेख कर दिया है। जैसा कि उसके निम्न पद्यसे प्रकट है—

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्री शंभुना दुर्गमं,
श्रिमद् रामपदाब्ज भक्ति मनिशं प्राप्त्यैतु रामायणम्।
मत्वा तद् रघुनाथ-नामनिरतंस्वान्तस्तमःशान्तये,
भाषाबद्ध मिदंचकारतुलसी-दासस्तथा मानसम्॥"

इस पद्य में बतलाया गया है कि समर्थ कवि श्रीशंभुने (स्वयंभूने) रात-दिन रामके चरण कमलोंको पानेके लिये पहले जो दुर्गम रामायण (पउमचरिउ) रचा था उसे रघुनाथके नाममें निरत समझकर अपने अन्तःकरणके अज्ञान अंधकारको शान्त करनेके लिये तुलसीदासने इस मानसको बनाया—हिन्दी भाषामें रचना की। इस पद्यमें जहाँ 'पूर्वं प्रभुणा सुकविना श्रीशंभुना दुर्गम रामायणं कृतं' वाक्य खासतौरसे ध्यान देने योग्य है। वहाँ इदं (मानसम्) भाषाबद्धं चकार पद भी खासतौर से ध्यान देने योग्य हैं। इससे सुनिश्चित है कि तुलसीदासजीने स्वयंभूदेवके रामायण को केवल देखा ही नहीं था किन्तु उससे उन्होंने बहुत कुछ साहाय्य भी प्राप्त किया था, यही कारण है कि उन्होंने उनका ग्रन्थमें तीन स्थानों पर तीन प्रकार से उल्लेख किया और उनके प्रति समादर व्यक्त कर 'नहि कृत मुपकारं साधवो विस्मरंति' की नीतिको चरितार्थ किया है।

इसीसे प्रसिद्ध लेखक श्री राहुल सांस्कृत्यायनजीने अपनी हिन्दी गद्य काव्य धाराकी प्रस्तावनामें इसे स्वीकार किया और लिखा है कि—"क्वचिदन्यतोऽपि" से तुलसीबाबाका मतलब है, ब्राह्मणों के साहित्यसे बाहर "कहीं अन्यत्र से भी" और अन्यत्र इस जैन ग्रन्थमें रामकथा बड़े सुन्दर रूपमें मौजूद है। जिस सोरों या शूकर क्षेत्रमें गोस्वामीजीने रामकी कथा सुनी, उसी सोरोंमें जैनघरोंमें स्वयंभू रामायण पढ़ा जाता था, रामभक्त रामानन्दी साधु रामके पीछे जिस प्रकार पड़े थे, उससे यह बिल्कुल सम्भव है कि उन्हें जैनोंके यहां इस रामायणका पता लग गया हो।"

ऊपर के इस समस्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब रामायणकार स्वयं प्राकृतके हरिचरित (रामचरित) का उल्लेख कर रहे हैं और उनकी कृतिमें अपभ्रंशके शब्दोंका बाहुल्य तक विद्यमान है। ऐसी स्थितिमें स्वयंभूदेवके 'पउमचरिउ' का उनपर और उनकी कृति पर होने वाले अमिट प्रभाव को कौन अस्वीकार कर सकता है?

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर
२५१) सेठ तुलारामजी नथमलजी लाडनूवाले कलकत्ता

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी
१०१) बा० शान्तिनाथजी कलकत्ता
१०१) बा० निर्मलकुमारजी कलकत्ता
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१ बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१, बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलाल जीसरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) श्री जयकुमार देवीदास जी, चवरे कारंजा
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री वीर सेवामंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली। मुद्रक—रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, देहली

वर्ष १४

विषय-सूची

वीर-शासन-संघ, कलकत्ताके दो नवीन प्रकाशन

कसाय पाहुड सुत्त

जिस २३३ गाथात्मक मूल ग्रन्थकी रचना आजसे दो हजार वर्ष पूर्व श्रीगुणधराचार्यने की, जिस पर श्री यति-वृषभाचार्यने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे और जिन दोनों पर श्री वीरसेनाचार्यने बारह सौ वर्ष पूर्व साठ हजार श्लोक प्रमाण विशाल टीका लिखी, जो आज तक लोगोंमें जयधवला नामक द्वितीय सिद्धान्त ग्रंथके नामसे प्रसिद्ध रहा है, तथा जिसके मूल रूपमें दर्शन और पठन-पाठन करनेके लिए जिज्ञासु विद्वद्वर्ग आज पूरे बारह सौ वर्षोंसे लालायित था जो मूलग्रन्थ स्वतन्त्र रूपसे आज तक अप्राप्य था, जिसके लिए श्री वीरसेन और जिनसेन जैसे महान् आचार्योंने अनन्त अर्थ गर्भित कहा, वह मूल ग्रन्थराज 'कसाय पाहुड सुत्त' आज प्रथम बार अपने पूर्णरूपमें हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशमें आ रहा है इस ग्रन्थका सम्पादन और अनुवाद समाजके सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीने बहुत वर्षोंके कठिन परिश्रमके बाद सुन्दर रूपमें प्रस्तुत किया है। आपने ही सर्वप्रथम धवल सिद्धान्तका अनुवाद और सम्पादन किया है यह सिद्धान्त ग्रन्थ प्रथम बार अपने हिन्दी अनुवादके साथ प्रकट हो रहा है। इस ग्रन्थकी खोज-पूर्ण प्रस्तावनामें अनेक अश्रुतपूर्व प्राचीन बातों पर प्रकाश डाला गया है जिससे कि दिगम्बर-साहित्यका गौरव और प्राचीनता सिद्ध होती है। विस्तृत प्रस्तावना, अनेक उपयोगी परिशिष्ट और हिन्दी अनुवादके साथ मूलग्रन्थ १०००से भी अधिक पृष्ठोंमें सम्पन्न हुआ है। पुष्ट कागज सुन्दर छपाई और कपड़ेकी पक्की जिल्द होने पर भी मूल्य केवल २०) रखा गया है। इस प्राचीनतम ग्रन्थराजको प्रत्येक जैन मन्दिरके शास्त्र भण्डार पुस्तकालय तथा अपने संग्रहमें अवश्य रखना चाहिये। वी० पी० से मंगाने वालोंको २३) रु० में यह ग्रन्थ पड़ेगा। किन्तु मूल्य मनिआर्डरसे पेशगी भेजने वालोंको वह केवल २०) रु० में ही मिल जायगा।

जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश

प्रथम भाग

आजसे ५० वर्ष पूर्व जिन्होंने जैनगजट और जैनहितैषीका सम्पादन करके जैन समाजके भीतर सम्पादन कलाका श्रीगणेश किया। जिनके तात्कालिक लेखोंने सुप्त जैन समाजको जागृत किया, जिनके क्रांतिकारी विचारोंने समाजके भीतर क्रान्तिका संचार किया, जिनके 'जिनपूजाधिकार मीमांसा' और 'जैनाचार्योंके शासन भेद' नामक लेखोंने समाजके विद्वद्वर्ग और विचारक लोगोंमें खलबली मचाई, जिनकी 'मेरी भावना' और उपासना तत्वने भक्त और उपासकोंके हृदयमें श्रद्धा और भक्तिका अंकुरारोपण किया, जिन्होंने स्वामी समन्तभद्रका इतिहास लिखकर जैनाचार्योंका समय-सम्बन्धी प्रामाणिक निर्णय एवं ऐतिहासिक अनुसन्धान करके जैन समाजके भीतर नूतन युगका प्रतिष्ठान किया, जिन्होंने 'अनेकान्त' पत्रका सम्पादन और प्रकाशन करके भगवान महावीरके स्याद्वाद जैसे गहन और गम्भीर विषयका प्रचार किया। और जिन्होंने स्वामी समन्तभद्रके अद्वितीय गहन एव गम्भीर अनेक ग्रन्थों पर हिन्दी अनुवाद और भाष्य लिख कर अपने प्रकाण्ड पांडित्यका परिचय दिया, उन्हीं प्राच्य-विद्यामहार्णव आचार्य श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर'के जैनहितैषी जैनजगत, वीर और अनेकान्तमें प्रकाशित ३२ लेखोंका संशोधित, परिवर्धित एवं परिष्कृत संग्रह है। इन लेखोंके अध्ययन से पाठकोंके हृदय-कमल जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाशसे आलोकित एवं आह्लादित होंगे। पृष्ठ संख्या ७५०, कागज और छपाई सुन्दर, पक्की जिल्द होने पर भी लागतमात्र ५) मनिआर्डरसे मूल्य अग्रिम भेजने वालोंको १॥) रु० डाकखर्चकी बचत होग।

समन्तभद्र-स्तोत्रकी भेंट

युगवीर' श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार का नई सुन्दर रचनाके रूपमें जो 'समन्तभद्र स्तोत्र' हालमें ही प्रकाशित हुआ है इसकी कईसौ प्रतियां दूसरे उत्तम कागज तथा सुन्दर स्याहीमें अलग छपाई गई हैं। जो सज्जन इस स्तोत्र को कांचमें जड़ाकर अपने मन्दिरों, मकानों, निवासस्थानों, विद्यालयों तथा पुस्तकालय आदि में अच्छे स्थान पर स्थापित करना चाहें, उन्हें इस स्तोत्रकी यथावश्यक दो-दो चार-चार प्रतियां भेंटस्वरूप फ्री दी जायगी।

मिलने का पता—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली

श्री १०८ आचार्य नमिसागर जी
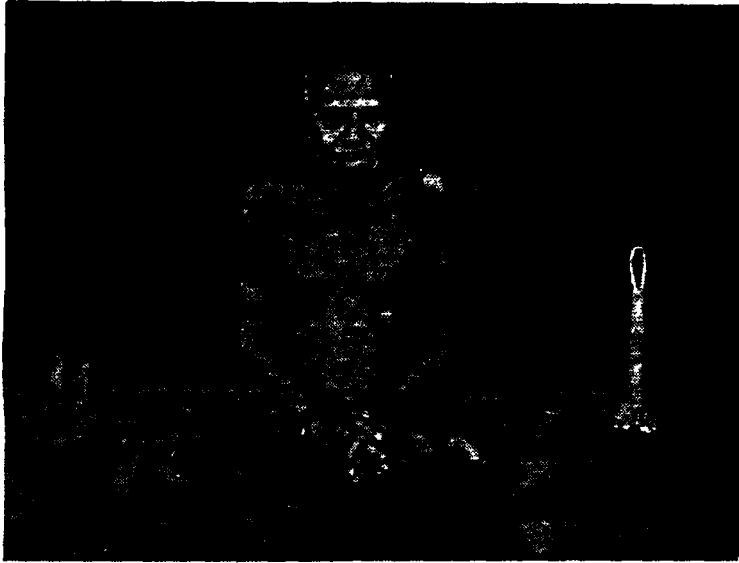
(जिनका अभी ता० २२-१०-५६ को समाधिमरण पूर्वक देवलोक हुआ है)

ॐ अर्हम्

वर्ष १४ किरण, ३-४ | वीरसेवामन्दिर, २१, दरियागंज, देहली | अक्टूबर, नवम्बर'५६
आश्विन कार्तिक, वीरनिर्वाण-संवत् २४८३, विक्रम संवत् २०१३

श्रीशुभचन्द्र-योगि-विरचित

जिनपति-स्तवन

षरषदं सुपदैः स्तुतपद्द्वयं, विशदनाद-सुनन्दित-सञ्चयम्।
कुमुददानविधुं धृतिवृद्धये प्रवियजे जिनपं शिवसिद्धये॥ १॥
विशद-चिद्घन-सद्घनकोन्नत भवपयोधिपतज्जनताश्रितम्।
मदन-दन्ति-हरिं सुसमृद्धये प्रवियजे जिनपं शिवसिद्धये॥ २॥
कमल-कोमल-काय-मनोहरं दरद-कर्म-सुशर्मभिदाकरम्।
अनघ-घस्मर-योग-विशुद्धये प्रवियजे जिनपं शिवसिद्धये॥ ३॥
सुरकृतोत्तमगर्भमहामहं सुरधरात्तसुसेकशुभावहम्।
समयसारभराभिसुलब्धये प्रवियजे जिनपं शिवसिद्धये॥ ४॥
करटि-घोटक-कोटि-महाश्रियं स्फुरदुपाधि-निराकरण-क्रियम्
चरित-चक्रिमिनं निजबोधये प्रवियजे जिनपं शिवसिद्धये॥ ५॥
सकलकेवल-लोचन-लोकिनं सुकृत-क्लृप्ति-परार्थ-विवेकिनम्।
परम-पौरुष-सिद्ध-समाधये प्रवियजे जिनपं शिवसिद्धये॥ ६॥
अमल-मंगल-सत्पद-साधकं विषय वेदन-रागविबाधकम्।
प्रगुण-सद्गुण-धाम-परर्द्धये, प्रवियजे जिनपं शिवसिद्धये॥ ७॥
अमर-शंकर-माधव-मानिनं परम-पूरुष-सत्पदभाविनम्।
परकुलं हतकर्म सुनद्धये प्रवियजे जिनपं शिवसिद्धये॥ ८॥

नत-नरासुर-निर्जर-नायकं, करण-मुक्त-सुसात-विधायकम् ।
सुनय-नीत-चिदात्मसुसिद्धये प्रवियजे जिनपं शिवसिद्धये ॥ ६ ॥
अकल-नीरस-नीरव-निर्भवं, हरि-हरेन्दु-नुतं शिवद शिवम् ।
निखिल-काल-कलाकृति-अग्धये प्रवियजे जिनपं शिवसिद्धये ॥ १० ॥
इत्थं शुभेन्दुवदना शुभचन्द्रयोगैर्ध्याता दिशंतु जिनपाः शुभसिद्धिवृद्धाः ।
सिद्धिं विशुद्धिमरमृद्धिममन्दबुद्धिं स्वान्ते शुभाःशुभकराश्च चिदुद्यता वः ॥ ११ ॥

(अजमेरके दि० जैन पंचायती मन्दिर शास्त्र-भंडारके एक गुटकेसे उद्धृत)

क्यों तरसत है ?

(बाबू जयभगवानजी एडवोकेट)

क्यों तरसत है क्यों चिन्तित तू,
क्यों आशाहत क्यों याचक तू ॥

प्रभु-अमृत की पूरण निधि तू
शान्ति सुधा का सागर ।
सुषमा का भण्डार भरा तू
आलोकों का आकर ॥१॥

जग की सारी लीला शोभा
मंगल-गाथा तुझ से ।
कालचक्र के युग-युग की है
नाम-महत्ता तुझ से ॥२॥

देव-असुर-नर-पशु अरु पंछी
मीन-मकर-कृमि-भौंरे ।
अग्नि-वायु-जल-भूमि-वनस्पति
रूप विविध हैं तेरे ॥३॥

ह्रास-उदय उत्कर्ष-पतन के
इतिवृत्तों का कर्त्ता ।
भव्य-विभूति अतुल-वैभवमय
तू भविष्य का धर्त्ता ॥४॥

परमेश्वर का वास बना तू
ऋद्धि-सिद्धि का साधक ।
मूल्यांकन सबका तुझसे तू
झूठ-सत्य का मापक ॥५॥

ज्ञान कला विज्ञान व दर्शन
दान अतुल हैं तेरे ।
धर्म-कर्म सब पथ जीवन के
काम कल्प हैं तेरे ॥६॥

सत्य महान मार्ग अरु ज्योती
तू पौरुष का धाता ।
पाप-पुण्य दुख सुख-तथ्यों का
तू है भाग्य-विधाता ॥७॥

आचार्यद्वयका संन्यास और उनका स्मारक

(श्री पं० हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री)

संन्यासका स्वरूप

जब कोई साधक श्रावक या मुनि अपने जीवनके अंतिम समयमें यह अनुभव करता है कि मेरी इन्द्रियां दिन-पर-दिन शिथिल होती जा रही हैं और यह शरीर अब धर्मका साधक न होकर बाधक होरहा है, तब उसे शास्त्रोंमें सन्यास-ग्रहण करनेका विधान किया गया है। यह संन्यास-धारण करनेका उत्सर्गमार्ग है। किन्तु यदि शरीर पुष्ट भी हो, इन्द्रियां बराबर अपना कार्य कर रही हों, फिर भी यदि कदाचित् कोई ऐसा उपसर्ग आजाय, जिसके कि दूर होनेकी सम्भावना ही न रहे, कोई ऐसा ही रोग शरीरमें उत्पन्न हो जाय, कि जिसका इलाज सम्भव न रहे, भयानक दुर्भिक्ष आपड़े, अथवा इसी प्रकारका कोई अन्य कारण आ उपस्थित हो, जिससे कि धर्म-साधनमें बाधा उत्पन्न हो जाय तो भी संन्यास-ग्रहण करनेकी आज्ञा शास्त्रकारोंने दी है। यह संन्यास ग्रहण करनेका अपवाद मार्ग है। उत्सर्गमार्गमें यावज्जीवनके लिये संन्यास धारण करनेका और अपवाद मार्गमें कालकी मर्यादाके साथ संन्यास-धारण करनेका विधान किया गया है। यतः संन्यासका अन्तिम लक्ष्य समाधिपूर्वक शरीरका त्याग करना है, अतः इसे समाधिमरण भी कहते हैं। तथा संन्यास-ग्रहण करनेके अनन्तर शरीर-त्याग करनेके अन्तिम क्षण तक साधक अपने काय और कषायोंको क्रम-क्रमसे कृश करता रहता है, अतएव इसे सल्लेखना भी कहते हैं। 'संन्यास' शब्दका अर्थ है—बाहिरी शरीर-इन्द्रियादिककी क्रियाओं और प्रवृत्तियोंको रोक कर, तथा मनके संकल्प-विकल्पोंको रोककर अपने आत्मस्वभावमें अपने आपको स्थापित करना। पंडितप्रवर आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतके आठवें अध्यायमें संन्यासका लक्षण बहुत ही सुन्दर रूपसे दिया है—

संन्यासो निश्चयेनोक्तः स हि निश्चयवादिभिः।
यः स्व-स्वभावे विन्यासो निर्विकल्पस्य योगिनः ॥६३॥

जब योगी बाहिरी संसारसे सम्बन्ध तोड़कर तथा इन्द्रिय और मनके शुभाशुभ विषयोंसे भी मुख मोड़कर, सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित हो आत्म-स्वभावमें स्थिर होता है, तब उसे तत्वके निश्चय करनेवाले महर्षियोंने 'संन्यास' कहा है।

संन्यासकी उपयोगिता

आत्म-हितका साधन करनेवाला श्रावक या साधु निरन्तर आत्माके हित-साधन करनेमें ही उद्यत रहता है। वह शरीरकी उतनी ही सम्भाल करता है, जितनी कि धर्म-साधनके लिए अत्यन्त आवश्यक होती है। वह कुशल व्यापारीके समान सदा इस बातका ध्यान रखता है कि व्यय कम हो और आय अधिक हो। यही कारण है कि साधक शरीरकी सम्भाल करनेके लिए उत्तरोत्तर उदासीन और आत्म-सम्भालके लिए उत्तरोत्तर जागरूक रहता है। साधारणतः संन्यासग्रहण करनेका मार्ग वृद्धावस्थामें जीवनके सन्ध्याकालमें बतलाया गया है। यह वह समय है, जब जीवके आगामी भव-सम्बन्धी आयुका बन्ध होता है और भावी जीवनका निर्माण होता है। अतएव जीवनकी अन्तिम वेलामें यह उपदेश दिया गया है कि वह अन्य सब ऐहिक-दैहिक कार्योंसे मुख मोड़कर आत्मिक कार्योंके सम्पन्न करनेके लिए सदा सावधान रहे। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अनुकूल हैं, तो वह इसी भवसे ही सर्व कर्मोंका क्षयकर अजर-अमर पदको प्राप्त कर सकता है और यदि उक्त द्रव्य-क्षेत्रादि अनुकूल नहीं है तो कम-से-कम वह अपने भविष्यका तो सुन्दर निर्माण कर ही सकता है और यही संन्यास-धारण करनेकी सबसे बड़ी उपयोगिता है।

संन्यासका फल

संन्यासका साक्षात् या परम्पराफल मोक्ष-प्राप्ति बतलाया गया है। जो उत्कृष्ट संहननके धारक हैं और जिनके सर्व-सामग्री अनुकूल है, वे जीव तो संन्यासके द्वारा इसी भवसे मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु जो हीन संहननके धारक हैं और जिनके अन्य सामग्री अनुकूल नहीं है, वे भी यदि एक बार भी सम्यक् प्रकारसे संन्यासको धारण करके समाधिपूर्वक शरीरका त्याग करते हैं, तो वेभी सात-आठ भवमें संसार-सागरके पार उतर जाते हैं, इससे अधिक समय उन्हें संसारमें वास नहीं करना पड़ता है। संन्यास-धारक जीव अपनी आत्माका ध्यान करता हुआ प्रतिक्षण पूर्व संचित प्रचुर कर्मोंकी निर्जरा करता रहता है। यही कारण है कि जो जीव सन्यासके संस्कारोंसे अपनी आत्माको सुसंस्कृत कर लेता है, वह उत्तरोत्तर आत्म-विकाश करता हुआ अल्पकालमें ही सर्व

कर्मोंसे विमुक्त होकर सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यही संन्यास धारण करनेका सर्वोत्कृष्ट फल है।

आचार्य शान्तिसागरका संन्यास-ग्रहण

संन्यास-धारण करना श्रावक और साधु दोनोंका परम कर्तव्य माना गया है। जैन शास्त्रोंमें संन्यास धारण करने वाले अगणित व्यक्तियोंके दृष्टान्त भरे पड़े हैं। अनेकों स्थानों पर समाधिमरण करने वालोंके स्मारक और शिला-लेख आज भी प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध हैं। फिर भी इधर कितने ही वर्षोंसे लोग इस अन्तिम परम कर्तव्य को भूलसे रहे थे। उसे स्वीकार करके गत वर्ष चारित्र-चक्रवर्ती आ० शान्तिसागरजीने जैन जगत् ही नहीं, सारे संसारके सामने एक महान् आदर्श उपस्थित किया है। इधर उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दीके भीतर जितने भी साधु हुए हैं, उनमें आ० शान्तिसागरजीने अपनी दीर्घकालीन तपस्या, निर्मल निर्दोष चारित्र और शान्त स्वभावके कारण अपना एक विशेष स्थान जन-मानसके भीतर बनाया है। उनका शरीर पूर्ण रूपसे निरोग था, किन्तु वृद्धावस्थाके साथ-साथ आंखोंकी ज्योति मन्द पड़ती गई और उन्हें अपने धर्मका निर्वाह जब अशक्यसा प्रतीत होने लगा, तब उन्होंने शास्त्रोक्त मार्गका अनुसरण कर संन्यासको धारण किया और जीवनके अन्तिम क्षण तक पूर्ण सावधान रह कर प्राणोंका उत्सर्ग किया।

आचार्य शान्तिसागरने जीवन भर जैन धर्मका स्वयं पालन करते हुए सारे भारतमें विहार कर उपदेश दिया और लोगोंमें उसका प्रचार किया है। जीवनके अन्तमें उन्होंने जिस संन्यासको धारण किया था उसका आभास उनके अन्तिम दिनोंके प्रवचनोंमें स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। उसकी कुछ झांकी देखिए—

संघपति गेंदनलालजी जव्हेरी बम्बईने जब आचार्य-महाराज-द्वारा सल्लेखना धारण करनेके समाचार सुने और उन्होंने महाराजकी सेवामें उपस्थित होकर प्रार्थना की—'कमसे कम कुछ प्रमुख लोगोंको सूचना देकर पहले यहां बुला लिया जाय, उनसे परामर्श कर लिया जाय और फिर आप सल्लेखनाके सम्बन्धमें निश्चय करें, तो अच्छा होगा।' तब आचार्य महोदयने उत्तर दिया—

"यह तो मैं अपने आत्मकल्याणके लिए कर रहा हूँ। इसमें दूसरोंसे क्या पूछना? जीव अकेले आता है, अपने कियेका फल भोगता है, अपने आत्मोद्धारके साधन आप ही जुटाता है और फिर अकेले ही चला जाता है। न आते समय कोई उसका साथी होता है और न जाते समय। इसलिए उसे औरोंसे परामर्शकी क्या आवश्यकता है?"

पुनः संघपतिने जब निवेदन किया—महाराज, आपके दर्शनसे भक्तोंका उद्धार होगा न? भक्तोंके कल्याणका आप सदैव ध्यान रखते हैं। अब भी उनको आत्म-कल्याणका अवसर देना चाहिये न?

आचार्यश्रीने उत्तर दिया—"जिनका जैसा भाग्य होगा, आत्म-कल्याणका अवसर उनको उस रूपमें अवश्य प्राप्त होगा ही। दूसरोंके कार्योंका निर्धारण मैं स्वयं थोड़े ही कर सकता हूँ। मुझे तो अपने ही ऊपर अधिकार है, अपने ही कर्मोंके लिए मैं उत्तरदायी हूँ। मेरी अन्तरात्मा कहती है कि सल्लेखना धारण करनेका उचित समय अब आ गया है। अन्तरात्माके सामने मैं और किसी बातको कैसे महत्त्व दे सकता हूँ?"

××× "मेरी दृष्टि क्षीण हो गई है, इस कारण प्राणि-संयम रखनेमें मुझे कठिनाई होगी। अतः अब सल्लेखना धारण करना मेरा कर्तव्य है।"

"दिगम्बर जैन यतियोंके लिए धर्म ही मातृ-समान है। वही उनका जीवन-सर्वस्व है। यदि शारीरिक शिथिलताके कारण धर्मके पालनमें बाधा होनेकी आशंका हो, तो वह प्रसन्नता पूर्वक प्रायोपवेश करके आत्म-चिन्तनमें लीन हो जाते हैं और शरीरको उसी प्रकार त्याग देते हैं जैसे जीर्ण-शीर्ण कंथाको लौकिक जन। जैन साधुओंकी दृष्टिमें शरीरकी उपयोगिता धर्म पालनके साधनके रूपमें ही है। जिस क्षण शरीरकी यह क्षमता नष्ट हो जाती है, उसी क्षण उसकी उपयोगिता भी नहीं रह जाती और दि० जैन साधु बिना किसी मोहके उसे विसर्जित कर देते हैं। इसी कारण उनके समाधिमरणको वीरमरण कहते हैं।"

आ० शान्तिसागरके सल्लेखना ग्रहण करनेके अनन्तर जो थोड़ेसे उनके प्रवचन हुए उनके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"मनुष्यको सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये। उदास और निराश होना ठीक नहीं। प्रयास करते रहनेसे सफलता अवश्य मिलती है। लकड़ीको लकड़ीके साथ घिसते रहने पर अग्नि अवश्य प्रकट होती है, उसी प्रकार निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर आत्म-लाभ अवश्य होता है।"

"अपनेको घटिया समझना ठीक नहीं। केवलीके समान अनन्त शक्ति प्रत्येकमें विकसित हो सकती है, इस सत्य पर

विश्वास रखो। सभी जीवोंको सिद्ध सरीखा (भविष्यमें सिद्ध बननेकी सामर्थ्य रखने वाला) समझो। किसीका तिरस्कार नहीं करना चाहिये।"

ता० ८-९-५५ को आचार्य महाराजके अन्तिम प्रवचनको रिकार्ड किया गया है। उसमें आचार्यश्रीने कितनी ही बातों पर बहुत उत्तम प्रकाश डाला है। जिसमें से यहां पर उनके प्रवचनका एक अंश उद्धृत किया जाता है—

"तर त्याचे मध्ये जिनधर्म हा कोणी जीव धारण करील त्या जीवाचा कल्याण अवश्य होईल। ××× सप्तव्यसनधारी अंजन चोर स्वर्गाला गेलं। हे तर सोड, नीच जातीचा कुत्ता जीवंधरकुमाराच्या उपदेशानं सद्‌गतीला गेला. इतका महिमा जिनधर्माचा आहे। परन्तु कोण धारण करीत नाहीं। जैन होऊन जिनधर्मावर विश्वास नाहीं।"*

अर्थात् जैन धर्म को जो कोई भी जीव धारण करता है, उस जीवका अवश्य कल्याण होता है। ××× सप्तव्यसनधारी अंजनचोर पहले स्वर्ग गया और पछे मोक्ष गया। इसे भी छोड़ो, अत्यन्त नीच जातिका कुत्ता भी जीवन्धरकुमारके द्वारा उपदेशको पाकर सद्‌गतिको प्राप्त हुआ। इतनी महिमा जैनधर्मकी है। (इतनी महिमा जैन धर्म की होने पर भी) कोई इसे धारण नहीं करता। जैन होकर भी उन्हें अपने जिनधर्म पर विश्वास नहीं हैं।"

उक्त प्रवचन के अन्तिम शब्द कितने मार्मिक और उद्‌बोधक हैं और आचार्य महाराज उनके द्वारा अपना आशय प्रकट कर रहे हैं कि जिनधर्मके माहात्म्यसे, उसके आश्रयसे बड़े-बड़े पापी तिर गये, उनका उद्धार हो गया, तो क्या जैन कुलमें उत्पन्न हुये व्यक्ति का उद्धार नहीं होगा? अवश्य होगा। पर आचार्य महाराज दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहते हैं कि जैनियोंको स्वयं अपने ही धर्म पर विश्वास नहीं है, यह कितने दुःख की बात है। इस एक ही प्रवचन-सूत्रमें कितनी भावनाएँ अन्तर्निहित हैं यह उसके एक-एक अक्षरसे प्रकट हो रहा है। साथ ही आचार्य महाराजकी उस शुद्ध भावनाका भी स्पष्ट आभास मिलता है, जोकि वे जीवन भर अपने उपदेशोंके द्वारा जीवों को सन्मार्गपर लानेके लिए भाते रहे और यथेष्ट सफलता न मिलने पर उनके प्राणिमात्रके उद्धारकी पुनीत भावना से भरे हुये कोमल हृदयको जो ठेस पहुँची, जो अन्तर्वेदना हुई, उसका भी पता उक्त वाक्यके द्वारा सहज में ही लग जाता है। वस्तुतः आचार्य महाराज केवल शान्ति-सागर ही नहीं थे अपितु वे करुणाके आकर और विश्वमैत्रीके भण्डार भी थे।

आचार्यश्रीके स्वर्गारोहणके पश्चात् सारे भारतवर्षमें शोक-सभाएँ की गईं और उन्हें श्रद्धाञ्जलियां समर्पित की गईं। अनेक स्थानों पर उनके स्मारक बनाने की भी बड़ी-बड़ी बातें उठीं। पर उनमेंसे कौन बात मूर्तरूप धारण करेगी, यह भविष्य ही बतलायगा। मेरी रायमें बड़े स्मारकके रूपमें जो भी किया जावे, सो तो ठीक है ही। पर कम-से-कम उनके संन्यास-धारण करनेके परम आदर्शको स्थायी रखने और संन्यासकी परम्पराको जारी रखनेके लिए यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि भारत के मध्य एक और उसके चारों ओर चार इस प्रकार पांच संन्यास-भवनोंका अवश्य निर्माण कराया जावे। जहां जाकर समाधिमरणके इच्छुक श्रावक या साधु अपने जीवनके अन्तिम क्षणोंको पूर्ण निराकुलता-पूर्वक धर्माराधनमें व्यतीत कर आत्म-कल्याण कर सकें। इसके लिए कुछ उपयोगी सुझाव इस प्रकार हैं—

१—जन-कोलाहल से दूर किसी एकान्त, शान्त, तीर्थ क्षेत्र या इसी प्रकार के उत्तम स्थानका चुनाव किया जाय, जहां पर संन्यासको धारण करनेका इच्छुक श्रावक या साधु रह कर समाधिपूर्वक देह उत्सर्ग कर सके।

२—संन्यास-भवनकी दीवालों पर चारों ओर घोरातिघोर उपसर्ग और परीषहोंको सहन करके आत्मार्थ सिद्ध करने वाले साधुओंके सजीव चित्र रहें जिन्हें देखकर समाधिमरण करनेवाला अपने परिणामोंको स्थिर रख सके।

३—उक्त चित्रोंके नीचे समाधिमरण पाठके छंद, वैराग्य-वर्धक श्लोक आदि लिखे जावें। तीर्थंकरोंके पांचों कल्याणकोंके भी दृश्य अंकित किये जावें। भवनकी छतपर या किसी एक ओर की दीवालपर समवसरणमें धर्मोपदेश देते हुए तीर्थंकर भगवान्‌का जीता जागता चित्रण किया जाय।

४—उक्त संन्यास-भवनके समीप ही कुछ दूरी पर परिचर्या करनेवालोंके रहने आदिके लिए कमरे आदि बनाये जावें और इनकी व्यवस्थाका भार उक्त क्षेत्रके समीप रहने वाली जैन पंचायतके आधीन किया जावे।

---

* जैन गजटके श्रद्धाञ्जलि-विशेषाङ्कसे साभार उद्धृत।
—लेखक

४—मेरे ख्यालसे स्थानोंका चुनाव इस प्रकार किया जावे—पूर्वमें ईसरी, दक्षिणमें कुंथलगिरि, पश्चिममें सोनगढ़, उत्तरमें हस्तिनापुर और मध्यमें इन्दौर, सिद्धवरकूट या बड़वानी।

मेरी रायसे इन संन्यास-भवनोंका नाम 'आ० शान्ति-सागर-संन्यास-भवन' रखा जावे। यह कार्य उनके द्वारा उपस्थित किये गये आदर्शके अनुरूप और भावी पीढ़ीको इस मार्गपर चलानेके लिए प्रेरक होनेके कारण सर्वोत्तम स्मारक सिद्ध होगा।

अथवा जहां पर जैनी अधिक संख्यामें आबाद हैं, ऐसे पांच शहरोंमें नगरके बाहिर नसिया आदि स्थानोंमें उक्त संन्यास-भवन निर्माण किये जावें। वर्तमानकी व्यवस्थाको देखते हुए सोलापुर, बम्बई, अहमदाबाद जयपुर, दिल्ली, इन्दौर, गया और कलकत्ता मेंसे कोई भी पांच नगरोंका चुनाव किया जा सकता है।

संन्यास या समाधिमरणके साधनका उत्कृष्ट काल १२ वर्षका बतलाया गया है। अतः जो संसारसे उदासीन होकर संन्यास-दीक्षाग्रहण कर आत्म-साधनमें लगना चाहेंगे, वे तो उनमें रहेंगे ही। साथ ही जो भी व्रती पुरुष प्रोषधो-पवास व्रतके धारक हैं, वे भी अष्टमी चतुर्दशीके दिनोंमें वहां जाकर समाधिमरणकी अपनी भावनाको दृढ़ संस्कारोंसे सुसंस्कृत कर और भी बलवती बना सकेंगे।

उक्त संन्यास-भवनोंकी सभालका काम उदासीन-आश्रमों और व्रती संस्थाओंके आधीन किया जा सकता है

आ० नमिसागरका संन्यास-ग्रहण

आ० शान्तिसागरके समाधिपूर्वक देहत्याग करनेके १३ मासके पश्चात् उन्हींके शिष्य परम तपस्वी आ० नमिसागर-जीने ११-१०-५६ को संन्यासग्रहण किया। यद्यपि तपस्यासे आपका शरीर अत्यन्त कृश पहिलेसे ही था, परन्तु पिछले दिनोंमें आपको उदर रोगकी शिकायत होगई थी। जब आपने देखा कि मेरा रोग उपचार किये जाने पर भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही जारहा है, तब आपने सर्व प्रकारकी औषधि और अन्नका त्याग करके समाधि-मरणकी तैयारी की और अन्तमें २२-१०-५६ को दिनके १२ बजे पूर्ण सावधानीके साथ देहका उत्सर्ग कर स्वर्ग-धाम पधारे।

आ० नमिसागरजीकी तपस्यासे सर्व लोग परिचित हैं। आपके महान् त्याग और उग्र तपस्याओंकी सर्वत्र चर्चा है। आपके मुनिजीवनमें ऐसा कोई चातुर्मास याद नहीं आता, जिसमें आपने कोई-न-कोई दुर्धर व्रतका आराधन न किया हो। आप अनेकों वार एक-एक, डेढ़-डेढ़ मास केवल छांछ या नींबूके जलपर रहे हैं, गर्मीके दिनोंमें भी एक-एक मास तक विना पानीके निर्वाह किया है। नमकका त्याग तो आपके २७-२८ वर्षसे था ही, पर बीच-बीचमें अनेकोंवार आपने सर्वरसोंका भी त्यागकर केवल रूखे-सूखे भोजन पर वर्षों तक शरीरका निर्वाह किया है। एक वार आपके रूक्ष आहार करनेसे नेत्रोंकी ज्योति चली गई, तो आपने अन्न-जलका ही परित्याग कर दिया। किन्तु भाग्यवश तपोबलसे सातवें दिन आपको पुनः नेत्र-ज्योति प्राप्त होगई।

आपकी शिक्षा बचपनमें बहुत ही कम हुई थी, किन्तु मुनिजीवनमें आप निरन्तर शास्त्राभ्यास करते रहे, जिसके फलस्वरूप आपका शास्त्रज्ञान बहुत अच्छा होगया था। प्रारम्भमें आपको हिन्दी बोलनेका बहुत ही कम अभ्यास था। धीरे-धीरे आपने अपनी योग्यता बढ़ाई और अब काफी देर तक हिन्दीमें उत्तम व्याख्यान देने लगे थे। आप एकान्तमें शान्तिके साथ रहना पसन्द करते थे और घण्टों मौनपूर्वक समाधिस्थ रहा करते थे। अन्तिम समयमें आपके भाव तीर्थराज सम्मेदाचलकी यात्रा करके पूज्य क्षुल्लक गणेश-प्रसादजी वर्णीके समीप रहकर समयसार आदि अध्यात्म-ग्रन्थोंके श्रवण-मननके हुए और आपने तदनुसार तीर्थराजकी वन्दना करके ईसरीमें चतुर्मास किया। अध्यात्म-ग्रन्थोंका श्रवण-मनन और धर्मसाधन करते हुए आपके दिन बहुत अच्छी तरह व्यतीत होरहे थे कि अचानक उदर-व्याधिने विकट रूप धारण कर लिया। जब आपने रोगकी असाध्यताका अनुभव किया, तो संन्यास धारण कर लिया और अन्तमें अपने पूज्य गुरुदेव आ० शान्तिसागर महाराजके समान ही अत्यन्त शान्ति और परम समाधिके साथ शरीरका परित्याग किया।

यद्यपि आपको मौन-पूर्वक स्वाध्याय करना अधिक पसन्द था और इसलिए व्याख्यान बहुत ही कम देते थे। पर जब कभी भी आप व्याख्यान देते, तो उसमें श्रोताओंको अनेक अश्रुत-पूर्व मौलिक बातें सुननेको मिलती थीं। कभी-कभी तो आप किसी खास बातको कहते हुए इतने आत्म-विभोर हो जाते थे, कि आंखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी। जैन समाजकी दिन पर दिन गिरती हुई दशाको देखकर आपके हृदयमें जो पीड़ा होती थी, उसकी झांकी कभी-कभी आपके उपदेशोंमें स्पष्ट दिख जाती थी। आप जैन धर्मकी

पवित्रता और शुद्धता रखनेके लिए अपने प्रवचनोंमें बहुत अधिक जोर देते रहे हैं। आपने जहां कहीं भी चतुर्मास किया, आपके प्रवचनोंसे प्रभावित होकर वहांकी समाजने मुक्त हस्तसे दान दिया और उसके फलस्वरूप स्थान-स्थान पर अनेकों पाठशालाएँ और औषधालय आदि खोले गये।

आ० नमिसागरजीका एक चतुर्मास सन् १९५१ में दिल्ली हुआ था। उसी समय आ० सूर्यसागरजी महाराजने भी पहाड़ी धीरज दिल्लीमें चतुर्मास किया था। उस समय धर्मपुरा नया मन्दिरमें दोनों आचार्योंके साथ-साथ अनेक बार उपदेश हुए हैं। जिनमेंसे कितने ही उपदेश अ० भा० केंद्रीय महासमिति दिल्लीके द्वारा संकेत लिपिमें निबद्ध कराये गये थे। इन उपदेशोंकी हिन्दीमें टाइप की हुई प्रतियां मेरे पास सुरक्षित हैं। *उन उपदेश-वाक्योंमेंसे कुछ खास-खास अंश* यहां उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे पाठकोंको आ० नमिसागर-जीकी महत्ता, विद्वत्ता और सूक्ष्म विचारकताका बहुत कुछ परिचय मिलेगा।

आत्माका शत्रु कौन है ?

"विभावको हमने बुलाया, तो आया। आपसे-आप आया नहीं। मेरा शत्रु कौन है ? अज्ञान मेरा शत्रु, मेरे अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला विभाव मेरा शत्रु है।"

"आप लोग यह जान लो कि पानी हमेशा पानी रहता है, वह कभी गंदला नहीं रहता। पानी हमेशा सफेद रहेगा। पानीको कोई खराब नहीं कर सकता, जब तक कि वह पानी रहेगा। पानी हवा लगनेसे हिलोर लेने लगता है। हवा लगनेसे उछलने लगता है, बस यह कीचड़से मलीन होगया। वह मलीन नहीं, मलीन वह जो उसमें झाग उठते हैं, बुलबुले उठते हैं। इस तरह पानी आपसे-आप मैला होगया। अगर पानी अपनी असली शक्लमें रहता, उसमें झाग नहीं उठते, तो पानीको मैला करनेवाला कौन है ? हवा। हवासे पानीमें झाग उत्पन्न होगये। झाग कहां से आये ? उसके अपने विभावसे झाग उपन्न होगये। हवा लगी तो विभाव हुआ, हवा नहीं लगती, तो विभाव होता नहीं, पानी गंदला होता नहीं। इसी तरह आदमी अपने स्वभावमें स्थिर रहता, तो पानीकी तरह निर्विकार आत्मसात् बना रहता। उसने अपने स्वभावसे अपनेमें रागद्वेष उत्पन्न कर लिये और रागद्वेष रूपी हवासे विभावरूपी झाग उठ खड़े हुये। सरस्वती यहां ही सरस्वती है। अनादिकाल-से आत्माको इन विभावरूपी झागोंसे बचाने, मलीन होनेसे रोकने और ज्ञानकी सच्ची देनका ही नाम सरस्वती है। सरस्वती क्या है ? जो अपना है, उसे अपने पास रखे, दूसरे उसमें हों उन सबको निकाल दे। यहां तक कि राग-द्वेष-रूपी हवाको लगने ही न दे। जब राग-द्वेष मौजूद ही नहीं होंगे तो विभावरूपी झाग उत्पन्न ही नहीं हो सकते। जब बीज ही नहीं रहेगा, तो वृक्ष कहांसे होजायगा ? ××× इस लिए आप इन विभावरूपी राग-द्वेषोंको अपने हृदयसे निकालकर ज्ञानकी सच्ची देन सरस्वतीको स्थिर करो और दूसरोंका त्याग करो।

(११-१२-५१ के प्रवचनसे)

सच्चा साधु कौन ?

"×××आप लोग जान लो अंतरंग भेषको जाने बिना बाहिरी भेषमें गुरु नहीं हो सकता। अन्तरंग भेषको जानने वाला ही गुरु हो सकता है।

जब तक आपके (आत्माके) अन्दर माया है, मिथ्या आहार-विहार है, अज्ञान है, मिथ्यात्व है, तब तक संसार है।

जो अपनी अन्तरंग भावनामें उद्यत रहे, वही साधु है। अन्तरंगका मतलब अपने धर्ममें। अपनी आत्माको संसार-बन्धनसे छुड़ाकर साधन करनेवाला, अवलोकन करने-वाला जो अपने आप मार्ग निकाल ले वही साधु है।

जप-तप करनेसे, उपवास करनेसे, कपड़ा छोड़नेसे क्या हुआ, जब तक विषय भोग नहीं छोड़े। साधु को न पुण्य-कर्मसे मतलब, न पाप कर्मसे। जिसको पुण्य कर्मकी जरूरत नहीं, पापकर्मकी जरूरत नहीं, वही साधु है।

जो संसारमें रहे, पर अन्तरंगमेंसे जितने शल्य निकाल दी। संसारमें रहता है, लेकिन उसमें लिप्त नहीं है, वीत-राग जिसके भीतर जाग रहा है, जिसके अन्दर वीतराग सम्यग्ज्ञान प्रकाशित हो चुका है, वह शल्य-रहित गुरु है।"

(१२-१२-५१ के प्रवचनसे)

सच्चा साधु कौन है ? जो आप अपने आत्म हितकी साधना करे और दूसरोंको साधना करनेको कहे।

(१३-१२-५१ के प्रवचनसे)

आत्म-हित श्रेष्ठ, या पर-हित ?

"आपके सामने दो वस्तुएँ हैं—(एक) अपना कल्याण करना, (दो) दूसरोंका कल्याण करना। अपना कल्याण करना ठीक है, या दूसरोंका कल्याण किया जाय ?××× तुम्हारा तो परहितका रक्षा करते-करते अनन्त काल बीत

गया। पहले आत्म-हित करो, फिर पर हित करना चाहिए। आप सबने आत्म-हित छोड़ दिया है, सब पर-हित में मग्न हैं।"

"जब आपके पास है ही नहीं, तो आप दूसरेको क्या दे सकते हैं? पहले अपना हित करो। जब तुम्हारे पास कुछ होगा, तभी पर-हित कर सकते हो। यदि आपके पास पैसा है, धन है, तो दूसरेको दे सकते हो। अगर तुम्हारे पास कुछ है ही नहीं, तो दूसरेको क्या दोगे? पर-हित कैसे कर सकोगे? अतएव पहले अपना ऐश्वर्य पानेके लिये उद्यत रहो, प्रयत्न करो।"

सच्चा मुनीम कौन ?

आप लोग सेठ हैं। पर वस्तुकी रक्षा करनेके लिए यदि मुनीम रख लिया, उसने मार्ग देखा नहीं, चलेगा कैसे? मार्ग बताओ तो चलेगा। जैसा आपका मुनीम है, उसी तरह यह (अपनी ओर संकेत करते हुए) धर्मका मुनीम है। अधर्मको निकाल कर धर्मका मार्ग रखे, वह धर्मका मुनीम है। पर यदि वह तुम्हें अधर्म पर चलाए और कहे—पगार (आहार रूपी वेतन) लाओ तो वह मुनीम नहीं है। जो मुनिके समान अलिप्त रहे, अलिप्त रह कर ही सेठका काम करे, वही मुनीम है।

तुमने साधुको पगार दिया और उसने तुमको धर्म दिया। दातार हो तुम, मैं तुम्हारा नौकर हूँ, मुनीम हूँ। काम लो भैया, कर्मको निकालनेका और धर्मको धारण करनेका काम लो। नहीं तो—

'लोभी गुरु लालची चेला, दोनों नरकमें ठेलमठेला।'

अगर आप सच्चा मुनीम रखेंगे, तो आपकी नाव पार हो सकती है।

(१३।१२।५१ के प्रवचनसे)

सब कुछ क्या ?

संसारमें सब कुछ पा लिया, अब एक बाकी रह गया। वह चीज पाना है। जिसने अपने आत्मज्ञानको प्राप्त कर लिया, उसने सब कुछ पा लिया। चुम्बक लोहेको अपनी ओर खींचता है, सूर्य आग पैदा कर देता है। इसी तरह जीवनमें इतनी शक्ति होनी चाहिए, आत्मामें इतना ज्ञान होना चाहिये कि वह कर्मको फेंक दे और आत्म-शक्तिको खींच ले।

शास्त्री और पण्डित कौन ?

शास्त्रके बनाने वालेने कितनी युक्तियोंसे इस शास्त्रको बनाया और हम कहने लगे कि इसमें यह नहीं, इसमें वह नहीं है। यह ऐसा नहीं है, यह वैसा नहीं है। पहले उसका अध्ययन करके देखो—जीव क्या है, कर्म क्या है? कर्मको अलग करनेका क्या उपाय है? फिर सत्य और असत्यका विवेक करके कि यह हेय है, यह उपादेय है यह लेना है, यह छोड़ना है, ऐसा विचार करनेसे विवेक जागृत होगा। उस समय ही तुम शास्त्री कहलाओगे। उसीको शास्त्री कहते हैं, उसीको पण्डित कहते हैं।

(१४।१२।५१ के प्रवचनसे)

कमाया बहुत, अब कुछ गमाना भी सीखो

बहिरात्मा पापकर्मको निर्भय होकर करता है। कल क्या होगा, कैसा होगा? यह नहीं सोचता और यह समझता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, ठीक ही कर रहा हूँ। धन मेरा है धन मेरी रक्षा करता है; मैं भी उसकी रक्षा करूँ। इसीमें अनन्तकाल बीत गये मिथ्या भावमें। ××× अब आचार्य कहते हैं कि अनादिकाल बीत गये, पापकर्म नहीं छोड़े। अब भैया, थोड़े दिनके लिए अशुभ कर्मोंको छोड़ दो। यह स्थिर रहने वाला नहीं है। अगर स्थिर रहने वाला है तो करो। पर वह तो नाश होने वाला है। भैया, छोड़ दो उन्मार्गको, सन्मार्गको प्राप्त करो। खाना, कमाना यह सांसारिक मार्ग है। अब बहुत कमा लिया, कुछ गमाना भी सीख लो। गमाना क्या है? सुबह उठ कर जिनेन्द्रका नाम लेना, पूजन करना, दान देना आदि। यही शुभ कर्म हैं। अब शुभ कर्मोंमें व्यवस्थित होओ। जब तक यह नहीं करोगे, तब तक अशुभ कर्म छूटते नहीं।

साधुभाव क्या है ?

इन पाप-पुण्योंसे संसारमें सुख-दुख ही मिलता है। पाप करनेसे दुख और पुण्य करनेसे सुख। इसलिए पाप और पुण्य दोनोंका ही बन्दीगृह-जेलखाने-से सरोकार है। दोनोंको ही जेलखानेमें रहना पड़ता है। साधु भाव यहां तक नहीं है। साधु भाव वहीं है, जो पापके समान पुण्यका भी त्याग कर दे। वही साधु है, वही मोक्ष है।

××× जब तक संसार है, साधुभाव नहीं, शुद्धभाव नहीं। इसलिए शुभ-अशुभ भावोंको तिलांजलि दे दो। शुद्धभाव ही आत्माको शुद्ध करनेका कारण है।

शुद्ध या मुक्त होनेका मार्ग क्या है ?

यह पाप-पुण्य अनन्तकालसे आत्माको दुःखमें डालने-

वाले हैं। अगर पाप-पुण्य दोनों छोड़ दिये, तो तीसरी शुद्ध चीज़ रह जायेगी अपनी आत्मा।

××× आप कहें कि हमारे अन्दर यह शक्ति नहीं कि पाप पुण्य दोनोंको छोड़ दें। कैसे छोड़ दें? इसके लिये अभ्यास करना होगा। पापोंको कम करनेके लिए पहले पुण्य करना पड़ेगा जब पाप दूर हो जाय, तो फिर धीरे-धीरे पुण्य भी छोड़ दो। इस तरह पाप-पुण्य दोनोंको छोड़ कर शुद्ध हो जाओगे, मुक्त हो जाओगे।

(१५।१२.५१ के प्रवचनसे)

आ० नमिसागरका स्मारक क्या हो?

आचार्यश्रीका स्मारक क्या हो, इसका निर्णय आप लोग उनके प्रवचनको पढ़ कर ही कीजिये।

सन् १९५१ की बात है आ० नमिसागरजी और आ० सूर्यसागरजीका चतुर्मास दिल्लीमें हो रहा था और मैं उन दिनों क्षु० पूर्णसागरजीके पास था। धर्मपुराके नये मन्दिरमें उक्त आचार्यद्वयके भाषणके कभी पहले और कभी पीछे मेरे भी भाषण लगातार हो रहे थे। एक दिनकी बात है दैनिक पत्रोंमें यह समाचार आया कि दक्षिणके अमुक प्रान्तमें कम्यूनिष्टोंने अमुक उपद्रव कर दिया है और अमुक धर्म-संस्थानकी सम्पत्ति लूट ली है। आ० नमिसागरजी कभी-कभी हिन्दीका दैनिक पत्र देखा करते थे। उक्त समाचारको पढ़ कर उनके मानस पर बहुत आघात सा पहुँचा और वे प्रवचन करते हुए अत्यन्त द्रवित होकर भावावेशमें कहने लगे—'अय दिल्ली वाले जैनियो तुम कहां जा रहे हो? क्या कर रहे हो?' मैं सुन करके चौंका—आज महाराज क्या कह रहे हैं कनड़ी भाषी होनेके कारण वे शुद्ध हिन्दीमें अपना भाव व्यक्त नहीं कर पाते थे और साधारण जनता को, या मुझे भी प्रायः उनकी बोली सहसा समझमें नहीं आती थी। अतएव मैं अत्यन्त सावधान होकर उनका भाषण सुनने लगा। महाराज लोगोंको उत्सुक वदन देख कर बोले 'क्या समझे? और फिर अपना अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहने लगे—अरे, वीतरागको सराग बना कर तुम लोग कहां जा रहे हो? स्वर्गमें या नर्कमें? जानते हो—वीतरागको सराग बनानेमें कौन सा पाप होता है!!! बताऊँ? सुनो—मिथ्यात्व पाप होता है। तुम लोग वीतरागके मन्दिरमें सरागी देवी-देवताओंकी स्थापना कर उनकी पूजा-भक्ति करने लगे हो? यह सब क्या है? मिथ्यात्व है। इनके पूजनेसे तुम्हारा कल्याण हो जायगा? कभी नहीं। ये देवी-देवता तुम्हारी भक्तिसे प्रसन्न भी हो जायँ, तो क्या देंगे? वही जो उनके पास है। समझे? वही संसारमें डुबाने वाली भोग-सम्पदा देंगे। जिसमें मगन हो करके तुम फिर संसार समुद्रमें डूबोगे और फिर चतुर्गतिमें परिभ्रमण कर अनन्तकाल तक दुःख उठाते फिरोगे!!! तो फिर क्या करना चाहिये? पद्मावती चक्रेश्वरी आदि सरागी देवोंकी पूजा भक्ति छोड़ कर एकमात्र वीतराग देवकी ही पूजा भक्ति करना चाहिये। इसीसे तुम्हारे भीतर वीतरागता जागेगी और फिर तुम भी एक दिन वीतराग बन कर जगत् पूज्य बन जाओगे। बोलो जगत्-पूजक बने रहना अच्छा है, या जगत्पूज्य बनना?

लोग एक स्वरसे बोल उठे—'बोलो आ० नमिसागर महाराजकी जय।'

आचार्य महाराजने अपना भाषण जारी रखते हुये कहा अरे, तुम लोगोंने वीतरागको सराग बनानेके लिए चँवर-छत्रको ही सोने-चांदीका नहीं बनाया, किन्तु स्वयं वीतरागको ही सोने-चांदीका बना डाला। भगवान् क्या सोने-चांदीके थे? नहीं, उनका भी पार्थिव शरीर उन्हीं पुद्गल-परमाणुओंसे बना था, जिससे कि तुम्हारा-हमारा। भगवान् सोने-चांदीके नहीं थे—उनके शरीरका रंग सोने-चांदी जैसा था। और देखो, तुम कहोगे कि हमने तो भक्तिमें आकर सैकड़ों हज़ारों रुपये लगा कर जो ये चांदी-सोनेके भगवान् बनाये हैं, सो कोई चुरा न ले जाय, इसके लिए तुम लोगोंने इन्हें तालोंमें बन्द कर दिया, तिजोड़ियोंमें बन्द कर दिया। जानते हो? यह कितना बड़ा पाप है? कौन सा पाप है? अरे, भगवान्को तालोंमें बन्द करनेसे दर्शनावरणीय कर्म बन्धता है—दर्शनावरणीय कर्म। जिसके कारण तुम्हें कभी आत्म-दर्शन नहीं हो सकेगा। जानते हो, पुराने कालमें मन्दिरों पर ताले नहीं लगा करते थे। हमारे दक्षिणमें आजभी अनेकों मन्दिरों पर ताले नहीं लगते हैं किवाड़ नहीं लगते हैं, कि जिससे सब कोई सब काल उनका निर्बाध दर्शन कर सके। मन्दिरों पर ताले लगानेसे भक्तको दर्शन करनेमें अन्तराय होता है और उससे ताला लगाने वालेके भारी पाप बन्ध होता है। तुम कहोगे—महाराज हम तो किसीको दर्शनसे रोकनेके लिए ताला नहीं लगाते हैं। हम तो देव और देवद्रव्यकी रक्षा करनेके लिये ताला लगाते हैं। तो क्या ऐसा कहनेसे तुम पापसे बच जाओगे? अरे तुम्हारे भाव चाहे कुछ हों, पर क्रिया जो उलटी कर रहे हो, दूसरोंके दर्शनमें अन्तराय बनते

हो, उससे तो पापका बन्ध होगा ही। जानते हो, तत्त्वार्थ-सूत्रमें क्या कहा है? चाहे ज्ञातभावसे क्रिया करो और चाहे अज्ञातभावसे करो, पर पापका बन्ध तो होगा ही। मैं यह विषपान कर रहा हूँ ऐसा जान करके चाहे विष पियो और चाहे अनजाने विषको पीओ, पर जानते हो दोनोंका क्या फल होगा? दोनों ही मरेंगे।

अपना भाषण जारी रखते हुए आचार्य महाराज बोले—तुम लोग अखबार पढ़ते हो, मालूम है, क्या समाचार आते हैं? आज अमुक स्थानकी मूर्ति चोरी चली गई, आज अमुक स्थानके मन्दिरसे सोनेका छत्र-चंवर चोरी चला गया, आदि। यदि लोग भगवान्‌को सोने चांदीका न बनवाते, सोने-चांदीके छत्र-चंवर न चढ़ाते, तो कोई चुरा ही क्या ले जाता? पहले सब जगह पाषाणकी ही मूर्तियां बनती थीं, और उसीमें छत्र चँवर भामंडल आदि उकेरे रहते थे, तब कहीं चोरी होनेकी बात नहीं सुनी जाती थी। कोई चुराने ही आता, तो क्या चुरा ले जाता? पर आज तो उल्टी *गंगा* बह रही है और लोग धर्मका विकृत रूप करते जारहे हैं। मन्दिरोंको भी अब सोने-चांदीसे सजाते जारहे हैं। मैं कहता हूँ, मेरी बात दिल्लीवाले लिखकर रख लें। सारे भारतमें कम्यूनिष्ट फैलते जारहे हैं, और वे बहुत जल्दी मन्दिरोंको लूट लेंगे और उनके आनेसे पहले सरकार ही ऐसी कानूनी बनाती जा रही है कि जिससे सब मन्दिरोंका धन सरकारके पास चला जायगा। इसलिए हे दिल्लीवाले जैनियो, मेरी बात मानो—मन्दिरोंमें जितना सोना-चांदी है, उनके उपकरण हैं, उन्हें बेचकर सब रुपया इकट्ठा करो और जो तुम्हारी समाजमें गरीब हैं, पूँजीके लिए जिनके पास पैसा नहीं है, उनको उनकी आवश्यकता और स्थितिके अनुसार पूँजीके रूपमें उस रुपये को बांट दो और ब्याजमें उनसे प्रातः-सायंकाल देव-दर्शनकी तथा दिनमें न्याय-पूर्वक व्यापार करनेकी प्रतिज्ञा ग्रहण कराओ। फिर देखोगे कि जब लोगोंको यह मालूम हो जायगा कि जैनियोंने अपने मन्दिरोंका देवद्रव्य गरीबोंको बांट दिया है तब प्रथम तो तुम्हारे मन्दिरों पर कोई आक्रमण ही नहीं करेगा। और यदि इतने पर भी लोग आक्रमण करें और लूटमारको आवेंगे, तो जिन लोगोंको पूँजी देकर उनकी आजीविका स्थिर की है, वे ही लोग मन्दिरोंकी रक्षाके लिए तन मन-धनसे लग जावेंगे और उनकी रक्षामें अपनी जानोंकी बाजी लगा देंगे। दिल्लीवालो, मेरा कहा मानो, सब लोग मिलकर एक पंचायत बनाओ, सारे मन्दिरोंके द्रव्यको एकत्रित करो और पूँजीके विना आजीविका-हीन तथा* पाकिस्तानसे आनेके कारण आश्रय-विहीन गरीब जैनोंकी सहायता करो, उनका स्थिति-करण करो और उन्हें सुखी बनाओ। 'न धर्मो धार्मिकैः विना' और 'धर्मो रक्षति रक्षितः'के सूत्रोंका मनन करो, तब तुम्हें पता लगेगा, कि तुम्हारा आज क्या कर्तव्य है?

उस चातुर्मासमें प्रायः प्रतिदिन आचार्य महाराजने अपने उपदेशोंके द्वारा प्रत्येक जैनको संबोधन कर-करके उन्हें उनके कर्तव्यों का ज्ञान कराया।

जिस समय महाराज उक्त प्रवचन कर रहे थे उस समय महाराजके नेत्रोंसे आंसू टपाटप गिर रहे थे, और वे अत्यन्त गद्गद स्वरसे अपना उपदेश दे रहे थे। उनके प्रवचनके बाद मैंने महाराजके शब्दोंका खुलासा करते हुए कहा था, कि यदि आचार्यश्रीके सिवाय किसी अन्य गृहस्थ पंडितके मुखसे उक्त शब्द निकले होते, तो पता नहीं, श्रोता लोग उसकी कैसी दुर्गति करते। पर शाबाश है उन सब श्रोताओंको जो इतने दिनके बाद भी उसके कानों पर जूं तक न रेंगी। और इसका आभास ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण मिला हमें लालमन्दिरमें हुई उस दिनकी (२४-१०-५६ की) शोक-सभामें, जब लोग आचार्य महाराजके स्वर्गारोहणके उप-लक्ष्यमें उन्हें अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलियां भेंट कर रहे थे। एक भाईने अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट करते हुए कहा कि मेरी आप लोगोंसे प्रार्थना है कि आचार्य महाराजकी स्मृतिको स्थायी रखनेके लिये एक फण्ड कायम किया जाए और उसके द्वारा गरीब जैन बन्धुओंको पूँजी देकर उनकी आजीविकामें सहायता दी जाय। उक्त सज्जनके महाराजके प्रवचनकी पुनरावृत्ति रूप इस सुझावको सुनकर भी सारी दिल्लीके उपस्थित पंचों और मुखियोंने इस सामयिक सुझावको यों ही उड़ा दिया और वक्ताओंको २-२ मिनटका समय देकर सभाकी कार्यवाही समाप्त कर दी गई।

इस सम्बन्धमें मैं दिल्लीके ही नहीं, अपितु सारी

---

* देश-विभाजनके बाद शरणार्थियोंकी समस्या उन दिनों भयंकर रूप धारण कर रही थी और पाकिस्तानसे आए हुए जैन बेघरबार और बेरोजगार होकर मारे-मारे फिर रहे थे, अतः उनको लक्ष्यमें रखकर आचार्यश्रीने *यह अत्यन्त* सामयिक, मौलिक और जैनियों पर भविष्यमें आनेवाले संकटोंसे उनकी रक्षा करनेवाला *उपदेश दिया था।*

समाजके कर्णधारोंसे यह नम्र निवेदन कर देना चाहता हूँ कि उक्त सज्जनका सुझाव आचार्यश्रीके प्रवचनके अनुरूप ही नहीं, प्रतिध्वनि रूप है। यदि सारे भारतके जैनियोंने आचार्यश्रीके स्वर्गवास पर श्रद्धाके फूल चढ़ाकर सचमुचमें शोक-सभाएँ की हैं और वास्तवमें वे महाराजकी स्मृतिको कायम रखना चाहते हैं, तो उन्हें स्वयं महाराजके द्वारा दिये गये सुझावको यदि वे उनके जीवनमें अमली रूप नहीं दे सके हैं, तो कम-से-कम अब तो उनके स्वर्गवासके बाद ही सही, अमली जामा पहिना करके उनकी आन्तरिक भावनाको मूर्तमान रूप देकर अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। महाराजकी आत्मा स्वर्गसे यह देखकर अत्यन्त शान्तिका अनुभव करेगी कि मेरे भक्त मेरे जीते जी तो नहीं चेते तो, चलो अब मेरे चले आनेके बाद उनका ध्यान मेरी मेरी बातों पर गया है और वे उसे पूरा करनेके लिए कृत-संकल्प हुए हैं। महाराजकी स्वर्गस्थ आत्मा वहाँसे तुम्हें आशीर्वाद देगी कि तुम सबका कल्याण हो।

नियतिवाद

(प्रो० महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्य, एम० ए०)

नियतिवादियोंका कहना है कि—जिसका जिस समयमें जहाँ जो होना है वह होता ही है। तीक्ष्ण शस्त्र घात होने पर भी यदि मरण नहीं होना है तो व्यक्ति जीवित ही बच जाता है और जब मरनेकी घड़ी आ जाती है तब बिना किसी कारणके ही जीवनकी घड़ी बन्द हो जाती है।

"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति न्टणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्ने नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥

अर्थात् मनुष्योंको नियतिके कारण जो भी शुभ और अशुभ प्राप्त होना है वह अवश्य ही होगा। प्राणी कितना भी प्रयत्न करलें पर जो नहीं होना है वह नहीं ही होगा, और जो होना है उसे कोई रोक नहीं सकता। सब जीवोंका सब कुछ नियत है, वह अपनी गतिसे होगा ही।'*

मज्झिमनिकाय (२।३।६) तथा बुद्धचर्या (सामञ्ञफल सुत्त पृ० ४६२-६३) में अकर्मण्यतावादी मक्खलि गोशालके नियतिचक्रका इस प्रकार वर्णन मिलता है—"प्राणियोंके क्लेशके लिये कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं। बिना हेतु, बिना प्रत्यय ही प्राणी क्लेश पाते हैं। प्राणियोंकी शुद्धिका कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं है। बिना प्रत्यय ही प्राणी विशुद्ध होते हैं। न आत्मकार है, न परकार है न पुरुषकार है, न बल है न वीर्य है, न पुरुषका पराक्रम है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी जीव अवश्य हैं, बल-वीर्य-रहित हैं। नियतिसे निर्मित अवस्थामें परिणत होकर छह ही अभिजातियोंमें सुख-दुःख अनुभव करते हैं।......वहाँ यह नहीं है कि इस शीलव्रतसे इस तप ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूँगा, परिपक्व कर्मको भोगकर अन्त करूँगा। सुख और दुःख द्रोणसे नपे हुए हैं। संसारमें घटना-बढ़ना, उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सूतकी गोली फेंकने पर खुलती हुई गिर पड़ती है. वैसे ही मूर्ख और पंडित दौड़कर आवागमनमें पड़कर दुःखका अन्त करेंगे।" (दर्शन-दिग्दर्शन पृ० ४८८-८९)। भगवती सूत्र (१५वाँ शतक) में भी गोशालकको नियतिवादी ही बताया है। इसी नियतिवादका रूप आज भी 'जो होना है वह होगा ही' इस भवितव्यताके रूपमें गहराईके साथ प्रचलित है।

नियतिवाद का एक आध्यात्मिक रूप और निकला है*। इसके अनुसार प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय की पर्याय सुनिश्चित है। जिस समय जो पर्याय

* "यथा चोक्तम्—
नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः॥
यद्यदैव यतो यावत् तत्तदैव ततस्तथा।
नियतिर्जायते न्यायात् क एनां बाधितुं क्षमः॥
—नन्दीसूत्र टी०।

* देखो श्रीकानजी स्वामी लिखित वस्तु विज्ञानसार आदि पुस्तकें।

होनी है वह अपने नियत स्वभाव के कारण होगी ही, उसमें प्रयत्न निरर्थक है। उपादान शक्ति से ही वह पर्याय प्रकट हो ही जाती है, वहां निमित्त की उपस्थिति स्वयमेव होती है, उसके मिलाने की आवश्यकता नहीं। इनके मत से पेट्रोल से मोटर नहीं चलती, किन्तु मोटर को चलना ही है और पेट्रोल को जलना ही है और यह सब प्रचारित हो रहा है द्रव्य के शुद्ध स्वभाव के नाम पर। इसके भीतर भूमिका यह जमाई जाती है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। सब अपने आप नियति-चक्रवश परिणमन करते हैं। जिसको जहां जिस रूपमें निमित्त बनना है उस समय उसकी वहां उपस्थिति हो ही जायेगी इस नियतिवाद से पदार्थों के स्वभाव और परिणमन का आश्रय लेकर भी उनका प्रतिक्षण का अनन्त काल तकका कार्यक्रम बना दिया गया है, जिस पर चलने को हर पदार्थ बाध्य है। किसी को कुछ नया करने का नहीं है। इस तरह नियतिवादियों के विविध रूप विभिन्न समयों में हुए हैं। इसने सदा पुरुषार्थ की रेड़ मारी है और मनुष्य को भाग्यके चक्रमें डाला है।

किन्तु जब हम द्रव्यके स्वरूप और उसकी उपादान और निमित्तमूलक कार्यकारण-व्यवस्था पर ध्यान देते हैं तो इसका खोखलापन प्रकट हो जाता है। जगत में समग्र भावसे कुछ बातें नियत हैं, जिनका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। यथा—

(१) यह नियत है कि—जगत में जितने सत् हैं, उनमें कोई नया 'सत्' उत्पन्न नहीं हो सकता और न मौजूदा 'सत्' का समूल विनाश ही हो सकता है। वे सत् हैं—अनन्त चेतन, अनन्त पुद्गलाणु, एक आकाश, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य और असंख्य काल द्रव्य। इनकी संख्या में न तो एक की वृद्धि हो सकती है और न एक की हानि ही। अनादि काल से इतने ही द्रव्य थे, हैं और अनन्त काल तक रहेंगे।

(२) प्रत्येक द्रव्य अपने निज स्वभाव के कारण पुरानी पर्याय को छोड़ता है, नई को ग्रहण करता है और अपने प्रवाही सत्त्व की अनुवृत्ति रखता है। चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, इस परिवर्तनचक्रसे अछूता नहीं रह सकता। कोई भी किसी भी पदार्थ के उत्पाद और व्यय रूप इस परिवर्तन को रोक नहीं सकता और न इतना विलक्षण परिणमन ही करा सकता है कि वह अपने सत्त्व को ही समाप्त कर दे और सर्वथा उच्छिन्न हो जाय।

(३) कोई भी द्रव्य किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तर रूप से परिणमन नहीं कर सकता। एक चेतन न तो अचेतन हो सकता है और न चेतनान्तर ही। वह चेतन 'तच्चेतन' ही रहेगा और वह अचेतन 'तदचेतन' ही।

(४) जिस प्रकार दो या अनेक अचेतन पुद्गल परमाणु मिलकर संयुक्त समान स्कन्ध रूप पर्याय उत्पन्न कर लेते है उस तरह दो चेतन मिलकर संयुक्त पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते, प्रत्येक चेतनका सदा स्वतन्त्र परिणमन रहेगा।

(५) प्रत्येक द्रव्यकी अपनी मूल द्रव्य शक्तियाँ और योग्यताएँ समान रूप से सुनिश्चित हैं, उनमें हेर फेर नहीं हो सकता। कोई नई शक्ति कारणान्तर से ऐसी नहीं आ सकती जिसका अस्तित्व द्रव्य में न हो। इसी तरह कोई विद्यमान शक्ति सर्वथा विनष्ट नहीं हो सकती।

(६) द्रव्यगत शक्तियों के समान होने पर भी अमुक चेतन या अचेतनमें स्थूल पर्याय-सम्बन्धी अमुक योग्यताएं भी नियत हैं। उनमें जिसकी सामग्री मिल जाती है उसका विकास हो जाता है। जैसे कि— प्रत्येक पुद्गलाणुमें पुद्गलकी सभी द्रव्य योग्यताएँ रहने पर भी मिट्टीके पुद्गल ही साक्षात् घड़ा बन सकते हैं, कंकड़ोंके पुद्गल नहीं; तन्तुके पुद्गल ही साक्षात् कपड़ा बन सकते हैं, मिट्टीके पुद्गल नहीं। यद्यपि घड़ा और कपड़ा दोनों ही पुद्गलकी पर्यायें हैं। हाँ, कालान्तरमें परम्परासे बदलते हुए मिट्टीके पुद्गल भी कपड़ा बन सकते हैं और तन्तुके पुद्गल भी घड़ा। तात्पर्य यह है कि-संसारी जीव और पुद्गलोंकी मूलतः समान शक्तियाँ होनेपर भी अमुक स्थूल पर्यायमें अमुक शक्तियाँ ही साक्षात् विकसित हो सकती हैं। शेष शक्तियाँ बाह्य सामग्री मिलने पर भी तत्काल विकसित नहीं हो सकतीं।

(७) यह नियत है कि उस द्रव्यकी उस स्थूल पर्यायमें जितनी पर्याय-योग्यताएँ हैं उनमें से ही जिस जिसकी अनुकूल सामग्री मिलती है उस उसका विकास होता है, शेष पर्याय-योग्यताएँ द्रव्यकी मूल योग्यताओंकी तरह सद्भावमें ही रहती हैं।

(८) यह भी नियत है कि—अगले क्षणमें जिस प्रकारकी सामग्री उपस्थित होगी, द्रव्यका परिणमन उससे प्रभावित होगा। सामग्रीके अन्तर्गत जो भी द्रव्य हैं, उनके परिणमन भी इस द्रव्यसे प्रभावित होंगे। जैसे कि ऑक्सिजनके परमाणुको यदि हॉइड्रोजनका निमित्त नहीं मिलता तो वह ऑक्सिजनके रूपमें ही परिणत रह जाता है, पर यदि हॉइड्रोजन का निमित्त मिल जाता है तो दोनोंका ही जल रूपसे परिवर्तन होजाता है। तात्पर्य यह कि–पुद्गल और संसारी जीवोंके परिणमन अपना तत्कालीन सामग्री के अनुसार परस्पर प्रभावित होते रहते हैं। किन्तु—केवल यही अनिश्चित है कि—'अगले क्षणमें किसका क्या परिणमन होगा? कौनसी पर्याय विकास को प्राप्त होगी? या किस प्रकारकी सामग्री उपस्थित होगी? यह तो परिस्थिति और योगायोग के ऊपर निर्भर करता है। जैसी सामग्री उपस्थित होगी उसके अनुसार परस्पर प्रभावित होकर तात्कालिक परिणमन होते जायेंगे। जैसे एक मिट्टी का पिण्ड है, उसमें घड़ा, सकोरा, प्याला आदि अनेक परिणमनोंके विकासका अवसर है। अब कुम्हारकी इच्छा, प्रयत्न और चक्र आदि जैसी सामग्री मिलती है उसके अनुसार अमुक पर्याय प्रकट हो जाती है। उस समय न केवल मिट्टीके पिण्ड का ही परिणमन होगा किन्तु चक्र और कुम्हार की भी उस सामग्री के अनुसार पर्याय उत्पन्न होगी। पदार्थोंके कार्य-कारण भाव नियत हैं। 'अमुक कारण सामग्रीके होने पर अमुक कार्य उत्पन्न होता है' इस प्रकारके अनन्त कार्य-कारणभाव उपादान और निमित्त की योग्यतानुसार निश्चित हैं। उनकी शक्ति के अनुसार उनमें तारतम्य भी होता रहता रहता है। जैसे गीले ईंधन और अग्नि के संयोग से धुँआ होता है, यह एक साधारण कार्यकारण भाव है। अब गीले ईंधन और अग्नि की जितनी शक्ति होगी उसके अनुसार उसमें प्रचुरता या न्यूनता, कमी वेशी हो सकती है। कोई मनुष्य बैठा हुआ है, उसके मन में कोई न कोई विचार प्रतिक्षण आना ही चाहिए। अब यदि वह सिनेमा देखने चला जाता है तो तदनुसार उसका मानस प्रवृत्त होगा और यदि साधु के सत्संग में बैठ जाता है तो दूसरे ही भव्य भाव उसके मनमें उत्पन्न होंगे। तात्पर्य यह है कि—प्रत्येक परिणमन अपनी तत्कालीन उपादान योग्यता और सामग्री के अनुसार विकसित होते हैं। यह समझना कि—सबका भविष्य सुनिश्चित है और उस सुनिश्चित अनन्त कालीन कार्यक्रम पर सारा जगत चल रहा है। महान् भ्रम है। इस प्रकारका नियतिवाद न केवल कर्तव्य-भ्रष्ट ही करता है अपितु पुरुषके अनन्त बल, वीर्य, पराक्रम, उत्थान और पौरुषको ही समाप्त कर देता है। जब जगतके प्रत्येक पदार्थका अनन्त कालीन कार्यक्रम निश्चित है और सब अपनी नियतिकी पटरीपर ढँड़कते जारहे हैं, तब शास्त्रोपदेश, शिक्षा, दीक्षा और उन्नतिके उपदेश तथा प्रेरणाएँ बेकार हैं। इस नियतिवादमें क्या सदाचार और क्या दुराचार? स्त्री और पुरुषका उस समय वैसा संयोग बदा ही था। जिसने जिसकी हत्या की, उसका उसके हाथसे वैसा होना ही था। जिसे हत्याके अपराधमें पकड़ा जाता है, वह भी जब नियतिके परवश था तब उसका स्वातन्त्र्य कहाँ है, जिससे उसे हत्याका कर्ता कहा जाय? यदि वह यह चाहता कि मैं हत्या न करूं और न कर सकता, तो ही उसकी स्वतन्त्रता कही जा सकती है पर उसके चाहने न चाहनेका प्रश्न ही नहीं है।

आ० कुन्दकुन्दका अकर्तृत्ववाद

आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथामें* लिखा है कि—'कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यमें गुणोत्पाद नहीं कर सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कुछ नया उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये सभी द्रव्य अपने अपने स्वभाव के अनुसार उत्पन्न होते रहते हैं।' इस स्वभावका वर्णन करने वाली गाथाको कुछ

* देखो, समयसार गाथा ३७२

विद्वान् नियतिवादके समर्थनमें लगाते हैं। पर इस गाथामें सीधी बात तो यही बताई है कि कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई नया गुण नहीं ला सकता, जो आयगा वह उपादान योग्यताके अनुसार ही आयगा। कोईभी निमित्त उपादान द्रव्योंमें असद्भूत शक्तिका उत्पादक नहीं हो सकता, वह तो केवल सद्भूत शक्तिका संस्कारक या विकासक है। इसीलिये गाथाके द्वितीयार्धमें स्पष्ट लिखा है कि—'प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावके अनुसार उत्पन्न होते हैं।' प्रत्येक द्रव्यमें तत्कालमेंभी विकसित होनेवाले अनेक स्वभाव और शक्तियाँ हैं। उनमेंसे अमुक स्वभावका प्रकट होना या परिणमन होना तत्कालीन सामग्रीके ऊपर निर्भर करता है। भविष्य अनिश्चित है। कुछ स्थूल कार्यकारण-भाव बनाए जा सकते हैं पर कारणका अवश्य ही कार्य उत्पन्न करना सामग्रीकी समग्रता और अविकलता पर निर्भर है। 'नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति' कारण अवश्य ही कार्यवाले हों. यह नियम नहीं है। पर वे कारण अवश्य ही कार्यको उत्पन्न करेंगे जिनकी समग्रता और निर्बाधताकी गारण्टी हो।

आचार्य कुन्दकुन्दने जहाँ प्रत्येक पदार्थके स्वभावानुसार परिणमनकी चर्चा की है वहाँ द्रव्योंके परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव को भी स्वीकार किया है। यह पराकर्तृत्व निमित्तके अहंकारकी निवृत्तिके लिये है। कोई निमित्त इतना अहंकारी न हो जाय कि वह यह समझ बैठे कि मैंने इस द्रव्यका सब कुछ कर दिया है। वस्तुतः नया कुछ हुआ नहीं, जो उसमें था उसका ही एक अंश प्रगट हुआ है। जीव और कर्म पुद्गलके परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भावकी चर्चा करते हुए आ० कुन्दकुन्दने स्वयं लिखा है कि—

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमदि॥
णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तं तु कत्ता, आदा सएण भावेण॥
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥"

अर्थात् जीवके भावोंके निमित्तसे पुद्गलोंकी कर्म रूप पर्याय होती है और पुद्गल कर्मोंके निमित्त से जीव रागादि रूपसे परिणमन करता है। इतना विशेष है कि—जीव उपादान बनकर पुद्गलके गुण-रूपसे परिणमन नहीं कर सकता और न पुद्गल उपादान बनकर जीवके गुणरूपसे परिणत हो सकता है। केवल परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध-के अनुसार दोनोंका परिणमन होता है। अतः आत्मा उपादान दृष्टिसे अपने भावोंका कर्त्ता है। वह पुद्गल कर्मके ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूप परिणमनका कर्त्ता नहीं है।

इस स्पष्ट कथनका फलितार्थ यह है कि-परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी हर द्रव्य अपने गुण-पर्यायोंका ही कर्त्ता हो सकता है। अध्यात्ममें कर्तृत्व-व्यवहार उपादानमूलक है अध्यात्म और व्यवहारका यही मूलभूत अन्तर है कि-अध्यात्म क्षेत्रमें पदार्थोंके मूल स्वरूप और शक्तियों-का विचार होता है तथा उसीके आधारसे निरूपण होता है जब कि व्यवहारमें परनिमित्तकी प्रधानतासे कथन किया जाता है। 'कुम्हारने घड़ा बनाया' यह व्यवहार निमित्त-मूलक है; क्योंकि घड़ा पर्याय कुम्हारकी नहीं है किन्तु उन परमाणुओंकी है जो घड़ेके रूपमें परिणत हुए हैं। कुम्हारने घड़ा बनाते समय भी अपने योग-हलनचलन और उपयोग रूपसे ही परिणति की है। उसका सन्निधान पाकर मिट्टीके परमाणुओंने घटपर्याय रूपसे परिणति कर ली है। इस तरह हर द्रव्य अपने परिणमनका स्वयं उपादान-मूलक कर्त्ता है। आ० कुन्दकुन्दने इस तरह निमित्त-मूलक कर्तृत्वव्यवहारको अध्यात्म क्षेत्रमें नहीं माना है, पर स्वकर्तृत्व तो उन्हें हर तरह इष्ट है ही, और उसीका समर्थन और विवे-चन उनने विशद रीतिसे किया है। परन्तु इस नियतिवादमें तो स्वकर्तृत्व ही नहीं है। हर द्रव्यकी प्रतिक्षणकी अनन्त भविष्यत् कालीन पर्यायें क्रम क्रमसे सुनिश्चित है। यह उनकी धाराको नहीं बदल सकता। वह केवल नियति पिशाचिनीका क्रीड़ास्थल है और उसीके यन्त्रसे अनन्त काल तक परिचा-लित रहेगा। अगले क्षणको वह असत्से सत् या तमसे प्रकाशकी ओर ले जानेमें अपने उत्थान बल वीर्य पराक्रम या पौरुषका कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता। जब वह अपने भावोंको ही नहीं

बदल सकता, तब स्वकर्तृत्व कहाँ रहा? तथ्य यह है कि भविष्यका प्रत्येक क्षणका अमुक रूपमें होना अनिश्चित है। मात्र इतना निश्चित है कि कुछ न कुछ होगा अवश्य। द्रव्य शब्द स्वयं 'भव्य' होने योग्य, योग्यता और शक्तिका वाचक है। द्रव्य उस पिघले हुए मोमके समान है जिसे किसी-न-किसी सांचेमें ढलना है। यह निश्चित नहीं है कि वह किस सांचेमें ढलेगा। जो आत्माएँ अबुद्ध और पुरुषार्थ-हीन हैं उनके सम्बन्धमें कदाचित् भविष्यवाणी की भी जा सकती हो कि-अगले क्षणमें इनका यह परिणमन होगा। पर सामग्रीकी पूर्णता और प्रकृति पर विजय करनेको दृढ़ प्रतिज्ञ आत्माके सम्बन्धमें कोई भविष्य कहना असंभव है। कारण कि भविष्य स्वयं अनिश्चित है। वह जैसा चाहे वैसा एक सीमा तक बनाया जा सकता है। प्रति समय विकसित होनेके लिए सैकड़ों योग्यताएँ हैं। जिनकी सामग्री जब जिस रूपमें मिल जाती है या मिलाई जाती है वह योग्यता कार्यरूपमें परिणत हो जाती है। यद्यपि आत्माकी संसारी अवस्थामें नितान्त परतंत्र स्थिति है और वह एक प्रकारसे यन्त्रारूढकी तरह परिणमन करता जाता है फिर भी उस द्रव्यकी निज सामर्थ्य यह है कि-वह रुके और सोचे, तथा अपने मार्गको स्वयं मोड़कर उसे नई दिशा दे।

अतीत कार्यके बल पर आप नियतिको जितना चाहें कुदाइये, पर भविष्यके सम्बन्धमें उसकी सीमा है। कोई भयंकर अनिष्ट यदि हो जाता है तो संतोष केलिये 'जो होना था सो हुआ' इस प्रकार नियतिकी संजीवनी उचित कार्य करती भी है। जो कार्य जब हो चुका, उसे नियति कहनेमें कोई शाब्दिक और आर्थिक विरोध नहीं है। किन्तु भविष्यके लिये नियत (Done) कहना अर्थ-विरुद्ध तो है ही, शब्द-विरुद्ध भी है। भविष्य (To be) तो नियंस्यन् या नियंस्यमान (Will be done) होगा, न कि नियत (Done)। अतीतको नियत (Done) कहिये, वर्तमानको नियम्यमान (Being) और भविष्यको नियंस्यमान (Will be done)।

अध्यात्मकी अकर्तृत्व भावनाका भावनीय अर्थ यह है कि निमित्त भूत व्यक्तिको अनुचित अहंकार उत्पन्न न हो एक अध्यापक कक्षामें अनेक छात्रोंको पढ़ाता है। अध्यापकके शब्द सब छात्रोंके कानोंमें टकराते हैं, पर विकास एक छात्रका प्रथम श्रेणीका, दूसरेका द्वितीय श्रेणीका तथा तीसरेका तृतीय श्रेणीका होता है। अतः अध्यापक यदि निमित्त होनेके कारण यह अहंकार करे कि मैंने इस लड़केमें ज्ञान उत्पन्न कर दिया तो वह एक अंशमें व्यर्थ ही है; क्योंकि यदि अध्यापकके शब्दोंमें ज्ञानके उत्पन्न करने की क्षमता थी तो सबमें एकसा ज्ञान क्यों नहीं हुआ? और शब्द तो दिवारोंमें भी टकराये होंगे, उनमें ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न हुआ? अतः गुरुको 'कर्तृत्व' का दुरहंकार उत्पन्न न होनेके लिये उस अकर्तृत्व भावनाका उपयोग है। इस अकर्तृत्वकी सीमा पराकर्तृत्व है, स्वाकर्तृत्व नहीं। पर नियतिवाद तो स्वकर्तृत्व को ही समाप्त कर देता है; क्योंकि इसमें सब कुछ नियत है।

पुण्य और पाप क्या?

जब प्रत्येक जीवका प्रति समयका कार्यक्रम निश्चित है अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नहीं, साथ ही स्वकर्तृत्व भी नहीं है; तब क्या पुण्य और क्या पाप? क्या सदाचार और क्या दुराचार? जब प्रत्येक घटना पूर्व निश्चित योजनाके अनुसार घट रही है तब किसीको क्या दोष दिया जाय? किसी स्त्रीका शील भ्रष्ट हुआ। इसमें जो स्त्री, पुरुष और शय्या आदि द्रव्य संबद्ध हैं, जब सबकी पर्यायें नियत हैं तब पुरुषको क्यों पकड़ा जाय? स्त्रीका परिणमन वैसा होना था, पुरुषका वैसा और विस्तर का भी वैसा। जब सबके नियत परिणमनोंका नियत मेलरूप दुराचार भी नियत ही था, तब किसीको दुराचारी या गुण्डा क्यों कहा जाय? यदि प्रत्येक द्रव्यका भविष्यके प्रत्येक क्षणका अनन्त-कालीन कार्यक्रम नियत है, भले ही वह हमें मालूम न हो, तब इस नितान्त परतन्त्र स्थितिमें व्यक्तिका स्वपुरुषार्थ कहाँ रहा?

गौडसे हत्यारा क्यों?

नाथूराम गौडसेने महात्माजीको गोली मारी तो क्यों नाथूरामको हत्यारा कहा जाय? नाथूरामका

उस समय वैसा हो परिणमन होना था, महात्माजी का वैसा ही होना था और गोली और पिस्तौलका भी वैसा ही परिणमन निश्चित था। अर्थात् हत्या नामक घटना, नाथूराम, महात्माजी, पिस्तौल और गोली आदि अनेक पदार्थोंके नियत कार्यक्रमका परिणाम है। इस घटनासे सम्बद्ध सभी पदार्थोंके परिणमन नियत थे सब परवश थे। यदि यह कहा जाता है कि नाथूराम महात्माजीके प्राणवियोगमें निमित्त होनेसे हत्यारा है, तो महात्माजी नाथूरामके गोली चलानेमें निमित्त होनेसे अपराधी क्यों नहीं ? यदि नियति-दास नाथूराम दोषी है, तो नियति-परवश महात्माजी क्यों नहीं ? हम तो यह कहते हैं कि पिस्तौलसे गोली निकलनी थी और गोलीको छातीमें छिदना था, इसलिये नाथूराम और महात्माजीकी उपस्थिति हुई। नाथूराम तो गोली और पिस्तौलके उस अवश्यंभावी परिणमनका एक निमित्त था जिसे नियतिचक्रके कारण वहाँ पहुँचना पड़ा। जिन पदार्थोंकी नियतिका परिणाम हत्या नामकी घटना है, वे सब पदार्थ समान रूपसे नियतियंत्रसे नियंत्रित हो जब उसमें जुटे हैं तब उनमेंसे क्यों मात्र नाथूरामको पकड़ा जाता है ? इतना ही नहीं, हम सबको उस दिन ऐसी खबर सुननी थी और श्री आत्माचरणको जज बनना था, इसलिए यह सब हुआ। अतः हम सब और आत्माचरण भी उस घटनाके नियत निमित्त हैं। अतः इस नियतिवादमें न कोई पुण्य है, न पाप; न सदाचार है और न दुराचार ! जब कर्तृत्व ही नहीं, तब क्या सदाचार और क्या दुराचार ? गौडसेको नियतिवाद्के नामपर ही अपना बचाव करना चाहिये था और जजको ही पकड़ना चाहिये था कि—चूंकि तुम्हें हमारे मुकद्दमेका जज बनना था, इसलिये यह सब नियतिचक्र घूमा और हम सब उसमें फंसे। और यदि सबको बचाना है, तो पिस्तौलके भवितव्यपर सब दोष थोपा जा सकता है कि न पिस्तौलका उस समय वैसा परिणमन होना होता तो वह न गौडसे के हाथमें आती और न गाँधीजीकी छाती छिदती। सारा दोष पिस्तौलके नियत परिणमनका है। तात्पर्य यह कि—इस नियतिवादमें सब साफ है, व्यभिचार, चोरी, दगाबाजी और हत्या आदि सब कुछ उन-उन पदार्थोंके नियत परिणाम हैं, इसमें व्यक्ति विशेषका कोई दोष नहीं।

एक ही प्रश्न, एक ही उत्तर

इस नियतिवाद में एक ही प्रश्न है और एक ही उत्तर। ऐसा होना ही था' यह उत्तर प्रत्येक प्रश्न का है। शिक्षा, दीक्षा, संस्कार, प्रयत्न और पुरुषार्थ सबका उत्तर भवितव्यता। न कोई तर्क है न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि। अग्निसे धुँआ क्यों हुआ ? ऐसा होना ही था। फिर गीला ईंधन न रहने पर धुँआ क्यों नहीं हुआ ? ऐसा ही होना था। जगत्में पदार्थोंके संयोग-वियोगसे विज्ञान सम्मत अनन्त-कार्यकारण-भाव है। अपनी उपादान योग्यता और निमित्त सामग्री के संतुलन में परस्पर प्रभावित अप्रभावित या अर्ध प्रभावित कार्य उत्पन्न होते हैं। वे एक दूसरे के परिणमन के निमित्त भी बनते हैं। जैसे एक घड़ा उत्पन्न हो रहा है, इसमें मिट्टी, कुम्हार-चक्र, चीवर आदि अनेक द्रव्य कारण-सामग्रीमें सम्मिलित हैं। उस समय न केवल घड़ा ही उत्पन्न हुआ है किन्तु कुम्हारकी भी कोई पर्याय चक्रकी अमुक पर्याय और चीवरकी भी अमुक पर्याय उत्पन्न हुई है। अतः उस समय उत्पन्न होनेवाली अनेक पर्यायोंमें अपने-अपने द्रव्य उपादान हैं और बाकी एक दूसरे के प्रति निमित्त हैं। इसी तरह जगत्में जो अनन्त ही कार्य उत्पन्न हो रहे हैं उनमें तत्तत् द्रव्य. जो परिणमन करते हैं वे उपादान बनते हैं और शेष निमित्त होते हैं। कोई साक्षात् और कोई परस्परा से, कोई प्रेरक और कोई अप्रेरक, कोई प्रभावक और कोई अप्रभावक। यह तो योगायोगकी बात है। जिस प्रकार की बाह्य और आभ्यन्तर कारण सामग्री जुट जाती है वैसा ही कार्य हो जाता है। आ० समन्तभद्रने लिखा है कि—

"बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
—बृहत्स्व० श्लोक ६०।

अर्थात् कार्योत्पत्तिके लिए बाह्य और आभ्यन्तर-निमित्त और उपादान-दोनों कारणोंकी समग्रता-पूर्णता ही द्रव्यगत निज स्वभाव है।

ऐसी स्थिति में नियतिवाद का आश्रय लेकर भविष्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात कहना अनुभव-सिद्ध कार्यकारणभाव की व्यवस्था के सर्वथा विपरीत है। यह ठीक है कि नियत कारण से नियत कार्य की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार के नियतत्वमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। पर इस कार्यकारणभावकी प्रधानता स्वीकार करने पर नियतिवाद अपने नियत रूपमें नहीं रह सकता।

कारण हेतु

जैन दर्शन में कारण को भी हेतु मानकर उसके द्वारा अविनाभावी कार्यका ज्ञान कराया जाता है। अर्थात् कारणको देखकर कार्यकारण-भावकी नियतता के बल पर उससे उत्पन्न होने वाले कार्य का भी ज्ञान करना अनुमान-प्रणाली में स्वीकृत है। पर उसके साथ दो शर्तें लगी हैं—'यदि कारण-सामग्रीकी पूर्णता हो और कोई प्रतिबन्धक कारण न आवें तो अवश्य ही कारण कार्यको उत्पन्न करेगा।' यदि समस्त पदार्थों का सब कुछ नियत हो तो किसी नियत कारणसे नियत कार्यकी उत्पत्तिका उदाहरण भी दिया जा सकता था; पर सामान्यतया कारण-सामग्रीकी पूर्णता और अप्रतिबन्धका भरोसा इसलिए नहीं दिया जा सकता कि भविष्य सुनिश्चित नहीं है। इसलिए इस बात की सतर्कता रखी जाती है कि कारण सामग्री में कोई बाधा उत्पन्न न हो। आजके यन्त्र-युग में यद्यपि बड़े बड़े यन्त्र अपने निश्चित उत्पादनके आंकड़ों का खाना पूरा कर देते हैं पर उनके कार्यकालमें बड़ी सावधानी और सतर्कता बरती जाती है। फिर भी कभी-कभी गड़बड़ हो जाती है। बाधा आनेकी और सामग्रीकी न्यूनता की संभावना जब हैं तब निश्चित कारणसे निश्चित कार्यकी उत्पत्ति संदिग्ध कोटिमें जा पहुँचती है। तात्पर्य यह कि पुरुषका प्रयत्न एक हद तक भविष्य-की रेखा को बांधता भी है, तो भी भविष्य अनुमानित और सम्भावित ही रहता है।

नियति एक भावना है

इस नियतिवादका उपयोग किसी घटनाके घट जाने पर सांत्वना लेनेके लिए और मनको समझाने के लिए तथा आगे फिर कमर कस कर तैयार हो जाने के लिए किया जा सकता है और लोग करते भी हैं। पर इतने मात्रसे उसके आधारसे वस्तु-व्यवस्था नहीं की जा सकती। वस्तु-व्यवस्था तो वस्तु के वास्तविक स्वरूप और परिणमन पर ही निर्भर करती हैं। भावनाएँ चित्तके समाधानके लिए भायीं जाती हैं और उनसे वह उद्देश्य सिद्ध भी हो जाता है, पर तत्त्व-व्यवस्थाके क्षेत्रमें भावना का उपयोग नहीं है। वहां तो वैज्ञानिक विश्लेषण और तन्मूलक कार्यकारण भावकी परम्पराका ही कार्य है। उसी के बल पर पदार्थके वास्तविक स्वरूपका निर्णय किया जा सकता है।

मनको उज्ज्वल धवल बना

(बा० जयभगवान जी, एडवोकेट)

क्यों सोले तू चार हृदय में,
मनको उज्ज्वल धवल बना।
अनुपम सुन्दर परिणति तेरी,
ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न बना॥
थिरक रहे हैं तुझसे कण-कण,
थिरक; रहे नभ-तारागण।
स्फूर्ति-क्रान्ति-शान्ति तुझसे,
शान्ति का संसार बना॥ मनको०
स्वप्न-कल्पों का वास बना तू,
आलोकोंका वास बना।

सजग-सजग आभासे अपनी,
जगको ज्योती पूर्ण बना॥ मनको०
रंग-विरंग है वैभव तेरा,
रस रंगीले साज सजा।
दुला-दुला तू अपनी निधियाँ,
मधु-माधव का क्षेत्र बना॥ मनको०
अद्भुत-अक्षय महिमा तेरी,
रसूल मसीह अवतार बना॥
खिला-खिला तू अपनी महिमा,
भूमिको मुक्ती धाम बना। मनको०

अध्यात्म-गीत

रचयिता—युगवीर

मैं किस किसका अध्ययन करूँ !
क्यों करूँ, कहाँ क्या लाभ मुझे, क्षण-दुख-सुखमें क्यों व्यर्थ परूं !!

नारी-रूप विविध पट-भूषा,
क्या क्या रंग लखूँ।
हाव-भाव-विभ्रम अनन्त हैं,
किसको लक्ष्य करूँ !!१ मैं किस०

नरके भी रूपादि विविध हैं,
क्या क्या दृश्य लखूँ !!
मौज-शौक, बन-ठन सब न्यारी,
किसको लक्ष्य करूँ !!२ मैं किस०

पशु-पक्षी भी विविध रूप हैं,
क्या क्या भाव लखूँ !
बोलि-क्रिया-चेष्टाएँ अपरिमित,
किसको लक्ष्य करूँ !!३ मैं किस०

सृष्टि वनस्पति अमित-रूपिणी,
क्या क्या रूप लखूँ !
गुण-स्वभाव-परिणाम अनन्ते,
किसको लक्ष्य करूँ !!४ मैं किस०

भू-जल-पवन-ज्वलन नाना विध—
क्या क्या गुण परखूँ !
शक्ति-विकृतियाँ बहु बहुविध सब
किसको लक्ष्य करूँ !!५

देवाऽऽकृतियां विविध बनी हैं,
किस पर ध्यान धरूँ !
गुण-महिमा-कीर्तन असंख्य हैं,
किसको लक्ष्य करूँ !!६ मैं किस०

नारकि-शकलें विविध भयंकर
किसको चित्त धरूँ !
सदा अशुभ लेश्यादि-विक्रिया,
क्यों सम्पर्क करूँ !!७ मैं किस०

पुद्गलके परिणमन अनन्ते,
किससे प्रेम करूँ !
किसको अपना सगा बनाऊँ,
किससे क्यों विरचूँ !!८ मैं किस०

इन्द्रिय-विषयोंका न पार है,
कैसे तृप्ति करूँ !
किस किसमें कब तक उलझूँ मैं,
जीवन स्वल्प धरूँ !!९ मैं किस०

भाषा-लिपियाँ विविध अनोखी,
किसको मान्य करूँ !
किस किसके अभ्यास-मननमें,
जीवन-शेष करूँ !!१० मैं किस०

पर-अध्ययन अपार सिन्धु है,
कैसे पार परूँ !
मम स्वरूपमें जो न सहायक,
उसमें क्यों विचरूँ !!११ मैं किस०

मेरा रूप एक अविनाशी,
चिन्मय-मूर्ति धरूँ।
उसको साधे सब सध जावें,
क्यों अन्यत्र भ्रमूँ !!१२ मैं किस०

सब विकल्प तज निजको ध्याऊँ,
निजमें रमण करूँ।
निजानन्द-पीयूष पान कर,
सब विष वमन करूँ !! १३ मैं किस०

परके पीछे निजको भूला,
कैसे धैर्य धरूँ!
बन कर अब 'युगवीर' हृदय से,
दूर विभाव करूँ !!१४

मैं किस किसका अध्ययन करूँ ! पर-अध्ययन छोड़ शुभतर है,
निजका ही अध्ययन करूँ।

❋

पुराने साहित्यकी खोज

(जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर')

(गत किरणसे आगे)

गतवर्षके भादों तथा आश्विनमासमें सवा महीना अजमेर ठहरकर बड़ा धड़ा पंचायती जैन-मन्दिरके भट्टारकीय शास्त्र-भंडारका निरीक्षण करते हुए जो कितने ही अश्रुतपूर्व तथा अलभ्य ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं उनमेंसे कुछका परिचय यहां और दिया जाता है :—

७. अध्यात्म-रहस्य

अध्यात्मके रहस्यको लिए हुए योग-विषयक यह ग्रंथ पंडितप्रवर आशाधरजीकी कृति है। यह ग्रंथ अभीतक उपलब्ध नहीं था *। इसकी मात्र सूचना ही अनगार-धर्मामृतकी टीका-प्रशस्तिके निम्न वाक्यद्वारा मिलती थी—

'आदेशात् पितुरध्यात्म-रहस्यं नाम यो व्यधात्।
शास्त्रं प्रसन्न-गम्भीर प्रियमारब्धयोगिनाम् ॥"

इसमें बतलाया है कि 'अध्यात्म-रहस्य' नामका यह शास्त्र पिताके आदेशसे रचा गया है। साथही यह भी प्रगट किया है कि 'यह शास्त्र प्रसन्न, गंभीर तथा आरब्ध योगियोंके लिये प्रिय वस्तु है'। योगविषयसे संबन्ध रखनेके कारण इसका दूसरा नाम 'योगोद्दीपन' भी है। इसका उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथ-प्रतिके अन्तमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

"इत्याशाधर-विरचित-धर्मामृतनाम्नि सूक्ति-संग्रहे योगोद्दीपनयो नामाष्टादशोऽध्यायः"

ग्रंथके इस समाप्ति-सूचक पुष्पिका-वाक्यसे यह भी मालूम होता है कि पं० आशाधरजीने इसे प्रथमतः अपने धर्मामृतग्रंथके अठारहवें अध्यायके रूपमें लिखा है। धर्मामृतमें अनगार-धर्मामृतके नौ, और सागारधर्मामृतके आठ अध्याय हैं। सागारधर्मामृतके अन्तिम अध्यायमें उसे क्रमशः सत्रहवां अध्याय प्रकट किया है। यह १८वां अध्याय, जो उसके बाद होना चाहिये था, अभीतक धर्मामृतके किसी भी संस्करण-के साथ प्रकाशित नहीं हुआ और न उसकी किसी लिखित ग्रन्थ-प्रतिके साथ जुड़ा हुआ ही मिला है। जान पड़ता है आशाधरजीने इसे सागारधर्मामृतकी टीकाके भी बाद बनाया है, जो कि विक्रम सं० १२९६ पौषकृष्ण सप्तमीको बनकर समाप्त हुई है; क्योंकि उस टीकाकी प्रशस्तिमें इस ग्रन्थका कोई नामोल्लेख तक न होकर बादको कार्तिक सुदि पंचमी सं० १३०० में बनकर पूर्ण हुई अनगार-धर्मामृतकी टीकामें इसका उक्त उल्लेख पाया जाता है। और इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रंथकी रचना उक्त दोनों टीका-समयोंके मध्यवर्ती किसी समयमें हुई है और वह मूल धर्मामृत ग्रन्थसे कई वर्ष बाद-की कृति है। साथ ही यह भी पता चलता है कि प० आशाधरजी यद्यपि अपनी इस कृतिको धर्मामृतका १८ वां अध्याय करार देकर उसीका चूलिकादिके रूपमें एक अंग बनाना चाहते थे, परन्तु मूलग्रन्थ-प्रतियों और एक टीकाके भी अधिक प्रचारमें आजाने आदि कुछ कारणोंके वश वे वैसा नहीं कर सके और इसलिये बादको अनगार-धर्मामृतकी टीकामें उन्होंने उसे 'अध्यात्मरहस्य' नाम देकर एक स्वतन्त्र शास्त्रके रूपमें उसकी घोषणा की है।

इस ग्रन्थकी पद्यसंख्या ७२ है, जबकि प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रतिमें वह ७३ दी हुई है। ४४ वें पद्यके बाद निम्न-गद्यांश नं० ४५ डालकर लिखा हुआ है, जिसमें भावमन और द्रव्यमन का लक्षण दिया है—

"गुण-दोष-विचार-स्मरणादिप्रणिधानमात्मनो भावमनः।
तदभिमुखस्यास्यैव अनुग्राहपुद्गलोच्चयो द्रव्यमनः।"

जान पड़ता है यह लक्षणात्मक गद्यांश अगले पद्यमें प्रयुक्त हुए 'द्रव्यमन.' पदके वाच्यको स्पष्ट करनेके लिये किसीने टिप्पणीके तौर पर ग्रन्थके हाशिये पर उद्धृत किया होगा और वह प्रतिलेखक-की असावधानीसे मूलग्रन्थका अंग समझा जाकर ग्रन्थमें प्रविष्ट होगया और उस पर गलतीसे

* पं० नाथूरामजी प्रेमीने इसी अक्टूबर मासमें प्रकाशित अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास'में भी इस ग्रन्थको 'अप्राप्य' लिखा है।

पद्य-नम्बर भी पड़ गया है। इसीके फलस्वरूप अगले-अगले पद्योंके क्रमाङ्कोंमें एक-एक अंककी वृद्धि होकर अन्तका ७२वां पद्य ७३ नम्बरका बन गया है। अस्तु, यह ग्रन्थ एक गुटकेमें, जिसके पत्रोंकी स्थिति जीर्ण है, ७ पत्रों पर (२५२-से २५८ तक) अंकित है और प्रायः ३००-४०० वर्षका लिखा हुआ जान पड़ता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अपने विषयका एक बड़ा ही सुन्दर एवं सार ग्रन्थ है। अनगार-धर्मामृतकी टीका-प्रशस्तिमें इसके लिये जिन तीन विशेषणोंका प्रयोग किया गया है वे इस पर ठीक-ठीक घटित होते हैं। यह निःसन्देह प्रसन्न और गम्भीर है। प्रसन्न इसलिये कि यह झटसे अपने अर्थको प्रतिपादन करनेमें समर्थ है और गम्भीर इसलिये कि इसकी अर्थ-व्यवस्था दूसरे अध्यात्मशास्त्रों-समाधितंत्रादिग्रंथों-की भी अपेक्षाको साथमें लिये हुए है। योगका आरम्भ करनेवालोंके लिये तो यह बड़े ही कामकी चीज है—उन्हें योगका मर्म समझाकर ठीक मार्ग पर लगानेवाली तथा उनके योगाभ्यासका उद्दीपन करनेवाली है। और इसलिये इसे उनके प्रेमको अधिकारिणी एवं प्रिय वस्तु कहना बहुत ही स्वाभाविक है। अध्यात्म-रसिक वृद्ध पिताजीके आदेशसे लिखी गई यह कृति आशाधरजीके सारे जीवनके अनुभवका निचोड़ जान पड़ती है। मैं तो समझता हूँ आशाधरजीने इसे लिखकर अपने विशाल धर्मामृत-ग्रन्थ-प्रासादपर एक मनोहर सुवर्ण-कलश चढ़ा दिया है। और इस दृष्टिसे यह उस ग्रन्थके साथ भी अगले संस्करणोंमें प्रकाशित होना चाहिये। मुझे इस ग्रन्थको देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई और साथ ही इसके अनुवादादिककी भावना भी जागृत हो उठी। यह ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशमें लानेके योग्य है। वीर-सेवामन्दिरने इस कामको अपने हाथमें लिया है और उसे इसके प्रकाशनमें फिलहाल दो सौ रुपयेकी सहायताका वचन भी धर्म-रसिक ला० मक्खनलालजी ठेकेदार दिल्लीसे प्राप्त होगया है। यदि किसी भाईको दूसरे शास्त्र-भण्डारसे इस ग्रन्थकी कोई अन्य प्रति उपलब्ध हुई हो तो वे उसे शीघ्र ही मेरे पास भेजनेकी कृपा करें, मिलान तथा संशोधनका कार्य हो जानेपर वह प्रति उन्हें सुरक्षित-रूपमें वापिस भेज दी जावेगी।

ग्रन्थके आदि-अन्तके दो पद्य निम्न प्रकार हैं—

> भव्येभ्यो भजमानेभ्यो यो ददाति निजं पदम्।
> तस्मै श्रीवीरनाथाय नमः श्रीगौतमाय च ॥ १ ॥

> शश्वच्चेतयते यदुत्सवमयं ध्यायन्ति यद्योगिनो
> येन प्राक्षिति विश्वमिन्द्रनिकरा यस्मै नमः कुर्वते।
> वैचित्र्यं गतो यतोऽस्ति पदवी यस्यान्तर-प्रत्ययो
> मुक्तिर्यत्र जयस्ततस्तु मनसि स्फूर्जत्परं ब्रह्म मे ॥ ७२ ॥

मंगलाचरण-विषयक दो पद्योंके अनन्तर, ग्रंथके विषयका प्रारम्भ करते हुए जो तीसरा पद्य दिया है वह इस प्रकार है—

> शुद्धे श्रुति-मति-ध्याति-दृष्टयः स्वात्मनि क्रमात्।
> यस्य सद्गुरुतः सिद्धाः स योगी योग-पारगः ॥

इसमें बतलाया है कि 'स्वात्माके शुद्ध होनेपर जिसको सद्गुरुके प्रसादसे श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि ये चारों क्रमसे सिद्ध हो जाती हैं वह योगी योगका पारगामी होता है।'

इसके बाद ग्रन्थमें स्वात्मा, शुद्धस्वात्मा, श्रुति, मति, ध्याति, दृष्टि और सद्गुरुके लक्षणादिका प्रतिपादन किया है और तदनन्तर दूसरे रत्नत्रयादि विषयोंको लिया गया है। ७१वें पद्यमें एक आशीर्वादात्मक वाक्य निम्न प्रकारसे दिया है—

> "भूयाद्वो व्यवहार-निश्चयमयं रत्नत्रयं श्रेयसे।"

अर्थात्—व्यवहार और निश्चयमयी रत्नत्रय (धर्म) तुम्हारे कल्याणका कर्त्ता होवे।

इस परिचयसे खोज करनेवाले सज्जन दूसरे शास्त्र-भंडारोंसे इस ग्रन्थकी खोज कर सकेंगे। सागार-धर्मामृतकी पुरानी हस्तलिखित प्रतियोंको भी टटोला जाना चाहिये, संभव है उनमेंसे किसीमें यह १९वाँ अध्याय लगा हुआ हो।

८. समाधिमरणोत्साह-दीपक

यह संस्कृत ग्रन्थ आचार्य सकलकीर्तिकी कृति है, जोकि विक्रमकी १५वीं शताब्दीके विद्वान् हैं। अभी तक यह ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं था। आचार्य सकलकीर्तिकी ग्रन्थ-सूचियोंमें भी इसका नाम नहीं मिल रहा था। यह भी उसी गुटकेमेंसे उपलब्ध हुआ है जिसमें योगोद्दीपन (अध्यात्म-रहस्य) नामका उक्त

शास्त्र पाया जाता है। इसकी पद्यसंख्या २१६ है और आदि-अन्तके दो-दो पद्य इस प्रकार हैं—

समाधिमरणादीनां फलं प्राप्तान् जिनादिकान्।
समाधिमृत्यु-सिद्ध्यर्थं वन्दे पंचमहागुरून् ॥१॥
अथ स्वान्योपकाराय वक्ष्ये संन्यास-सिद्धये।
समाधिमरणोत्साह-दीपकं ग्रन्थमुत्तमम् ॥२॥

× × ×

असमगुणनिधाना विश्व-कल्याणमूला-
स्त्रिभुवनपतिपूज्या वन्दिताः संस्तुताश्च ॥
सुगति-सकलकीर्त्या यान्तु सम्पूर्णतां मे
सुमरण-शिव-सिद्ध्यै सद्गुणाद्या महान्तः ॥२१५॥
यैस्तीर्थेशपरैः सतां सुगतये सम्यक्प्रणीतारच या
यासां सेवनतो मुमुक्षुरमलाः सिद्धा अनन्ता हि ये
या नित्यं कथयन्ति सूरि-सुविदोऽप्याराधयन्ते परे,
तास्ते मे निखिलाः स्तुताः सुमतये दद्युः गाथा परां ॥२१६

इस ग्रन्थका विषय इसके नामसे ही स्पष्ट है। जैनधर्ममें समाधि-पूर्वक मरणका बड़ा ही महत्व है, उसकी सिद्धिके बिना सारे किए कराये पर पानी फिर जाता है और यह संसारी जीव मरणके समय परिणामोंमें स्थिरता एवं शान्ति न लाकर धर्म तथा मरणकी विराधना करता हुआ दुर्गतिके दुःखोंका पात्र बन जाता है। इसीसे अन्त-समयमें समाधि-पूर्वक मरणके लिये बड़ी सतर्कता एवं सावधानी रखनेकी जरूरत बतलाई गई है, और 'अन्ते समाहिमरणं दुग्गइदुक्खं निवारेइ' जैसे वाक्योंके द्वारा समाधि-मरणको दुर्गतिमें पड़नेसे रोकने तथा उसके दुःखोंसे बचाने वाला बतलाया है। और यही वजह है कि नित्यकी पूजा-प्रार्थनादिके अवसरों पर इसकी बराबर भावना की जाती है। इस भावनाको द्योतक एक प्रसिद्ध प्राचीन गाथा इस प्रकार है—

"दुक्खखओ कम्मखओ समाहिमरणं च बोहिलाहो वि।
मम होउ तिजगबन्धव तव जिणवर चरण-सरणेण ॥"

जैनसमाजमें आचार्य सकलकीर्तिका नाम सुप्रसिद्ध है और उनके बनाये हुए कितने ही ग्रन्थ प्रचलित हैं। इस ग्रन्थमें उन्होंने समाधिसिद्धिके लिए अच्छी सामग्री जुटाई है, समाधि पूर्वक मरण-की विधि-व्यवस्था बतलाई है और ऐसी सत् शिक्षाओंकी साथमें योजना की है जिससे मरते समय हृदयमें निजात्माका भान होकर मोहका विघटन हो जाय, शान्ति तथा समताकी प्रतिष्ठा होसके, रोगादि-जन्य वेदनाएँ चित्तको उद्वेजित न कर सकें, धैर्य गिरने न पावे और उत्साह इतना बढ़ जाय कि मृत्यु भयकी कोई वस्तु न रह कर एक महोत्सवका रूप धारण कर लेवे। यह ग्रन्थ अपने विषयकी बड़ी उपयोगी रचना है और शीघ्र ही अनुवादादिके साथ प्रकाशित किये जानेके योग्य है। प्रकाशनके समय इसके साथ वह 'मृत्युमहोत्सव' पाठ भी सानुवाद रहे, जिसे पं० सदासुखजीने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी भाषा-टीकामें उद्धृत किया है, और पं० सूरसेनजी का तद्विषयक हिन्दी पाठ भी। साथ ही, भगवती-आराधनादि ग्रन्थोंसे दूसरी ऐसी महत्वकी सामग्री भी प्रभावक शब्दोंमें चित्रादिके साथ संकलित की जानी चाहिये जिससे इस विषयमें प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रकाशनकी उपयोगिता और भी बढ़ जाय और वह घर-घरमें विराजमान होकर संकटके समय सबको सान्त्वना देने और मरणासन्न व्यक्तियोंके परलोक सुधारनेमें सच्चा सहायक हो सके। कुछ सज्जनोंका आर्थिक सहयोग प्राप्त होने पर वीरसेवामन्दिर शीघ्र ही इस आवश्यक कार्यको अपने हाथमें ले सकेगा, ऐसी दृढ़ आशा है।

६. चित्रबन्ध-स्तोत्र (सचित्र)

चतुर्विंशतिजिनकी स्तुतिको लिये हुए यह संस्कृत स्तोत्र अपनी अंग-रचनामें चित्रालंकारोंको अपनाए हुए है, इसीसे इसका नाम चित्रबन्धस्तोत्र है, अन्यथा इसका पूरा नाम 'चतुर्विंशति-जिन-स्तोत्र' या 'चतुर्विंशतिजिन-चित्रबन्धस्तोत्र' होना चाहिये। स्तोत्रके अन्तमें 'इति चित्रबन्धस्तोत्रं समाप्तं' वाक्यके द्वारा इसे संक्षिप्त नामके साथ ही उल्लिखित किया है और प्रथम पद्यमें भी चित्रबन्धके द्वारा वृषभादि तीर्थ-नेताओंके स्तोत्रकी सूचना की गई है। इसकी पद्य-संख्या २६ है, जिनमेंसे आदि-अंतके दो पद्योंको छोड़कर शेष २४ पद्योंमें चौबीस तीर्थकरोंकी अलग-अलग स्तुति की गई है। प्रत्येक स्तुति-पद्य एक ही अनुष्टुभ् छंदमें होते हुए भी अपने अंगमें अक्षरों-द्वारा निर्मित जुदा जुदा चित्रालंकारको धारण

किये हुए है। यह इस स्तोत्रमें खास खूबी है, और इस तरह इसमें २४-२५ चित्रोंका समावेश है जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—

१ छत्र, २ चमर, ३ बीजपूर, ४ चतुरारचक्र, ५ षोडशदल-कमल, ६ अष्टदल-कमल, ७ स्वस्तिक, ८ धनुष, ९ मुशल, १० श्रीवृक्ष, ११ नालिकेर, १२ त्रिशूल, १३ श्रीकरी, १४ हल, १५ वज्र, १६ शक्ति, १७ भल्ल, १८ शर, १९ कलश, २० रथपद, २१ कमल, २२ शंख, २३ खड्गमुष्टि, (२३-२४ खड्ग) २४ मुरज।

ये चित्र भी स्तोत्रके अन्तमें ७॥ पत्रों पर दिये हैं। स्तोत्रके पत्रोंकी कुल संख्या १० हैं और यह भी एक गुटकेमें (पत्र ४१ से ५० तक) पाया गया है; जिसमें और भी कुछ सुन्दर स्तोत्र तथा हंसादि विषयों पर १९ अष्टक हैं और हिन्दीकी वृद्ध तथा लघु बावनी आदि कुछ दूसरी रचनाएँ भी हैं। यह गुटका संवत् १६६८ श्रावण-वदि अष्टमीका लिखा हुआ है और नागौर में लिखा गया है। प्रस्तुत स्तोत्रके आदिके दो और अन्तका एक पद्य इस प्रकार हैं:—

"ये तीर्थरथनेतारः संत्यत्र वृषभादयः।
चित्रबन्धेन तांस्तौमि हारिणा चित्रकारिणा ॥१॥
वृषभो वः सतां कांतां वृद्धिं देयादनिंदितां।
भावयामास यः एवोवं भासं दमितदुर्नयं ॥२॥"

× × × ×

छत्राद्याऽऽकृतिभिस्त्वदंग-निचनै (नदै) श्चित्रैर्विचित्रार्थिनी
श्रीमन्मंगलकारिणां सुवृषभादीनां जिनानां मुहुः।
यो नाऽधीत इमां स्तुतिं विनयतो मेधाविना संस्कृतां
पुन्नागः कावतां स याति नृपतिं स्वर्गश्रियं चाश्नुते॥२६॥

अन्तिम पद्यमें स्तुतिकारने अपना नाम 'मेधावी' सूचित किया है जो कि वे ही प० मेधावी जान पड़ते हैं जिन्होंने सम्वत् १५४१में धर्म-संग्रह-श्रावकाचारकी रचना की है, जो जिन-चन्द्रके शिष्य तथा पद्मनन्दीके पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले शुभचन्द्रके प्रशिष्य थे और जिन्होंने सम्वत् १५१६में मूलाचारकी और १५१९में त्रैलोक्य-प्रज्ञप्तिकी दान प्रशस्ति लिखी हैं। ये अग्रोतकुलमें उत्पन्न हिसारके रहनेवाले थे, हिसारमें ही इन्होंने उक्त 'धर्मसंग्रह-श्रावकाचारका लिखना प्रारम्भ किया था, जिसकी समाप्ति सपादलक्ष देशके नागपुर नगरमें हुई थी। इनके पिताका नाम 'उद्धरण,' माताका 'भीषुही' और पुत्रका नाम 'जिनदास' था। इन्होंने श्रुतमुनिसे अष्टसहस्री पढ़ी थी। यह सब परिचय धर्मसंग्रह-श्रावकाचारादिकी प्रशस्तियोंसे जाना जाता है।

पं. मेधावी अपने नामानुकूल अच्छे प्रौढ़ विद्वान् थे और उनकी यह प्रस्तुत कृति उनके बुद्धि-वैभवको और भी ख्यापित करती है। अलंकारकी छटाको लिये हुये यह बड़ी ही सुन्दर-सुबोध-रचना है और शीघ्र ही अनुवादादिके साथ प्रकाशमें लानेके योग्य है। खेद है कि १६वीं शताब्दीकी रची हुई यह कलात्मक कृति भी विस्मृतिके गड्ढेमें पड़ गई और अभी तक इसका कोई नाम भी नहीं सुना जाता था! सहयोग मिलनेपर इसे भी वीरसेवामन्दिरसे शीघ्र चित्रों आदिके साथ प्रकाशित किया जा सकेगा और इसके चित्रोंको आधुनिक कलाकी दृष्टिसे अधिक सुन्दर बनाया जा सकेगा। प्रत्येक पद्यके सामने उसका सहज-सुबोध एवं मनोहर चित्र रखा जाय, ऐसी व्यवस्था प्रकाशनकी होनी चाहिये।

१०. चर्पट-शतक

यह संस्कृत जैनग्रन्थ अपने नामानुकूल पूरे सौ पद्योंका है। संस्कृत-भाषामें निबद्ध है और अपने प्रत्येक पद्यमें नित्यके उपयोगकी अच्छी-अच्छी शिक्षा-प्रद बातोंको लिये हुए है। यह भी एक गुटकेमें उपलब्ध हुआ है, जो संवत् १८७३ ज्येष्ठ कृष्ण तीजका लिखा हुआ है और कृष्णगढमें लिखा गया है। यह उक्त गुटकेमें आठ पत्रोंपर (२२ से २९ तक) अंकित है। गुटकेका पूर्वभाग पानीसे भीगा है; परन्तु यह भाग उसके असरसे प्रायः बच रहा है। इसके आदि अन्तके दो-दो पद्य निम्न प्रकार हैं—

'श्रीमर्वज्ञं नत्वा देवं, सकल-सुरासुर-'वरचित-सेवं।
वच्मे किंचित्तदनुचरोऽहं, मुंचति येन विवेकी मोहं ॥१॥
वर्जित दुष्ट-सहायमहोभिः, परिहर भाषा-काय-मनोभिः।
षड्विध-जीव निकाय-विनाशं संसृति-कारक-बन्धन पाशं ॥२

× × ×

'कोऽहं कस्त्वं कथमायातः, का मे जननी को मे तातः ।
इति परिभावयतः संसारः, सर्वोयं [खलु] स्वप्नविहारः ॥९९॥
वर्णोच्चारण-करण-विहीनं, यदिदं गुरु-संकेते लीनं ।
स्वयमुन्मीलति यस्य ज्ञानं, पुनरपि तस्य न गर्भाधानम् ॥१००

अनेक शास्त्रभण्डारों और बहुत-सी ग्रन्थ-सूचियोंको देखने पर भी अभी तक इस ग्रंथका नाम उपलब्ध नहीं हुआ था और इसलिये यह ग्रन्थ भी अश्रुतपूर्व तथा अलभ्य जान पड़ता है। इसके रचयिता कौन हैं ? यह ग्रन्थपरसे कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। हां, एक स्थान पर इसमें निम्न पद्य पाया जाता है—

"कृन्त समूलं मायावल्लिं, कल्मष-परिमल-विकसितमखिलम् ।
कैतव-तपसा मल्लि जिनेशः, स्त्रीयश (?) शुभ उपदेशः ॥१०

इसमें, मायावल्लीको मूलतः काटनेकी शिक्षा देते हुए, यह बतलाया है कि मल्लि जिनेशको (पूर्व भवमें) मायाचार-पूर्वक तप करनेके कारण स्त्रीपर्यायको धारण करना पड़ा। और इससे यह ग्रन्थ किसी श्वेताम्बर विद्वान्की कृति जान पड़ता है; क्योंकि श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें ही मल्लिजिनेन्द्रको स्त्री बतलाया है। अतः इसके रचयिताके नाम आदिककी खोज होनी चाहिये। आशा है कोई भी खोजी विद्वान् इस पर प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे। यदि यह ग्रन्थ अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है तो शीघ्र ही प्रकाशित किये जानेके योग्य है। पढ़ने-सुनने-में यह बड़ा ही रोचक मालूम होता है और उस विवेकको जागृत करनेमें बहुत कुछ सहायक है जिससे, ग्रन्थके प्रथम पद्यमें दिये हुए रचना-उद्देश्यके अनुसार, विवेकीजन मोहको छोड़नेमें प्रवृत्त हो सकते हैं।

(क्रमशः)

तुम

श्री. राधेश्याम बरन्वाल—

फागुन की अरुणाई में जब पहले-पहल मैंने तुम्हारा दर्शन किया—
तालाब के किनारे !
तुम लगीं—
शबनम की बूँदों की तरह—निश्छल
बेला की पखड़ियों की तरह खूबसूरत
और मदिरा की तरह—मादक।
तालाब का नीलाजल जैसे आसमान था
और उसके तट पर खड़ी तुम जैसे चाँद थीं।
मेरा हृदय तुम पर लुट चुका था।
मैं स्वप्नाविष्ट-सा तुम्हारी ओर बढ़ा।
तुम्हारी सीपी-सी पलकें क्षण भर को ऊपर उठीं, कुछ फैलीं, फिर तत्क्षण ही नीची हो गईं।
शायद तुम भी मुझे पहचान गई थीं।
बचपन में हम दोनों साथ-साथ खेले थे।
और आज दस साल बाद मैं गाँव को वापस लौट रहा था।
केवल तुम्हारी बचपन की याद को अपने सीने पर लगाए।
लेकिन तभी मेरी निगाहें तुम्हारे आभामय मस्तक की ओर उठ गई।
ओह, उस पर की सिन्दूरी रेखा ने जैसे मुझे डँस-सा लिया।
तो तुम अब पराई हो, ओह !
बचपने के प्रेम और अधिकार का शतांश भा मेरा अब तुम पर नहीं ?
तभी तुमने जल से भरा गगरा उठाया,
और धीरे कदमों मुड़ चलीं।
धीरे धीरे तुम्हारी छाया, गाँव की गोद में जा, विलीन हो गई।
जख्म से भरे घायल पक्षी की तरह खड़ा-खड़ा मैं तड़पड़ाता-छटपटाता रहा,
और फिर मेरे थरथराते किन्तु तेज कदम वापस स्टेशन की ओर मुड़ चले।

—'युगछाया' से

धारा और धाराके जैन विद्वान्

(अनेकान्त वर्ष १२ किरण ११-१२ से आगे)

(परमानन्द शास्त्री)

कविने इस ग्रन्थमें जो विविध छन्दोंका प्रयोग किया है उनमेंसे कुछ छन्दोंके नाम मय पत्राङ्कोंके निम्न प्रकार हैं:—

१ विलासिनी (३२), २ भुजंग प्रिया (२१) ३ मंजरी (३०), ४ वंशस्थल ४४), ५ चन्द्रलेखा (५०), ६ सिंधुरगति (५८), ७ दोधक (७४), ८ मौक्तिकमाला (७७), ६ सर्गिणी ८३), १० पद्माकुला (६६), ११ मदनलीला (६८), १२ द्विपदी (६८), १३ विद्युन्माला छंद (६६), १४ रासाकुलक १०२), १५ कुवलयमालिनी (१०२), १६ तुरगगतिमदन (१०३), १७ समानिका (११८), १८ रथोद्धता (११६), १६ प्रमाणिका (१५५), २० नागकन्या (१७६), २१ संगीत गंधर्व (२००), २२ शृंगार (२००), २३ बाल-भुजंग ललित (२०१), २४ अजनिका (२५०),

इनके अतिरिक्त, दोहा, घत्ता, गाथा, दुपदी, पद्धडिया, चौपई, मदनावतार, भुजंग प्रयात आदि अनेक छन्दोंका एक से अधिक वार प्रयोग हुआ है। इससे छन्दशास्त्र की दृष्टिसे भी इस ग्रन्थका अध्ययन और प्रकाशन जरूरी है।

ग्रन्थकी भाषा प्रौढ़ है, और वह कविके अपभ्रंश भाषाके साधिकारको सूचित करती है। ग्रन्थान्तमें संधि-वाक्य भी पद्यमें निबद्ध किये गए हैं। यथा:—

> मुणिवर णयणंदि सण्णि-बद्धे पसिद्धे,
> सयल विहि विहाणे एत्थे कव्वे सुभव्वे।
> समवसरणसंसि सेणिए संपवेसो,
> भणिउ जणमणुज जोएस संधी सिहज्जो ॥१॥

ग्रन्थकी३२वीं संधिमें मद्य-मधुके दोष, उदुंबरादि पंच फलोंके त्यागका विधान और फल बतलाया गया है। ३३वीं संधिमें पंच अणुव्रतोंका कथन दिया हुआ है। ३६वीं संधिमें अणुव्रतोंकी विशेषताएं बतलाई गई हैं और उनमें प्रसिद्ध पुरुषोंके आख्यान भी यथास्थान दिये गए हैं। ५६वीं संधिके अन्तमें सल्लेखना (समाधिमरण)का स्पष्ट विवेचन किया गया है और विधिमें आचार्य समन्तभद्रके सल्लेखनाके कथन-क्रमको अपनाया गया है। इससे यह काव्य-ग्रंथ गृहस्थोपयोगी व्रतोंका भी विधान करता है इस दृष्टिसे भी इसकी उपयोगिता कम नहीं है।

ग्रन्थकी आद्य प्रशस्ति इतिहासकी महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। उसमें कविने ग्रन्थ बनानेमें प्रेरक हरिसिंह मुनिका उल्लेख करते हुए, अपनेसे पूर्ववर्ती जैन-जैनेतर और कुछ सम-सामयिक विद्वानोंका भी उल्लेख किया है जो ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण है। उनके नाम इस प्रकार हैं:—

वररुचि, वामन, कालीदास, कौतूहल, वाण, मयूर, जिनसेन, १ वारायण, (वादरायण) श्रीहर्ष, राजशेखर, जसचन्द्र, जयराम२, जयदेव३, पालित्त (पादलिप्त) पाणिनि, प्रवरसेन, पातंजलि, पिंगल, वीरसेन४, सिद्धनन्दि, सिद्धभद्र, गुणभद्र, समन्तभद्र, अकलंक, रुद्र, गोविन्द, दण्डी, भामह, माघ भरत, चउमुह, स्वयंभू, पुष्पदन्त५, श्रीचन्द्र, प्रभाचन्द्र और श्रीकुमार, जिन्हें सरस्वतीकुमार, नामसे उल्लेखित किया है। जैसाकि ग्रन्थके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

> मणु जण्ण वक्कु वम्मीय वासु,
> वररुइ नामणु कइ कालियासु।

---

१ इनमें जिनसेन आदिपुराणके कर्ता हैं। इनका समय विक्रमकी ९वीं शताब्दी है। २ यह जयराम वे जान पड़ते हैं जो प्राकृत 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रंथके कर्ता थे। जिनकी कृतिका अनुवाद हरिषेणने वि० सं० १०४४ में किया है। ३ यह प्राकृत छन्द-शास्त्रके कर्ता मालूम होते हैं। ४ यह एलाचार्यके शिष्य वीरसेन जान पड़ते हैं जिन्होंने षट्खंडागमादिक सिद्धान्त-ग्रंथोंकी टीकाएं बनाई हैं। ५ चउमुह स्वयंभू और पुष्पदन्त ये अपभ्रंश भाषाके तीन कवि हैं। श्रीचन्द्र कुछ पूर्ववर्ती एवं सम-सामयिक हैं। प्रभाचन्द्र और श्रीकुमार नयनन्दीके गुरु-भाई जान पड़ते हैं। उनमें श्रीकुमारको सरस्वती-कुमार कहा जाता था इससे वे बड़े भारी विद्वान् ज्ञात होते हैं।

कोऊहलु वाणु मऊर सूर,
जिणसेण जिणागम कमल सूर।
वारायणु वरणा विय वियड्ढ,
सिरि हरिसु रायसेहरु गुणड्ढ।
जसइंदु जए जयराम णामु,
जयदेव जणामणणंद कामु।
पालित्तउ पाणिणि पवरसेणु,
पायंजलि पिंगलु वीरसेणु।
सिरि सिंहणंदि गुण-सिंह-भद्दु,
गुणभद्द गुणिल्लु समंतभद्दु।
अकलंकु वि समवाई य विहंडि,
कामद्दु रुद्द गोविंदु दंडि।
भम्मुह भारवि माह वि महंत,
चउमुह सयमु, कई पुप्फयंतु।

घत्ता—सिरिचन्दु पहाचन्दु वि बिबुह, गुण-गण-णंदि मणोहरु।
कई सिरिकुमारु सरसइ-कुमरु, कित्ति-विलासिणि सेहरु ॥६॥

इनके सिवाय, धवल, जयधवल और महाबध रूप सिद्धांत-ग्रन्थोंका वीरसेन-जिनसेनके नामोल्लेख पूर्वक उल्लेख किया है। कवि धनंजयको पुंडरीक, और स्वयंभूको लोकरजन करनेवाला बतलाया है। वे धनंजय कवि कौन थे और कब हुए हैं? क्या कविका अभिप्राय द्विसंधान काव्यके कर्त्ता धनंजयसे है, या अन्य किसी धनंजय नामके कविसे? यह बात विचारणीय है।

तहिं जिणागमुच्छव अलेवहि,
वीरसेण जिणसेण देवहि।
णाम धवल जयधवल सय महा-
बंध तिणिण सिद्धंत-सिवपहा।
विरइऊण भवियहं सुहाविया,
सिद्धि रमणि हाराव्व दाविया।
पुंडरीउ जहिं कवि धणंजउ,
इउ सयंभू भुवणं पि रंजउ।

कवि सिंहका उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। देखो संधि २। ये कविसिंह कौन हैं और कहांके निवासी हैं, इनकी गुरु परम्परा क्या है? यह कुछ ज्ञात नहीं होता। सिंह नामके एक अपभ्रंश कविका उल्लेख जरूर उपलब्ध होता है जो प्रद्युम्न चरितके उद्धार कर्त्ता हैं और जिनका समय विक्रमकी १२वीं शताब्दीका उत्तरार्ध है। अतः समयकी दृष्टिसे इन सिंह कविका उल्लेख विक्रम संवत ११०० के नयनन्दी द्वारा होना उचित नहीं जान पड़ता।× इससे ऐसा ज्ञात होता है कि नयनन्दीने किसी अन्य सिंह कविका उल्लेख किया है* और जिनकी गुरु-परंपरा का उल्लेख अन्वेषणीय है।

कविवर नयनन्दीने राजा भोज, हरिसिंह आदिके नामोल्लेखके साथ-साथ, वच्छराज, प्रभुईश्वरका नाम भी दिया है और उन्हें विक्रमादित्यका मांडलिक प्रकट किया है। यथा—

जहि वच्छराउ पुणु पुहइ वच्छु. हुंतउ पुहु ईसरु सूरवच्छु।
हांएप्पिणु पत्थएहरियराउ, मंडलिउ विक्कमाइच्च जाउ।

संधि २ पत्र ८

इसी संधिमें आगे चलकर अंबाइय, और कचीपुरका उल्लेख किया है कवि इस स्थान पर गये थे। इसके अनन्तर ही वल्लभराजका उल्लेख किया है जिसने दुर्लभ जिन-प्रतिमाओंका निर्माण कराया था, और जहां पर रामनन्दी जयकीर्ति और महाकीर्ति प्रधान थे। जैसा कि उनके निम्न पद्यसे स्पष्ट है—

"अंबाइयकंचीपुर विरत्त, जहिं भमइं भव्य भत्तिहिं पसत्त।
जहि वल्लभराएं बल्लहेण, काराविउ कित्तणु दुल्लहेण।
जिण पडिमालंकिउ गच्छुमाणु, णं केण वियंभिउ सुरविमाणु।
जहिं रामणंदि गुण मणि-णिहाणु,
जयकित्ति महाकित्तिवि पहाणु।
इय तिण्णिवि परिमय-मइं-मयंद, मिच्छत्त-विडविमोडण-गइंद।

इन पद्योंमें उल्लिखित रामनन्दी कौन हैं, उनकी गुरुपरम्परा क्या है और जयकीति महाकीर्तिका उनसे क्या सम्बन्ध है, ये सब बातें विचारणीय हैं। क्या प्रस्तुत रामनन्दि श्रुतस्कंधके कर्त्ता ब्रह्म हेमचन्द्रके गुरुसे भिन्न हैं या अभिन्न? इन दोनोंके समयादिका विचार करना आवश्यक है। क्योंकि आगे चलकर ग्रंथ-कर्ताने रामनन्दीको 'सूरिणा' वाक्यसे आचार्य सूचित किया है और

× देखो, महाकवि सिंह और प्रद्युम्नचरित नामका लेख, अनेकान्त वर्ष ८, किरण १०-११ पृ० ३८९

*कइसीहहं णगइ हउं कुरंगु, णावेक्खमि होंतउ पयइं भंगु।
सयलविहिविहाणकव्व,

बालचन्द्रके शिष्यने कहा कि सकलविधिविधान काव्य अविशेषित है।

कविवर नयनन्दीने उसे कुछ दिनोंके बाद बनाना प्रारम्भ किया। क्योंकि किसी कारण-विशेषसे उनका चित्त उद्विग्न (उदास) था, चित्तकी अस्थिरतामें ऐसे महाकाव्यका निर्माण कैसे बन सकता है। जब कुछ दिनोंके पश्चात् कविकी उद्विग्नता दूर हुई और चित्तमें प्रसन्नताका प्रादुर्भाव हुआ, तभी कविने इस ग्रन्थके रचनेका विचार स्थिर किया। उक्त ग्रन्थको कविने भक्तिमें तत्पर होकर बनाया है। अन्यथा किस-की शक्ति है जो इतने विस्तृत महाकाव्यको लिखनेमें समर्थ होता।

कविवर नयनन्दीकी यह रचना कितनी बहुमूल्य है और उनमें हेयोपादेय विज्ञानकी कथनी कितनी चित्ताकर्षक है यह सब ग्रन्थका पूरा अध्ययन करने पर ही पता चल सकता है। आशा है समाजकी कोई मान्य संस्था इस ग्रन्थके प्रकाशनका भार लेकर साहित्य-संसारमें उसकी सौरभको बखेरनेका यत्न करेगी।

नयनन्दीने अपने समकालीन विद्वानोंमें प्रभाचन्द्रका नाम भी उल्लेखित किया है। जो उनके सहाध्यायी भी रहे हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। ये दोनों ही माणिक्यनन्दीके शिष्य और त्रैलोक्यनन्दी के प्रशिष्य थे। माणिक्यनन्दी दर्शन-शास्त्रके महान् विद्वान् थे। उनके अनेक विद्या-शिष्य थे। चूंकि नयनन्दीने अपनेको माणिक्यनन्दी-का प्रथम विद्याशिष्य सूचित किया है, अतः यह अधिक संभव है कि उस समय प्रभाचन्द्रने दर्शन-शास्त्रका पठन-पाठन प्रारम्भ न किया हो; किन्तु उनके कुछ समय बाद दक्षिण देशसे वहाँ पहुँचने पर उन्होंने विद्याध्ययन शुरू किया हो। इसीसे प्रभा-चन्द्रने अपनेको माणिक्यनन्दीका शिष्य तो सूचित किया, पर कहीं भी प्रथम या द्वितीय विद्या-शिष्य नहीं लिखा। हो सकता है कि उस समय तक नय-नन्दी विद्याध्ययन कर स्वतन्त्र विहार करने लगे हों। और प्रभाचन्द्र विद्या अध्ययन कर रहे हों, यही कारण है कि उन्होंने प्रभाचन्द्रके सम्बन्धमें और कुछ भी उल्लेख नहीं किया। और न कहीं उनकी महत्वपूर्ण दार्शनिक कृतियोंका ही उल्लेख किया है, संभव है कि वे कृतियाँ नयनन्दीके अवलोकनमें भी न आई हों और न माणिक्यनन्दीके अन्य अनेक विद्याशिष्योंका भी कोई उल्लेख या संकेत उन्होंने किया है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि उस समय नयनन्दी धारानगरीमें नहीं थे, किन्तु यत्र तत्र देशोंमें विहारकर जिनधर्मका प्रचार-कार्य कर रहे थे। इस कारण उस समय वे धाराके विद्वानों आदिका स्पष्ट उल्लेख नहीं कर सके। फलतः वे प्रभाचन्द्रकी महत्व-पूर्ण कृतियोंसे भी अपरिचित ही रहे जान पड़ते हैं। अन्यथा वे उनका उल्लेख किये बिना न रहते।

माणिक्यनन्दीके अन्य विद्याशिष्योंमें प्रभाचंद्र भी प्रमुख रहे हैं। वे उनके 'परीक्षामुख' नामक सूत्रग्रन्थके कुशल टीकाकार भी हैं। और दर्शन-साहित्यके अतिरिक्त वे सिद्धान्तके भी विद्वान थे। ये प्रभाचन्द्र श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ४ के अनुसार मूलसंघान्तर्गत नन्दीगणके भेदरूप देशीय-गणके गोल्लाचार्यके शिष्य एक अविद्धकर्ण कौमार व्रती पद्मनन्दी सैद्धान्तिकका उल्लेख है जो कर्णवेध संस्कार होनेसे पूर्व ही दीक्षित हो गए थे, उनके शिष्य और कुलभूषणके सधर्मा एक प्रभाचन्द्रका उल्लेख पाया जाता है जिसमें कुलभूषणको चारित्र-सागर और सिद्धान्तसमुद्रके पारगामी बतलाया गया है, और प्रभाचन्द्रको शब्दाम्भोरुह भास्कर तथा प्रथित तर्क-ग्रन्थकार प्रकट किया है। इस शिला-लेखमें मुनि कुलभूषणकी शिष्य-परम्पराका भी उल्लेख निहित है।

'अविद्धकर्णादिक पद्मनन्दी सैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेव व्रतिता प्रसिद्धिर्जीयात्तु सज्ज्ञाननिधिः सधीरः॥

तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधिः—
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा—
चन्द्राख्यो मुनिराजपंडितवरः श्रीकुन्दकुन्दान्वयः॥
तस्य श्रीकुलभूषणाख्यसुमुने शिश्ष्यो विनेयस्तुत—
सद्वृत्तः कुलचन्द्रदेवमुनिपस्सिद्धान्तविद्यानिधिः॥'

श्रवणबेल्गोलके ५५वें शिलालेखमें मूलसंघ देशी-यगणके देवेन्द्र सैद्धान्तिकके शिष्य, चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दी और इन्हीं गोपनन्दीके सधर्मा एक

प्रभाचन्द्रका उल्लेख भी किया गया है। जो प्रभाचंद्र धाराधीश्वर राजा भोज-द्वारा पूजित थे और न्याय-रूप कमलसमूहको विकसित करने वाले दिनमणि, और शब्दरूप अब्जको प्रफुल्लित करने वाले रोदो-मणि (भास्कर) सदृश थे। और पण्डितरूपी कमलों-को विकसित करने वाले सूर्य तथा रुद्रवादि दिग्गज विद्वानोंको वश करनेके लिये अंकुशके समान थे तथा चतुर्मुखदेवके शिष्य थे×।

इन दोनोंही शिलालेखोंमें उल्लिखित प्रभाचन्द्र एकही विद्वान् जान पड़ते हैं। हां, द्वितीयलेख (५५) में चतुर्मुखदेवका नाम नया जरूर है, पर यह संभव प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्रके दक्षिण देशसे धारामें आनेके पश्चात् देशीयगणके विद्वान् चतुर्मुखदेव भी उनके गुरु रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि गुरु भी तो कई प्रकारके होते हैं—दीक्षागुरु, विद्या-गुरु आदि। एक-एक विद्वान्के कई-कई गुरु और कई कई शिष्य होते थे। अतएव चतुर्मुखदेव भी प्रभाचन्द्रके किसी विषयमें गुरु रहे हों, और इसलिए वे उन्हें समादर की दृष्टिसे देखते हों तो कोई आप-त्तिकी बात नहीं, अपनेसे बड़ेको आज भी पूज्य और आदरणीय माना जाता है।

आचार्य प्रभाचन्द्रने उक्त धारा नगरीमें रहते हुये केवल दर्शनशास्त्रका अध्ययन ही नहीं किया, प्रत्युत धाराधिप भोजके द्वारा प्रतिष्ठा पाकर अपनी विद्व-त्ताका विकास भी किया। साथ ही विशाल दार्शनिक टीका ग्रन्थोंके निर्माणके साथ अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुख-टीका) नामक विशाल दार्शनिक ग्रंथ सुप्रसिद्ध राजाभोजके राज्यकालमें ही रचा गया है और न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय टीका) आराधना गद्य-कथाकोश, पुष्प-दन्तके महापुराण (आदिपुराण-उत्तरपुराण) पर टिप्पण ग्रन्थ, समाधितन्त्र टीका* ये सब ग्रन्थ राजा जयसिंहदेवके राज्यकालमें रचे गए हैं। शेष ग्रन्थ प्रवचन-सरोज-भास्कर, पंचास्तिकाय प्रदीप, आत्मानुशासनतिलक, क्रियाकलापटीका, रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र टीका, शब्दा-म्भोजभास्कर और तत्त्वार्थवृत्ति पदविवरण तथा प्रतिक्रमण पाठ टीका, ये सब ग्रन्थ कब और किसके राज्यकालमें रचे गये हैं यह कुछ ज्ञात नहीं होता। बहुत सम्भव है कि ये सब ग्रन्थ उक्त ग्रन्थोंके बाद ही बनाए गये हों। अथवा उनमेंसे कोई ग्रन्थ उनसे पूर्व भी रचे हुए हो सकते हैं।

अब रही समयकी बात। ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डको राजा भोजके राज्यकालमें बनाया है। राजा भोजका राज्यकाल विक्रम संवत् १०७० से ११५० तकका बतलाया जाता है। उसके राज्यकालके दो दानपत्र संवत् १०७६ और १०७९ के मिले हैं।

आचार्य प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थ वृत्तिके विषम-पदों-का विवरणात्मक एक टिप्पण लिखा है। उसके प्रारंभ में अमितगतिके संस्कृत पंच-संग्रह का निम्न संस्कृत पद्य उद्धृत किया है:—

वर्गः शक्तिः समूहोऽणोरणूनां वर्गणोदिता।
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकापहैः॥

अमितगतिने अपना यह पचसंग्रह मसूतिकापुरमें जो वर्तमानमें 'मसीद विलौदा' ग्रामके नामसे प्रसिद्ध है वि० सं० १०७३ में बना कर समाप्त किया है। अमितगति धाराधिप मुंजकी सभाके रत्न भी थे। इससे भी स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्रने अपना उक्त टिप्पण वि० सं० १०७३ के बाद बनाया है। कितने बाद बनाया है यह बात अभी विचारणीय है।

न्यायविनिश्चय विवरणके कर्ता आचार्य वादि-राजने अपना पार्श्व पुराण शक सं० ९४७ (वि० सं० १०८२) में बना कर समाप्त किया है। यदि राजा

× श्रीधाराधिप-भोजराज मुकुट-प्रोताश्म-रश्मि च्छटा-
च्छाया कुंकुम-पंक-लिप्तचरणाम्भोजात लक्ष्मीधवः।
न्यायाब्जाकर-मण्डने दिनमणिश्शब्दाब्ज-रोदोमणिः-
स्थेयात्पण्डित-पुण्डरीक-तरणिः श्रीमान् प्रभाचंद्रमा ॥१७
श्री चतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डितः श्रीप्रभाचंद्रो रुद्रवादि-गजांकुशः ॥ १८ ॥
—जैनशिलालेख संग्रह भाग १ पृ० ११८

* मूडबिद्रीके मठकी समाधितन्त्र ग्रन्थकी प्रतिमें पुष्पिका-वाक्य निम्न प्रकार पाया जाता है—'इति श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठि-प्रणा-मोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभा-चन्द्रपण्डितेन समाधिशतकटीका कृतेति ॥'

भोजके प्रारम्भिक राज्यकालमें प्रभाचन्द्रने अपना प्रमेयकमलमार्तण्ड बनाया होता, तो वादिराज उसका उल्लेख अवश्य ही करते। पर नहीं किया इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय तक प्रमेय-कमलमार्तण्डकी रचना नहीं हुई थी। हाँ सुदर्शन चरितके कर्ता मुनि नयनन्दीने, जो माणिक्यनन्दीके प्रथम विद्याशिष्य थे और प्रभाचन्द्रके समकालीन गुरुभाई भी थे, अपना सुदर्शनचरित वि० सं० ११०० में बना कर समाप्त किया था और उसके बाद 'सकल विधिविधान' नामका काव्य-ग्रन्थ भी बनाया था जिसमें पूर्ववर्ती और समकालीन अनेक विद्वानों का उल्लेख करते हुए प्रभाचन्द्रका नामोल्लेख किया है पर उसमें उनकी रचनाओंका कोई उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि प्रमेयकमलमा-र्तण्डकी रचना सं० ११०० या उसके एक-दो वर्ष बाद हुई है। प्रभाचन्द्रने जब प्रमेयकमलमार्तण्ड बनाया; उस समय तक उनके न्यायविद्यागुरु भी जीवित थे × और उन्हें उनके अतिरिक्त अन्य विद्वानोंका भी सहयोग प्राप्त था, पर 'न्यायकुमुदचन्द्र' के लिखते समय उन्हें अन्य विद्वानोंके सहयोग मिलनेका कोई आभास नहीं मिलता और गुरु भी सम्भवतः उस समय जीवित नहीं थे क्योंकि न्यायकुमुदचन्द्र सं० ११११२ के बादकी रचना है। कारण कि जयसिंह राजाभोजके बाद (वि० सं० १११० के बाद) किसी समय राज्यका अधिकारी हुआ है। जयसिंहने सवत् १११० से १११६ तक राज्य किया है। यह तो सुनि-श्चित ही है इनके राज्यका सं० १११२ का एक दान-पत्र भी मिला है। उसके बाद वह कहाँ और कब तक जीवित रह कर राज्य करते रहे, यह अभी अनिश्चित है। अतः आचार्य प्रभाचन्द्रने भी अपनी रचनाएँ जिन्हें राजाभोज और जयसिंहके राज्यमें रचा हुआ लिखा है, सं० ११०० से लेकर सं०११ ६ तकके मध्यवर्ती समयमें रची होगी। शेष ग्रन्थ जिनमें कोई उल्लेख नहीं मिलता, वे कब बनाये, इस सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं है।

इस सब विवेचन परसे स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्र विक्रमकी ११वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १२वीं शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान् हैं।

(क्रमशः)

× जैसा प्रमेयकमलमार्तण्डके ३-११ सूत्रकी व्याख्यासे स्पष्ट है—'न च बालावस्थायां निश्चयानिश्चयाभ्यां प्रतिपन्न साध्यसाधन-स्वरूपस्य पुनर्वृद्धावस्थायां तद्विस्मृतौ तत्स्वरू-पोपलम्भेऽप्यविनाभावप्रतिपत्तेरभावात्तयोस्तदहेतुत्वम् . स्मर-णादेरपि तद्धेतुत्वात् । भूयो निश्चयानिश्चयौ हि स्मर्यमाण-प्रत्यभिज्ञायमानौ तत्कारणमिति स्मरणादेरपि तन्निमित्तत्वप्रसिद्धिः । मूलकारणत्वेन तूपलम्भादेरत्रोपदेशः, स्मरणादेस्तु प्रकृतत्वादेव तत्कारणत्वप्रसिद्धेरनुपदेश इत्यभि प्रायो गुरूणाम् ॥"—अनेकान्त वर्ष ८, किरण १०-११

समाज से निवेदन

अनेकान्त जैन समाज का एक साहित्यिक और ऐतिहासिक सचित्र मासिक पत्र है। उसमें अनेक खोजपूर्ण पठनीय लेख निकलते रहते हैं। पाठकोंको चाहिये कि वे ऐसे उपयोगी मासिक पत्रके ग्राहक बनाकर तथा संरक्षक या सहायक बनकर उसको समर्थ बनाएं। हमें दो सौ इक्यावन तथा एक सौ एक रुपया देकर संरक्षक व सहायक श्रेणी में नाम लिखानेवाले केवल दो सौ सज्जनों की आवश्यकता है। आशा है समाज के महानुभाव एक सौ एक रुपया दान कर सहायक श्रेणीमें अपना नाम अवश्य लिखाकर साहित्य-सेवामें हमारा हाथ बटाएंगे।

मनेजर 'अनेकान्त'

पौराणिक कथा—

—: तुकारी :—

(श्री पं० जयन्तीप्रसादजी शास्त्री)

भद्दाका जीवन बड़े लालन-पालनमें व्यतीत हुआ था। वह आठ भाइयोंके बीचमें अकेली ही थी, इसलिए सबका प्यार पाकर फूली नहीं समाती थी और सुन्दर भी इतनी थी कि उस चन्दनपुरमें उसकी समता करने वाली दूसरी कोई लड़की नहीं थी। बड़ी गुणवती और सुशीला थी सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करती थी, आव—आदरके साथ बोलना, चालना, उसका स्वभाव बन गया था। उसे अगर जीवनमें किसीसे घृणा थी, तो 'तू' शब्द से। अगर कोई किसीसे किसी भी बातमें 'तू' कहता, तो उसे बड़ा ही बुरा लगता और क्रोध उत्पन्न कर देता था। इस बात पर जब कभी अपने पिताजी पर भी नाराज हो जाया करती थी।

उसके पिता पं० शिवशर्मा नामके ब्राह्मण, धनवान्, गुणवान् और राजा द्वारा सम्मानित थे। नगर में उनका बड़ा आदर था। सब लोग पूज्य और श्रद्धा-दृष्टिसे देखते थे। अगर कोई उनसे दुखी था तो उनका वह रामू नौकर, जिसे पंडितजी कभी भी सहानुभूतिकी दृष्टिसे नहीं देखते थे। और हर बातमें सदा तीखापन लेकर यह नहीं किया, वह नहीं किया, हरामकी नौकरी पाता है, यह काम किया तो इसमें यह गलती है, कुछ करना ही नहीं आता, इत्यादि कहते रहते थे। वह बेचारा मजबूर रामू जी लगाकर काम करता था केवल दस रुपया और भोजन पर। प्रातः पांच बजे उठना और काम करते-करते रातको ११ बजे सोना प्रतिदिनका काम था।

एक दिन पंडितजी उस बेचारे रामू पर गुस्सा होते हुए बुरी तरह चिल्लाये और बोले—तू अन्धा हो गया था जो यह दिखाई नहीं दिया। हरामी कहीं का, पता ही नहीं लगता उबला-उबला-सा क्यों रहता है एक काम जो आध घंटेमें बहुत आसानीसे हो जाय, उसमें तीन घंटे लगाता है। तुझसे काम नहीं होता तो नौकरी छोड़कर चला जा।

रामू उनकी सारी बातोंको सुनता गया, पर 'तू' शब्दको सुन कर उसके हृदयमें भारी आघात पहुँचा, सोचने लगा, यहां मेरा कुछ भी आदर नहीं है और जहां इज्जत ही नहीं, वहां काम नहीं करना, चाहे भूखों मर जाऊँ। ऐसा सोचकर पण्डितजीसे बोला—पण्डितजी मैं आपकी सारी बातें सहन कर सकता हूँ, पर आपका 'तू' शब्द नहीं सुन सकता। मैं कोई इज्जत बेच कर थोड़े ही काम करता हूँ। आगेसे आप ध्यान रखियेगा, आखिर मैं भी मनुष्य हूँ।

उसकी इन बातोंको श्री पण्डितजी भी सहन न कर सके, बोले—अगर ऐसा ही है तो नौकरी करने क्यों आये। बच्चू! यह नौकरी है, इसमें सब कुछ सहन करना पड़ता है। अगर तू काम नहीं कर सकता, तो छोड़ कर चला जा।

रामू पुनः कहे गये 'तू' को सुनकर सोचने लगा, क्या ऐसा व्यवहार सभी पैसे वालोंके यहां होता है? क्या सभी इतनी बुरी प्रवृत्तिके होते हैं? क्या पैसेके घमण्डमें आकर बोलते हैं? इनके यहां मानवका आदर नहीं होता? क्या ये सभी नौकरोंके साथ ऐसा ही वर्ताव करते हैं? इनके दिल नहीं होता? कभी नौकरको शाबासी भी नहीं देते होंगे, चाहे वह नौकर सेठ जीके लिए प्राण भी देनेको तैयार रहे, पर सेठजीकी कोई सहानुभूति नहीं। पर, नहीं-नहीं सभी एकसे नहीं होते, बहुतसे बड़े भले होते हैं, नौकरोंके साथ बड़ा ही अच्छा वर्ताव करते हैं, सदा अच्छी तरह बोलते हैं, उसके दुःख-सुखकी पूछते हैं, बीमार होने पर बड़ी चिन्ताके साथ उसका इलाज कराते हैं। पर, ये पं० जी, बुखार आने पर भी नहीं छोड़ते हैं। कहते हैं—बहाना कर रहा होगा, इत्यादि विचारता हुआ आंखोंमें दुःखका सागर उमड़ाता हुआ पं० जीको नमस्कार कर चल दिया।

जाते समय भद्दाने उसे रोका, और समझाया। साथ ही अपने पिताजीसे बोली—पिताजी! आप अगर तू की जगह तुम बोल दिया करें, तो कोई भारी समय न लगे, हर एक आदमी अपने घरका और मनका राजा होता है। एक बार आदमीको रोटी कपड़ा न दो, पर बोलना, चालना ठीक रक्खो, प्रेम पूर्वक मधुरतासे बोलो, वह आदमी आपका हो जायगा। आप मुझसे भी कितनी ही बार 'तू' के साथ बोल चुके हैं, हालांकि, मैं आपकी पुत्री हूँ, फिर भी मुझे बहुत बुरा लगता है। मेरी माता जी भी दुःखी हो जाती हैं और सब भाई भी।

सुन कर पं० जी कुछ शान्त होकर बोले—बेटी 'तू'

कहना क्या बुरा है लोग भगवान् से भी 'तू' बोलते हैं, भक्तिमें आकर, स्थान-स्थान पर वेद, पुराणों, आदिमें देखा जाता है। पति, स्त्रीसे, पिता पुत्र से, बड़े छोटोंसे प्यारमें आकर 'तू' बोलते हैं।

पर पिताजी! आपने रामूसे जो 'तू' कहा, यह कौनसे प्यारका नमूना था, कौनसी भक्ति थी। ईश्वर तो कुछ सुनता नहीं है, वह सब कुछ देखता रहता है, अगर वह सुनता होता, तो मैं आपसे सच कहती हूँ एक बार फिर उसे पृथ्वी पर 'तू' शब्दको मना करनेके लिए आना पड़ता। पर जब वह कुछ सुनता ही नहीं है, तो पीठ पीछे जिसको चाहो उसको वैसा कहो, 'तू' ही क्या, गाली भी दो। परन्तु पिताजी! यह शिक्षित लोगोंके शब्दकोषसे निकल चुका है, भले घरोंमें अब इसका उच्चारण नहीं होता। पत्नी और पुत्र आदि भी इस शब्दको सुनकर चौंक पड़ते हैं, दुःखी होते हैं, और दूसरे नाते रिश्तेदारों तथा अन्य शिक्षित वर्गके सामने कहने पर तो दुःखका कुछ ठिकाना नहीं रहता।

इस 'तू'में प्यार नहीं, अनादर छिपा है, घृणा छिपी है है और प्रगट हो जाती है असभ्यता। झगड़े को बढ़ाता है शान्त वातावरणमें उलझनें और मनमुटाव पैदा कर देता है। अब तो ग्रामीण आदमी भी अपने घर-घरसे इसे निकाल रहे हैं। इस 'तू' शब्दके उच्चारण मात्रसे बहुतोंके मुखसे थूकके कण तक निकल कर दूसरोंके मुँह पर चले जाते हैं। और फिर आप ही सोचिये, यह कितना बुरा शब्द है, इसमें कितनी कठोरता भरी हुई है कितना अक्खड़पन भरा हुआ है और कितना अनादर भावना और अमानवता। इस 'तू' शब्दके पीछे ही मुझमें और मुहल्ला पड़ोस वालोंमें एक दिन कितना झगड़ा हो गया था। मैंने उनकी सात पीढ़ीकी बात निखोर कर रखदी थी तब आपने ही आकर शान्त किया था।

पं० जीने बड़े शान्त भावसे विचारा और कहा—बेटी! ठीक है आगेसे मैं कभी इस 'तू' शब्दका स्तैमाल नहीं करूँगा। अब तक मैं यह नहीं समझता था, कि मेरी पुत्री को भी इस 'तू' शब्दसे इतनी चिढ़ है। अच्छा आज ही मैं राजासे पूछकर मनादी कराये देता हूँ कि कोई तू नहीं बोला करेगा और खास तौरसे मेरी पुत्रीके साथ। और उसने राजाज्ञा लेकर उस प्रकार की घोषणा भी करा दी। इस घोषणा को सुनकर मुहल्ला पड़ोस वालोंने पं० जी की पुत्रीका नाम 'तुकारी' रख दिया, यह घोषणाका कराना मेरे लिये बड़ा ही हानिकारक सिद्ध हुआ। मेरे स्वभाव और मेरी इस चिढ़ को देखकर कोई विवाहकी हिम्मत ही नहीं करता था। और जो तैयार भी होता था तो उसके साथ यही समस्या रखदी जाती थी, कि 'तू' शब्दका प्रयोग कभी मत करना।

आखिर में प्रसिद्ध पंडित की पुत्री थी रूपवती थी मेरी सुन्दरताकी प्रसिद्धि थी, और मेरे पिताजी भी मुझे अपनेसे अधिक पैसे वालेके यहां विवाह करना चाहते थे। इन सारी बातों को लेकर एक सोमशर्मा नामक युवक रजामन्द हो गये, और उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि मैं कभी भी जीवनमें 'तू' नहीं कहूँगा।

बस मैं यही चाहती थी, मेरा विवाह हो गया, बड़े आनन्दके साथ रहने लगी मेरे साथ उन्होंने बड़ा अच्छा व्यवहार किया। मेरे ही साथ क्या, उनका व्यवहार सभीके साथ अच्छा होता था। मेरे पतिदेव मुझसे बड़ा प्यार करते थे। हमारा जीवन सुख और शान्तिके साथ बीतने लगा।

एक दिन पतिदेव 'नाटक' देखने गये। उनका इन्तजार करते-करते रातका १॥ बज गया। मुझे रह-रहकर बड़ा गुस्सा आरहा था, और नाना प्रकारकी शंकाएं मुझ पर चढ़ी आ रहीं थीं। इसी बीचमें विचार उबाल लेते रहे, और मुझे नींद आगई, मैं स्वप्नमें देखने लगी कि मेरे पतिदेव नाटक देखने नहीं गये। यह तो उनका बहाना था। मैंने देखा वे एक बाजारू स्त्रीके यहां ऊपर कमरेमें बैठे गाना सुन रहे हैं, उनके साथ उनके और भी यार दोस्त मस्त हो रहे हैं। वेश्या उनको अपने हाथ से पान खिला रही है, पानी पिला रही है नजरोंमें नजरें डालकर रिझा रही है, और ये लोग, दस-दसके नोट उसके गानेकी एक-एक बात पर दे रहे हैं, कभी किसी प्रकार कभी किसी प्रकार। उन्हें देखकर उस समय मुझे ऐसा मालूम पड़ रहा था, मानो अगर दुनियांमें कहीं प्यार है, तो यहां पर है। और कोई गानेको समझने वाले हैं, तो बस यही लोग हैं। और अगर कोई गाने वाली है तो एक यही। इतनेमें नौकरने आकर एक-एक बोतल शराब की उनके हाथोंमें देदी। पीने लगे, पीकर झूमने लगे, कहने लगे प्यारे शब्द। इतने प्यारे, कि शायद मजनूंनेभी लैलाके लिए न कहे होंगे, और फरियादने भी शीरीके लिए कभी सोचे भी नहीं होंगे।

उस वेश्याके आगे दस-दसके नोटों का ढेर सा लग गया था, ऐसा प्रतीत होता था की एक हजार के नोट होंगे। उनके एक साथीने तो शराबके नशेमें मस्त होकर अपने हाथकी

घड़ी तक उसके हाथमें बांध दी।

मैं यह सब देख रही थी और उस स्वप्नावस्थामें ही बड़ी दुखी होरही थी। मैं अपने पतिदेवको ऐसा नहीं समझती थी। यहां मुझसे कहते थे कि मेरी प्रतिज्ञा है, मैं तुम्हारे सिवाय सबको माता और बहिन समझता हूँ और आज यह हाल! क्या सभी ऐसे होते हैं. देखो, उनके साथी भी ऐसे ही हैं, जिनके घरोंमें अप्सरा तुल्य नारियां हैं और उनके प्रति पतियों का यह अत्याचार। झूठे प्यार पर सब कुछ बलिदान कर रहे हैं। हे भगवान्! तू इन्हें कब सुबुद्धि देगा।

मानव मात्र चाहता है, मुझे सीता मिले, परन्तु स्वयं यह भूल जाता है कि सीता पाने से पहले तुम्हें राम बनना पड़ेगा। रामको ही सीता मिल सकती है। इस प्रकारके विचारोंमें दृश्योंमें उलझी हुई मेरे हृदय धड़कन जो अधिक बढ़ चुकी थी बन्द होकर ऐसा मालूम पड़ने लगा, मानो हृदय बैठा जारहा है। पर रह-रहकर पतिदेव पर क्रोध आरहा था।

इतनेमें दरवाजा खटखटाने की आवाज आने लगी। मेरी स्वप्निल दुनियां छिन्न-भिन्न हो गई। पर वे बातें हृदय-पटल पर ज्यों की त्यों अंकित होगई। हृदयमें गुस्सा भरा हुआ था मैं सजग होगई। मुझे रह-रहकर बड़ा भारी गुस्सा आरहा था और सोते समय मैंने निश्चय कर लिया था कि आज किवाड़ नहीं खोलूंगी। आखिर उनको पुकारते-पुकारते, किवाड़ खटकाते-खटकाते काफी समय होगया। वे गुस्सामें आकर एकदम अपनी प्रतिज्ञाको भूल गये, और मुझे 'तू' कहकर पुकार लिया।

बस फिर क्या था, उनका तू, कहना था कि मैं सिरसे पांव तक जल उठी, सारा शरीर गुस्साके मारे कँपकपाने लगा, मैंने उनकी शक्ल तक देखना पसन्द नहीं किया। गुस्सामें अन्धी होकर घरसे निकलकर भाग गई। मुझे उस समय कुछ न सूझा कि मैं कहां जारही हूं। मैं शहरसे बाहर होकर जंगल की ओर चल पड़ी क्रोधमें भागी-भागी जा रही थी। जिस रास्तेमें क्या, जरासे अँधेरेमें भी मुझे डर लगता था, सो न जाने आज मेरा डर कहां चला गया। क्रोधने मुझे पागल बना दिया था। मेरे सामने स्वप्नमें आई हुई बातोंने विश्वास जमा दिया था।

रास्तेमें मुझे कुछ आहट सुनाई दी। किसीने कड़कती आवाजसे कहा—कौन जा रहा है, खड़े हो जाओ। वह आवाज इतनी जोरसे भरी हुई थी, कि मैं रुक गई, न तो भाग सकी, और न चिल्ला ही पाई। आखिर भागकर जाती भी कहां? रुक गई, देखा, सिपाहियोंकी वर्दी पहिने दस आदमी अपने-अपने हाथोंमें बन्दूकें लिये हुये मेरे सामने आगये, चारों ओरसे मुझे घेर लिया। उनमेंसे एक बोला— इसके पास जो जेवर हैं, उन्हें राजीसे ले लो और इसे जाने दो। यह सुनकर और परिस्थिति को विकट देखकर झट ही मैंने अपना जेवर उतार कर उनके सुपुर्द कर दिया।

वे मुझे अपने साथ पकड़ ले गये और आगे कुछ दूर जाकर एक भीलके सुपुर्द कर दिया, जो जीवों के खूनसे रंगकर कम्बल बनाया करता था। पर मैं क्या करती, अबला जो थी और फिर सोचने लगी, कि सीताजी को जब रावण हरणकर लेगया था, तब उन्होंने ही क्या किया था। जब द्रोपदीका चीर खींचा गया उस समय सिवाय भगवानके नामके और रटा ही क्या था। बस एक बार देखा था भीम की गदा की ओर और अर्जुन के बाण की ओर; फिरभी सबलों की पत्नी अबला ही तो थी। क्या करती, मैं भी भगवानका स्मरण करने लगी। अब मुझे अपने गुस्से पर, गुस्सा आरहा था। कुछ दिनोंके बाद मैंने उसकी दृष्टिमें कुछ और ही पाया। पहले तो मुझे पुत्री-पुत्री कहता था। बड़े प्यारसे बोलता था। मैं भी इस प्रकार एक जंगलीके वर्तावको देखकर कभी-कभी सोचती थी—अगर इन लोगोंको शिक्षित बनाया जाय तो कितने भले हो सकते हैं और अपने नीच कर्मोंको छोड़ सकते हैं। पर यकायक उसका परिवर्तन देखकर—अपनी ओर कामुक दृष्टिसे आता देखकर, मुझमें कुछ साहस बंधा और मैंने बड़ी कड़कती आवाज़में कहा—खबरदार! जो आगे बढ़े, तो मैं अपने प्राण दे दूंगी। वह रुक गया। उस दिन मुझे मालूम हुआ, कि नारीकी वाणीमें भी कितना बल होता है।

उस भीलने बहुत कुछ अपने कृत्य और बुरी भावना पर पछताते हुए मुझे एक सेठके हाथों बेच दिया पांच हजार रुपयेमें और वे सेठजी भी यह कहकर मुझे लाये, कि मेरे भी कोई सन्तान नहीं है। यह मेरी पुत्रीके मानिन्द सेठानी के पास बनी रहा करेगी। पर अन्तरंग क्या था, कुछ समझमें नहीं आ रहा था।

चलते समय भीलने कहा था मेरी ओर करुणाकी दृष्टिसे देखते हुए की सेठजी इसे 'दुःख मत देना।' मेरे दिलमें एक बार फिर उसके इन शब्दोंसे उस छ

दयाभाव आया और मैंने उसके चेहरे पर पछतानेके भावको साफ़-साफ़ देखा।

अब मैं सेठजीके घर आगई और बड़े आरामसे रहने लगी। सेठानीका भी वर्ताव मेरे प्रति बड़ा अच्छा था। मैं भी उनको मां मानती थी। परन्तु उनके चेहरे पर जब कभी मेरे अंग-प्रत्यंगोंको ही क्या सारे शरीरको देख लेनेके बाद कुछ आशंकाके भाव झलक जाते थे और यही दशा उनकी तब होती थी जब सेठजी मुझसे कोई बात हँसकर कर जाते थे। मुझे भी उनके इस प्रकारके भाव को देखकर दुःख होता और सोचने लगती, कि नारीका हृदय बड़ा शंकित होता है और हुआ भी ऐसा ही। सेठजीके विचारोंमें, क्रियाओंमें मुझे नई दुनिया दिखने लगी। जहां लोग बहिनजी-बहिनजी कहते-कहते और बहिनजी भाई साहब, भाई साहब कहते-कहते थक जाते हैं और उनका बहिन-भाईका सम्बन्ध दूसरे निन्दनीय रूपोंमें परिणत हो जाता है ऐसा ही सेठजीका मेरे साथ हुआ। मैं कभी-कभी सोचती, शायद यह मानव समाज भोली-भाली नारियोंको नाना प्रकारके प्रलोभन तथा भय दे-देकर उनके सतीत्वको भ्रष्ट करनेमें नहीं झिझकता। नारीके सामने लोकलाज तथा मजबूरी इतनी अधिक आ जाती है कि उस बेचारीको आत्मसमर्पण करना पड़ता है। आखिर वह करे क्या, जहां जाय, कुछ दिन तो बड़ा अच्छा वर्ताव, अन्त फिर वही मंजिल! लोग इस ओर ध्यान ही नहीं देते। पर नारीको चाहिये कि प्राण भले ही चले जांय, पर अपने धर्मसे कभी विचलित न हो।

अन्तमें सेठजीकी दाल न गल सकी, मैंने बुरी तरह उन्हें आड़े हाथों लिया। उनका शरीर कँप-कपाने लगा। फिर मैंने और साहस बटोरकर कहना प्रारम्भ किया—अय नीच! मैं अभी तेरे ढोंगका भण्डाफोड़ करती हूँ, अभी चिल्लाती हूँ तेरे मकानसे। धिक्कार है तुझ जैसे पापियों को, जो पुत्री-पुत्री कहते हुए उसके साथ दुराचार करना चाहते हैं।

सेठजीने मेरे पैरोंमें अपनी पगड़ी रख दी और गिड़-गिड़ाते हुए बोले—'मुझे क्षमा करो।' परन्तु मनमें माया-चार था। ऐसे व्यक्ति अवसरवादी होते हैं। मौका टल जाने पर कुछ दिनोंके बाद उन्होंने एक तीसरे आदमीके हाथ मुझे धोखा देकर बेच दिया। उसने मेरे शरीरसे जोंके लगा लगाकर खून निकाला। मैं बहुत कमजोर हो गई और अपने कर्मो पर पश्चाताप करने लगी और कोसने लगी, अपने भाग्यको।

इसी भांति मुझ पर अनेकों दुःख पड़े। स्थान-स्थान पर मेरे सामने भ्रष्ट होनेके प्रश्न आये, पर भगवानने मेरी लाज रख ली। मेरे शरीरको कोई हाथ नहीं लगा सका।

इस प्रकार केवल चार माह ही हो पाये थे, उनमें ही इतने स्थानों पर समाजकी दशाका पूरा-पूरा परिचय मिला।

अन्तमें एक दिन मेरे पुण्यका उदय हुआ। मुझे उस रास्तेसे जाते हुए अपने भाईके दर्शन हुए, मेरी खुशीका ठिकाना न रहा। मैं अपने भाईसे मिल कर इतनी रोई और मेरा भाई भी, मानो हमने फिरसे जन्म पाया हो, या युग-युगसे बिछुड़े हुए मिले हों।

मेरे भाईने उसी समय राजाके यहां खबर करके मुझे उस दुष्टके यहांसे छुड़ा लिया और अपने साथ ले गया। मुझे मेरे मेरे पतिदेवके सामने जानेका साहस भी नहीं होता था और शायद ऐसा ही उनका हाल था। वे भी मेरे सामने आनेमें संकोच करते थे।

आखिर वे आये, दोनोंके हृदयोंमें एक दूसरेको देखकर आनन्द था, पर चिरसंचित वियोगके आंसू निकल पड़े।

आज उनको अपने तू कहनेका दुःख था और मुझे अपने क्रोधका। इन सारी बातोंके बाद भी, जब मैं अपने भाईके साथ घर गई, तो नगरमें शोर हो गया कि तुकारी आ गई। लोग मुझे तुकारी कहना अब भी नहीं भूले थे।

मुख्तारश्रीकी ८०वी वर्षगांठ

वीरसेवामंदिरके संस्थापक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार, अपने जीवन के ७९वें वर्षको पूरा कर, मगशिर शुक्ला एकादशी दिन गुरुवार ता० १३ दिसम्बर को ८०वें वर्षमें प्रवेश कर रहे हैं। इस अवसर पर समाजकी ओरसे उनके दीर्घायु होनेकी शुभ-कामना की जानी चाहिए।

जैन दर्शन और विश्वशान्ति

[श्री० प्रो० महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्य, एम० ए०]

विश्वशान्तिके लिए जिन विचारसहिष्णुता, समझौते की भावना, वर्ण, जाति, रंग और देश आदिके भेदके बिना सबके समानाधिकार की स्वीकृति, व्यक्तिस्वातन्त्र्य और दूसरे के आन्तरिक मामलोंमें हस्तक्षेप न करना आदि मूलभूत आधारों की अपेक्षा है उन्हें दार्शनिक भूमिका पर प्रस्तुत करने का कार्य जैनदर्शनने बहुत पहिलेसे किया है। उसने अपनी अनेकान्त दृष्टिसे विचारने की दिशामें उदारता, व्यापकता और सहिष्णुता का ऐसा पल्लवन किया है जिससे व्यक्ति दूसरेके दृष्टिकोण को भी वास्तविक और तथ्यपूर्ण मान सकता है। इसका स्वाभाविक फल है कि—समझौते की भावना उत्पन्न होती है। जब तक हम अपने ही विचार और दृष्टिकोण को वास्तविक और तथ्य मानते हैं तब तक दूसरेके प्रति आदर और प्रामाणिकता का भाव ही नहीं हो पाता। अतः अनेकान्त दृष्टि दूसरोंके दृष्टिकोणके प्रति सहिष्णुता, वास्तविकता और समादर का भाव उत्पन्न करती है।

जैनदर्शन अनन्त आत्मवादी है। वह प्रत्येक आत्मा को मूलमें समान स्वभाव और समान धर्म वाला मानता है। उनमें जन्मना किसी जाति-भेद या अधिकार भेदको नहीं मानता। वह अनन्त जड़पदार्थोंका भी स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। इस दर्शनने वास्तव बहुत्वको मान कर व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी साधार स्वीकृति दी है। वह एक द्रव्यके परिणमन पर दूसरे द्रव्यका अधिकार ही नहीं मानता। अतः किसी भी प्राणीके द्वारा दूसरे प्राणीका शोषण, निर्दलन या स्वायत्तीकरण ही अन्याय है। किसी चेतनका अन्य जड़ पदार्थोंको अपने आधीन करनेकी चेष्टा करना भी अनधिकार चेष्टा है। इसी तरह किसी देश या राष्ट्रका दूसरे देश या राष्ट्रको अपने आधीन करना उसे अपना उपनिवेश बनाना ही मूलतः अनधिकार चेष्टा है, अतएव हिंसा और अन्याय है।

वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी जब आत्माका शरीर-संधारण और समाज-निर्माण जड पदार्थोंके बिना सम्भव नहीं है, तब यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि आखिर शरीर-यात्रा समाज निर्माण और राष्ट्र-संरक्षा आदि कैसे किये जायँ? जब अनिवार्य स्थितिमें जड़पदार्थोंका संग्रह और उनका यथोचित विनियोग आवश्यक होगया तब यह उन सभी आत्माओंको ही समान भूमिका और समान अधिकार की चादर पर बैठकर सोचना चाहिए कि 'जगतके उपलब्ध साधनोंका कैसे विनियोग हो?' जिससे प्रत्येक आत्माका अधिकार सुरक्षित रहे और ऐसी समाजका निर्माण सम्भव हो सके जिसमें सबको समान अवसर और सबकी समान रूपसे प्रारम्भिक आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सके। यह व्यवस्था ईश्वरनिर्मित होकर या जन्मजात वर्गसंरक्षणके आधारसे कभी नहीं जम सकती, किन्तु उन सभी समाजके घटक अंगोंकी जाति, वर्ण, रंग और देश आदिके भेदके विना निरुपाधि समान स्थितिके आधारसे ही बन सकती है। समाज व्यवस्था ऊपरसे लदनी नहीं चाहिए, किन्तु उसका विकास सहयोगपद्धतिसे सामाजिक भावनाकी भूमि पर होना चाहिए, तभी सर्वोदयी समाज-रचना हो सकती है। जैन-दर्शनने व्यक्तिस्वातन्त्र्यको मूलरूपमें मानकर सहयोगमूलक समाज-रचनाका दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया है। इसमें जब प्रत्येक व्यक्ति परिग्रहके संग्रहको अनधिकार वृत्ति मानकर ही अनिवार्य या अत्यावश्यक साधनोंके संग्रहमें प्रवृत्ति करेगा सो भी समाजके घटक अन्य व्यक्तियोंको समानाधिकारी समझ कर उनकी भी सुविधाका विचार करके ही, तभी सर्वोदयी समाजका स्वस्थ निर्माण सम्भव हो सकेगा।

निहित स्वार्थवाले व्यक्तियोंने जाति, वंश और रंग आदिके नाम पर जो अधिकारोंका संरक्षण ले रखा है तथा जिन व्यवस्थाओंने वर्गविशेषको संरक्षण दिये हैं, वे मूलतः अनधिकार चेष्टाएँ हैं। उन्हें मानवहित और नवसमाज रचनाके लिए स्वयं समाप्त होना ही चाहिए और समान अवसरवाली परम्पराका सर्वाभ्युदयकी दृष्टिसे विकास होना चाहिए।

इस तरह अनेकान्त दृष्टिसे विचार सहिष्णुता और पर-सम्मानकी वृत्ति जग जाने पर मन दूसरेके स्वार्थको अपना स्वार्थ माननेकी ओर प्रवृत्त होकर समझौतेकी ओर सदा झुकने लगता है।

जब उसके स्वाधिकारके साथ ही साथ स्वकर्त्तव्यका भी उदित होता है, तब वह दूसरेके आन्तरिक मामलोंमें जबरदस्ती टाँग नहीं अड़ाता। इस तरह विश्वशान्तिके लिये अपेक्षित विचार-सहिष्णुता, समानाधिकारकी स्वीकृति और आन्तरिक मामलोंमें अहस्तक्षेप आदि सभी आधार एक

व्यक्ति स्वातन्त्र्यके मान लेनेसे ही प्रस्तुत हो जाते हैं और जब तक इन सर्व समतामूलक अहिंसक आधारों पर समाज रचनाका प्रयत्न न होगा तब तक विश्वशान्ति स्थापित नहीं हो सकती। आज मानवका दृष्टिकोण इतना विस्तृत, उदार और व्यापक हो गया है जो वह विश्वशान्तिकी बात सोचने लगा है। जिस दिन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समानाधिकार की बिना किसी विशेष संरक्षणके सर्वमान्य प्रतिष्ठा होगी वही दिन मानवताके मंगल प्रभातका पुण्य क्षण होगा। जैन-दर्शनने इन आधारोंको सैद्धान्तिक रूप देकर मानवकल्याण और जीवनकी मंगलमय निर्वाह-पद्धतिके विकासमें अपना पूरा भाग अर्पित किया है। और कभी भी स्थायी विश्व-शान्ति यदि सम्भव होगी तो इन्हीं मूल आधारों पर ही वह प्रतिष्ठित हो सकती है।

भारत राष्ट्रके प्राण पं० जवाहरलाल नेहरूने विश्व-शान्तिके लिये जिन पंचशील या पंचशिलाओंका उद्घोष किया है और बाडुङ्ग सम्मेलनमें जिन्हें सर्वमतिसे स्वीकृति मिली उन पंचशीलोंकी बुनियाद अनेकान्तदृष्टि-समझौतेकी वृत्ति, सह-अस्तित्वकी भावना, समन्वयके प्रति निष्ठा और वर्ण, जाति रंग आदिके भेदोंसे ऊपर उठकर मानव-मात्रके सम-अभ्युदयकी कामना पर ही तो रखी गई है। और इन सबके पीछे है मानवका सन्मान और अहिंसामूलक आत्मौ-पम्यकी हार्दिक श्रद्धा। आज नवोदित भारतकी इस सर्वो-दयी परराष्ट्रनीतिने विश्वको हिंसा, संघर्ष और युद्धके दावानलसे मोडकर सहअस्तित्व, भाईचारा और समझौतेकी सद्भावना रूप अहिंसाकी शीतल छायामें लाकर खडा कर दिया है। वह सोचने लगा है कि—प्रत्येक राष्ट्रको अपनी जगह जीवित रहने का अधिकार है, उसका स्वास्तित्व है, परके शोषणका या उसे गुलाम बनानेका कोई अधिकार नहीं है, परमें उसका अस्तित्व नहीं है। यह परके मामलोंमें अहस्तक्षेप और स्वास्तित्वकी स्वीकृति ही विश्वशान्तिका मूलमन्त्र है। यह सिद्ध हो सकती है—अहिंसा, अनेकान्त-दृष्टि और जीवनमें भौतिक-साधनोंकी अपेक्षा मानवके सन्मानके प्रति निष्ठा होने से। भारत राष्ट्रने तीर्थंकर महा-वीर और बोधिसत्व गौतमबुद्ध आदि सन्तोंकी अहिंसाको अपने संविधान और परराष्ट्रनीतिका आधार बनाकर विश्वको एक बार फिर भारतकी आध्यात्मिकताकी झांकी दिखा दी है। आज उन तीर्थंकरोंकी साधना और तपस्या सफल हुई है कि समस्त विश्व सह-अस्तित्व और समझौतेकी वृत्तिकी ओर झुककर अहिंसक भावनासे मानवताकी रक्षाके लिए सन्नद्ध हो गया है।

व्यक्तिकी मुक्ति, सर्वोदयी समाजका निर्माण और विश्व-की शान्तिके लिये जैन दर्शनके पुरस्कर्ताओंने यही निधियां भारतीय संस्कृतिके आध्यात्मिक कोशागारमें आत्मोत्सर्ग और निर्ग्रन्थताकी तिल-तिल-साधना करके संजोई हैं। आज वह धन्य हो गया कि उसकी उस अहिंसा, अनेकान्तदृष्टि और अपरिग्रह भावनाकी ज्योति से विश्वका हिंसान्धकार समाप्त होता जा रहा है और सब सबके उदयमें अपना उदय मानने लगे हैं।

राष्ट्रपिता पूज्य बापूकी आत्मा इस अंशमें सन्तोषकी सांस ले रही होगी कि उनने अहिंसा संजीवनीका व्यक्ति और समाजसे आगे राजनैतिक क्षेत्रमें उपयोग करनेका जो प्रशस्त मार्ग सुझाया था और जिसकी अटूट श्रद्धामें उनने अपने प्राणोंका उत्सर्ग किया, आज भारतने दृढतासे उसपर अपनी निष्ठा ही व्यक्त नहीं की, किन्तु उसका प्रयोग नव-एशियाके जागरण और विश्वशान्तिके क्षेत्रमें भी किया है। और भारतकी 'भा' इसीमें है कि वह अकेला भी उस आध्यात्मिक दीपको संजोता चले, उसे स्नेह दान देता हुआ उसीमें जलता चले और प्रकाशकी किरणें बखेरता रहे। जीवनका सामंजस्य, नवसमाज-निर्माण और विश्वशान्तिके यही मूलमन्त्र हैं। इनका नाम लिए बिना कोई विश्व-शान्तिकी बात भी नहीं कर सकता।

(जैन दर्शनसे)

ग्राहकों से निवेदन।

अनेकान्त के ग्राहकों से निवेदन है कि सेवा में अनेकान्त की कई किरणें भेजी गई हैं। आशा है वे आपको पसन्द आई होंगी। कृपया अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया मनीआर्डरसे भेज दीजिये। अन्यथा ५ वीं किरण वी० पी० से भेजने पर आप को १० आने अधिक देना पड़ेंगे। मुझे आशा है कि आप अनेकान्त की किरण पहुँचते ही ६) रुपया मनीआर्डरसे भेजकर अनुगृहीत करेंगे।

मैनेजर अनेकान्त,
वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।

भ० महावीरके विवाह सम्बन्धमें श्वेताम्बरोंकी दो मान्यताएँ

[परमानन्द शास्त्री]

जैन समाजमें भ० महावीरके विवाह-सम्बन्धमें दो मान्यताएँ दृष्टि-गोचर होती हैं। एक उन्हें विवाहित घोषित करती है और दूसरी अविवाहित। दिगम्बर सम्प्रदायके सभी ग्रन्थ भ० महावीर को एक स्वरसे आजन्म बाल-ब्रह्मचारी प्रकट करते हैं—पंचबालयति तीर्थंकरोंमें उनकी गणना की गई है। परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आम तौर पर भ० महावीर को विवाहित माना जाता है। विवाहित होने की यह मान्यता केवल कल्पसूत्रमें ही मिलती है। उससे पूर्ववर्ती किसी भी आगममें नहीं है। यद्यपि भगवतीसूत्रमें उनके गर्भापहार की घटना का उल्लेख है और उन्हें ब्राह्मणी देवनन्दाका पुत्र बतलाया गया है। तथापि विवाह की घटना का, तथा उनकी कही जानेवाली पत्नी यशोदा और उसकी पुत्री प्रियदर्शना का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। समवायांग और स्थानांग सूत्रमें तथा आवश्यक नियुक्तिमें पांच बालयति तीर्थंकरोंके भीतर भ० महावीर को परिगणित कर उनके प्रथम वयमें ही दीक्षित होने का स्पष्ट उल्लेख है। ऐसी स्थितिमें कल्पसूत्र की महावीरके विवाहकी कल्पना असंगत प्रतीत होती है।

कल्पसूत्रमें महावीर का विवाह समरवीरराजा की पुत्री यशोदा नामकी कन्या से हुआ बतलाया जाती है और उससे प्रियदर्शना नामकी एक पुत्रीका उत्पन्न होना भी कहा जाता है। साथ ही, यह भी कहा गया है कि प्रियदर्शना का पाणिग्रहण जमालिके साथ हुआ था और इस तरह जमालि भगवान महावीर का दामाद था ×।

श्रीजिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराणके ६६वें पर्व परसे भ० महावीरके विवाह-सम्बन्धमें इतनी सूचना मिलती है कि राजा जितशत्रु, जो कलिंगदेश का राजा था और जिसके साथ भ० महावीरके पिता राजा सिद्धार्थकी छोटी बहिन विवाही गई थी, अपनी यशोदा नामकी पुत्रीका विवाह भगवान् महावीरके साथ करना चाहता था; परन्तु भगवान् विरक्त होकर दीक्षित हो गए और इससे राजा जितशत्रुका मनोरथ पूर्ण न हो सका। अन्तमें वह भी दीक्षित हो गया और घोर तपश्चरण द्वारा सर्व कर्म को नाशकर मोक्षको प्राप्त हुआ *। इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि भ० महावीरके विवाह की चर्चा तो चली थी; परन्तु उन्होंने विवाह नहीं कराया था। यही कारण है कि तमाम दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें उन्हें भ० पार्श्वनाथके समान ही बाल-ब्रह्मचारी प्रकट किया गया है।

× तिसला इवा, विदेहदिण्णा इवा, पीइकारिणी इवा। समणस्सणं भगवओ महावीरस्स पित्तिज्जे सुपासे जेट्ठे भाया णंदिवद्धणे, भगिणी सुदंसणा, भारिया जसोया कोडिण्ण-गोत्तेणं, समणस्स णं भगवओ महावीरस्स धूआ कासवगोत्तेणं तीसे दो णामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तंजहा—अणोज्जा इवा, पियदंसणा इवा। समणस्स णं भगवओ महावीरस्स नत्तुई कोसियगोत्तेणं तीसे णं दो णामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा सेसवई इवा, जसवई वा ॥१०६॥

—कल्पसूत्र पृ० १४२, १४३

*भवान्न किं श्रेणिक वेत्ति भूपतिं
नृपेन्द्र ! सिद्धार्थ-कनीयसीं पतिं।
इमं प्रसिद्धं जितशत्रुमाख्यया
प्रतापवंतं जितशत्रुमंडलं ॥६॥
जिनेन्द्रवीरस्य समुद्भवोत्सवे
तदागतः कुण्डपुरं सुहृत्परः।
सुपूजितः कुण्डपुरस्य भूभृता
नृपायमाखण्डल तुल्यविक्रमः ॥७॥
यशोदयायां सुतया यशोदया
पवित्रया वीर-विवाह-मंगलम्।
अनेक-कन्या-परिवारयारुहत्
समीक्षितुं तुंग-मनोरथं तदा ॥८॥
स्थितेऽथ नाथे तपसि स्वयंभुवि
प्रजात-कैवल्य-विशाल-लोचने।
जगद्विभूत्यै विहरत्यपि क्षितिं
क्षितिं विहाय स्थितवांस्तपस्ययम् ॥९॥
× × ×
विहृत्य पूज्योऽपि महीं महीयसीं
महामुनिर्मोचित-कर्मबन्धनः।
इयाय मोक्षं जितशत्रुकेवली
निरंत-सौख्य प्रतिबद्धमक्षयं ॥१४॥

इस घटना का उल्लेख महाकवि स्वयंभू और त्रिभुवन-स्वयंभूके हरिवंश पुराणमें भी इसी रूपमें पाया जाता है।

श्वे० सम्प्रदायमें यद्यपि कल्पसूत्रकी विवाहित मान्यता-का प्रचलन है, उसका उल्लेख पश्चाद्वर्ती आवश्यक भाष्यमें और आचारांगके चौबीसवें अध्ययनमें भी पाया जाता है। परन्तु उसकी अन्य प्राचीन साहित्यसे कोई संपुष्टि नहीं हो सकी है। किन्तु जिन प्राचीन ग्रन्थोंमें जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं वे सब उल्लेख महावीर को अविवाहित और कुमार-वयमें ही दीक्षित होना घोषित करते हैं। इससे श्वेताम्बरोंमें महावीरके विवाह-सम्बन्ध को लेकर दो मान्यताओं का उल्लेख स्पष्ट है, और उनमें अविवाहित मान्यता ही प्राचीन एवं प्रामाणिक ज्ञात होती है। क्योंकि उसका (विवाहित मान्यताका) स्थानांग, समवायांग और भगवती जैसे सूत्र-ग्रन्थोंमें उल्लेख तक नहीं मिलता। अतः दोनों मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करनेसे ऐसा स्पष्ट ध्वनित होता है–कि वास्तवमें अविवाहित मान्यता ही प्राचीन है, दूसरी मान्यता तो केवल कल्पसूत्र-द्वारा ही कल्पित हुई है और उसी परसे उसका प्रचार व प्रसार उनमें हुआ है जो अर्वाचीन और अप्रमाणिक जान पड़ती है। समवायांग सूत्र नं० १९से जिसमें आगारवासका उल्लेख करते हुए १९ तीर्थंकरोंका घरमें रहकर और भोग भोग कर दीक्षित होना बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि शेष पांच तीर्थंकर कुमार-अवस्थामें ही दीक्षित हुए हैं। इसीसे टीकाकार अभयदेव सूरिने अपनी वृत्तिमें 'शेषास्तु पचकुमारभाव एवेत्याह च' वाक्यके साथ 'वीरं अरिट्ठणेमी' नामकी गाथा उद्धृत की है। 'स्थानांग सूत्र'के ४७९वें सूत्रमें भी पांच तीर्थकरोंको कुमार-प्रव्रजित कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि इन सूत्र-ग्रन्थोंमें भगवान् महावीर को पार्श्वादि तीर्थंकरोंके समान ही ब्रह्मचारी प्रकट किया है।

आवश्यकनिर्युक्ति की निम्न गाथाओंमें भी वीर, अरिष्टनेमी, पार्श्व, मल्लिनाथ और वासुपूज्य इन पांच तीर्थंकरों को कुमार अवस्थामें ही दीक्षित होना घोषित किया है—

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२४३
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु।
न य इत्थिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइया ॥२४४

इन गाथाओंका जो आशय ऊपर दिया गया है वही मुनि श्रीकल्याणविजयजीको भी अभिप्रेत है*। इन गाथाओं के अतिरिक्त २४८वीं गाथामें स्पष्ट बतलाया गया है कि उक्त पांच तीर्थंकरोंने प्रथम अवस्थामें दीक्षा ली, और शेष तीर्थंकरोंने पश्चिम अवस्था में। टीकाकार मलयगिरिने 'पढमवए' का अर्थ प्रथमवयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिताः, शेषाः पुनः ऋषभस्वामिप्रभृतयो, 'मध्यमे वयसि' यौवनत्वलक्षणे वर्तमानाः प्रव्रजिताः।' किया है। वह गाथा इस प्रकार है—

वीरो अरिट्ठणेमी पासो मल्लीवासुपुज्जो य।
पढमवए पव्वइया सेसा पुण पच्छिमवयंमि ॥२४८॥

इसके सिवाय, आवश्यकनिर्युक्तिकी 'गामायारा विसया निसेविता ते कुमारवज्जेहिं' इस गाथामें स्पष्ट रूपमें उक्त मान्यताको पुष्ट किया गया है। यहां 'कुमार' शब्दका अर्थ विचारणीय है। 'कुमार' शब्दका सीधा और सामान्य अर्थ कुंवारा, अविवाहित, बालब्रह्मचारी होता है। 'कुमारी कन्या' इस व्याकरण सूत्रमें भी कुमारी (अविवाहित) को कन्या स्वीकार किया गया है। 'समवायांग' सूत्रमें भी कुमार शब्दका अर्थ अविवाहित ब्रह्मचारी दिया है। आवश्यक निर्युक्तिकारको भी कुमार शब्दका उक्त अर्थ ही अभिप्रेत था जिसे उन्होंने 'गामायारा विसया निसेविता जे कुमारवज्जेहिं' वाक्य-द्वारा उसे पुष्ट किया है। जो लोग खींच-तान कर 'कुमार' शब्दका अर्थ युवराज एवं विवाहित करते हैं उन्हें समदृष्टिसे निर्युक्तिकारके 'कुमारवज्जेहिं' वाक्य पर ध्यान देते हुये अर्थ करना चाहिये, जिसमें उन पांच कुमार तीर्थंकरोंको भोग-रहित (अविवाहित) बतलाया गया है। यदि निर्युक्तिकारको कुमार शब्दका विवाहित अर्थ अभिप्रेत होता तो वे उक्त वाक्य द्वारा उनके भोग भोगनेका निषेध ही नहीं करते। इससे स्पष्ट है कि निर्युक्तिकारको कुमार शब्दका विवाहित होना अर्थ स्वीकार नहीं है, अतः निर्युक्तिकारकी दृष्टिमें महावीर अविवाहित थे। दूसरे यदि कुमार शब्दका अर्थ श्वेताम्बरीय समवांगसूत्र आदिके विरुद्ध विवाहित स्वीकार किया जाय जैसा कि सम्प्रदाय-वादके व्यामोहमें महावीरको विवाहित सिद्ध करनेकी धुनमें किया जाता है तो उसमें बड़ी भारी आपत्ति आती है जिसकी ओर उन्होंने ध्यान भी दिया मालूम नहीं होता। उक्त कुमार शब्द द्वारा महावीर को विवाहित, और शेष

* देखो, श्रमण भगवान महावीर पृष्ठ १२।

चार तीर्थंकरोंको अविवाहित माना जाता है। इनमें मल्लि, तीर्थंकर भी हैं जिन्हें श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीतीर्थंकर मानता है और नेमिनाथ बिना विवाह किये ही दीक्षित होगये थे। यह दोनों सम्प्रदाय मानते हैं। वासुपूज्य और पार्श्वनाथने विवाह नहीं कराया था। ऐसी स्थितिमें कुमार शब्दका विवाहित अर्थ मानने पर इन सबको भी विवाहित मानना पड़ेगा। जो आगम मान्यताके विरुद्ध है, ऐसा नहीं हो सकता कि महावीरके साथ कुमार शब्दका विवाहित और शेष तीर्थंकरोंके साथ उसी कुमार शब्दका अर्थ अविवाहित किया जाय। कुमार शब्दके अर्थके सम्बन्धमें श्वेताम्बरीय विद्वान् पं० दलसुखजी मालवणिया स्थानांग-समवायांग (पृ० ३८) पर विचार करते हुए कुमार शब्दका अर्थ बालब्रह्मचारी लेनेकी प्रेरणा की है और दिगम्बरोंकी अविवाहित मान्यताको साधार बतलाते हैं 'समवायांगमां ओगणीसनो आगारवास (नहि के नृपतित्व) कहे नारसूत्र मूकीओ, तो प्रेम ज कहेवुं पडे छे के त्यां कुमारनो अर्थ बालब्रह्मचारीज लेवो जोईये, अने बाकीनानो विवाहित, आ प्रमाणे दिगम्बरोनी मान्यताने पण आगमिक आधार छे जो एम मानवुं पड़े छे।' अतः पूर्वापर वस्तुस्थिति और आगमसंगतिको देखते हुए पाचों तीर्थंकरोंको अविवाहित ही मानना चाहिये।

भगवती सूत्रमें जमालिका जो चरित्र दिया गया है उससे भगवान महावीरके विवाहकी पुष्टि नहीं होती। साथ ही उसमें जमालिकी आठ स्त्रियां बतलाई गई हैं परन्तु उनमें प्रियदर्शनाका जिसे कल्पसूत्रमें महावीरकी पुत्री बतलाया है कोई उल्लेख नहीं है। ऐसी स्थितिमें महावीरके विवाहकी मान्यताको कोई पुष्टि नहीं मिलती, अतः यह मानना ठीक होगा कि महावीर अविवाहित एवं बालब्रह्मचारी ही थे।

इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदायमें महावीरके विवाहको लेकर दो मान्यताएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। इस बातको मैं ही नहीं कहता, किन्तु श्वेताम्बरीय विद्वान् पं दलसुखजी मालवणिया भी स्पष्ट रूपसे स्वीकार करते हैं जैसा कि उनकी स्थानांग-समवायांग सूत्रकी गुजराती टीकके निम्नवाक्योंसे स्पष्ट है—

'भगवान महावीरे विवाह कर्यो न हतो, एम आसूत्रों मां स्पष्ट पणे परंपरा सुचवाई रही छे। भगवान महावीरना विवाह नी बात सर्वप्रथम कल्पसूत्र मांज जेवामणि छे; अने अेथीअेते मनी विवाह-विषयक बीजी परंपरानी सूचना आपे छे, अेम मानवुं जोईये, अेटले भगवतीनुं जमालिअध्ययन, स्थानांग-समवायांगअे बधुं तेमना विवाहना निषेधनी परंपरामां मूकवुं जोईये, अने कल्पसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति तथा मूल्य भाष्य थी मांडी ने चूर्णी सुधीना तेमना विवाहना उल्लेखो स्पष्ट पणे बीजी परंपरा मां मूकवा जोईए, भगवान महावीरनो विवाह थयो हतो तेम उत्यारे श्वेताम्बर-परंपरामां मान्यता रूढ थई गई छे; त्यारे दिगंबरोंने त्यांतो ते अविवाहित होवानी बात रूढ छे'

- स्थानांग-समवायांग पृ० ३३०

ऊपरके इस समस्त विवेचन परसे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भगवान महावीरके विवाहके सम्बन्धमें दो मान्यताएँ प्रचलित हैं। उनमें अविवाहित मान्यता ही प्राचीन और निर्दोष है और विवाहित मान्यता अर्वाचीन और सदोष है।

विश्वशांति विधायक-जैन आयोजन

यूनेस्को-सम्मेलनके अवसर पर जैन समाज दिल्ली की ओर से एक सेमिनार (गोष्ठी) का आयोजन किया गया है। इस अहिंसा,-अ परिग्रह, अनेकान्त और स्याद्वाद तथा विश्वशान्तिके सम्बद्ध विषयों पर बाहरसे अनेका-अनेक मान्य विद्वानोंके सुन्दर भाषण हिन्दी अंग्रेज़ीमें होंगे। इसी सुअवसर पर प्राचीन जैन हस्त लिखित पुरातन जैन सचित्र तथा सुवर्णांकित ग्रन्थों, और जैन कलाके पुरातन नमूनों, जैन शिला लेखोंकी प्रतिलिपियों आदिका सप्रू हाऊस नई दिल्लीमें एक प्रदर्शनीका आयोजन किया गया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ७१ विभिन्न देशोंके जो ४००के लगभग प्रतिनिधि पधारे हैं उनका ३० नवम्बरको जैन समाज की ओरसे सम्मान किया जायगा और उन्हें अंग्रेजी आदिका जैनसाहित्य भेंट किया जायगा। अतः इस सुअवसर पर अपने इष्ट मित्रों सहित पधारकर लाभ उठाइए।

आपका,
डॉ० एस० सी० किशोर
मंत्री—विश्वशान्ति विधायक आयोजन दिल्ली

ऋषभदेव और महादेव

जिस प्रकार जैनियोंके चौबीस तीर्थंकरोंमें ऋषभदेवका प्रथम स्थान है, उसी प्रकार हिन्दुओंमें भी महादेवको आदिदेव माना गया है। ऋषभदेव और महादेवसे सम्बन्धित कुछ खास बातों पर विचार करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि मूलमें दोनोंको एक ही माननेके कुछ खास कारण इस प्रकार हैं—

१—ऋषभदेवका चरण-चिन्ह बैल है और महादेवका वाहन भी बैल ही माना जाता है।

२—ऋषभदेवका निर्वाण कैलास पर्वतसे माना जाता है और महादेवको भी कैलासवासी ही कहा जाता है।

३—महादेवको त्रिशूलधारी माना जाता है और ऋषभदेव भी रत्नत्रयधारक थे।

उक्त तीन बड़ी समताओंके होने पर भी अभी तक कोई ऐसी मूर्ति नहीं उपलब्ध हो सकी थी, जिससे कि उक्त मान्यताको प्रामाणिक माना जा सकता। अभी कुछ दिनों पूर्व मुझे अपने बगीचेके कंटीली झाड़ियों और बांभियोंसे व्याप्त टीलेकी खुदाई करते हुए एक ऐसी सुन्दर और प्राचीन मूर्ति उपलब्ध हुई है, जिससे कि ऋषभदेव और महादेवके एक माननेमें कोई सन्देह नहीं रह जाता है। मूर्ति देशी पाषाण पर उत्कीर्ण है जिसकी लम्बाई २ फुट और चौड़ाई १॥ फुट है। उसके मध्यमें एक फुट ऊँची ध्यान मुद्रायुक्त पद्मासन मूर्ति है। मूर्तिके दाहिनी ओर एक त्रिशूल अंकित है, जिसकी ऊँचाई मूर्तिके कानों तक है। बायीं ओर इतनी ही ऊँचाई पर दण्डके ऊपर एक नर-कपाल अवस्थित है। मूर्तिके पादपीठके नीचे सामनेकी ओर मुख किए हुए बैलका मुख अंकित है, जिसके ऊपर दोनों सींग दाईं-बाईं ओर जाकर अर्धचन्द्राकारमें अवस्थित हैं। इस चरण-चिन्हके दाईं ओर श्रावक और बाईं ओर श्राविकाकी अर्ध नमस्कार-मुद्रामें एक-एक मूर्ति बनी हुई है। मूर्तिके शिर परके बाल जटारूपमें उत्कीर्ण किये गये हैं। देवगढ़में सहस्रों प्रतिमाएँ जटाजूटसे युक्त आज भी उपलब्ध हैं। जटाजूटसे ऊपरका भाग टूटा हुआ है।

अरिहन्तोंकी व्याख्या करते हुए वीरसेनाचार्यने धवलामें तीन गाथाएं उद्धृत की हैं, जिनमेंसे दूसरीमें त्रिलोचनधारीके रूपमें और तीसरीमें त्रिशूलधारी महादेवके रूपमें अरिहन्तोंका स्मरण किया गया है। वे दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं -

दलियमयणप्पयावा तिकालविसएहि तीहि णयणेहि।
दिट्ठसयलट्ठसारा सुदद्धतिउरा मुणिव्वइणो ॥ २ ॥
तिरयण तिसूल धारिय मोहंधासुर-कबंध विंदहरा।
सिद्धसयलप्परूवा अरिहंता दुण्णय-कयंता ॥ ३ ॥

महादेवके विषयमें ऐसी प्रसिद्धि है कि उन्होंने कामको भस्म किया था, वे तीन नेत्रोंके धारक थे और त्रिपुरासुरके तीनों नगरोंको जलाया था। इन तीनों ही मान्यताओंको गाथाकारने अरिहन्तके ऊपर घटाया है कि वस्तुतः उन्होंने ही कामके प्रतापका दलन किया है और उन्होंने ही जन्म - जरा-मरण-रूप या राग-द्वेष-मोहरूप तीन नगरोंको भस्म किया है और उन्होंने ही अपने तीनों नेत्रोंसे तीनों कालोंकी सर्व बातोंका साक्षात्कार किया है। महादेवके विषयमें एक दूसरी प्रसिद्धि यह है कि उन्होंने त्रिशूलके द्वारा अन्धकासुरका बध किया था और इसी बातके द्योतनार्थ वे उसके कपालको धारण करते हैं दूसरी गाथामें महादेवके इसी रूपको गाथाकारने इस प्रकारसे वर्णन किया है कि रत्नत्रय-रूप त्रिशूलको धारण करके जिन्होंने मोहरूप अन्धकासुरका शिर काट डाला है और जो दुर्नयों मिथ्यामतोंके लिये कृतान्त-यम-स्वरूप हैं ऐसे आत्मस्वरूप के सिद्ध करनेवाले अरिहन्त होते हैं।

उक्त दोनों गाथाओंकी प्राचीनता इसीसे सिद्ध है कि वे धवलामें उद्धृत की गई हैं। इन गाथाओंसे पाठक सहजमें ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे कि प्राचीनकालमें अरिहन्त परमेष्ठीको ही महादेवके विभिन्न रूपकोंसे पूजा जाता था। ऊपर जिस उपलब्ध मूर्तिका जिक्र किया गया है, उसने तो गाथाओंकी मान्यताको और भी पुष्ट कर दिया है। इस अवसर्पिणीकालके आदि अरिहन्त श्री ऋषभदेव ही हैं, अतएव महादेवके रूपमें उनकी मान्यता सारे भारतवर्षमें प्राचीनकालसे चली आ रही हैं।

—हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री

पंचाध्यायीके निर्माणमें प्रेरक

(जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर')

'पंचाध्यायी' जैन समाजका एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसके मूल तथा टीकादिके साथमें अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इसके कर्ता १७वीं शताब्दीके प्रमुख विद्वान् कवि राजमल्लजी हैं, यह सुनिर्णीत हो चुका है। कवि राजमल्लजीके बनाए हुए दूसरे चार ग्रन्थ और भी उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं—१ जम्बूस्वामि-चरित, २ लाटी संहिता, ३ अध्यात्मकमल मार्तण्ड, और ४ छन्दोविद्या (पिंगल)। दूसरे सब उपलब्ध ग्रन्थ जब पूर्ण हैं तब पंचाध्यायी ही ऐसा ग्रन्थ है जो ११०८ पद्योंमें उपलब्ध होते हुए भी बहुत कुछ अधूरा है, वह पूर्ण नहीं हो सका और अपनेको निर्माणाधीन-स्थितिमें ही प्राप्त हुआ है। प्रथम दो ग्रन्थ क्रमशः अग्रवाल वंशी साहू टोडरकी तथा साहू फामनकी प्रेरणाको पाकर उनके लिये लिखे गये हैं, छन्दोविद्या श्रीमालवंशी राजा भारमल्लके संकेतको पाकर उनके लिये लिखी गई है और अध्यात्मकमलमार्तण्ड स्वतः की प्रेरणाको लेकर प्रधानतः अपने लिये लिखा गया है। परन्तु पंचाध्यायीके रचनेमें आद्य प्रेरक कौन महानुभाव रहा है यह उपलब्ध एवं प्रकाशित ग्रन्थ-प्रतियों परसे अभी तक कुछ भी मालूम नहीं होता। इसीसे मैंने अध्यात्मकमलमार्तण्डकी प्रस्तावना पृष्ठ २८ में लिखा था कि—'पंचाध्यायीकी रचना किसी व्यक्ति-विशेषकी प्रार्थना पर अथवा किसी व्यक्ति विशेषको लक्ष्यमें रखकर उसके निमित्त नहीं हुई। उसे ग्रन्थकार महोदयने उस समयकी आवश्यकताओंको महसूस (अनुभूत) करके और अपने अनुभवोंसे सर्वसाधारणको लाभान्वित करनेकी शुभ भावनाको लेकर स्वयं अपनी स्वतन्त्र रुचिसे लिखा है और उसमें प्रधान कारण उनकी सर्वोपकारिणी बुद्धि है, जैसा कि मंगलाचरण और ग्रन्थ-प्रतिज्ञाके अनन्तर ग्रन्थ-निमित्तको सूचित करनेवाले स्वयं कविके निम्न दो पद्योंसे प्रकट है—

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतु साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥५॥
सर्वोऽपि जीवलोकः श्रोतुकामो वृषं हि सुगमोक्त्या।
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्राऽयमुपक्रमः श्रेयान् ॥६॥

परन्तु बात सर्वथा ऐसी नहीं है, पंचाध्यायी जैसे महान् ग्रन्थके निर्माणको प्रारम्भ करानेमें भी कोई आद्य प्रेरक जरूर रहे हैं और वे हैं उक्त साहू टोडरके सुपुत्र श्री ऋषभदासजी, जिनके नामांकित शुरूमें यह ग्रन्थ किया गया था और इसका नाम भी 'ऋषभदासोल्लास' रखा गया था। इसका पता गत भादों माससें ब्यावरके 'श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन' का निरीक्षण करते हुए मुझे पंचाध्यायीकी एक प्रतिसे चला है। जिसका आद्य भाग निम्न प्रकार है—

"ऋषिसमुदयमनुदिव्या,वाणी नैकार्थगर्वि(भि)ता यस्य
प्रादुर्भवति विपंका तमहं वन्दे महावीरम ॥१॥
शेषानपि तीर्थकरानन्नन्तसिद्धानहं नमामि समं।
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान मुनीश्वरान वन्दे ॥२॥
जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवंद्यमनवंद्यम।
यदपि च कुमतारातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥३॥
गुरुन् पंच नमस्कृत्य कृतार्थः स कविः पुनः।
ऋषभदासोल्लासाख्यं शास्त्रं कर्तुं समीहते ॥४॥
अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतुः पुत्रः श्रीसाधोष्टोडरस्य वरः ॥५॥
नाम्ना श्रीऋषि(षभ)दासःश्रोतुकामः सुधर्मसुगमोक्त्या
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान ॥६॥

इन मंगल-प्रतिज्ञात्मक छह पद्योंके बाद ग्रन्थप्रतिमें 'सति धर्मिणि धर्माणां' नामक ७वें पद्यसे लेकर 'इत्यादि यथासंभव, नामक ७६८वें पद्य तक का वह ग्रन्थांश है जिसे-मुद्रित प्रतियोंमें प्रथम अध्याय सूचित किया गया है और उसके अन्तमें 'द्रव्य-सामान्य-प्ररूपण' ऐसा लिखा है।

प्रस्तुत ग्रन्थप्रतिके उक्त छह पद्योंमें दूसरा और तीसरा ऐसे दो पद्य तो वे ही हैं जो पंचाध्यायीकी मुद्रित प्रतियोंमें उन्हीं नम्बरों पर पाये जाते हैं। शेष चारों पद्य थोड़ा बहुत बदलकर रक्खे गए हैं और वे मुद्रित प्रतियोंमें निम्न प्रकारसे पाये जाते हैं—

'पंचाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम ॥१॥
इति वन्दितपंचगुरुः कृत-मंगल-सत्क्रियः स एष पुनः।
नाम्ना पंचाध्यायी प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम ॥४॥

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः ।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥५॥
सर्वोऽपि जीवलोकः श्रोतुंकामो वृषं हि सुगमोक्त्या ।
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् । ६॥'

इन चारों पद्योंकी प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रतिके इन्हीं नम्बरवाले पद्योंके साथ तुलना करने पर मालूम होता है कि प्रथम पद्यमें 'महावीरं' और 'तं' पदोंको छोड़कर शेष सब पद बदल कर रक्खे गये हैं। चौथा पद्य भी पंच गुरुओंको नमस्कार तथा 'पुनः' और 'शास्त्र' जैसे दो एक शब्दोंको छोड़कर प्रायः सारा ही बदलकर रक्खा गया है। ५वें पद्यके तीन चरण दोनोंमें समान हैं केवल चौथा चरण बदला हुआ है। छठे पद्यका प्रथम चरण बदला हुआ है और शेष तीन चरण ज्यों के त्यों पाये जाते हैं।

दोनों प्रतियोंकी इस पारस्परिक तुलना एवं पाठभेदों परसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रन्थका आरम्भ साहू टोडरके सुपुत्र ऋषभदासकी प्रेरणाको पाकर हुआ है, वही ग्रन्थर-चनामें अन्तरंग हेतुका हेतु बना है, उसीके नाम पर प्रथमतः इस ग्रन्थका नाम 'ऋषभदासोल्लास' रक्खा गया है और सम्भवतः ७६८ पद्योंका यह प्रथम प्रकरण उसीको लिखकर दिया गया है। बादको किसी कारण-कलाप अथवा परिस्थितियोंके वश ग्रन्थको और भी विशाल रूप देनेका विचार उत्पन्न हुआ है, इसीसे मुद्रित पाठवाली ग्रन्थप्रतियोंमें उसे 'ग्रंथराज' सूचित किया गया है और उसका नामकरण भी 'पंचाध्यायी' किया गया है। साथ ही अन्तरंग हेतुके हेतुरूपमें श्री ऋषभदासकी जगह अपनी ही साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिको स्थान दिया गया है। हो सकता है कि इस बीचमें ऋषभदासजीका देहावसान हो गया हो, जो कि ऐसे गूढ़ तथा गम्भीर तत्त्वज्ञानके विषयमें रुचि एवं उल्लास रखनेवाले अच्छे विद्वान् जान पड़ते हैं, और उनके बाद ग्रन्थके तैयार अंशको देख-सुनकर बहुतसे सज्जनोंकी एषणा जागृत हो उठी हो। और उन्होंने कविजीको ग्रन्थमें और भी अनेक धर्म-विषयोंको शामिल करके उसे विशाल रूप देनेकी प्रेरणा की हो। उसीके फलस्वरूप कवि राजमल्लजीको ग्रन्थके इन चारों पद्योंमें उक्त फेर-फार करना पड़ा हो और छठे पद्यमें जहां पहले यह सूचना की गई थी कि 'ऋषभदास सद्धर्मको सुगमोक्तियोंके द्वारा सुनना चाहता है, उसीके लिए ग्रन्थ-रचनाका यह सब प्रयत्न है, वहां यह सूचित करना पड़ा है कि 'सारा ही जीवलोक धर्मको सुगमोक्तियोंके द्वारा सुनना चाहता है, उसीके लिए ग्रन्थ-रचनाका यह सब प्रयत्न है। साथ ही चौथे पद्यमें ग्रन्थका नाम 'ऋषभदासोल्लास' के स्थान पर 'पंचाध्यायी' घोषित करना पड़ा हो और उसे प्रथम पद्यमें 'ग्रन्थराज' विशेषण भी देना पड़ा हो। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत ग्रन्थ-रचनाका सूत्र-पात उन साहू श्री ऋषभदासजीकी प्रेरणाको पाकर हुआ है जो साहू टोडरके सुपुत्र थे और जिनका नामोल्लेख जम्बूस्वामिचरितकी प्रशस्तिमें भी पाया जाता है। प्रशस्तिमें साहू टोडरकी वंशपरम्पराका वर्णन है, उन्हें गर्गगोत्री अग्रवाल तथा भटानिया कोलका निवासी बतलाया है, उनकी भार्याका नाम 'कसूंमी' प्रकट किया है जो उक्त साहू ऋषभदास तथा उनके दो लघु भ्राता मोहनदास, और रूपमांगदकी माता थी। इससे ग्रन्थ-रचनामें आद्य प्रेरक साहू ऋषभदासजीका कितना ही परिचय मिल जाता है।

पंचाध्यायीके निर्माणकी ऐसी स्थितिमें उसकी दूसरी हस्त-लिखित प्रतियोंको भी टटोला जाना चाहिए, सम्भव है उनमेंसे किसीमें और भी कोई विशेष बात जाननेको मिल जाय।

ता० १३-११-१९५६

घत्ता—अरियण तामर सायर सुहमण,
सायर दोमायर खायर तिलया।
वणि जिणयत्त कहंतरु पुण्ण णिरंतरु
कह णिरइज्जइ गुणणिलया॥ ४॥

× × × ×

णिक्कलंकु अकलंकु चउमुहो,
कालियासु सिरिहरि सुकइ सुहो।
वय विलासु कइवासु असरिसु
दोणु वाणु ईसाणु सहरिसो।
पुप्फयंतु सुसयंभु भल्लओ,
वालमीउ सम्मइं रसिल्लओ।
इह कईउ भीम इय दिट्ठिया,
फुरइ केम महो मइ वरिट्ठिया।
धाउलिंग गुण णउ गुण ण कारओ,
कम्मु करणु ण समासु सारओ।
पय समित्ति किरिया विसेसया,
संधि छंदु वायरण भासया।
देम भास लक्खणु ण तक्कओ,
सुणमि णेव आयहि गुरुक्कओ।
महाधवलु जयधवलु ण दिट्ठओ,
ण उर वप्प पयमिइ वरिट्ठओ।
तह ण दिट्ठु सिद्धंतु पाय............१

× × × ×

इय जिणयत्तचरित्ते धम्मत्थ-काम-मोक्खवण्णणसुहभाव-सुपवित्ते सगुणसिरिसाहुलसुउ-लक्खण-विरइए भव्वसिरिहरस्सणामंकिए जिणयत्तकुमारुप्पत्ति-वण्णणो णाम पढमो परिच्छेओ समत्तो॥॥ संधि १॥

अन्तिम भाग:—

इह होंतउ आसि विमाल बुद्धि,
पुज्जिय जिणवरु ति-रयण विसुद्धि।
जायस रहवंस उवयरण सिंधु,
गुण गरुवाभल माणिक्क सिंधु।
जायव णरणाहहो कोसवालु,
जसरम सुहिय दिक्चक्कवालु।
जसवालु तासु सुउ मइ परालु,
लाहडु खडहड लहलक्ख रालु।
जण जाणिय जिणमइ जुवइ तासु।
ताहं गय सत्त पमुक्क तासु।
पढमउ अल्हणु सुहि सरय सूरु,
परिवार-णारह-परमास-पूरु।
पवयण वयणामय-पाण-पोट्टु,
अवमेय महामइ-दलिय,दुट्टु।
जिणह्नवणच्चण-पूयण-सयत्तु,
अहिणाणि य णिहिल विणाय वित्तु।
मिच्छत्त च्चिय णच्चइल्लु,
गंभीर परम णिम्मय मइल्लु।
किल्लिल्ल-वेल्लि णिल्लूर-णिल्लु,
भायर सुउ लक्खण णेह-गिल्लु।
परिवार-भार-उद्धरण-धीरु,
जिण-गंथ-वारि-पावण-सरीरु।
पवहिय-तियाल-वंदण-विसुद्धि,
सुख सत्थभाव-भावण अमुद्धि।
बहु-सेवय-णर-सिर-घट्ट-पाय,
वंदीयण दीणह दिण्ण चाय।
भायणिहि पयोसिय सूरिवंदु,
सउलामर-वह-कय चंदु-वंदु १

घत्ता—

तहोसोहणहो रसाल हो भंयपराल हो कलकणिट्ठत्थ सहोयर
छहवि महामइ सोहण रिउबल मोहण गुणराहणविहियायर

गाहलु साहुलु सोहण मइल्लु,
तह रयणु मयणु सतणु जि छइल्ल।
छहमहि भायर अल्हणाह भत्त,
छहमवि ताहा माणासत्त चित्त।
छहमवि ताहर पय पयरुह-दुरेह,
छहमहि मयणोवम-कामदेह।
साहु लहु सुपिय पिय यम मणुज्ज,
णामंज्जय ताकय णिलय कज्ज।
ताह जि णंदणु लक्खणु सलक्खु,
लक्खण-लक्खिउ-सयदल-दलक्खु।
विलसिय-विलास-रस-गलिय-गव्व,
ते तिहुअणगिरि णिवसंति सव्व।
सो तिहुवणगिरि भग्गउ उज्जवेण,
विलउ बलेण मिच्छाहिवेण।

लक्खणु सव्वाउ समाणु साउ,
विन्थायउ विहिणा जणिय-राउ ।
सो इत्थ तत्थ हिंडंतु पत्तु,
पुरे विल्लराम लक्खणु सु-पत्तु ।
मणहरु जिणहर तणुरुह पवित्तु ।
ते णिज्जिउ सिरिहरु परम मित्तु ।
विरदा णंदणु सम्माण घणउ,
लक्खण हो समउ सो करइ पणउ ।
तहे जि मणेहु णिब्भरु महंतु,
दिण दिण तं अइसय बुद्धि जंतु ।
भद्दत्तणु पवुट्ठणु मेहुणीरु,
अमराल-वारि पोसिय- सरीरु ।
जं एयारह मणु मासि फारु,
णिवडइ णहारु उ णिब्भरुत्तु मारु ।
खर-कय पयंड-बम्हंड-पुरु,
जं णिट्ठइ णिट्ठरु तवइ सूरु ।
सुवणहो सुवणेसहु णाहु जजि,
चिरु वट्टइ भोकह चित्तु तंजि ।

घत्ता—

जह अहिणव घण दंसणे ताव विहंसणे चंद कवउगं हुल्लियइ
सिरिहरुमिरिसाहारउरय-परिहारउलक्खणणाणहर सुल्लियइ

णवरेक्कदिणम्मि महाणुभाउ,
आभत्थि विल्लहो धत्थ-पाउ ।
पभणिउ भो बंधव अइ पवित्तु,
विरइज्जउ जिणयत्तहो चरित्त ।
तहो वयणें मई विरइउ सवोज्ज,
वणिणाहो ववसायउ मणोज ।
पद्धडिया बंधे पायडत्थ,
आइहि जाणिज्जसु सुप्पसत्थु ।
मयलइ पद्धडिया एइ हुँति,
सत्तरि णवज्जु दस य दुणिण संतु ।
एयइ गंथइ सहसइ चयारि,
परिमाण मुणिहु अक्खर वियारि ।
हउ······रक्खरु खलिय लज्ज,
ण वियाणमि हेयाहेय-कज्ज ।
पय-बंध णिबंधु ण मुणमि किंपि,
मइ-विरइउ संपइ चरिउ तंपि ।

× × ×

इयहं चरित्तु जो को वि भव्वु,
परिपढइ पढावइ गलिय-गव्वु ।
जो लिहइ लिहावइ परमु मुणइ,
संभावइ दावइ कहइ सुणइ ।
जो देइ दिवावइ मुणिवराह,
जह तह सम्मइ पंडिय पराह ।
सो चक्कवट्टि पउ आइ करिवि,
पालिवि सयकत्तण लच्छि धरिवि ।
अणुहुंजिवि संसारिय-सुहाइ,
सव्वइ दिव्वइ पयलिय-दुहाइ ।
उव्वहियाहिल सुहरस-पयासि,
पच्छइ गच्छइ णिव्वुइ णिवासि ।

घत्ता—

बारहसय सत्तरयं पंचोत्तरयं विक्कम कालवि इत्तउ ।
पढम पक्खि रविवारइ छट्ठि सहारइ पूस मासे सम्मत्तउ ॥३

× × ×

सम्मदंसण णाण णिरु सम्मच्चरिय विसालु ।
तं रयणत्तउ सिरिहरहो अहिरक्खउ चिरकालु ॥

—आमेर भंडार प्रति, सं० १६११

१४ सुलोयणाचरिउ (सुलोचनाचरित) गणिदेवसेन

आदिभाग—

वय-पंच-तिक्ख-णहरो पवयण-माया-सुदीह-जीहालो ।
चारित्त-केसरड्ढो जिणवर-पंचाणणो जयऊ ॥१॥
तिहुवण-कमल-दिणेसु णिरणासिय-घण तिमिर-भरु ।
पयडिमि चरिउ पसत्थु पणविवि रिसह-जिणेसरु ॥२॥

× × ×

णिवमम्मलहो पुरि णिवसंतें,
चारुट्ठाणें गुणगणवंतें ।
गणिणा देवसेणमुणिपवरें,
भवियण-कमल-पबोहण-सूरें ।
जाणिय धम्माहम्म-विसेसें,
विमलसेण मलहारिहि सीसें ।
मणि चिंतिउ किं सत्थब्भासें,
णिप्फलेण णिरु वयणायासें ।
जत्थ ण धम्म-जुत्त रंजिय सह,
विरइज्जइ पसत्थ-सुंदर कह ।

एस वि य पाव गुण वि चमक्किउ,
चिरु कइ कव्वइं चिंति विसंकिउ ।
जहिं वम्मीय वास सिरि हरिसहिं,
कालियास पमुहहि कइ सरिसहिं ।
वाण-मयूर-हलिय-गोविंदहिं,
चउमुह अवरु सयंभु कइंदहिं ।
पुप्फयंत-भूपाल-पहाणहिं,
अवरेहिमि बहु सत्थ वियाणहि ।
विरईयाइं कव्वइ णिसुणेप्पिणु,
अम्हारिसह ण रंजइ बुहयणु ।
हउं तह वि धिट्ठत्तु पयासमि,
सत्थ रहिउ-अप्पउ आयासमि ।

घत्ता—जइ सुरवइ करिमत्तु, तो किं अवरु महव्वउ ।
जइ दुंदहि सुरुसद्दु, तो कि तूर म वज्जउ ॥३॥

जइ आयासं विणयासुउ गउ,
तो किं अवरु म जाउ विहंगउ ।
जइ सुरधेणुय जणयाणंदिणि,
दुज्झइ तो किं अवर गणंदिणि ।
जइ कप्पद्दुमु फलइ मणोहरु,
तो किं फलउ णाहि अवरु वि तरु ।
जइ पवहइ सुर-सरि मंथर-गइ,
तो कि अवर नाहि पवहउ णइ ।
जइ कइ पवरहि रइयइ कव्वइं,
सुंदराइं वण्णहिमि अउव्वइं ।
हउंमि किपि नियमइ अणुरूवें,
विरए वि लग्गउ काइं बहूवे ।
जइ वि ण लक्खणु छंदु वियाणमि,
अवरु निघंटु णाहि परियाणमि ।
णालंकारु कोवि अवलोइउ,
णवि पुराण-आयमु-मणु ढोयउ ।
मइं पारंभिय तो वि जडत्तें,
वरकह जिणधम्महो अणुरत्तें ।
पिसुणत्तें सुंदर मइ दूसह,
हीणु णियवि सुयणत्तें पोसह ।

घत्ता—अह किं पच्छमि एहु, अब्भत्थिउ रोसालओ ।
जिम दुद्धें इंगालु, धोयउ धोयउ कालओ ॥४॥

× × ×

किं करइ पिसुणु संगहिय पाउ,
छुडु महु सरसइ जीहग्ग थाउ ।
छुडु णीहरंतु सुंदर पयाइं,
ललियाइं बद्ध भासा-गयाइं ।
छुडु णय-विरोहु संतवउ अत्थु,
छुडु होउ वयणु सुंदरु पसत्थु ।
आयण्णहो बहुविहु-भेय-भरिउ,
हउ कहमि चिराणउ चारु चरिउ ।
वइयरेंहि विचित्तु सुलोयणाहें,
णिव पुत्तहो मयणुक्कोवणाहें ।
वयवंति हिइय मिच्छत्तियाहें,
वर-दिढ-सम्मत्त-पउत्तियाहें ।
ज गाहा-बंधें आसि उत्तु,
सिरि कुंदकुंद-गणिणा णिरुत्तु ।
तं एव्वहि पद्धडियहिं करेमि,
परि कि पि न गूढउ अत्थु देमि ।
ते णवि कवि णउ संखा लहंति,
जे अत्थु देखि वसणहिं धि (खि) वंति ।

घत्ता—कहियं जेण असेसु मिच्छत्ताउ ओहट्टइ ।
अवरु वि बहुत्तव पाउ, तं जीवासिउ तुट्टइ ॥ ६ ॥

× × ×

इय सुलोयणाचरिए महाकव्वे महापुराणे दिट्ठिए गणि-देवसेण-विरइए पढमो परिच्छेओ सम्मत्तो ॥ १ ॥

चरमभागः—

णंदउ सुहरु जिणिंदहो सासणु,
जय सुहयरु भव्वयण सामणु ।
णंदउ पयजें धम्मु पयासिउ,
पाढउ जेण सत्थु उवएसिउ ।
साहु-वग्ग-रयणत्तय धारउ,
णंदउ सावउ वय-गुण धारउ ।
दाणु देइ इंदिय बल-उमरहं,
वेज्जावच्चु करेउ मुणि-पवरहं ।
णंदउ णरवइ सह परिवारें,
पालिएण णिरु णिययायारें ।
णंदउ पय-पय मुच्चउ पावें,
रंजिज्जउ जिण-धम्म-पहावें ।
वीरसेण-जिणसेणायरियहं,
आयम-भाव-भेय-बहु-भरियहं ।

तह संताणि समायउ मुणिवरु,
होट्टल मुत्त[1] णाम बहुगुणधरु ।
रावणु व्व बहुसीस-परिग्गहु,
सयलायम-जुत्तउ अपरिग्गहु ।
गंडविमुत्तु[2] सीसु तहो केरउ,
रामभद्दु णामें तव सारउ ।
चालुक्कियवंसहो तिलउल्लउ,
होंतउ णरवइ चाएं भल्लउ ।
तिणमित्त मुयवि रज्जु दिक्खंकिउ,
तिरयण रयणाहरणालंकिउ ।
जायउ तासु सीसु संजम-धरु,
णिवडिदेउ णामु णिह णियसरु ।
तासु सीसु एक्को जि संजायउ,
णिहणिय-पंचेंदिय-सुह-रायउ ।
सील-गुणोहर गुण रयणायरु,
उवसम-खम-संजम-जल-सायरु ।
मोह-महल्ल-मल्ल-तरु-गयवरु,
भवियण-कुमुयखंडु-वण-ससहरु ।
तवसिरि-रामालिंगिय-विग्गहु[3],
धारिय-पंचायारु-परिग्गहु ।
पंच-समिदि-गुत्तिय-तय-रिद्धउ,
गुणिगण-वंदिउ भुवण-पसिद्धउ ।
मयरद्धय-मर-पसर-णिवारउ,
दुद्धर-पचमहव्वय-धारउ ।
सिरि मलधारिदेव पभणिज्जइ,
णामें विमलसेणु जाणिज्जइ ।
तासु सीसु णिज्जिय-मयणुब्भउ,
गुरु उवएसें णिव्वाहिय-तउ ।
कलइ धम्मु परिपालइ संजमु,
भविय-कमल-रवि-णिएणासिय-तमु ,
सत्थ-परिग्गहु-णिहय-कुसीलउ,
धम्म-कहाए पहावण-सीलउ ।
उवसम णिलउ चरिय-रयणत्तउ,
सोम्मु सुयणु जिण-गुण अणुरत्तउ ।
देवसेण णामें मुणि गणहरु,
विरयउ एउ कव्वु तें मणहरु ।
अमुणंतेण किं पि हीणाहिउ,
सुत्त-विरुद्धउ काइमि साहिउ ।
सयलुवि खमउ देइ-वाएसरि,
तिहुयण-जण-वंदिय-परमेसरि ।
फुड्ढ बुहयणु सोहेप्पिणु भल्लउ,
तं करंत सुय-देइ-णवल्लउ ।
रक्खस-संवच्छर बुह-दिवसए,
सुक्क-चउद्दसि सावण-मासए ।
चरिउ सुलोयणाहि णिप्पण्णउ,
सद्द-अत्थ-वण्णण-संपुण्णउ ।

घत्ता—णवि महं कवित्त-गव्वेण किउ अवरु केण णवि लाहें ।
किउ जिणधम्महो अणुरत्तएण मण-कय-परमुच्छाहें ॥ १ ॥

आमेर भंडार प्रति सं० १५६०

(दिल्ली पंचायती मंदिरकी खंडित प्रतिसे संशोधित)

१५—पज्जुण्णचरियं (प्रद्युम्नचरितं) सिद्ध या सिंहकविकृतं ।

आदिभागः-- १

खम-दम-जम-णिलयहो ति-हुअण-तिलय हो
वियलिय-कम्म-कलंकहो ।
थुइ करमि स सत्तिए अइणिरुभत्तिए
हरिकुल-गयण-ससंकहो ॥

पणवेप्पिणु णेमि-जिणेसरहो भव्वयण-कमल-सरणेसरहो ।
भव-तरु-उम्मूलण-वारणहो कुसुम-सर-णिवारणहो ॥
कम्मट्ठ-विवक्ख-पहंजणहो मय-घण-पवहंत पहंजणहो ।
भुवणत्तय-पयडिय-सासणहो छब्भेयजीव आसासणहो ॥
णिरवेक्ख णिमोह णिरंजणहो सिव-सिरि-पुरंधि-मणरंजणहो ।
पर-समय-भणिय-णय-सय-महहो कम-कमल-जुयल-णय-
सम-महहो ॥
महसेसिय-दंसिय-सुप्पहहो मरगय-मणि-गण-करसुप्पहहो ।
माणावमाण-समभावणहो अणवरय-णमंसिय-भावणहो
भयवंतहो संतहो पावणहो सासय-सुह संपय-पावणहो ॥

घत्ता—
भुवणत्तय-सारहो णिज्जिय-मारहो अवहेरिय-घर दंदहो ।
उज्जयंत गिरि-सिद्धहो णाण-समिद्धहो दय-वेल्लिहि-
कंदहो ॥

---

१. द प्रतौ 'पुत्त' इति पाठः, २. द प्रतौ 'गंडइपुत्त' इति पाठः । ३. अ प्रतौ 'विज्जहु' पाठः ।

इय दुरिय रिणं, तइलोयइणं ।
भव-भय-हरणं, णिज्जिय करणं ।
सुहफलकुरुहं, वंदिवि अरुहं ।
पुणु सत्थमई, कलहंसगई ॥

वरवण्णपया, मणि धरिवि सया ।
पय-पाणसुहा, तोसिय विबुहा ।
सव्वंगिणिया, बहुभंगिणिया ।
पुव्वाहरणा, सुविसुद्धमणा ।
सुय-वर-वयणी, णय-गुण-णयणी ॥

कइयणजणणी, तं दुह-हणणी ।
मेहाजणणी, सुह-सुय-करणी ।
घर-पुर-पवरे, गामे णयरे ।
णिउ विउससहे सुह-झाणवहे ।
सरसइ सु-सरा, महु होउ वरा ।
इम वज्जरइ, फुडु सिद्धकई ।

हय-चोर भए, णिसि भवियगए ।
पहरिद्धट्ठिए, चित्तंतु-हिए ॥

घत्ता : -

जासुत्तउ अत्थइ तातहिं पेच्छइ णारिएक्क मणहारिणिया ।
सियवत्थणियत्थिय कंजय हत्थि य अक्खमुत्तसुयधारिणिया ।२।

सा चवेइ सिविणं ति तक्खणे, काइं सिद्ध चिंतयहि णियमणे ।
तं सुणेवि कइ सिद्धु जंपए, मइमज्झणिरु हियउ कंपए ।
कव्वुबुद्धिचित्तंतु लज्जिओ, तक्क-छंद-लक्खण-विवज्जिओ ।
ण वि समासु ण विहत्ति कारओ, संधि-सुत्त गंथहं असारओ
कव्वु कोइ ण कयावि दिट्ठओ, महु णिघंटु केणावि णु सिट्ठओ ।

तेण वहणि चिंतंतु अत्थमि,
खुज्जहो वि ताल हलु वंछमि ।
अंधहो वि णवणाट पिच्छिरो,
गेय मुणणि बहिरो वि इच्छिरो ।
तं सुणेवि जाजय महासुई,
णिसुणि सिद्ध जंपइ सरासई ।

घत्ता—

आलसु संक्किल्लहि हियउममेल्लहिं मज्झु वयणु इयदिढु करहि
हउं मुणिवरवंसें कहमि विसेसें, कव्वु किंपि तं तुहुं करहिं ॥३

ता मलधारि देउ मुणि-पुंगमु
णं पच्चक्ख धम्मु उवसमु दमु ।
माहवचंद आसि सुपसिद्धउ
जो खम-दम-जम-णियम समिद्धउ ।
तासु सीसु तव-तेय-दिवायरु
वय-तव-णियम-सील-रयणायरु ।
तक्क-लहरि-झंकोलिय परमउ
वर-वायरण-पवर-पसरिय-पउ
जासु भुवण दूरंतरु वंकिवि
ठिउ पच्छण्णु मयणु आसंकिवि
अभयचंदु णामेण भडारउ
सो विहरंतु पत्तु बुह-सारउ ।
सस्सिर-णंदण-वण-संछण्णउ
मठ-विहार-जिणभवण रवण्णउ ।
वम्हण वाडउ णामें पट्टणु
अरि-णरणाह-सेण-दल वट्टणु ।
जो भुंजइ अरिण खय कालहो
रण-धोरिय हो सुअहो बल्लालहो ।
जासु भिच्चु दुज्जण-मण-सल्लणु
खत्तिउ गुहिल उत्तु जहिं भुल्लणु ।
तहिं सपत्तु मुणिसरु जावहिं
भव्वुलोउ आणंदिउ तावहिं ।

घत्ता—

णियगुण अपसंसिवि मुणिहि णमंसिवि जो लोएहिं अदुगंछियउ
णय-विणय-समिद्धें पुणु कइ सिद्धें सो जइवरु आउंछियउ॥३॥

पुण पंपाइय-देवण-णंदणु,
भवियण-जणमण-णयणाणंदणु ।
बुहयण-जणपय-पंकय छप्पउ,
भणइ सिद्ध पणमिउ परमप्पउ ।
विउल गिरिहिं जिह हय भवकंदहो,
समवसरणु सिरिवीरजिणिंदहो ।
णर-वर खयरामर समवाए,
गणहरु पुच्छिउ सेणियराए ।
मयरद्धयहो विणिज्जिय मारहो,
कहहि चरिउ पज्जुण्णकुमारहो,
तं णिसुणेवि भणइ गणेसरु,
णिसुणइ सेणिय मगह-णरेसरु ।

× × ×

इय पज्जुण्णकहाए पयडिय-धम्मत्थ-काम-मोक्खाए कइ-
सिद्ध-विरइयाए पढमो संधी परिसमत्तो ॥१॥

अन्तिम प्रशस्ति—

कृतं कल्मष-वृतस्य शास्त्रं शस्त्रं सुधीमता
सिंहेन सिंहभूतेन पाप-सामज-भंजन ॥१

काव्यस्य काम्यं कमनीयवृत्तं वृत्तं कृतं कीर्तिमतां कवीनां।
भव्येन सिंहेन कवित्वभाजां लाभाय तस्यात्र सदैव कीर्तिः २॥

सव्वराहु सव्वदंसी भव-वण-दहणो सव्व मारस्स मारो।
सव्वाणं भव्वयाणं सवणमणहरो सव्वलोयाण सामी।
सव्वेसिं वच्छरूवं पयडण-कुसलो सव्वणाणावलोई,
सव्वेसिं भूययाणं करुण विरयणो सव्वयालं जओ सो ॥३

जं देवं देव देवं अइसयसहिदं अंगदाराणिहंतं,
सुद्धं सिद्धी हरत्थं कलि-मल-रहितं भव्व भावाणु मुक्कं।
णाणायार अणंतं वसुगुण गणियं अंसहीणं सुणिच्चं।
अम्हाणं तं अणिंदं पविमल-सहिदं देउ संसार-पारं ॥४

णादं मोहाणुबंधं सारुह-णिलए किं तवत्थं अयत्थं,
संतं संदेहयारं विबुह-विरमणं खिज्ज देदीययाणं।
वाए सीए पवित्तं विजयदु भुवणे कम्बु-वित्तं विचित्तं,
दिज्जं तं जं अणं विवरदि सुहरं णाणालाहं विदिंतं ॥५

घत्ता—

जं इह हीणाहिउ काइंमि साहिउ अमुणिय सत्थ-परंपरइं।
तं खमउ भडारी तिहुवण-सारी वाएसरि सच्चायरई ॥

दुवई—जा णिरु सत्तभंगि जिण वयण-
विणिग्गय दुह विणासणी।
होउ पसण्ण मज्झ सुहयरि,
इयरण-कुमइ-णासणी ॥

पर वाइय-वाया-हरुअ-छम्मु,
सुयकेवलि जो पच्चक्खु धम्मु।
सो जयउ महामुणि अभियचंदु,
जो भव्व णिवह कइरवहं चंदु।
मलधारिदेव पय पोम-भसलु,
जंगम सरसइ सव्वत्थ कुसलु।
तह पय-रउ णिरु उवणय अमइयमाणु
गुज्जर-कुल-णह उज्जोय-भाणु।
जो उहय पवर वाणी विलासु
एवं विह विउसहो रल्हणासु।
तहो पणइणि जिणमइ सुहमसील
सम्मत्तवंत णं धम्मसील।

कइ सीहु ताहि गब्भंतरंमि
संभविउ कमलु जह सुर-सरंमि।
जण वच्छलु सज्जण-जणिय हरिसु
सुइवंतु तिविह वइ-राय सरिसु।
उप्पएणु सहोयरु तासु अवरु
नामेण सुहंकरु गुणहं पवरु।
साहारणु लघु वउ तासु जाउ
धम्माणुरत्तु अइ दिव्वकाउ।
तहु अणु व महएउ वि सु-सारु
संविणोउ विण कुसुम सरधारु?
जावच्छहि चत्तारि वि सुभाय
पर उवयारिय जण जणियराय।
एकहिं दिणि गुरुणा भणइ वत्थ
णिसुणहि छप्पय कइ राय दच्छ।
भो बाल-सरासइ गुण-समीह
किं अविणोयइं दिण गमहिं सीह।
चउविह-पुरिसत्थ-रसोह-भरिउ
णिव्वाहहि एउ पज्जुण्णचरिउ।
कइ सिद्धहो विरयंतहो विणासु
संपत्तउ कम्मवसेण तासु।
महु वयणु करहि किं तुव गुणेण
रंतेण हूय छाया समेण।

घत्ता—

किं तेण पहूवइं चउ धणइं जं विहलिय हं ण उ वयरइ
कव्वेण तेण किं कइयणहो ज ण छइल्ल मणु हरइं।
गुणा पुणो पउत्तं पवियप्पं धरम पुत्त मा चित्ते।
गुणिणो गुणं लहेविणु जइ लोओ दूसणं थवइ ॥१

को वारइ सविसेसं खुद्दो खुद्दत्तणं पि विरयंतो।
भुवणो छुडु मज्झत्थो अमुवंतो णियसहावं वा ॥२

संभव-इव हुअ विग्घं मुण (मणु ?) याणं सेयमग्गे लगाणं।
मा होहि कज्ज सिढिलो विरयहि कव्वं तुरंतो वि ॥३

सुह असुहं ण वियप्पहि चित्तं धीरे वि तेजए वयणा।
परकज्जं परकव्वं विहडंतं जेहि उद्धरियं ॥४

अमिय मयंद गुरूणं आएसं लहेवि भत्ति इय कव्वं।
णियमइणा णिम्मवियं णंदउ ससि दिवामणी जाम ॥५

को लेक्खइ सत्थम्मे दुज्जोहं दुजणं पिअ सुहयरं।
भुवणं सुद्ध सहावं कर-मउलिं रइवि पच्छामि ॥६

जं किं पि हीण-अहियं विउसा सोहतु तं पि इयकव्वे ।
धिट्ठत्तणेण रइयं खमंतु सव्वंपि मह्नु गुरुणो ॥७॥
यत्राख्यं चतुराननाऽब्जनिरतं सत्पद्यदामत्वकं ।
स्वैरं भ्राम्यति भूमिभागमखिलं कुर्वन् वलक्षं क्षणात ।
तेनेदं प्रकृत चरित्रममलं सिद्धेन नाम्ना परं,
प्रद्युम्नस्य सुतस्य कर्णसुखदं श्रीपूर्व देवद्विषः ॥

(आमेर प्रति सं० १५७७ से और फरु खनगर प्रति सं० १५१७ से)

१६ पासणाहचरिउ (पार्श्वनाथचरित) कवि देवदत्त

आदिभाग—:

चउवीसवि जिणवर दिट्ठपरंपर, वंदवि मूढदिट्ठि रहिउ ।
वर-चरिउ अणिदहो पासजिणिंदहो णिसुणिज्जउ वईयरसहिउ ॥

वंदवि जिणजोयाजोयजाण,
अत्तीत-अणागय-वट्टमाण ।
पुणु सिद्ध अणंत महाजसंस ,
जो मोक्ख-महासरि-रायहंसु ।
आइरिअ सुअंबुहि-पारु-पत्त ,
सिद्धवहु कडक्खविणिहिय चित्त ।
उज्झाय परम-पवयण पवीण,
बहु-सीस सुनिम्मल-धम्म-लीण ।
पुणु साहु महव्वय-बूढ-भार,
बावीस-परीसह-तरु-कुठार ।
पंचवि परमेट्ठि महामहल्ल,
पंचवि निम्मच्छर-मोह-मल्ल ।
पंचमि कहिउ दयधम्मु सारु,
पंचहमि पयासिउ-लोय-चारु ।
पंचहमि न इच्छिउ दुविहु संगु,
पंचहमि निराउहु किउअणंगु ।
पंचहंमि भग्गु-इंदिय-मडप्पु,
पंचहिं किउ-णिव्विसु-विसय-सप्पु ।
पंचवि परिकलिय-असेस-विज्ज,
पंचवि निय-निय-गुण-गण-सहिज्ज ।
पंचहंमि कलिउ णाणाइं समग्गु,
पंचहमि पयासिउ मोक्ख-मग्गु ।

घत्ता—

पंचवि गुरुवंदवि भणिअहिणंदवि जिणमंदिरे मुणि अच्छइ ।
पयडत्थ-मणोहरे अकाखर-डंबरे सुकवित्तहो मग्गु गच्छइ ॥१॥

सुकवित्त-करणे मणे बहुगाहु, णिसिसमइ वियप्पइ एव साहु ।
जाणिययं नमइं कालक्खराइं, न सुअउ वायरणउ सन्धि राइं ।
पय-छेउ संधि-विग्गहु-समासु, मणि फुरइ न एक्कवि मइ-पयासु
छंदालंकारु न बुज्झियउ, निग्घंटु तक्कु दूरज्झियउ ।
नवि भरहु सच्छु वक्खाणियउ, मइकइ किउ कव्वु न जाणियउ
सामग्गि न एक्क वि मज्झु पासि, उत्तरमि केव मइ बुरासि ।
साहिय सइ साहुविसयण मणु, इय चित्तवंतु थिउ एक्कु खणु
कलहंसगमण ससिबिंब-वयण , विलुलंत-हार-रुयवत्त-नयण ।

\+ \+ \+

सिरिपासनाह-चरिए चउवग्गफले भवियजण-मण-णंदे मुणिदेव-यंदरइए महाकव्वे विजया संधी ॥

अन्तिभाग.—

दुवई— देसिय गच्छि सीलगुण गणहरु,
भविय सरोजनेसरो ।
आस सुयंबु रासि अवगाहणु,
सिरि सिरिकित्ति मुणिवरो ।
तहो परम मुणिंदहो भुवण भासि,
संजाउ सीसु तव-तेय-रासि ।
नामेण पसिद्धउ देवकित्ति,
... . ।

तहो सीसु तवेण अमेयतेउ,
गुणनाउ जासु जगि मउनिदेउ ।
णिव्वाण-वाणि गंगा-पवाहु,
परिचत्त-सगु तवसिरि-सणाहु ।
तहो माहवचंदहो पाय-भत्तु,
आसीह सुयायरु सीस वुत्तु ।
णिरु गहिय-वय-भर अभयणंदि,
निय-नाउ लिहाविउ जेण चंदि ।
इय दुसम-कालि-कुकण बलेण,
डोल्लंत धम्मु थिरु-कयउ जेण ।
तें दिक्खिउ वासवचंद सूरि,
जें निहिउ कसाय-चउक्कु-चूरि ।
भवियण-जण-नयणाणंदि-राइं,
उद्धरियइं जे जिण-मंदिराइं ।
तहो सीसु जाउ मुणि देवचंदु,
अविलंब वाणि कव कुमुअयंदु ।

रयणत्तय-भूसणु गुण-णिहाणु,
अण्णाण-तिमिर पसरंत-भाणु ।
गुंदिज्ज नयरि जिण पासहम्मि,
निव संतु संतु संजणिय सम्मि ।
श्रइ अज्ज नियत्ति पासहो चरित्तु,
अब्भत्थि वि मविय जणेहि वुत्तु ।
छंदालंकार-ललिय पयत्थु,
पुणु पासचरिउ करि पायडत्थु ।

घत्ता—

तें तहिं गुण गणहरि गोंदिज पुरवरि णिवसंतइ पासहो चरिउ
अक्खर-पय सारहं अत्थवियारहं सुललिय छंदहिं उद्धरिउ ॥१२॥

दुवई—

पास-जिणिंद-चरिउ जगि निम्मलु फणि-नर-सुरह णिज्जई ।
फुडु सग्गापवग्ग फल पावणु खणु न विलंबु किज्जए ॥

अणु दिणु जिण-पय-पोमहि नवियहं,
गंथ पमाणु पयासमि भवियहं ।
णाणा छंद-बंध-णीरंधहिं,
पासचरिउ एयारह संधिहिं ।
पउरच्छहि सुवण्णस्स घडियहिं,
दोन्नि सयाइं दोन्नि पद्धडियहिं ।
चउवग्ग-फलहो पावण-पंथहो,
सइं चउवीस होंति फुडु गंथहो ।
जो नरु देइ लिहाविउ दाणइं,
तहो संपज्जइ पंचइं नाणइं ।
जो पुणु वच्चइ सुललिय-भासइं,
तहो पुण्णेण फलहिं सव्वासइं ।
जो पयडत्थु करे वि पउंजइ,
सो सग्गापवग्ग-सुहु भुंजइ ।
जो आयण्णइ चिरु नियमिय मणु,
सो इह लोइ लोइ सिरि भायणु ।
दिणि दिणि मंदिरि मंगलु णिज्जइ,
नच्चइ कामिणि पडहु पवज्जइ ।
णिप्पज्जहिं भुवि सव्वइं सासइं,
दुट्ठु-दुभिक्खु-मारि-भउ नासइं ।
अयणुं वि जं मइं कव्वु करंतइं,
अण्ण मयाइं रसमोहिय चित्तइं ।
लक्खण-छंद-रहिउ हीणाहिउ,
न मुणंतेण एत्थ किर साहिउ ।
तं महुँ खमहु विसुह-चिंतामणि,
सत्त भंगि नय-पवर-पयासणि ।
जांतइ लोयसिहर-पुरवालहो,
कमठ-महासुर-दप्प-विणासहो ।
चउ-भासामय-सावण-चंदहो,
अइसयवंतहो पास-जिणंदहो ।

घत्ता—

मुह-कुहर निवासिणि भुवणुब्भासिणि कुपय-कुपत्थ-कुनय-महणि
सा देवि सरासइ मायमहासइ देवयंद महुँ वसउ मणि ॥१३॥

सिरिपासणाह-चरिए चउवग्गफले भविय जणमणाणंदे
मुणिदेवयंद-रइए महाकव्वे एयारसियाइमा संधी समत्ता ॥

(मेरे पैतृक शास्त्रभंडारसे सं० १५४१ की खंडित प्रतिसे)

१७—सयलविहि-विहाणकव्व (सकलविधि-विधान काव्य)
कवि नयनन्दी

आदिभाग :—

धवल-मंगल-णंद-जववट्ट-मुहलंमि सिद्धत्थवि,
णरलोय-हरिसु व-संकमिउ-सग्गाउ जिणु ।
जयउ पुरिम-कल्लाण-कल सुव अह णं सिद्धि-वहु-विमल
मुत्तावलिहिं णिमित्तु सुह सुंत्तए।पियकारिणिइ सिप्पिहि
मुतिउ खित्तु ॥

जिण-सिद्ध-सूरि-पाढय सवण,
पणवेप्पिणु गुरुभत्तिए ।
णीसेस विहाण णिहाण फुडु,
करिम कव्व णिय-सत्तिए ॥
पयासिय-केवलणाण-सबोह,
णरामर-विंदरविंद-पबोह ।
वियंभिय-पाव-तमोह-विणास,
णमामि अहं अरहंत विणास ।
णिरामय-मोक्ख णहंगण-लीण,
कयावि ण वड्ढिय णो परिहीण ।
कलंक-विमुक्क जगत्तय-वंद,
णमामि सुसिद्ध अणोवम चंद ।
अखंड महंत खमासुणि सयण,
अणग्घ-महारयणावलि-पुण्ण ।

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी „
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू „
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी „
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C.) जैन „
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी „
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी „
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी „
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल „
२५१) सेठ सुआलालजी जैन „
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी „
२५१) सेठ मांगीलालजी „
२५१) साहू शान्तिप्रसादजी जैन „
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर
२५१) सेठ तुलारामजी नथमलजी लाडनूवाले कलकत्ता

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) सेठ लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी कलकत्ता
१०१) बा० शान्तिनाथजी „
१०१) बा० निर्मलकुमारजी „
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, „
१०१) बा० काशीनाथजी, … „
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी „
१०१) बा० धनंजयकुमारजी „
१०१) बा० जीतमलजी जैन „
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी „
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) श्री जयकुमार देवीदास जी, चवरे कारंजा
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

'वीर-सेवामन्दिर'
२१, दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री वीर सेवामंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली। मुद्रक—रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, देहली

वर्ष १४

किरण ५

विषय-सूची

मूल्य: ॥)

आचार्य श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारकी ८०वीं वर्षगांठ सानन्द सम्पन्न

मगसिर सुदी ११ ता० १३-१२-५६ को जैन समाज के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान श्री जुगल किशोर जी मुख्तारकी ८०वीं वर्षगांठ कलकत्ता निवासी श्रीमान सेठ मोहनलालजी दूगड़के सभापतित्वमें बड़े समारोहके साथ मनाई गई। आज मुख्तार सा० को श्रद्धांजलि देने के लिए नगर के अनेक गण्य मान्य व्यक्ति उपस्थित थे, जिनमें राय सा० लाला उल्फतराय जी, लाला मक्खनलाल जी ठेकेदार ला० नन्हेंमल जी, ला० जुगलकिशोरजी कागजी, वैद्यराज महावीर प्रसादजी, बाबू रघुवर दयाल जी, श्रीजैनेन्द्र जी, श्रीअक्षयकुमार जी सम्पादक नवभारत टाइम्स, लाला तनसुखराय जी, ला० राजकृष्ण जी, डा० एम० सी० किशोर, डा० कैलाशचन्द्र जी, बाबू महतावसिंह जी, पंडित दरबारीलाल जी कोठिया, बा० माईदयाल जी, बा० पन्नालाल जी अग्रवाल, श्रीमती कमलादेवी और श्रीमती मखमली देवी आदिके नाम उल्लेखनीय हैं।

उपस्थित लोगोंके द्वारा श्रद्धांजलि समर्पित किये जानेके बाद अध्यक्ष सेठ मोहनलालजी दूगड़ने मुख्तार सा० को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए संस्कृतिके सम्बन्धमें अपना महत्त्वपूर्ण भाषण दिया। आपने कहा कि मुख्तार सा० जैसे सेवा-भावी संयमी विद्वानकी आयु आप सबने १२५ वर्षकी चाही, सो ऐसे संयमी पुरुषके लिए यह होना कोई कठिन नहीं है। मुख्तार साहबकी जैन संस्कृति की सेवा अपूर्व है। मुझे ऐसे महारथीके दर्शनकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई, और अनेक साहित्यकारों तथा विद्वानोंसे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं ग्रंथमालाके लिए ५००) भेट करता हूँ। इसे आप सहर्ष स्वीकार करें। आपने यह भी कहा कि ऐसे महान व्यक्तिकी जयन्तीका बड़ा आयोजन किया जाना चाहिए था। आशा है भविष्यमें इस का ध्यान रखा जायगा। अनन्तर बा० छोटेलाल जी कलकत्ताने यह प्रस्ताव रखा कि आगामी वर्ष जयंती के अवसर पर मुख्तार सा० को उनकी सेवाओंके उपलक्ष्यमें एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया जावे। यह प्रस्ताव सर्व सम्मति से पास हुआ।

अंतमें मुख्तार सा० ने अपनी लघुता प्रकट करते हुए सबका आभार माना और जैन साहित्य और इतिहासके खोज-शोधकी आवश्यकता बतलाई। आपने कहा कि हमारा बहुत अधिक साहित्य अभी भी भंडारोंमें दबा पड़ा है, जिसके छान-बीनकी अत्यन्त आवश्यकता है। मेरा विश्वास है कि भंडारोंकी छान-बीनसे अनेकों अलभ्य, अदृष्ट और अभूतपूर्व ग्रन्थ प्रकाशमें आवेंगे।

अपने भाषणके अन्तमें आपने कहा कि अब मेरी काम करनेकी शक्ति क्रमशः घट रही है, अतएव आप लोगोंको आगे आकरके काम संभाल कर मुझे निश्चिंत कर देना चाहिए, ताकि मैं अपने आत्मिक कार्यमें लग सकूं।

आपने अपने भाषणमें बा० छोटेलाल जीकी गुप्तदान और मूक सेवाओंका उल्लेख करते हुए कहा कि आपने समय-समय पर वीरसेवा मन्दिरको दूसरोंसे तो आर्थिक सहायता दिलाई ही है, पर स्वयं भी हजारों रुपये चुपचाप आकर सामने रख दिये हैं और वीरसेवामन्दिर की बिल्डिंग के लिए चालीस हजारमें जमीन खरीदकर प्रदान की, और नीचे की मंजिलके लिए साहू शान्ति प्रसाद जी से आर्थिक सहायता दिलवाई और उसके बनवानेमें बड़ा परिश्रम उठाया, मै किन शब्दोंमें आपके इन उदारतापूर्ण कार्योंकी प्रशंसा करूँ? आपके ही प्रयाससे दिल्लीमें वीरसेवामन्दिरके इस भवनका निर्माण संभव हो सका है।

—परमानन्द जैन

अनेकान्तके ग्राहकोंसे निवेदन

अनेकान्तके ग्राहकोंसे निवेदन है कि जिन ग्राहकोंने अपना वार्षिक चन्दा ६) रुपया और उपहारी पोष्टेज १।) कुल ७।) रुपया मनीआर्डरसे अभी तक नहीं भेजा है, वे किरण पाते ही शीघ्र मनीआर्डरसे भेज दें अन्यथा छठी किरण उन्हें वी. पी. से भेजी जावेगी। जिससे उन्हें ॥-) अधिक देकर वी. पी. छुड़ानी होगी। आशा है प्रेमी ग्राहक महानुभाव १५ जनवरी तक वार्षिक मूल्य भेजकर अनुग्रहीत करेंगे।

मैनेजर अनेकान्त—वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली।

ॐ अर्हम्

वर्ष १४ | वीरसेवामन्दिर, २१, दरियागंज, देहली | दिसम्बर, ५६
किरण, ५ | मर्गसिर, वीरनिर्वाण-संवत २४८३, विक्रम संवत २०१३

❋ श्रीवर्धमान-जिन-स्तोत्रम् ❋

जनन जलधि-संकुदुःख-विध्वंसहेतुर्निहित-मकरकेतुर्मारितानङ्गसेतुः ।
जर-जनन-समस्तो नष्ट-निःशेष-धातुर्जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥१॥

शम-दम-यमकर्त्ता सार-संसार-हर्त्ता, सकल-भुवनभर्त्ता भूरि कल्याण-कर्त्ता ।
परम-सुख समर्ता सर्व-सन्देह-हर्ता जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥२॥

कुगति-पथ-विनेता मोक्षमार्गस्य नेता, प्रकृति-गमन-हन्ता तत्त्व-सन्तान-सन्ता ।
गगन-गमन गन्ता मोक्ष-रामा-रमन्ता, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥३॥

सजल-जल-निनादो निर्जिताशेषवादो, नरपति-नुत-पादो यस्तु तत्त्वं जगाद ।
जयभुवकृतपादोऽनेक-क्रोधाग्नि-कंदो, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥४॥

प्रबल-बल-करालो मुक्ति-कान्ता-रसालो, विमल-गुण-विशालो नीति कल्लोल-मालः ।
समवशरण-लीलो धारितानन्त-शीलो, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥५॥

विषय-विष-विनाशो भूरि-भाषा निवासो, हत-भव-भय-पाशः कीर्ति-वल्ली-निवासः ।
शरण सुख-निवासो वर्त्त संपूरिताशो, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥६॥

मद-मदन-विहारी चारु-चारित्र-धारी नरकगति-निवारी मोक्षमार्ग-प्रसारी ।
नृ सुर-नयनहारी केवलज्ञान-धारी, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥७॥

वचन रचन-धीरः पाप-धूली-समीरः, कनक-निकर-गौरः क्रूर-कर्मारि-शूरः ।
कलुष-दहन नीरः पालितानन्तवीरो, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥८॥

(पंचायती मन्दिर, दिल्लीके भण्डारसे प्राप्त)

श्रीपार्श्वनाथ-स्तोत्रम्

(धर्मघोष-विरचितम्)

कस्तूरी-तिलकं भुवः परिभवत्राणैककल्पद्रुमः,
श्रेयस्कन्द-नवाम्बुदस्त्रिजगती-वैडूर्य रत्नाङ्गदः।
विघ्नाम्भोज-मतंगजः कुवलयोत्तंसः स्ववशश्रियो
नेत्राणाममृताञ्जनं विजयते श्रीपार्श्वनाथप्रभुः ॥१॥

उत्सर्प्पन्नयमङ्गलैकनिलय त्रैलोक्यदत्ताभय,
प्रध्वस्तामय विश्वविश्रुतदय स्याद्वादविद्यालय।
उद्दामातिशय प्रसिद्धसमय प्रक्षीणकर्मोच्चय,
प्रोन्मुक्तस्मय भव्यकैरववनी-चन्द्रोदय त्वं जय ॥२॥

ये मूर्ति तव पश्यतः शुभमयीं ते लोचने लोचने,
या ते वक्ति गुणावलीं निरुपमां सा भारती भारती।
या ते न्यञ्चति पादयोर्वरदयो. सा कन्धरा कन्धरा,
यत्ते ध्यायति नाघवृत्तमनघं तन्मानसं मानसम् ॥३॥

किं स्नात्रैरलसंगरागविधिभिः कार्यं किमभ्यर्च्चनैः,
पर्याप्तं स्तुतिभिः कृतं प्रणतिभिः पूर्णं कलोद्गीतिभिः।
वक्त्रेन्दौ तव चेच्चकोरयुवतिप्रीतिं दृशो बिभ्रति,
स्वान्तं चेत्तव पाद-पङ्कजयुगे धत्तेऽलिलीलायतम ॥४॥

कान्तिः कापि कपोलयोर्विमलयोः श्री कापि सौम्ये मुखे
छाया कापि विशालयोर्नयनयो र्भा कापि कण्ठे घने।
शोभा काप्युरसि स्थिरे सरलयोर्बाह्वो. किमप्यूर्जितं
त्रैलोक्यैकशरण्ययोश्चरणयोस्ते देव किं ब्रूमहे ॥५॥

किं पीयूषमयी किमुन्नतिमयी कि कल्पवल्लीमयी,
किं वाऽऽनन्दमयी सुधारसमयी किं विश्वमैत्रीमयी,
कि वात्सल्यमयी किमुत्सवमयी किं लब्धिलक्ष्मीमयी,
दृष्ट्वेत्थं विमृशन्ति ते सुकृतिनो मूर्ति जगत्पावनीम्।६।

स्वामिन ! दुर्जय-मोहराज-विजय-प्रावीण्यभाजस्तव,
स्तोत्रं कि कमठोरुदर्पदलने श्रीपार्श्व ! विश्वप्रभो !
तिग्मांशोर्यदि वा स्फुरद्-ग्रहमह-सन्दोह-रोहद्रुहः,
खद्योतद्युति-संहति-स्तुतिपदे वर्तेत कि कोविदः ॥७॥

सश्रीकात्तव वक्त्रदुग्धजलधेरुद्भूतमित्यद्भुतं,
मोहोच्छेदक-तत्त्वसप्त हवचः पीयूषमित्याद्दतः।
विश्वेभ्य. फणिभृद्भिर्भोर्मणिघृणिव्याजात्प्रफुल्लत्फणा-
पात्रीभिः पृथुभिर्विभाति परितः स्वामिन प्रयच्छन्निव।

किं मंत्रैर्मणिभिः किमौषधगणैः किं किं रस-स्फातिभिः,
कि वा सवननैः किमंजनवरैः किं देवताऽऽराधनैः।
जन्तूनामिह पार्श्वनाथ इति चेन्नित्यं मनोमन्दिरे,
कल्याणी चतुरक्षरी निवसति श्रीः सिद्धविद्याद्भुता।६।

भास्वन्त परमेष्ठिनं स्मरपरिपुं बुद्धं जिनं स्वामिनं,
क्षेत्रज्ञं पुरुषोत्तमं गणविभुं सौम्यं कला-शालिनम्।
योगीन्द्रं विबुधाधिपं फणपति-श्रीद गिरामीश्वरं
ज्योतीरूपमनन्तमुत्तमधियस्त्वामेव संविद्रते ॥१०॥

रूपादौ विषये विदन्विगुणतां त्वं न्यायविद्यागुरु-
र्ब्रह्माद्वैतमुदाहरन्किल भवान् मीमांसकग्रामणीः।
भावानां परिभावयन क्षणिकतां बुद्धाधिपस्त्वं विद-
स्त्वं कर्मप्रकृतीः पृथक् पुरुषतः कैवल्यमाशिश्रियः।११।

त्वं कारुण्यनिधिस्त्वमेव जनकस्त्व बान्धवस्त्वं विभु-
स्त्वं शास्ता त्वमचिन्त्यचिन्तितमणिस्त्वं देवता त्वं गुरुः
त्वं प्रत्यूहनिवारकस्त्वमगदंकारस्त्वमालम्बनं,
तत्कि दुःखमपेक्षसे जिनपति श्रद्धालुमेनं जनम् ॥१२॥

शिष्यस्ते तव सेवकस्तव विभो ! प्रेष्यो भुजिष्यस्तव,
द्वाःस्थस्ते तव मागधस्तव शिशुस्ते देव ! गोस्नातिक.।
भक्तिः पार्श्वजिनेश ! ते तनु तवायत्तोऽस्मि मामादिश,
स्वामिन् ! किं करवाणि पाणियुगलीमायोज्य विज्ञापये॥

स्वःश्रीरिच्छति चक्रवर्तिकमलाऽभ्येति स्थिति. सेवते,
कीर्त्तिश्लिष्यति संस्तुते शुभगता प्रीणाति नीरोगता।
नित्यं वाञ्छति खेचरत्वपदवी तीर्थेशलक्ष्मीरपि
त्वपादाब्जरजः पवित्रिततनुः सप्रश्रयं वीक्ष्यते ॥१४।

नो कीर्तिस्त्रिदिवाधिपत्यमपि नो नो चक्रवर्तिश्रियं,
सौन्दर्यं न न पाटवं न विभवो नो विष्टपप्राभवम्।
नो सर्वौषधिमुख्यलब्धिनिवह नो मुक्तिमभ्यर्थये,
किन्तु त्वच्चरणारविन्दयुगले भक्तिं जिन स्थेयसीम् ॥१५

इत्थं भूमिभृदश्वसेनतनय ! श्रीपार्श्व ! विश्वप्रभो !
श्रीवामाऽऽत्मज सुप्रवर्तितनय श्रीधर्मघोषस्तुत !
ये कुर्वन्ति तव स्तवं नव-नवं प्रीत्युल्लसन्मानसा-
स्तेभ्यस्त्वं नतवत्सलो निजपदं दद्यात्त्रिलोकीविभो।१६

(बड़ा धड़ाके पंचायती भण्डार अजमेरसे प्राप्त)

श्रमणगिरि चलें

(तमिल लेखक जीवबन्धु टी. एस, श्रीपाल। अनुवादक–पी. वी. वासवदत्ता जैन न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न)

श्रमण कौन हैं—

'श्रमण' शब्दका प्राकृत रूप 'समण' है। 'सम' शब्दके संस्कृतमें तीन रूप होते हैं—सम, शम और श्रम। जो सब जीवोंपर समता-भाव रखे, अपने क्रोधादि कषायोंका शमन करे और अपनी आत्म साधनाके लिये अहर्निश श्रम करे, उसे 'समण' या 'श्रमण' कहते हैं।

ये श्रमण या जैन साधु सुख-दुख, मित्र-शत्रु, प्रशंसा-बुराई इन सबोंमें समताभाव रखने वाले, प्रेम दया और नम्रताके अवतार, दुनियांमें सत्कार्योंको करनेके लिये अपने सुखको त्याग करने वाले, पांचों इन्द्रियोंको वशमें करने वाले तथा 'मैं' और 'यह मेरा' इस प्रकारके भेदसे रहित होकर अपने ऊपर आने वाले सब कष्टोंका सामना करने वाले होते हैं। कोई भी श्रमण किसी भी कारणसे कभी किसी जीवकी बुराई मन-वचन-कायसे नहीं सोचता। ये श्रमण अंतरग और बहिरंग दोनोंसे परिशुद्ध होकर उपवासों आदिके द्वारा अपने चारित्रकी वृद्धि करते रहने और आत्माके साथ संबन्ध रखने वाले शरीरको भी तुच्छ समझ कठिन तपश्चरण करते रहते है। इस प्रकार यह श्रमण शब्द अनेकार्थ वाला है। इस प्रकारके श्रमणोंको ही तमिल भाषामें 'तुरवोर' कहकर पुकारते हैं। इसलिये 'श्रमण' और 'तुरवोर' ये दोनों भाषाकी भिन्नताके कारण ही पृथक् पृथक् शब्द है पर दोनों एक ही अर्थको बताने वाले हैं। ये शब्द किसी एक समयसे या मतसे सम्बन्धित नहीं हैं, बल्कि त्यागकी महत्ताको बताने वाले हैं।

आदिकालमें यतिधर्म और गृहस्थधर्मको बताने वाले भगवान् ऋषभदेव थे। वे हम लोगोंके समान माता-पितासे ही पैदा होकर जनताके बीच रहने वाले थे। अहिंसाधर्मके आदि जनक थे। अकारादि अक्षरों एवं एक-दो-तीन आदि अंकोंको बताने वाले प्रथम विद्या गुरु थे। असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या आदि षट्कर्मोंको सिखलाकर जीवन-यापनका मार्ग बताने वाले आदि विधाता थे। जनताको अच्छे मार्ग पर लगाने वाले गृहस्थधर्म और यतिधर्म इन दोनोंको बताने वाले आदि धर्म-प्रवर्तक थे। आवश्यकतासे अधिक पदार्थोंकी इच्छा और संग्रह करना, पांचों पापोंमें सबसे बड़ा पाप बताकर परिमित परिग्रह व्रतको उपदेश देनेवाले आप ही सर्वप्रथम थे। कर्म-जनित भेदके सिवाय सभी लोगोंकी उत्पत्ति एक सी है ऐसा बताने वाले आप साम्यभावके एक महान् प्रचारक थे। भारतीय साहित्यमें आपकी प्रशंसा एक बहुत बड़े योगीश्वरके रूपमें की गई है। आपके द्वारा कही गयी वाणी ही दुनियांकी भाषाओंमें सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इस सत्यको सिद्ध करनेके लिये तोलकाप्पयम् नामक तमिलग्रंथके रचयिताने निम्नप्रकार कहा है—

विनैयिन नीङ्गि विलङ्गिय अरिविन।
मुनैवन कण्डदु मुदल नूलागुम॥

भावार्थः—कर्मोसे रहित होकर केवल-ज्ञानको प्राप्त मुनिके द्वारा बताया गया धर्म ही पहला ग्रन्थ है।

इसी बातको और भी दृढ़ करनेके लिये तिरुक्कुरलके रचयिता कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

'अगरमुदलयेलुत्तेल्लाम आदि भगवन मुदट्रे उलगु'

भावार्थः—अकारादि अक्षरोंको सबसे पहले दुनियांको बताने वाले आदि भगवान् ऋषभदेव थे।

और भीः—

'आदिवेदम पयन्दोय नी'

ऐसा जीवकचिन्तामणि नामक तमिल काव्यमें कहा गया है। इसलिये भगवान् ऋषभदेवके द्वारा बताये गये मुनिमार्गका पालन करने वालेको ही सच्चे तपस्वीके नामसे स्वीकार किया है। इस प्रकारके मुनियोंकी ही संस्कृतमें 'श्रमण' और तमिलमें 'तुरवोर' के नामसे प्रशंसा की जाती है।

मुनि—

ज्ञानवान्, चारित्रवान् और कठिन तपस्या करने वाले मुनि भारतवर्षमें सर्वत्र फैले हुए थे, विशेषकर तमिलदेश में। ये तमिलदेशके मुनि भगवान् ऋषभदेवके द्वारा बताये गये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंको प्रधानता देकर बनाये गये तोलकाप्य, तिरुक्कुरल इन दोनों ग्रन्थोंमें बताई गई तपस्याकी विधिको पूर्णरूपेण पालन करने वाले थे। वे अहिंसाके अवतार और आत्मतत्त्व एवं ज्ञानतत्त्वके द्रष्टा थे। वे तर्कशास्त्र, तत्त्ववाद, न्यायवाद, क्रियावाद आदिमें निपुण होते थे। आजकी भौतिकवादी दुनियांके अणुका ज्ञान भी उन्हें था और इस प्रकार वे वैज्ञानिक भी थे। ये लोग भूत भविष्यकी बातोंको भी जानते थे और अपनी आत्माके समान आकाश क्षेत्र आदिकी

महत्ताको अपने ज्ञानसे जानने वाले थे। क्योंकि 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ' अर्थात् जो केवल एक अपने आपको जानता है, वह संसारके सर्व पदार्थोंको जानता है, ऐसा आगम सूत्रमें कहा गया है। उपर्युक्त बातोंको सिद्ध करनेके लिये तिरुक्कुरलमें भी ऐसा ही कहा गया है—

'सुवै ओलि, ऊरू, ओसै, नाटट्रम, एन्ड्रैन्दिन वगैतेरिवान कट्रे उलगु।

भावार्थः—पंचभूतोंके तत्त्वोंको अच्छी तरह जानने वालेको ही इस दुनियांके विषय अच्छी तरह मालूम हैं।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयको धारण करने वाले ये श्रमण तमिल देशके पर्वतों, गुफाओं, ग्रामों, मठोंमें रहकर संस्थाओं और धर्म-स्थानोंकी स्थापना कर जनताके चारित्रकी शुद्धिके लिये शिक्षा और दीक्षा देते हुये जनतामें धर्म और ज्ञानकी वृद्धि करते रहते थे। इन महामुनियोंके द्वारा स्थापित किये गये संघोंमें मूलसंघ, सेनसंघ, पुन्नाटसंघ, वीरसंघ, सिंहसंघ, नन्दिसंघ, मुनिसंघ, द्रविड़संघ और अरुगलान्वयम् के जैसे कई संघ तमिल देशके इतिहासमें प्रथम स्थान पाये हुए हैं। इन श्रमण-मुनियोंने शाम और सुबह विद्याको ही लक्ष्मी-स्वरूप समझ भिन्न भिन्न कालोंमें काव्य, नीतिशास्त्र, खगोलशास्त्र, जीवनशास्त्र, राजनैतिकशास्त्र, लौकिकग्रन्थ, व्याकरण, साहित्य, गणितशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, वैद्यशास्त्र आदि अगणित ग्रन्थ रचे हैं। ये सभी ग्रन्थ 'सर्वजनहिताय' अर्थात् संसारके मानवमात्रके हितार्थ ही रचे गये हैं। ये महामुनि आदि भगवान् ऋषभदेवके द्वारा कहे गये धर्ममार्ग पर चलने वाले थे, इसलिये इन ग्रन्थोंमें किसी एक समयको लेकर या किसी एक मतको लेकर नहीं कहा गया है। इसीको और भी स्पष्ट करनेके लिये पुरणानूरमें कहा गया है।

'यादुम ऊरे यावरुम केलिर'

अर्थात्—दुनियाके सब लोग आपसमें भाई-भाई है। ऐसा सतधर्म समत्वरूपसे कहा गया है।

भगवान ऋषभदेवके द्वारा कहा गया धर्म दुनियांके सभी प्राणियोंके लिये है। इसी सत्यको कलिंगत्तु भरणीके रचयिता कविचक्रवर्ती जयकोण्डारकी रचनाओंसे भी जान सकते हैं।

'उलगुक्कु उरै सेय' (Universal) अर्थात् ऋषभदेवका उपदेश मनुष्यको 'विश्वजनीन' था अर्थात्, उन्होने सारी दुनियांकी भलाई करनेके लिये कहा है।

इसलिये विद्वत्समाज तोलकाप्यम्, तिरुक्कुरल, सिलप्पधिकार, जीवकचिन्तामणि, वलैयापति, सूलामणि, नालडियार, पलमोलिनानूरु, एलादि, अरनेरिचारम, यशोधर काव्यके जैसे कई ग्रन्थोंको सार्वजनिक ग्रन्थ मानकर ही प्रशंसा करता है। तमिल भाषाको प्राचीनता और गौरवता प्रदान करने वाले उपर्युक्त संघोंमें निवास करने वाले महामुनि लोग ही थे। उन महामुनियोंमें आदि अगत्तियर, तोलकाप्यके रचयिता अविनयनार, तिरुक्कुरल काव्यके रचयिता कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, जिनसेनाचार्य, अकलंकदेव, कोंगुवेलिर, तिरुतक्कदेव, तोलामोलिदेवर, वज्रनंदि, भवनन्दि, अमृतसागर, गुणसागर, जयकोण्डार आकाशगामी मुनि आदि मुख्य है। तमिल, प्राकृत और संस्कृतभाषा तथा और भी कई भाषाओंमें पांडित्य प्राप्त किये इन तमिल मुनियोंके जीवनचरित्रके बारेमें नहीं जाना जा सका। जैसे तिरुक्कुरलके रचयिताके जीवन चरित्रको नहीं जान सके, वैसे ही कई आचार्योके जीवनके बारेमें नही जान सके हैं। निःस्वार्थी तपस्वियोंके द्वारा रचे गये ग्रन्थोंमें अपने बारेमें या अपने जीवनचरित्रके बारेमें कहीं भी कुछ लिखा नहीं मिलता। जनताकी भलाई, चारित्र-वृद्धि और ज्ञानके प्रचारके सिवाय उन्होंने अपना परिचय देनेकी इच्छा नहीं की। यह उनके निःस्वार्थताकी चरम सीमा है। यही तपका महत्त्व है और उनकी महिमाका द्योतक है।

भगवान ऋषभदेवके द्वारा बताये गये गृहस्थधर्म और यतिधर्मको ही श्रावक और श्रमण धर्मके नामसे पुकारते हैं। श्रावकका अर्थ गृहस्थधर्मको पालन करने वाले और श्रमणका अर्थ मुनिधर्मका पूर्ण पालन करने वाले होता है। ये पूर्ण ज्ञानी तमिल देशभरमें फैले रहने पर भी अधिकतर पाण्ड्यदेशमें थे। इन त्यागियोंकी 'मदुरै कांची' के रचयिता 'मांगुडीमरुदनार' ने इस प्रकार प्रशंसा की है:—

वण्डु पडप्पतुनिय तेनार तोट्ट त्तु
पूवुम पुगैयुम् शावगर पलिच्च
चेन्ड्र कालमुम वरू उ ममयमुम,
इन्ड्रिवट् तोण्ड्रिय ओलुक्कमोडु नन्गुणन्दु
वाणमु निलनुम् तामुलु तुणरुम
चाण्ड्र कोल्गै च्चाया याक्कै
आण्ट्रडः करिन्डार चरिन्दनर नोनमार
कलपोलिन् तन्न विट्टु वायक्करण्डे
पलपुरिच्चिमिलि नाट्टि, नल्गुवर

कथंकरडन्न वयंकुडै नगरत्त
चेम्पियन ट्रन्न चेंचुग्रर पुनैन्दु
नोक्कु विसै तविर्प्प मेक्कुयरन्दोङ्गि
इरुमपूदू चान्ड़ नरुमपूंज सेक्कैयुम्
कुन्ड़ पल कुलीइप् पोलिवन तोन्ड़
अरुचमु मवलमु मार्वमु नीक्की
चेट्रमु उवगयुम् सैय्यादु कात्तु
ञमनको ल न चेन्मैत्तागच्
सिरन्द कोल्गै यरंग् रवैयमुम ।

इसका संक्षेपमें अर्थ इस प्रकार है:—

इच्छासे रहित होकर भूत, वर्तमान, भविष्य, इन तीनों कालोंके पदार्थोंको अपने ज्ञानके द्वारा जाननेवाले ऐसे श्रमण श्रावक लोगोंके द्वारा पुष्प, धूप आदिके द्वारा पूजनीय हैं। यह 'मदुरै कांची' ईसा पूर्व तमिल देशमें रचा गया प्राचीन ग्रन्थ है।

स्त्रियोंके सर्वोत्कृष्ट व्रतोंको धारण करने वाली क्षुल्लिकाएं और आर्यिकाएं भी धर्मका प्रचार करती आ रहीं थीं। तमिल वर्णनात्मक साहित्य सिलप्पाधिकारके रचयिता इलंगकोवडियल कऊंदीयडिगल नामक आर्यिकाके मुखसे मदुरैमूदूरमें जो अरहन्त भगवानके मन्दिर एवं वहांके मुनियोंका परिचय देनेवाले सुन्दर खण्ड हैं उनका अवलोकन करना चाहिए।

दो हजार वर्ष पहलेकी बात है, तमिलदेशके 'कावेरी पूम्पट्टिणं नामके नगरमें कोवलन नामका एक धनाढ्य श्रेष्ठि-पुत्र रहता था। वह बचपनसे ही वेश्यागामी हो गया था और विवाह हो जानेके बाद अत्यन्त रूपवती सुन्दरी साध्वी स्त्रीके मिल जाने पर भी वह अपनी बुरी आदत नहीं छोड़ सका। माधवी नामक एक वेश्याके चंगुलमें तो यह ऐसा फंसा कि उसने इस श्रेष्ठि-पुत्रका सर्वस्व ही हर लिया और उसे दरिद्र बना दिया। कोवलनको इस दशामें देख उसकी पति-परायणा धर्मपत्नी कण्णगि' ने अपनी पायल पतिको देकर कहा कि इसे बेच करके व्यापार कर सबका जीवन-निर्वाह कीजिये पर उसने स्त्रीधनको लेना और उसे बेचकरके जीवन निर्वाह करना ठीक नहीं समझा और सुदूर देशमें जाकर रहनेका निश्चय किया और अपना अभिप्राय पत्नीसे कहा। बहुत कुछ वाद-विवादके पश्चात् वह भी साथमें चलनेको तैयार हो गई।

उस समय अन्धकारका साम्राज्य चारों ओर फैला हुआ था। इस भयंकर समयमें श्रेष्ठि-पुत्र कोवलन और उसकी पत्नी कण्णगि अपने घरको छोड़ रहे हैं। दैव उनको आगे बढ़नेके लिये बाध्य कर रहा है। बेचारा कोवलन सुकोमलांगी पत्नीको लेकर आगे चलनेके लिये तैयार हो चुका है। मदुरा पास है क्या? तीन सौ मील चलना है। बेचारी कण्णगि पतिके कहते ही रवाना होनेके लिये तैयार हो गई। कई वर्ष माधवी वेश्याके वशमें आ पति अपनेको भूले हुए थे, इसका उसे तनिक भी विषाद न था। कण्णगि प्रसन्नताके साथ पतिका अनुगमन करने लगी। प्रभात होनेके पहले-पहले कावेरीपूम्पट्टिणंसे कई मील दूर पहुँच जानेका उन्होंने निश्चय कर लिया था, इसलिए तेजीसे चले जा रहे थे। मार्गमें अरहन्तोंके मन्दिर, बुद्धमन्दिर, वैष्णवोंके मन्दिर आदि दिखलाई पड़ते हैं। अपनी जल्दीकी यात्राकी भी परवाह न कर मार्गमें आये अरहन्त भगवानके मन्दिरोंमें प्रवेश कर दर्शन करते थे। कावेरी नदीसे दस मील दूर पर एक वनमें आ पहुँचे। वहां पर तपारूढ़ एक आर्यिकाको देख दोनोंने नम्रतापूर्वक वंदना की। कऊन्दीयडिगल नामक आर्यिकाने उन दोनोंको ध्यानसे देखा। भक्ति और नम्रताके साथ वन्दना करनेसे वे श्रावक जैसे प्रतीत हुए। आश्रयरहित दोनोंको अकेले ही आया देखकर 'इसमें कोई कारण अवश्य है' ऐसा उन्होंने मनमें सोचा। उनका हृदय दयासे भर आया, क्योंकि तपश्चरणकी महिमा अद्भुत होती है। दयासे परिपूरित होकर महान् तपस्विनी उनके साथ प्रेमभावसे बातचीत करती हैं:—

उरुवुंग कुलनुम उयरवे ओलुक्कमुम
पेरुमगन तिरुमोली पिरला नोन्बुम
उडैवीर एन्नो उरुगणालरिर
कडैकोलन निगणम करुदिय वारू॥

अरहन्त भगवानके कहे मार्ग पर चलने वाले इस प्रकार निःसहाय इस निर्जन वनमें अनेक कठिनाइयों को झेलकर आनेका क्या कारण है? आर्यिकाके पुनीत वचनामृतको सुनकर अपनी दशाको प्रकट किये बिना ही कोवलन बोले— श्रीतपस्विनीजी, मैं व्यापारके लिये मदुरा जा रहा हूँ। तब आर्यिकाने कहा, आपके जानेके मार्गमें घने जंगल हैं। मार्ग ककड़-पत्थरोंसे भरा हुआ है। आपकी पत्नीके कोमल चरण इस कंकरीले रास्ते पर चलनेके लिये समर्थ नहीं हैं। मार्गमें अनेक कठिनाइयां भी आ सकती हैं। आप लोगोंको लौट जानेके लिये कहें, तब भी नहीं लौटेंगे, ऐसा विदित होता

है। फिर भी इस हालतमें एक बात कहना चाहती हूँ। दक्षिण तमिल देशमें मदुरैमूदूर मुनियोंका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। वहां अनेक तपस्वी ज्ञानी महामुनि रहते हैं। उन मुनियोंके पुण्यवचनामृतको सुनना और वहां निर्मापित अरहंत देवोंके दर्शन मैं भी करना चाहती हूँ इसलिये मैं आपके साथ चलूंगी।

मरवुरै नीत्त मासरु केलवियर
अरउरै केट्टांगु अरिविनै येत्त
तेननमिल नन्नाट्टु तीदुतीर मदुरैक्कु
ओरिड्य दुल्लम उडैयेन ॥

इन वचनोंको सुनकर कोवलनको अत्यन्त आनन्दका अनुभव हुआ। पुनः एक बार भक्तिके साथ नतमस्तक हो बोले—स्वामिनी! आपकी दया हमपर हो, तो हमारे कष्ट सब हवाके समान दूर हो जायेंगे। फिर मार्गकी कठिनाइयां तो चीज ही क्या हैं, ऐसा कहकर और उनके कमंडलु, पिच्छी और ताडपत्रीय शास्त्र आदि को कंधे पर लटकाकर उन्होंने वहांसे चलना शुरू किया। सब मंत्रोंमें सर्वश्रेष्ठ णमोकार मंत्रका पाठ करते हुए वे आगे बढे। इस प्रकार इलगकोवडिगलने सिलप्पाधिकारमें कहा है। तमिलनाडके प्राचीन मदुरा नगर और उसके आस-पासके हिस्से जैन समयमें बहुत उच्च दशामें थे इस बातको और भी दृढ करनेके लिये सिलप्पाधिकारमें मदुराकांडके प्रारम्भमें ही कहा है :—

तिंगल मूगड्डुकिलय तिरुमुक्कुडै कील
चेंगदिर ञायिट्ट्रु त्ति ओलि सिरन्दु
को डे ताल पिंएड कोलुनिल लिरुन्द
आदियिर एट्रेत्तु अरिवर्गो वगाङ्कि ॥

और भी इलगकोवडिगल पेरुन्तोगै ग्रन्थमें बहुत प्रशंसाके साथ कहा है :—

परंगकुन्ड्रु ओरुवगम पप्पारमपल्ली
अरुगुएड्रम पेरान्दे आनै इरुगुएड्रम
एन्ड्रेट्टु वेरपुम एडुनियम्ब वल्लारक्कू
चेएड्टुमो पिरवि तींगु ॥

मदुराके अन्तर्गत त्रिपरंगकुन्ड्रम, ओरुवगम, पप्पारम, शमणपल्ली अरुगुन्ड्रम्, पेरानंदम्, आनमलै अलगरमलै ये आठ पहाड मुनियोंके निवासस्थान एवं अरहंत भगवानके पुण्यस्थान होनेके नाते उन पहाडियोंके दर्शन करनेवाले तथा उनके कहे मार्ग पर चलने वालेका जन्म-मरणका झंझट ही छूट जाता है, ऐसा कहा गया है।

चीनी यात्री

अभी तक जो कुछ कहा गया, उसे सत्यसिद्ध करनेके लिये चीनी यात्री ह्वेनसांगका भारतयात्रा-विवरण बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। वह हमारे देशमें सातवीं शताब्दीके मध्यमें आया था और उसने मदुरा कांचीपुरम् आदि नगरोंका भी भ्रमण किया था। उसने अपने भारत यात्रा-वर्णनके सिलसिलेमें यह भी लिखा है कि उस समय मदुरा और कांचीमें जैनधर्म बहुत उन्नत दशामें था।

अरवोर पल्लीगल (मुनियोंके निवासस्थान

इस प्रकार प्राचीन साहित्य, चरित्र और शिलालेखोंके सत्यको सिद्ध करनेके लिये मदुरा और उसके आसपास तीर्थंकरोंकी मूर्तियां, जिनमंदिर, पर्वत, गुफा, शिलालेख, चित्रकला, मुनियोंके निवासस्थान आज भी जैन के तेम प्राचीन जैन गौरवगाथाकी याद दिलाते हैं। पेरुन्तोगै ग्रन्थमें बताये गये आठ पहाडोंके साथ साथ वृषभरमलै, पशुमलै श्रमणमलै आदि पहाड चरित्र-चिन्हस्वरूप भगवानकी मूर्तियोंको लिये उन्नत मस्तक होकर विद्यमान हैं।

इन सबको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तमिल देश और जैनकाल इन दोनोंको पृथक्-पृथक् नहीं कर सकते हैं। जैन कालके इतिहासकी खोज करनेके लिये तमिलदेशसे ही प्रारम्भ करना चाहिये। पुदुकोट्टै रियासतके शिलालेखोंमें ई० पू० ३०० वर्षके उत्कीर्ण ब्राह्मी शिलालेखमें कुछ उल्लेखनीय प्रमाण मिले हैं। यह शिलालेख ही अभी तक प्राप्त हुए शिलालेखोंमें सबसे प्राचीन है, ऐसा शिलालेख-आविष्कारकोंका अभिमत है। इस प्रकार बीसों शिलालेख तमिलनाडमें मिले हैं। इसलिये जैन कालके इतिहासको जाननेके लिये तमिलनाड अर्थात् तमिल देशसे ही शुरु करना होगा। इस विषयमें वाद-विवाद या विचारोंमें भिन्नता होनेकी बात ही नहीं है और पहले अगत्तियरके चरित्रको खोजकर देखें तो कृष्ण भगवानके समयसे पहले ही जैनधर्म बहुत अच्छी दशामें था। पहले अगत्तियर कृष्ण भगवानकी आज्ञासे करीब अठारह परिवारोंके साथ तमिलदेशमें आकर बसे। इस बातके उल्लेखसे भी जैनकाल बहुत प्राचीन समयसे चला आ रहा है यह स्पष्ट हो जाता है। अतः चन्द्रगुप्त महाराजके कालमें भद्रबाहु स्वामीके दक्षिण भारतमें आनेसे ही यहां जैनधर्मका प्रारम्भ हुआ है ऐसा कहना बड़ी भूल है। पहले अगत्तियरके समयसे पहले ही जैनधर्म उन्नत दशामें था यही सत्य मालूम होता है। इसीको दृढ करनेके

लिये तिरुकलंबकके निम्नलिखित श्लोक ही सन्देह निवृत्तिके लिए पर्याप्त है :—

मयिलापुरी निन्ड्रवररीयाचनडम परिन
मलर पोंदिलिरुन्दव रलर पूवीणइन्दव
रयिलार विलिमेन कोडि मिडंदीपे नयन्दव
अमरापति इन्द्रणाणि याइलु कन्दवर
कयिलाय मेनुन्दिरु मलैमेलुगे किन्ड्रवर
गणनायकर चेन्ड्रमिल मलैनायकर चेम्पोनि
नेयिलारिल कुञ्चिन गिरियालववर चम्पैय
रेनैयाल निनेन्दुकाल विनैये नुलममन्ददे

इस स्तोत्रमें दक्षिणपर्वतनायक पोदिगैपर्वतमें नेमिनाथ भगवान् को तिरुकलंबकके आचार्यने नमस्कार किया, ऐसा बताया है। भगवान् नेमिनाथ कृष्णके चचेरे भाई थे। कृष्णसे छोटे होने पर भी दोनों समकालीन थे। भगवान् नेमिनाथ और श्रीकृष्ण इन दोनों का जीवन-चरित्र हरिवंशपुराणमें विस्तार-पूर्वक दिया हुआ है। बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथने वृषभदेवके द्वारा कहे गये धर्म-मार्गका अनुष्ठान कर कठिन तपश्चरणके द्वारा मोक्ष-रूपी लक्ष्मीको प्राप्त किया था। इनका काल भी पहले अगत्तियरका काल ही होगा और पहले अगत्तियरको भगवान् नेमिनाथके धर्मोपदेश सुनने का अवसर मिला होगा। इसलिए अगत्तियरने पोदिगैपर्वतमें निवास करते समय अपने देशमें विद्यमान बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथका चिन्ह बनाया होगा। इसलिए तिरुकलंबकके रचियताने जहां २ भगवान् नेमिनाथके मन्दिर हैं उन मयिलापुर, दीपगुडो, तिरुमलै, चित्तगिरि, चम्पै आदि तीर्थस्थानों का वर्णन करते समय पहले अगत्तियरके द्वारा पूज्य नेमिनाथ भगवान जहां विराजमान है उस पोदिगैपर्वतका जगतको अच्छी तरह बतानेके लिए दक्षिणतमिल पर्वतनायकके नामसे लिखा है।

इन वर्णनोंसे स्पष्ट अवगत होता है कि जैनधम प्रथम अगत्तियरकालसे ही पूरे तमिल देशमें फैला हुआ था। जैन मुनियोंके निवासस्थान, कलाभवन, धर्मभवन आदि बहुसंख्या में थे। उपर्युक्त वर्णनोंसे पांड्यदेश और मदुरैसूदूर में जैनधर्मका अच्छा प्रभाव था यह स्पष्ट ज्ञात होता है। पांड्यदेशकी राजधानी मदुराके चारों ओर जो पहाड़ हैं उनमें जैनमुनियोंका निवास था यह भी ऊपर कहा जा चुका है।

श्रमणगिरि

मानव-सभ्यतामें ज्ञान और चारित्रका बहुत बड़ा महत्त्व है। ये नींव हैं जिसके ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन आभूषणोंसे जनताको अलंकृत करनेवाले मुनियोंके पर्वतोंमें श्रमणगिरिका महत्वपूर्ण स्थान है। श्रमण-का अर्थ—भगवान् वृषभदेवके द्वारा बताये गये मार्गका अनुगमन करनेवाला होता है यह पहले ही बताया जा चुका है। तोलकाप्यम् और तिरुक्कुरलमें भी यही कहा गया है। इन महामुनियोंको ही जनता 'कडवुल' अर्थात् ईश्वरके नामसे पुकारती है। इसप्रकार यहां अनेक तपस्वियोंने धर्मकी वृद्धि की। इसलिए इसगिरिका नाम 'श्रमणगिरि' पड़ा। यह पर्वत मदुरा के पश्चिममें पांच मील दूर पर 'कंपन' जानेके बस-मार्गमें पुदुकोट्टै नामक एक छोटे गांवके पास है। यह पुण्य पर्वत बहुत प्राचीन कालसे जैन-मुनियोंका निवासस्थान रहा है। पुदुकोट्टै, सित्तन्नवासल आदि स्थानोंमें जिसप्रकार ब्राह्मी लिपिके शिलालेख मिलते हैं उसी प्रकार यहां भी ब्राह्मी लिपिमें उत्कीर्ण शिला-लेख मिलते हैं। इसलिए इस पर्वतका नाम ई. पू. दूसरी या या तीसरी शताब्दी पूर्वसे ही श्रमणगिरि पड़ा होगा, ऐसा शिलालेखके आविष्कारकोंका अभिमत है। उनकाल प्राचीन समयसे ही चले आनेके कारण इस देशके राजाओंने इतने विशाल स्थान पर्वत, गुफाएं और मन्दिर विश्वकला एवं सब विद्याओंमें निपुण जैनमुनियोंको ही सौंप दिये थे और चेर, चोल, पांड्य, पल्लव राजाओंकी परम्पराके इतिहासकी खोज करने वाले ऐतिहासिकोंने भी उपर्युक्त बातकी ही पुष्टि की है। इसलिए पांड्यराजाओंके तीर्थक्षेत्रोंमें श्रमणगिरि भी एक मुख्य क्षेत्र है।

इस गिरिकी बनावट, इससे सम्बन्धित छोटी पहाड़ियां, गुफा, बिस्तर, मूर्ति, शिलालेख आदिका विवरण भारतीय शिलालेख अन्वेषणमें निपुण श्री बहादुरचन्द्र छावड़ाके मतानुसार इस प्रकार है—

मदुराके पश्चिममें करीब पांच मीलकी दूरी पर एक साथ अनेक पहाड़ियां मिली हुई सी मालूम पड़ती हैं उसीको श्रमणगिरिके नामसे पुकारते हैं। यह पूर्वसे पश्चिम तक करीब दो मील लम्बा है। पहाड़ियों का दक्षिण-पश्चिमी किनारा कीलकुयिलकुडी के ठीक सामने पड़ता है। उत्तर पश्चिमी किनारा मदुरैतालुकके उत्तर पलनीके एक भागमें मुत्तुपट्टी और आलमपट्टीके नामसे प्रसिद्ध चिट्टूरके पास है।

इन पहाड़ियोंके बीचकी चौड़ाई अधिकसे अधिक दोसे तीन फर्लाङ्ग होगी। पहाड़ियोंके भिन्न-भिन्न भागमें जैन-मूर्तियोंके विद्यमान होने के कारण भी इसको श्रमणगिरि कहते होंगे। क्योंकि तमिल भाषामें जैनोंका श्रमणके नामसे भी वर्णन किया गया है। इस गिरिको अम्मणगिरि भी कहते हैं, किन्तु बोलचालकी भाषमें अम्मणरगिरि के रूपमें परिवर्तन हो गया है।

इन पहाड़ियोंके भिन्न २ भागोंमें प्राप्त शिलालेखोंका वर्णन करनेके लिए हम उन्हें क, ख, ग आदि शीर्षकोंमें उल्लेख करेंगे। उन शिलालेखोंमेंसे एक कन्नड़ भाषामें और शेष तमिल भाषा में हैं।

भाग 'क —'पंचवर पदुक्के' पंच पांडवोंका बिस्तर—आलमपट्टी या मुत्तुपट्टीके पश्चिम कोणमें जो पहाड़ियां हैं उनमें इस भाग 'क' को ही पंचवर पदुक्के कहते हैं। इस भाग क में अनेक बिस्तर चट्टान पर खोदे जानेके कारण इसे पंचवर पदुक्केके नामसे यहांके लोग कहते हैं। ऊपरसे लटकते हुए एक चट्टानके नीचे यह सब बनाया हुआ है। ऊपरकी चट्टानके बाहरकी ओर एक लम्बी गहरी लाइन नालीके आकारकी खोदी गई है जिससे बारिशका पानी गुफाके अन्दर न आ सके। इस चट्टानके ऊपर दो तमिल-शिलालेख (नं० १ और २) ब्राह्मी लिपिमें ईस्वी पूर्वके हैं। गुफाके भीतर बिस्तरोंके निकट आसनके ऊपर एक जिनमूर्ति है। उस मूर्तिके पास एक और ब्राह्मी लिपिमें लिखा हुआ शिलालेख है। उसके अति जीर्ण शीर्ण और घिस जानेसे उसके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात नहीं हो सकता है ऊपर लटकती हुई चट्टानमें दो आले तथा प्रत्येक आलेमें एक एक जिनमूर्ति उत्कीर्ण है। प्रत्येक मूर्तिके नीचे पट्टे लुट्टु अक्षरोंमें प्रायः दशवीं शताब्दीके दो शिलालेख हैं (नं० ३ और ४)। इस क भागमें और कोई शिलालेख नहीं है।

भाग 'ख'—सेट्टिप्पोडअ—यह भाग ख श्रमणगिरिकी पश्चिमी तराई पर अर्थात् दक्षिण-पश्चिमकी ओर है। यह ठीक किलकुयिलकुडी ग्रामकी तरफ है। उसमें एक गुफाके प्रवेश-द्वारमें बाईं ओर विशाल पद्मासन जिन-मूर्ति है। इस मूर्तिके नीचे करीब दशवीं शताब्दीके शिलालेख (नं० ५) है जो गोलाकार अक्षरोंमें खुदे हुए जैसे मालूम पड़ते हैं। गुफाके अन्दर झुके हुए ऊपरी भागमें जो आले हैं उनमें पांच मूर्त्तियां एक ही पत्थरमें उत्कीर्ण हैं। उनमें तीन गोलाकार अक्षरोंमें लिखे शिलालेख हैं (नं० ६-७-८)। पहले प्रस्तरमें एक वीरांगणा सिंहारूढ दाहिने हाथमें बाण और बांये हाथमें धनुष तथा शेष दो हाथोंमें दूसरे युद्ध आयुधोंको लिये हुए है। सिंहकी ओर देखता हुआ एक हाथमें तलवार और दूसरेमें ढाल लिये एक वीर हाथी पर सवार है। इस प्रकारकी चित्रित देवी अम्बिका हो सकती है। इसके बाद दूसरे आसनमें तीन आर्यिकाओंकी मूर्तियां हैं। उनके सिर पर तीन छत्र हैं। अन्तिम आलेमें एक नीचेकी ओर एक पैर लटकाये हुए एक देवीकी मूर्ति है। उसके दाहिने हाथमें कमलकी कली जैसी कोई चीज दिखलाई पड़ती है। जैन स्त्री देवताओंमें पद्मावतीको ही हाथमें कमलकी कली धारण किये हुए बनाया जाता है। इस आसनमें उपर्युक्त चारोंके सिवाय और कोई शिलालेख नहीं है।

भाग 'ग' पेच्चीप्पल्लम्—यह भाग श्रमणगिरिके पूर्व ढालूके दक्षिण कोणमें जो सेट्टिपोडऊ है उसके पास अवस्थित है पेच्चीप्पल्लमूके नामसे कहा जाता है। यह भाग पहाड़के कुछ ऊपरी भागमें लाइनसे जैन तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंसे सहित एक चट्टानके सामने समतल भूमिमें है। उन जैन मूर्तियोंमें पांच मूर्तियां सुपार्श्वनाथकी हैं। इन जैन मूर्तियोंके नीचे छः गोलाकार अक्षरोंके शिलालेख (नं० ६, १०, ११, १२, १३, १४) हैं।

इन चट्टानोंके सामने और एक शिलालेख (नं १५) गोल अक्षरोंमें लिखा मिला है। इनमें कुछ शिलालेख ईसाकी आठवीं या नौवीं शताब्दीके और शेष सब नौवीं या दशवीं शताब्दीके अनुमानित किये गये हैं।

भाग 'घ —पर्वतके भाग 'ग' से कुछ और ऊपर जाने पर भाग 'घ' पर पहुँचते हैं। यहां एक मन्दिरके भग्नावशेष है जिसका केवल पीठ भाग ही शेष रह गया है। उस भागके नीचे दशवीं शताब्दीका एक अपूर्ण शिलालेख मिला है (नं० १६)।

भाग 'ङ'—पहाडके और ऊपर जाने पर चोटीके नजदीक एक दीप-स्तम्भ है। इसके कुछ दूर समतलमें चट्टानके ऊपर और एक शिलालेख (नं० १७) है। इसमें जो कुछ भी लिखा है वह सब कन्नडमें है। केवल एक लाइन तमिलमें लिखी गई है। देखनेसे उनकी लिपि ११वीं या १२वीं शताब्दीकी मालूम होती है।

वीर शासन संघ, कलकत्ताके सौजन्यसे :—

नं० १ श्रमणगिरि पेचिप्पल्लम्—जैन मूर्त्तियां। ३

४

नं० २ सिट्टिपोडऊ—मुख-द्वारपर
भ० महावीरकी मूर्त्ति।
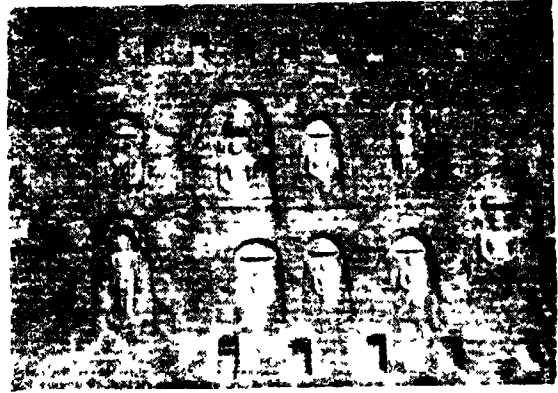
नं० ३-४ उत्तमपालियम् (मदुरा) चट्टान पर उत्कीर्ण
जिन प्रतिमाएँ।

नं० ५ उत्तमपालियम् (मदुरा) चट्टान पर उत्कीर्ण जिन-प्रतिमाएँ।

नं० ६ उत्तमपालियम् (मदुरा) चट्टान पर उत्कीर्ण जिन-प्रतिमाएँ।

नं० ७ सेट्टिपोडऊ — गुफा।

नं० ८ श्रमणगिरि पेचिप्पल्लम्— तीसरी जिन प्रतिमाके नीचेका शिलालेख नं० ११।
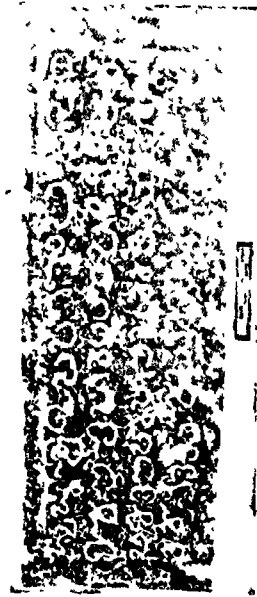
नं० ९ श्रमणगिरि पेचिप्पल्लम्—जिन प्रतिमा के नीचे का शिलालेख नं० १०।

शिलालेखोंका विवरण नीचे दिया जाता है—

नं॰ १ और २ ब्राह्मी लिपिमें

श्रमणगिरिके पश्चिम कोणमें (मुत्तुपट्टी) (क) (आलम-पट्टीके पास) पांडवोंका बिस्तर जिस चट्टानमें है उसका विवरण इस प्रकार है—:

Label—(अ) वि न दै ऊ र
,, —(आ) शै य अ ल न
,, —(इ) का वि य

उसी चट्टानमें जिन प्रतिबिंबके नीचे:—

३ तमिल

१. स्वस्ति श्री [। ॐ] वेनबुनाट्टुकुरण्डि अष्ट उप-
२. वासी वटारर माणाक्कर गुणसेनदेवर गुण-
३. सेनदेवर माणाक्कर कनकवीरप्पेरियडि क-
४. ल नाट्टाह प्पुरत्तु अमृतपराक्किर-
५. म न [l] लूरान कुयिरकुडी ऊरार पेरा
६. ल शेयविच तिरुमेणि [l ॐ] पल्ली
७. चिवत्रिगैयार रत्तै ॥–

अर्थः—स्वस्ति श्री वेणबुनाडु जिलान्तर्गत कुरण्डिके अष्टोपवासी भट्टारकके शिष्य गुणसेनदेवर थे। कनकवीरपेरियडिगल जो गुणसेनदेवके शिष्य थे उन्होंने यह पूज्य प्रतिमा निर्माण कराई। कुयिरकुडी ग्रामके (अपरनाम अमृतपराक्रम नट्टरपुरममें) निवासियोंके लिये। पल्ली शित्रिगैयारके रक्षामें यह रहे।

४ तमिल

उसी चट्टानमें और एक प्रतिमाके नीचे —

१. स्वस्ति श्री [॥ ×] परान्तकपर्वतमायिन ते
२. [न व] हेप्पेरुमपल्लि
३. कुरण्डि अष्ट उपवासी वटार-
४. र माणाक्कर माघनन्दिप्पे-
५. रियार नाट्टरपुरत-
६. तु नाट्टार पेराल शेयविच्
७. च तिरुमेणि ॥। श्री पल्लिच्
८. चिविकैयार रत्तै ॥–

अर्थ -स्वस्ति श्री तेनवट्टै के पेरुमपल्ली अपर नाम परान्तक पर्वतके मठ व मंदिरके माघनन्दिपेरियार जो अष्टोपवासी भट्टारकके शिष्य थे उन्होंने इस पूज्य प्रतिमाको बनवाया नाट्टारुपुरम के निवासियोंके लिये। श्रीपल्ली चिविकैयारकी सुरक्षामें यह रहे।

५ तमिल

श्रमणपर्वतमें कीलकुयिलकुडीके पास सेट्टिप्पोडऊ गुफाके बाहर जो जिनप्रतिबिंब है उसके नीचेके आसनमें इस प्रकार का लेख है—

१. ·······नाट्टुकुरण्डित्तिरुक्काट्टामपल्लि कनकनंदि
२. [पठार] र अभिनन्दनपटारर अवर माणाक्कर अरिमण्डलपठारर अ-
३. अभिनन्दनपठारर शेयवित्त तिरुमेणि ॥।२

अर्थ—·······वेनबुनाडु जिलान्तर्गत कुरण्डिके तिरुक्काट्टाम पल्ली मठके कनकनंदि भट्टारक अभिनंदन भट्टारकके शिष्य अरिमंडल भट्टारक थे। यह पूज्य प्रतिमा अभिनंदन भट्टारकने बनवाई है।

६ तमिल

उपर्युक्त चट्टानमें जैनशिलाके नीचे सेट्टिप्पोडऊ गुफाके ऊपरी भागमें इस प्रकार का लेख है—

१. स्वस्ति श्री [॥×] वेनबुनाट्ट कुरण्डि
२. तिरुक्काट्टाम पल्लिक
३. गुणसेनदेवर माणाक्कर व
४. र्द्धमाणप्पंडितर माणाक्
५. कर गुणसेनप्पेरिय–
६. डिकल शेयवित्त ति–
७. रुमेणि ॥।–

अर्थ—स्वस्ति श्री वेनबुनाडु जिलान्तर्गत कुरण्डिके तिरुक्काट्टामपल्ली मठके गुणसेनदेवके शिष्य वर्द्धमान पंडितके शिष्य गुणसेनपेरियडिगलने यह पूज्य प्रतिमा बनवाई।

७ तमिल

उसी स्थानमें एक और जिनमूर्तिके नीचे एक लेख है—

१. स्वस्ति श्री [॥+] इप्पल्लि उडैय गु-
२. णसेनदेवर सट्टन देव
३. बलदेवन शेयवित्त तिरुमेणि। [।]

अर्थ—स्वस्ति श्रीइप्पल्लीके गुणसेनदेवके प्रधान शिष्य दैवबलदेवने यह पूज्य प्रतिमा बनवायी।

८ तमिल

उसी स्थानमें तीसरी जिनप्रतिबिंबके नीचे इस प्रकारका लेख है—

१. स्वस्ति श्री [॥ ×] इप्पल्लि आल-
२. किय गुणसेनदेवर सट्ट [न]
३. अन्दलैयान कलक्क डि [न] न-त्तै
४. गै अन्दलैयान······(कै) यालि [यै]
५. सार्त्ति शेयवित्त तिरु–

६. मेणि ॥।—

अर्थ स्वस्ति श्री। इस मठके अधिष्ठाता गुणसेनदेवरके प्रधान शिष्य अन्दलैयान। कलकुडीके अन्दलैयानने यह पूज्य प्रतिमा बनवायी······के लिए·······के ······कै यालि (यै)

९ तमिल

श्रमणगिरिमें पेच्चिपल्लमके पर्वतमें जो जिनमूर्ति है उसमें इस प्रकारका लेख है—

१. श्री अच्चनंदि
२. तायार गुणमति
३. यार शेयवित्
४. त तिरुमेणि श्री [॥×]

अर्थः—श्री अच्चनन्दीकी मां गुणमतीके द्वारा बनवायी हुई मूर्ति।

१० तमिल

उसी स्थानमें और एक जिनप्रतिमाके नीचे शिलालेखमें जो समाचार हैं उनका विवरण इस प्रकार है:—

१. स्वस्ति श्री [॥×] इप्पल्लिउडैय गु-
२. णसेनदेवर साट्टन अन्दलैयान
३' मलैतन मनाक्कन अचान श्री पा लनै
४. चमार्त्ति शेयवित्त तिरुमेणि (॥×)

अर्थः—स्वस्ति श्री इस मठके गुणसेनदेवके प्रधान शिष्य अन्दलैयानमलैतनके दामाद (भतीजा) अचान श्रीपालके लिये बनवायी हुई मूर्त्ति।

११ तमिल

उसी स्थानमें तीसरी मूर्तिके नीचे दिखाई देने वाले शिलालेखका विवरण इस प्रकार है:—

१. स्वस्ति श्री [॥ॐ] इप्पल
२. लि उडैय गुणसेनदे—
३. वर सट्टन सिंगडै—
४. प्पुरत्तु कणडन ने (रि)
५. वट्टन शेयवित्त
६. तिरुमेणि श्री [॥×]

अर्थः—स्वस्ति श्री इस मठके गुणसेनदेवके प्रधान शिष्य सिगडैपुरके कण्डननेरि भट्टारकने यह पूज्य प्रतिमा बनवायी।

१२ तमिल

उसी स्थानमें चौथी जिनमूर्तिके नीचेका लेख इस प्रकार है:—

१. श्री [॥] मिललैक् कुर्रत्तु पानि-रिडै
२. यन वेलान सडैवनै च्चार्त्ति
३. इ (न्) ना माणवाड निट्टप्पुनाट्टु ना···
४. [कु] र स (डै) यप्प [न] सेदवित्त दे—
५. वर इ. तनत्तु···ता···तायार [शेय]
६. दवित्त तिरुमेणि [॥+]

अर्थः—इन्न माणव निट्टपूनाडु जिलान्तर्गत नाकूरके सडैयप्पनने यह पूज्य प्रतिमा बनवायी। मिजलै कुरम (प्रांत) के पारूरके इडैयन (ग्वाला) वेलान सडैयनके लिये। यह पूज्य प्रतिमा बनवायी गयी की मां।

१३ तमिल

उसी स्थानमें जिनप्रतिबिंब रहनेकी जगहमें लेख इस प्रकार है—

१. श्री [॥ॐ] वेनवुनाट्ट
२. तिरुक्कुरण्डि
३. पादमूलत्तान
४. अमित्तिन म (रै)-
५. कल कनकन (न् दि शे -
६. विच तिरुमेणि [॥ॐ]

अर्थः—श्री वेनवुनाडु जिलाके तिरुक्कुरण्डिके पादमूलत्तान अमित्तिन मरैकल कनकनंदि-द्वारा पूज्य प्रतिमा बनवायी गयी।

१४ तमिल

उसी चट्टानमें उपर्युक्त विग्रहके पास ही इस प्रकारका लेख है:—

१. स्वस्ति श्री [॥ॐ] इप्प
२. ल्लि उडैय गुण—
३. सेनदेवर सट्टन
४. अरैयनकाविदि [गं]—
५. गरनंबियैच्चा—
६. त्ति शेयविच
७. तिरुमेणि [॥ॐ]

अर्थ—इस पल्लिके गुणसेनदेवरके प्रधान शिष्य अरैयंगाविधि द्वारा बनवायी गयी पूज्य प्रतिमा संघनंदिके लिये।

१५ तमिल

उसी पहाड़में पेच्चिपल्लम जैनशिलाके सामनेकी लाइनमें इस प्रकार लेख अंकित है:—

१. स्वस्ति श्री [॥ॐ] इप्पल्लि···

२.······गुणसेनदेवर माणाक···

३.············क् कर चंद्रप्रभ······

४. ·· ···········

५.······ · ··· ·· ··

६.············त्रित्त··· ·····

अर्थः—स्वस्ति श्री इस पल्लीके गुणसेनदेवके शिष्य ··· ··· ····के शिष्य·········चंद्रप्रभके द्वारा बनवायी गयी (यह पूज्य प्रतिमा)।

१६ तमिल

खंडित मंदिरके नीचेकी लाइनमें उसी पर्वतके पेच्चि-पल्लमके ऊपर इस प्रकार लेख अंकित है:—

१. इव्वांडू इरुट्टयान

२. श्री परम···· ····रिरचै ॥

अर्थः—इस वर्ष······ ·····इरट्टैयान······ ·····श्री परम··········की सुरक्षामें यह रहे।

१७ कन्नड और तमिल

पर्वतके शिखरमें, पत्थरके दीपस्तम्भ पेच्चिपल्लमके ऊपर (वही पहाड)

१. आरिय देवरु

२. आरियदेवर

३. मूलसंघ वेलगुल बालचन्द्र

४. देवरु नेमिदेवरु सू (र्य)

५. प्रता (प) अजितसेन देवरु·············

६. गोवधन देवरु.........

७. र मांड......स (त) रु II

अर्थ—(कन्नड और तमिल)।

आरिय देवरू। आरिय देवर। मूलसंघके बेलगुल बालचन्द्र देवरु—नेमि देवरू सूर्यप्रताप अजितसेन देवरू··· ···सम्पन्न करके स्वर्गवासी हुए।

श्रमणगिरिकी महिमा ही अपूर्व है। इस पर्वतमें अष्टोपवासी गुणसेन देव इनके शिष्य-स्वरूप भक्तके समान प्रकट हुए कनकवीरपेरियडिगल, माघनन्दिप्पेरियार, अभिनन्दन पटारर, वर्द्धमान पण्डित, आचार्यपदको प्राप्त हुए अच्चान श्रीपाल, पांड्य राजाके द्वारा काविधि पदवीको प्राप्त किये अरैयंगाविधि सघनाम्बि, अच्चनन्दि मुनिके जैसे महान् मुनियोंने धर्मको दिन दूना रात चौगुना बढ़ानेका प्रयत्न किया। इन महान् तपस्वियोंके स्मरणार्थ तीर्थंकरोंकी मूर्तियां बनायी गई हैं। इन तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंको देखते ही हमारे हाथ अपने आप जुड़ जाते हैं और शीश झुक जाता है। जिस प्रकार पुदुकोट्टै, सिद्धन्नवासल आदि तमिलदेशके तीर्थस्थान माने जाते हैं उसी प्रकार यह पवित्र पुण्य श्रमणगिरि भी एक तीर्थस्थान है। इसके तीर्थस्थान माने जानेके कारण भी दिखलाई पड़ते हैं उनको देखनेसे स्पष्ट विदित होता है कि इस तमिलनाडमें तमिल विद्वानोंकी, आदर करनेवालोंकी, श्रावकोंकी कमी न थी। तमिलदेशमें रहने वाले जैन अधिकतर पांड्यदेशके रहनेवाले थे ऐसा उपर्युक्त वर्णनोंसे अवगत होता है। इस प्रकार पांड्यदेशमें गृहस्थ-धर्म और मुनिधर्म ये दोनों बहुत अच्छी दशामें थे। ऐसे पांड्यदेशकी जितनी भी प्रशंसा की जाय सब थोड़ी है।

अब महामुनियोंके तपोवन रूप इस पवित्र श्रमणगिरि पर अचानक आई आपत्ति, तथा कांग्रेस सरकारके द्वारा बचाये जानेके वर्णनको पढ़िये।

जीव-कारुण्य-सेवासे संबंधित यात्राके समयमें मुझे कंपम नामक गांव जाना पड़ा। ७ जून १९४९ की बस द्वारा कम्पमको रवाना हुआ। पांच मील चलनेके बाद बस कुछ खराब हो गई, अतः हम सब लोगोंको वहीं उतरना पड़ा और उसके रवाना होनेमें अभी एक घण्टेका विलम्ब था। मैं प्राकृतिक दृश्यों एवं ऐतिहासिक चीजोंके देखनेका बड़ा शौकीन हूँ। इसलिये मैं जहां कहीं भी जाता हूँ वहांके पर्वतों, मन्दिरोंके बारेमें जाननेकी जिज्ञासा रखता हूँ। जहां बस ठहरा था वह पुदुकोट्टै नामक एक छोटा सा गांव था। उस गांवके दक्षिणमें करीब एक फर्लांग पर पूर्व-पश्चिममें एक सुन्दर पर्वत दिखलाई पड़ा। उसको देखकर मैंने एक आदमीसे जो डाब पी रहा था पूछा—इस पर्वतका नाम क्या है? उसने उत्तर दिया—श्रमणरमलै। शमणरमलैके नामसे भी पुकारते हैं। उन दोनों नामोंको सुनकर मैंने अनुमान लगाया कि यह कोई ऐतिहासिक पर्वत होगा। इसलिये इस पुण्यक्षेत्रको देखनेकी जिज्ञासा उत्पन्न हुई। कंपम यात्राको बन्दकर एक मित्रके साथ (शमणरमलै) श्रमणगिरिको तुरन्त रवाना हो गया। पर्वतके नीचेकी तरफ पुराना तालाब और छोटे-छोटे मन्दिर दिखलाई पड़े। उसके बाद पर्वतके ऊपर चढ़ा और वहांसे समतल भूमि पर आ पहुँचा। वहां एक छोटा बड़का वृक्ष है। उसके सामने चट्टान हरे-हरे घने घाससे ढके हुए थे। इतनी विशाल जगहमें किसी भी चीजको न देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, और मुझे अपनी आंखों पर विश्वास न हुआ। अतः मैं चट्टानके

ऊपर गया और एक तरफकी घासको हटाकर देखा । बस उस चट्टानके नीचे कलापूर्ण ढंगसे बनायीं गयीं तीर्थंकरोंकी मूर्तियां दिखलाई पड़ीं । मुझे असीम आनन्दका अनुभव हुआ । श्रमणगिरिके इतिहासको ही मैंने पा लिया, यह सोच-सोचकर मेरा मन फूला न समाया । तुरन्त दोनोंने सब ओरकी घासको हटाकर देखा । संसार-समुद्रसे पार करनेवाले पूज्य तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएँ दिखलाई दीं । आदि-भगवान, महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और गोमट्टेश्वर आदिकी प्रतिमाएँ वहां थीं । वे प्रतिमाएं शांतस्वरूप और जनताको सत् चारित्रका मार्ग बतानेवाली थीं, अहिंसाके अवतार थीं । उन प्रशान्त दिव्य प्रतिमाओंको देखते ही मेरे विचार न जाने कहां-कहां विचरने लगे । प्रतिमाओंको घाससे ढकी रहनेके कारण उनपर काई जम चुकी थी । तमल भाषाकी वृद्धिमें जिनका अधिक हाथ था उन विद्वानोंके रहनेकी जगहमें आज कौआ आदि पक्षी सुखसे रह रहे हैं । दुनियांकी जनताको धर्म-मार्ग बतानेवाले धर्म-चक्रवर्ती तीर्थंकरोंकी प्रतिमाओंको देखते ही अपने आप मेरे कर बद्ध हो गये । चारणमुनि, कऊंदीयडिगल, कोवलन, कणगि आदिके द्वारा प्रशंसा किये जाने वाले सिलप्पधिकारके स्तोत्रोंका स्मरण हो आया । आनन्दाश्रु बहने लगे । उन प्रतिमाओं को पाकर मैं थोड़ी देरके लिए अपने आपको भूल गया ।

इस विशाल जगहमें करीब २०० आदमी बैठकर अच्छी तरह ध्यान कर सकते हैं । इस प्रतिमाके सामने खड़े होकर पूर्व की तरफ दृष्टि दौड़ायें तो हमें मीनाक्षी अमन मन्दिरके पश्चिममें जो शिखर है, दिखाई पड़ता है । इस शिखरसे उस पर्वतको देखें तो ये मूर्तियां एक पंक्तिमें स्थापित दिखलाई पड़ती हैं । इसलिए मन्दिर एवं गिरिका अवश्य कोई सबध होगा, ऐसा अनुमान लगाया जाता है । खड्गासन और पद्मासन प्रतिमाएं बहुत सुन्दर कलापूर्ण ढंगसे बनवायी गयी हैं । इन प्रतिमाओंके आस पास और निचले भागमें गोलाकार अक्षरोंके शिलालेखोंमे इन प्रतिमाओंके निर्माण आदिका विवरण दिया हुआ है ,

इसके अनन्तर मैं शिखर पर गया । वहां एक खंडहर मन्दिरके टुकड़े दिखलाई पड़े । इसलिए नीचे उतरकर दक्षिण भागमें कुछ ध्यानपूर्वक देखना आरम्भ किया । कुछ दूर जानेके अनन्तर एक गुफा मिली, जिसके प्रवेश-द्वारकी चट्टान में करीब चार पांच फीट ऊँची महावीर भगवान्की पवित्र मूर्ति उत्कीर्ण है । उस प्रतिमाकी शिल्पकलाको उसके सस्मित दिव्य आकारको देखनेसे वह जीवित प्रतिमाकी तरह दिखलाई पड़ी ।

उसके बाद मैंने गुफामें प्रवेश किया । वह गुफा एक ही चट्टानसे बनाई हुई है । ऊपरी भाग Dome के जैसे गोलाकार है । उसका आधा भाग टूटकर नीचे गिर गया है। उस गुफाके ऊपरी भाग जो गोलाकार है उसके चारों तरफ तीर्थंकरोंकी पवित्र मूर्तियां उत्कीर्ण हैं । गिरे हुए भागों में भी प्रतिमाएं रही होंगी ऐसा अनुमान होता है । उन चट्टानोंको पलटे बिना उन प्रतिमाओंको देख नहीं सकते हैं । उस गुफाकी चट्टानमें ये शब्द H. K. Poln १८७४ काली स्याही से लिखे हुए हैं । इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि H. K. Poln नामक अंग्रेज विद्वानने १८७४ ई० में इसे देखा होगा ।

इस पर्वतको घूमकर पूरा देखनेसे कुछ बिस्तरों एवं शिलालेखोंके सिवाय और कोई खास चीज दिखलाई नहीं पड़ी । उस पर्वतके पश्चिममें दो फर्लांगकी दूरी पर एक पहाड़ जिसे आज 'पेरुमाल कोइल मलै' के नामसे कहा जाता है —के पास गया । उसके दक्षिण भागमें खुली गुफा दिखलाई पड़ी । इस गुफाके प्रवेशद्वारके ऊपर दो तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएँ हैं, तथा दो शिलालेख भी खुदे हुए है । इस गुफा के ऊपर श्रमण मुनियों की तपस्याके चिन्ह स्वरूप चिकने बिस्तर भी खोदे हुये हैं । उन बिस्तरोंके पासमें एक जैन तीर्थंकरकी प्रतिमा रखी हुई है ।

अष्टोपवासी अर्थात् आठ दिन उपवास के उपरान्त एक बार आहार लेनेवाले गुणसेनदेव जैसे महामुनिने इस पवित्र स्थान पर रहकर कठिन तपस्या की है । अतएव सभव है कि इस पर्वतका नाम भी श्रमणगिरि रखा गया हो । ये पहाड़ी भाग निस्सन्देह ईस्वी पूर्वसे ही मुनियोंके निवास स्थान रहे होंगे । इस पुण्यगिरिके दर्शन तिरुक्कुरलके रचयिता, जीवकचिन्तामणिके रचयिता तिकतकदेवर, चूड़ामणिके तोलामोलिदेवर, नालडियारके श्रमणमुनि, द्रविड़ संघके निर्माता वज्रनंदियडिगल और भी कई विद्वानोंने, कवियों ने, श्रावक-श्राविकाओं आदिने किये होंगे, ऐसा माननेमें कोई कोई संदेह नहीं है । अनेक प्रमाणोंसे इस बातकी पुष्टि भी होती है ।

इतने प्रशंसनीय एवं महत्त्वपूर्ण इस ऐतिहासिक पर्वतके भागोंको सड़क पर डालनेके लिये गिरावल कंकड़के रूपमें तोड़ते हुए मैंने देखा । अफसोस ! उसको देखते ही मैं नहीं

समझ सका कि पर्वत तोड़े जा रहे हैं या पत्थर। भारतके चरित्रको, तमिल देशकी कलाको, श्रमण-मुनियोंके द्वारा सेवित इतने बड़े धर्मचिन्हको ही नष्ट-भ्रष्ट होते हुए देखकर मेरा मन तड़फड़ाने लगा। मुझे अपार दुख हुआ और मैं उसी समय मद्रास लौट पड़ा।

मद्रास आते ही मैंने सीधे तमिलदेशके जैनियोंके नेता तत्त्वज्ञानी रायबहादुर ए० चक्रवर्ती नैनार M. A. I. E. S. से श्रमणगिरिके गौरवकी गाथाको कह सुनाया। उनको इसे सुनकर आश्चर्य और दुःख दोनों हुए। वे मुझे साथ लेकर दक्षिण भारतके ओरक्यालेजिकल डिपार्टमेंटके सुपरिंटेन्डेन्ट श्री वी० डी० कृष्णास्वामीके पास गये। सुपरिंटेन्डेन्टने दोनोंको बड़े आदरके साथ बैठाया। मैंने श्रमणगिरिकी सब बातें कह सुनाई। सुपरिंटेन्डेन्टने भी इस प्रकारके ऐतिहासिक चिन्होंके नष्ट किये जानेवाले समाचारको सुनकर दुःख प्रकट किया। उन्होंने उसकी देखरेख करनेके लिये एक निवेदन-पत्र लिखकर देनेके लिये मुझे कहा। मैंने जो कुछ श्रमणगिरिके बारेमें उस समय तक जाना था, तथा उसके प्रति जो अन्याय हो रहा था, वह सभी स्पष्ट रूपसे लिखकर एक निवेदन-पत्र दे दिया। श्रीचक्रवर्ती नैनारजीने भी इस पर ध्यान रखनेके लिये सुपरिंटेन्डेन्टसे कहा। सुपरिंटेन्डेन्टने भी ऐतिहासिक चिह्न-स्वरूप उस पहाड़की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है इसलिये शीघ्रातिशीघ्र मदुराके कलैक्टर के प्रधान कार्यालयको लिखकर देखरेख करनेका वचन दिया।

उसके बाद शिलालेख विशेषज्ञ डा० छाबड़ाने श्रमणगिरिकी देखभाल करने के बारे में निम्नलिखित समाचार 'हिन्दू' पत्रिका के सम्पादकके पास भेजने के लिए कहा था। यह समाचार १५-७-४९ के हिन्दू पत्रिकामें थे प्रकाशित हुए हैं।

उन्होंने लिखा है—मदुरा के पश्चिममें सात मीलकी दूरी पर श्रमणगिरिमें खुदे हुए दशवीं शताब्दीसे सम्बन्धित कुछ शिलालेखोंको, शिलालेखके अन्वेषकोंके ध्यानमें लाया गया है और वहांके चट्टानोंको बिन तोड़े रहनेके लिए इंतजाम किया जा रहा है। उपर्युक्त स्थल पवित्र श्रमणोंका मूल स्थान है इसके बारेमें जाननेके लिए गोलाकार अक्षरके शिलालेख पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हैं। उनका पत्र भी आया था। वह निम्न प्रकार है :—

Madras July, 14

Recent discoveries of archaeological interest were explained by Dr. B. Ch. Chhabra. Government epigraphist for India, in an interview with a representative of the Hindu to-day.

"Some Jain inscriptions of about 10th century A. D. in Samanar Malai, seven miles from Madura, had also come to the notice of the department he said, and added that steps were being taken to prevent the quarrying of the rocks there. The Place he said, was an early Jain settlement and there were Jain bass reliefs with inscriptions in Vatteluttu characters.

Hindu 15-7-1949.

इस समाचारको पढ़ते ही खोई हुई वस्तुको पुनः प्राप्त कर लेने पर जैसी प्रसन्नता होती है वैसी ही मुझे भी हुई। अब पर्वतके प्रतिमा और शिलालेख सुरक्षित रहेंगे।

डा० छाबड़ाके मतानुसार, वे प्रतिमाएं और गुफाएं ईसाकी दशवीं शताब्दीकी नहीं हैं। वे ईसाकी सातवीं शताब्दीके आरम्भकी या उससे पहलेकी ही होंगी। क्योंकि नेडुमारनकालमें तिरुज्ञान संबंधके द्वारा चलाये गये मत-सम्बन्धी विवाद का वर्णन सच हो तो डा० छाबड़ा का मत ठीक नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि हजारों श्रमणों को फांसी पर चढ़नेके बाद भी एक श्रमणका वहां जीता रहना, सुन्दर चित्रों एवं गुफाओंका निर्माण कर वहां पर तप करना असम्भवसा प्रतीत होता है। और गोलाकार अक्षरोंके अन्वेषकोंका मत है कि ये ईसाकी २ या ७वीं शताब्दीके पहले के होनेका अनुमान लगाते हैं। डा० छाबड़ाके मतके अनुसार ईसाकी दशवीं शताब्दीका सिद्ध किया जाय तो कई अन्वेषकोंके मतानुसार तिरुज्ञानसंबंधरकी कथा ईसाकी १०वीं शताब्दीकी हो सकती है।

ऊपर कहे अनुसार उसी सातवीं शताब्दीमें हमारे देशमें आये तीन यात्रियोंने तमिल देशकी विशेषताओंके वर्णनके सिलसिलेमें तिरुज्ञानसंबंधरके बारेमें कुछभी नहीं लिखा। उसके बदलेमें जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों ही तमिल देशमें बहुत उन्नत दशामें थे ऐसा लिखा मिलता है। दरअसल दशवीं शताब्दीके बाद ही जैनधर्मकी दशा कुछ

खराब हुई, क्योंकि दशवीं शताब्दीके बाद १५, १६वीं शताब्दी तक कई श्रमण मुनियोंने अनेक सुन्दर ग्रन्थोंको बनाया है। सिर्फ यही नहीं, सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थोंका अनुवाद करनेवाले श्रमण अगणित थे। इसीलिए ऊपर कहे अनुसार ई० पू० तीसरी शताब्दीमें उत्कीर्ण शिलालेखके आधार पर यह भी उससे सम्बन्धित ५वीं या ६वीं शताब्दीका होगा। किसी भी कारण से उसको दशवीं शताब्दीका कहा जाय तो अनुचित है। जो भी हो, वह है बहुत प्राचीन पर्वत। इस प्रकारके ऐतिहासिक चिन्होंके फोटो लेनेके लिए मद्रास मिंट स्ट्रीटके जैन मिशन संघकी सहायता से ता० ६-११-४६ को मैं मद्राससे रवाना होकर पुनः श्रमणगिरि पहुँचा।

जैसा कि मैंने सोचा था, वहां पत्थर तोड़ने का काम जारी था। मेरा जी तड़फड़ाने लगा। बहुत कुछ सोचने पर भी कुछ समझमें नहीं आया। श्रमणगिरिके नामसे वह श्रमणोंके समयके सम्बन्धित है यह जाने बिना ही उसे तोड़ा जा रहा है यह एक बड़ी भारी भूल है।

शैवगिरि, वैष्णवगिरि, मुसलमानगिरि, ईसाईगिरिके नामसे वह होता तो उन जातियोंकी अनुमतिके बिना उसे तोड़नेका साहस कोई करता? इस प्रकार श्रमणोंकी संख्या बहुत न्यूनावस्था में है इसी कारण वे लोग प्राचीन चरित्रका परिचय देने वाले इस महान् पुण्यगिरिको चकनाचूर करनेमें तल्लीन हैं। अफसोस! ब्रिटिश सरकारके रहते उस पुण्यगिरिके लिए कोई आपत्ति नहीं आयी। देशमें प्रजातंत्र राज्य होते ही श्रमणगिरि को तोड़ा जा रहा है। कलाओंकी वृद्धि करनेके स्थान पर प्रजातंत्र राज्य कलाको नष्ट करने के लिए तैयार हुआ, यह सोच सोचकर मुझे दुःख हो रहा था। भारत सरकारके दक्षिण भारतके शिलालेखोंके अन्वेषक डा० छावड़ाके द्वारा दिये गये दृढ़ आश्वासन न जाने कहां गये? इन सब अधिकारियों की बात बिना माने ही काम जारी है, यह बड़े दुख की बात है। इस हालतमें उन पावन मूर्तियोंका शीघ्र फोटो लेना कितना आवश्यक था यह उस भयंकर परिस्थितिने ही हमें बतला दिया। इसलिए जितने जल्दी हो सका, उतनी जल्दी उन सब मूर्तियोंका फोटो लेकर मैं मदुरा आ पहुँचा।

मदुराके ज्योति-सन्मार्ग-संघ-वैद्यशालाके वैद्य श्रीमुत्-अडिगल, ज्योति-सन्मार्गके कार्यदर्शी श्री अ० कंगनन जी, पुरातत्ववेत्ता श्री एरल अ० मलैयप्पन जी ने इस समाचारको पत्रिकामें प्रकाशित करनेके लिए राय दी। वे वे तीनों ही मेरे घनिष्ठ मित्र हैं, जनताकी भलाई चाहने वाले हैं, तिरुक्कुरल पर अटल श्रद्धा करने वाले एवं उस मार्ग पर चलाने वाले हैं। उन मित्रोंकी रायके अनुसार मदुरामें प्रकाशित 'तन्दि' 'दिन चैदि' इन दोनों पत्रिकाओंमें छपनेके लिए श्रमणगिरिकी महिमाका वर्णन लिखकर भेजा, साथ ही इसके साथ क्या अन्याय हो रहा है इस बात पर जोर देकर उसे रोकने का प्रबन्ध करनेके लिए एक समाचार लिख भेजा। इस समाचारको मेरे मित्रोंने प्रकाशित करनेका इंतजाम कर दिया। प्रकाशकने भी प्रधान पृष्ठपर बड़े अक्षरोंमें शीर्षक देकर 'तन्दि' और 'दिन चैदि' इन दोनोंमें छाप दिया। मैंने मद्रास आते ही १२ नवम्बर ४६ को दक्षिण भारत पुरातत्व अन्वेषण भागके सुपरिटेन्डेन्टको ज्ञात कराया कि अभी तक श्रमणगिरिका तोड़ना बन्द नहीं हुआ। इसके उत्तरमें उन्होंने मदुरा जिलेको कलैक्टरको पत्र लिखनेको कहा। मैंने तुरन्त ही १७ नवम्बर ४६ को मदुरा जिलेके कलैक्टरको पत्र लिखा। इसी बीच श्रमणगिरिके बारेमें एक वर्णनात्मक लेख लिखकर सुदेश मित्रन्में छपनेके लिये भेज दिया। उसके प्रकाशकने भी 'मदुरा और श्रमणगिरि' नामक शीर्षक देकर १० दिसम्बर ४६ में चित्रके साथ प्रकाशित कर दिया। मदुराके त्यागराय कॉलिजके तमिल प्रोफेसर डा० म० राजमाणिकनारजीने भी अपने नेशनल तमिल वाचक पहला भागमें श्रमणगिरिके बारेमें एक पाठ लिखा है। उसके बाद दक्षिण भारत आरक्यालेजिकल डिपार्टमेंटके सुपरिटेन्डेन्ट टी० डी० कृष्णासामीजीके पाससे निम्नलिखित पत्र आयाथा।

No. 40/926. Fort St. Georg. Madras-9
Superintendent, 14th March, 50

Department of Archaeology,
Southern Circle,
My Dear Sripal,

Your kind letter of the 3rd instant. You will be pleased to know that the Mathurai Samanar Malai is now a protected monument and the collector is doing his very best to see that there are no prejudicial quarrying in the

vicinity of the monuments.

With kind regards.

Yours sincerely,

(Sd.) V. D. KRISHNASWAMY.

इस आनन्दपूर्ण शुभ समाचारको पढ मेरी खुशीका ठिकाना न रहा। आनन्दमें अपने आपको भूल बैठा। उस पत्रको अनेक बार पढ़ा। इसी शुभ अवसर पर उदकमंडलसे श्रमणगिरिके शिलालेखोंका पूर्ण विवरण भी आ पहुँचा। उन सबोंको मैंने बार-बार देखा और पढ़ा। मुझे आश्चर्य हो रहा था दसवें शिलालेखको पढकर। आच्चान श्रीपाल नामक धर्मात्माका ही यह समाचार है। ये सब आश्चर्यमें डालनेवाली ही बातें हैं। मेरी यात्राका जाना, मैं जिस बसमें गया था उस बसका पर्वतके पाससे गुजरना, पर्वतके नजदीक जाने पर ही बसका खराब होना, इस निमित्तसे पर्वतको देखनेका अवसर मिलना, ऐतिहासिक घटना-मय श्रमणगिरिका पता चलना, उसको सड़कों पर डालनेके लिये ग्रावल कंकड़के रूपमें तोड़ा जाना, इस अन्यायको देखकर दुःखी होना, पत्थरोंके तोड़नेको रोकनेके प्रयत्नमें विजय पाना, उस पुण्यगिरिके शिलालेखोंमें आच्चान श्रीपालके ही नामसे एक मुनिका धर्मवृद्धि करनेवाले समाचारका जानना आदि ये सब बातें पूर्वभवसे सम्बन्धित सी मालूम होती हैं।

मेरे इस कथनसे पाठकगण यह न समझें कि मैं अपने मुँह मियामिट्ठू बन रहा हूँ। क्योंकि—

ओरुमैकण तानकट्ट कल्वी ओरुवरकु
एलुमैयुम एमाप्पुडैत्त ॥

अर्थ—एक समयमें पढी हुई विद्या सात जन्म तक लगातार चली आती है। ऐसा तिरुक्कुरलके आचार्य कहते हैं।

धर्मरूप इस पवित्र पर्वतको देखकर उसकी रक्षा करनेका सौभाग्य प्राप्त होनेके बाद ही मैं अपने जीवनसे जुटा हुआ जीवकारुण्य-सेवाके मार्गमें अग्रसर हुआ। मद्रास असेंबलीमें बलिप्रथा रोकनेके लिए और साधारण जनताके बीच इस कानूनको लानेके लिये जो प्रयास किया उसमें भी मुझे सफलता मिली। १४ सितम्बर सन् ५० को गवर्नर तथा असेम्बलीके मेम्बरोंकी मान्यतामें इसके लिये कानून बनाया गया। वह कार्यरूपमें भी परिणत हो गया। यह विजय अहिंसाकी विजय है, धर्मका प्रभाव है, और है श्रमणगिरिके त्यागियोंकी तपस्याका चमत्कार।

धर्मकी महिमारूप श्रमणगिरि मुनियोंका तपोभूमि है इसलिये हम सभी श्रमणगिरि चलकर भगवान् ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थंकरोंका दर्शन करें। भगवान् ऋषभदेव ही इस दुनियामें सबसे पहले धर्म-मार्ग पर चलनेवाले थे तथा उनका धर्मोपदेश (दिव्यध्वनि) ही भारतवर्षमें आदि ग्रन्थ माना जाता है।

कोई भी ऐसा भारतीय साहित्य नहीं है जिसमें इनकी प्रशंसा न की गई हो। तिरुक्कुरलके रचयिताके द्वारा प्रशंसा किये जाने वाले आदि भगवान् ये ही हैं। तोलकाप्यममें 'कन्दली' नामसे इन्हींका उल्लेख किया गया है। कन्दली शब्दका अर्थ है निर्मोही। 'णिग्गंथ' शब्दका अनुवाद ही कन्दली है। सिलप्पधिकारमें भी निग्रंथ कोट्टम शब्द दिया हुआ है। इसलिये सारा भारतवर्ष भगवान् ऋषभदेवको आदि भगवानके नामसे प्रथम धर्मकर्त्ता और प्रथम गुरुके नामसे वर्णन करता आ रहा है। हमारे भारतके उपराष्ट्रपति तत्त्ववेत्ता डा० श्री० राधाकृष्णनके 'हिन्दुतत्त्व' नामक ग्रन्थमें, ऋग्वेद, भागवतके जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें भी भगवान् ऋषभदेव प्रशंसाके पात्र बने हुए हैं। ई० पू० पहली शताब्दीमें सभी जनता ऋषभदेवको ही मानती थी। इसको सिद्ध करनेके लिये विपुल सामग्री उपलब्ध है। इनके वर्णनोंसे ज्ञात होता है कि ई० पू० पहली शताब्दीमें अनेक भिन्न-भिन्न मत थे। लोगोंके द्वारा भिन्न-भिन्न देवताओंके माने जाने पर भी भगवान् ऋषभदेवको विवाद-रहित धर्मचिन्ह स्वरूपमें मानते थे, इसमें सन्देह ही नहीं है। कुछ समयके बाद उस समय होने वाले धार्मिक-मतभेदके कारण जनताके अन्दर विभिन्नताकी भावना आई और पारस्परिक मत भेद बढता गया। बन्धुत्वकी-भाईचारेकी-भावना जाती रही। प्रेमके स्थानमें ईर्ष्याने अड्डा जमा लिया। मध्यस्थ-भाव छल-कपट और ईर्ष्याके रूपमें बदल गया।

यह परिस्थिति जन-समूहके चरित्रमें नाशका मूल कारण बनी। अपने माता-पिताके मार्ग पर चलनेके सिवाय मत या समय हमारे जन्मके साथ-साथ पैदा होने वाले नहीं होते। बुद्धिके बलसे, अन्वेषणोंके द्वारा, अनुभवके सामर्थ्यसे हम अपने लिये और जनताकी भलाईके लिये जो सर्वश्रेष्ठ मार्ग है उसका अनुकरण कर सकते हैं। अपने देशके पूजाके वर्णनोंको पढ़ें तो हमें मालूम होगा कि हम लोग कितने

मतके माननेके बाद यहां आये हैं। इसलिये हम लोग किसी भी मतमें रहें प्राचीन कालके समान दुनियाके नेता, विश्वके प्रथम गुरु, संसारके प्रथम उपदेशक, जगतके प्रथम मुनि, विश्वके प्रथम सिद्धरूप ऋषभदेवके दर्शनार्थ श्रमणगिरि चलें। चाहे शैव हों, चाहे वैष्णव हों, चाहे बौद्ध हों, चाहे सिक्ख हो, चाहे चाहे ईसाई हों, चाहे मुसलमान हों और कोई किसी भी सिद्धान्तका मानने वाला क्यों न हो, सब लोग मिलकर उस आदि भगवानके दर्शनार्थ चलें। इस प्रकार महत्वपूर्ण होनेके कारण ही इनकी प्रतिमाओंको पर्वतों, गुफाओं, चट्टानों आदि कई बाहरी स्थानोंमें स्थापित किया गया है।

जीवकचिन्तामणिमें भगवानके समवशरणका वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'भगवानके उपदेशामृतको सुनने आओ। भगवानके उपदेशामृतको सुनने आओ।' सब लोग एक साथ हर्षसे भगवानके (दिव्यध्वनि) रूप उपदेशामृतका पान करने जाया करते थे।

जनताके चारित्रको बढ़ाकर दुनियामें समता एवं बन्धुत्व भावको स्थापित करना ही जैनमुनियोंका मुख्य सिद्धान्त था। इसलिये हर स्थल पर धर्मके विषयमें जोर दिया गया है। केवल साहित्यमें ही नहीं लिखा, वरन् चट्टानों और पहाड़ोंमें भी 'धर्मका पालन करो, धर्मके सिवाय और कोई सहारा नहीं है' ऐसा अंकित किया हुआ है।

जीवकचिन्तामणिके रचयिता श्रीतिरुतक्कदेवने अपने ग्रन्थकी समाप्तिमें कहा है कि चाहे कोई मत हो, चाहे कोई देशका हो, सभीको अपने धर्म मार्गपर स्थिर रहना चाहिये।

भाइयो, धर्म गृहस्थोंके लिये आदि भगवान् ऋषभदेवके द्वारा कहा गया है। दुनियामें बन्धुत्व-भावको फैलाने, समत्वभाव रखने, प्रेम और धर्मकी वृद्धि करने, शान्तिको फैलाने, आर्थिक समस्याको हल करनेके लिये तथा देव, गुरु पाखण्ड मूढताको दूर करनेके लिये उपर्युक्त धर्म ही साथ दे सकता है। इसलिये सभी लोग सत्-धर्मका पालन करें।

वीर शासन-संघ, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'तामिल' की पुस्तक 'श्रमणगिरि चलें' का हिन्दी अनुवाद, जो उक्त संघसे प्राप्त हुआ, साभार प्रकाशित।

विश्व-शांतिके उपायोंके कुछ संकेत

(ले०—श्री पं० चैनसुखदास, जयपुर।)

भूतकाल में अब तक जितने छोटे और बड़े संघर्ष हुए हैं, अब हो रहे हैं और आगे होंगे, उन सबका कारण है मानव-मनका आग्रह। इस आग्रह को बल देने वाला उसका स्वार्थ है और उसका मूलाधार है, मनुष्य-मनकी चिरसंगिनी हिंसा। हिंसा स्वार्थ और आग्रह तीनों मिल कर मन में जो संघर्ष उत्पन्न करते हैं उसका परिणाम है अशांति। हिंसाका अर्थ केवल बाहरी मार-काट ही नहीं है, वह तो उस हिंसाका परिणाम है जो मनुष्यके मनको दूषित किये हुये है। वह है राग, द्वेष, परिग्रहकी तृष्णा एवं साम्राज्य-लिप्सा, यही हिंसा वाक्-कलह, छोटी बड़ी लड़ाइओं और महा-युद्धों तक को जन्म दे देती है।

मनुष्य अहिंसा, दया आदि सद्वृत्तियोकी बड़ी-बड़ी बातें तो बनाता है, पर सचाई यह है कि उसका मन साफ नहीं है। मनकी बुराइयाँ बाहर आये विना नहीं रहतीं। मन जब तक साफ नहीं हो—महायुद्ध और संसारयुद्धोंकी कौन कहे घर और मुहल्लोंके साधारण संघर्षभी खत्म नहीं होते।

इसमें कोई शक नहीं कि आज संसारके प्रत्येक राष्ट्रके सामान्य जन युद्ध नहीं, शांति चाहते हैं। दुनियाँकी जनता युद्धके नामसे ही घबड़ा उठती है। संसारके विगत दो महायुद्धोंके चित्र जब लोगोंकी कल्पनामें आते हैं तब उनके मनमें भय का संचार हुए विना नहीं रहता। हिरोशिमा और नागासाकी अणुबमके विस्फोट-जिन्होंने सोते खेलते हँसते हुए बच्चे, नर-नारियों एवं पशु-पक्षियोंको एक साथ क्षण भरमें मृत्युका ग्रास बना दिया था—तो याद आतेही मनुष्यके मनमें उत्कंपन पैदा कर देते हैं। जहाँ युद्धोंकी तात्कालिक संभावना होती है वहाँके नर नारी और बच्चे भयभीत ही सोते हैं और भयभीत ही उठते हैं। युद्धोंकी कल्पना उनके मनमें ज्वर पैदा कर देती है।

जब किसी भी राष्ट्रकी जनता युद्ध नहीं चाहती

तब सदाही युद्धोंकी विभीषिका क्यों बनी रहती है यह एक प्रश्न है और इस प्रश्नका समाधान आज के राष्ट्रोंकी स्वार्थ-पूर्ण राजनीतिमें है। आधुनिक शासक जनताको भुलावेमें डाले रहते हैं। किसी युद्ध का दुष्परिणाम उन्हें तो भुगतना नहीं पड़ता। वे अपनी शासक शक्तिके कारण आधुनिक भयंकर से भयंकर शस्त्रास्त्रोंसे अपनी और अपने परिजनों की रक्षा करनेकी क्षमता रखते हैं। युद्धके भयंकर कुफल सामान्य जनताको ही भोगना पड़ते हैं। जिसके कि हाथमें सीधा शासन-सूत्र नहीं होता। यदि आज किसी भी राष्ट्रकी जनतासे युद्धके लिए मत लिए जावें तो उन लोगोंको निराश ही होना पड़ेगा जो युद्धके समर्थक हैं।

यद्यपि इस समय चारों ओर विश्वशांतिकी आवाजें आरही हैं और सभी इसकी आवश्यकता का अनुभव करते हैं, पर अभी मिस्र और हंगरी में जो रक्तपात हुआ, क्या वह आकस्मिक घटना है। जिन लोगोंके मनमें घोर हिंसा नाच रही है और इसी कारण जो आग्रहके पुतले बने हुए हैं वे दूसरे राष्ट्रोंकी जनताके कीमती जीवनको क्या उसी निगाहसे देखते हैं जिस निगाहसे अपने आपको। 'लीग आव नेशनल्' और फिर इसके समाप्त होने पर बनी हुई यू० एन० ओ० सचमुच अच्छे उद्देश्यों को लेकर निर्मित हुए थे, पर ये युद्धोंको समाप्त करनेमें कितने सफल हुए यह सब कोई जानता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यू० एन० ओ० जैसी महान् संस्थाओं के अस्तित्व का आज कोई उपयोग नहीं है। इनकी वस्तुतः अत्यन्त आवश्यकता है; पर ऐसी संस्थाएँ अपने उद्देश्यों को तभी पूरा कर सकती हैं जब उनके सदस्यों के मन में मनसा वाचा कर्मणा अहिंसा उतरे। वे मनुष्यके ही नहीं, पशु पक्षी और [illegible]ड़ों तक के जीवन का मूल्य समझें।

मनुष्यकी साम्राज्य-लिप्सा एक बहुत पुरानी बीमारी है। इस बीमारीकी चिकित्सा मनुष्यको अब करनी ही पड़ेगी। राष्ट्रोंके सभी पारम्परिक युद्धोंका आदि कारण यही है। पर जब तक भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध आदि महा पुरुषों की आध्यात्मिक शिक्षाओंको संसारके सभी और खास कर बड़े राष्ट्र अपने जीवनमें न उतारें तब तक युद्ध और महा युद्धोंकी परंपराएं बंद न होंगी।

मनुष्य शक्तिका केन्द्र है। यदि वह अपनी संपूर्ण शक्तियोंको युद्धोंके बंद करनेमें लगादें तो कोई कारण नहीं कि विश्वमें शांति न हो। पर अभी उसकी शक्ति युद्धोंके विनाशमें नहीं, उनके निर्माणमें लग रही है। अणुबम और हाइड्रोजन बमोंकी रचना ही इसका ज्वलंत उदाहरण है। किन्तु हिंसाकी चिकित्सा कभी हिंसाके द्वारा नहीं हो सकती। चाहे हिंसा, हिंसा पर आंशिक अथवा अल्प कालिक विजय पाले, पर हिंसा पर स्थायी विजय तो अहिंसा ही प्राप्त कर सकती है। एक चपत का जबाव कभी दो चपत नहीं हो सकता। अन्यथा चपतोंकी परंपराएँ चलेगी और दोके जबावमें चार और चारके जबावमें आठ आवेंगे। रक्तसे दूषित वस्त्र कभी रक्तसे शुद्ध नहीं हो सकता।

हिंसा आग्रह पैदा करती हैं और आग्रह विग्रहों को जन्म देते हैं। मनुष्य के मन में इस समय जो हिंसा समाई हुई है उसकी उपमा भूतकाल के युद्धों में भी नहीं मिलती। आधुनिक भौतिक यंत्रों के कारण मनुष्य हिंसा की पराकाष्ठा को पहुँच जाना चाहता है और इस घोर पाप को करते हुए उसे शर्म भी नहीं है। क्या जापान के नगरों पर अणुबम पटक कर लाखों मनुष्यों का संहार करने वाले लोगोंने कभी अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप प्रकट किया? इस समय मनुष्यमें जो पशुता आई है वह इतनी नृशस, घातक और क्रूर है कि दुनियांके सारे शेर चीते, भेड़िये और सूअर मिलकर भी उसकी समता नहीं कर सकते। मनुष्य पागल हो गया है, वह युद्धके नियमोंकी अवहेलना करना भी अपनी नैतिकता समझने लगा है।

युद्ध कभी अनिवार्य नहीं होते, उन्हें टाला जा सकता है पर वे तभी टल सकते हैं जब मनमें हिंसा, स्वार्थ, और आग्रह न हो। अब संसार के सभी राष्ट्रों को मिलकर यह काम करना है कि वे कौनसे अमोघ उपाय हैं जिनका अवलंबन करनेसे युद्ध केवल भूतकी वस्तु बन जावे और उसकी विभीषिकासे मानव-मन सदाके लिए आतंक-हीन

हो जाय। खास कर दुनियांके बड़े राष्ट्रों पर अब यह जिम्मेदारी आ पड़ी है कि वे इस विषयमें निर्णय करें। अन्यथा हर जगह प्रलय के दृश्य उपस्थित हो सकते हैं।

विश्व शांति के लिए जो अव्यर्थ उपाय हो सकते हैं उनमें से कुछ यह हैं—

१—कोईभी राष्ट्र अपने मातृ-प्रदेशके अतिरिक्त किसी दूसरे राष्ट्रकी एक इंच जमीन पर भी कब्जा न करे। अगर ऐसा कब्जा पहलेसे है तो उसे बिना किसी हील हवालेके सद्भावना पूर्वक तत्काल छोड़दे। कौन किसका मातृ-प्रदेश है इसका निर्णय एक चुनी हुई निष्पक्ष समिति करे।

२—युद्धके सभी वैज्ञानिक शस्त्रोंका निर्माण सदाके लिए बन्द करदिया जाय। मौजूद अणुबम और हाईड्रोजन बमोंको खत्म कर दिया जाय। उनके परीक्षणों पर पाबन्दी लगादी जाय।

३—अणु शक्ति का उपयोग विनाशमें नहीं, मानव की भलाई के लिए किया जाय।

४—प्रत्येक राष्ट्र पंच शील को मानने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध किया जाय।

५—धर्मवाद, जातिवाद, और, वर्गवाद कानूनी अपराध ठहराये जावें और संसारके सारे राष्ट्र एक दूसरेको अपना कुटुम्बी समझें।

ये कुछ संकेत हैं जो समूचे विश्वमें स्थायी शांति स्थापित करनेमें साधकतम कारण हो सकते हैं। पर यह निश्चित है कि इनकी सफलता मानव मन की अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रहके सिद्धान्त पर आधारित है।

अहिंसा और अपरिग्रह

(श्री भरतसिंह, उपाध्याय)

आधुनिक जीवन सर्वत्र परिग्रह-प्रधान है, जिसके पास परिग्रह नहीं है, समाजमें उसका कोई स्थान नहीं है, उसका जीवन नगण्य है, अकिंचनता का आज समाज में आदर नहीं है, इसलिये अपरिग्रह-की पूजा आज पुस्तकोंके पन्नोंमें ही रह गई है, आधुनिक भौतिकतावादी युग वस्तुतः उन लोगोंके लिये जो आन्तरिक साधना करना चाहते हैं घोर निराशाओंसे भरा हुआ है, भूख-प्यासकी स्थूल आवश्यकताओंकी निवृत्ति तकके लिये आज मनुष्य-को जिन वस्तुओंका संचय करना पड़ता है वह भयावह है, और पहलेके इतिहासमें इतनी मात्रामें वह कभी नहीं देखा गया। ऐसा लगता है कि भौतिक विज्ञानकी प्रगति और तज्जनित यान्त्रिक सभ्यताके विकासने मनुष्यकी इस तत्रतत्राभिनन्दिनी तृष्णाकी वृद्धि में योग दिया है और उसकी यह भूख निरन्तर बढ़ती ही जारही है। यदि अपरिग्रह एक कल्याणकारी वस्तु है तो उसके इस महत्त्व और उपयोगकी जांच जीवनमें ही हो सकती है, जीवन ही अपरिग्रहके प्रयोगका एकमात्र क्षेत्र है, जीवनसे अलग होकर अपरिग्रह कोई चीज नहीं रह जाती, उसका कोई अस्तित्व नहीं है। आजके जीवनमें यदि अपरिग्रहकी प्रतिष्ठा दिखाई नहीं पड़ती और उसके अभ्यासके लिये अनुकूल परिस्थितियां और वातावरण नहीं मिलते, तो यह उन लोगोंके लिये गहरी चिन्ताका विषय होना चाहिये जो अपरिग्रह की प्रशंसा करते हैं या उसे अपने जीवनमें साधना चाहते हैं। इसीलिये मैं कहता हूं कि साधनाकी इच्छा करने वाले लोगोंके लिये यह युग घोर निराशाओंसे भरा हुआ है, आज जबकि अर्थ और काम जीवनके मुख्य आधार बन गये हैं ज्ञान, धर्म और दर्शन सबका आर्थिक और राजनैतिक मूल्यांकन हो रहा है, कौन अपनी वृत्तियों को अन्दर समेट कर अपरिग्रहकी साधना कर सकता है, लोकसे अपनी आँखें मूंद सकता है? विश्वमें साधकोंकी कमी हो सकती है, परन्तु उनका नितान्त अभाव नहीं हो सकता। आज भी सकिंचन और

सादान समाजके अन्दर रहते हुये भी अकिंचन और अनादान तपस्वी हो सकते हैं. यह आश्वासन हमें उन अत्यन्त अल्प और बचे खुचे कुछ जैन साधकों और तपस्वियोंसे मिलता है जिनके जीवन अपरिग्रहकी परीक्षा पर खरे उतरते हैं और जो परिग्रहसे कलुषित समाजमें भी उसके प्रकाशको यथासम्भव विकीर्ण कर रहे हैं।

ज्ञानकी परीक्षा अपरिग्रहमें है, कौन व्यक्ति ज्ञान या पवित्रताके मार्गमें कितना अग्रसर है, इसकी जांच हम उसके परिग्रहकी मात्रासे कर सकते हैं। प्राचीन शास्त्रकारोंने माना है कि पूर्ण अपरिग्रहकी साधना उस व्यक्तिसे नहीं हो सकती जो घर में निवास कर रहा है, अर्थात् जिसके ऊपर गृहस्थीका भार है। फिर भी वह अपरिग्रहकी दिशामें काफी प्रगति कर सकता है, अदत्तके ग्रहणसे वह विरत रह सकता है, चोरीके अनेक रूपोंसे अपनेको सुरक्षित रख सकता है, भोग वासनामें कमी करके वह अपनी आवश्यकताओंको काफी कमा कर सकता है, जिस मात्रामें और जितनी दूर तक मनुष्य अपरिग्रहकी साधना करता है उसी मात्रामें और उसी हद तक वह चित्तकी शान्ति प्राप्त करता है और बन्धनोंसे मुक्त होता है। वस्तुओंके परिग्रहके अलावा एक मतका भी परिग्रह होता है जो हमारा मत या वाद है वही सत्य है, सर्वोत्तम है, शुद्धतम है, अन्य सब मत-वाद निकृष्ट हैं अपवित्र हैं, और असत्य हैं। इस प्रकारकी दृष्टिका आग्रह रखना दृष्टिका परिग्रह है, बड़े बड़े विद्वान पुरुष तक इस परिग्रहसे पीड़ित रहते हैं इसको भी छोड़ना चाहिये, अनेकान्तवादका सिद्धान्त हमें इसके किये प्रेरणा देता है।

साधनाके विकासमें अपरिग्रह अहिंसाका सहायक है, पहले अपरिग्रह आता है, बादमें अहिंसा सधती है, वास्तवमें तो अपरिग्रहसे भी पहले वैराग्य और नित्यानित्यवस्तुविवेक आना चाहिये, तभी अपरिग्रहके प्रेरणा मिलती है और उसमें मन रमता है, जब चित्त अपरिग्रहमें सुख प्राप्त करने लगता है जो कि बाह्य वस्तुओंकी प्राप्तिमें नहीं मिलता, तभी वह उसके लिये एक अनुभवकी सच्चाई हो जाता है और फिर साधक द्वन्द्वात्मक संकल्प-विकल्पोंमें नहीं पड़ता। उसे एक उच्चतर सुखकी प्राप्ति हो जाती है जिसके सामने सम्पूर्ण लौकिक सुख जो परिग्रहसे प्राप्त होता है उसे नीरस और फीका लगने लगता है। यह स्थिति जब तक नहीं आती, साधकको निरन्तर यत्नशील रहना पड़ता है और उसके पतनकी सम्भावना बनी रहती है।

हिंसाको आजकल प्रायः एक सिद्धान्तके रूपमें रक्खा जाता है और व्यक्ति और समाजको उसे अपनानेकी प्रेरणा दी जाती है, परन्तु अहिंसा वस्तुतः जीवनकी एक पूरी विधि ही है जो तभी प्राप्त की जा सकती है जब उसके लिये आवश्यक पूरी दृष्टिको विकसित कर लिया जाय। जब तक जीवनके प्रति दृष्टि सम्यक् नहीं है, अहिंसाकी बात कहना बेकार है, हाँ राजनीतिज्ञोंकी अहिंसाकी बात दूसरी है। हमारा परिग्रह भी चलता रहे, व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता भी चलती रहे, व्यवहारमें थोड़ा बहुत शोषण भी करते रहें, सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष चोरीको भी वैध मानते रहें, और साथ ही अहिंसाके पालनके फलको भी प्राप्त कर लें, ऐसा लोभ साधारण सांसारिक मनुष्यको हो सकता है, परन्तु सत्यका कठोर नियम इसके लिये अवकाश नहीं देता। यदि हम परिग्रह करते हैं तो इसके माने यह है कि किसी न किसी प्रकार सूक्ष्म या अप्रत्यक्ष रूपसे किसी-न-किसी मात्रामें हम हिंसा भी अवश्य करते हैं, या उसके लिये उत्तरदायी बनते हैं। इसलिए यदि हिंसा या उसकी सम्भावनाको हटाना है तो परिग्रहको अवश्य धीरे धीरे कम करना ही होगा। परिग्रह अर्थात् व्यक्तिगत परिग्रह और राष्ट्रीय परिग्रह भी। साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद राष्ट्रीय परिग्रहके ही नाम हैं। चूंकि व्यक्तियोंसे ही राष्ट्र बनते हैं और हिंसा व्यक्तिके मनमें ही उत्पन्न होती है। इसलिये जैनधर्म-साधनाने और सामान्यतः सम्पूर्ण भारतीय धर्म-साधनाने व्यक्तिकी हिंसा भावनामें परिष्कार पर ही अधिक ध्यान दिया है। हिंसा जिन कारणोंसे उत्पन्न होती है उनके दूर कर देनेसे ही वास्तविक अहिंसाकी प्राप्ति हो सकती है।

यह एक विधायक स्थिति है, निषेधात्मक नहीं। जैन विचारकोंने, जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, परिग्रहसे ही हिंसाकी उत्पत्ति मानी है। यदि व्यक्तिगत जीवनमें अधिक संख्यामें मनुष्य पहले अपरिग्रहका अभ्यास करें और फिर बादमें सामाज में उसका प्रसार करें तो निःसन्देह प्राणियोंमें समताकी भावना आयेगी, उनमें सौहार्द बढ़ेगा और केवल मानव-मानवमें ही मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित नहीं होंगे, बल्कि इस सृष्टिके सम्पूर्ण प्राणियोंको जीनेका अधिकार मिल जायगा और उनके जीवनको उसी प्रकार पवित्र माना जायेगा जैसा मनुष्यके जीवनको। यही जीवमात्रके अभेदकी वह दृष्टि है जिसे जैन शासन हमें देना चाहता है, इसीके साधन या मार्गको वह अहिंसा कहकर पुकारता है। जिसका साधना बिना अपरिग्रहके सम्भव नहीं है।

विश्व-शान्तिके साधन

(श्री पं० राजकुमार जैन, साहित्याचार्य, एम० ए०)

एक युग था, जिसे जैन मान्यतामें भोगयुग अथवा शान्तियुग कहा जाता है, इस मान्यताके अनुसार वह अवसर्पिणीकालका प्रारम्भ था, उस समय धर्मका अपने नामरूपसे कोई अस्तित्व नहीं था, प्रत्येक मानव सुखी था, तथा अपनी दैनिक आवश्यकताओंसे निश्चित था। व्यक्ति सर्वत्र बिखरे हुए प्राकृतिक साधनोंसे अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति किया करता था, और उस अपनी आवश्यकताके अनुरूप समस्त वस्तुएं उपलब्ध हो जाती थीं। मानव-जीवन आज-कल जैसा विषम नहीं था, सर्वत्र सरलता एवं समताका साम्राज्य था। उस समय धनी-निर्धन एवं ऊँच-नीचका भेदभाव नहीं था, न कोई राजा था न प्रजा, न कोई शोषक था न शोष्य। मानव-जीवन बड़ा ही सरल और सन्तोषी था, जीविका-निर्वाहके साधनोंके समान रूपसे सुलभ रहनेके कारण उस समयका मानव क्रोध, मान, माया एवं लोभ जैसी तामसिक दुर्वृत्तियोंका दास नहीं था और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह जैसी पापवृत्तियाँ भी आजकी भांति उसकी आत्माको जड़ नहीं बनाये हुई थीं।

परन्तु युगने करवट ली और प्रकृति-प्रदत्त साधनोंका प्रचुरतासे ह्रास होने लगा, यह ह्रास इस सीमा तक पहुँचा कि मानवके जीवन-निर्वाहमें बाधा उपस्थित होने लगी, फलतः लोगोंके मनमें जीवन-सम्बन्धी सामग्री संग्रह करनेका लोभ उदित हुआ और शनैः शनैः वे माया, मद और क्रोध जैसी तामसिक दुर्बलताओंके शिकार होने लगे। हिंसा, झूठ चोरी, कुशील तथा परिग्रह जैसी पापवृत्तियोंकी ओर भी उनका आकर्षण बढ़ने लगा, लोगों में अमीर-गरीब और ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न हो गया, समताका स्थान विषमताने ले लिया, तथा सरलताका मायाचारने। उस समयके लोक-कल्याण-कामी मनीषियोंको लोगोंकी यह तथाकथित संग्रहवृत्ति अभिशापस्वरूप प्रतीत हुई और उन्होंने इस दुर्वृत्तिको नियन्त्रित करने के लिए क्रमशः हा, मा, धिक्, जैसे दंड विधानोंकी स्थापना करते हुए तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रहका पवित्र सन्देश देते हुए तत्कालीन जनताको इस पापवृत्तिसे विरत करनेका पुण्य प्रयत्न किया, किन्तु इस संग्रहवृत्तिके साथ अन्य पापवृत्तियाँ भी अनियन्त्रित होकर उग्रस उग्रतर रूप धारण करती गईं और आज इनके उग्रतम रूपने तो युगको ही घोर अशान्तिके युगमें परिवर्तित कर दिया।

तो आजका युग घोर अशान्तिका युग है, आजका व्यक्ति अशान्त है, समाज अशान्त है, राष्ट्र अशान्त है, विश्व अशान्त है। इस अशान्ति-जनित भीषण ज्वालाओंसे विश्वका वातावरण पूर्णतया भयावह हो उठा है। आज व्यक्ति व्यक्तिको आत्मसात् करने में, समाज समाजको उदरस्थ करने

में, एवं राष्ट्र राष्ट्रको भस्मसात् करनेकी चिन्ता तथा प्रयत्नमें संलग्न है। अणु एवं उद्जन जैसे बमों का आविष्कार स्पष्टरूपसे सिद्ध कर रहे हैं कि आज मानव संग्रह तथा अधिकार वृत्तिकी पराकाष्ठा पर पहुँच कर किस प्रकार विश्व-विनाशकी दानवीय लीलाका सृजन कर रहा है।

मानवताके उपासक तथा शान्तिके पुजारीके लिये व्यष्टि, समष्टि एवं विश्वका यह अशान्त वातावरण गंभीर चिताका विषय बना हुआ है, यद्यपि आधुनिक यान्त्रिक युगके पहले भी इसी भाँति मानव-जीवनमें अनेक प्रकारकी जटिलताओं और समस्याओंने प्रवेश कर असन्तोष और अशान्तिका वातावरण उत्पन्न किया और तदनुरूप समय-समय पर अवतरित महात्माओंने उनके समाधान करनेका प्रयत्न किया, फिर भी आधुनिक युगकी भाँति विषमता और निराशा इतिहासमें कम ही देखनेको मिलती है।

इतिहास हमको यह बतलाता है कि संसारमें जब कभी अशान्ति और निराशाका वातावरण फैला तब विश्ववंद्य विभूतियोंने जन्म लेकर अहिंसा एवं सत्य की साधनासे शान्ति-प्राप्तिका मार्ग प्रदर्शित किया भगवान ऋषभदेव ऐसी ही विभूतियोंमेंसे थे जिन्होंने सवप्रथम अहिंसा, अपरिग्रह एवं सत्यशीलके दिव्य सन्देश द्वारा तत्कालीन व्यष्टि एवं समष्टिगत अशान्तिको दूर करनेका प्रयत्न किया और आत्मस्वातंत्र्य-प्राप्तिके मार्गको प्रशस्त किया।

ब्रह्म-वर्चस वैदिक ऋषियोंने भी अपने समयकी समाज-व्यापी अशान्तिको दूर करनेका उपदेश दिया और अहिंसा अपरिग्रह तथा तथा सत्य जैसे आदर्शोंको ही सामाजिक शान्तिका मूल मन्त्र माना। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया--

१—सत्यस्य नावः सुकृतमपिपरन, ऋग्वेद ६-७३-१। सत्यकी नाव ही जीवात्माको पार लगाती है।

२—मा जीवेभ्यः प्रमदः। अथर्ववेद ८-७जीवोंके प्रति प्रमादी मत बनो,

३—मागृध : कस्यस्विद्। धनमः। यजु० ४०.१. किसीके धन-पर लालच मत करो।

इन दिव्य-दृष्टि ऋषियोंने कितने अधिकारके साथ कहा था :—

१—मोघमन्यो विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् सतस्य।

२—नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघी भवति केवलादी सः। ऋग्वेद १०. ११७. ६ मैं सच कहता हूँ कि जो स्वार्थपूर्ण उत्पादन करता है वह स्वयं उत्पादकका वध करा देता है तथा जो व्यक्ति अपने धनको न धर्ममें लगाता है न अपने मित्रको देता है, जो केवलादी है अर्थात्; केवल अपना ही पेट भरता है वह केवलाद है, अर्थात् केवल पाप ही खाता है।

उन्होंने तत्कालीन समाजके सामने त्यागका सुन्दर आदर्श उपस्थित किया था—

शत-हस्तः समाहर, सहस्र हस्तः संकिर।

अथर्व ३-२४५ :

सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजारों हाथों से बाँट दो।

अथर्व वेद के ब्रह्मर्षिने कितनी सुन्दर व्यवस्था की थी—

समानी प्रपा सह वोन्भागः समाने योक्त्रे।

अथर्व० ५।६।६

तुम लोगोंका पानी समान हो, तुम्हारा खाद्यान्न समान हो, तुम सबका समान बन्धनमें बांधता हूँ, और तुम एक दूसरेके साथ सम्बद्ध रहो।

मध्य युगमें भी भगवान महावीर, बुद्ध, ईसा, हजरत मुहम्मद तथा शंकराचार्य जसी विभूतियोंने समय २ पर हिंसा, अपरिग्रह, अनेकांत तथा विश्व-मैत्री जैसे अमोघ साधनोंसे मानव-जीवनमें ऐक्य और शान्ति को प्रतिष्ठित करनेके पुण्य प्रयत्न किये। आधुनिक युगमें भी राष्ट्र पिता महात्मा गाँधी ऐसे महापुरुष हुए जिनको हम सबने अपनी आँखोंसे देखा और जिन्होंने अहिंसा एवं सत्याग्रहके मार्गसे न केवल शताब्दियोंके पराधीन भारतको स्वातंत्र्य लाभ कराया, अपितु विश्वकी उत्पीडित जनताको भी शाश्वत शान्तिका मंगलमय मार्ग प्रदर्शित किया।

यह सौभाग्यका विषय है कि अतीतकी भाँति ही आज भी भारत विश्वमें शान्ति स्थापित करनेके लिये प्रयत्न कर रहा है और आजकी जनताके लिये यह गर्वका विषय है कि हमारे माननीय प्रधानमंत्री पंडित नेहरू पंचशील जैसे सिद्धान्तोंके निर्माणमें क्रियात्मक योग देकर विश्वकी वर्तमान अशान्तिको दूर करनेका सराहनीय प्रयास कर रहे हैं। यद्यपि उनका यह प्रयास अहिंसा और सत्यकी भावनासे ही अनुप्राणित है फिर भी विभिन्न राष्ट्रोंको पारस्परिक लाभकी दृष्टिसे ऐक्य सूत्रमें आबद्ध करनेका यह नवीनतम प्रयास है। पर देखना यह है कि क्या पंचशीलके आधार पर स्थापित विश्व शान्ति सच्चे अर्थमें विश्व शान्तिका रूप ले सकेगी? हमारा उत्तर है कि इस प्रकार भी वास्तविक विश्व शान्ति असम्भव है। इसका यह अर्थ नहीं है कि पंचशील सिद्धान्तकी उपयोगिताके सम्बन्धमें हम संदिग्ध हैं। पंचशीलकी स्वीकृति विभिन्न राष्ट्रोंकी ऐक्य एवं सद्भावके सूत्रमें आबद्ध कर सकनेमें तो सफल रहेगी ही और इस प्रकार इस रूपमें विश्व-शान्ति प्रतिष्ठित करनेमें भी उसकी सफलता अक्षुण्ण रहेगी। परन्तु इससे व्यक्तिके चरित्र निर्माणमें निश्चय रूपसे प्रेरणा नहीं मिल सकेगी।

हमारी सम्मतिमें विश्व शान्तिके निम्न उपाय हैं—

१—यत विश्व, मूलतः व्यक्ति-समष्टि पर आधारित है, अतः व्यक्ति-विकास सर्व प्रथम अपेक्षित है।

२—व्यक्ति-विकासका अर्थ है उसके चरित्रका निर्माण।

३—अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य अचौर्य एवं ब्रह्मचर्यके आदर्शको सम्मुख रखकर व्यक्तिका चरित्र-निर्माण किया जावे।

४—प्रस्तुत चरित्र-निर्माण व्यक्तिके शैशव-कालसे किया जाय और प्रयत्न-पूर्वक किया जाय।

५—व्यक्तिके चरित्र निर्माणका पूर्ण दायित्व राष्ट्र उठाये और उसकी सुव्यवस्था करे।

६—व्यक्तिमें वर्ग, जाति और राष्ट्र भेदकी कल्पना अंकुरित न हो सके।

७—विश्वका राष्ट्र-मंडल पंचशील योजनाके अनुसार पारस्परिक ऐक्य एवं सद्भाव सूत्रमें आबद्ध हो तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगतमें मानवीय ऐक्यकी प्रतिष्ठा हो।

८—अणु एवं उद्जन जैसी शक्तियोंका नियोजन लोक कल्याणकारी कार्योंमें किया जाय।

९—अनेकान्त सिद्धान्तके आधार पर विभिन्न मत-मतान्तर-गत विद्वेष एवं घृणाके भावोंको समाप्त किया जाय।

१०—भौतिक प्रगति करता हुआ भी व्यक्ति आत्म-स्वातंत्र्य-गत विद्वेष एवं घृणाके भावोंकी समाप्ति तथा आत्म-विकासको ही अपना चरम लक्ष्य बनाये।

११—प्रत्येक राष्ट्रकी भौतिक प्रगतिका विनियोग भी स्व पर-कल्याण में ही हो।

१२—सन्देह एवं घृणा विद्वेष और प्रतियोगिता की भावना पर प्रतिष्ठित आधुनिक राष्ट्रीयताका समूल उन्मूलन किया जाय।

इस प्रकार जब विश्वकी अशान्तिका निराकरण व्यक्तिके आत्म विकासमें निहित है, तब आवश्यक है कि हम सब मिलकर अपने चरित्रका निर्माण करें और अपने अन्त करणको इतना निर्मल बना लें कि हमसे पुनः भूमंडलके अधिवासी मानवीय चरित्र सीखनेके लिये उत्कंठित हो सकें और हम इसके अधिकारीके रूपमें विश्वमें स्थायी शान्ति प्रतिष्ठित कर सकें। अत कविवर पन्तके शब्दोंमें शान्ति-स्थापनका प्रश्न—

राजनीतिका प्रश्न नहीं रे आज जगतके सम्मुख,
अर्थ-साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवनके दुख।
आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जगके निकट उपस्थित
खंड मनुजताको युग युगको होना है नव निर्मित॥

राजनीति, आर्थिक समानता और राष्ट्रीयताका प्रश्न नहीं है वरन् खंडोंमें विभाजित मानवीय सांस्कृतिक एकताके नव निर्माणका प्रश्न है। अतः हम सब ऊपर बताये गये सिद्धान्तोंका पालन करते हुये प्रस्तुत नव निर्माणका व्रत लें। विश्व शान्तिका यही सर्वोत्तम मार्ग है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

जैनकला-प्रदर्शनी और सेमिनार

गत नवम्बर मासमें भारतकी राजधानी दिल्ली में अनेक सांस्कृतिक समारोह हुए, जिनमें यूनेस्का सम्मेलन, बुद्धजयन्ती और बौद्ध कला-प्रदर्शनी प्रमुख थे। इसी अवसर पर जैन समाजकी ओरसे जैन कला-प्रदर्शनी और सेमिनारका भी आयोजन किया गया। स्थानीय सप्रू हाउसके प्राङ्गणमें जैन-कला प्रदर्शनीका उद्घाटन भारत सरकारके खाद्यमंत्री श्री अजितप्रसादजी जैनके द्वारा २५ नवम्बरको दिनके ११ बजे किया गया। इस अवसर पर अनेक मंत्रियों और संसद्-सदस्योंके अतिरिक्त स्थानीय और बाहरसे आये हुये हजारों व्यक्ति उपस्थित थे। उद्घाटनसे पूर्व स्वागत-समारोहके अवसर पर श्री० साहू शान्तिप्रसादजी, ला० राजेन्द्रकुमारजी, श्री० अजितप्रसादजी जैन और आर्किलोजिकल डिपार्टमेन्टके डायरेक्टर जनरल डॉ० श्रीरामचन्द्रनके भाषण हुए। डॉ० रामचन्द्रनने जैनमूर्तिकलाकी प्राचीनता और महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा कि जैन तीर्थकरोंकी दिगम्बर मूर्तियाँ अहिंसा और शान्तिकी प्रतीक हैं और उनके द्वारा हमें आत्मिक-शान्ति प्राप्त करनेका एक मूक सन्देश प्राप्त होता है। आपने अपने भाषणमें इन्डस-घाटी, हड़प्पा आदि प्राचीन ऐतिहासिक स्थानोंसे उपलब्ध जैन-मूर्त्तियोंकी विशेषताका बहुत ही सुन्दर परिचय दिया।

प्रदर्शनीकी सजावट बहुत ही आकर्षक और मनोरम थी। प्रचीनता और ऐतिहासिकताके क्रमसे सारी वस्तुएं यथास्थान रखी गई थीं। हड़प्पा, उदयगिरि-खंडगिरि, मथुरा, श्रावणवेलगुल, खजुराहो, आबू, चित्तौड़गढ़ आदि स्थानोंके अनेक ऐतिहासिक विशाल चित्र, देवगढ़ और पार्श्वनाथ किला (बिजनौर) की भव्य मूर्त्तियाँ चौदहवीं शताब्दीकी बनी लकड़ीकी कलापूर्ण वेदियाँ, सित्तन्नवासल (दक्षिण भारत) के सुरम्य रंगीन चित्र भगवान महावीरके पाँचों कल्याणकोंके प्रदर्शक सुरम्य चित्र अठारह भाषाओंमें उत्कीर्ण देवगढ़का पाषाण-शिलालेख, अजमेरकी स्वर्णिम अष्टमंगल-द्रव्य और सोलह स्वप्नोंसे मंडित सुन्दर वन्दनवार, तीन लोक और बाहुबलीके विशाल चित्र, अढ़ाई-द्वीपका मंडल, रथ, पालकी और वेदी से प्रदर्शनी वस्तुतः प्रदर्शनीय बनी हुई थी।

प्रदर्शनीके मध्य भागमें मैसूर, अजमेर, जयपुर, बीकानेर आदि अनेक शास्त्र-भण्डारोंसे आये हुये प्राचीन एवं रंगीन सचित्र शास्त्र शोकेशोंमें सजाकर रखे गये थे। हस्तलिखित शास्त्रोंमें १२वीं शताब्दीसे लेकर १९वी शताब्दी तकके अनेक दर्शनीय ग्रन्थ थे। इनमें अनेक ग्रन्थ स्वर्ण और रजतमयी स्याहीसे लिखे हुए थे। सचित्र ग्रन्थोंमें ताड़पत्रीय कल्पसूत्र और कालिकाचार्य-कथानकके अतिरिक्त कागज पर लिखे गये ग्रन्थ भी पर्याप्त संख्यामें विद्यमान थे, जिनमें जयपुरका सचित्र भक्तामरस्तोत्र, आदिपुराण, यशोधरचरित्र, त्रिलोकसार और वीरसेवामन्दिरकी रविव्रत कथा उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थोंके चित्रोंने दर्शकोंको विशेषरूपसे अपनी ओर आकृष्ट किया। ग्रन्थराज धवल-सिद्धान्तके हजार वर्ष प्राचीन ताड़-पत्रोंके वीरसेवामन्दिर-द्वारा लिये गये फोटो भी प्रदर्शनीकी श्रीवृद्धि कर रहे थे। कपड़ों पर बने हुए अनेक चित्र भी मनमोहक थे। प्राचीन कालमें जैन साधु जिन उपकरणोंके द्वारा ग्रन्थ लिखते थे—वे प्राचीन उपकरण भी अनेक भण्डारोंसे लाकर प्रदर्शनीमें यथास्थान रखे हुये थे।

यह प्रदर्शनी २५ नवम्बरसे २ दिसम्बर तक दर्शकोंके लिए खुली रही और देश-विदेशोंके हजारों व्यक्तियोंने उसमें जाकर भारतीय जैनकलाका अवलोकन उसकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा की।

इसी अवसर पर ३० नवम्बरसे २ दिसम्बर तक एक सेमिनार (गोष्ठी) का भी आयोजन किया गया। जिसके लिये स्थानीय विद्वानोंके अतिरिक्त बाहरसे आये हुए व्यक्तियोंमें डॉ० कालीदास नाग, डॉ० हरिमोहन भट्टाचार्य, बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ता, डॉ० हीरालालजी वैशाली प० जगन्मोहन लालजी कटनी, पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य बनारस, पं० सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर सिवनी, श्री० अगरचन्द्रजी नाहटा बीकानेर, श्री० कस्तूरचन्द्रजी काशलीवाल एम. ए. जयपुर, पं० पद्मनाभजी मैसूर, पं० राजकुमारजी साहित्याचार्य, बड़ौत आदिके

नाम उल्लेखनीय हैं।

सेमिनारका उद्घाटन ३० नवम्बरको ११ बजे आचार्य कालेलकरने किया। आपने अपने भाषणमें भ० महावीर और म० बुद्धकी चर्चा करते हुये बतलाया कि उनके द्वारा उपदिष्ट मार्गसे ही आजके तनावपूर्ण अशान्त वातावरण में शान्ति स्थापित की जा सकती है। जैनधर्म आत्मोन्नतिकी प्रेरणा देता है और अहिंसाके द्वारा मानव ही नहीं, प्राणिमात्रके कल्याणकी कामना करता है। आपने जैन सिद्धान्तों की विशदरूपसे चर्चा करते हुए अनेकान्त आदि सिद्धान्तोंके व्यवहारमें लाने पर जोर दिया। इसी समय आ० देशभूषणजी और आ० तुलसीजीने भी अपने भाषणमें बतलाया कि आजके युगमें अनेकान्त दृष्टि ही विश्वको उबारनेमें माध्यम बन सकती है। अहिंसा और अपरिग्रहकी आराधना ही विश्व-मैत्रीका सच्चा रास्ता है। अपनी दुर्बलताओंको जीते बिना न हम स्वयं शान्ति प्राप्त कर सकते हैं और न विश्वमें ही उसे प्रस्थापित कर सकते हैं।

डा० कालीदास नागने अपने महत्त्वपूर्ण ओजस्वी भाषणमें कहा—भारतके प्रति विदेशोंका जो परस्पर-संभाषण और मैत्रीका सम्पर्क बढ़ रहा है, वह इस बातका प्रतीक है कि संसार भारतसे मिल कर वह शान्तिपूर्ण वातावरण बनाना चाहता है, जिसका प्रचार बहुत पूर्व भ० महावीरने किया था। डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्रीने जैनधर्मकी संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण भाषण दिया। अध्यक्ष पदसे भाषण देते हुये साहू शान्तिप्रसादजी जैनने श्रमण संस्कृतिके समस्त पुजारियोंसे अनुरोध किया कि वे विश्व-बन्धुत्वकी भावना और विश्वशान्तिके प्रचारके लिये तैयार हो जावें।

१ दिसम्बर को प्रातः ६॥ सेमिनार की दूसरी बैठक डा० हीरालाल जी की अध्यक्षता में हुई। उसमें डा० हरिमोहन भट्टाचार्य, पं० सुमेरचन्द्र जी दिवाकर, पं० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य, बा० कामताप्रसाद जी, श्री अगरचन्द्र जी नाहटा, डा० इन्द्रचन्द्र जी, बा० माईदयालजी और डा० कालीदास नागके अहिंसा और अपरिग्रह पर महत्त्वपूर्ण भाषण हुए। अन्त में डा० हीरालाल जी ने अपने भाषण में कहा कि विश्व-संस्कृति में जैन संस्कृति का स्थान महत्वपूर्ण है। अहिंसा विश्व में बढ़ती जा रही है और इसी से विश्व की समस्याओं का समाधान हो सकता है। आपने यह भी कहा कि प्राचीन काल में श्रमण संघ इस प्रकार के तनाव पूर्ण वातावरण को रोकने में सफल हुए थे।

आज सायंकाल ३ बजे सेमिनार की तीसरी बैठक डा० हरिमोहन भट्टाचार्य के सभापतित्व में हुई, जिसमें अनेकान्त और स्याद्वाद पर अनेक विद्वानों के महत्वपूर्ण भाषण हुए।

२ दिसम्बर के प्रातः ६॥ बजे से चौथी बैठक डा० कालीदासनागकी की अध्यक्षता में प्रारंभ हुई। आज का विषय 'विश्व शान्ति के उपाय' था। श्री रवीन्द्र कुमार जैनने बताया कि हमें जीवनके प्रत्येक पग में अहिंसा और अपरिग्रहको लेकर चलना होगा, तभी विश्वमें शान्ति का वातावरण सम्भव हो सकेगा। ललितपुर के वर्णी कालेज के प्रिन्सिपल बी० पी० खत्री ने अपने वक्तव्य में कहा कि आज विश्व शान्ति के लिए जो पंचशील की योजना बनाई गई है, उसमें जैन धर्मके सभी मूल सिद्धान्त सन्निहित हैं। पं० जगन्मोहन लाल जी शास्त्री ने कहा कि आज विश्व में अशान्ति का प्रधान कारण मानव ही है। यदि मनुष्य ने अपने आपको ठीक कर लिया, तो विश्व में शान्ति स्वयमेव स्थापित हो जायगी। पं० राजकुमार जी साहित्याचार्य ने बताया कि हमें आवश्यकता है अपने चरित्र-निर्माण की। यदि सद्-भाव के सूत्र से बंध कर अपने चरित्र को विकसित कर लिया, तो हम शान्ति का एक आदर्श उपस्थित कर सकेंगे। श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन ने मुख्यतया तीन समस्यायें बताई—१ साम्राज्यवाद की लिप्सा, २ ईर्ष्या द्वेष घृणा और ३ आर्थिक विषमता। इन तीनों बुराइयों का निराकरण हम अहिंसा सिद्धान्त के द्वारा कर सकते हैं और विश्व में शांति अवश्य स्थापित हो सकती है। श्री मुनि फूलचन्द्र जी ने बताया कि हमने यदि अहिंसा पर गंभीरता पूर्वक विचार कर लिया तो विश्व में शान्ति अवश्य स्थापित हो सकती है। अन्त में डा० कालीदास

[शेष टाइटिल-पृष्ठ ३ पर]

पवड्ढिय-संजम-बेल-सुरुंद,
णमामि गणेस गहीर-समुद्द ।
महव्वय-सेल-सरोवरि-थक्क,
विचित्त-मऊह-णिसुंभणि-सक्क ।
दिसासु पणासिय-वाइ-गइंद,
णमामि उवज्झय चारु-मइंद ।
पमाय-विवक्ख-वियारण-दक्ख,
समीहिय-सिद्धि पुरंधि-कडक्ख ।
परीसह-गुज्झि-णिबद्ध-सरीर,
णमामि असेसवि संजय-वीर ।

वत्ता—इय परम पंच परमेट्ठि पहु पणविय पुण्ण पयासहिं ।
वियरिय-विस-विसहर-जलण-णि.........॥ १ ॥

दरिसिय सुवण्ण-गुण-गण-मलग्घु,
मुत्तालंकरिउ महामहग्घु ।
णं वसुह-विलासिणि-हियय-हारु,
अत्थीहावंती विमय-सारु ।
पडिवक्ख-पक्ख-पयडिय-णिरोहु,
सिंगार-विलास-विसेस-सोहु ।
तहिं सुकइ-कहा इव चित्त-हार,
णयरी-चउवग्गण-धरण-धार ।
तहिं सरसइ-कंठाहरणु देउ,
रण-रंगमल्लु भाली-समेउ ।
तिहुयण-णारायणु-भुअण-भाणु,
परमेसर अत्थी जण-णिहाणु ।
पम्मारवंस-गयणेक्कचंदु,
जयसिरि-णिवास भूवइ-णरिंदु ।
तहो खेमिणामु ठक्कुर गरिट्ठु,
सपुवण-पुण्ण-पंजुत्र जणिट्ठु ।
तेल्लोक्क-किंत्ति कामिणिहे धामु,
सुपसिद्धउ वट्टु विहारु णामु ।
महिमाणिणी हे मउडु व मणिट्ठु,
काराविउ किसणु तें गरिट्ठु ।

घत्ता—
तहिं अत्थि सूरि हरिसिघु मुणि जिणसासण-पुर-तोरणु ।
वाएसि-तरंगिणि-मयरहरु, तवसिरि-बहु-मण-चोरणु ॥ २ ॥

समोवि णिवट्ठु णियच्छिवि तेण,
मुणीणयणंदि पसण्ण-मणेण ।
पउत्तु पऊरिय चित्त हिलासु,
सुकोमल-णिम्मल-वाणि-विलासु ।
तुमं कुरु किंपि कवित्तु मणिट्ठु,
णमामि ण जं कइणा इह दिट्ठु ।
तिणं भणियं ण कइत्तु मुणेमि,
अयाणमणो भणु काइं करेमि ।
परं महु अट्ठ गुणाहु सजेव,
ण लद्ध पसिद्धहिं सिद्धहिं तेवि ।
ण देवहिं दाणव-विंदहि पत्त,
असेस-गुणायर-अच्छउ-वत्त ।
गुणेक्कु वि कत्थवि पाविउ जेण,
पढंपइ सो णयणंदी तेण ।
मण पुणु अंगुलि उज्झय तासु,
पणामउ मे गुणलेसु विणासु ।

घत्ता—पर-णिंदा णिहले सलठणु सढवढ रत्ताणि ट्ठिय !
कलिकंडल अट्ठ वि गुणगरुव महंमुणवि कसु संठिय ॥३॥

\+ \+ \+

मणु जण्णवक्कु वामीउ वासु,
वररुइ वामणु कवि कालियासु ।
कोऊहलु वाणु मयूरसूरु,
जिणसेण जिणागम कमलसुरु ।
वारायणु वरणाउ वि वियट्ठु,
सिरि हरिसु रायसेहरु गुणड्ढु ।
जसइंधु जए जयरामणामु,
जयदेउ जणमणाणंद-कामु ।
पालित्तउ पाणिणि पवरसेणु,
पायंजलि पिंगलु वीरसेणु ।
सिरिसिंहनंदि गुणसिंहभद्द,
गुणभद्द गुणिल्लु समंतभद्दु
अकलंकु विसमवाइयविहंडि,
कामद्दु रुद्दु गोविन्द दंडि ।
भम्मुह भारह भारुवि महंतु,
चउमुहु सयंभु कइ पुप्फयंतु ।

घत्ता—
सिरिचंद पहाचंदु वि विबुह गुण गण णंदि मणोहरु ।
सिरिकुमार सरसइ-कुमरु-विलासिणि-सेहरु ॥६॥

इमे अयणा जेते कइत्ते ललामा,
गुणालंकिया कित्ति-कंताहिरामा।
ण चायं भडत्तं कइत्तं विरत्तं,
गुणं केवलं मज्झयं तं सरत्तं।
जिणिंदस्स णिग्गंथ-पंथंमि लीणो,
पयासेमि चायं कहं गंथहीणो।
करामो भडत्तं जेणं सुप्पसिद्धं,
पयासेइ णाणं मदूरे णिसिद्धं।
समुप्पण्णियाया मज्झिमणो कव्वसत्तो,
लज्झए णिग्गुणत्ते ण कित्ती।
अलंकार-सल्लक्खणा देसि छंदं,
ण लक्खेमि सत्थंतरं अत्थमंदं।
परं लक्खणो रम्म भाई कणिट्ठो,
अलंकारवंतो वि सत्थं इट्ठो।
हुउ देसिउ सो वि देसंतराले,
पइट्ठो ण ऐसे कइत्ते विसाले।
णिसंबंध सुद्ध र सु बुद्धीइ वण्णो,
ण जाणामि वाया-विलासो पवण्णो।
ण बुज्झेमि कव्वस्स णामं पि जुत्तं,
हसेऊण ता सूरिणा तेण उत्तं।
अहं तुज्झ सज्झा कवित्ती पहाउं,
पयासेमि कव्वं भुअंगप्पयाउ।

घत्ता—
जो चारु चाउ चार हडि गुणु सु कइत्तणु ण पयासइ।
णर-जम्म रयणु दुल्लहु लहवि भव सायरि सो णासइ॥७॥

इय जंपिउ मुणि हरसिंघु जाम,
पडिजंपइ मुणि णयणंदि ताम।
चिरु कइ सरसइ कण्णावयंसु,
सुकइत्त-सरोवर-रायहंसु।

× × × ×

पच्चक्ख-परोक्ख-पमाण-णीर,
णय-तरल-तरंगावलि-गहीर।
वर-सत्तभंगि-कल्लोल-माल,
जिण-सासणि-सरि-णिम्मल-सुसाल।
पंडिय-चूडामणि विबुह-चंदु,
माणिक्कणंदि उप्पण्णु कंदु।
दिढबुद्धि कलिण कंटय-पयंडु,
तहो हुहुँ हुउ सीसु गुणत्थ डंडु।

तब्भूउ-विमल-सम्मत्त-सदलु,
सयल-विहि-णिहाणु सुकव्व कमलु।
ववगय-मिच्छत्त-तमोह-दोसु,
धम्मत्थ-काम-कमणीय-कोसु।
संकाइय-मलसंगम-विरामु,
दय-रम्म-रमा-रामाहिरामु।
सावय-वय-हंसावलि-णिवासु,
परमेट्ठि-पंच-परिमल-पयासु।
केवलि-सिरि-कामिणी कम-विलासु,
सग्गापवग्ग-सुह-रस-पयासु।
मुणि-दाण कंद-मयरंद-वरिसु,
बुहयण-महुयर-मण-दिण्ण-हरिसु।

घत्ता—
इय कव्वु कमलु कोमल करइ, जो लंकारु स कण्णाहं।
सो सिद्धि पुरंधिहे मणु हरइ, कवणु गहणु सुरकण्णाहं॥११॥

× × × ×

मुणिवर-णयणंदि-संणिबद्धे पसिद्धे,
सयल-विहि-विहाणे एत्थ कव्वे सुभव्वे।
सुहउ सुकइ चाई वण्णणुल्लासजुत्तो,
ललिय-पयए उत्तो आइमो संधि वुत्तो॥१॥

× × × ×

सिरी भोयएव धाराउरेहिं, कव्व विणएं अच्छइ।
मुणि भणइ एम हरिसिंघु तहो, णयणंदि एव सुपयासइ॥१

पारंभि वि कव्वु मसंतएण,
पुर पट्टण पमुह कमंतएण।
णयणंदि मुणिंदु मुणीहि रम्मु,
वत्थीसु णियच्छिउ लच्छि-धम्मु।
जहि वच्छराउ पुणु पुहइ वत्थु,
हुंतउ पुह ईसरु सूदवत्थु।
होएप्पिणु वत्थए हरि मएउ,
मंडलिउ विक्कमाइच्चु जाउ।
भुवणेक्कमल्लु रायहो पियारु,
गुणवंतउ गउरि-गुण-पियारु॥
अंबाइय कंचीपुर विरत्त,
जहं भमहं भव्वु भत्तिहिं पसत्त।
जहिं वल्लहराए वल्लहेण,
काराविउ कित्तणु दुल्लहेण।

जिण पडिमालंकिउ गच्छभाणु,
णं केण वियंभिउ सुर-विमाणु ।
जहिं रामणंदि गुण-मणि-णिहाणु,
जयकित्ति महाकित्ति वि पहाणु ।
इय तिण्णि वि परिमण-मई-मइंद,
मिच्छत्त-विडवि-मोडण-गइंद ।

घत्ता—

सिवपुर गच्छंतें तिहुयणहो णं रयणत्तय सोहण ।
दरसिय अहवीरें गणहरु, कलिकाल हो पडिबोहण ॥१॥

रामणंदि णत्तिउ मणिट्ठउ,
जहिं जिणं णामंसि वि णिविट्ठउ ।
तहिं णिए वि भव्वाहिणंदिणा,
सूरिणा महारामणंदिणा ।
बालइंद-सीसेण जंपियं,
सयल-विहिणिहाणं मणप्पियं ।
कइ दिणाइं पारभिउ पुणो,
कोस-विट्ठसे-चित्त-दुम्मणो ।
तं सुणेवि णयणंदि बोल्लए,
मणु करिंद-कण्णेव डोल्लए ।
रइए कव्वे इयभत्तिणिउभरा,
कासु सत्ति लेहावणे परा ।
कहइ तासु सो भरहरिद्धए,
वर वराडदेसे पसिद्धए ।
कित्ति-लच्छि-सरसइ-मणोहरे,
वाडगामि महि महिल-सेहरे ।
जहिं जिणिंद-हर-पह-पराजिया,
चंद-सूर णहे अंत लज्जिया ।
तहि जिणागमुच्छव अलेवहि,
वीरसेण-जिणसेण देवहि ।
णाम धवल जयधवल सय,
महाबंधु तिण्णिसिद्ध त सिव-पहा ।
विरइऊण भवियहं सुहाविया,
सिद्धि-रमणि-हाराच्च दाविया ।
पुंडरीउ जहिं कवि धणंजउ,
इउ सयंभू भुवणं पि रंजउ ।

घत्ता—तवसिरि-सरसइ-कठाहरण सिद्धंतिय विक्खायहिं ।
जहि तहिमि तेहि पणविय सदहियं जिणु तिहुवण रायहिं ।२

अन्तिमभागः—

मुणिवर-णयणंदि-सणियाबद्धे पसिद्धे,
सयलविहि-विहाणे एत्थ कव्वे सुभव्वे ।
अरिह-पमुह-सुत्त-वुत्तु मणाहणाए
पभणिउ फुडु संधि अट्ठावणं समोत्ति ॥
संधि ५८ ॥ (प्रति आमेर भंडार, सं० १५८०)

१८ अणुवय-रयण-पईव (अणुव्रत-रत्न-प्रदीप)

—कवि लक्ष्मण, रचना काल सं० १३१३

आदिभागः—

णत्तूण जिणे सिद्धे आयरिए पाढए य पव्वइदे ।
अणुवय-रयण-पईवं सत्थं वुच्छे णिसामेह ॥

× × × ×

इह जउँणा-णइ-उत्तर-तडत्थ,
मह णयरि रायवड्डिय पसत्थ ।
धण-कण-कंचण-वण-सरि-समिद्ध,
दाणुण्णयकर-जण-रिद्धि-सिद्धि ।
किम्मीर-कम्म-णिम्मिय रवण्ण,
सट्टल-सतोरण-विविह-वण्ण ।
पंडुर-पायारुण्णइ-समेय,
जहि सहहिं णिरंतर-सिरि-निकेय ।
चउहट्ट चच्चरुद्दाम जत्थ,
सम्माण-गण-कोलाहल-समत्थ ।
जहिं वित्तणे विक्कणे धण कुप्पभंड,
जहि कसिअहिं णिच्च पिसंहि-खंड ।
णिच्चिवच्च-दाण-संमाण-सोह,
जहिं वसहि महायण सुद्ध-बोह ।
ववहार-चार-सिरि-सुद्ध-लोय,
विहरहिं पसण्ण चउवण्ण लोय ।
जहिं कणयचूड-मंडण-विसेस,
सिंगार-सार-कय-निरवसेस ।
सोहग्ग-लग्ग-जिण-धम्म-सील,
माणिणि-णिय-पइ-वय-वहण-लील ।
जहिं पवण-पऊरिय-पवण-साल,
णायर-णारेहिं भूसिय विसाल ।
थियजण विबुज्झल जणिय-सम्म,
कुडरिंग-धयावलि-रुद्ध-धम्म ।
चउ-मालुक्खय-तोरण-सहार,
जहिं सहहिं सेय-सोहण-विहार ।

जहिं दविणंगण-बहि-पेम-छित्त,
लावण्ण-पुण्ण-घण-लोल-चित्त ।
जहिं चरड चाड कुसुमाल भेड,
दुज्जण-सखुद्द-खल-पिसुण-एड ।
ण वियंभहि कहिमि ण धण-विहीण,
दविणड्ढ णिहिल णर धम्म-लीण ।
पेम्माणुरत्त परिगलिय-गव्व,
जहिं वसहिं वियक्खण मणुव सव्व ।
वावार सव्व जहिं सहहि णिच्च,
कणयंवर-भूसिय-रायमिच्च ।
तंबोल-रंग-रंगिय-धरग्ग,
जहिं रेहहिं सारुण-सयल-मग्ग ।
तहिं णरवइ आहवमल्ल-एउ,
दारिद्द-समुत्तारण-स-सेउ ।

घत्ता—

उब्वासिय-परमंडलु दंसिय मंडलु काल-कुसुम-संकास-जसु ।
छल-कुल-बल-सामत्थें णीइ-णयत्थें कवणु राउ उवमियइ तसु

णिय-कुल-कइरव-वण-सिय-पयंगु,
गुण-रयणाहरण-विहूसियंगु ।
अवराह-वलाहय-पलय-पवणु,
मह माणइ-णाण-पडिदिण्ण-तवणु ।
दुव्वसण-रोय-णासण-पवीणु,
किउ अखलिय-सुजस मयंकु झीणु ।
पंचंग-मंत-वियरण-पवीणु,
.... ।
माणिणि-मण-मोहणु मयरकेउ,
णिरुवम-अविरल-गुण-मणि-णिकेउ ।
रिउ-राय-उरत्थल-दिण्ण-हीरु,
विसुमुणण्य-समर-भिडंत वीरु ।
खग्गग्गि-डहिय-पर-चक्क-वंसु,
विवरीय-बोह-माया-विहंसु ।
अतुलिय-बल खल-कुल-पलय-कालु,
पहु-पट्टालंकिय विउल-भालु ।
सत्तंग-रज्ज-धुर-दिण्ण-खंधु,
सम्माण-दाण-पोसिय-सबंधु ।
णिय-परियण-मण मीमत्सण-दच्छु,
परिवसिय-पयासिय-केरकच्छु ।

करवाल-पट्टि-विप्फुरिय-जीहु,
रिउ-दंड-खंड-मुंडाल-सीहु ।
अइ-विसम-साह सुद्दाम-धामु,
चउ सायरंत-पायडिय-णामु ।
णाणा-लक्खण-लक्खिय-सरीरु,
सोमुज्जल सामुद्दय-गहीरु ।
दुप्पिच्छ-मिच्छ-रण-रंग-मल्लु,
हम्मीर-वीर-मण-नट्ठ-सल्लु ।
चउहाणवंस-तामरस-भाणु,
मुणियइ न जासु भुय-बल-पमाणु
तुलसीदि-खंड-वियणाण-कोसु,
छत्तीसाउह पयडण-समोसु ।
साहण-समुद्द बहुरिद्धि-रिद्धु,
अरि-राय-विसह-संकरु पसिद्धु ।

घत्ता—

पालिय-खत्तिय-सासणु परबल-तासणु ताण मंडल-उव्वासणु ।
मइ-जस-पसर-पयासणु यत्र-जल-हरसणु दुणणय-विच्छि-पवासणु

तहो पट्ट-महाएवी पसिद्ध,
ईसरदे पणयणि पणय-विद्ध ।
णिहिलंते उर-मज्झए पहाण,
णिय-पइमण पेसण-सावहाण ।
सज्जण-मण-कप्प-महीय-साह,
कंकण-केऊरंकिय-सुबाह ।
छण-ससि-परिसर-संपुण्ण-वयण,
मुक्क-मल-कमल-दल-सरल-णयण ।
मासा-सिंधुर-गइ-गमण-लील,
बंदियण-मणासा-दाण-सील ।
परिवार-भार-धुर-धरण-सत्त,
मोयइं अंतर-दल-ललिय-गत्त ।
छद्दंसण-चित्तासा-विसाम,
चउ-सायरंत-विक्खाय-णाम ।
आहमल्ल-राय-पय-भत्ति-जुत्त,
अवगमिय-णिहिल-वियणाण-सुत्त ।
णिय-णंदणाइं चिंतामणीव,
णिय-धवलगिह-सरहंसिणीव ।
परियाणिय-करण-विलास-कज्ज,
रूवेण जित्त-सुत्ताम-भज्ज ।

गंगा-तरंग-कल्लोल-माल,
समकित्ति-भरिय-ककुहंतराल ।
कलयंठि-कंठ-कल-महुर-वाणि,
गुण गरुव-रयण-उप्पत्ति-खाणि ।
अरिराय-विसह संकरहो सिट्ठ,
सोहग्ग-लग्ग गोरिव्वदिट्ठ ।

घत्ता—तहिं पुरे कइ कुल-मंडणु,
दुण्णय-खंडणु मिच्छत्त त्ति ण जित्तउ ।
सुपसिद्धउ कइ लक्खणु,
बोह-वियक्खणु पर-मय-राय ण छित्तउ ॥४॥

एक्कहिं दिणे सुकइ पसण्ण-चित्तु,
णिसि सेज्जायले झाइयइ सइत्तु ।
महु बोह-रयणु अइ गरुय-मग्घु,
बुहयण-भव्वयणहं जणिय-हरिसु ।
कर-कंठ-कण्ण-पहिरण अमक्कु,
णर-हर मई तेण सजोरु थक्कु ।
महु सु-कइत्तणु विज्जा-विलास,
बुहयण-मुह-मंडणु साहिलासु ।
आणंद-जयाहरु अमिय-रोय,
ण वियाणइ सुणइ ण इत्थ को वि ।
मइं असुह-कम्म-परिणइ सहाउ,
उग्गमिउ सहिव्वउ दुह-विहाउ ।
एमेव कइत्तण-गुण-विसेसु,
परिगलइ णिच्च महु णिरवसेसु ।
केणुप्पाएं अज्जियइं धम्मु,
किज्जइ उवाउ इह भुवणि रम्मु ।
पाइयइ धम्मु-माणिक्कु जेण,
सहसा संपइ सुद्धें मणेण ।
धम्मेण रहिउ णर-जम्मु वंझु,
इय चिंताउलु कइ-चित्तु रंझु ।
किं कुणमि एत्थ पयडमि उवाउ,
जें लब्भइ पुण्ण-पहाव-राउ ।
मणे झाइ झाणु सुह-वेल्लि-कंदु,
तहि-दल-णिसाए णिद्दलिवि दंदु ।
अइ-णिब्भर-णिद्दाणंद-भुत्तु
संवेइय-मणु जा सिज्ज सुत्तु ।
ता सुइणंतरि सुसमइ पसत्त,
जिण-सासण जक्खिणि तम्मि पत्त ।

बाहरिउ ताइं हे सुह-सहाव,
कइ-कुल-तिलयामल गलिय-गाव ।
जिण-धम्म-रसायण-पाण-तित्तु,
सुहु धण्णउ एरिसु जासु चित्तु ।
चिंता-किलेसु जे तुम्ह बप्प,
तं तज्जिवि सज्झहि मण-वियप्प ।

अहमल्ल-राय-मइमंति सुद्धु,
जिण-सासण-परिणय गुण पबद्धु ।
कण्हड्ड-कुल-कइरव-सेय-भाणु,
पहुणा समज्ज सव्वहं पहाणु ।
सम्मत्त वंतु आसण्ण-भव्वु,
सावय-वय-पालणु गलिय-गव्वु ।

घत्ता—

सो तुम्हहं मण-संसउ,
जणिय-दुहंसउ णिण्णासिहइ समुच्चउ ।
सुपयासिहइ कइत्तणु तुम्ह पहुत्तणु,
जिण-धम्मुलु उच्चउ ॥५

इउ सुणेवि मणसि णिद्दलहि दंदु,
इह कज्जे म सज्जण होहि मंदु ।
तहो णामें विरयहि पयडु भव्वु,
सावय-वय-विहि-वित्थरए-कव्वु ।

इउ पभणेवि भंजिवि मण-मइत्ति,
गय अंबादेवी णियय थत्ति ।
पवि गलिय-विहावरि गेयं बुद्धु,
कइ-लक्खणु संजम-सिरि-विसुद्धु ।
जिणु वंदिवि अज्जिवि धम्म-रयणु,
णिज्झायइ मणे साहसिय-णियणु ।

मुहु मुहु भावइ जं रयणि वित्तु,
अंबादेविए पभणिउ पवित्तु ।
तम लीउ ण हवइ कयावि सुयणु,
महु मण चिंतासा-भवणु पुयणु ।
गजोल्लिय-मणु लक्खणु बहूउ,
सीयगेउ कव्व-करणारूढ ।
णिय-घरे पत्तउ वण गंध-हत्थि,
मय-मत्तु पुरिय मुहरुह-गभत्थि ।
चलि हुयउ स-सर दस-दिसि भरंतु,
भणु को ण पडिच्छइ तहो तुरंतु ।

सुप्पसरणा-राउ धरइं तवेइ,
भणु कवणु दुवार-कवाड देइ ।
अवमिय वय गलिया चातुरंग,
धण-कण-कंचण-संपुरण चंग ।
घर समुह एंत पेच्छि वि सवारु,
भणु कवणु वप्प झंपइ दुवारु ।
चिंतामणि-हाडय-निवड-जडिउ,
पज्जहइ कवणु सइं हत्थ-चडिउ ।
घर-रगुप्पण्णउ कप्परुक्खु,
जले कवणु न सिंचइ जणिय-सुक्खु ।
सयमेव पत्त घरु कामधेणु,
पज्जहइ कवणु कय-सोक्खसेणु ।
चारण-मुणि तेण जित्त-भवइ,
गय णाउ पत्त किर को ण णवइ ।
पेऊस-पिंड करे पत्तु भव्वु,
को मुयइ निवे (इय)-जीवियव्वु ।
मह विउजक्खर-गुण-मणि-णिहाणु,
पवयण-वयणामय-पय-पहाणु ।
घर-धम्मिय-णर-मण [णो] हणत्थु,
वर-कइणा विरइउ परमु सत्थु ।
एमेव लद्ध-मह-पुरणा-भवणु,
अवगण्णइ णरु धीमंतु कवणु ।

घत्ता—

इह महियले सो धरणउ,
पुरणा-पउरणउ जसु णामें सुपसाहमि ।
चिंतइ लक्खण-कइणा,
सोहण-मइणा कव्व-रयणु णिव्वाहमि ॥६॥

इह चंदुवाडु जमुणा-तडत्थु,
हंसिय-विसेस गुण-विविह-वत्थ ।
चउ हट्ट-हट्ट-घर-सिरि-समिद्धु,
चउ वरणासिय-जंण-रिद्धि-रिद्धु ।
भूवालु तत्थ सिहि भरहवालु,
णिय-देस-गाम-णर-रक्खवालु
तहिं-लंबकंचु कुल-गयण-भाणु,
हल्लणु पुरवइ सव्वह पहाणु ।
नरनाह-महा-मंडणु अणिट्ठु,
जिण-सासण-परिणाइ पुरण-सिट्ठु ।

तहो अभयबालु तणुरुहव हूउ,
वणि-पट्ट किय-भालयल-रूउ
णरवइ-समज्ज-सर रायहंसु,
महमंत-धविय-चउहाण-वंसु ।
सो अभयवाल-णरणाह-रज्ज,
सुपहाणु राय-वावार-कज्ज ।
जिण-भवणु करायउ तें ससेउ,
केयावलि-झंपिय-तरणि-तेउ ।
कूडावीडग्गाइणा वोमु-कलहोय,
कलस-कलवित्ति-सोमु ।
चउ सालउ तोरणु सिरि जणंतु,
पड-मंडव-किंकिणि-रण-झणंतु ।
देहरूडु तासु सिरि साहु सोढु,
जाहडउ-णरिंद-सहमंत-पोढु ।

घत्ता—

सभूयउ तहो रायहो, लच्छि सहायहो पढमु जण मणाणंदणु ।
सिरि वल्लालु णरेसरु, रूवें जिय-सरु सुव्हासउ महणंदणु ॥७

जो साहु सोढु तहि पुर-पहाणु,
जण-मण-पोसणु गुण-मणि-णिहाणु ।
तहो पढमु पुत्तु सिरि रयणवालु,
बीयउ कण्हडु अद्दिदु-भालु ।
सो सुपसिद्धउ मल्हा-तणूउ,
तस्साणु मणा जिउ सुद्धरूउ (?) ।
उद्धरिय जिणालय-धम्म-भारु,
जिणसासण-परिणय-चरिय-चारु ।
गंधोवएण दिण दिण पवित्तु,
मिच्छत्त-वसण-वासण-विरत्तु ।
अरिराय-णाइ-गोवाल-रज्ज,
बल्लालएव-णरवहं समज्ज ।
सव्वहं सव्वेसरु रयण-साहु,
वावरइं णिरग्गलु चित्त-गाहु ।
सिवदेउ तासु हुउ पढमु सूणु,
सिरि दाण (वंतु) ण गंध-थूणु ।
परियाणइ णिहिल-कला-कलाउ,
विण्णाण-विसेसुज्जल-सहाउ ।
मइ महा-पंडिउ वि (उ)-सियासु,
अवगमिय-णिहिल-विज्जा विलासु ।

पट्टाहियारि संपुण्ण-गत्तु,
वियसिय-सरोय-संकास-वत्तु ।
आयुक्खए सो सिरि रयणवालु,
गउ सग्गालए गुण-गण-विसालु ।
तहो पच्छए हुउ सिवएव साहु,
पिउ-पट्टि बइट्ठउ गलिय-गाहु ।
अहमल्ल-राय-कर-विहिय-तिलउ,
महयणहं महिउ गुण-गरुव-णिलउ ।
सो साहु पइट्ठिउ-जणिय-सेउ,
सिवदेउ साहु कुल-वंस-केउ ।

घत्ता—

जो कण्हडु पुव्वुत्तउ पुण्ण पउत्तउ महिं मंडलि विक्खायउ
आहवमल्ल-णरिंदहु मणसा णंदहु मंतत्तण पइभायउ ॥८॥

पिया तस्य सल्लक्खणा लक्खणड्ढा,
गुरूणं पए भत्ति काउं वियड्ढा ।
स-भत्तार-पायारविंदाणुगामी,
घरारंभ-वावार-संपुण्ण-कामी ।
सुहायार-चारित्त-चीरंक-जुत्ता,
सुचेणाण गंधोदएणं पवित्ता ।
स-पासाय-कासार-सारा मराली,
किवा-दाण-मंतोसिया वंदिणाली ।
पसण्णा सुवाया अचंचल-चित्ता,
राम (रमा) राम-रम्मा मए वाल णित्ता (?)।
खलाणं मुंहभोय-संपुण्ण-जुण्हा,
पुरग्गो महासाह सोढस्स सुण्हा ।
दया-वल्लरी-मेह-मुक्कंवुधारा,
सइत्तत्तणे सुद्ध सीयावयारा ।
जहा चंदचूडाणुगामी भवाणी,
जहा मम्म-वेईहिं सव्वंग-वाणी ।
जहा गोत्त-णिद्दारिणो रंभ रामा,
रमा दाणवारिस्स संपुण्णकामा ।
जहा रोहिणी ओसहीसस्स सण्णा,
महड्ढी सपुण्णस्स सूरस्स रण्णा ।
जहा सूरिणो मुत्तिवेई मणीमा,
किसण्णस्स साहा जहाकवमोसा (?) ।
जहा जाणई कोसलेसस्स सारा,
कुणीणस्स मंदाइणी तेयतारा ।
रए कंतुणो (कयणो) दाणिणो सुद्धकित्तो,
जहासयण-भव्वस्स सम्मत्त-वित्ती

घत्त—

तासु सुलक्खण विहिय कुलक्कम अणुगामिणि तह जणमहिया
तहि हुव वे णंदण णयणाणंदण हरिदेउ जि दिउराउ हिया ॥

× × × ×

अन्तिम भाग—

सिरि लंबकंचु-कुल-कुमुय-चंदु,
करुणावल्ली-वण-धवण-कंदु ।
जस-पसर-पऊरिय-वोम-खंडु,
अहियहि-विमद्दण-कुलिस दंडु ।
अवराह-बलाहय-पलय पवणु,
भव्वयण-वयण-मिरि-सयण-तवणु ।
उम्मूलिय-मिच्छत्तावणीउ,
जिण-चरणच्चण-विरयण-विणीउ ।
दंसण-मणि-भूसण-भूसियंगु,
तज्जिय-पर-सामंतिणि-पसंगु ।
पवयण-विहाण-पयडण-समासु,
णिरुवम-गुण-गण-माणिक्क-कोसु ।
सपयडि-परपयडि-सया-अणिंदु,
धण-दाण-धविय-वंदियण-विंदु ।
संसाराइट्-परिभमण-भीरु,
जिण-कव्वामय-पोसिय-सरीरु ।
गुरु-देव-पाय-पुंडरिय-भसु,
विणयालंकिय-वय-सोल-जुत्तु ।
महसइ लक्खण तहु पाणणाहु,
पुर-परिहायार-पलंब-बाहु ।
कण्हडु वणिवइ जण-सुप्पसिद्धु,
अहमल्ल-राय-महमंति रिद्ध ।
तहो पणय-वसेण वियक्खणेण,
महमइणा कइणा लक्खणेण ।
साहुलहो घरिणी जइता-सुएण,
सुकइत्तणगुण-विज्जाजुएण ।
जायस-कुल-गयण-दिवायरेण,
अणसंजमीहिं विहियायरेण ।
इह अणुवय-रयण-पईउ कव्वु,
विरयउ हसत्ति परिहरि वि गव्वु ।

घत्ता—

जिण-समय-पसिद्धहं धम्म-सद्धिहं बोहणत्थु महसावयहं।
इयरह महलोयहं पयडिय-मोहहं परिसेसिय-हिंसावयहं।

मइ अमुणंते अक्खर-विसेसु,
न मुणमि पबंधु न छंद-लेसु।
सद्दावमद्दु ण विहत्ति अत्थु,
धिट्टत्तणेण मइ रइउ सत्थु।
दुज्जणु सज्जणु वि सहावरोवि,
महु मुक्खहो दोसु म लेउ कोवि।
पद्धडियाबंधें सुप्पसण्णु,
अवगमउ अत्थु भव्वयणु तण्णु।
हीणक्खरु मुणेवि इयरु सत्थु,
संथवउ अयणु वज्जेवि अणत्थु।
जं अहियक्खरु मत्ता-विहाउ,
तं पुसउ मुणि वि जणियाणु राउ।
सय दुण्णि छ उत्तर अत्थसार,
पद्धडिय-छंद णाणा-पयार।
बुज्झहु ति-सहस सय चारि गंथ,
बत्तीसक्खर णिरु तिमिर-मंथ।
चदु-दुहय सग्ग पिहु पिहु पमाण,
सावय-मण-बोहण सुद्ध-ठाण।
तेरह सय तेरह उत्तराल,
परिगलिय विक्कमाइच्च काल।
सवेय रहह सव्वई समक्ख,
कत्तिय-मासम्मि असेय-पक्ख।
सत्तमि दिणे गुरुवारे समोए,
अट्ठमि रिक्खे साहिज्ज-जोए।
नवमास रयंतें पायडत्थु,
सम्मत्तउ कम कम एहु सत्थु।

घत्ता—

तित्थंकर वयणुब्भव, विहुणिय-दुब्भवजण-वल्लह परमेसरि।
कव्व-करण मइ पावण, सुहसरिदावण, महुउवण्णउ वाएसरि।

इय अणुवय-रयण-पईव-सत्थे महासावयाण सुपसण्ण-परम तेवण्ण-किरिय-पयडण-समत्थे सुगुण सिरि-माहुल-सुव-लक्खण-विरइए भव्व-सिरि-कण्हाइच्च-णामंकिए सावयार-विहि-समत्तणो णाम अट्ठमो परिच्छेउ समत्तो ॥८॥

'प्रति सं० १५३५,

(जैनसिद्धान्त भास्कर भाग ६, ३ से)

(१६) बाहुबलिदेव-चरिउ (बाहुबलि-चरित)

कवि धनपाल। रचना काल १४५४

आदिभाग:—

णिरिरिसहणाह-जिण-पय-जुयलु,
पणविवि णासिय-कलि-मलु।
पुणु पढम-कामएवहो चरिउ,
आहासमि कयमंगलु।

× × × ×

माय-वाय-वयणं दरिसंती,
दुविह-पमाण-समुज्जल-णेत्ती।
पवयण-वयण-रमण-गिर-कोमल,
सद्द-समूह-दसण-सोहामल।
सालंकार-अहर-पुडयावइ,
पय-समास-भालुव-ठलु भावइ।
गण चउ-णाणा-वंसु-परिट्ठिउ,
दो-उवओय-सवणजुउ-संठिउ।
विग्गह-तण-रेहागलि-कंदलि,
णय-जुय-उरय-कढिण वच्छत्थलि।
मइ वायरणुउ अरु जउ दुग्गमु,
अत्थ-गहीर-णाहि-सुमणो रमु।
दुविह-छंद-भुव-जुअ-जग-जणणिहिं,
जिणमय सुत्तसार आहरणहिं।
तय-सिद्धंत-तिवलि-सोहालउ,
कह थलु तुंगु णियंबु विसालउ।
वर-विण्णाण-कलासकरंगुलि,
ललियर करई-कसण-रोमावलि।
अंग-पुव्व ऊरू-णिब्भंतिए,
पय-विहत्ति-लीलइं पय-दिंतिए।
विमल-महागुण-णह-भा-भासुर,
णव-रस-गहिर-वीणा तंतीसर।
णिम्मल-जस-भूसिय-संयंवर,
पविमल-पंचणाण सुहकय कर।

घत्ता—

महु उप्परि होउ पसण्ण मण मोह-पडल-णिण्णासणि।
तियरण सुद्धिय तह णविवि पय-जिण मुह-कमल णिवासिणि ॥२

गुज्जरदेस मज्झि णय-वट्टणु,
वसइ विउलु पल्हणपुरु पट्टणु।
वीसलएउ-राउ-पय-पालउ,
कुवलय मंडणु सयलुव मालउ।

[पृष्ठ १४६ का शेष]

नाग ने अपनी ओजस्विनी भाषा में बताया कि हमें कुछ करना है, तो इस संकुचित दायरे में नहीं, अपितु सारे विश्व में महावीर के सिद्धान्तों का डंका बजा देना है। ये वे ही सिद्धान्त हैं जिनसे शान्ति मिल सकती है। जैन साहित्य शांति रूपी खजाने से लबालब भरा हुआ है, आवश्यकता है इसके सदुपयोग की। आपने भाषण के अन्त में नालंदा विश्वविद्यालय का जिक्र करते हुए कहा कि उसमें विभिन्न देशों से आये हुए दश हजार विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे और उन्हें सर्व प्रकार की सुविधायें मुफ्त दी जाती थीं। आज ऐसा ही एक अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा विश्वविद्यालय बनना चाहिए जिससे कि संसारको शांतिका मार्ग प्राप्त हो सके।

आज के ही अपराह्न में ३॥ बजे से स' हाउस के प्राङ्गण में खुला अधिवेशन हुआ। जिसमें डा० हीरालाल जी ने 'अहिंसा और अपरिग्रह' पर हुई चर्चा का, श्री सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर ने 'अनेकान्त और स्याद्वाद' पर हुई चर्चा का और डा० हरिमोहन भट्टाचार्य ने 'विश्व शांति के उपाय' पर हुई चर्चा का सार-अंश पेश किया। अन्त में अध्यक्ष पदसे भाषण देते हुये साहू शांतिप्रसाद जी ने कहा कि दूसरे देशोंके लोगोंको जैनधर्मके सिद्धांतोंसे पूर्णतः परिचित करना चाहिए और इसके लिए यह आवश्यक है कि जैनधर्मके मुख्य उपदेशोंको विभिन्न भाषाओंमें प्रकाशित किया जाय।

अन्तमें अध्यक्षपदसे एक शांति प्रस्ताव उपस्थित किया गया, जो सर्वसम्मतिसे पास हुआ।

सेमिनार के लिए आये हुए लेखों में से कुछ लेख इसी किरण में प्रकाशित हैं। शेष लेख यथासम्भव आगेकी किरणोंमें दिये जावेंगे।

—हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री

शोक प्रस्ताव

आरा निवासी बाबू श्री निर्मलकुमारजी जैनके स्वर्गवास पर शोक प्रकट करनेके लिये श्री छोटेलाल जी जैन के सभापतित्वमें स्थानीय श्री दिगम्बर जैन भवनमें कलकत्तेके सारे जैन-समाजकी सभा हुई। उसमें निम्न प्रस्ताव स्वीकृत हुआ—

कलकत्तेके समस्त जैन-समाजके सुप्रसिद्ध समाज-सेवी, तीर्थ भक्त, दानवीर और कितना ही उपयोगी संस्थाओंके संस्थापक एवं जैन धर्म, समाज तथा देशके महत्त्वपूर्ण कार्योंमें सदा सहयोग देने वाले सुप्रख्यात आरा निवासी बाबू देवकुमारजी जैनके ज्येष्ठ पुत्र श्री निर्मलकुमारजी जैनके असामयिक स्वर्गवास पर हार्दिक शोक प्रकट करती है। उनके वियोगमें सारे जैन समाजकी जो महान क्षति हुई है, उसकी पूर्ति नहीं की जा सकती।

यह सभा उनके शोक-संतप्त परिवारके प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करती है और श्री वीर प्रभुसे प्रार्थना करती है कि वे दिवंगत आत्माको शान्ति और उनके परिवार वर्गको धैर्य प्रदान करें।

जैन समाज कलकत्ता

शोक समाचार

जैन समाजके प्रसिद्ध समाजसेवी, तीर्थभक्त, दानवीर आरा निवासी बाबू निर्मलकुमारजी जैन रईसका बहुत दिनोंकी बीमारीके बाद कार्तिक शुक्ला एकादशी, ता० ११ नवम्बरको स्वर्गवास हो गया है। वीरसेवामंदिर परिवार आपके असामयिक निधनपर हार्दिक खेद प्रकट करता हुआ जिनेन्द्रसे प्रार्थना करता है कि स्वर्गस्थ आत्मा परलोकमें सुख-शान्तिका अनुभव करे, और शोकाकुल कुटुम्बी-जनों को इष्ट वियोगके सहनेकी क्षमता प्रदान करे। आपके निधनसे एक समाज सेवीका अभाव हो गया है जिसकी पूर्ति होना कठिन है।

शोकाकुल—वीर सेवामन्दिर परिवार

Regd. No D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C.) जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) साहू शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर
२५१) सेठ तुलारामजी नथमलजी लाडनूवाले कलकत्ता

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) सेठ लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी कलकत्ता
१०१) बा० शान्तिनाथजी ,,
१०१) बा० निर्मलकुमारजी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१ बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) श्री जयकुमार देवीदास जी, चवरे कारंजा
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

'वीर-सेवामन्दिर'
२१, दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री वीर सेवामंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली । मुद्रक-रूपवाणी प्रिंटिंग हा.स, देहली

वर्ष १४

किरण ६

विषय-सूची

धर्मका अपूर्व अवसर न चूकिये

श्री अतिशयक्षेत्र मढ़ियाजीमें श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक सहजानन्द (मनोहरलाल) वर्णीजी महाराजके पधारनेसे धर्मका अपूर्व लाभ होरहा है श्री वर्णी गुरुकुल एवं ब्रह्म-विद्याश्रम १८-१२-४६ से चालू होगया है। जिसमें प्रतिदिन त्यागी, ब्रह्मचारी श्रावक-श्राविकाएँ, स्नातक छात्र एवं जबलपुरसे जैनसमाज प्रतिदिन आकर वर्णीजीसे धर्म-प्रवचन श्रवणकर ज्ञानोन्नतिके साथ आत्म-शान्तिका अनुभव करते हैं। आपकी भाषण शैली सरस स्पष्ट और हृदयग्राहिणी है। विद्वान्से लेकर अल्पबुद्धि बालक भी आपके सदुपदेशको ग्रहण कर लेते हैं। यह मढ़ियाक्षेत्र जबलपुरसे ४ मील नागपुर रोड पर रमणीक पहाड़ीके ऊपर स्थित है। पहाड़ पर दो प्राचीन मंदिर हैं और दो बड़े मंदिर बन रहे हैं। एक वर्णी गुफा है जिसमें सुकौशल मुनिका उपसर्ग सहित चित्रमूर्ति है जो सफेद संगमरमरसे बनी है। तथा वर्तमान चौबीस तीर्थंकरोंकी २४ छतरी संगमर्मरकी बनना शुरू होगई हैं। पहाडकी तलहटीमें एक मंदिर धर्मशालामें है। एक मानस्तम्भ तलहटीके मैदानमें बना है। तथा पहाड़के परकोटाके बाहर ४ मंदिर और एक गुफा भी बन गई है। अतः यहांके दर्शन तथा वर्णीजीके प्रवचनका लाभ होगा। जो त्यागी, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी, श्रावक और श्राविकाऐं इस ब्रह्मविद्याश्रममें रहकर ज्ञान तथा आत्म-लाभ करना चाहते हों, वह ऐसा अवसर न चूकें। इसमें भोजनकी व्यवस्था है। भोजन फीस साधारण १५) मासिक है। निम्न पतेसे पत्र-व्यवहार करें।

सिंघई कोमलचन्द्र जैन
मंत्री—मढ़ियाजी क्षेत्र, पो०—गढ़ा, जबलपुर (म. प्र.)

पटनागंजका वार्षिक महोत्सव

श्री दि. जैन अतिशयक्षेत्र पटनागंजका वार्षिक मेला माघ शुक्ला १३-१४-१५ दिन मंगलवार, बुधवार, बृहस्पतिवार ता. १२-१३-१४ फरवरीको बड़ी धूमधामके साथ सम्पन्न होगा। और उसी समय १२ फोट ऊँची श्री महावीर स्वामीकी विशाल प्रतिमाका महामस्तकाभिषेक, श्रीगणेशवर्णी गुरुकुलका समारम्भ, विराट कविसम्मेलन होगा। सर्वसमाजको सादर निमंत्रण है तथा आदर्श विवाह भी होंगे। कृपया मेले पर पधारनेकी कृपा करें।

निवेदकः—मुंशी मूलचन्द जैन
मेलामंत्री—श्री दि. जैन अतिशयक्षेत्र, पटनागंज
पो० रहली (सागर) म. प्र.

अनेकान्तके उपहारमें समयसार टीका

अनेकान्तके प्रेमी पाठकोंको यह जानकर हर्ष होगा कि कि हमें बाबू जिनेन्द्रकुमारजी मंत्री 'निजानन्द ग्रन्थ माला सहारनपुरकी ओरसे स्वामी कर्मानन्दजी कृत समयसार टीकाकी १५० प्रतियाँ अनेकान्तके उन ग्राहकोंको देनेके लिये प्राप्त हुई हैं जो ग्राहक महानुभाव अपना वार्षिक चन्दा ६) रुपया और उपहारी पोष्टेज १।) रु० कुल ७।) सवासात रुपया मनीआर्डरसे सबसे पहले भेज देंगे उन्हें समयसार टीका रजिष्टर्डीसे भेज दी जावेगी। प्रतियाँ थोड़ी हैं इसलिये ग्राहक महानुभावोंको जल्दी करनी चाहिये, अन्यथा बादको पछताना पड़ेगा।

—मैनेजर 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली

अनेकान्तके ग्राहकोंसे निवेदन

अनेकान्तके ग्राहकोंसे निवेदन है कि जिन ग्राहकोंने अपना वार्षिक चन्दा छह रुपया अभीतक नहीं भेजा है और उनकी सेवामें अनेकान्तकी ५ किरणें भेजी जा चुकी हैं। और छठवीं किरण भेजी जारही है। अतः इस किरणके पहुँचते ही वे ६) रुपया मनीआर्डरसे भेज दें। यदि उपहार ग्रन्थकी आवश्यकता हो, तो पोष्टेज सहित ७।) रु० भेजें। अन्यथा उन्हें अगली किरण वी. पी. से भेजी जावेगी जिससे उन्हें ॥–) अधिक देकर वी. पी. छुड़ानी होगी। आशा है प्रेमी ग्राहक महानुभाव १५ फर्वरी तक अपना वार्षिक मूल्य भेजकर अनुगृहीत करेंगे। —मैनेजर 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर २१ दरियागंज दिल्ली

दुःखद वियोग

हाल के ता० १७ के जैनमित्रसे यह जानकर कि 'जैन संस्कृति संरक्षक सङ्घ' के जन्मदाता एवं संस्थापक श्री जीवराज दोशीका ता० १५ को समाधिमरण पूर्वक स्वर्गवास हो गया है। आपने अपनी तीन लाखकी सम्पत्तिका ट्रस्ट कर दिया था। आप ब्रह्मचारी तथा अच्छे लेखक भी थे। आपके वियोगसे जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना सम्भव नहीं है। वीरसेवामन्दिर परिवार आपके इस वियोग, जन्य दुःखमें सम्वेदना प्रकट करता हुआ वीर प्रभु से प्रार्थना करता है कि दिवंगत आत्मा परलोकमें सुख-शान्ति प्राप्त करे, और कुटुम्बी जनोंको धैर्य प्राप्त हो।

—वीर सेवामन्दिर परिवार

ॐ अर्हम्
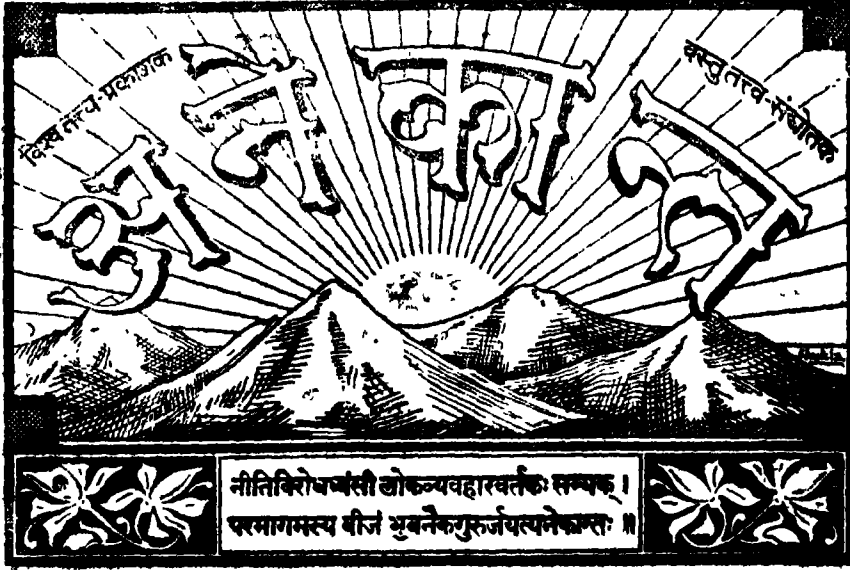
वर्ष १४ किरण, ६ | वीरसेवामन्दिर, २१, दरियागंज, देहली
माघ, वीरनिर्वाण-संवत २४८३, विक्रम संवत २०१३ | जनवरी '५७

(नेमिचन्द्रयति-विरचितम्)

सुप्रभात-स्तोत्रम्

चन्द्रार्क-शक्र-हरि-विष्णु-चतुर्मुखाद्यास्तीक्ष्णैः स्वबाण निवहैर्विनिहत्य लोकम् ।
व्याजृम्भतेऽहमिति नात्र परोऽस्ति कश्चित्तं मन्मथं जितवनस्तव सुप्रभातम् ॥ १ ॥

गन्धर्व-किन्नर महोरग-दैत्य-यक्ष-विद्याधरामर-नरेन्द्र-समर्चिताङ्घ्रिः ।
संगीयते प्रथित-तुम्बुर-नारदैश्च कीर्त्तिः सदैव भुवने तव सुप्रभातम् ॥ २ ॥

अज्ञान-मोह-तिमिरौघ-विनाशकस्य सज्ज्ञान-चारु बलि-भूपित-भूषितस्य ।
भव्याम्बुजानि नियतं प्रतिबोधकस्य श्रीमज्जिनेन्द्र दिनकृत्तव सुप्रभातम् ॥ ३ ॥

श्वेतातपत्र-हरिविष्टर-चामरौघ-भामण्डलेन सह दुन्दुभि-दिव्यभाषाऽ- ।
शोकाग्र-देवकर-मुक्त-सुपुष्पवृष्टी देवेन्द्र-पूजितवतस्तव सुप्रभातम् ॥ ४ ॥

तृष्णा क्षुधा-जनन-विस्मय-राग-मोह चिन्ता-विषाद-मद-खेद जरा-रुजौघाः ।
प्रस्वेद-मृत्यु-रति-रोष-भयानि निद्रा देहे न सन्ति हि यतस्तव सुप्रभातम् ॥ ५ ॥

भूतं भविष्यदपि सम्प्रति वर्तमानं ध्रौव्यं व्ययं प्रभवमुत्तमसप्यशेषम् ।
त्रैलोक्य-वस्तु-विषयं सविशेषमित्थं जानासि नाथ ! युगपत्तव सुप्रभातम् ॥ ६ ॥

स्वर्गापवर्ग-सुखमुत्तममव्ययं यत् तद्देहिनां सुभजतां विदधासि नाथ !
हिंसाऽनृतान्यवनिता-परवित्त-सेवा-संत्यागकेन हि यतस्तव सुप्रभातम् ॥ ७ ॥

संसार-घोर-तर-वारिधि-यानपात्र ! दुष्टाष्टकर्म-निकरेन्धन-दीप्त-वन्हे !
अज्ञान-मूढ-मनसां विमलैकचक्षुः श्रीनेमिचन्द्र-यतिनायक ! सुप्रभातम् ॥ ८ ॥

प्रध्वस्तं परतारकमेकान्त-ग्रह-विवर्जितं विमलम् ।
विश्वतमः-प्रसर हरं श्रुतप्रभातं जयति विमलम् ॥ ९ ॥

(बड़ाधड़ा पंचायती मन्दिर अजमेरके शास्त्र-भण्डारसे प्राप्त)

णवकार-मन्त्र-माहात्म्य

घण-घाइ-कम्म-मुक्का अरहंता तह य सव्व सिद्धा य ।
आयरिय उवज्झाया पवरा तह सव्वसाहूणं ॥१॥
एयाण णमोक्कारो पंचण्हं पंच-लक्खण-धराणं ।
भवियाण होइ सरण संसारे संसरंताणं ॥२॥

उड्ढमह-तिरियलोए जिण-णवकारो पहाणओ णवरं ।
णर-सुर-सिव-सुक्खाणं कारणयं इत्थ भुवणम्मि ॥३॥

तेण इमो णिच्चंचिय पढिजइ सुत्तुट्ठिएहि अणवरयं ।
हो हं चिय दुह-दलणो सुह-जणओ भवियलोयस्स ॥४॥

जाए वि जो पढिज्जइ जेण व जायस्स होइ फल-रिद्धी ।
अवसाणे वि पढिज्जइ जेण मुओ सुगइं जाई ॥५॥

आवइहि वि पढिज्जइ जेण व लंघेइ आवइ-सयाइ ।
रिद्धीहि वि पढिज्जइ जेण वसा जाइ वित्थारं ॥६॥

णर-सुर हुंति सुराणं विज्जाहर-नेय-सुर-वरिंदाणं ।
जाण इमो णवयारो सासुव्व (हारुव्व) पइट्ठियं कंठे ॥७॥

जह अहिणा दट्ठाणं गारुडमंतो विसं पणासेइ ।
तह णवकारो मंतो पाव-विसं णासए सेसं ॥८॥

किं एस महारयणं किं वा चिंतामणिव्व णवयारो ।
किं कप्पद्दुमसरिसो णहु णहु ताणं पि अहिययरो ॥९॥

चिंतामणि-रयणाइं कप्पतरू एक्क जम्म सुह-हेऊ ।
णवकारो पुणु पवरो सग्गपवग्गाण दायारो ॥१०॥

जं किंचि परमतच्चं परमप्पयकारणं पि जं किंचि ।
तत्थ इमो णवकारो झाइज्जइ परमजोईहि ॥११॥

जो गुणइ लक्खमेगं पूयाविहिएण जिण-णमोक्कारं ।
तित्थयरणामगोयं सो बंधइ णत्थि संदेहो ॥१२॥

सट्ठिसयं विजयाणं पवराणं जत्थ सासओ कालं ।
तत्थ वि जिण-णवयारो पढिज्जइ परम-पुरिसेहि ॥१३॥
अइरावएहि पंच इ पंचहि भरएहि सो वि पढिजंति ।
जिण-णवयारो एसो सासय-सिव-सुक्ख-दायारो ॥१४॥
जेण पुरं तेण (?) इमो णवयारो पाविओ कयत्थेण ।
सो देवलोग गंतुं परमपयं तं पि पावेइ ॥१५॥
एसो अणाइकाले अणाइजीवो अणाइ जिणधम्मो ।
तइयावि ते पढंता एसो चिय जिण-णमोयारो ॥१६॥
जे के वि गया मोक्खं गच्छंति य के वि कम्म-खल-मुक्का ।
ते सव्वे चिय जाणसु जिण-णवयारस्स भावेण ॥१७॥
इय एसो णवयारो भणियउ सुर-सिद्ध-खयर-पमुहेहि ।
जो पढइ भत्तिजुत्तो सो पावइ सासयं ठाणं ॥१८॥
अडवि-गिरि-राय-मज्झे भयं पणासेइ चिंतिओ संतो ।
रक्खइ भविय-सयाइ माया जह पुत्त-डिंभाइं ॥१९॥
थंभेइ जलं जलणं चिंतियमित्तेण जिण-णमोयारो ।
अरि-चोर-मारि-रावल-घोरुवसग्गं पणासेइ ॥२०॥
णो किंचि तह य पहवइ डाइणि-वेयाल-रिक्ख-मारि-भयं ।
णवयार-पहावेणं णासंति ते सयल-दुरियाइ ॥२१॥
सयल-भय-वाहि-तक्कर-हरि-करि-संगाम-विसहर-भयाइ ।
णासंति तक्खणेणं जिण-णवयारो पहावेणं ॥२२॥
हियइ-गुहाइ णवकार-केसरी जेण संठिओ णिच्चं ।
कम्मट्ठ-गंठि-गय-घट्टथट्टयं ताण परणट्टं ॥२३॥
तव-संजम-णियम-रहो पंच-णमोकार-सारहि णिउत्तो ।
णाण-तुरंगम-जुत्तो णेइ फुडं परमणिव्वाणं ॥२४॥
जिणसासणस्स सारो चउदस-पुव्वाइ जो समुद्धारो ।
जस्स मणे णवयारो संसारो तस्स किं कुणइ ॥२५॥

जैन वाङ्मयमें णमोकार या नमस्कार-मंत्रका वही स्थान है, जो वैदिक वाङ्मयमें गायत्री-मंत्रका है। इस मंत्रमें क्रमशः अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन पंचपरमेष्ठियोंको नमस्कार किया गया है। फलकी दृष्टिसे णमोकार-मंत्रका स्थान गायत्री मंत्रसे सहस्र-कोटि-गुणित माना गया है, यह बात ऊपर दिये गये णमोकार-मन्त्र-माहात्म्यसे प्रकट है। यह णवकार-मन्त्र-माहात्म्य नामक स्तोत्र अजमेर-शास्त्र-भंडारके एक गुटकेसे उपलब्ध हुआ है। इसके रचयिताने णमोकार-मन्त्रको अनादिमूलमन्त्रके नामसे सयुक्तिक सिद्ध कर उसे जिन-शासनका सार और चौदह पूर्व-महार्णवका समुद्धार बताया है। साथ ही उसे दुःखको दलन करने और सर्व सुखको देने वाला तथा स्वर्ग-अपवर्गका दाता प्रकट किया है। रचना इतनी सरल और सरस है कि पढ़नेके साथ ही उसका अर्थ-बोध हो जाता है। इसके रचियताके नाम आदिका उक्त रचना परसे कुछ पता नहीं चलता।

—हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री
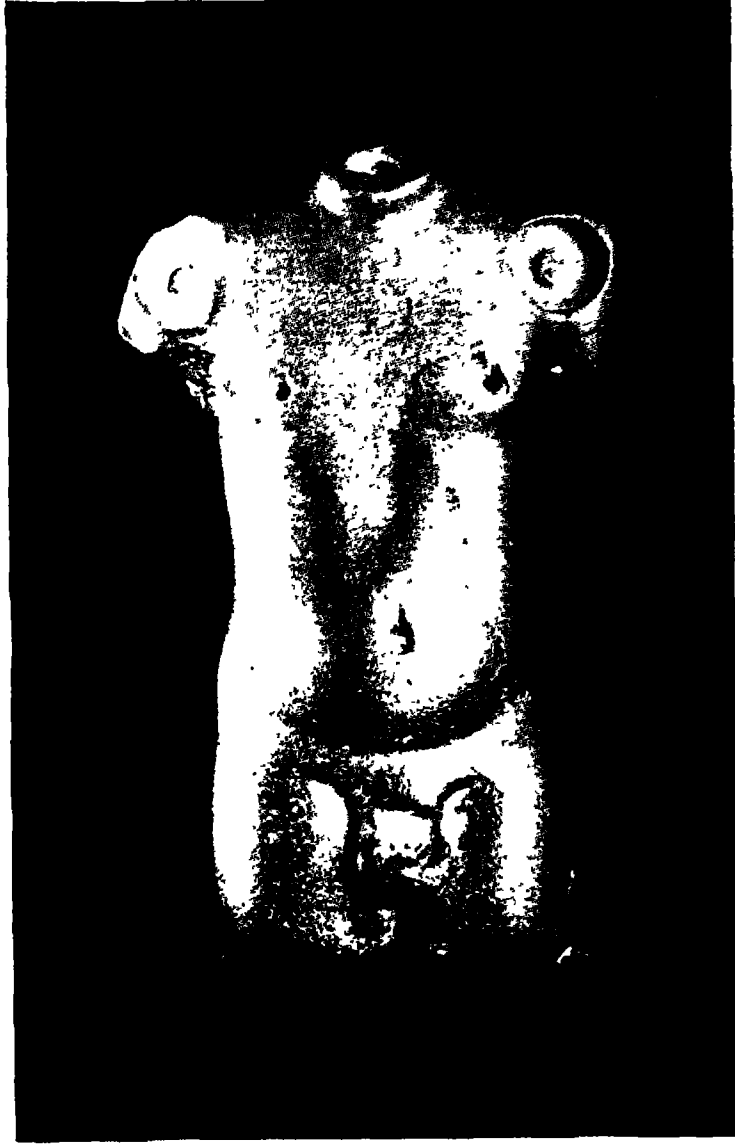
TIRTHANKARA—FROM HARAPPA, PUNJAB
2400 - 2000 B. C.

हडप्पा और जैनधर्म

लेखक—श्री. टी. एन. रामचन्द्रन्, संयुक्त निर्देशक—पुरातत्त्वविभाग, भारत सरकार
(अनुवादक—श्री जयभगवान, एडवोकेट)

सिन्धु उपत्यका-संस्कृतिकी उच्चतम स्मारक उसकी प्रस्तर कला-कृतियां हैं। १३ मूर्तिकायें जिनमें दो सुप्रसिद्ध और विवादग्रस्त मूर्तिकायें भी संमिलित हैं अब तक हडप्पा-से प्रकाश में आई हैं, इनमेंसे तीन पशुओंकी प्रतीक हैं और पांच प्रसिद्ध पद्मासनस्थ देवताकी प्रतीक हैं। हडप्पा की उपरोक्त दो मूर्तिकाओंने तो प्राचीन भारतीय कला सम्बन्धी आधुनिक मान्यताओंमें बड़ी क्रांति ला दी है। ये दोनों मूर्तिकायें जो ऊँचाईमें ४ इंचसे भी कम हैं, शिर हाथ पाद-विहीन पुरुषाकार कबन्ध हैं। इनसे जिस सजीवता और रचना-कलाका प्रदर्शन हुआ है वह स्थिर और अन्तर्मुखी है। दोनोंमें ग्रीवा और कन्धों के स्थान पर पृथक् बने हुये सिर और बाहु धारण करनेके रन्ध्र बने हुये हैं। इनमें से फलक-प्रदर्शित एक मूर्तिकाका आकार तो ऐसा बनाया गया है जैसे वह भीतरसे उभरने वाली एक अबाध आत्मशक्ति द्वारा रचा गया हो, जो उसके कण-कणको सचेत बना रही है। जो देहके अन्तःपुरसे जग कर एक सूक्ष्म मचलने वाली थिरकनकी संवेदनामें व्यस्त है। यह प्रतिमा जो भीतरसे रची हुई प्रतीत होती है यद्यपि निश्चेष्ट है तो भी थिरकन से भरी है। यह प्रतिमा इतनी ओजपूर्ण है कि यद्यपि यह केवल ३, ३¼ इंच ऊँची है तो भी यह ऊँचाईमें उठती हुई दीख पड़ती है। यह स्थूल कबन्ध, रूपों की गहन गूढ जीवन-शक्तिको लट्टूकी स्थिर घूमके समान इस प्रकार विकसित कर रहा है कि यद्यपि यह दीखनेमें ठहरा हुआ मालूम देता है परन्तु सर्व प्रकार सजग और सचेष्ट है। थोड़ेमें यों कह सकते हैं कि यह मूर्तिका देहके मृदुपाशोंके भीतर अनजाने ही उदय होने वाली जीवनकी थिरकनोंका अङ्कन कर रही है। इस प्रकार यह रचित पिंडकी मूर्तिका है। मूर्तियोंका यह भौतिक प्रतिरूप भारतीय कलामें प्राचीन युगोंसे उन देवताओंके प्रदर्शनका यथार्थ प्रतीक बना चला आ रहा है जिनमें तपस्या और ध्यान-मग्न जिन व तीर्थंकरों के समान सृष्टिकारिणी आत्मशक्ति नियन्त्रित रूपसे स्फुरित है।

हडप्पाकी दूसरी मूर्तिका एक ऐसे चपल नर्तकका प्रतीक है जिसके मन्द-मन्द समुद्भूत आवर्त और उभरते हुए समस्थल अनन्त धारावाही नृत्यकी थिरकनोंके क्षेत्रमें रल-मिल गये हों। इस मूर्तिकाका कलेवर न सिर्फ अधरेखाके गिर्द संविभाजित है, बल्कि यह अपने कायिक स्पन्दनसे उत्पन्न समस्थलोंके परस्पर छेदन वाले स्थानमें भी संतुलित है। देहका बाह्य परिस्पन्दन इतना सुव्यक्त है कि वह उस क्षेत्र और पिण्डकी एकताका जिसमें कबन्धकी सत्ता ठहरी हुई है, अनुशासन कर रहा है। दूसरे शब्दोंमें यह मूर्तिका देह-क्षेत्र-में विनम्र होती हुई रेखाओं और समस्थलोंका एक साकार प्रदर्शन है। यह और दूसरी पूर्व-वर्णित संस्थित मूर्तिका भारतीय मूर्तिकलाकी दो विशिष्ट विधियोंकी प्रतीक हैं। एक वह जो देहके मृदु-पाशोंके भीतर अनजाने ही उदय होने वाली जीवनकी थिरकनोंका अंकन करती है। दूसरी वह जो देहके बाह्य स्पन्दनको इच्छाबलसे उसी देह क्षेत्र तक सीमित रखती है जो स्पन्दनसे घिरा हुआ है। ये दोनों मूर्तिकाएं १४०० से २००० ईसा पूर्वकी आंकी गई हैं। नर्तनकारी प्रतिमाके शिर बाहु और जननेन्द्रिय पृथक् बना कर कबन्धमें बनाये हुए रन्ध्रोंमें जोड़े हुए थे। इसकी टांगें टूटी हुई हैं। इसके कुचाग्र भी पृथक् बनाकर सीमेंट द्वारा जोड़े हुए हैं। इसकी नाभि कटोरेके आकार वाली है। इसकी बाईं जांघ पर एक छेद बना हुआ है। दूसरी संस्थित प्रतिमा अकृत्रिम यथाजात नग्न मुद्रावाले एक सुदृढ़-काय युवाकी मूर्ति है। जिसके स्नायु पट्ठे बड़ी देख-रेख, विवेक और दक्षताके साथ जो मोहनजोदड़ोकी उत्कीर्ण मोहरोंकी एक स्मरणीय विशेषता है, निर्माण हुए हैं। नर्तनकारी प्रतिमा इतनी सजीव और नवीन है कि यह मोहनजोदड़ो कालीन मूर्तिकाओंके निर्जीव विधि-विधानोंसे नितान्त अछूती है। यह भी नग्न मुद्राधारी मालूम देती है। इससे इस सुझावको समर्थन मिलता है कि यह उत्तर-कालीन नटराज अर्थात् नाचने शिवका प्राचीन प्रतिरूप है। सभी कला-विशेषज्ञोंका मत है कि विशुद्ध सादगी और सजीवताकी अपेक्षा यूनानी कलायुगसे पहले कोई भी ऐसी मूर्तिका निर्मित न हुई जिसकी तुलना इन दो महत्वशाली मूर्तिकाओंसे की जा सके।

उपरोक्त नग्न मुद्राधारी प्रस्तर मूर्तिका प्राचीन भारतीय कलाके इस मौलिक तथ्यकी साक्षी है कि भारतीय कलाका विकास अकृत्रिम प्रकृतिसे इतना ही सुसम्बद्ध है जितना कि

वह अपने सामाजिक वातावरण और लोकोत्तर आदर्शोंसे सुसज्जित है। यह कला एक ऐसी दिव्यताकी प्रतीक है जो बाहरमें अस्त-व्यस्त न हो कर अन्तर्मुखी शान्तिके अर्थ प्रयुक्त होने वाली सभी विभूतियों और सुसंयत रचना-कारी शक्तियोंसे सम्पन्न है। निस्सन्देह इन तथ्योंका ही हम जैनियोंके उपास्यदेव और तीर्थंकरोंमें साक्षात् दर्शन करते हैं जिनकी महान् मूर्तियां, जैसी कि मैसूर देशके श्रवणबेलगोल, कार्कल, वेणूर आदि स्थानोंमें स्थित हैं, हमारे ध्यानको आकर्षित करती हैं। अपनी समस्त इन्द्रियों-के व्यापारका मन वचन कायकी गुप्ति-द्वारा नियन्त्रण किये हुये, अपनी समस्त विभूतियों और सृष्टिकारक शक्तियोंका अहिंसाके सुदृढ़ एवं कोमल सूत्रद्वारा वशीकरण किये हुए और ऋतुओंकी कटुताओंके प्रति अपने कायिक अङ्गोपाङ्गोंका व्युत्सर्ग किये हुए मैसूर देशके श्रवणबेलगोल स्थित बाहु-बलीकी महान् मूर्तिके सदृश जैन तीर्थंकरों और जैन सन्तोंकी सभी मूर्तियां अपने पुरातन और निर्ग्रन्थ यथाजात नग्न रूपमें मानव मानवको यह देशना कर रही हैं कि अहिंसा ही समस्त मानवी दुःखोंके निवारणका एक मात्र उपाय है। वे 'अहिंसा परमो धर्मः' का साक्षात् पाठ पढ़ा रही हैं।

हडप्पाकी मूर्तिकाके उपरोक्त गुणविशिष्ट मुद्रामें होनेके कारण यदि हम उसे जैनतीर्थंकर अथवा ख्याति-प्राप्त तपो-महिमा-युक्त जैन सन्तकी प्रतिमा कहें तो इसमें कुछ भी असत्य न होगा। यद्यपि इसके निर्माण काल २४००-२००० ईसा पूर्वके प्रति कुछ पुरातत्त्वज्ञों द्वारा सन्देह प्रकट किया गया है, परन्तु इसकी स्थापत्य शैलीमें कोई भी ऐसी बात नहीं है जो इसे मोहनजोदड़ोकी मृण्मय मूर्तिकाओं एवं वहां-की उत्कीर्ण मोहरों पर अंकित बिम्बोंसे पृथक् कर सके। इस स्थल पर इस मूर्तिका-सम्बन्धी सर मोर्टिमर ह्वीलरके विचार जो INDUS VALLEY CIVILISATION (Cambridge History of India. 1953)के पृष्ठ ६६ पर प्रकाशित हुये हैं, उद्धृत करने योग्य हैं—

"इन दोनों मूर्तिकाओंमें जो अपने उपलब्ध रूपमें चार इंच से भी कम ऊंचाई वाले पुरुषाकार कबन्ध हैं ऐसी सजीवता और उल्लास भरा है जो ऊपर वर्णित रचनाओं में तनिक भी देखने को नहीं मिलता। इनकी ये विशेषतायें इतनी स्वस्थ और परिपुष्ट हैं कि अभी इन्हें सिंधु-युगकी कहने और सिद्ध करनेमें कुछ आपत्ति-सी दीख पड़ती है। दुर्भाग्यसे वे वैधानिक उपाय जो इनके अन्वेषकों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, उत्खात भूमिके विभिन्न स्तरोंकी गहराई सम्बन्धी तथ्योंकी सन्तोषजनक शहादत प्राप्त करानेमें अपर्याप्त रहे हैं और उनका यह कथन है कि इन मूर्तिकाओंमेंसे एक नर्तककी मूर्तिका हडप्पाके अन्न भंडार वाले स्तरसे मिली और दूसरी उसीके आस-पास वाले स्थानके लगभग ४ फुट १० इंच नीचे वाले स्तरसे मिली, बाह्य हस्तक्षेपकी संभावनाका निराकरण नहीं करता। इन मूर्तिकाओंको उत्तरकालीन कहना भी कठिनाईसे खाली नहीं है। यह संदेह तभी दूर हो सकता है जब अधिक अन्वेषणों द्वारा हम क्षेत्रके विभिन्न स्तरोंसे प्राप्त वस्तुओंका समुचित अभिलेखोंकी सहायतासे तुलनात्मक अध्ययन किया जावे।"

श्री ह्वीलरकी अन्तिम टिप्पणीसे यह स्पष्ट है कि इन मूर्तिकाओंको उत्तरकालीन कहना इतना ही कठिन है जितना कि इन्हें ईसा पूर्वकी तीसरी सहस्राब्दीका न कहना। इस तरह दोनों पक्षोंकी युक्तियां समकक्ष हैं।

आओ, अब हम इन मूर्तिकाओं के (Subjective) स्वाश्रित और (Objective) पराश्रित महत्त्वकी जांच करें। इसके स्वाश्रित महत्वका अध्ययन तो हम पहले ही कर चुके हैं। यह एक सीधे खड़े हुए नग्न देवताकी प्रतिमा है जिसके कन्धे पीछेको ढले हुए हैं और इसके साफ सुथरे रचे अवयव ऐसा व्यक्त करते हैं कि इस ढले पिण्डके भीतर चेतना एक सुव्यवस्थित और सुसंयत क्रमसे काम कर रही है। जननेन्द्रियकी स्थिति नियन्त्रणकी भावनासे ऐसा मेल खा रही है कि अनायास ही इन्द्रिय-विजयी जिनकी कल्पनाका आभास हो आता है। इसके मुकाबलेमें मोहनजोदड़ोकी ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दीकी उस उत्कीर्ण मुहरका अध्ययन किया जा सकता है जिस पर गेंडा, भैंसा, सिंह चीता, हस्ती आदि पशु, तथा पक्षी, मनुष्य आदि मर्त्योंके मध्य ध्यानस्थ बैठे हुए रुद्र-पशुपति-महादेवकी मूर्ति रचनात्मक स्फूर्तिकी ऊर्ध्वमुखी प्रेरणाको व्यक्त करती हुई ऊर्ध्वरेतस् मुद्रामें अंकित है। मोहनजोदड़ो वाली मुहर पर अंकित देवताकी मूर्तिकला का स्पष्टीकरण ऋग्वेदकी निम्न ऋचाओंसे पूर्णतया होता है—

(१) ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषि-
विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः
पवित्रमत्येति रेभन् ऋ० ९।९६।६॥

अर्थात्—देवताओंमें ब्रह्मा, कवियोंमें नेता, विप्रोंमें ऋषि, पशुओंमें भैंसा, पक्षियोंमें बाज, शस्त्रोंमें कुल्हाड़ा, सोम पवित्र (छलनी) में से गाता हुआ जाता है।

(२) त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति

महोदेवो मर्त्यानाविवेश ॥* ऋ० ४।५८।३

अर्थात्—मन, वचन, काय तीनों योगोंसे संयत वृषभदेवने घोषणा की कि महादेव मर्त्योंमें आवास करता है।

(३) रुद्रः पशूनामधिपतिः।

अर्थात्—रुद्र पशुओंका अधिपति अर्थात् अभिनायक व प्रेरक है। मोहनजोदड़ो वाली मुहरके उपरोक्त ऋग्वेदीय विवरणके प्रकाशमें इस नग्न मूर्तिकाकी ऋग्वेदके हवालेसे पहचान करना आसान होगा।

इस निबन्धका लेखक जब मई, जून, जुलाई १६५६ के महीनोंमें एक पुरातात्त्विक गवेषणापार्टीको अफगानिस्तान ले जा रहा था तो उसे यूअनच्वांग (६००-६५४ ई० सन्) के यात्रावृतान्तोंकी सचाईको जाँच करनेके लिए जो अफगानिस्तान तथा अन्य स्थान-सम्बन्धी विविध वैज्ञानिक और मानवीय उपयोगकी बातोंसे भरपूर हैं, अनेक अवसर प्राप्त हुए। उसने होमिना, गजनी व गजना हज़ारा व होसलके जो विवरण दिये हैं ये बड़े ही महत्वके हैं। वह कहता है कि वहां बहुतसे बुद्धेतर तीर्थिक हैं जो 'सुन' देवकी पूजा करते हैं। जो कोई उस नग्न देवताकी श्रद्धासे आराधना करते हैं उनकी अभिलाषाएँ पूरी हो जाती हैं। दूर और निकटवर्ती सभी स्थानोंके जन उनके लिए बहुत बड़ी भक्तिका प्रदर्शन करते हैं। छोटे और बड़े सभी एक सरीखे उसका दर्शन पाकर धार्मिक उत्साहसे भर जाते हैं। वे तीर्थिक अपने मन, वचन और कायका संयम करके स्वर्गीय आत्माओंसे उन पवित्र मन्त्रोंका लाभ करते हैं। जिनके द्वारा वे आधि-व्याधियोंकी रोक-थाम करते हैं और रोगियोंकी चिकित्सा करते हैं। सुन देव (शुन अथवा शिश्न देव) संभवतः वे तीर्थंकर व तीर्थंकर अथवा उनके अनुयायी थे जिन्होंने अहिंसा-सन्देशके लिए सुविख्यात जैन धर्मके सिद्धान्तोंको प्रकाशित किया।

यूअनच्वांगके यात्रावृत्तान्त अफगानिस्तान तकमें जैनधर्मके प्रसारकी साक्षी देते हैं। बुद्ध भगवान्की जीवनचर्याके अध्ययनसे पता लगता है कि उनके विरोधी छह महान् तीर्थिक थे। पूर्णकश्यप, अजितकेश, गोशाल, कात्यायन, निर्ग्रंथ नाथपुत्र और संजय। उक्त तालिकामें गोशाल आजीवक पन्थका प्रवर्तक गोशाल है और निर्ग्रन्थ नायपुत्र २४वें अन्तिम जैन तीर्थंकर महावीरका ही नाम है। इस प्रकार यूअनच्वांगके दिये हुए 'सुन देव' के वृत्तान्तसे स्पष्ट है कि वह संभवतः नग्न जैन तीर्थंकरकी ओर ही संकेत कर रहा है। तीर्थिक शब्द भी तीर्थंकर व तीर्थंकरका ही द्योतक है। अफगानिस्तानमें जैन धर्मके प्रसारकी बात निःसन्देह एक नई खोज है। 'सुन' शब्द संभवतः 'शुन' व 'शिश्न' 'शिश्नदेव' का ही रूपान्तर है। जब हम ऋग्वेदके कालकी ओर देखते हैं तो हमें पता लगता है कि ऋग्वेद दो सूक्तोंमें 'शिश्न' शब्द-द्वारा नग्न देवताओंकी ओर संकेत करता है। इन सूक्तोंमें शिश्नदेवोंसे अर्थात् नग्नदेवोंसे यज्ञोंकी सुरक्षाके लिए इन्द्रका आह्वान किया गया है।

(१) न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न

वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।

स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तो र्मा

शिश्नदेवा अपिग ऋतं नः। ऋ० ७।२१।५

अर्थात्—हे इन्द्र! राक्षस हमें अपनी चालोंसे न मारें। हमारी प्रजासे हमें अलग न करें। तुम विषम जन्तुको मारनेमें उत्साह-युक्त होते हो। शिश्नदेव अर्थात् नग्नदेव हमारे यज्ञमें विघ्न न डालें।

(२) स वाजं यातापदुष्पदा यन्

स्वर्षाता परिषदत् सनिष्यन्।

अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो

घ्नञ् छिश्नदेवाँ अभिवर्पसा भूत॥

ऋ० १०.६६.३

अर्थात्—वह इन्द्र शुभ मार्गसे युद्ध क्षेत्रमें गया, उसने स्वर्गके प्रकाशको विजय करनेका प्रयत्न किया, उसने

---

*यजुर्वेद के पुरुष सूक्त ३१-१७में कहा गया है कि 'तन्मर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे'— अर्थात् उस आदि पुरुष वृषभने सबसे पहिले मर्त्य दशामें देवत्वकी प्राप्ति की। स्वयं देवत्वकी प्राप्ति करके ही उसने घोषणा की थी कि महादेवत्व मर्त्योंमें ही आवास करता है। मर्त्योंसे बाहर कहीं और देवत्वकी कल्पना करना व्यर्थ है। इन्हीं श्रुतियों-के आधार पर ईश० उप० में कहा गया है 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्॥१॥ अर्थात् जगतमें जितने कितने भी जीव हैं, वे सब ईश्वरके आवास हैं।

—अनुवादक

चालाकीसे बिना रोक-टोक शिश्न अर्थात् नग्न देवोंको मारकर शतद्वारों वाले दुर्गकी निधि पर कब्जा कर लिया। श्री मेकडोनल अपनी पुस्तक Vedic Mythology (वैदिक आख्यान) के पृष्ठ १५५ पर कहते हैं कि शिश्नदेवकी पूजा ऋग्वेदके विरुद्ध है। इन्द्रसे प्रार्थना की गई है कि वह शिश्न-देवोंको यज्ञोंके पास फटकने न दे। इन्द्रके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसने जब चोरीसे शतद्वारोंवाले दुर्गमें निधि-कोषोंको देखा तब उसने शिश्नदेवोंका वध कर दिया।

ये दोनों ऋचाएं हमारे सामने इस सचाईको व्यक्त कर देती हैं कि हड़प्पावाली नग्नमूर्तिकामें एक परिपल्लवित जैन तीर्थंकरको उसकी उस विशिष्ट कायोत्सर्ग मुद्रामें देख रहे हैं जो अगले युगोंमें श्रवणबेलगोल, कार्कल, वेणूर आदि स्थानोंमें बनी जैन तीर्थंकरों अथवा सिद्धोंकी बृहत्काय मूर्तियोंमें अमरताको प्राप्त हो गई हैं। इस स्थल पर कोई हैरानीसे पूछ सकता है कि क्या अगले युगों जैसी जैन मूर्ति-कलाकी कायोत्सर्गमुद्रा मोहनजोदड़ो व हड़प्पावाले तीन सह-स्राब्दी ईसापूर्व प्राचीनकालमें उदयमें आसकती थी? निःसन्देह पूर्ण नग्नता और समस्त भौतिक चेतनाका आन्त-रिक व्युत्सर्ग जो जैनधर्मके मौलिक सिद्धान्त अहिंसाकी सिद्धिके लिये आवश्यक है, इस ही कायोत्सर्ग मुद्राकी ओर लेजाते हैं। यह वही मुद्रा है जो उपरोक्त हड़प्पाकी मूर्तिकामें दिखाई पड़ती है। इस प्रकार प्राचीनतम कालसे लेकर आज तक इस आदर्शवादकी एक अटूट शृंखला और एकता बनी हुई है। इस मूर्तिकामें एक भी ऐसी शैल्पिक विशेषता नहीं है जो हमारी उक्त धारणाको संदिग्ध बना सके, या हमें पथभ्रष्ट कर सके। इसके अतिरिक्त इस मूर्तिकाकी नग्न मुद्रा वेदोक्त महादेव, रुद्र, पशुपतिकी उस ऊर्ध्वरेतस मुद्रासे जो मोहनजोदड़ोकी मुहर पर अंकित है, बिलकुल भिन्न है। (देखें Cambridge History, of 1953 Plate XXIII)

चौबीस तीर्थंकरोंका कालक्रम तथा पूर्वापरक्रम हड़प्पाकी मूर्तिकाका काल-निर्णय करनेमें तनिक भी बाधक नहीं है। वर्तमान कल्पकी तीर्थंकर-तालिकामें २४ तीर्थंकर शामिल हैं। इनमेंसे अन्तिम तीर्थंकर महावीर, भगवान् बुद्धके समकालीन थे। २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ महावीरसे १०० से अधिक वर्ष पूर्व हुए हैं। और २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ महाभारत प्रसिद्ध पाण्डवोंके मित्र भगवान् कृष्णके चचेरे भाई थे। मोटे ढंगसे गणना करने परभी नेमिनाथका काल जो भगवद्गीताके स्वामी कृष्णके समकालीन थे, ईसासे ६०० वर्ष पूर्व ठहरता है। मेरठके समीप पाण्डवोंकी कर्मभूमि हस्तिनापुर में हुई हालकी खुदाईसे उसका वसतिकाल ११०० से ८०० वर्ष ईसा पूर्व निर्धारित हुआ है। हमें अभी शेष २१ तीर्थंकरोंकी कालगणना करना बाकी है जो पूर्वापरक्रमसे नेमिनाथसे पहले हुए हैं। यदि हम इसी अनुपातसे प्रत्येक तीर्थंकरकी कालगणना पीछे पीछे करते चले जावें तो हमें जान पड़ेगा कि आदि तीर्थंकर वृषभदेव ईसापूर्वकी तीसरी सहस्राब्दीके अन्तिम चरणमें हुए हैं।

हड़प्पाकी उक्त मूर्तिकाका काल विशेषज्ञों द्वारा २४००-२००० ईस्वी पूर्व निश्चित किया गया है। जैनधर्मके आदि प्रवर्तक आदिनाथका अपर नाम वृषभ होना बड़ा ही महत्वपूर्ण है। चूंकि ऋग्वेदके सूक्तोंमें पुनः पुनः यह बात दोहराई गई है कि यह वृषभ ही था जिसने महादेवके आवास आदि अनेक महान् सत्योंकी कल्पके आदिमें घोषणा की थी।

त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यांना विवेश ॥ ऋग् ४-५८-३

यह बात कि आदिनाथ अपर नाम वृषभदेवने वैदिक यज्ञों तथा पशुहत्याके विरोधमें एक नये धर्मपन्थकी स्थापना की, जैनधर्मकी प्रवर्तनामें एक बहुत बड़ी घटना है।* उत्तर-

* लेखक महोदयकी उक्त धारणा जैन तथा जैनेतर किसी भी भारतीय अनुश्रुतिसे मेल नहीं खाती। भ० आदिनाथ (ऋषभदेव) इस कल्पकालके आदि धर्म-प्रवर्तक हैं। जिस युगमें इनका आविर्भाव हुआ, वह समस्त हिन्दू साहित्यमें सतयुग व कृतयुगके नामसे प्रसिद्ध है। चूंकि इस युगमें सत अर्थात मोक्षमार्ग और कृत अर्थात् कर्मफलवादकी प्रधानता थी और यह तप, त्याग, अहिंसाका युग था। काफी काल बीतने पर जब भगवान्की आध्यात्मिक वाणी, अलं-कारिक शैली और गूढ़ रहस्यमयी वचनावलीके वास्तविक अर्थको भुलाकर अज्ञानी और अदीक्षित जन उनके शब्दार्थ-को ही वास्तविक अर्थ समझने लगे और उस शब्दार्थको ही श्रुति-सत्य मान कर व्यवहार करने लगे, तो दार्शनिक मान्यताओं और धार्मिक परम्पराओंमें विपरीतताका उदय हुआ। पशु अर्थात् पाशविक वृत्तियोंके बन्धन, संयम व हनन द्वारा जिस धर्म-मार्गकी देशना दी गई थी, वह पशुबलिमें प्रवृत्त हो गया। इस धर्ममूढ़ता पर खेद प्रकट करते हुए अथर्ववेद में कहा गया है—

मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैःपुरुधा यजन्तः

कालीन घटनाओं और आदिनाथके अनुयायी सन्तोंने जो तीर्थंकर व सिद्ध नामसे प्रसिद्ध हैं, उनके द्वारा प्रवर्तित धर्मको अहिंसाके स्थायी आधार पर कायम कर उसे आगे-आगे चलाया। जो काल और क्षेत्रके साथ-साथ विद्युत् आदेशनोंके समान शक्ति पर शक्ति हासिल करता चला गया। और सारे वातावरणको 'अहिंसा परमो धर्मः' के मन्त्रसे ओत प्रोत कर दिया।

वृषभदेव नग्न अवस्थामें रहते थे, यह एक निर्विवाद लोकप्रसिद्ध बात है। क्योंकि पूर्ण नग्नता जो आत्मविशुद्धिके लिये एक अनिवार्य आचरण है, जैनधर्मका एक केन्द्रीय सिद्धान्त है। यदि ऋग्वेदमें प्रमुख वैदिक देवता इन्द्रको शिश्नदेवों अर्थात् नग्नदेवोंसे वैदिक यज्ञोंकी रक्षार्थ आह्वान किया जाता है तो यह स्पष्ट ही है कि ऋग्वेद तत्कालीन एक ऐतिहासिक तथ्यका ही उल्लेख कर रहा है कि जैनधर्मका मूल उद्देश्य जैसा कि वृषभदेवने समझा और प्रसारित किया, वैदिक यज्ञोंसे सम्बन्धित पशुहत्याको दूर करना था। सबकी ही श्रद्धाको अपनी ओर आकर्षित करने और सभीमें अपने महान् मन्तव्योंका विश्वास भरनेके लिये आदि तीर्थंकरने सभी वस्त्रोंका परित्याग कर दिया। इस तरह उसने अपने और अपने अनुयायिओंको कायोत्सर्गसे आरम्भ करके महान् आत्मत्यागके लिये प्रस्तुत किया। यह तथ्य कि उसके उत्तराधिकारी अन्य तीर्थंकरोंने इसी मार्गको अपनाया, जैनियों द्वारा प्रयुक्त होनेवाली भारतीय कलाकी एक मनोज्ञ कथा है। इसलिये यह मूर्तिका, जिसका विवरण ऊपर दिया गया है प्राचीनतम जैन संस्कृतिका एक सुन्दर गौरवपूर्ण प्रतीक है।

या इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रुवः
अथर्व ७.५.५.

अर्थात्—मूढ़ विप्र जन इस आदि पुरुषकी पूजा (पुरुधा) बहुत प्रकारसे (शुना) प्राणियों और (गोरङ्गैः) गौके अंगों द्वारा करते हैं। परन्तु जो ज्ञानी जन इसकी पूजा (मनसा) मानसिक साधना-द्वारा करते हैं। वे ही (नः) हमें (प्रवोचः) उपदेश करें और वे ही (तम्) उस आदि पुरुष की (इह इह) विभिन्न बातोंको (ब्रुवः) बतलायें।

इस पशुयज्ञ-प्रधान युगको ही भारतीय ऋषियोंने त्रेता युगकी संज्ञा दी है, क्योंकि इस युगमें ही तीन विद्याओं (ऋक्, यज, साम,) तथा तीन अग्नियों (आवहनीय, गार्हपत्य, दाक्षिण्य) का विशेष प्रचार हुआ है। इससे अगला युग—जिसमें आध्यात्मिक और याज्ञिक दोनों विचार-धाराओंका सम्मिलन हुआ—द्वापरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। यही भारतीय-साहित्यमें उपनिषदोंका युग है। तदनन्तर जब अनेक राज-विप्लवों तथा विभिन्न दार्शनिक परम्पराओंके कारण भारतीय जीवन कलह-क्लेशोंसे पीड़ित हुआ, तब कलियुगका उदय हुआ।

भारतीय संस्कृतिके उपर्युक्त ऐतिहासिक क्रमकी ओर संकेत करते हुए ही मनुस्मृति १.८६. विष्णुपुराण ६.२.१७ बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र ३.१४१-१४७. महाभारत-शान्तिपर्व, अध्याय २३१-२१-२६, अध्याय २३८-१०१, अध्याय २४४-१४ तथा मुण्डक उपनिषद् १.२.१,७,१० आदिके उल्लेखोंसे पाया जाता है कि सतयुगका धर्म तप, त्याग, ज्ञान, ध्यान-प्रधान था। त्रेतामें हिंसक यज्ञोंका विधान हुआ। द्वापरमें इसका ह्रास होने लगा और कलियुगमें इनका सर्वथा अभाव हो गया। त्रेता युगमें पूजा-अर्चनार्थ हिंसक यज्ञोंका विधान वैदिक आर्यजनोंके कारण हुआ था। परन्तु भारतकी अहिंसामयी चेतनाने उसे सहन नहीं किया। वह इसके विरोधमें सक्रिय हो उठी और जब तक उसे अपने धार्मिक क्षेत्रसे निकाल कर बाहिर नहीं कर दिया, उसे शान्ति प्राप्त नहीं हुई। इस सांस्कृतिक संघर्षकी कहानी जाननेके लिए अनुवादकका 'अनेकान्त' वर्ष ११ किरण ४-५ में प्रकाशित 'भारतकी अहिंसा संस्कृति' शीर्षक लेख देखना पर्याप्त होगा। —अनुवादक

साधुको क्षितिरिव सहिष्णु होना चाहिए (धवला)

१. जैसे पृथ्वी अच्छे या बुरे अगर, तगर, चन्दन, कपूर या मल, मूत्र, रुधिरादिके पड़ने पर एक ही समान रहती है; उसी प्रकार साधुको इष्ट-अनिष्ट, लाभ-अलाभ, यश-अपयश, निन्दा-प्रशंसा और सुख-दुखमें समान रहना चाहिए।

२. जैसे पृथ्वी विना किसी श्रृंगार-बनावटके अपने प्राकृतिक स्वभावमें ही बनी रहती है, वैसे ही साधुको भी विना किसी ठाठ-बाटके स्वाभाविक वेषमें रहना चाहिए।

३. जैसे पृथ्वी, पर्वत, ग्राम, नगरादिको और मनुष्य, पशु, पक्षी आदिको धारण करती हुई नहीं थकती, इसी प्रकार साधुको स्वयं आत्म-साधन करते और दूसरोंको धर्मोपदेश देते और सन्मार्ग दिखाते हुए कभी नहीं थकना चाहिए।

समन्वयका अद्भुत मार्ग अनेकान्त

(ले० श्री० अगरचन्द्र, नाहटा)

जगत्में जड़ और चेतन दो पदार्थ हैं। सारी सृष्टि-का विलास इच्छा पर आधारित है। जीवका लक्षण चैतन्यमय कहा है। जिस वस्तुमें चैतन्य नहीं, वह जड़ है। विचार चैतन्यके ही सकते हैं, जड़के नहीं। जीव अनन्त हैं, स्वरूपतः समानता होते हुये भी संस्कार, कर्म और बाह्य परिस्थितियों आदि नाना कारणोंसे उनके शारीरिक व मानसिक विकासमें बहुत ही अन्तर नजर आता है। एक जीवसे दूसरे जीवकी आकृति नहीं मिलती। ध्वनि, अवयव, प्रकृति, रुचि इच्छाएँ आदि सभी बातोंमें एक दूसरेमें कुछ न कुछ अन्तर रहता है। इसी कारण सबकी पृथक् सत्ता है। जैन दर्शन मानता है कि अन्य कई दर्शनोंकी भांति जीव एक ही ब्रह्मके अंश रूप नहीं है। न कभी किसी ईश्वरने उसे पैदा किया, न वह कर्म फल ही देता है। जीव अनादि है, उसका स्वय अस्तित्व है, स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही भोगता है। उत्थान और पतनकी सारी जिम्मेवारी उसकी अपनी है। बन्धन और मुक्ति स्वकृत हैं। वह चाहे, तो समस्त बन्धनोंको तोड़ कर शुद्ध बुद्ध सर्व शक्ति-सम्पन्न बन मोक्ष व परमात्म-पदको पा सकता है। दूसरे निमित्तमात्र हैं, उपादान वह स्वयं है।

अनन्त जीवोंका जब पृथक्-पृथक अस्तित्व है, तो कर्मोंके आवरणोंकी विविधता और कर्मा-वेशीसे उनके विचारोंमें विभिन्नता रहेगी ही। पृथक्-पृथक् जीवोंकी बात जाने दीजिए, एक ही मनुष्यमें समय-समय पर कितने विचार उत्पन्न होते हैं, बहुतोंका तो उन विचारोंमें कोई सामंजस्य नहीं होता। अवस्था और परिस्थितियों आदिके बदल जाने पर उसके विचारोंमें गहरा परिवर्तन हो जाता है। हम यह कल्पना ही नहीं कर सकते कि अमुक व्यक्तिके विचार आज जो कुछ हैं, उसके थोड़े समय और थोड़े वर्षों पहले उससे सर्वथा विपरीत थे। आस-पासके वातावरणका, व्यक्तियोंका और घटनाओंका उस पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है। जब एक मनुष्यकी ही यह हालत है तो समस्त जीवोंके विचारोंमें साम्य कभी हो ही नहीं सकता। इस विषमतामें समता कैसे स्थापित की जाय, इस पर जैन तीर्थंकरोंने, विशेषतः महावीरने बहुत ही गम्भीर चिन्तन किया। उन्होंने अपने चारों ओर देखा कि विचार-विभिन्नताके कारण प्रवृत्ति-विभिन्नता होती है और एक दूसरेको विरोधी मान कर लोग परस्परमें टकराते रहते हैं। घर-घरमें, बाप-बेटेमें, पति-पत्नीमें भेद-भाव है। क्षण-क्षणमें विभिन्नतासे संघर्ष, कलह, वैर विरोध, युद्ध, घृणा, क्रोध, हिंसा आदि नजर आ रहे हैं। धर्म जो शान्तिका मार्ग है उसमें भी यही होली सुलग रही है। व्यक्ति दूसरोंके विचारोंको ठीक न समझ कर उससे द्वेष करने लगता है।

भगवान् महावीरने जगत्के प्राणियोंमें जो हिंसाकी भावना बढ़ रही थी, उस रोगका उपशम अहिंसारूपी अमृतसे किया। सामाजिक व आर्थिक ऊँच-नीचता भेद-भाव और मनुष्यकी संग्रह और तृष्णाका इलाज अपरिग्रह बतलाया, तो विचारोंकी विषमतामें समन्वय करनेका एक प्रबल और सुगम उपाय स्याद्वाद या अनेकान्तको बतलाया। स्याद्वाद सन्देहवाद नहीं, अनेकान्तवाद ढिलमिल नीति नहीं, पर वस्तु-स्वरूपके वास्तविक ज्ञानका सच्चा द्वार है और विचार-वैषम्यमें समता स्थापित करनेका एकमात्र तरीका है। चूंकि हर एक वस्तु और बातके अनेक पहलू होते है। जहां तक उसके समस्त पहलुओं पर विचार न किया जाय, उसका ज्ञान भ्रान्त और अपूर्ण रहेगा और इस अपूर्णता और भ्रान्तिको पूर्णता और सत्य मानकर मनुष्य अपने विचारों और स्थानका आग्रही बन जाता है। मैं जो कुछ कहता हूं, विचार करता हूं, वही ठीक है, दूसरे-के विचार और सिद्धान्त मिथ्या हैं, गलत है; यही एकान्त है और जैनदर्शनमें इसको सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व बतलाया गया है। मिथ्यात्वका अर्थ है झूठापन, वस्तुके वास्तविक ज्ञानके विपरीत बातको सत्य मानकर महाग्रही बनना।

वस्तु अनेक धर्मात्मक हैं। अपेक्षा भेदसे एक ही वस्तुमें अनेक धर्म रह रहे हैं उन सबकी ओर लक्ष्य न देकर केवल एक ही धर्म या बातको वस्तुका पूरा स्वरूप या ज्ञान मान लेना मिथ्यात्व है। एक ही मनुष्य अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है, अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है, स्त्रीकी अपेक्षा पति है, बहिनकी अपेक्षा भाई है, भुआका भतीजा है, मामेका भानजा है, शिष्यका गुरु है, गुरुका शिष्य है। इस तरहके और अनेक सम्बन्ध उस एक ही व्यक्तिमें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे रहते हैं। अनेकान्त उन सारे दृष्टि-भेदों और अपेक्षाओंको स्वीकार करता है, प्रतिपादन करता है। पर एकान्तवादी यह आग्रह कर बैठता है कि यह तो पिता ही है, पुत्र नहीं; और ऐसे

एक-एक दृष्टिको लेकर अनेक व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकारके आग्रह कर बैठते हैं तो उन सबमें एक संघर्ष छिड़ जाता है। वे एक दूसरेके विचारोंको समझनेका प्रयत्न नहीं करते। आखिर दूसरा व्यक्ति अपनेसे भिन्न विचार रखता है और उसे सत्य मानता है तो उसका कुछ न कुछ कारण तो अवश्य होना चाहिए। जिस प्रकार हम अपने मन्तव्यको सही समझते हैं, उसी प्रकार हर एक व्यक्ति भी अपने-अपने मन्तव्यको सही समझता है। पर वास्तवमें दोनों ही एकान्तवादी हैं; क्योंकि जिस दृष्टिसे एकका मन्तव्य सही है, वह दूसरेकी दृष्टिसे सही नहीं है। अतः यही कहना ठीक होगा कि अपनी-अपनी दृष्टियोंसे हर एकके मन्तव्य अंशतः सही हैं। इसी प्रकार इष्ट-अनिष्ट, प्रिय-अप्रिय, सुख-दुख, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, दैव-पुरुषार्थ आदि सभी विरोधी प्रतीत होने वाले तत्त्वोंका भी समन्वय अनेकान्त दृष्टिसे सहजमें ही हो जाता है, फिर भी परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले उन-उन तत्त्वोंमें विरोधके लिए कोई स्थान न रहेगा। इसलिए समन्वयके अद्भुत मार्ग-रूप अनेकान्त दृष्टिको सदा सामने रखकर जीवनमें आने वाले प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक, राष्ट्रीय और इसी प्रकारकी अन्य सभी समस्याओंका हल ढूँढना चाहिए। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इसके द्वारा प्रबलसे प्रबल विरोध भी सरलतासे अविरोधमें परिणत किया जा सकता है।

राजमाता विजयाका वैराग्य

(श्री० सुमेरुचन्द्र दिवाकर, शास्त्री, बी० ए० एल-एल बी०)

दक्षिण भारतमें बोली जाने वाली तमिल भाषाका इतिहास बहुत प्राचीन है। उसका साहित्य भी अत्यन्त प्रौढ़ है उसके श्रेष्ठ पंच महाकाव्योंमें 'जीवकचिन्तामणि' जैन काव्य अपना लोकोत्तर स्थान रखता है। उसे तमिल भाषाकी सर्वश्रेष्ठ रचना कहा जाता है। (The greatest existing Tamil literary monument)। उसमें जीवन्धरकुमारका मनोरम चरित्र अनुपम शैलीमें जैन कविने अंकित किया है।

परम आदरणीय विद्वान् प्रो० अप्पास्वामी चक्रवर्ती, मद्रासने 'Jain Antiquary' जैन एन्टीक्वेरी, जून १६४५ में उक्त ग्रन्थके निर्वाण-सम्बन्धी अध्याय पर प्रकाश डाला है। यहां उसका कुछ अंश हिन्दी भाषी भाइयोंके परिज्ञानार्थ दिया जा रहा है।

कथाका सम्बन्ध इस प्रकार ज्ञातव्य है—मोक्षगामी महापुरुष जीवन्धरकुमारके पिता सत्यंधर हेमाङ्गद देशान्तर्गत राजपुरीके महाराज थे उनकी विजयारानी अनुपम सुन्दरी थीं। महाराज अपनी महारानी विजयादेवीमें अत्यन्त आसक्त होकर और अपने मन्त्री काष्ठांगारको राज्यभार सौंपकर विषय-भोगोंमें तल्लीन हो गये थे। काष्ठांगारके मनमें राजाके प्रति विद्रोहके विचार उत्पन्न हुए। उसने राजा बननेकी लालसासे सत्यंधर महाराजके संहारका जाल रचा।

जब सत्यन्धर महाराजको इस षड्यन्त्रका पता लगा, तो उन्होंने उस विकट परिस्थितिमें अपने वंशकी रक्षाके लिए गर्भिणी महारानी विजयाको एक मयूराकार विमानमें बिठा आकाशमें उड़ा दिया और स्वयं काष्ठांगारसे युद्ध करते हुए वैराग्य-भावोंसे प्राणोंका परित्याग कर स्वर्गवासी हुए।

महारानी विजयाका वायुयान राजधानीकी श्मशानभूमिमें पहुँचा। जहां महारानीने एक देवोपम-सौन्दर्यसे समलंकृत तेजस्वी पुत्ररत्नको जन्म दिया। दैवकी अद्भुत गतिको देखो कि राजपुत्रका श्मशानमें जन्म हुआ। शासन-देवता माताकी सहायता करती है। राजधानीके प्रमुख धनी सेठ गंधोत्कटके यहां उस राजपुत्रका सम्यक् प्रकारसे पालन-पोषण हुआ। बालकका नाम जीवन्धरकुमार रखा गया।

कुमारकी जननी विजयादेवी तपस्वियोंके एक आश्रममें चली गई और असाताके उदयको शान्तभावसे सहन करने लगी। उस समय विजयादेवी स्वयं वैराग्यकी जीती जागती प्रतिमा-सी दिखती थी। वह अपना समय अकिंचन महिला-की स्थितिमें व्यतीत कर रही थी। इधर जीवन्धरकुमारका रक्षक पुण्य था। अतः वह राजपुत्रकी ही तरह वृद्धिगत हुआ। कुछ कालके बाद तरुणावस्थामें समुचित सामग्रीको प्राप्त कर जीवन्धरकुमारने पापी काष्ठांगारको मारकर अपने पिताका राज्यासन प्राप्त कर लिया।

राज्यासीन होकर जीवन्धर सांसारिक सुखोंका उपभोग करने लगे। उनकी गुणवती और रूपवती आठ रानियां थीं।

राज्यमें शान्ति और समृद्धिकी स्थापना हो चुकी थी। उन्होंने प्रजाके सुख और कल्याण-हेतु विपुल धन लगाया। माता विजया तपोवनसे राजमहलमें आ गई। माताकी इच्छानुसार महाराज जीवन्धरने सिद्धभगवानका एक भव्य और विशाल जिनालय अशोकवृक्षके समीप बनवाया। उन्होंने जिनमंदिरकी नित्यपूजाके एवं वार्षिक उत्सवके लिए उपजाऊ धानके खेतोंसे युक्त एक ग्रामका दान किया। जिन लोगोंने जीवन्धरके जन्मसे राज्य-प्राप्ति-पर्यंत उनका रक्षण किया और सहायता दी, उनकी स्मृतिमें राजमाताने उक्त सत्कार्योंका प्रतिफल कृतज्ञताके साथ समर्पित किया।

जब जीवन्धरका जन्म श्मशान-भूमिमें हुआ, तब शासन देवीने माताकी रक्षा की थी और उसे सावधानी-पूर्वक तपस्वियोंके आश्रममें पहुंचाया था। इस उपकारकी स्मृतिमें राजमाताने देवीके नाम पर एक और मंदिर बनवाया। जिस मयूराकृति विमानमें माता राजधानीसे निकली थीं उसकी स्मृति भी उनके मनमें विद्यमान थी। अतः उसका भी चित्र अपने कमरेमें लगवाया था।

प्रमुख श्रेष्ठी कंदुकदन (गन्धोत्कट) ने *पांच सौ चार बच्चोंके मध्य बालक जीवन्धरका पालन-पोषण किया। राजमाताने अपने भाई महाराज गोविंदकी ओरसे प्रतिदिन शुद्ध गोदुग्ध एवं पौष्टिक भोजन-द्वारा पांच सौ पांच बालकोंके प्रतिदिन आहारकी व्यवस्था की। इतना कार्य सम्पन्न करके राजमाता विजया चिंतामुक्त हो गई थीं।

एक दिन सेठानी सुनन्दा, जिसने जीवन्धरका जननी-सदृश ममत्व-भावसे पालन किया था, राजमाता विजयाके समीप पहुँची। माता विजयाने हर्षसे भेंट की तथा कुरुवंशकी और शिशु जीवन्धरकी रक्षार्थ की गई कृपाकी सराहना की। इसके पश्चात् माताने बड़े प्रेमसे जीवन्धरकी आठ रानियोंको बुलाया और उनसे एक रहस्यकी बात बताते हुए कहा—मैंने पूर्व समयमें एक बार स्वप्नमें एक राजमुकुटको अष्ट-मालाओंसे अलंकृत देखा था। उसकी साक्षी रूपमें तुम जीवन्धरको आठ रानियां प्राप्त हुई हो। जिनेन्द्रदेवके प्रसादसे तुम्हारी गोदी हरी-भरी रहे। तुम्हारी जिनेन्द्र भगवानमें अविचलित श्रद्धा रहे। (May you all have, unswearing faith in the Lord.)

---

* क्षत्रचूडामणि, जीवंधरचंपू एवं गद्यचिंतामणिमें श्रेष्ठीका नाम गंधोत्कट लिखा है।

अपनी आठ बहुओंसे मिलनेके बाद माताने अपने पुत्र महाराज जीवन्धरको अपने पास बुलाया। महाराज विनीत भावसे अपनी जननीके चरणोंमें पहुँचे और पुष्पोंसे राज-माताकी पूजा की तथा मुकुटसे अलंकृत अपने मस्तकको माताके चरणों पर रखकर उन्हें प्रणाम किया और माताके समीप बैठ गये।

माताने अपने पुत्रको सम्बोधित करते हुए कहा—'वत्स! तुम्हें दूसरोंसे ज्ञात हो गया होगा। प्यारे जीवक! मैं तुम्हें यह बताऊँगी कि तुम्हारे पिताकी अन्त समयमें क्या अवस्था हुई; इसे ध्यानसे सुनो। तुम्हारे पिता महाराज राजकीय वैभवका आनन्द भोग रहे थे। दुर्भाग्यवश वे विषय-वासना और इन्द्रियोंके सुखोंसे इस प्रकार घिर गये, जैसे सुन्दर चन्द्रमा ग्रहणके समय राहुसे घिर जाता है। वे विषय-सुखोंके दास हो गये। उनने लोक-निन्दा पर ध्यान नहीं दिया। विद्वान् मंत्रियोंकी बुद्धिमत्ता पूर्ण सलाहको नहीं सुना। जिस प्रकार पागल हाथी महावतके आधीन नहीं रहता, उसी प्रकार वे अपना समय व्यतीत कर रहे थे। मंत्रियोंने देखा कि अब उनकी आवश्यकता नहीं है, इसलिये उन्होंने नौकरी छोड़ दी। जैसे समुद्र पारकी दीवारोंको नष्ट करके तटवर्ती नगरको जलमें डुबा देता है, इसी प्रकार राजाको विषय-सुखोंमें डूबनेसे बचानेके लिये मंत्रियोंकी हितकी सलाह विफल रही। अतः वे विषय-सुखमें डूब गये और राजाके कर्त्तव्योंको भूल गये। उनके मित्र और कुटुम्बी निराश हो उन्हें अकेला छोड़ चले गये। उनकी असहाय अवस्था उनके ही आचरणके परिणाम-स्वरूप थी। आकका बीज बोने पर उसके फलरूपमें दूसरा वृक्ष नहीं उगता। राजा-की विवशताको देख कपटी मंत्री काष्ठांगारने जिसके हाथमें राजाने समस्त अधिकार सौंप दिये थे, राजाकी प्रभुताको हड़पकर सारे अधिकार हस्तगत कर लिये। इस विकट स्थितिका ज्ञान राजाको अति विलम्बसे हुआ। अतः उनने गर्भस्थ राजकुमार—तुम्हारी रक्षाके हेतु मुझे मयूर-यंत्रमें बिठलाया तथा सुरक्षा-पूर्वक जानेकी आज्ञा दी। मेरे जाने पर महाराजने असुरक्षित हो विषम परिस्थितिका सामना किया तथा वे कपटी सेनापतिके षड्यंत्रके शिकार हो गये। यह दुःखद अन्त महाराजकी कृतिका ही फल है। जब तुम बुरे बीज बोओगे तब अच्छी फसल कैसे पाओगे? मेरे प्रिय पुत्र! मैंने ये सब बातें तुम्हें बताई, ताकि तुम विषय-सुखों-के बारेमें सावधान होजाओ। अब मेरे लिये यह उपयुक्त

समय आ गया है कि मैं संसारसे नाता तोड़कर पुण्य तपो-वनमें जाकर अपना समय व्यतीत करूं।

अपनी माताके इन वाक्योंको सुनकर जीवन्धर महाराज-के हृदयको बहुत आघात पहुँचा और वे मूर्छित हो गये। तत्काल उनकी रानियोंने तथा अन्तःपुरकी दासियोंने उनके मुखपर गुलाब-जल छिड़का और पंखोंसे हवा की। जब बेहोशी दूर हुई तब वे नींदसे जगे हुयेके समान उठ बैठे। उन्होंने मातासे अपना सन्देश देनेको कहा। माताने कहा—जीवनके विषयमें सबकी हार्दिक अभिलाषा रहती है। किंतु जन्मसे मरण-पर्यंत अपने जीवनका पूर्ण समय हमें ज्ञात नहीं है। अन्तमें जब मृत्युके आधीन हो जाते हैं तब यम-राजकी दाढ़ोंसे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ होते हैं। उस समय अपने जीवनके व्यर्थ व्यय होने पर शोक करनेके सिवाय और कोई बात हाथमें नहीं रहती। आध्यात्मिक सुधारकी आशासे बीते दिन वापिस नहीं लौटते। ऐसा होना असंभव है। जैसे भोजनका लोलुपी व्यक्ति सुस्वादु आहारको खूब खाता है, उसी प्रकार मौत भी नियमसे हमें निगल जायेगी। सबकी मृत्यु निश्चित है। जन्म और मृत्युसे जीवन घिरा है। ऐसी स्थितिमें अनुकूल साधन-युक्त नर-जन्मको पाना बड़े भारी सौभाग्यकी बात है। इस प्रकारकी अनुकूल परिस्थितिके प्राप्त होने पर तुम्हें इस अवसरसे लाभ उठाना चाहिये और अन्तःकरण-पूर्वक धर्मके मार्गमें लगकर आत्म-विकासके हेतु प्रयत्न करना चाहिये। इस धर्म मार्गको छोड़ कर यदि स्त्री और बच्चोंके मध्य सुखमें डूबे रहे तो निश्चय से हाथ कुछ न आयेगा। जो लोग कुटुम्बके प्रेममें बंधे रहते हैं, वे विशेष कालमें सबसे पृथक् हो जाते हैं, जिस प्रकार पानीकी बूंदें प्रचंड पवनके प्रहारसे बिखर जाती हैं। इस-लिए मेरी यह सलाह है कि तुम परिस्थितियोंके दास न बनो। इन्द्रिय जनित सुखकी लालसा, कुटुम्बका प्रेम आदि सब बातें तुम्हारे आत्म-विकासको रोकती हैं। इसलिए मेरा यह कहना है कि तुम अपने प्रेमपात्रोंके प्रति अनुराग न दिखाओ, क्योंकि इस प्रकारका मोह आत्माकी उन्नतिमें विघ्न रूप है। जीवन्धर! मैं तुम्हारी माता हूं, इसे भूलने-का साहस धारण करो और मुझे इच्छानुसार साध्वीका जीवन व्यतीत करनेमें स्वतंत्रता प्रदान करो।

माताने सद्गुणोंकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए पुनः कहा—प्रिय बन्धु! सुन्दर स्त्रियोंके मध्य विषय-सुखमें उन्मत्त न होकर वृद्धावस्था आनेके पूर्व ही धर्मको विस्मरण न कर तपस्या और धर्ममें लगना चाहिए। यह शरीर दुःखद बीमारियोंका घर है। यह मृत्युके लिये मधुर भोजन सदृश है। जब तक शरीरका स्वास्थ्य नष्ट नहीं होता है और वह बल-हीन नहीं बनता तब तक अपने भोजनके साथ दूसरोंको (सत्पात्रोंको) भोजन कराओ औ रमानव-शरीरके द्वारा प्राप्तव्य सद्गुणोंकी उपलब्धिके हेतु उद्योग करो।

यह शरीर एक गाड़ी ही तो है और मनुष्य उसको चलाने वाला ड्राइवर (चालक) है। शरीरमें विद्यमान प्राण उस गाड़ीके धुरा (Axle) समान हैं। यदि बहुत काल तक लगातार उपयोगमें लानेके कारण गाड़ी जीर्ण हो गई और शिथिल बन गई तो उसमें नवीन जीवन रूपी नया धुरा डालना सम्भव नहीं है। किन्तु शरीर अन्तमें बेकार बनकर छूट जाता है। कभी-कभी शरीर शोक और दुःखके प्रवाहमें पड़ कर वृद्धावस्थाके पहले ही नष्ट हो जाता है। अतः इस गाड़ीके प्राण-रूपी धुराके खराब होनेसे, बेकार होनेके पूर्व मनुष्यको इस शरीरसे हर प्रकारका लाभ ले लेना उचित है। इसलिये ओ बन्धु! इस गाड़ीसे अधिकसे अधिक नैतिक लाभ लेनेका प्रयत्न करो।

सामान्यतया मानव इच्छाओंके आधीन हैं। वे नैतिक महत्ता प्राप्त करनेका उद्योग नहीं करते। उन्हें धर्मका असली स्वरूप नहीं मालूम है। वे सुखकी इच्छाका दास रूपमें अनुगमन करते हैं। यह निश्चय मानो कि इच्छाका लक्ष्य पूर्णतया सार-शून्य है, इसलिए ऐसी सार-हीन इच्छाओंके पीछे दौड़ना बन्द करो। इस जगत्में हम देखते हैं, कि कोई-कोई व्यक्ति महान् वैभव-पूर्ण अवस्थामें रहते हुये अपनी प्रिय पत्नियों द्वारा प्रदत्त सुमधुर भोजनको अनिच्छा-पूर्वक खाते हैं। वे ही व्यक्ति विपत्ति आने पर धन-हीन बन हाथमें मिट्टीका बर्तन ले भोजनके लिये गली-गली भीख मांगते हैं। प्रिय बन्धु! यह निश्चय करो, कि धनमें कुछ भी नहीं धरा है। अपना मन आत्मिक संयममें (Spiritual discipline) लगाओ। क्योंकि वही एक प्राप्तव्य पदार्थ है। हम इस संसारमें देखते हैं कि दुर्दैवके फल-स्वरूप सुवर्ण-पात्रमें सदा दूध पीने वाली तथा राजमहलमें निवास करने वाली महारानी अपने राजकीय वैभवसे शून्य हो जाती है। निर्धनता और क्षुधाके कारण वह भोजनके लिये घर-घर भीख मांगती हुई जाती है। संसारका ऐसा ही स्वभाव है। इसलिये

कभी भी धनकी इच्छा मत करो। धर्मका मार्ग पकड़ो। इस संसारमें हम गरीबी और दुःख देखते हैं। एक स्त्री इतनी गरीब होती है कि वह अपनी लज्जा-मात्र निवारण-योग्य छोटा सा जीर्ण वस्त्र पाती है। वह अपने एक हाथसे कपड़ेको पकड़ कर लज्जाकी रक्षा करती है और दूसरे हाथको भोजनार्थ पकानेके लिये कुछ पत्तोंको तोड़नेके हेतु उठाती है। ऐसी स्थितिमें वह अपने दुर्भाग्यको कोसती है, जिसके कारण उसकी ऐसी लज्जापूर्ण दुखद अवस्था हुई है। बन्धु! जीवनमें ऐसी बातोंको देखते हुए धन-संग्रहकी ओर उन्मुखता न धारण करो। तपस्या तथा आत्म-संयममें लगो। सुन्दर तथा सुडोल शरीर वाला युवक, जिसे देख सुन्दर स्त्रियोंका मन हर्षित होता था, वृद्ध होने पर झुकी कमर वाला होकर लकड़ीके सहारे खड़ा हो पाता है। इस तरह तुम जानते हो कि जवानी जीवनमें एक अस्थिर वस्तु है।' राजमाताने अपने पुत्र जीवकके कल्याणके निमित्त यह सदाचारका उपदेश दिया।

राजमाताके शब्दोंको ध्यानसे सुन कर सुनन्दा माताने भी उसे अपने लिये उपयोगी अनुभव किया। उसने जीवकसे कहा, 'धार्मिक नरेन्द्र! राजमाताके संसार-त्याग का निश्चय, भले ही अच्छा हो या बुरा, मुझे पूर्ण रूपसे मान्य है। मैंने उनके अनुकरण करनेका निश्चय किया है।'

माता सुनन्दाके ये शब्द सुन कर जीवक अवाक् खड़े रहे। वे क्या कहें यह समझमें नहीं आता था।

पुनः जीवंधरको छोड़ कर दोनों माताएं तपोवनकी ओर रवाना हो गईं। राजभवनकी अन्य महिलाएं अश्रु भरे नेत्रोंसे असहाय सरीखी खड़ी रहीं। सारा नगर शोकमें क्रन्दन कर रहा था। जिस दिन विजया महारानी मयूर-यंत्र पर बैठ कर नगरसे बाहर गईं थीं, उस दिन लोग इतना नहीं रोये थे। आजके रोनेका आवाज तूफानके समय होने वाली समुद्रकी गर्जनाके समान थी। राजमाताकी पालकीके पीछे-पीछे एक हजार महिलाओंकी पालकियां और थीं। वे सब उस पुण्याश्रममें पहुँची, जहां प्रमुख संघ-नायिका पूजनीया साध्वी पद्मा विराजमान थीं।

राजमाता, साथकी सहस्र महिलाओंके साथ अपनी-अपनी पालकियोंसे नीचे उतर कर, आश्रममें पहुँचीं। उनने संघ-नायिका साध्वी पद्मा को नमस्कार किया और प्रार्थना की कि उनको तथा साथकी स्त्रियोंको आश्रममें स्थान दें एवं संसार-सिन्धुके पार जानेमें उनका मार्ग-प्रदर्शन करें।

राजमाताकी प्रार्थना पर आश्रमकी प्रमुखाने कहा, तपस्या-पूर्वक आत्म-संयम अत्यन्त कठिन कार्य है। तपस्याके बिना धार्मिक जीवन द्वारा भी इस लोकमें सुख तथा सन्मान मिलेगा और परलोकमें स्वर्गका सुख प्राप्त होगा। इसलिए आप सभी महिलाओंको तपस्याका विचार बदलना चाहिए।

इन चेतावनीके वाक्योंको सुन कर राजमाताने कहा—'पूज्य माता जी! हम आपके धर्मोपदेशको पीछे सुनेंगी, अभी तो हमें साध्वीकी दीक्षा दीजिये।'

इस प्रकार साग्रह प्रार्थना किये जाने पर आश्रमकी साध्वियोंने दीक्षा समारम्भके लिये आवश्यक कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। वह स्थान पत्र-पुष्प द्वारा अलंकृत किया गया, दीपक जलाये गये, आसन सुन्दरता पूर्वक सजाया गया। राजमाताके चरणोंको दूधसे प्रक्षालित किया गया। उनकी रेशमकी बनी राजकीय पोशाक दूर की गई। उन्होंने सफेद सूती कपड़ा पहिना। आध्यात्मिक विकासके नियमानुसार अन्य महिलाओंकी भी ऐसी ही विधि की गयी। उनके आभूषणों और मालाओंको अलग कर दिया गया। उन्होंने सादा सफेद सूती वस्त्र धारण किया। राजमाता, सुनन्दा तथा साथकी महिलाओंने पूर्वकी ओर मुख कर आसन ग्रहण किया। इसके पश्चात् उनके सुन्दर वस्त्र आश्रमकी साध्वियोंने काट डाले और एक पात्रमें रख कर वे उन्हें बाहर ले गईं। दीक्षा संस्कारके पश्चात् वे महिलाएं पंखोंसे रहित मयूरीके समान लगती थीं। इस प्रकार आश्रममें रह कर उन्होंने साध्वीका जीवन स्वीकार किया। भगवान् सर्वज्ञ-प्रणीत जिनागममें उनकी दृढ़ श्रद्धा थी। वे सब आत्म-विशुद्धिके कार्यमें गंभीरतापूर्वक लग गईं। उनकी आत्मामें आध्यात्मिक गुण उत्पन्न हो गए। अनेक आत्मगुणोंके कारण उनका हाड़-मांस-निर्मित देह रत्न आदि बहुमूल्य पाषाणोंसे पूर्ण सोनेके पात्र समान मनोहर लगता था। वे साध्वियां बाह्य जगत्का तनिक भी ध्यान न कर आश्रममें रहती थीं। लोगोंकी प्रशंसा अथवा निंदाका उन पर कोई असर नहीं होता था। शास्त्रोंके स्वाध्यायमें उन्हें बहुत आनन्द आता था। वे शंका तथा भ्रमसे मुक्त थीं। जिन भगवान्की वाणीमें उनकी श्रद्धा प्रकाशस्तंभके समान सारे संसारमें प्रकाशमान हो हो रही थी।

एक दिन राजा अपनी रानियोंके साथ पूजाके लिये

पुष्पोंको लेकर आश्रमको गये। उन सबने राजमाताके चरणों पर पुष्प रख कर चरणोंकी पूजा की और इस प्रकार कहा—

'पूज्य माताजी! पहले मुझे आपके समीप निवास करनेका सौभाग्य नहीं मिला था। अब आशा थी कि विजय-के उपरान्त मैं आपके पास महलमें रहूँगा; परन्तु आपने संसारके राजकीय वैभवका परित्याग कर दिया। मेरी आपसे एक प्रार्थना है कि आप कृपाकर नगरमें निवास करें ताकि मैं आपके दर्शनका अनेक वार लाभ ले सकूँ।'

इस पर साध्वी राजमाताने कोई भी उत्तर न दिया। वे मूर्तिकी तरह मौन रहीं। इस बीचमें साध्विकाओंकी अग्रणी पूज्य माता पद्माने कहा— इस साध्वीने कुछ भी उत्तर न दे जो मौन धारण किया; उसका कारण यह है कि आप यह जान लें कि अब पुराने कौटुम्बिक संबंध समाप्त हो चुके। आप पुराने संबंधोंको भूल जायं और तत्संबंधी भावनाओंका त्याग कर दें।'

इन स्पष्ट शब्दोंको सुनकर महाराज जीवंधर अपनी रानियों सहित दुःखसे सिसक-सिसक कर रोने लगे। महा-राजने कहा, 'पूजनीया माता जी! मैं पुराने पुत्रभावको घोषित करते हुये तथा उसे पुनः दृढ़ करते हुये इस आश्रममें नहीं आया हूँ। मेरी मुख्य भावना आश्रममें आनेकी यह है कि मैं पूज्य जिनेन्द्रभक्त साध्वियोंका दर्शन करूँ और उनके साहसको भली प्रकार देखूँ जो जिनागममें कथित आध्यात्मिक संयमका पालन कर रही हैं।'

महाराजके इन शब्दोंको सुनकर सभी साध्वियोंका मन सहानुभूतिसे द्रवित हो गया और उनने साध्वी राजमातासे सांत्वनाके कुछ शब्द कहनेका, यह कहते हुये, अनुरोध किया कि भक्तको इस प्रकारका उत्तर देना उनकी श्रद्धा और संयमके प्रतिकूल नहीं हैं। आश्रमकी साध्वियोंके इस प्रकार अनुरोध पर राजमाताने महाराजसे कहा, जो पवित्र धर्मकी आराधना कर रही हैं उनके दर्शन करनेका तुमने अपना भाव दर्शाया है ताकि लोगोंको मुक्तिपथमें लगानेकी प्रेरणा दी जाय। हम भी इसी ध्येयकी प्राप्तिके हेतु संसार-का त्याग करके पवित्र आश्रममें आई हैं। इस पर महाराजने कहा—'पूजनीया माता जी! आपने मुझे अपने पुत्रके समान पोषण करनेका कष्ट नहीं उठाया, अतः आपको मेरा और जगतका परित्याग करना उचित ही है।

पश्चात् माता सुनंदाकी ओर मुखकर महाराज बोले, तुमने मेरा पालन-पोषण किया, इससे यथार्थमें तुम ही मेरी माता हो। अब तक तुमने मुझे कभी भी कोई कष्ट नहीं दिया। अब तुमने संसारका तथा मेरा परित्याग कर दिया है। यह तुमने मेरे प्रति क्रूरता का कार्य किया है। महाराजने माता सुनंदाके समक्ष अपनी व्यथा इस भांति व्यक्त की, जिस प्रकार घायल सिंहका बच्चा अपनी माताके समक्ष अपने दुःखको प्रगट करता है।

यह सुनकर सुनंदा माताने कहा—तुम्हें पुरानी बातोंको भूल जाना चाहिये। अपने पतिकी मृत्यु होने पर मैं चुप-चाप तुम्हारे पास रही आई। इस पर संसारने मुझे दोष दिया कि अपने मृत पतिके शोकको भूलकर मैं तुम्हारे राज-महलमें राजकीय वैभवके साथ रही। अब जब स्वयं राज-माताने राजमहलके वैभव तथा संपत्तिको नगण्य मान छोड़ दिया है और तापसाश्रममें प्रवेश किया है, तब मेरा राज्य महलमें रहकर आनंद भोगना लोगोंके लिए विशेष लांछन देनेका कारण होगा। क्या तुम यह चाहते हो कि लोग मेरी निंदा तथा अवहेलना करें? इन शब्दोंको कहकर माता सुनंदाने जीवकको शांति दी और अपने महलमें वापिस जाकर राजकीय कर्तव्य पालन करने को कहा।

इसके पश्चात् साध्वी राजमाताने सुनंदादेवीके पुत्र नंदाढ्यसे इस प्रकार कहा, 'हमने संसारको छोड़कर ताप-साश्रममें प्रवेश किया है, इससे तुमको दुःख नहीं करना चाहिए। हम तुमको कभी नहीं भूलेंगी। हम तुम्हारा उज्ज्वल भविष्य चाहती हैं।'

इन शब्दोंको सुनकर वे सब आनंदित हुए। इसके पश्चात् महाराज जीवंधरने साध्वियोंके आश्रम-निवासके अनुरूप जीवनके प्रति प्रशंसाका भाव व्यक्त किया और आश्रमसे चलकर अपने राजप्रासादकी ओर गमन किया। रानियोंने भी मातासे आज्ञा लेकर महाराजका अनुगमन किया। इसके अनंतर स्व० महाराज सत्यंधरकी गुणवती एवं विश्व-विख्यात सौन्दर्य वाली महारानीने सारे जगत्को पानीके बुलबुले सदृश सोचकर विश्वके समस्त पदार्थोंकी लालसाका त्याग कर दिया और दृढ़तापूर्वक धर्मके मार्ग पर चलकर स्थिरतासे मनको संयममें लगाया, क्योंकि उसने अपने मनमें यह धारणा कर ली थी कि निर्वाण-प्राप्तिका एक यही मार्ग है।

खान-पानादिका प्रभाव

(श्री० पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री)

अपने देशकी यह बहुत पुरानी कहावत है—

जैसा खावे अन, वैसा होवे मन,
जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वानी।

अर्थात् खाने-पीनेकी वस्तुओंका असर मनुष्यके मन पर पड़ा करता है। पर आजकल लोग इन बातोंको दकियानूसी बताने लगे हैं और खाने पीनेकी मर्यादा जो हमारे घरोंमें पीढ़ियोंसे चली आ रही थी, उसे तोड़कर स्वच्छन्द आहार-विहारी बनते जा रहे हैं। खाने-पीनेकी वस्तुओंका प्रभाव कितना अमिट होता है इसके दिखानेके लिए दो एक घटनाएं नीचे दी जाती हैं—

पंजाबके एक सौम्यमूर्ति क्षत्रिय-बन्धु बचपनसे निरामिष-भोजी थे। वे अत्यन्त मिलनसार और हंसमुख व्यक्ति थे। उन्होंने कभी भी मांस नहीं खाया था और न उनके घर-वाले ही खाते थे। गत दूसरे महायुद्धके समय वे फौजमें भर्ती होकर युद्धके मोर्चे पर गये। परिस्थितिवश वहां उन्हें मांस खाना पड़ा। धीरे-धीरे उन्हें मांस खानेका चस्का लग गया और शराब पीनेकी आदत भी पड़ गई। जब युद्ध बन्द हो गया तो वे लौटकर घर आये। लोग यह देखकर दंग रह गये कि उनका स्वभाव एक दम बदल गया है। जहां वे पहले अत्यन्त मिलनसार और दश आदमियोंमें बैठने वाले थे, वहां अब वे अत्यन्त रूक्ष-स्वभावी हो गये थे। बात-बात पर क्रोधित हो लाल-पीले हो जाते थे। लोगोंसे मिलना-जुलना तो एकदम ही नापसन्द हो गया था। अन्न खाना तो बरायनाम रह गया था, रोजाना नई-नई किस्मके मांस खाते और शराबमें शराबोर होकर अपने कमरेमें मस्त होकर पड़े रहते थे। एक दिन उनके एक घनिष्ट मित्र जो आजकल दिल्लीके एक कालेजमें प्रोफेसर हैं, उनसे मिलनेके लिये गये, तो उनकी उक्त दशा देखकर आश्चर्यसे स्तम्भित रह गये। जहां पहले उनका चेहरा अत्यन्त सौम्य था और बाल घुंघराले थे; वहां अब वे अत्यन्त रौद्र मुख दीखने लगे थे और बाल तो सूअरके समान मोटे और खड़े हो गये थे। उक्त प्रोफेसर साहबको उनकी यह दशा देखकर अत्यन्त दुःख हुआ और उनके गर्म मिजाजको देखकर उनसे कुछ भी कहनेका साहस नहीं हुआ।

यह एक सत्य घटना है। मांस-भोजी और शाकाहारी पशुओंमें एक जबर्दस्त भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मांस-भोजी शेर, चीते, बाघ आदि जानवर अत्यन्त क्रूर स्वभावी और एकान्तप्रिय होते हैं, जबकि शाकाहारी गाय, हरिण आदि अत्यन्त शान्त स्वभावी और संघप्रिय होते हैं, वे अपने समाजके साथ ही रहना पसन्द करते हैं। उक्त महाशय जब शाकाहारी थे, उनमें शाकाहारियोंके गुण थे और अब मांस-भोजी हो जानेपर उनमें मांस-भोजी जानवरों जैसे दोष प्रविष्ट होगये।

एक और भी सच्ची घटना सुनिये—एक सज्जनने बताया कि वे एक बार पर्युषण पर्वमें षट्-रस-विहीन भोजन कर अत्यन्त निर्मल परिणामोंके साथ धर्म साधन कर रहे थे। चूंकि वे वहां अतिथि बनकर गये थे, इसलिये प्रति दिन नये-नये घर पर भोजन करने जाना पड़ता था। एक दिन उस रूखे-सूखे भोजनके करने पर भी रातमें उन्हें अत्यन्त काम-विकार जागृत हुआ और नींद लगते ही स्वप्न-दोष भी हो गया। दूसरे दिन उन्होंने अपने अत्यन्त निजी मित्रोंसे उस व्यक्तिके आचरण-बाबत पूछ-ताछ की, तो पता लगा कि स्त्री और पुरुष दोनों ही आचरण-भ्रष्ट हैं—स्त्री व्यभिचारिणी और पुरुष व्यभिचारी है। उक्त सज्जन आश्चर्य-चकित हुए कि एक व्यभिचारी मनुष्यके अन्नसे व्यभिचारिणी स्त्री-द्वारा बनाये गये भोजनका कितना प्रभाव एक ब्रह्मचारी मनुष्य पर पड़ता है।

आजकल लोग दिन पर दिन शिथिलाचारी होते जाते हैं और हर एक आदमीके हाथकी बनी हुई वस्तुको जहां कहीं भी बैठकर जिस किसी भी समय पर खाया-पीया करते हैं। यही कारण है कि उनका दिन पर दिन नैतिक पतन होता जा रहा है। जो वस्तु जितने कुत्सित संस्कारी व्यक्तिके द्वारा उपार्जित होगी और जितने हीनाचारी व्यक्तिके द्वारा तैयार की जाएगी, उन दोनोंके कुत्सित संस्कारोंका प्रभाव उस वस्तु पर अवश्य पड़ेगा। लेकिन उसके खाने पर उसका अनुभव उसी व्यक्तिको होता है, जिसका आचार-विचार शुद्ध है और खान-पान भी शुद्ध है। जिसका चित्त आर्त-रौद्र ध्यानसे रहित एवं धर्मध्यानरूप रहता है।

खान-पानकी चीजोंके समान वस्त्र और स्थानका भी

प्रभाव मनुष्यके ऊपर पड़ा करता है। इस विषयमें इसी दिसम्बर मासके 'कल्याण' में प्रकाशित उदासीन सन्त अनन्त श्री स्वामी रमेशचन्द्रजी महाराजके अनुभव ज्ञातव्य हैं। जिन्हें कल्याणसे यहां साभार उद्धृत किया जाता है—

दूसरे के वस्त्रों का प्रभाव

"आजकल लोग कहते हैं कि चाहे जिसका खा लो, पी लो और चाहे जिसका वस्त्र पहन लो, कोई हानि नहीं है। पर ऐसी बात नहीं है—मेरे जीवनकी एक घटना है। सन् १९४६ की बात है कि मैं एक बार लायलपुर, पंजाबमें गया हुआ था। वहां मैं एक रात्रिको श्री सनातनधर्मसभाके स्थान पर जाकर सोया। मैंने वहांके चपरासीको बुलाकर उससे कहा कि मुझे रात्रिको यहीं पर सोना है, इसलिए मुझे कोई बिलकुल ही नया विस्तरा लाकर दो। चपरासीने मुझे एक बिलकुल ही नया विस्तरा लाकर दे दिया। मैं उस नये विस्तरेको बिछाकर सो गया। सोनेके पश्चात् सारी रात मुझे स्मशानघाटके स्वप्न आते रहे और मुर्दे आते तथा जलते दिखलायी पड़ते रहे। प्रातःकाल उठने पर मुझे बड़ी चिन्ता हुई कि आज ऐसे बुरे स्मशानघाटके स्वप्न क्यों मुझे दिखलाई पड़े। मैंने तुरन्त ही उस चपरासीको अपने पास बुलाकर उसे पूछा—'भाई! बताओ, तुम मेरे सोनेके लिए यह विस्तरा कहांसे लाये थे?' उत्तरमें चपरासीने कहा कि 'महाराज! एक सेठजीकी माता मर गयीं थी, उन सेठजीने अपनी मरी हुई माताके निमित्त यह नया विस्तरा दानमें दिया था, वही मैंने आपको लाकर दे दिया। मैं समझ गया कि दान चूंकि प्रेतात्माके निमित्त दिया गया था, इसलिए उस दान किये हुए विस्तरमें भी प्रेत-भावना प्रवेश कर गयी और इसीसे मुझे रात भर स्मशानघाटकी बातें दिखलाई पड़ती रहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि जो कर्म जिस भावनासे किये जाते हैं, उसके संस्कार उसमें जाग्रत रहते हैं। इसलिए सबके हाथका खाना-पीना और सबके वस्त्रोंको काममें लेना कदापि उचित नहीं है।"

स्थान या वातावरणका प्रभाव

"वातावरण और स्थानका भी मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस स्थानपर जैसा काम किया जाता है, वहां पर वैसा ही वातावरण उत्पन्न हो जाता है। इसका अपना अनुभव इस प्रकार है—मैं एक बार ऋषिकेश गया था और वहां एक रातको एक आश्रममें जाकर ठहरा। सो जाने पर मुझे रातभर पटवारियोंके सम्बन्धके स्वप्न आते रहे और कभी जमाबंदीकी बातें, तो कभी हिसाब-किताबकी बातें, जो पटवारी किया करते हैं, दिखलायी पड़ती रहीं। प्रातःकाल जागने पर मैं उस आश्रमके प्रबन्धकके पास गया और मैंने उनसे पूछा कि आपके इस स्थान पर अबसे पहले कौन आकर रहते थे? प्रबन्धकजीने बताया कि 'महाराज, इस स्थान पर ५-६ दिनों तक बराबर बहुतसे पटवारी आकर रहे थे और वे यहां पर जमाबंदीका काम करते रहे थे। मैं समझ गया कि बस, उन्हीं पटवारियोंके संस्कार इस कमरेमें रह गये हैं, जो मुझे रात भर सताते रहे। जहां मनकी सूक्ष्मता थी, वहीं उनका प्रभाव भी प्रकट हुआ। अतः हमारा मन चाहे जिस जगह बैठकर शुद्ध और स्थिर रह सकेगा, यह सोचना गलत है। सोच-समझकर और पवित्र वातावरण वाले स्थान में रहकर भजन-पूजन करनेसे ही मन लगेगा और लाभ हो सकेगा। जहां मांसाहारी रहते हों, जहां मांस-मछली, अंडे मुर्गे खाये जाते हों, और जहां गो-भक्षक लोग रहते हों, तथा जहां अश्लील गन्दे गाने गाये जाते हों, व्यभिचार होता हो, वहां भला मन कैसे शुद्ध रह सकता है और कैसे भजन बन सकता है।"

(कल्याण, दिसम्बर १९५६)

ऊपरके उद्धरणसे पाठक सहजमें ही जान सकेंगे कि खाने पीनेकी चीजोंके समान ओढ़ने पहननेके वस्त्रोंका और स्थानका भी असर हम पर पड़ता है। मनुष्यके जैसे पवित्र भाव तीर्थ क्षेत्रों पर होते हैं, वैसे अन्यत्र नहीं। इसका कारण यह है कि जिस भूमि पर रह कर साधु-सन्तों एवं तीर्थंकरादि महापुरुषोंने विश्वके कल्याणकी भावना की है, उनके पवित्र भावोंका असर वहांके पार्थिव परमाणुओं और वातावरण पर पड़ता है। उस स्थान पर जब कोई दूसरा व्यक्ति पहुँचता है, तब उसके मन पर उसका असर पड़ता है और उसकी बुरी और सक्लेश-पूर्ण मनोवृत्ति बदलने लगती है। इसके विपरीत जिस स्थान पर लोग निरन्तर जुआ खेलते रहते हैं, जहां वेश्याएँ और व्यभिचारिणी स्त्रियां दुराचार करती रहती हैं, वहांका वातावरण भी दूषित हो जाता है, और वहां जाने पर निर्मल मनोवृत्ति वाले भी मनुष्योंके मन मलिन होने लगते हैं। यही कारण है कि साधक एवं आराधकको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि सर्वप्रथम आवश्यक बतलाई गई है।

प्रद्युम्न चरित्रका रचनाकाल व रचियता

(लेखक—श्री अगरचन्द, नाहटा)

हिन्दी साहित्यके प्राचीन ग्रन्थ रचना-कालके उल्लेख वाले बहुत कम मिलते हैं। इसलिए उनके रचनाकालके निर्णयमें अनुमानसे ही काम लिया जाता है, जो असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। कुछ रचनाओंमें संवतोंका उल्लेख रहता है पर कई कारणोंसे वह मान्य करना कठिन होता है। वीसलदे रास आदि कई प्राचीन रचनाओंकी प्रतियोंमें रचनाकालके सूचक विभिन्न प्रकारके पद्य मिलते हैं। कई ग्रन्थोंकी कुछ प्रतियोंमें रचना काल-सूचक पद्य होते हैं, कुछ प्रतियोंमें नहीं। इस तरहकी विविध संदिग्धताओंके कारण उन ग्रन्थोंके रचना-कालका निर्णय करना कठिन हो जाता है। यहां एक ऐसी ही प्राचीन रचनाकी विविध प्रतियोंमें, रचनाकाल-सूचक पद्यके पाठमें जो महत्त्वपूर्ण पाठ-भेद मिलता है उसका परिचय दिया जा रहा है।

इस प्राचीन हिन्दी रचनाका 'परदमणचरित, प्रद्युम्न चरित्र, परदवणु चउपई, परदवण चरितं चउपहीबंध ऐसे कई नाम विविध प्रतियोंमें मिलते है। इसके रचनाकाल-सूचक पद्योंमें संवत् १३११, १४११ और १५११ ये तीन तरहके पाठ मिले हैं और पद्य-संख्यामें भी कुछ न्यूनाधिकता है। इस ग्रन्थकी अभी तक ६-७ प्रतियोंका पता चला है, जिनमें चार मूल प्रतियां और दोका विवरण मेरे सामने है। यहां उन प्रतियोंका परिचय देकर ग्रन्थके रचना-काल आदि पाठ-भेदोंका विवरण प्रस्तुत लेखमें दिया जायगा।

जयपुरके श्री कस्तूरचन्द्रजी काशलीवालसे मुझे इस ग्रन्थकी दो प्रतियां मिली हैं, जिनमें पहली ३२ पत्रोंकी है—पर उसके बीचके २३ से २८ तकके पत्र नहीं हैं। इस प्रतिमें लेखन-समय नहीं दिया गया है पर मुझे इसका पाठ अधिक उपयुक्त लगा और शायद यह प्रति सबसे पुरानी भी हो। इस प्रतिमें ७०६ पद्य हैं। यद्यपि अन्तमें पद्यांक ७१६ का दिया है पर ७०० के बाद ७०१ के स्थान पर ७१० लिखकर उसी क्रमसे आगे संख्या दे दी है अतः ९ की संख्या बढ़ती है। ग्रन्थके प्रारम्भमें रचना काल-सूचक एक पद्य मिलता है और अन्तमें कविका परिचायक पद्य मिलता है। वे दोनों क्रमशः इस प्रकार है :—

सरस कथा रस उपजइ घणउ,
निसणउ चरित्र पउजवणु तणउ।
संमत चउदसइ इग्यार,
उपरी अधिक भइ एग्यार ॥११॥
भादवसुदी नवमी जे सार,
स्वाति नखित्र शनीचर वार।
अगरवालकी मेरी जाति,
अगरोवे मेरी उत्पत्ति।
पुव्वचरितु मैं सुण्यो पुराण,
उपनउ भाउ मइ कियो बखान।
जइ पुहमि इकचित कियो,
साइ समाइ विलियव (?) ॥७११॥
चउपइ बन्ध मइ कियउ विचित्तु,
भवीय लोक पढ़उ दे चित्त।
हुँ मति-हीणु न जाणउ केउ,
अखर मात न जाणव हेउ।
सधनु जननि गुणवइ उद्धरिउ,
साहु मइ राज गढह अवतरिउ ॥
एलची नयरी वसंतव जाणि,
सुणियउ चरितु हम करियउ बखाणि ॥

दूसरी प्रति ३४ पत्रोंकी है और पद्य संख्या ६८२ है। भिन्न अक्षरोंमें लिखित प्रशस्ति संवत् १६०५ आसोजवदी ३ मंगलवारकी है। इसमें उपरोक्त प्रसंग वाले पद्य इस प्रकार हैं—

संवतु चउदहसै हुइ गए,
ऊपर अधिक ग्यारह भये।
भादव दिन पंचइ सो सारु,
स्वाति नक्षत्र शनिश्चर वारु ॥
अगरवालकी मेरी जाति,
पुर अगरोए मुहि उतपाति,
सुधणु जणणि गुणवइ उर धरिउ,
सा महराज गरह अवतरिउ,
एरछ नगर वसंते जानि,
सुणउ चरित मइ रचिउ पुराण ॥

तीसरी प्रति सिंधिया ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, उज्जैनके संग्रहकी है। इस प्रतिकी सर्वप्रथम सूचना लश्कर जाने पर डा० क्राउजे (सुभद्रादेवी) से मिलने पर उनके पास जो

उपरोक्त इन्स्टीट्यूटके जैन प्रतियोंकी विवरणात्मक सूची है उससे मिली। मैंने बीकानेर आकर उसका विवरण उज्जैनसे मंगाया। इस प्रतिमें रचनाकाल सम्वत् १४११ होनेसे इसको मंगाके देखना आवश्यक हो गया। उज्जैनवाले वैसे प्रति भेजनेको राजी नहीं हुए तो अंतमें भंडारकर ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट पूनाकी मार्फत मंगवाई गई। इस प्रतिकी एक विशेषता उल्लेखनीय है कि अभी तक इस ग्रन्थकी जितनी भी प्रतियाँ ज्ञात हैं वे सब दिगम्बर मन्दिरोंमें व उन्हींकी लिखित हैं पर उज्जैन वाली प्रति श्वेताम्बर यतिकी लिखी हुई और सम्भवतः श्वेताम्बर यतिके किसी भंडारसे ही इन्स्टीट्यूटमें पहुँची है। संवत् १६३४ आश्विन वदी ११ रविवारको राजगच्छके उपाध्याय विनयसुन्दरके शिष्य भक्तिरत्नके शिष्य नयरत्नने इसे अपने लिए लिखी। इसमें पद्य-संख्या ७११ है, पाठमें भी काफी अंतर है और ग्रन्थके नाममें चरित्रके स्थान पर चउपई लिखा मिलता है। जो ऐसी अधिकांश रचनाओंकी संज्ञा है, छन्द भी चौपई है। रचनाकाल और ग्रन्थकार-सम्बन्धी पद्य इस प्रकार हैं:--

समत् पंचसइ हुई गया, ग्यारहोत्तरा भी अरु तह भया।
भाद्रववदी पंचमतिथि साह, स्वातिनक्षत्र शनिश्चरवारु
अगरवालकी मेरा जाति, पुरी आगरोवइ मां उत्पत्ति।
धनु जननि गभु उरी धरयो, समहराइकरिया अवतरीयो
येरस नगर बसंतउ जाणि, सुणहु चरित मैं किया बखाणु

जयपुरसे प्राप्त दोनों प्रतियोंके आधारसे कविका नाम निर्णीत नहीं हो सका था। सुधनु शब्द अवश्य कुछ विचारणीय लगता था, पर प्रसंगसे उसका दूसरा अर्थ भी संभव होनेसे वह कविनाम ही है यह निश्चय नहीं हो सका। इस उज्जैनवाली प्रतिमें दो अन्य पद्य और भी हैं जिनमें कविका नाम स्पष्ट रूपसे साधारु पाया जाता है। यथा--

अठदल कवल सरोवर वासु, काश्मीरपुरी लियो निवासु
हंस चढ़ि करि पुस्तक लेइ, कवि साधारु सारद पणमेइ
पद्मावती डंडु करि लेइ, ज्वालामुखी सकेसरी देइ।
अमबउ हिनउ खंडि जउ सारु, शासन देवि कथेसाधारु

अतः इस प्रतिका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। पत्र संख्या २४ है।

चौथी प्रति जिसका सर्वप्रथम पता चला था वह बाराबंकोके जैनमन्दिरकी है। इसकी पत्र-संख्या ६२ और लेखन-समय १७६५ कार्तिक सुदी १५ है। दिल्लीमें ऋषिधर्मने इसे लिखा है। पद्य-संख्या ७०७ है। इसका विवरण नागरी प्रचारिणी सभासे मंगवाया गया। उसमें ग्रन्थकी रचना और रचियता-सम्बन्धी पद्य इस प्रकार है:--

संवत् चउदस हुइ गई,
ऊपरि अधिक एग्यारह लई।
भादव वदी पंचम तिथि सारु,
स्वाति नखित्त शनिश्चर वारू ॥७०१॥
अगरवालकी मेरी जाति,
पुनि आगरोवइ मोहि उत्पत्ति ॥ ७०२ ॥
सुद्धि जननि गुणवइ उरि धरउ,
साहु महत्तउ घरि अवतरिउ ॥ ७०४ ॥
एरिच नयरि वसंतउ जाणि
सुणि चरित्त मइ करिउ बखाणु ॥ ७०५ ॥

इस प्रतिमें कविके नामवाला जो पद्य उज्जैनकी प्रतिमें १४वीं संख्याका है वह इसमें सर्व प्रथम है।

अठदल कंवल सरोवर वास, काश्मीर पुर लियो निवास
हंसि चढ्यौ कर पुस्तक लेइ कवि साधारु सारद पणमेइ
पद्मावति भुंड करि लेइ, ज्वालामुखि व केसर देइ,
अंबाइण रोहिणी जो सार, सासं देवा नमं 'साधार' ॥

इसमें कविका नाम होने पर भी विवरण-लेखक उसे पकड़ नहीं पाया और उसकी जाति अगरवालको ही कविका नाम मान लिया। आगरोवइको कविने अपनी जातिका उत्पत्ति-स्थान बतलाया है उसे ठीक नहीं समझनेके कारण कविको आगरेका निवासी लिख दिया गया है। जब मैं जयपुर गया तब कस्तूरचंद्र काशलीवालने प्रति दिखलाते हुए कहा कि कविके नामका पता नहीं चलता। पर वह आगरेका अगरवाल है तब मैंने आगरोवइ शब्दको ठीक मिलाकर वह अगरवालोंका उत्पत्ति-स्थान अग्रोहे नगरका सूचक है--बतलाया। इसी ग्रन्थकी दो अन्य प्रतियां ऐसी भी मिली हैं जिनमें रचनाकाल १३११ दिया है। इनमेंसे एक प्रति रोवांके मोहल्ला कटराके दिगम्बर जैन मंदिरमें है जिसकी पत्र-संख्या ४१ है और पद्य-संख्या ७२०। इसमें 'गुणसागर यह कियो बखानि' वाक्य आता है उससे विवरण-लेखकने कविका नाम गुणसागर मान लिया है। वास्तवमें संवत् १४११ के उल्लेख वाली जो दो प्रतियां मिली हैं उसे पीछे से किसी ग्रन्थकारने भाषाका भी रद्दोबदल करके तैयार की है इसलिए उसने अपने संकलित पाठवाले ग्रन्थको पुराना सिद्ध करनेके लिये 'चउदहसै' के स्थानमें 'तेरहसै' लिख दिया है और रचनाकालका सूचक पद्य जो अन्य प्रतियोंके प्रार-

ग्रमें आता है वह अन्तमें दे दिया है। कवि-परिचयवाले पद्यके भी दो टुकड़े कर दिये हैं। पहली पंक्ति ७२१वें पद्यमें और दूसरी-तीसरी पंक्ति ७२४वें पद्यमें और संवतोल्लेख वाली ७२५ में दे दी है। आगरोवइ पाठको वह भी ठीक नहीं समझ सका इसलिये उसने उसके स्थान पर 'आगरे' पाठ दिया है। वह पद्य इस प्रकार है—

अगरवार आगरै बसै, जिनसेवनकौ चित उलसै॥७२१

कुवरि नाम जननि उर धर्यौ,

साहु मल्ल जिहि घर अवतर्यौ

एरछ नयरि वसै तुम जानि,

गुनसागर यह कियौ बखानि॥७२४॥

संवत तेरहसै हुए गए, ऊपर अधिक इग्यार भए।

रींवामें हिन्दी ग्रन्थोंका शोधकार्य अभी रघुनाथ शास्त्री ने किया है। उन्होंने इस ग्रन्थका परिचय 'विन्ध्य शिक्षा'के मार्च १९५६ के अंकमें प्रकाशित किया है। उन्होंने कविका नाम गुणसागर आगरा-निवासी और रचना सम्वत् १३११ की बताते हुए कथावस्तु अपने लेखमें दी है।

इस सम्वत् १३१२ के उल्लेखवाली एक और प्रति श्री कस्तूरचन्दजी काशलीवालको मिली है जिसका विवरण मैंने उनकी नोटबुकमें देखा था। इसकी भाषाको देखते हुए यह संस्करण पीछेसे किसीने तैयार किया है, यह निश्चित है।

ऊपर जो पाँच प्रतियोंके विवरण दिये गए हैं उनसे रचनाकालकी समस्या जटिल हो जाती है पहली प्रतिमें '१४११ भादवा सुदी ६ स्वातिनक्षत्र शनिश्चर वारू' दूसरीमें '१४११ भादवा पंचमी' इसमें सुदी व वदीको स्पष्टता नहीं है। तीसरी प्रतिमें सम्वत् ५११ (१५००) भादवा बदी पंचमी, चौथीमें १४११ भादवा बदी पंचमी और पांचवींमें १३११ भादवा सुदि पंचमीका पाठ मिलता है। स्वाति नक्षत्र शनिश्चर वार सबमें है। तीन प्रतियोंमें संवत् १४११, एकमें १५११ और अन्यमें १३११। तिथि दोमें भादवा बदी पंचमी, एक में भादवा सुदी पंचमी, एकमें भादवा सुदी ६ और एकमें भादवा पंचमी बतलाई है। मैंने पुराने संवतोंकी यंत्रीसे जांच करनेका प्रयत्न किया, तो इनमेंसे किसी भी संवत् तिथिको स्वतिनक्षत्र शनिश्चर वार नहीं बैठता। अतः उसके आधारसे वास्तविक रचना-कालका निर्णय करना सम्भव नहीं हो सका। पर जो प्रतियां मेरे सामने हैं उनको देखते हुए सम्वत् १४११ ही रचनाकाल सम्भव है। १३११ का उल्लेख अवश्य ही पीछेका है और ५११ तो स्वयं संदिग्ध है।

दूसरी समस्या ग्रन्थके रचना-स्थानकी है पर वह तो सभी प्रतियोंमें 'एलछ' या 'एरछ' नगर ही स्पष्ट लिखा है अतः आगरा मानना भ्रमपूर्ण हैं। आगरोवई लेखककी जातिका उत्पत्ति-स्थान है और वह अग्रोवइ ही निश्चित रूप से है, आगरा नहीं।

तीसरी समस्या कविके नामकी है। वह बाराबंकी और उज्जैनकी प्रतिसे निश्चित हो जाती है कि कविका नाम साधारु ही है। यद्यपि उसके उल्लेख वाले दोनों पद्य जयपुरसे प्राप्त दोनों पुरानी प्रतियोंमें नहीं है। फिर भी एक श्वेताम्बर लेखकने संवत् १६३४ में जिससे प्रतिलिपिकी, वह प्रति अवश्य ही पुरानी और प्रामाणिक होनी चाहिए और उसका समर्थन बाराबंकी वाली दिगम्बर प्रति भी कर रही है। अतः रचना-काल, रचना-स्थान और कवि इन तीनों समस्याओंका निर्णय उक्त विचारणासे हो जाता है। अभी इसकी पुरानी व अन्य प्रतियां और भी जहां कहीं हों, पता लगाना आवश्यक है।

एलछ नगरके सम्बन्धमें अनुसंधान करने पर विदित हुआ कि वह मध्यप्रान्तका एलिचपुर जिला ही है। ब्र० शीतलप्रसादजीके मध्यप्रान्तके जैन स्मारकके पृष्ठ ४७ में लिखा है कि एलिचपुर नगरको राजा एलने बसाया, वह जैन था।

इस ग्रन्थका सर्वप्रथम परिचय मुझे श्री कामताप्रसाद जैनके 'हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास'से मिला था। उन्होंने दिल्ली-भंडारकी जो सूची अनेकान्त'में छपी थी उसके आधारसे इसे गद्य-ग्रन्थ बताया था। दिल्ली-भंडारमें सं० १६८८ की इसकी लिखी प्रति थी। अतः वह गद्य-ग्रन्थ हो तो बहुत ही महत्वपूर्ण बात है यह सोचकर मैंने श्री-पन्नालाल जैन अग्रवालसे इसकी प्रति प्राप्त की और देखा तो विदित हुआ कि वह गद्य-ग्रन्थ नहीं, पद्य-रचना ही है। पर महत्त्वकी बात यह विदित हुई कि यह रचना सं० १४११ की है। संवतोल्लेख वाला इतना प्राचीन ग्रन्थ प्रायः अन्य नहीं मिलता, अतः प्राचीनताके नाते इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। चाहे वह गद्य-ग्रन्थ न भी हो। कामताप्रसादजीने सूचीके आधारसे इसका कर्ता रायरच्छ लिखा था, पर प्रति मँगाने पर यह विदित हुआ कि वह कर्त्ताका नाम नहीं, परन्तु इस ग्रन्थके रचना-स्थानका नाम है। कविका

(शेष टाइटिल पेज ३ पर)

पुराने साहित्यकी खोज

[जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर']

(४)

११. प्राकृत-छन्द-कोश

यह प्राकृत छन्दोंका, जिनमें अपभ्रंश भाषाके छन्द भी शामिल हैं, एक सुन्दर कोश है, जो उक्त भट्टारकीय शास्त्र-भण्डारके एक गुटकेसे उपलब्ध हुआ है। इसकी पत्र-संख्या १० (२२ से ३१) और पद्य-संख्या ७८ है। प्रस्तुत ग्रंथ-प्रतिके अन्तमें यद्यपि पद्य-संख्याङ्क ७२ दिया है परन्तु वह पद्यों पर संख्याङ्क डालनेकी कुछ गड़बड़ी आदिका परिणाम है। यह प्रति कुछ अशुद्ध लिखी होनेसे इस बातकी ज़रूरत पड़ी कि इसकी कोई दूसरी प्रति मिलनी चाहिये, जिससे प्रतिलिपिका कार्य ठीक बन सके। खोज करने पर भाग्यसे एक दूसरी प्रतिका और पता चला, जो कि जयपुरके दि० जैनमन्दिर पं० लूणकरणजीके शास्त्रभण्डारमें है और इसलिये मैं स्वयं जयपुर जाकर पं० कस्तूरचन्द्र जी M.A. की कृपासे उसे प्राप्त कर लाया। जयपुरकी प्रति शास्त्राकारमें ६ पत्रों पर लिखी प्रायः शुद्ध और सुन्दर है, जहां कहीं कुछ अशुद्ध है उसका संशोधन अजमेरकी प्रतिसे हो जाता है। जयपुरी प्रतिके अन्तमें यद्यपि पद्यसंख्याङ्क ७९ पड़ा है, परन्तु वह भी दो पद्यों पर ३८ वां अंक पड़ जानेकी गलतीका परिणाम है। यह प्रति भाषाकी दृष्टिसे 'य' के स्थान पर 'अ' तथा 'इ' के प्रयोगादिकी कुछ विशेषताओंको लिये हुए है, जिनका प्रकटीकरण ग्रन्थके सम्पादन तथा प्रकाशनके अवसर पर हो सकेगा। अस्तु।

इस ग्रन्थमें प्रायः छन्द-नामके साथ प्रत्येक छन्दका लक्षण उसी छन्दमें दिया है जिसका लक्षण प्रतिपादन करना था, और इस तरह उदाहरणके अलगसे देनेकी ज़रूरत नहीं रक्खी गई, साथ ही छन्दशास्त्रके गणादि-विषयक कुछ नियमादिक भी दिये हैं। जिन छन्दोंके लक्षण इसमें दिये गये हैं उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—

१. सोमकान्त, २. दोधक, ३. मोतियादाम, ४. त्रोटक ५. यतिबहुल ६. भुजंगप्रयात, ७. कामिनीमोहन, ८. मैनाकुल, ९. छप्पय, १०. रोडक, ११. नाराच, १२. दुमिला, १३. विहान, १४. गीत, १५. विजय, १६. फुटवेसर, १७. दोहा दोधक, १८. हंसदोधक, १९. सोरठा, २०. चूलिका-दोहा, २१. उपचूलिका दोहा, २२. उग्गाह दोहा, २३. रसाकुल. २४. स्कधक-दण्डक, २५. कुण्डलिया, २६. चन्द्रायण, २७. बेराल, २८. राढक, २९. वस्तु, ३०. दुवई (द्विपदी), ३१. पद्धडी, ३२. चौपई, ३३. कुण्डलिनी, ३४. चन्द्रायणी, ३५. लघु चौपई, ३६. अडिल्ल, ३७. भिन्न अडिल्ल, ३८. घत्ता, ३९. मेहाणी, ४०. महामेहाणी, ४१. नाराच (प्रकारान्तर), ४२. एकावली ४३. चूडामणि, ४४. मालती, ४५. पद्मावती, ४६. गाथा (गाथाभेद-)४७. विप्री, ४८. छत्रिणी, ४९. वैश्यी, ५०. शूद्री, ५१. पथ्या, ५२. विपुला, ५३. चपला, ५४. मुखचपला, ५५. जघनचपला, ५६. विगाहा-विपरीता, ५७. गीति, ५८. उपगीति, ५९. आहिणी।

इन छन्दोंमेंसे कितने ही छन्दोंके लक्षणोंमें उनके निर्माता कवियोंके नाम भी दिये हैं, जैसे नागेश-पिंगल, गुल्ह, अल्ह, अर्जुन, गोसल। इन कवियोंके नामादि-सूचक कुछ वाक्य नमूनेके तौर पर निम्न प्रकार हैं:—

१ रायाणं ईसणं उत्तो:···एसो छंदो सोमक्कंतो (४)

२ छंदंपि मैणाउलं अल्ह जंपेइ। (११)

३ णारायणाम सोमकंत गोसलेण दिट्ठओ (१४)

४ चूलियाउ तं बुह मुणउ गुल्लह पयंपइ सव्व-सुण्हा (२६)

५ तं दुवईय छंदु सुह लक्खण अज्जुण-सुकइ बद्धो(३७)

इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने अपना कोई नाम नहीं दिया और न ग्रन्थ-रचनाका समय ही दिया है। इससे ग्रन्थकार-का नाम और रचना-समय दोनों ही अभी अज्ञात हैं। जिन गुल्ह, अल्ह, अर्जुन और गोसल नामके कवियोंका इसमें उल्लेख है उनकी कोई रचनाएं अपने सामने नहीं हैं और न उनके समयका ही कुछ पता है। यदि उनमेंसे किसी-का भी समय मालूम होता तो यह निश्चय-पूर्वक कहा जाता कि यह ग्रन्थ उस समयके बादका बना हुआ है। आशा है उन कवियोंकी कोई कृति सामने आने पर इस विषयका

ठीक निर्णय हो सकेगा। जिस किसी विद्वान्‌को उनके समयादि विषयक कुछ परिचय प्राप्त हो तो उसे प्रकट करना चाहिए।

हाँ, एक बात यहां प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि, जिस गुटकेसे यह ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है उसके अन्तिम भागमें फारसी भाषाकी कुछ कविताएं फ़ारसी लिपिमें ही लिखाई गई हैं, उनमेंसे पहली कविता जिससे लिखाई गई है उसने लिखते समय अपने लिखनेकी तारीख भी साथमें दर्ज कर दी है और जो "मवर्ख़ा २४ माह शब्रबान सन् ९६२ (हिजरी) है। इससे प्रस्तुत छन्द-ग्रन्थ गुटकेमें इस तारीखसे कितने ही काल पहलेका लिखा हुआ है और उस गुटकेमें अवतरित अथवा लिपिकृत हुए उसे ४१३ वर्षसे ऊपरका समय हो गया है; क्योंकि आज हिजरी सन् १३७६ प्रचलित है। ऐसी हालतमें यह ग्रन्थ ४१४ वर्षसे पहलेका बना हुआ है, इतना तो सुनिश्चित है; परन्तु कितने वर्ष पहले इसका निर्माण हुआ यह अभी निर्णयाधीन है।

इस ग्रन्थके आदि-अन्तके दो-दो पद्य इस प्रकार हैं :—

आजोयणट्ठियाणं सुर-नर-तिरियाण हरिस संजणणी
सरस-सर-वण्णछंदा सुमहत्था जयउ जिणवाणी ॥१
भू-चंदक्क मरुग्गणा म-भ-ज-सा सव्वाऽइ-मज्झंतगा
गीयाई सुकमा कुणंति सुसिरि किंत्ति च रोगं भयं।
सग्गंभोऽगणि-खेसरा न-य-र-ता सव्वाऽऽइ-मज्झंतला
आऊ वुड्ढि विनास देश-गमणे कुव्वंति निस्संसयं ॥२

× × ×

पयडेइ छंद-संखं अक्खरसंखा अणाइ एगजुया।
छंदाणं जोणीओ जाणह पाऊण मत्ताइं ॥७७।
इय पाइय-छंदाणं कइवइ-णामाइं सुप्पसिद्धाइं।
भणियाइं लक्ख-लक्खण-जुआइं इह छंदकोसम्मि ॥७८

इति प्राकृतछंदकोशः समाप्तः।

इनमें पहला पद्य मंगलाचरणका है, जिसमें जिनवाणीका जयघोष करते हुए उसे समवसरणमें एक योजन पर्यन्त स्थित सुर-नर-तिर्यंचोंको हर्षित करनेवाली लिखा है और साथ ही यह बतलाया है कि वह महान् अर्थको लिये हुए सरस स्वर-वर्ण और छन्दोंसे अलंकृत है। दूसरे पद्यमें आठ गणोंका सुप्रसिद्ध स्वरूप बतलाते हुए रचनाके आदिमें उन गणोंको प्रयुक्त करनेका फल प्रकट किया है और साथमें उन गणोंके देवतादिका भी निर्देश किया है। अन्तिम पद्यमें ग्रन्थकी समाप्तिको सूचित करते हुए यह प्रकट किया है कि इस छन्दकोशमें कतिपय सुप्रसिद्ध प्राकृत छन्दोंके नामादिक लक्ष्य-लक्षणसे युक्त कहे गये हैं। अस्तु।

यह ग्रंथ अच्छा उपयोगी है और अनुवादादिके साथ प्रकाशित किये जानेके योग्य है।

१२. पिंगल-चतुरशीति-रूपक

यह छन्द-विषयक ग्रन्थ भी उसी गुटकेसे उपलब्ध हुआ है जिससे 'प्राकृत-छन्दकोश' मिला है और पिंगलाचार्य-प्रणीत छन्दशास्त्रके आधार पर प्राकृत-भाषामें निबद्ध है। कर्ताका नाम और रचनाकाल इसमें भी दिया हुआ नहीं है। परन्तु यह भी एक प्राचीन कृति है और उस समयकी रचना जान पड़ती है जबकि देशमें प्राकृत-अपभ्रंशका प्रचलन था। यह ग्रन्थ उक्त गुटकेके प्रायः प्रारम्भमें ही छन्दकोशसे पूर्व लिखा गया है* और इसलिये इसका लिपिकाल भी ४१३ वर्षसे पहलेका सुनिश्चित है। ग्रंथकी पत्र-संख्या २२ और श्लोक संख्या ३०० के लगभग है।

इस ग्रन्थमें ८४ छन्दोंके स्वरूप दिये हुए हैं और साथमें छन्दशास्त्र-सम्बन्धी गणादि-विषयक कुछ नियमोंका भी उल्लेख है। जिन ८४ छन्दोंके इसमें रूप दिये हैं उनके नाम निम्न प्रकार हैं :—

१ साडा, २ दण्डिका, ३ गाहिनी ४ गाहा, ५ विग्गाहा, ६ सिंहिनी, ७ उग्गाहा, ८ गाहा, ९ खंधाणा, १० वत्थुवा, ११ दोहा, १२ गंधाना, १३ उक्किन्था, १४ रोडा, १५ लाला, १६ रंगिक्का, १७ विज्जुमाला, १८ चउपइया, १९ पहुमावती, २० रूवामाला, २१ घत्ता, २२ गीतिका, २३ डिल्ला, २४ पद्धड़ी, २५ अडिल्ल, २६ मडिल्ल, २७ वत्थु २८ वहरत्थु, २९ झमिल्ल, ३० गयनंदु, ३१ पयंगम, ३२ तिन्ना, ३३ नाराया, ३४ दुवई ३५ पावानी, ३६ वल्लग्गिया, ३७ चौंवर, ३८ सामाणी, ३९ धारीया, ४० खंजा ४१ तुंगा, ४२ सिक्खा, ४३ तोटक, ४४ भुजंग-प्रयात, ४५ लीला, ४६ लग्गणिया, ४७ जमकाणा, ४८ फारी, ४९ मोदका, ५० चंदाणा, ५१ चूलिया, ५२ चारया, ५३ कमला, ५४ दीपका, ५५ मोत्तिदाम, ५६ सारंगा ५७ बंधा, ५८ विज्जोहा, ५९ करहंचा ६० पंचा, ६१ सम्मोहा, ६२ चौरंशा, ६३ हंसा, ६४ मंधाणा, ६५ खंडा, ६६ खंजा ६७ हरसंखाणा, ६८ पाइत्का, ६९ पंका, ७० वाणी, ७१ सालूरा, ७२ रासा, ७३ ताणी,

* इसके पूर्वमें एक पृष्ठ पर णमोकार मन्त्र, एसो पंच नमोकारो, अज्ञान-तिमिर-व्याप्ति० और 'या कुंदेन्दु-तुषारहारधवला' नामका सरस्वती-काव्य दिया है।

७४ चन्दामाला, ७५ चक्का, ७६ हाटक्की, ७७ धूआ, ७८ तक्का, ७९ खण्डा, ८० खण्डलया ८१ कम्बलया, ८२ धवलंगा, ८३ बिम्बा, ८४ डम्बलिया।

इन नामोंके अनन्तर कुछ गाथाएँ दी हैं जिनमें पिंगल-भाषित ८४ रूपकोंके लक्ष्य-लक्षण भेदसे कथनकी प्रतिज्ञा करते हुए पहले छन्दशास्त्र-सम्बन्धी नियमों और गणोंके भेदों-उपभेदों आदिका कुछ विस्तारके साथ वर्णन दिया है और फिर 'साडा' आदि उपर्युक्त छन्दोंके लक्षणात्मक स्वरूप दिये हैं। किसी-किसी छन्दके उपभेदोंका उल्लेख करके उनके भी स्वरूप साथमें दिये हैं और जहां कहीं छन्दका उदाहरण अलगसे देनेकी ज़रूरत पड़ी है वहाँ अलगसे उदाहरण दिये हैं और कहीं एकसे अधिक भी उदाहरण दिये हैं। साथ ही जगह-जगह पिंगलके अनुसार कथनकी बात कही गई है। एक स्थान पर 'उवचूलिउ' छन्दका उल्लेख करते हुए उसके निर्माता कवि रल्हका भी उल्लेख किया है; जैसा कि निम्न पद्यसे प्रकट है :—

दोहा छंदु वि पढम पढि दह दह कल संजुत्त
सुअठ सवि मत्त दइ।
उवचूलिउ बुहियण सुणहु गुरु गण मुण संजुत्त
जंपेइ रल्ह कइ॥

इस ग्रन्थके मंगलाचरणके दो पद्य इस प्रकार हैं—

जा विज्जा चउराणणेण सरिसा जा चउभुए संभुणा
जा विज्जाहर-जक्ख-किन्नरगणा जा सूर-इंदाइया।
जा सिद्धाण सुरा णराण कइणा जा धूवयं निश्चयं
सा अम्हाण सुहाण एव विमला वाणी सिरी भारया
जो विविह-सत्थसायर पा॑-पत्तो सविमलजल-हेलं।
पढणब्भासतरंडो नाएसो पिंगलो जयउ॥२॥

इनमेंसे पहले पद्यमें विमला वाणी श्रीभारतीका स्मरण और दूसरेमें नागेश पिंगलका जयघोष उनकी स्तुतिको लिए हुए किया गया है। इन पद्योंके अनन्तर 'अथ चउरासी-रूपक-नामानि' वाक्य देकर उन ८४ छन्दोंके नाम दिये हैं जिन्हें ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। उनके अनन्तर जो पद्य ८४ छन्दोंके लक्षणारम्भसे पहले दिए हैं उनमेंसे प्रारम्भके दो और अन्तका एक पद्य इस प्रकार है:—

'चउरासी रूवा जं वुत्ता लक्खण-लक्खेण संजुत्ता।
चउरासी रूवा भावाणं पिंगलु-नामेइ पावाणं॥१॥
गुरु जुवकन्नं गुरु अंतकरंलयं पयोहरम्मि गुरुमज्झे
आइगुरूणं चलणं विप्पो सव्वेसु लहुएसु॥२॥

टगणो तेरह भेओ भेया अट्ठाइ होंति ठगणस्स।
डगणस्स पंच भेया तिब्भेया होंति ढगणस्स॥११॥

ग्रन्थके अन्तमें 'डंबलिया' छन्दका लक्षण देकर ग्रन्थ-समाप्ति-सूचक जो वाक्य दिया है वह इस प्रकार है:—

तीसदूधुवमत्तय एरसजुत्तय पंडियलोय चवंति णरा।
विस्सामयटिट्ठिय एरसदिट्ठिय पायहसिट्ठिय तिण्णिघरा
दासप्पढमंचियअट्ठतहंचियचउदह तिण्णिविकियणिलयं
जो एरिसछंदय सेसफणिंदय सो जाणे मुणय डंबलियं॥

इति डंबलियाछंदः समाप्तः। इति पिंगलस्य चतुरशीतिरूपकाः समाप्ताः।

इस तरह यह इस ग्रन्थका संक्षिप्त परिचय है। छंदों-की संख्या और उनके लक्षणादिको देखते हुए ग्रन्थ अच्छा महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी जान पड़ता है और अनुवादादिके साथ प्रकाशित किए जानेके योग्य है, जिससे प्राकृत और अपभ्रंशके साहित्यकी श्रीवृद्धि हो सके।

१३. विधवा-शील-संरक्षणोपाय

उक्त ४१४ वर्ष पहलेके लिखे हुए गुटकेमें एक स्थान (पत्र ७९, ८०) पर दस गाथाएँ दी हुई हैं जिनमें विधवाओंके शीलकी संरक्षाका सुन्दर उपाय बतलाया गया है। ये गाथाएँ परस्पर सम्बद्ध एक ही आचार्यकी कृति जान पड़ती हैं और इसीसे इस गाथा-समूहको यहां 'विधवा-शील-संरक्षणोपाय' नाम दिया गया है। इन गाथाओंमें विधवाओंके आचरण-सम्बन्धी भारतकी प्राचीन संस्कृति सन्निहित है, उसकी जानकारीके लिये इन्हें यहां पूरा ही उद्धृत किया जाता है। आजकल भारतकी संस्कृति तो महिलाओंके सम्बन्धमें कुछकी कुछ हो गई है और होती जा रही है। किसीको भी शील-संरक्षाकी कोई चिन्ता ही नहीं रही है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—

(गाथा)

पुरिसेण सह सहासं संभासं वत्तकरणमेगंते।
एगट्ठाणे सयणासणाइं पइरिक्कठाणं च॥१॥

पुरिसस्सवालविवरण-अंगोहलि एहाण-मलणमब्भंगो
दिट्ठीइ दिट्ठिबंधो विलेवणं चलण धुवणं च॥२॥

तंबोल-कुसुम-कुंकम कप्पूरं सुरहि तिल्ल-कत्थूरी।
केस-सरीर नियसण-वासणमेलाइ-सिरिखंडं॥३॥

नह-दंत-अलय-सीमंत-केस-रोमाण तह य परिकम्मं।
अच्चंतमुद्धधम्मिल्लबंधणं वेणिबंधं च॥४॥

नाहिं-नियंब-उरत्थल-पयासणं पुरिस-सेव-करणं च।
नर-सुर-तिरिए दट्ठुं कामकहं पुव्व-रय-सरणं ॥५॥

सव्वंचिय आभरणं अलत्तयं अंजणं अणुवरित्तं।
हिंडोलय-खट्टाई-सयणं तह कुलिआएउ ॥ ६ ॥

कोसंभं पट्टउलं तिलवासाईणि अच्छवत्थाणि।
इगभत्ती जुयलस्स उ परिहरणं उब्भडो वेसो ॥ ७ ॥

खीरं कामुद्दीवण-वंजणमाहारमहियमहणं च।
जणसमवाए कोउग-पलोयणं धम्मठाण-बहिं ॥ ८ ॥

पर-गिहगमणं एगागिणीइणिसि बाहिरम्मि णिस्सरणं
चमचम-रस-उलगाणं तलियाणं तह परिभोगं ॥९॥

सिंगारत्थं दप्पण-पलोयणं मिंदियाइ नहरागो।
एमाइ विहव-महिलाए विवज्जए सीलरक्खट्ठं ॥ १० ॥

१४, प्राकृतकी पुरानी चिट्ठी

प्राकृत भाषामें लिखी यह चिट्ठी भी उक्त ४१४ वर्ष पुराने गुटकेसे उपलब्ध हुई है। इसको देखनेसे मालूम होता है कि वह किसी अनन्यनिष्ठ शिष्य-द्वारा अपने दूर-देशस्थ विशिष्ट गुरुको लिखी गई है। चिट्ठी गाथा-छन्दमें निबद्ध ६ पद्योंको लिए हुए है और लेखकादिके नाम-धामसे रहित है। इसकी पहली गाथामें अपनी कुशल-क्षेम सूचित करते हुए अपनेको निरन्तर गुरुके गुणोंमें लीन बतलाया है। और गुरुसे अपनी कुशल-क्षेमकी पत्री देनेकी प्रेरणा की है, जिससे अपनेको सन्तोष हो। दूसरी गाथामें गुरुको सम्बोधन करके लिखा है कि वह दिवस, वह रात्रि और वह प्रदेश गुणोंका आवास है, जहां आनन्द-जनक आपका मुख-कमल दिखाई पड़ता है। तीसरी गाथामें यह उत्प्रेक्षा की गई है कि क्या पत्री लिखनेके लिए उस देशमें भोजपत्र नहीं है, मषि (स्याही) नहीं है; अथवा अपनेसे कोई काम न रख कर उपेक्षा करदी गई, जिससे पत्री नहीं भेजी गई। चौथी गाथामें यह प्रकट किया गया है कि सारी पृथ्वी भोजपत्र, समुद्र स्याही, वनराजि लेखनी बन जाय और लिखने वाले बृहस्पति हों, तो भी तुम्हारे गुण लिखे नहीं जा सकते हैं। इसके बादकी गाथाओंमें उपमालंकारोंके साथ गुरुके प्रति अपनी भक्तिका प्रदर्शन किया गया है और इस प्रकारका भाव व्यक्त किया है कि जैसे हंस सरोवरका, भ्रमर पुष्पोंका, और सर्प चन्दन-वनका स्मरण करता रहता है उसी प्रकार मेरा मन आपका स्मरण करता रहता है; इत्यादि।

इस चिट्ठीमें यद्यपि लिखनेका कोई समय नहीं दिया है, फिर भी यह अतीव प्राचीनकालकी लिखी हुई जान पड़ती है—खास कर उस समयकी जब कि कागजका प्रचलन नहीं हुआ था और भोजपत्रों पर चिट्ठी आदि लिखी जाती थीं; क्योंकि इसमें चिट्ठी अथवा गुण-लेखनके लिए भोजपत्रका ही उल्लेख किया गया है। इस दृष्टिसे इस चिट्ठीका काफी महत्त्व है और अपने इस महत्त्वके कारण ही प्रतिलिपि कराकर इसे गुटकेमें सुरक्षित रखा गया है। पाठकोंकी जानकारीके लिए यहां इसे पूर्ण-रूपमें प्रकाशित किया जाता है :—

कुसलं अम्हाण वरं अणवरयं तुम्ह गुणलियंतस्स।
पट्ठाविय नियकुसलं जिम अम्हं होइ संतोसो ॥ १ ॥

सो दिवसो सा राई सो य पएसो गुणाण आवासो।
सुह गुरु तुह मुहकमलं दीसइ जत्थेव सुहजणणं ॥२॥

किं अब्भुज्जो देसो किं वा मसि नत्थि तिहुयणे सयले।
किं अम्हेहिं न कज्जं जं लेहा न पेसिआ तुम्हे ॥ ३ ॥

जइ भुज्जो होइ मही उयहि मसी लेहिणी य वणराई।
लिहइ सुराहिवणाहो तो तुम्ह गुणा ण याणंति ॥४॥

जह हंसो सरइ सरं पडुल कुसुमाइं महुयरो सरइ।
चंदणवणं च नागो तह अम्ह मणं तुमं सरइ ॥ ५ ॥

जह भद्दवए मासे भमरा समरंति अंबकुसुमाइं।
तह भयवं मह हियं सुमरइ तुम्हाण मुहकमलं ॥६॥

जह वच्छ सरइ सुरहिं वसंतमासं च कोइला सरइ।
विंझो सरइ गइंदं तह अम्ह मणं तुमं सरइ ॥ ७ ॥

जह सो नीलकलाओ पावसकालम्मि पंजरे छूढो।
संभरइ वणे रमिउं तह अम्ह मणं तुमं सरइ ॥८॥

जह सरइ सीय रामो रुप्पिणि कण्हो णलो य दमयंती
गोरी सरेइ रुद्दं तह अम्ह मणं तुमं सरइ ॥ ९ ॥

❀ ❀ ❀

वीर-सेवा-मन्दिर दिल्लीकी
पैसा-फण्ड-गोलक

वीर-सेवामन्दिरकी स्थापना सरसावा जिला सहारनपुरमें अप्रैल सन् १९३६ को हुई, जहाँ उसका विशाल भवन विद्यमान है। वहां इसके द्वारा १९ वर्ष तक जैनसाहित्य और इतिहासके अनुसंधान, उद्धार, प्रचार एवं जैन संस्कृतिकी रक्षाका जो सेवा-कार्य हुआ वह किसीसे छिपा नहीं है। उसके इस सेवा-कार्यको देखते हुए समाज तथा देशको अधिक लाभ पहुँचानेकी दृष्टिसे ही कुछ सज्जनोंकी भावना तथा प्रेरणा उसे दिल्ली जैसे केन्द्र स्थानमें लानेकी हुई। तदनुसार कुछ वर्ष हुए उसका प्रधान कार्यालय खोल-कर उसे दिल्ली लाया गया और कलकत्ता आदिके कुछ उदार महानुभावोंकी कृपासे उसका निजी तिमं-जिला भवन भी २१ दरियागंजमें बनकर तय्यार होगया है। इस तरह यह संस्था अब भारतकी राज-धानी दिल्लीमें आगई है, जहां भारतको और भी अनेक प्रमुख संस्थाएँ पहलेसे आ चुकी हैं और आरही हैं। और वह भारत सरकारके नियमानुसार रजिष्टर्ड भी हो चुकी है,

दिल्लीमें आ जानेसे इस संस्थाकी जहां उपयोगिता बढ़ी है, वहां इसकी जिम्मेदारियां भी बहुत बढ़ गई हैं, जिन्हें पूरा करनेके लिये सारे समाजका सहयोग वांछनीय है; तभी समाजकी प्रतिष्ठाको सुरक्षित रखते हुए उसके गौरवके अनुरूप कार्य हो सकेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि दिल्ली भारतके दिल (हृदय) स्वरूप मध्यभागमें स्थित भारतकी राजधानी ही नहीं बल्कि अनेकानेक प्रगतियों उन्नत कार्यों और विकास-साधनोंके स्रोत स्वरूप एक प्रमुख केन्द्र-स्थान बन गई है। यहां सब देशोंके राजदूत निवास करते हैं। संसारके विभिन्न भागोंसे नित्यप्रति अनेक प्रतिष्ठित दर्शक और कला-कोविद पर्यटक आते ही रहते हैं। यहां नित्य ही भाँति-भांतिकी प्रदर्शनियों, सभा-सोसाइटियों तथा अन्य सम्मेलनोंके आयोजन भी प्रचुरमात्रामें होते रहते हैं। जिनमें सम्मिलित होने के लिये भारत तथा विदेशोंसे असंख्य जनता आती रहती है। अतएव यहां प्रचार जैसे कार्योंको अच्छी प्रगति मिल सकती है और जैनसिद्धान्तोंकी प्रभावना भी लोक-हृदय पर अंकित की जा सकती है।

परन्तु यह सब तभी हो सकता है जब इन कार्योंके पीछे अच्छी आर्थिक योजना हो। समाजमें धनिक प्रायः इनेगिने ही होते हैं और सभी जन उनका सहयोग अपने-अपने कार्योंके लिये चाहते हैं। वे सबको कैसे कबतक और कितना सहयोग प्रदान करें? आखिर धनिक वर्गकी अपनी भी कुछ मर्यादाएँ हैं। अधिकांश धनिकोंकी स्थिति और परिणति भी सदा एक सी नहीं रहती। परिस्थिति आदिके वश जब कभी उनकी सहायता बन्द हो जाती है तो जो संस्थाएँ एकमात्र कुछ धनिकों पर ही अवलम्बित रहती हैं वे कुछ दिन चलकर ठप हो जाती हैं और उनके किये कराये पर एक तरहसे पानी फिर जाता है। वे ही संस्थाएँ सदा हरी भरी और फलती-फूलती दृष्टिगोचर होती हैं जिनकी पीठ पर जन-समूहकी शक्ति काम करती हुई देखी जाती है। निःसन्देह जन-समूहमें बहुत बड़ी शक्ति होती है। इधर-उधर बिखरी हुई शक्तियां मिलकर जब एक लक्ष्यकी ओर अग्रसर होती हैं तब बहुत बड़ा दुस्साध्य कार्य भी सरलतासे सम्पन्न हो जाता है।

ऐसी स्थितिमें बहुत दिनोंसे मेरे मनमें यह विचार चल रहा था कि दिल्लीमें वीरसेवामन्दिरको स्थायी तथा प्रगतिशील और समाजके प्राचीन गौरवके अनुरूप कैसे बनाया जाय और कैसे इसकी आर्थिक समस्याओंको हल किया जाय? अन्तमें यह उपाय सूझ पड़ा कि वीरसेवामन्दिरके लिये एक पैसा-फण्ड-गोलककी योजना की जाय और उसे जैन-समाजके हर घर और प्रत्येक जैनमन्दिरमें स्थापित किया जाय। घरकी गोलकोंमें घर पीछे कमसे-कम एक पैसा प्रतिदिन डाले जानेकी व्यवस्था हो और उसका भार गृहस्वामी पर ही रक्खा जाय, वही वर्षके अन्तमें गोलकसे पैसे निकाल कर उन्हें दिल्ली वीर-सेवा-

मन्दिरको भेजते रहनेकी कृपा करें। और मन्दिरोंकी गोलक-व्यवस्था मन्दिरोंके प्रबन्धकोंके सुपुर्द रहे। गोलकोंकी सप्लाई वीर-सेवामन्दिर करे। जिस गोलकसे जितना पैसा वर्षके अन्तमें प्राप्तहो, प्रायः उतने ही मूल्यका नया उपयोगी जैन-साहित्य प्रत्येक घरके स्वामी तथा मन्दिरके व्यवस्थापकके पास वीर-सेवा-मन्दिरकी ओरसे विना किसी मूल्यके फ्री भेजा जाय। ऐसा होने पर अधिकसे-अधिक जैन-साहित्यके प्रचारकी व्यवस्था हो सकेगी, जिसकी आज बहुत बड़ी जरूरत है, और उसके द्वारा जैन सिद्धान्तोंके मर्म, महत्व, व्यवहारमें आने-लानेकी योग्यता-उपयोगिता आदिको लोक-हृदय पर अंकित किया जा सकेगा। साथ ही, जिनवाणीके अंग-स्वरूप महत्वके प्राचीन ग्रन्थों तथा अन्य समृद्ध साहित्यकी खोज हो सकेगी, विविध भाषाओंमें उनके अनुवाद तैयोर किये जासकेंगे और जैनतत्त्वोंका विवेचन ऐसी सरल तथा सुन्दर भाषामें प्रस्तुत किया जा सकेगा जो लोक-हृदयको अपील करे। और इस तरह वीरसेवामन्दिर लोकहितकी साधनामें बहुत कुछ सहायक हो सकेगा, उसे लोकका समर्थन प्राप्त होगा और वह अपने भविष्यको उत्तरोत्तर उज्ज्वल बनाकर स्थायित्व प्राप्त कर सकेगा।

आर्थिक समस्याको हल करने और सारी जैन जनताका सहयोग प्राप्त करनेके उपाय-स्वरूप अपनी इस गोलक-योजनाको जब मैंने अजमेर, केकड़ी, ब्यावर, सहारनपुर, दिल्ली और कलकत्ता आदि स्थानोंके कतिपय सज्जनोंके सामने रक्खा तो उन सबने इसे पसन्द किया। तदनुसार वीरसेवा-मन्दिरकी कार्यकारिणी समितिमें इसका प्रस्ताव रक्खा गया और वह ३ जनवरी सन् १९५७ को सर्व-सम्मतिसे पास हो गया।

अब इस गोलक-योजनाको कार्यमें परिणत करने और सफल बनानेके लिये सारे जैनसमाजका सहयोग वांछनीय है। नगर-नगर तथा ग्राम-ग्रामसे दो एक परोपकारी एवं उत्साही सज्जन यदि सामने आएं और घर-घरमें गोलकोंकी स्थापनाका भार अपने ऊपर लेवें तो यह कार्य सहजमें ही साध्य हो सकेगा। वीर-सेवा-मन्दिर मांगके अनुसार उन्हें गोलकें सप्लाई करेगा। आजकलकी दुनियामें एक पैसेका मूल्य बहुत कम है और वह आगे और भी कम होने वाला है, और इसलिये घर पीछे एक पैसा प्रतिदिन साहित्य-सेवाके लिये दानमें निकालना किसीके भी लिये भाररूप नहीं हो सकता—खास कर उन गृहस्थोंके लिये जिनका दान करना नित्यका आवश्यक कर्तव्य है। फिरभी अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे 'बूँद-बूंदसे सर भरे' और 'कन कन जोड़े मन जुड़े' की नीतिके अनुसार इस पैसेका बड़ा मूल्य है। जैनियोंकी संख्या २० लाखसे ऊपर है, सामान्यतः ४ व्यक्तियोंके पीछे एक घरकी कल्पना की जाय तो जैनियोंके पाँच लाख घर बैठते हैं। इनमेंसे एक लाख घरोंमें भी यदि हम गोलकोंकी स्थापना कर सकें, और घर पीछे पाँच रुपये वार्षिककी भी आय मानलें तो वीर-सेवा-मन्दिरको प्रतिवर्ष पाँच-लाखकी आय हो सकती है। इस आयसे वीर-सेवा-मन्दिर कुछ वर्षोंमें ही वह कार्य करनेमें समर्थ हो सकेगा जिससे घर-घर, देश-देश और विदेशोंमें भी जैन-धर्म और वीर-शासनकी चर्चा फैल जाय और अधिकांश जनता अपने हितको समझने और उसकी साधनामें अग्रसर हो सके।

वीर-सेवा-मन्दिरने आमतौर पर पर्वादिके अवसरों पर अपनी कोई अपील आजतक नहीं निकाली, यह घर-घरमें गोलक-योजना उसकी पहली अपील है। आशा है कि समाजकी ओरसे इसका ऐसा सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त होगा जिससे वीर-सेवा-मन्दिर अपनी जिनशासन और लोक-सेवाकी भावनाओं-को शीघ्र ही पूरा करनेमें समर्थ हो सके।

निवेदक—

जुगलकिशोर मुख्तार

संस्थापक 'वीरसेवामन्दिर'

२१ दरियागंज, दिल्ली

तहिं पुरवाड वंस आयासउ,
अणणिय-पुव्व-पुरिस-णिम्मलकुलु ।
पुणु हुउ रायसेट्ठि जिण भत्तउ,
भोवइ णामें दय-गुण-जुत्तउ ।
सुहडपउ तहो णंदणु जायउ,
गुरु सज्जणहं भुअणि विक्खायउ ।
तहो सुउ हुउ धणवालु धरापवि,
परमप्पय-पंकय-रउ-अलि ।
एत्तहि तहि जिण-तित्थ-णमंतउ,
महि-भमंतु पल्हणपुर पत्तउ ।
सिरि पहचंदु महागणि णायगु,
बहुसीसेहि सहिउ णं वि रायगु ।
णं वाएसरि-सरि-रयणायरु,
सुमय कणय-सुपरिक्खण-णायरु ।
दिट्ठु णमोंसें पय-पणवंतउ,
हुउ धणवालु विबुह-जण-भत्तउ ।
मुणिणा दिट्ठउ हत्थुणिवोएं,
होसि वियक्खणु मज्झु पसाएं ।
मंतु देमि तुहकय मत्थए करु,
महु मुह-णिग्गउ घोसहिं अक्खरु ।
सूरि-वयणु सुणि मणु आणंदिउ,
णिवएं चरण-जुअलु महं वंदिउ ।
पढिय सत्थ गुरु-पुरउ अणालस,
हुअ जण-सिद्धि सुकइ-आणावस ।

घत्ता—पट्टणें खंभायच्चें धार-णयरि देवगिरि ।
मिच्छामय विहुणंतु गणि पत्तउ जोइणिपुरि ॥ २ ॥

तहिं भव्वहिं सुमहोच्छउ विहियउ,
सिरि रयणकित्ति-पट्टें णिहमउ ।
महमूंद साहि मणु रंजियउ,
विज्जहिं-वाइय-माणु-भंजियउ
गुरु आएसें महं किउ गमणु,
सूरिपुर वंदिउ णेमिजिणु ।
पुणु दिट्ठउ चंदवाडु णयरु,
वर-रयणागरुं मयर-हरु ।
णं णायकणय कल वइ पउ,
णं पुरइ रमणि सिरि सेहरउ ।
उत्तुंग धवलु सिरि-कय-कलसु,
तहिं जिणहरु णं वासहर जसु ।
महं तंपि पलोयउ जिण-भवणु,
बहु समयालउणं सम-सरणु ।
सिरि अरुह बिंबपुणु वंदियउ,
अप्पाणउ-गरिहउ-णिंदियउ ।
हो किंपणेहिं सिवियंग थइं,
विहडंगइं किं सुहि संगमइं ।
भो भो परमप्पय तुहुं सरणु,
महु णासउ जम्म-जरा-मरणु ।

घत्ता—
पुणु मुणिवर चरण णमंसियइं, अच्छमि जावहिं एक्क खणु ।
ता पत्तउ सिरि संघाहिवइ दिट्ठउ वासद्धरु सुयणु ॥४॥

जायव-वंस-पओणिहि-इंदु-पहु,
आसि पुरिसु सुपसिद्धउ जसहरु ।
तहो णंदणु गोकणु संजायउ,
संभरिराय मंति विक्खायउ ।
तहो सुउ-सोमएउ-सोमाणणु,
कुणय-गइंद-विंद-पंचाणणु ।
तहो पेमसिरि भज्जा विक्खाइय,
दय-दम-सील-गुणेहिं विराइय ।
एयहिं सत्त-पुत्त संजाइय,
णं जिण गिरए तच्च-विक्खाइय ।
पढमु ताहं दय-वल्ली सुरतरु,
संघाहिउ णामें वासाद्धरु ।
जो दिवहाडिय णाउ-पसिद्धउ,
णाइ भंगु णिव मंत-समिद्धउ ।
पुणु बीयउ-परिवार सहोयरु,
विणयंकिउ हरिराय मणोहरु ।
तइयउ सुउ पल्हाउ सलक्खणु,
संजायउ आणंदिय-सज्जणु ।
पुणु तुरियउ महराउ विसुद्धउ,
गुण-मंडिय तणु हुउ जस-लुद्धउ ।
पंचमु भामराउ मेहावरु,
छट्ठउ तणउ णाम-रयणायरु ।
सत्तमु सयल-बंधु-जण-वच्छलु,

संतणु-णाम-जाउ-मइ-दुल्लहु ।
एयहि सत्तहिं सुयहिं पसाहिउ,
सोमएउ णं णयहिं जिणाहिउ ।
जो पढमउ णंदणु वासाहरु,
सयल-कलालउ लंछण-ससहरु ।
पेक्खेविणु सारंगणरिंदें,
बाहु-णाण-कुल-कइरव-चंदें ।
रज्ज-धुराधरु णियमणि जाणिवि,
मंति-पयम्मि ठविउ सम्माणिवि ।
अप्पिवि देसु-कोसु-धणु-परियणु,
भुंजइ रज्ज-सोक्ख-णिच्चल-मणु ।

घत्ता—
सोसुअणु-गुणायरु बुहु-विहियायरु दुक्खिय-जण-णव-कप्पयरु
जिण-पय-पंकय-महुयरु सिरिवासद्धरु जामच्छइ तहिं सुरिय-हरु

ता पेक्खवि पंडिय धणवालें,
विहसिवि पभणिउं बुद्धि-विसालें ।
भो सम्मत्त-रयण-रयणायर,
वासद्धर हरिराय-सहोयर ।
विणय-गुणालंकिय णिम्मच्छर,
पंडिय-जण-मण-रंजण-कोच्छर ।
करिवि पइट्ठ भव्वजणु-रंजिउ,
जे तित्थयर-गोत्त आवज्जिउ ।
धण्णउं तुहं गुरुभत्ति-कयायर,
मइ-सुइ-कित्ति-तरंगिणि-सायर ।
जिणवर-पाय पओरुह-महुयर,
सयल-जीव-रक्खण-सु-दयायर ।
दुस्समकाल-पहाव-गुरुक्कउ,
जिणवर-धम्म-मग्गि जणु बंकउ ।
दुज्जण-पउर-खोउ-भकयायरु,
विरलउ सज्जणु गुणिविहियायरु ।
असहायहो जगि को वि ण मण्णइं,
धम्म-पहावें लब्भइ उण्णइं ।
धम्महीणु जणु जहि जहि गच्छइ,
तहिं तहिं सम्मुहु कोवि ण पेच्छइ ।
तें कज्जें धम्मायरु किज्जइ,
धम्महीणु ण कयावि हविज्जइ ।
इय धम्महो पहाउ दर बुद्धउ,
णिसुणिवि वासाधरु संबुद्धउ ।

घत्ता—पुणु अंपिवि पियवायए महुरु तहिं गुरुचरणग्गें ठियउ ।
बहुविणए सिरिवासद्धरेण कइ धणवालउ पत्थियउ ॥६॥

जिण-पय-पंकय-इंदिरेण,
आयम-पुराण-सुइ-मंदिरेण ।
सम्मत्त-रयण-रयणायरेण,
कइ पुच्छिउ-पुणु वासाहरेण ।
भो किं अविणोएं गमहिं कालु,
मइ-तंतु थुणहिं जिणु सामिसालु ।
करि-कव्वु मणोहरु सत्थ-चित्त,
जिण-चक्कि-काम-कइ मइ-विचित्त ।
जसु णामइं णासइ णिहिलु दुरिउ,
बाहुबलि-कामएवहो चरियउ ।
जल असणोवरि तंबोलु भव्वु,
तह जिण तिलओवरि सहइ कव्वु ।
दुहुं विरयहि भव्व-मणोहिरामु,
पद्धडिया बंधें सद्दणामु ।
कं विज्जए आए ण होइ सिद्धि,
पुरिसें जेण ण लद्ध-रिद्धि ।
किं किविणएण संचिय-धणेण,
किं णिएणेहं-पिय-संगमेण ।
किं णिज्जलेण घण-गज्जिएण,
किं सुहडें संगर-भज्जिएण ।
किं अप्पणेण गुण-कित्तणेण,
किं अविवेयं विउ-सयणएण ।
किं विप्पएण पुणु रूसिएण,
किं कव्वें लक्खण-दूसिएण ।
किं मणुयत्तणि जं जणिअ भव्वु,
किं बुद्धिए जाएण रइउ कव्वु ।
इय वयण सुणिवि संणाहि वासु,
धणवाल पयंपइ वियसियासु ।
भो कुणमि कव्वु जं कहिउ मज्झु,
गुरुयण हंसाएं किं असज्झु ।
हउं करमि कव्वु बुह-जणिय-हासु,
तुच्छमइं खं पयडइ जस-पयासु ।
णालोयउ णवमणु पय-सुसंगु,
णउ-लद्धउ मइ-कइयणहं संगु ।

घत्ता—वायरण महोवहिं दुत्तरु सद्द-लहरि किमणियाउं ।
णाणाभिहाण-जल-पूरियउ णउ हउ पारसियाणउं ॥ ७ ॥

वाएसरि-कीला-सरयवास,
हुअ आसि महाकई मुणि-पयास।
सुअ-पवण-रुविय-कुमय-रेणु,
कइ-चक्कवट्टि-सिरि धीरसेणु।
महि-मंडलि वणिवउं विबुहवंदि,
वायरण-कारि सिरि-देवणंदि।
जइणेंद णामु जइयण-सुलक्खु,
किउ जेण पसिद्धु स-वायलक्खु।
सम्मत्ताऱु बुसु रायभव्वु,
दंसण-पमाणु वर रयउ कव्वु।
सिरि वज्जसूरि गणि गुण-णिहाणु,
विरयउ मह छंदसण-पमाणु।
महासेण महामई विउ समहिउ,
जेण णाम सुलोयणचरिउ कहिउ।
रविसेणें पउमचरित्तु वुत्तु,
जिणसेणें हरिवंसु वि पवित्तु।
मुणि जडिलि जडत्त-णिवारणत्थु,
णं वरंगचरिउ खंडणु पयत्थु।
दिणयरसेणें कंदप्पचरिउ,
वित्थरिय महिहि णव-रसहं भरिउ।
जिण-पासचरिउ अइसयवसेण,
विरयउ मुणिपुंगव-पउमसेण।
अमियाराहण विरइय विचित्त,
गणि अंबसेण भव-तोस-चत्त।
चंदप्पहचरिउ मणोहिरामु,
मुणि विण्हुसेण किउ धम्म-धामु।
धणयत्तचरिउ चउवग्ग ाऱु,
अवरेहिं विहिउ णाणापयाऱु।
मुणि सीहणंदि सद्दत्थ वासु,
अणुपेहा-कय-संकप्प-णासु।
णवयारणेहु णरदेव वुत्तु,
कइ असग विहिउ वीरहो चरित्तु।
सिरि-सिद्धसेण पवयण विणोउ,
जिणसेणें विरइउ आरिसेनु (आरिसोउ)
गोविंदकइ दंसण-कुमाऱु,
कइ-रयण-समुद्दो लद्ध-पाऱु।
जयधवलु सिद्ध-गुण-मुणिउ तेउ,
सुय सालिहत्थु कइ जीव देउ।

वर पउमचरिउ किउ सु-कइसेदु,
इय अवर णायवर वज्जयवेदु।

घत्ता—चउमुहु दोणु सयंभुकइ पुप्फयंतु पुणु वीरु भणु
ते णाण-दुमणि-उज्जोय-कर हउ दीवोवमु हीणु-गुणु ॥८॥

तं णिसुणिवि वासाहरु जंपइ,
किं तुहं बुह चिंताउलु संपइ।
जइ मयंकु किरणहिं धवलइ भुवि,
तो खज्जोउ ण छंडइ णिय-छवि।
जइ खयराउ गयणे गमु सज्जइ,
तो सिहंडि किं णिय-कमु वज्जइ।
जइ कप्पतरु अमिय फल कप्पइ,
तो किं तरु लज्जइ णिय संपइ।
जसु जेत्तिउ मइ-पसरु पवट्टइ,
सो तेत्तिउ धरणियलें पयट्टइ।
इय णिसुणिवि संचालिव वुत्तउ,
कइणा धणवालेण पउत्तउ।

× × × ×

इयसिरि-बाहुबलि-देव-चरिए सुहडदेव-तणय-बुह धण-वाल-विरइए, महाभव्व-णेमिचंद-णामंकिए सेणियराय-समवसरण-समागमो वण्णणो णाम पढमो परिच्छेओ समत्तो ॥ संधिः १ ॥

अन्तिमो भागः—

× × × ×

जंबुदीव-भरह-वर-संतरि,
गिरि-सरि-सीमाराम-णिरंतरि।
अंतरवेइ मज्झि धणरिद्धउ,
तहं कावित्थ-विसउ सु-पसिद्धउ।
वीर-णाणि उप्पत्ति पवित्तउ,
सूरीपुरु जण-परिपालंतउ।
सूरसेणु णरवइ तहो णंदणु,
अंधय-विट्ठि-राउ रिउ-मद्दणु।
तहो पइवय पिय-पाण-पियारी,
णाम सुभद्दा देवि भडारी।
दस-दसार तहिं णंदण जाया,
वीर-वित्ति तिहुअण-विक्खाया।
सायर-विजउ पढमु उवणीयउ,
पुणु अक्खोहु णाम हुअ बीयउ।
तइयउ अमियामउ सिरिवल्लहु,
पुणु हिमवंतु तुरिउ जाणहु दुल्लहु।

विजउ णामु पंचमु सुह-वद्दणु,
छट्ठउ अचलु रिद्धि-सक्कंदणु।
सत्तमु णामु पसिद्धउ धारणु,
पुणु अट्ठमउ तणुब्भउ पूरणु।
सुउ अहिचंदु णवमु पुणु आयहु,
दहमउ सुउ वसुएवउ माणउ।
एयहं लहु अंकोऽतिमदोवर,
जायवणें णिजिय अमरक्खर।
समुद विजअ सूरीपुरि थप्पिउ,
चंदवाडु वसुएवहो अप्पिउ।
तहो सुउ रोहिणेउ अरि-गंजणु,
देवइ-णंदणु मणु जणहणु।
तहो संताणि कोडि-कुल-लक्खइं,
संजाया केवलि-पच्चक्खइं।
पुणु संभरि णरिंद महि भुंजिय,
जायव-वंसुब्भवतें रंजिय।
जसवंतु चहुवाण पुहइ पहु,
तहु मंतिउ जदुवंसिउ जसरहु।
पहुगण पत्तिहु भउ भरणीयलि,
आसानुरि सुरि-पय-पंकय-अलि।
साहु णाम गोकणु मंती तहु,
जिणवर-चरणंभोरुह-महुलिहु।
हुउ संभरि णरिंद महिवालउ,
कण्णदेवु-णाम-पय-पालउ।
सोमदेउ तहो मंति सहोयरु,
सयल-कलालंकिउ णं ससहरु।

घत्ता—पुणु सारंगु णरिंदु अभयचंदु तहो णंदणु।
तहो सुअ हुउ जयचंदु रामचंदु णामें पुणु॥

णिव-सागर-रज्जि-समयंकिउ,
वासाहरु मंतिउ णीसंकिउ।
णिय-पहु-रज्ज-भार-दिढ-कंधरु,
विबुह-वंदि-तरु-पोसण-कंधरु।
एक्कु जि परमप्पउ जो झावइ,
वे ववहार सुद्धणय भावइ।
जो ति-काल रयणत्तउ अंचइ,
चउ।णाभोय-रुइ कह-वि ण मुच्चइ।
जो परमेट्ठि-पंच-आराहइ,
जो पंचंग-मंत-महि साहइ।
जो मिच्छत्त पंच अवगण्णइं,
छक्कम्महिं जो दिणि दिणि गम्मइं।
जो सत्तंगु-रज्जु सु णिहालइ,
सत्त-तच्च-सद्दहइ रसालइ।
णाणट्ठु-गुण-संतत-रत्तउ,
सत्त वसणें जो कहिवि ण रत्तउ।
अट्ठ मूलगुण-पालण-तप्परु,
सइंसण अट्ठंग रयणायरु।
अट्ठ-सिद्ध-गुण-गण-सम्माणइं,
अट्ठदव्व-पुज्जिय जिण-चरणइं।
णव-विह-पुण्ण-पत्त दाणायरु,
णव-पयत्थ-परिरक्खण-णायरु।
णव-रस-चरिउ सुणइं वक्खाणइं,
दह-लक्खण-धम्महिं रइ-माणइं।
एयारह अंगइं मणि इच्छइ,
एयारह-पडिमाउ-णियच्छइ।
बारह-सावय-वय-परिपालइ,
तेरह-विहि चरित्तु सुणिहालइ।
चउदह-कुलयरकलमुवपस्सइ,
चउदह-विह-पुव्वहि-मणु-वासइ।
चउदह-मग्गण-वित्थरु-जोवइ,
चउदह पुरिस सत्तण उज्जोवइ।

घत्ता—
तहो बंधउ रयणसीहु भणिउं भज्जा य मेरु सुपसिद्धउ।
जिणबिंब-पइट्ठ-रएवि पुणु जिणवर-गोत्तु णिबद्धउ॥२॥

वासद्धर पिययम वे घरिणिउं,
परियण-पोसण णं कुरु धरणिउं।
वे पक्खुज्जल पर ण मरालिय,
सील-तरुहिं णं वेल्लि रसालिय।
पेमकिय-कुल-सरणं पोमिणि,
सुयण-सिहंडणि णं जलहर-झुणि।
पइ-वय-सील-सलिल-मंदाइणि,
दुक्खिय-जण-जण-णिव-सुह-दाइणि।
उदयसिरी होमा विणय-जुय,
चउविह-संघहो कप्पणिहो हुय।
उभर-सप्पि-सुय-रयण-समुब्भव,
संजाया कुल-हरण-तणुब्भव।
पढम-पुत्तु जयपालु गुणंगउ,

रूवेणं पच्चक्ख अणंगउ ।
हुउ जसपाल वियक्खणु बीयउ,
पुणु रउपालु पसिद्धउ तीयउ ।
तुरियउ चंदपालु सिरि-मंदिरु,
पंचमु सुभ विहराज सुहंकरु ।
छट्ठउ पुण्णपालु पुण्णायरु,
सत्तमु वाहडु णाम गुणायरु ।
अट्ठमु रूवएउ रूवड्ढउ,
एयहिं अट्ठ-सुअहिं-चिरु-वड्ढउ ।
भाइय-भत्तिज्जय-संजुत्तउ,
णंदउ वासाधर गुण जुत्तइ ।
जं हउं पच्छिउ पसमिय गव्वें,
वासाहर-संघाहिव-भव्वें ।
तहो वयणें महं आसि दिट्ठउ,
जं गणहर सुअ-केवलि-सिट्ठउ ।
सो पेच्छिवि मइ पाइय कव्वें,
विरयउ बुह-धणवालें भव्वें ।
सिरि-बाहुबलि-चरिउ जं जाणिउं,
लक्खण छंदु तक्कु ण वियाणिउं ।

घत्ता—लक्खण-मत्ता-छंद-गण-हीणाहिउ जं भणिउ मइं ।
तं खमउ सयलु अवराहु वाएसरि-सिवहं संगइं ॥३॥

विक्कम-णरिंद-अंकिय-समए,
चउदह-सय-संवच्छरहिं गए ।
पंचास-वरिस-चउ-अहिय-गणि,
वइसहहो सिय-तेरसि सु-दिणि ।
साईं णक्खत्ते परिट्ठियइं,
वरसिद्धि-जोग-णामें ठियइं ।
ससि-वासरे रासि-मयंक-तुले,
गोलग्गें मुत्ति-सुक्कें सबले ।
चउवग्ग-सहिउ-णव-रस-भरिउ,
बाहुबलिदेव-सिद्धहो चरियउ ।
गुज्जर पुरवाड-वंसतिलउ,
सिरि-सुहड-सेट्ठि गुण-गण णिलउ ।
तहो मणहर छाया गेहणिय,
सुहडाएवी णामें भणिय ।
तहो उवरि जाउ बहु-विणय-जुओ,
धणवालु वि सुउ णामेण हुओ ।
तहो विण्णि तणुब्भव विउल-गुण,
संतोसु तह य हरिराय पुण ।
थिरु अरुह-धम्मु जा महिवलएं,
सायर-जलु जा सुर-सरि मिलिएं ।
कणयहि जाम वसुहा अचलु,
वासरहो छट्ठउ ताम कुलु ।
जो पढइ पढावइ गुण-भरिओ,
जो लिहइ लिहावइ वर-चरिओ ।
संताण-वुड्ढि विथरइ तहो,
मणवंछिउ पूरइ सयलु सुहो ।
बाहुबलि-सामि गुरु-गण-संभरणु,
महु णासउ जम्म-जरा-मरणु ।

घत्ता—जो देइ लिहावइ वि पत्तहो, वायइ सुणइ सुणावइ ।
सो रिद्धि-सिद्धि-सपय लहिवि, पच्छइ सिव-पउ पावइ ॥४॥

श्रीमत्प्रभाचन्द्र-पद-प्रसादादवाप्तबुद्ध्या धनपालदक्षः ।
श्रीसाधुवासाधर-नामधेयं स्वकाव्य-सौधे कलशी-करोति ॥

इति बाहुबलि-चरित्रं समाप्तम् ।

(आमेर-भंडार, प्रति सं० १५८६
पं० पन्नालाल सरस्वती भवनकी प्रतिसे संशोधित)

२० चंदप्पह-चरिउ (चन्द्रप्रभचरित) भ० यशःकीर्ति

आदिभागः—

णमिऊण विमल-केवल-लच्छी-सव्वंग-दिण्ण-परिरंभं ।
लोयालोय-पयासं चंदप्पह-सामियं सिरसा ॥१॥
तिक्काल-वट्टमाणं पंचवि परमेट्ठि ति-सुद्धोऽहं ।
तह नमिऊण भणिस्सं चंदप्पह-सामिणो चरियं ॥२॥

घत्ता—

जिण-गिरि-गुह-णिग्गय सिव-पह-संगय सरसइ-सरिसुह-कारिणिय
महु होउ पसण्णिय गुणहि रवण्णिय तिहुवण-जण-मणहारिणिय

हुंबड-कुल-नहयलि पुप्फयंत,
बहु देउ कुमरसिंहवि महंत ।
तहो सुउ णिम्मलु गुण-गण-विसालु,
सुपसिद्धउ पभणइ सिद्धपालु ।
जसकित्ति विबुह-करि तुहु पसाउ,
महु पूरहि पाइय कव्व-भाउ ।
तं निसुणिवि सो भासेइ मंदु,
पंगलु तोडेसइ केम चंदु ।
इह हुइ बहु गणहर णाणवंत,
जिण-वयण-रसायण वित्थरंत ।

गणि कुंदकुंद वच्छल्ल गुणु,
को वएणण सक्कइ इयर जणु ।
कलिकाल जेण ससि लिहिउ णामु,
सइ दिट्ठउ केवल णंत-धामु ।
णामें समंतभद्दु वि मुणिंदु,
अइ णिम्मलु णं पुण्णिमहि चंदु ।
जिउ रंजिउ राया रुद्दकोडि,
जिण-थुत्ति-मित्ति सिवपिंडि फोडि ।
णीहरिउ विंबु चंदप्पहासु,
उज्जोयंतउ फुडु दस दिसासु ।
अकलंकु णाई पच्चक्खु णाणु,
जें तारा-देविहि दलिउ-माणु ।
उज्जालिउ सासणु जय पसिद्ध,
णिद्दालिय घल्लिय सयल-बुद्धि ।
सिरि-देवणंदि मुणिबहु पहाउ,
जसु णाम-गहणि णासेउ पाउ ।
जसु पुज्जिय अंबाएई पाय,
संभरण मित्ति तक्खणि ण आय ।
जिणसेण सिद्धसेण वि भयत,
परवाइ-दप्प-भंजण-कयंत ।
इय पमुहहं जहिं वाणी-विलासु,
तहि अम्हह कह होई पयासु ।

घत्ता—
जहि थुणइ फणीसरु, बहु जीहाहरु, अह सहसक्खुतिरिक्खइ ।
तहि पहु जिण-चरणइ, सिवसुहकरणइ, किह संथुणइ समिक्खइ

× × × ×

अन्तिमभाग:—

गुज्जर-देसहं उम्मत्त गामु,
तहिं छड्डा-सुउ हुउ दोण णामु ।
सिद्धउ तहो णंदणु भव्व-बंधु,
जिण-धम्म-भारि जें दिएणु खंधु ।
तहु सुउ जिट्ठउ बहुदेव भव्वु,
जें धम्म कज्जि विव कलिउ दव्वु ।
तहु लहु जायउ सिरि-कुमरसिंहु,
कलिकाल-करिंदहो हणण-सीहु ।
तहो सुउ संजायउ सिद्धपालु,
जिण-पुज्ज-दाण-गुणगण-रमालु ।
तहो उवरेहिं इह कियउ गंथु,
हउं णामु णामि किंपिवि सत्थु गंथु ।

घत्ता—
जा चंद दिवायर सव्व विसायर, जा कुल पव्वय भूवलओ ।
ता एहु पयट्टहु हियइं चहुट्टउ, सरसइं देविहिं मुहि तिलओ ।

इय-सिरि-चंदप्पह-चरिए महाकइ-जसकित्ति-विरइए महाभव्व-सिद्धपाल-सवण-भूसणे सिरिचंदप्पह-सामि णिव्वाण गमणो-णाम एयारहमो-संधी परिच्छेओ सम्मत्तो ॥

(मेरे पैत्रिक-शास्त्र-भंडारसे) सं.—१५३०

पडव-पुराणु (पांडव-पुराण) (भाषा अपभ्रंश)
कर्ता-भ० यशःकीर्ति. रचना-काल सं १४९७

आदिभाग:—

बोह-सु-सर-पयरट्ठहो गय-पय-रट्ठहो सिरिउज्जाम सोरट्ठहो ।
पणविवि कहमि जिणिट्ठहो गुणवल-विट्ठहो कह पंडव-पयरट्ठहो ॥

जो भव्व सरय-बोहण-दिणिंदु,
हरिवंस-पवण-पह णिसियरिंदु ।
सव्वंग सलक्खणु लद्धसंसु,
णिय-कम्म-णियक्खाणण विहंसु ।
भव-भीयहं सत्तहं जणिय हंसु,
वे पक्ख समुज्जलु णाइ हंसु ।
जेसि वर-जम्मि पयडिउ अहिंसु,
जो सिद्धि-मरालिहिं परमहंसु ।
जें णाणें पवियाणिउ ण हंसु,
जो तित्थणाहु वज्जरिय हंसु ।
जण-चाय-विसा-सारंग-वरिसु,
जम्मणे हरि-किय सारंग-वरिसु ।
णिय-कंतिए जिउ सारंगु सज्जु,
सारंगेण जि मेल्लिउ अवज्जु ।
णिह-मोहु चइ वि सारंगु जाउ,
सारंगु णयणे दिएणउ न राउ ।
सारंगें पणविय णिच्च-पाउ,
सारंग पाणि कर तुलिउ राउ ।
चउतीसातिसयहिं सोहमाणु,
वसु-पाडिहेर-सिय-चत्त-माणु ।
चउ-घण-चमरेहि विजिज्जमाणु,
जसु लोयालोय पमाणु णाणु ।
जें पयडिउ बावीसमउ तित्थु,
जसु अणुदिणु पणवइ सुरहं सत्थु ।
समुद्द-विजय सिवएवीहे पुत्तु,

सो नेमिणाहु गुण-सील-जुत्तु ।
जसु तित्थें जाउ महियलें पवित्तु,
एंडवहं चरिउ अच्छरिय-जुत्तु ।

घत्ता—

तह पणविवि सिद्धहं णाण-समिद्धहं आयरियहं पाठयहं तहं ।
साहुहु पणवेप्पिणु भाउ धरेप्पिणु वाएसरि जिण-वयण-रुहं ॥१

पुणु पणवेप्पिणु जिणु वड्ढमाणु,
अज्जवि जस तित्थु पवड्ढमाणु ।
चउ-कम्म हणि विहु परम-णाणि,
जोयण-पमाण-जसु दिव्व-वाणि ।
जं जए पयडिय पंचत्थिकाय,
छद्दव्व तह व कालहो न काय ।
जीवाइ-पयासिय-सत्त-तच्च,
पुणु णव-पयत्थ-दह-धम्म-सच्च ।
सम्मत्तु वि पणविसइ दोसु चत्त,
णिस्संकिय संवेयाइं जुत्त ।
वज्जरिउ विविहु सायार-धम्मु,
अणयार-धम्मु णिह णियहु कम्मु ।
जसु समवसरणु जोयण-पमाणु,
जे भणिउ तिलोय-पमाण-ठाणु ।
पुणु इंदभूइ-पमुहइ णवेवि,
णिय-गुरुहु जसुज्जल गुण सरेवि ।
चिर कइ हु करेप्पिणु परम भत्ति,
सुउ किंपि पयासमि णियय-सत्ति ।
इय चिंतंतउ मणि जाम थक्कु,
मुणि ताम परायउ साहु एक्कु ।
इह जोयणिपुरु बहु पुर-हिसारु,
धण-धयण-सुवण्ण-णरेहि फारु ।
सिरि-सर-वण-उववण-गिरि-विसालु,
गंभीर-परिह-उत्तुंग-सालु ।
तहिं निवसइ जालपु साहु भव्वु
णिउजी भज्जालंकिउ अगव्वु ।
सिरि-अयरवाल-वंसहि पहाणु,
सो संघहं वच्छलु-विणय-माणु ।
तहो णंदणु वील्हा णय-पमाउ,
..........सई जि आउ ।
जाणेप्पिणु हितमक्खाउ दिट्ठु,
ते णवि सम्माणिउ किउ वरिट्ठु ।
धेनाही तहो पिय णाम सिट्ठ,
गुरुदेव-भत्त परियणहं इट्ठु ।
तहो णंदणु णंदणु हेमराउ,
जिणधम्मोवरि जसु णिच्च-भाउ ।
सुरतान मुमारख-तणइं रज्ज,
मंतितणे थिउ पिय भार कज्ज ।

घत्ता—

जें अरहंतु-देउ मणि भाविउ, जासु पहुत्तें, को विण ताविउ ।
जेण करावउ, जिण चेयालउ, पुण्णहेउ चिर-रय-पक्खालउ ॥२

धय-तोरण-कलसेहिं अलंकिउ,
जसु गुरत्ति हरि जासु वि संकिउ ।
पर-तिय-बंधउ-पर उवयारिउ,
जेण सव्वु जणु धम्महं तेरिउ ।
संघ धुरंधरु-पयहु मुणिज्जइ,
सावय-धम्में णिच्च मणु रंजइ ।
सत्त वसण जे दूरें वज्जिय,
सील-सयण-वित्ति वि आवज्जिय ।
सत्त गुणहं दायारहं जुत्तउ,
णव-विह-दाण-विहिए णउ चत्तउ ।
पणएं पणय-गुणें मउ भंजिउ,
रयणत्तय-भावण-अणुरंजिउ ।
विणएं दाणु देइ जो पत्तहं,
जिणु तिकालु पुज्जइ समचित्तहं ।
तासु भउज-गुण-रयण-वसुंधरि,
गंधो णाम णिय-गइ-जिय-सुरसरि ।
रूवें चेलण-देवि पहाणिय,
जिणवर-भत्तिहें णं इंदाणिय ।
अमिय-सरस-वयणहिं सच्चहिं ठिय,
णउ तंबोलराय अणुरंजिय ।
उवरि कडिल्लु सील जे धारिउ,
रयणत्तय हारें मणु पेरिउ ।
धम्म सवण-कुंडल जें धारिउ,
जिण-मुद्दा-मुद्दिय संचारिउ ।
जिण-गेहम्मि गमण-णेउर-सरु,
तहो चंदण-कंकण सोहिय-करु ।
जिणवर-मत सरणु कुंचउ उरि,
जिणवर-हवणु तिलउ किउ णिय-सिरि ।
एयहं आहरणहं जा सोहिय,

भार मुणिवि कंचणहि ण मोहिय ।
तासु पुत्तु पल्हणु जाणिज्जइ,
णाणं तक्कुय-गणहिं थुणिज्जइ ।
बीयउ सारंगु वि पिय भत्तउ,
कउला तइउ वसणहिं चत्तउ ।

घत्ता—
पल्हण णंदणु गुणणिलउ गोल्हण माय-पियर-मण-रंजणु ।
वील्हा साहुहें अवरु सुउ लखा णामु जण-मण आणंदणु॥३
दिउ राजही य भज्जहि समेउ,
कीलंतहं हुउ संताण जोउ ।
णंदणु हूंगरु तह उधरणक्खु,
हंसराउ तयउ सुउ कमल-चक्खु ।
एक्कहिं दिणि चिंतिउ हेमराय,
जिणधम्म हीणु दिणु अहलु जाय ।
णिसुणिज्जइ चिर पुरिसहं चरित्तु,
हरि-नेमिनाह-पंडवहं वित्तु ।
ता होइ मज्झ जम्मु वि सलग्घु,
णासइ-चिर संचिउ-पाउ-मिग्घु ।
इय चिंतिवि जिण-मंदिरहि पत्तु,
जस मुणि पणविवि अक्खिउ सचित्तु ।
सोउं इच्छमि पंडवचरित्तु,
पयडहि सामिय जं जेम वित्तु ।
विवरीउ सव्वु जणु वज्जरेइ,
णरयावणि दुक्खहो णउ डरेइ ।
तं णिसुणिवि जंपिउ मुणिवरिंदु,
चंगउ पुच्छिउ बुहयणहं चंदु ।
पंडव-चरित्तु अइ-गहणु जइवि,
तुव उवरोहें हउं कहमि तइवि ।
तो तहो वयणे गुण-गण-महंतु,
पारंभिउ सद्दत्थहं फुरंतु ।
सज्जण-दुज्जण-भउ परिहरेवि,
णिय-णिय-सहाव-रत्ते वि दोवि ।

घत्ता—सज्जणु वि सहावु अकुडिल-भावु
ससि-मेहुव उवयार-मई ।
पर-दोस-पयासिरु अवगुण-भासिरु
दुज्जणु सप्पु व कुडिल-गई ॥४॥

× × ×

इय पंडवपुराणे सयल-जण-मण-सवण-सुहयरे सिरि-गुणकित्ति-सिस्स-मुणि-जसकित्ति-विरइए साहु-वील्हा-पुत्तराय मंति-हेमराज-णामंकिए कुरुवंस-गंगेयउ-पित्ति-वण्णणो णाम पढमो सग्गो ॥प्रथमसंधिः॥१॥

चरमभाग :—

णंदउ सासणु सम्मइणाहें,
णंदउ भवियण-कय-उच्छाहें ।
णंदउ णरवइ पय पालंतउ,
णंदउ उदय-धम्मु वि रिसिहंकिउ ।
णंदउ मुणिगण तउ पालंतउ,
दुविह-धम्मु भवियणहं कहंतउ ।
दाण-पूय-वय-विहि-पालंतउ,
णंदउ सावय-गुण-रय-चत्तउ ।
कालें विणिय णिव्व परिसक्कउ,
कासवि धणु कणु देंति ण थक्कउ ।
वज्जउ मंदलु गिज्जउ मंगलु,
णच्चउ णारीयणु रहसें कलु ।
णंदउ वील्हा पुत्त गुणवंतउ,
हेमराउ-पिय-पुत्त महत्तउ ।
अत्थ-विरुद्ध बुहहिं सोहिव्वउ,
धम्मत्थें आलसु नउ किव्वउ ।
विक्कमराय हो ववगय कालए,
महि-सायर-गह-रिसि अंकालए ।
कत्तिय-सिय अट्ठमि बुह वासर,
हुउ परिपुण्ण, पढम नंदीसर ।
णहु मही-चंदु-सूरु-तारायणु,
सुर-गिरि उवहि ताउ सुह भायणु ।
जाता णंदउ कलिलु हरंतउ,
भविय-जणहिं वित्थारिज्जंतउ ।

घत्ता—इय चउविह संघह विहुणिय विग्घहं
णिण्णासिय भव-जर-मरणु ।
जसकित्ति-पयासणु अखलिय-सासणु
पयडउ संति सयंभु जिणु ॥३३॥

इय पंडव-पुराणे सयल-जण-मण-सवण-सुहयरे सिरि-गुणकित्ति-सिस्स-मुणि-जसकित्ति-विरइए साहु-वील्हा-पुत्त हेमराज-णामंकिए-णेमिणाह-जुधिट्ठर-भीमाज्जुण-णिव्वाण गमणं, नकुल-सहदेव-सव्वट्ठसिद्धि-बलदइ-पंचम-सग्ग गमण-पयासणो णाम चउतीसमो इमो सग्गो समत्तो ॥संधि ३४॥

(पेज १८२ का शेष)

नाम साधारू है। इन सब बातोंका विवरण मैंने 'वीरवाणी' वर्ष १ अंक १०-११ में प्रकाशित अपने लेखमें उसी समय प्रकट कर दिया था। अब अन्य प्राप्त प्रतियोंसे रायरच्छका पहला अक्षर रा न होकर वास्तवमें 'ए' था, अतः नगरका नाम एरछ हो सकता है।

हिन्दी जैन-साहित्यकी शोधका काम यद्यपि इधर कुछ वर्षोंमें हुआ है और हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन जैसे ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं पर वह उस साहित्यकी विशालताको देखते हुए बहुत ही साधारण प्रगति समझिए। वास्तवमें अभी तक हिन्दी जैन साहित्यकी जितनी जानकारी प्रकाशमें आई है वह बहुत कम ही है क्योंकि बहुतसे पुस्तक-भण्डार अभी तक अज्ञात अवस्थामें पड़े हैं। आगरा जैसे हिन्दीके प्रधान क्षेत्र जहां अनेकों जैन सुकवि हो गए हैं वहांके भण्डारोंकी भी अभी छानबीन नहीं हुई। जितनी भी रचनाओंकी जानकारी प्रकाशमें आई है उन रचनाओंका अध्ययन भी अभी ठीकसे नहीं हो पाया। नामके लिये तो कुछ व्यक्तियोंने हिन्दी जैन साहित्य पर थीसिस भी लिखी हैं पर अप्रकाशित रचनाओंका अध्ययन उन्होंने शायद ही किया हो और अभी तक हिन्दी जैन साहित्य प्रकाशित तो बहुत कम हुआ है अतः उनका लेखन अपूर्ण रहेगा ही। अब हिन्दी साहित्यके नये इतिहास ग्रन्थ तैयार हो रहे हैं अतः उनमें हिन्दी जैन साहित्यको समुचित स्थान देनेके लिए हमें अपने साहित्यकी शोध और अध्ययन शीघ्रातिशीघ्र और अच्छी तरहसे करना नितान्त आवश्यक है।

—०—

साहित्य-परिचय और समालोचन

जैनदर्शन—लेखक प्रो० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, प्रकाशक गणेशवर्णी जैनग्रन्थमाला, काशी। पृष्ठसंख्या ७८४, साइज २०×३० १६ पेजी। मूल्य सजिल्द प्रतिका ८) रु.।

प्रस्तुत ग्रन्थका विषय उसके नामसे स्पष्ट है। इसमें जैन दर्शनका विवेचन किया गया है इस पुस्तकके लेखक प्रो० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एम. ए. हैं, जिन्होंने अनेक जैनदार्शनिक ग्रन्थोंका सम्पादन किया है। और जिनकी महत्वपूर्ण प्रस्तावनाएँ उनके सुयोग्य विचारक विद्वान् होनेकी स्पष्ट सूचना करती हैं। आपने दार्शनिक ग्रन्थोंका तुलनात्मक अध्ययन किया है। यह ग्रन्थ १२ अध्यायोंमें विभाजित है। पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन, विषय-प्रवेश, जैनदर्शनकी देन, लोकव्यवस्था, पदार्थस्वरूप, द्रव्य-विवेचन, सप्ततत्व निरूपण प्रमाण-मीमांसा, नयविचार, स्याद्वाद और सप्तभंगी, जैनदर्शन और विश्वशान्ति और जैन-दार्शनिक साहित्य। इनमें प्रत्येक अधिकार-विषयक पदार्थका चिन्तन करते हुये विवेचना की गई है। और प्रमाणकी मीमांसा, करते हुये भारतीय दर्शनोंकी आलोचना भी की गई है, साथ ही तुलनात्मक दृष्टिसे जो विवेचन किया गया है वह महत्वपूर्ण है। इतना ही नहीं, किन्तु उनकी आलोचना करते हुए भी जो समन्वयात्मक दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है, उससे ग्रन्थकी महत्ता पर और भी प्रकाश पड़ता है। अद्यावधि जैनदर्शन पर हिन्दीमें इतनी सुन्दर पुस्तक दूसरी नहीं लिखी गई। इसके लिये लेखक महानुभाव धन्यवादार्ह हैं। इसका प्राक्कथन डा० मंगलदेवजी शास्त्री, एम. ए. डी. लिट्ने लिखा है पुस्तककी भाषा और शैली परिमार्जित है। और उत्तर प्रदेशकी सरकार द्वारा पुरस्कृत है। हां, सामान्यावलोकनमें अनेकान्त स्थापनका विचार करते हुए 'जैन परम्परामें युगप्रधान स्वामी समन्तभद्र और न्यायावतारी सिद्धसेनका उदय हुआ।" इस वाक्यमें समन्तभद्रके बाद न्यायावतारी सिद्धसेनका उल्लेख उन्हें सन्मतिसूत्रका कर्ता मानकर किया गया है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर विद्वान् थे और न्यायावतारके कर्ता श्वेताम्बर, सन्मतिके कर्ता न्यायावतारके कर्तासे कमसे कम दो सौ वर्ष पूर्ववर्ती हैं। यद्यपि इस बातको अन्तिम दार्शनिक साहित्यकी सूची देते समय संशोधन कर दिया गया है। तथापि मूललेख अपने उसी रूपमें सुरक्षित हैं। गुणधराचार्यका समय भी ऐतिहासिक दृष्टिसे चिन्तनीय है। इसी तरह अनेक स्थानों पर पूर्वाचार्योंके वाक्योंको अनुवादादिके रूपमें अपनाया है, अच्छा होता यदि वहां पर फुटनोट आदिमें उनके नामादिका उल्लेख भी कर दिया जाता। इससे कथन तथा विवेचनका मूल्य और भी अधिक बढ़ जाता। यह सब कुछ होते हुए भी प्रस्तुत पुस्तक बहुत उपयोगी है। ऐसे उपयोगी ग्रन्थके प्रकाशन के लिये गणेशवर्णी ग्रन्थमाला और उसके संचालक महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं। —परमानन्द जैन

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० मोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C.) जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) साहू शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर
२५१) सेठ तुलारामजी नथमलजी लाडनूवाले कलकत्ता

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) सेठ लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी कलकत्ता
१०१) बा० शान्तिनाथजी ,,
१०१) बा० निर्मलकुमारजी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१ बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) श्री जयकुमार देवीदास जी, चवरे कारंजा
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

'वीर-सेवामन्दिर'
२१, दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री वीर सेवामंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली। मुद्रक—रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, देहली

विषय-सूची

मूल्य: ।।)

वीर-सेवा-मंदिरको प्राप्त सहायता

गत श्रावण-माससे वीर-सेवा-मन्दिरको जो आर्थिक सहायता सदस्य-फीस सहित प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्न प्रकार है और उसके लिए दातार महानुभावोंको साभार धन्यवाद !

२५१) श्रीमान् सेठ मोतीलाल तोतालालजी जैन रानी वाले व्यावर।
२५१) श्रीमती नर्मदादेवी जी ध० प० श्री सेठ तोतालाल जी जैन रानी वाले व्यावर।
२५१) श्रीमान् सेठ धर्मचन्द्र जी सोगानी व्यावर।
२५१) ,, सेठ मूलचन्द जी पहाड्या, व्यावर।
२५१) ,, बा० गुमानमल जी बाकलीवाल व्यावर।
२५०) दि० जैन समाज व्यावर।
४०) यातायात सहायता, दि० जैन समाज, व्यावर।
४०) यातायात सहायता श्री सेठ मोतीलाल तोतालालजी
२५१) दि० जैन समाज केकड़ी।
२०१) दि० जैन समाज खुरई।
१०१) नया मन्दिर शास्त्र सभा दिल्ली।
२५०) दि० जैन समाज कलकत्ता।
१००) श्रीमान् बाबू नन्दलाल जी जैन कलकत्ता।
५००) ,, बा० रघुवरदयाल जी जैन M.A करौलबाग ३०००) में शेष रहे प्राप्त।
१००) ,, लाला मक्खनलाल जी जैन ठेकेदार दिल्ली ८०१) के मध्ये।
३०००) गुप्त सहायता दातार का नाम अभी गुप्त है, (४००० के मध्ये)
३८) गुप्त दान।
२५०) श्रीमान रा०ब० बाबू उल्फतरायजी जैन रिटा० इंजी० मेरठ, ५००) के मध्ये।
२५) ,, रा० सा० ला० उल्फतराय जी जैन दिल्ली मासिक सहायता।
११) ,, सेठ मगनलाल नेमीचन्द जी जैन तथा रा०ब० सेठ रतनलाल सूरजमल जी रांची।
१०) ,, सेठ नानूलाल फन्नूलाल जी टोल्या कोपर गांव।

३०) श्री गणेशवर्णी अहिंसा प्रतिष्ठान दिल्ली। (श्री० मा० ला० फिरोजी लाल जी)
२) श्रीमान् ला० ज्योतिप्रसाद जी नई दिल्ली।
२१) ,, बा० मदनगोपाल सुपुत्र प्रतापनारायण जी तथा श्री० बा० प्रेमचन्द जी मंसूरी की पुत्री कुसुमलता के विवाहोपलक्ष में।
५००) श्रीमान सेठ सोहनलाल जी दूगड़ कलकत्ता।
११) दि० जैन समाज सहादरा।
५) श्रीमान सेठ मिलापचन्द रतनलालजी जैन कटारिया केकड़ी।
२५) डा० प्रकाशचन्द कैलाशचन्द जी डिप्टी गंज, सदर बाजार दिल्ली।
१२) श्रीमान बा० मदनलाल जी बी. कॉम. एल-एल.बी. प्रभाकर, व्यावर।
१२) ,, बा० मोहनलाल जी काशलीवाल।
१२) ,, मूलचन्द जी लुहाडिया नरायना।
१२) ,, शान्तिप्रसाद जी जैन नई दिल्ली।
१२) ,, बा० बिमल प्रसाद जी सदरबाजार, दिल्ली
१२) ,, प्रेमचन्द जी मित्तल दिल्ली।
१२) ,, बा० शिखरचन्द जी जैन दिल्ली।
१२) श्री० ला० कश्मीरीलाल सांवलसिंह जी दिल्ली
१२) ,, डिप्टीमल नेमीचन्द जी दिल्ली।
१२) ,, बा० जुगलकिशोर हेमचन्द्र जी दिल्ली।
१२) ,, प्रकाशचन्द्र जी आढती खतौली।
१२) ,, शीलचन्द्र जी जैन ,,
१२) श्री० बाबू सुमतप्रसाद जी जैन ,,
१२) ,, ला० श्यामलाल जी जैन ,,

७१८४)

मंत्री—वीर-सेवा-मन्दिर।

सागर विद्यालयका सुवर्ण जयन्ती-महोत्सव

पाठकों को यह जान कर अत्यन्त हर्ष होगा कि बुन्देलखण्डकी एक मात्र प्रसिद्ध संस्था गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय का सुवर्ण जयन्ती महोत्सव विद्यालयके संस्थापक एवं संरक्षक पूज्य महामना आध्यात्मिक सन्त क्षुल्लक गणेश-प्रसाद जी वर्णी के सानिध्यमें फाल्गुन शुक्ला (अष्टान्हिका) में तीर्थराज सम्मेद शिखर पर होगा। इसी सुअवसर पर सौराष्ट्र के आध्यात्मिक संत श्री कांजी स्वामी सोनगढ ससंघ तीर्थराज पर यात्रार्थ पधार रहे हैं। अतः समाजके श्रीमानों और विद्वानोंको वहां पधार कर उत्सवको सफल बनाना चाहिये।

ॐ अर्हम्
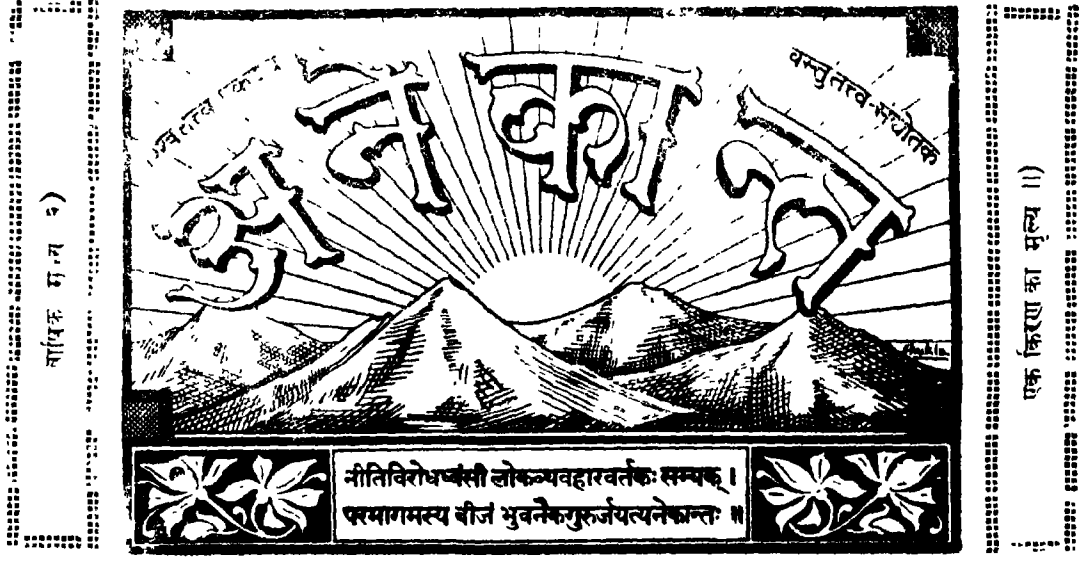
वर्ष १४ | वीरसेवामन्दिर, २१, दरियागंज, देहली | फरवरी'५७
किरण, ७ | फाल्गुन, वीरनिर्वाण-संवत २४८३, विक्रम संवत २०१३

श्रीनेमि-जिन-स्तुतिः

(नेमिनिज-व्यंजनयुग्म-मिश्रा)

मानेऽ[1]नानूनमानेन[2] नोन्नं[3] मुन्नामि[4]माननम् ।
नेमिनामान[5]ममम[6] मुनीनामिन[7] मानुम[8] ॥१॥

१ मानेन–अहंकारेण । २ अनूनमानेन–अनुच्छमानेन । ३ न उन्नं न क्लिन्नं, न क्रान्तमित्यर्थः । ४ उन्नामिमाननं–उन्नामिर्ना उन्सर्पन्ती मानना पूजा यस्य स नम् । ५ नेमिनामा नु जिनः । ६ अमम–निर्ममम् । ७ मुनीनामिन–स्वामिनं मुनीन्द्रम् । ८ वयं कर्तारः आनुमः–स्तुमः ॥१॥

नानामाना[1] मनिम्नाना[2] ममानानाम[3]नामिनाम् ।
नामिने[4] नामिनामोम[6] नेमिनाम्ने[7] नमो नमः[8] ॥२॥

१ नानामानां–नानाप्रकारमानादीनां क्लेशादीनां वा । २ अनिम्नानां–उत्कटानाम् । ३ अमानानां–अप्रमाणानाम् । ४ अनामिनां–नामयितुमशक्यानाम् । ५ नामिने–न्यक्करणशीलाय नाशकस्वभावाय । ६ नामिनां–प्रणमतां उमे–रक्षकाय अत्र रक्षणं । ७ नेमिस्वामि-अभिधानाय । ८ नमो नमः–प्रकर्षेण वीप्साय ॥ २ ॥

[1]मानेनोन्नामिनं[2] नाम[3] ननानिम्न[4]ममानने[5] ।
ननु[6] नेमि[7]ममी मेनामोमाना[8] मानम[9] न्निना[10] ॥३॥

१ माने–पूजायाम् । २ न उन्मिन्नामिनं–न उन्मिन्नम् । ३ नाम अहो । ४ न न अनिम्नं–न न हीनां, अपि तु अर्हानमेव । ५ अमानने–अपूजायाम् । ६ ननु–आक्षेपे । ७ नेमि–द्वाविंशतितमं तीर्थकरम् । ८ मेना–मेनकाख्या अप्सरा, मा–लक्ष्मी, उमा–गौरी, तासाम् । ९ इनाः–स्वामिनः इन्द्र नारायण–शंकराः, इन्द्रादय. प्रत्यक्षीभूताः । १० आनमन्–नमः कुर्वन्ति स्म ।

मिन्न[1]मन्मन[2]मा[3] मा[4] नि[5] मानिनी माननोन्मना:[6] ।
नाना[7] ना[8]मा म[9]नन्नेमिं मनो म मि[10] म[11]मानिनाम्[12] ॥४॥

१ मिन्नमिनानानां स्निग्धानाम् । २ मन्मनं–अव्यक्तम् । ३ आ–आलापन्तीनाम् । ४ मा–लक्ष्मीः । ५ आनि–आत्मनि मन्यन्तीति मानिन्यस्तासां मानिनीनाम् । ६ मानन–अनुभवनं, तत्र उन्मना उत्कण्ठितः यः स ना पुमान् । ७ नाना–नाना–प्रकारम् । ८ ना–पुरुषः । ९ अमीमनत्–मानयामास, पूजयामास । १० 'अम इम मह गतौ' इतस्य धातोः अमति गच्छति हृदयवर्तितां नेमिम् । ११ इमं–प्रसिद्धम् । १२ आनिनां–आनाः प्राणाः विद्यन्ते येषां ते तथोक्ताः ॥४॥

[1]मनोमुन्निम्ननं नूनमुन्नमन्माननोननम्[2] ।
[3]नुन्नमेनो[4]ऽमुना[5] नेमिनाम्ना म्नानेन[6] मामनु[7] ॥५॥

१ मनोमुन्निम्ननं–मनसो मुत् हर्षस्तं निम्नयति अल्पीकरोति तत् । २ उन्नमन्माननोननं–उन्नमन्ती उत्सर्पन्ती, मानना–पूजा, तां ऊनयति लंघयतीति तत् । ३ नुन्नं–नुदन् प्रेरणे धातोः प्रयोगः, नुन्नं क्षिप्तं । केन ? मया । ४ एनः–पापम् । ५ अमुना नेमिनाम्ना कृत्वा । ६ म्नाननं–अभ्यसनं पुनः पुनः उच्चारणं, तेन । ७ मां कथं अनु लक्ष्मीकृत्य ॥५॥

नोन[1]मुन्मानमानेन[2] मुनीनाऽनेनमाननम् ।
[4]मीनानमि[5]नम[6]न्नेमि[7]मनूनं[8]नामि माम[9]माम्[10] ॥६॥

१ नोनं–न ऊनं, न रहितम् । २ उन्मानमानेन–प्रमाणज्ञानेन प्रमाणज्ञानविशेषेण सत्यभूतज्ञानेन युक्तमित्यर्थः । ३ मुनीनां सप्तर्षीणां इनः स्वामी चन्द्रः, तद्वत् अनेना अखण्डा मा लक्ष्मीर्यस्य, तत् एवंविधं आननं मुखं यस्य तम् । ४ मीनानं–मीङ् हिंसायां, हिंसन्तम् । ५ इः कामः । ६ नमन्–नमःकुर्वन् । ७ द्वाविंशतितमं तीर्थंकरम् । ८ अनूनं–परिपूर्णम् । ९ अमिमीम–जगाम । १० मां–लक्ष्मीम् ।

[1]मुनीनमेनोमीनानां[2] निमा[3]ने नेमिमाननम् ।
नेमिनामान[4]मानाना[5] ममोमान[6]ममुं नुमः ॥७॥

१ मुनीनं मुनिस्वामिनम् । २ एनांसि कल्मषाण्येव मीनाः मत्स्यास्तेषाम् । ३ निराकरणे । ४ नेमीश्वराभिधानं तीर्थंकरदेवम् । ५ अनानां दशविधप्राणानाम् । ६ अमोमानां अबंधकं क्षीणकर्मकत्वात्, अमी बन्धने धातुः ।

नेमीनमननं[1] नेमि नम[2]नं नेमिमाननम्[3] ।
नेमिनाम्नो[4]न ना[5] म्नात[6]मान[7] नून[8]ममी मम[9] ॥८॥

१ नेमि–इनस्य नेमिस्वामिनो मननं स्मरणं नेमीनमननं मम प्राणा जीवितमिति योज्यम् । २ नेमिनमनं–नेमेर्नमनं नतिः । ३ तथा नेमेर्माननं पूजनम् । ४ नेमीश्वराभिधानस्य । ५ द्वौ ननौ प्रकृतार्थं गमयति प्रापयति । ६ आम्नान पुनः-पुनः अभ्यसनमित्यर्थः । ७ आना प्राणा जीवितमिति तात्पर्यम् । ८ नूनं निश्चितमवश्यम्, मम प्राणा न न, अपि तु भवन्त्येव । ९ मम स्तुतिकर्त्तुः पुरुषस्य ।

इति स्तुतिं ये पुरतः पठन्ति नेमेर्निज-व्यञ्जन-युग्मसिद्धाम् ।
श्रीवर्धमानोदयशालिनस्ते स्युः सिद्धवध्वाः परिभोगयोग्याः ॥९॥

इति पंडितशालिकृतं (ना) श्रीनेमिनाथस्तोत्रं (स्तुतिः) द्व्यक्षरं (री समाप्तम् (प्रा)

नोट :—यद्यपि मूल स्तुति माणिकचन्द ग्रन्थमालाके सिद्धान्तसारादिसंग्रहमें प्रकाशित हो चुकी है, पर वहां वह कर्त्ता के नाम से विहीन और अत्यधिक अशुद्ध छपी है । यह सटिप्पण-स्तुति दि. जैन पंचायती मन्दिर-अजमेर के एक गुटकेसे प्राप्त हुई है, जो सं० १६६८ का लिखा हुआ है । इसके रचयिता पं० शालिका विशेष परिचय अभी तक प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु इतना स्पष्ट है कि वे सं० १६६८ से पहलेके विद्वान् हैं ।

— जुगलकिशोर 'युगवीर'

जैनकलाके प्रतीक और प्रतीकवाद

(लेखक—ए. के. भट्टाचार्य, डिप्टीकीपर-राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली)
अनुवादक—जयभगवान जैन, एडवोकेट

जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण परम्परा में (aniconic) अतत्-प्रतीकोंकी रचना इस ढंगसे की जाती है कि उनमें संस्थापित मनुष्य या वस्तुकी सजीव छवि दिखाई नहीं पड़ती। मानव मस्तिष्कने अत्यन्त प्राचीन कालसे ही परम देवत्वकी कल्पना सर्वथा समान प्रतिरूपमें न करके अतत्-प्रतीकोंमें की है। मगर ये अतत्-प्रतीक कुछ ऐसे भावों और मूल्यों से सम्बन्धित हैं जो इन्हें सजावटी व कलात्मक रूपोंसे विलग कर देते हैं। ये अपना सुझाव आंखोंको नहीं, अपितु मनको देते हैं। भारतीय धर्मो व पारमार्थिक विचारणाओंमें सांकेतिक पूजाका इतिहास इतना ही पुराना है जितनी कि धार्मिक परम्पराएँ। रूप-भेद व मूर्तिकला जिसका विषय मानवाकार मूर्तियोंका अध्ययन है नितान्त एक उत्तर कालीन विकास है।

आरम्भिक बौद्ध-साहित्यमें हमें बुद्ध भगवान् द्वारा कहे हुए ऐसे वाक्योंका परिचय मिलता है जिनमें मानवाकार मूर्तियोंके लिए अरुचि प्रकट की गई है। उन्हीं स्थलों पर ऐसे चैत्यों को मान्य ठहराया गया है जिनकी गणना आनुषङ्गिक प्रतीकोंमें की जा सकती है। इनका प्रयोग प्रतिनिधि रूपसे उस समयके लिए है जब भगवान स्वयं उपस्थित न हों। ये आनुषङ्गिक प्रतीक बौद्ध-कलाकी विशेषता है। जैनकलामें इसके समान कोई रूप देखनेमें नहीं आता। जैनलोगोंने अपनी पांडुलिपियों तथा धार्मिक शिल्पकलामें जिन सांकेतिक चिन्होंका प्रयोग किया है वे अधिकतर एक या कई पूज्य वस्तुओंके प्रतीक हैं। आरम्भिक बौद्धकलामें मूर्तिकलाका प्रभाव और उत्तरकालमें उसकी बाहुल्यताका कारण बुद्ध भगवान्की मूर्तिकलाके प्रति उपर्युक्त अरुचि बतलाई जाती है। एक बौद्ध उपासककी व्याख्या करते हुये 'दिव्यावदान' में स्पष्ट कहा है कि वह मूर्त्ति व बिम्ब की पूजा नहीं करता, अपितु वह उन आदर्शोंकी पूजा करता है जिनके कि वे प्रतीक हैं।

हिन्दू तथा बौद्ध लोगोंके समान जैन लोग भी मूर्तिपूजा के महत्व-सम्बन्धी अपने विशेष विचार रखते हैं। इनके अनुसार मूर्तियोंकी स्थापना इसलिए नहीं की जाती कि वे तीर्थंकरों व अन्य माननीय देवताओंकी समान आकृतियां हैं, अपितु इसलिए कि वे उनके गुणोंका असली सार लिए हुए हैं। इन भौतिक पदार्थोंमें दिव्य गुणोंका प्रदर्शन ही उन्हें अभिप्रेत है, ताकि इनके दर्शनोंसे भक्तोंके मनमें दिव्य सत्ताका आभास हो सके। इन मूर्तियोंकी पूजाका अभिप्राय इनके द्वारा प्रदर्शित दिव्यात्माओंकी पूजाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस तथ्यके आधार पर ही किसी सरोवर व भवनके अधिष्ठातृ देवकी मान्यताका वास्तविक अर्थ हमारी समझ में आ सकता है। इस तरह तीर्थंकरकी मूर्ति, एक धर्मप्रवर्तक व धर्मसंस्थापकके उन सभी सम्भाव्य दिव्य गुणोंका सामूहिक प्रतीक है। जिन्हें देखकर साधकके चित्तमें इनके प्रति श्रद्धा पैदा होती है। इसीलिए कहा गया है—

> 'प्रतिष्ठानाम देहिनां वस्तुनश्च-
> प्राधान्यमान्यवस्तुहेतुकंम कर्म'

अर्थात् प्रतिष्ठा एक प्रकारका संस्कार है, जिसके द्वारा संस्थापित पुरुष व वस्तुकी महत्ता और प्रभावको मान्यता दी जाती है।

स्थापना या प्रतिष्ठावाद

एक यति आचार्य पद पर आरूढ होने पर दीक्षित गिना जाता है। एक ब्राह्मण वेदिक साहित्यके अध्ययन द्वारा दीक्षित होता है, एक क्षत्रिय राज्य-शासन संभालने पर, एक वैश्य वैश्य-वृत्ति धारण करने पर, एक शूद्र राजकीय-अनुग्रहका पात्र होने पर और एक कलाकार उसका मुखिया नियुक्त होने पर दीक्षित कहा जाता है। इस प्रकारकी दीक्षा व मान्यताके समय इनके भाल पर तिलक लगाकर इनको सम्मानित किया जाता है। इन तिलक आदि चिन्हों-का यद्यपि भौतिक दृष्टिसे कोई विशेष मूल्य नहीं है, तथापि ये सामाजिक महत्ता व मान्यताके प्रतीक होनेसे बड़े महत्वके हैं। इसी तरह मूर्तिमें जिन भगवान्के समस्त दिव्य गुणोंका न्यास व स्थापन ही प्रतिष्ठा है। अथवा बिना किसी रूपके उनकी कल्पना करना ही प्रतिष्ठा है। ऐसे अवसर पर या तो जिन भगवान्के व्यक्तित्वका उनके गुण-समूहमें प्रवेश कराया जाता है, या गुण-समूह देवताके व्यक्तित्वका अतिक्रम कर जाते हैं। इस तरह प्रस्तर, धातु,

काष्ठ आदि पदार्थोंमेंसे रूप-सहित व रूप-रहित उत्कीर्ण हुए प्रतिबिम्ब जिन्हें जिन, शिव, विष्णु, बुद्ध, चंडी, क्षेत्रपाल आदि संज्ञाएं दी जाती हैं। पूज्य बन जाते हैं। चूंकि इनमें मान्यता द्वारा कल्पित देवत्वका समावेश किया जाता है। इसी तरह कल्पना-द्वारा भवनपति व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देवोंके गुणोंका मूर्तियोंमें प्रदर्शन माना जाता है और ठीक इसी तरह अर्हन्तों, सिद्धों आदि-की मूर्तियोंकी स्थापनाके समय तथा घरेलू जलाशयों और कूप-सम्बन्धी देवताओंकी स्थापनाके समय उनमें दिव्य गुणों व विभूतियोंकी मान्यता की जाती है, उनका मूर्तियोंमें वास्तविक अवतरण अभिप्रेत नहीं होता। जब किसी रूप सहित या रूप-रहित पदार्थोंमें संस्कारों-द्वारा यह धारणा बना ली जाती है कि उसमें अमुक पुरुष व देवके समस्त शास्त्रीय लक्षण विद्यमान हैं, तो वह पदार्थ उस पुरुष व देवका प्रतिनिधि बन जाता है। धारणा-द्वारा गुणोंका न्यास या स्थापना ही प्रतिष्ठा है।

श्रुतेन सम्यग्ज्ञानस्य व्यवहारप्रसिद्धये स्थाप्यस्य कृतनाम्नोऽन्तः स्फुरतो न्यासगोचरे साकारे वा निराकारे विधिना यो विधीयते न्यासस्तदिदमित्युक्त्वा प्रतिष्ठा स्थापना च सा।'

उक्त स्थापनावाद जैनधर्मके देव-मूर्तिवाद से पूरे तौर पर मेल खाता है। क्योंकि परमेष्ठी जिन मुक्त आत्मा हैं और वे जड़, अचेतन प्रस्तर व काष्ठखंडोंमें अवतरित नहीं हो सकते, जैसे कि शिव, विष्णु आदि हिन्दू देवताओंके सम्बन्धमें—कि जो अलौकिक शक्ति-सम्पन्न देव माने जाते हैं—सम्भव हो सकता है। जैन और हिन्दू परम्पराओं-में यह एक मौलिक अन्तर है, जिसे जैन मूर्तियोंकी स्थापत्य-कलाको अध्ययन करते समय सदा ध्यानमें रखना जरूरी है। जैनधर्ममें बुद्धिवाद यहां तक विकसित है कि वह ब्राह्मणिक मान्यता समान आकाश, मेघगर्जना व विद्युद्‌घटा में किसी देवत्वको मान्यता नहीं देता, उसके अनुसार ये सब प्राकृतिक व वैज्ञानिक परिणमन है जो उक्त प्रकारकी घटनाओंके लिए उत्तरदायी हैं जो वर्षा वायु में मौजूद किन्हीं परिवर्तनोंके कारण होती है, किसी दिव्य शक्तियोंकी इच्छाके कारण नहीं। यह कहना सब असत्य है कि विश्वमें आकाश-देवता, गर्जन-देवता, विद्युद् देवता आदि कोई देव सत्तामें मौजूद हैं, या यों कहना चाहिए कि देवता वर्षा करता है इस प्रकारकी सब बातें असत्य हैं। इस प्रकारकी वचन-शैली साधु या साध्वीके लिए वर्ज्य है। अपितु यों कहना चाहिए कि वायु गुह्य अनुसारी मेघ छा गये हैं, झुक गये है, बरसने लगे हैं।

जैन अनुश्रुतिमें अर्हन्त व सिद्ध देवोंकी मानवाकार मूर्तियोंकी चर्चा प्राचीन कालसे चली आती है। उड़ीसा देशमें उदयगिरि खंडगिरि-स्थित कलिंग सम्राट् खारवेलके जिस आदिनाथ वृषभकी मूर्तिका उल्लेख है उससे नन्दवंश काल तकमें भी तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंका होना सिद्ध होता है।

जैसा कि कल्पसूत्रमें वर्णन है पशुओं और देवताओंके चित्र यवनिका पर चित्रित किये जाते थे। 'अन्तगडदशाओ सुत्त में कथन है कि सुलसाने हरि नैगमेषित देवकी मूर्तिको प्रतिष्ठित किया था और वह प्रतिदिन उसकी पूजा किया करती थी। प्रायः प्राचीनतम उपलब्ध जैन मूर्तियां कुशान कालकी हैं; यद्यपि तीर्थंकरोंकी दो दिगम्बर मूर्तियां मौर्य कालकी भी उपलब्ध हुई हैं। परन्तु पूजायोग्य वस्तुओंके व कभी कभी उन वस्तुओंके भी जो केवल लौकिक महत्त्वकी हैं, या जो वैज्ञानिक धारणाको लिए हुए हैं बहुतसे प्रतीक व प्रतीकात्मक रचनाएं जैनकलामें और भी अधिक प्राचीन कालसे पायी जाती हैं।

अग्निका प्रतीक

जैनकलाके प्रतीकोंका उल्लेख हम अग्निके प्रतीकसे प्रारम्भ करते हैं अग्नितत्त्वका सम्बन्ध जागरण व बोधिसे है। आग्नेय शक्तिके अन्तिम स्रोत सूर्यको वेदोंमें जीवन और चेतनाका सबसे बड़ा प्रेरक बतलाया गया है। यह प्रज्ञाकी अर्चिषा है जिसके द्वारा मारको पराजित किया जाता है। अमरावतीके वे उघड़े हुए प्रतीक जिनमें बुद्ध भगवान्‌को अग्नि-स्तम्भके रूपमें दिखलाया गया है, वैदिक मान्यताओंके ही अवशेष हैं। वहां अग्निको अप् व पृथ्वीसे उत्पन्न हुआ बतलाया गया है, चूंकि यह स्तम्भ कमल पर आधारित है। इसी तरह जैनधर्ममें अग्निको तेज व तेजस्वी आत्माका चिन्ह माननेकी प्रथा इतनी ही पुरानी है जितना कि पुराने अंगोंमें आचारांग सूत्र। जैनदर्शनमें विश्वके सभी एकेन्द्रिय जीवोंको कायकी अपेक्षा पांच भेदोंमें विभक्त किया गया है—वायु-कायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, पृथ्वीकायिक और वनस्पतिकायिक। जैनतत्त्वज्ञानके कायवादके अनुसार एकेन्द्रिय जीवोंकी उक्त कायिक-विभिन्नता उनके पूर्वोपार्जित
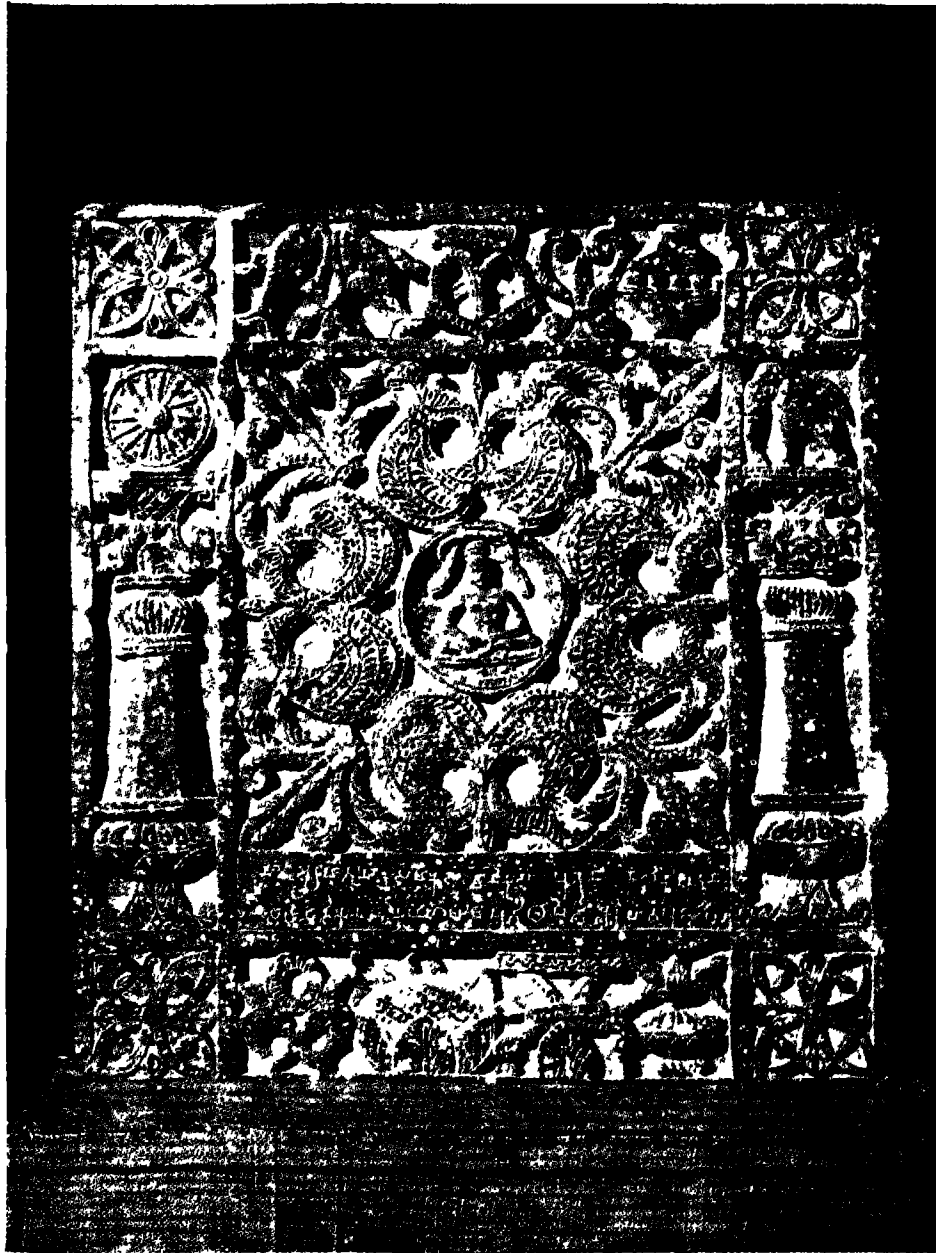
JAINA AYAGAPATA FROM MATHURA 2ND CENTURY A. D.

कर्मों पर आधारित है। जब कोई जीव तेजस्कायिक या अग्निकायिक होनेका कर्म बन्ध करता है, तो वह साधारण अग्नि दीपशिखा, बडवानल, व विद्युत्, तेज आदि कोई-सा भी रूप धारण कर सकता है। जैनप्रथाके अनुसार अग्नि, वायु या वायुओंका अधिष्ठातृ देवता भी है*। जैन ग्रन्थोंमें जिन १६ शुभ स्वप्नोंका उल्लेख आया है, उनमें एक अग्नि-शिखा-विषयक भी है। तेजस् सम्बन्धी जैन धारणा इतनी सम्पूर्ण है कि यह धूम-रहित अग्नि शिखाको ही शुभ स्वप्न-का विषय मानती है। अग्नि-शिखा जो शुभ स्वप्नका विषय मानी गई है, उस तेजस्वी आत्माका ही सांकेतिक प्रतिरूप है, जो इस स्वप्नकी पूर्तिमें स्वर्गसे अवतरित हो जन्म लेनेवाली है। यह धारणा जैनियोंके षट्लेश्यावाद या जीवन परणति वादसे भी बहुत मेल खाती है। यहां यह बतलाना रुचिकर होगा कि उक्त षट् विभिन्न लेश्याओं या षट् प्रकारकी जीवन परिणतियोंमेंसे प्रत्येकका अपना अपना विशेष वर्ण है। अग्नि व तेजस् लेश्याका वर्ण उदीय-मान सूर्यके समान दमकते हुए सुवर्णवत् होता है। यह तेजस्शक्ति या जीवन-परणति जैन मान्यतानुसार कठोर तपस्या-द्वारा सिद्ध होती है। साधारणतया यह शक्ति लोक-उपकारके अर्थ प्रयुक्त होती है, परन्तु कभी कभी साधक इसका प्रयोग रोगके आवेशमें विध्वंसक ढंगसे भी कर बैठता है। प्राण-विज्ञानकी दृष्टिसे मानव-देह चार अन्य तत्त्वोंके अतिरिक्त तेजस् तत्त्वका भी बना हुआ कहा जाता है। यह मानवता देहकी क्रियात्मक रचना पर अवलम्बित है। वह तेज जो जीवन-रचनाकी सुरक्षा करता है, अनादि अग्नि व प्राथमिक अनादि जीवन-शक्तिका ही अंश है।

त्रिशूलका प्रतीक

बौद्ध धर्म और कट्टर ब्राह्मणिक धर्ममें जीवन-सम्बन्धी विचारणाके फलस्वरूप 'जीवन-वृक्ष' प्रतीकका एक विशेष स्थान है। कलामें चाहे वह हिन्दू, बौद्ध या जैन कोई भी कला हो, जीवन सम्बन्धी सांकेतिक चिन्होंका विवेचन करते समय हम कदापि उनके मूल्य और महत्त्वको नहीं भुला सकते। सांचीमें रत्न-जड़ित जीवन-वृक्षके शिर और पार्श्वोंका

*लेखककी उक्त धारणा सम्भवतः किसी भ्रमवश बन बन गई है। अन्यथा, उक्त मान्यतासे जैनदर्शनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें यह वैदिक धर्मकी मान्यता है।
—अनुवादक

तथा अमरावतीमें आग्नेय स्तम्भोंका जिन प्रतीकों द्वारा प्रदर्शन किया गया है, वे बौद्ध-कलामें फैले हुए त्रिशूलके प्रतीकसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। इस स्थल पर हमें इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि त्रिशूलका प्रतीक न केवल जैन और बौद्ध कलामें ही पाया जाता है, अपितु इसकी परम्परा बहुत पुरानी है। वास्तवमें वैश्वानर अग्निके त्रिभावोंकी तीन शूलधारी त्रिशूलके प्रतीकमें कायापलट हो गई है। पीछेकी शैव कलामें तो त्रिशूलका शिवके साथ विशेष सम्बन्ध रहा है। मथुराके पुराने सांस्कृतिक केन्द्रसे जो कलाकृतियां प्राप्त हुई हैं, उनसे तो यह सम्बन्ध और भी पुराना सिद्ध होता है। मोहनजोदड़ोकी प्रागैतिहासिक संस्कृतिको देखनेसे इस सम्बन्धका प्रारम्भ और भी अधिक प्राचीन हो जाता है। कडफिसिस द्वितीयके शैव सिक्के तथा सिर्कपकी शैव मुहर शैवधर्मके साथ त्रिशूलका सम्बन्ध व्यक्त करनेके सबसे पुराने उदाहरण हैं। जैनकलामें त्रिशूल दिग्देवताका एक पुराना प्रतीक रहा है। धार्मिक तथा लौकिक वास्तुकलाके भवन निर्माणके स्थान पर धार्मिक भावनासे कूर्मशिला स्थापित करनेका विधान मिलता है। यही विधान उत्तरकालीन जैन शास्त्रोंमें भी पाया जाता है। 'वत्थुसारपयरणं' में उक्त परम्पराका अनुसरण करते हुए कूर्मशिलाकी स्थापनार्थ न केवल उसी प्रकारके मंत्रोंका उल्लेख किया गया है, अपितु इस शिलाकी आठ दिशाओंमें दिक्पालोंके आठ प्रतीक रखे जानेका भी विधान है। इनमें-से आठवें दिक्पालके लिए जिस प्रतीकका प्रयोग हुआ है, वह त्रिशूल है। यह शिलाकी सौभागिनी पर रक्खा जाता है। यहां त्रिशूल आठवें दिक्पाल ईशानके तांत्रिक चारित्र-को व्यक्त करता है। यह वास्तवमें इस बातको स्पष्ट कर देता है कि बौद्ध और जैनधर्मोंमें रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए प्राचीनकालसे—सम्भवतः कुशानकालसे—जिस त्रिशूलकी मान्यता चली आती है, वह जैनियोंकी धार्मिक आत्मकलामें एक मौलिक तथ्यको लिये हुए है। इस सम्बन्धमें मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त उस जिन मूर्तिको देखना आवश्यक होगा, जिसके पादस्थलके अग्र-भागमें उघाड़े हुए त्रिशूल पर रक्खे हुए धर्मचक्रकी साधुजन पूजा कर रहे हैं। यह शैली बौद्धकलाकी उस प्राचीन शैलीसे बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, जिसमें स्वयं भगवान् बुद्धका प्रतिनिधित्व करनेके लिए धर्मचक्रका प्रयोग हुआ है। निःसन्देह बूलहरके शब्दोंमें कह सकते हैं कि जैनियोंकी प्राचीनकला और बौद्धकलामें कोई

विशेष अन्तर नहीं है। असली बात यह है कि कलाने कभी साम्प्रदायिक रूप धारण नहीं किया। दोनों ही धर्मोंने अपनी-अपनी कलाकृतियोंमें एक ही प्रकारके आभूषणों, प्रतीकों तथा भावनाओंका प्रयोग किया है। अन्तर केवल गौण बातोंमें है। जैन परम्परामें रत्नत्रयका प्रतीक सिद्ध व जीवन्मुक्त पुरुषोंके तीन मुख्य गुणों—दर्शन, ज्ञान, चारित्र—को प्रगट करता है। बौद्ध परम्परामें यह त्रिशूल बुद्ध, धर्म और संघ, इन तीन तथ्योंका द्योतक है। यही भाव बौद्ध परम्परामें कभी-कभी त्रिकोणाकार रूपसे 'बील' के कथनानुसार तथागतके शारीरिक रूपको व्यक्त करता है, और कभी-कभी त्रि-अक्षरात्मक शब्द 'ओम्' से व्यक्त किया गया है। ब्राह्मण परम्परामें यह त्रिशूल ब्रह्मा, विष्णु और शिव, इस त्रिमूर्त्तिका द्योतक है। बौद्ध रत्नत्रयके विभिन्न प्रतीक तक्षशिला (Taxila) के बौद्ध क्षेत्रोंसे, तथा कुशानकालके प्राचीन समयसे मिलते हैं।

धर्मचक्र

मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त उक्त मूर्त्तिका अध्ययन हमें यह माननेको विवश करता है कि इस पर उत्कीर्ण चक्र उस धर्म-भावनाका प्रतीक है जो प्राचीन तथा मध्यकालीन बौद्धधर्ममें मान्य रही है। वैष्णव-कलामें चक्रका प्रतीक स्वयं भगवान् विष्णुसे घनिष्ठतया सम्बन्धित है। ईसा पूर्वकी सातवीं सदीके चक्राङ्कित पुराने (Punch-Marked) ठप्पेके सिक्के इस परम्पराकी प्राचीनता सिद्ध करनेमें स्वयं स्पष्ट प्रमाण हैं। रत्नत्रयकी भावनासे सम्बन्धित चक्र जैनकलाकी ही विशेषता नहीं है; अपितु इस प्रकार के चक्र कुशानयुगकी तक्षशिला कलामें भी पाये जाते हैं, जो निस्सन्देह बौद्धकला है। वहां यह चक्र त्रिशूलके साथ सांकेतिक ढंगसे दिखाया गया है। वहां यह चक्र जो त्रिरत्नके प्रतीक त्रिशूल पर टिका है और जिसके दोनों पार्श्वोंमें एक-एक मृग उपस्थित है और जो भगवान् बुद्धके कर-द्वारा स्पर्शित हो रहा है, भगवान् बुद्ध-द्वारा मृगदावनमें की गई प्रथम धर्म-प्रवर्तनाको चित्रित करता है। उत्तरोत्तर कालमें सम्भवतः ये प्रतीक साम्प्रदायिकताकी संकीर्ण सीमाओंसे बाहिर निकल गये हैं। क्योंकि जैनलेखक ठक्कुर फेरु लिखते हैं कि चक्रेश्वरी देवीका परिकर उस समय तक पूरा नहीं होता, जब तक कि उसके पदस्थल पर दायें-बायें मृगोंसे सजा हुआ धर्मचक्र अङ्कित नहीं किया जाता। यहां वह चक्ररत्न भी विचारणीय है, जो जैन परम्परामें चक्रवर्तीका प्रतीक व आयुध कहा गया है। जैनकलामें चक्रका प्रदर्शन ईस्वी सनकी कई प्रथम सदियों से ही हुआ मिलता है। मथुराके कंकाली टीलेसे कुशानकालके जो आयागपट्ट अर्थात् प्रतिज्ञापूर्त्यर्थ समर्पण किये हुए पट्ट निकले हैं, उनमें उस केन्द्रीय चतुर्भुजी भागके दोनों चक्र जिसके मध्यवर्त्ती दायरेमें ध्यानस्थ जिन भगवानकी मूर्त्ति अङ्कित है और उसको छूते हुए सजावटी ढंगसे चार कोणोंमें श्रीवत्स और चार दिशाओंमें त्रिशूलके चिन्ह बने हैं, दोनों ओर स्तम्भ खड़े हुए हैं, उनमेंसे एक पर चक्र और दूसरे पर हस्ती अङ्कित है। इसी क्षेत्रके एक और आयागपट्ट (नं० ज० २४८ मथुरा संग्रहालय) में चक्र केन्द्रीय वस्तुके रूपमें अंकित है, जो चारों ओर अनेक सजावटी वस्तुओंसे घिरा है। यह सुदर्शन धर्मचक्रकी मूर्त्ति है। इस चक्रमें जो तीन सम केन्द्रीय घेरोंसे घिरा हुआ है—१६ आरे लगे हुए हैं। इसके प्रथम घेरेमें १६ नन्दिपद चिन्ह बने हैं। यह पट्ट भी कुशानकालीन है। राजगिरिकी वैभारगिरिसे गुप्तकालीन जो तीर्थंकर नेमिनाथकी अद्वितीय मूर्ति मिली है, उसके पदस्थल पर दायें बायें शंख चिन्होंसे घिरा धर्म-चक्र बना हुआ है। इसमें चक्रके साथ एक मानवी आकृतिको जोड़कर चक्रको चक्रपुरुषका रूप दिया गया है। यह सम्भवतः ब्राह्मणिक प्रभाव की उपज है, वहां वैष्णवी कलामें गदा, देवी और चक्रपुरुष रूपमें आयुधोंको पुरुषाकार दिया गया है।

सहिष्णुता—सुकरातकी पत्नी बहुत ही क्रोधी स्वभावकी थी। एक बार सुकरात रातको बहुत देरसे घर आए। अब पत्नी लगी बड़बड़ाने। बहुत समय बड़बड़ानेके बाद भी जब सुकरात कुछ नहीं बोले, तब पत्नीको और भी अधिक गुस्सा आया। ठंडके दिन थे, गुस्से में आकर उतनी ठंडमें उसने ठंडे घड़ेका पानी सुकरातके ऊपर उंडेल दिया। सुकरात मुस्कराते हुए बोले—प्रिये! तूने उचित ही तो किया। पहले बादल गरजते हैं उसके बाद बरसते हैं। इसी प्रकार तूने गरज लिया फिर वर्षा की। यह तो प्रकृतिके अनुकूल ही किया है।

पूजा, स्तोत्र, जप, ध्यान और लय

(लेखक—पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री)

सर्व साधारण लोग पूजा, जप आदिको ईश्वर-आराधना-के समान प्रकार समझ कर उनके फलको भी एकसा ही समझते हैं। कोई विचारक पूजाको श्रेष्ठ समझता है, तो कोई जप, ध्यान आदिको। पर शास्त्रीय दृष्टिसे जब हम इन पाँचोंके स्वरूपका विचार करते हैं तो हमें उनके स्वरूपमें ही नहीं, फलमें भी महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है। आचार्योंने इनके फलको उत्तरोत्तर कोटि-गुणित बतलाया है। जैसा कि इस अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोकसे सिद्ध है—

पूजा[1] कोटिसमं स्तोत्रं[2] स्तोत्र-कोटिसमो जपः[3]।
जप-कोटिसमं ध्यानं[4] ध्यान-कोटिसमो लयः[5] ॥

अर्थात्—एक कोटिवार पूजा करनेका जो फल है, उतना फल एक वार स्तोत्र-पाठ करनेमें है। कोटि वार स्तोत्र-पढनेमें जो फल होता है, उतना फल एक वार जप करनेमें होता है। इसी प्रकार कोटि जपके समान एक वारके ध्यानका फल और कोटि ध्यानके समान एक वारके लयका फल जानना चाहिए।

वाचक-वृन्द शायद उक्त फलको बांच कर चौंकेंगे और कहेंगे कि ध्यान और लयका फल तो उत्तरोत्तर कोटि-गुणित हो सकता है, पर पूजा, स्तोत्र और जपका उत्तरोत्तर कोटि-गुणित फल कैसे संभव है? उनके समाधानार्थ यहां उनके स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाला जाता है :

१ पूजा—पूज्य पुरुषोंके सम्मुख जाने पर अथवा उनके अभावमें उनकी प्रतिकृतियोंके सम्मुख जाने पर सेवा-भक्ति करना, सत्कार करना, उनकी प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना, उनके गुण-गान करना और घरसे लाई हुई भेंटको उन्हें समर्पण करना पूजा कहलाती है। वर्तमानमें विभिन्न सम्प्रदायोंके भीतर जो हम पूज्य पुरुषोंकी उपासना-आराधनाके विभिन्न प्रकारके रूप देखते हैं, वे सब पूजाके ही अन्तर्गत जानना चाहिये। जैनाचार्योंने पूजाके भेद-प्रभेदोंका बहुत ही उत्तम रीतिसे सांगोपांग वर्णन किया है। प्रकृतमें हमें स्थापना-पूजा और द्रव्य-पूजासे प्रयोजन है। क्योंकि भावपूजामें तो स्तोत्र, जप आदि सभीका समावेश हो जाता है। हमें यहां वर्तमानमें प्रचलित पद्धति वाली पूजा ही विवक्षित है और जन-साधारण भी पूजा-अर्चासे स्थापना पूजा या द्रव्यपूजाका ही अर्थ ग्रहण करते हैं।

२ स्तोत्र—वचनोंके द्वारा गुणोंकी प्रशंसा करनेको स्तुति कहते हैं। जैसे अरहंतदेवके लिए कहना—तुम वीत-राग विज्ञानसे भर-पूर हो, मोहरूप अन्धकारके नाश करनेके लिये सूर्यके समान हो, आदि। इसी प्रकारकी अनेक स्तुतियोंके समुदायको स्तोत्र कहते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, कनडी, तमिल आदि भाषाओंमें स्व या पर-निर्मित गद्य या पद्य रचनाके द्वारा पूज्य पुरुषोंकी प्रशंसामें जो वचन प्रकट किये जाते हैं, उन्हें स्तोत्र कहते हैं।

३ जप—देवता-वाचक मंत्र आदिके अन्तर्जल्परूपसे वार-वार उच्चारण करनेको जप कहते हैं। परमेष्ठी-वाचक विभिन्न मंत्रोंका किसी नियत परिमाणमें स्मरण करना जप कहलाता है।

४ ध्यान—किसी ध्येय वस्तुका मन ही मन चिन्तन करना ध्यान कहलाता है। ध्यान शब्दका यह यौगिक अर्थ है। सर्व प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका अभाव होना; चिन्ताका निरोध होना यह ध्यान शब्दका रूढ अर्थ है, जो वस्तुतः लय या समाधिके अर्थको प्रकट करता है।

५ लय—एकरूपता, तल्लीनता या साम्य अवस्थाका नाम लय है। साधक किसी ध्येय विशेषका चिन्तवन करता हुआ जब उसमें तन्मय हो जाता है, उसके भीतर सर्व प्रकारके संकल्प विकल्पों और चिन्ताओंका अभाव हो जाता है और जब परम समाधिरूप निर्विकल्प दशा प्रकट होती है, तब उसे लय कहते हैं।

पूजा, स्तोत्र आदिके उक्त स्वरूपका सूक्ष्म दृष्टिसे अव-लोकन करने और गम्भीरतासे विचारने पर यह अनुभव हुए विना न रहेगा कि ऊपर जो इनका उत्तरोत्तर कोटि-गुणित फल बतलाया गया है, वह वस्तुतः ठीक ही जान पड़ता है। इसका कारण यह है कि पूजामें बाह्य वस्तुओंका आलम्बन और पूजा करने वाले व्यक्तिके हस्तादि अंगोंका

---

१ पूजा—(पूआ) सेवा, सत्कार (प्राकृत शब्दमहार्णव)
२ स्तोत्र—(थोत्त) गुण-कीर्तन (,,)
३ जप—(जव) पुनः पुनः मन्त्रोच्चारण (,,)
४ ध्यान—(झाण, उत्कण्ठा-पूर्वक स्मरण (,,)
५ लय—मनकी साम्यावस्था, तल्लीनता (,,)

संचालन प्रधान रहता है। और यह प्रत्येक शास्त्राभ्यासी जानता है कि बाहरी द्रव्य क्रियाओंसे भीतरी भावरूप क्रियाओंका महत्त्व बहुत अधिक होता है। असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच यदि अत्यधिक संक्लेश-युक्त होकर भी मोह कर्मका बन्ध करे, तो एक हजार सागरसे अधिकका नहीं कर सकेगा, जब कि संज्ञी पंचेन्द्रिय साधारण मनुष्यकी तो बात रहने दें, अत्यन्त मन्दकषायी और विशुद्ध परिणामवाला अप्रमत्त-संयत साधु अन्तः कोटाकोटी सागरोपमकी स्थितिवाले कर्मोंका बन्ध करेगा, जो कि कई करोड़ सागर प्रमाण होता है। इन दोनोंके बंधनेवाले कर्मोंकी स्थितिमें इतना महान् अन्तर केवल मनके सद्भाव और अभावके कारण ही होता है। प्रकृतमें इसके कहनेका अभिप्राय यह है कि किसी भी व्यक्ति-विशेषका भले ही वह देव जैसा प्रतिष्ठित और महान् क्यों न हो—स्वागत और सत्कारादि तो अन्यमनस्क होकर भी संभव है, पर उसके गुणोंका सुन्दर, सरस और मधुर शब्दोंमें वर्णन अनन्य-मनस्क या भक्ति-भरित हुए बिना संभव नहीं है।

यहां यह एक बात ध्यानमें रखना आवश्यक है कि दूसरेके द्वारा निर्मित पूजा-पाठ या स्तोत्र-उच्चारणका उक्त फल नहीं बतलाया गया है। किन्तु भक्त-द्वारा स्वयं निर्मित पूजा, स्तोत्र पाठ आदिका यह फल बतलाया गया है। पुराणोंके कथानकोंसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है। दो एक अपवादोंको छोड़कर किसी भी कथानकमें एकबार पूजा करनेका वैसा चमत्कारी फल दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसा कि भक्तामर, कल्याण-मन्दिर, एकीभाव, विषापहार, स्वयम्भू स्तोत्र आदिके रचयिताओंको प्राप्त हुआ है। स्तोत्र-काव्योंकी रचना करते हुये भक्त-स्तोताके हृदयरूप मान-सरोवरसे जो भक्ति-सरिता प्रवाहित होती है, वह अक्षत-पुष्पादिके गुण-बखान कर उन्हें चढ़ाने वाले पूजकके संभव नहीं है। पूजकका ध्यान पूजनकी बाह्य सामग्रीकी स्वच्छता आदि पर ही रहता है, जबकि स्तुति करनेवाले भक्तका ध्यान एकमात्र स्तुत्य व्यक्तिके विशिष्ट गुणोंकी ओर ही रहता है। वह एकाग्रचित्त होकर अपने स्तुत्यके एक-एक गुणका वर्णन मनोहर शब्दोंके द्वारा व्यक्त करनेमें निमग्न रहता है। इस प्रकार पूजा और स्तोत्रका अन्तर स्पष्ट लक्षित हो जाता है। यहां इतना विशेष जानना चाहिए कि पूजा-पाठोंमें अष्टकके अनन्तर जो जयमाल पढ़ी जाती है, वह स्तोत्रका ही कुछ अंशोंमें रूपान्तर है।

स्तोत्र-पाठसे भी जपका माहात्म्य कोटि-गुणित बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि स्तोत्र पाठमें तो बाहिरी इन्द्रियों और वचनोंका व्यापार बना रहता है, परन्तु जपमें उस सबको रोक कर और परिमित क्षेत्रमें एक आसनसे अवस्थित होकर मौन-पूर्वक अन्तर्जल्पके साथ आराध्यके नामका उसके गुण-वाचक मन्त्रोंका उच्चारण किया जाता है। अपने द्वारा उच्चारण किया हुआ शब्द स्वयं ही सुन सके और समीपस्थ व्यक्ति भी न सुन सके, जिसके उच्चारण करते हुए ओंठ कुछ फड़कनेमें रहें, पर अक्षर बाहिर न निकलें, ऐसे भीतरी मन्द एवं अव्यक्त या अस्फुट उच्चारणको अन्तर्जल्प कहते हैं। व्यवहारमें देखा जाता है कि जो व्यक्ति सिद्धचक्रादिकी पूजा पाठमें ६-६ घंटे लगातार खड़े रहते हैं, वे ही उसी सिद्धचक्र मंत्रका जप करते हुए आध घंटेमें ही घबड़ा जाते हैं आसन डांवाडोल हो जाता है, और शरीरसे पसीना झरने लगता है। इससे सिद्ध होता है कि पूजा-पाठ और स्तोत्रादिके उच्चारणसे भी अधिक इन्द्रिय-निग्रह जप करते समय करना पड़ता है और इसी इन्द्रिय-निग्रहके कारण जपका फल स्तोत्रसे कोटि-गुणित अधिक बतलाया गया है।

जपसे ध्यानका माहात्म्य कोटि-गुणित बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि जपमें कमसे कम अन्तर्जल्परूप वचन-व्यापार तो रहता है, परन्तु ध्यानमें तो वचन-व्यापार-को भी सर्वथा रोक देना पड़ता है और ध्येय वस्तुके स्वरूप-चिन्तनके प्रति ध्याताको एकाग्र चित्त हो जाना पड़ता है। मनमें उठने वाले संकल्प-विकल्पोंको रोक कर चित्तको एकाग्र करना कितना कठिन है, यह ध्यानके विशिष्ट अभ्यासी जन ही जानते हैं। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः' की उक्तिके अनुसार मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका प्रधान कारण माना गया है। मन पर काबू पाना अति कठिन कार्य है। यही कारण है कि जपसे ध्यानका माहात्म्य कोटि-गुणित अधिक बतलाया गया है।

ध्यानसे भी लयका माहात्म्य कोटि-गुणित अधिक बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि ध्यानमें किसी एक ध्येयका चिन्तन तो चालू रहता है, और उसके कारण आत्म-परिस्पन्द होनेसे कर्मास्रव होता रहता है, पर लयमें तो सर्व-विकल्पातीत निर्विकल्प दशा प्रकट होती है, समता-भाव जागृत होता है और आत्माके भीतर परम आल्हाद-

जनित एक अनिर्वचनीय अनुभूति होती है। इस अवस्थामें कर्मोंका आस्रव रुक कर परम संवर होता है, इस कारण ध्यानसे लयका माहात्म्य कोटि-गुणित भी अल्प प्रतीत होता है। मैं तो कहूँगा कि संवर और निर्जराका प्रधान कारण होनेसे लयका माहात्म्य ध्यानकी अपेक्षा असंख्यात-गुणित है और यही कारण है कि परम समाधिरूप इस चिल्लय (चेतनमें लय) की दशामें प्रतिक्षण कर्मोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

यहां पाठक यह बात पूछ सकते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र आदिमें तो संवरका परम कारण ध्यान ही माना है, यह जप और लयकी बात कहांसे आई? उन पाठकोंको यह जान लेना चाहिए शुभ ध्यानके जो धर्म और शुक्लरूप दो भेद किये गये हैं, उनमेंसे धर्मध्यानके भी अध्यात्म दृष्टिसे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत ये चार भेद किये गये हैं। इनमेंसे आदिके दो भेदोंको जप संज्ञा और अन्तिम दो भेदोंको ध्यान संज्ञा महर्षियोंने दी है। तथा शुक्ल ध्यानको परम समाधिरूप 'लय' नामसे व्यवहृत किया गया है। ज्ञानार्णव आदि योग-विषयक शास्त्रोंमें पर-समय-वर्णित योगके अष्टाङ्गोंका वर्णन स्याद्वादके सुमधुर समन्वयके द्वारा इसी रूपमें किया गया है।

उपर्युक्त पूजा, स्तोत्रादिका जहां फल उत्तरोत्तर अधिकाधिक है, वहां उनका समय उत्तरोत्तर हीन-हीन है। उनके उत्तरोत्तर समयकी अल्पता होने पर भी फलकी महत्ताका कारण उन पांचोंकी उत्तरोत्तर हृदय-तल-स्पर्शिता है। पूजा करने वाले व्यक्तिके मन, वचन, कायकी क्रिया अधिक बहिर्मुखी एवं चंचल होती है। पूजा करने वालेसे स्तुति करने वालेके मन, वचन, कायकी क्रिया स्थिर और अन्तर्मुखी होती है। आगे जप, ध्यान और लयमें यह स्थिरता और अन्तर्मुखता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, यहां तक कि लयमें वे दोनों उस चरम सीमाको पहुँच जाती है, जो कि छद्मस्थ वीतरागके अधिकसे अधिक संभव है।

उपर्युक्त विवेचनसे यद्यपि पूजा, स्तोत्रादिकी उत्तरोत्तर महत्ताका स्पष्टीकरण भली भांति हो जाता है, पर उसे और भी सरल रूपमें सर्वसाधारण लोगोंको समझानेके लिए यहां एक उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार शारीरिक सन्तापकी शान्ति और स्वच्छताकी प्राप्तिके लिए प्रतिदिन स्नान आवश्यक है, उसी प्रकार मानसिक सन्तापकी शांति और हृदयकी स्वच्छता या निर्मलताकी प्राप्तिके लिए प्रति-दिन पूजा-पाठ आदि भी आवश्यक जानना चाहिए। स्नान यद्यपि जलसे ही किया जाता है, तथापि उसके पांच प्रकार हैं—१ कुंएसे किसी पात्र-द्वारा पानी निकाल कर, २ बालटी आदिमें भरे हुए पानीको लोटे आदिके द्वारा शरीर पर छोड़ कर, ३ नलके नीचे बैठ कर, ४ नदी, तालाब आदिमें तैरकर और ५ कुआ, बावड़ी आदिके गहरे पानीमें डुबकी लगाकर। पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि कुंएसे पानी निकाल कर स्नान करनेमें श्रम अधिक है और शान्ति कम। पर इसकी अपेक्षा किसी वर्तनमें भरे हुए पानीसे लोटे द्वारा स्नान करनेमें शान्ति अधिक प्राप्त होगी और श्रम कम होगा। इस दूसरे प्रकारके स्नानसे भी तीसरे प्रकारके स्नानमें श्रम और भी कम है और शांति और भी अधिक। इसका कारण यह है कि लोटेसे पानी भरने और शरीर पर डालनेके मध्यमें अन्तर आ जाने से शान्तिका बीच-बीचमें अभाव भी अनुभव होता था, पर नलसे अजस्र जलधारा शरीर पर पड़नेके कारण स्नान-जनित शान्तिका लगातार अनुभव होता है। इस तीसरे प्रकारके स्नानसे भी अधिक शान्तिका अनुभव चौथे प्रकारके स्नानसे प्राप्त होता है, इसका तैरकर स्नान करने वाले सभी अनुभवियों-को पता है। पर तैरकर स्नान करनेमें भी शरीरका कुछ न कुछ भाग जलसे बाहिर रहनेके कारण स्नान-जनित शांति-का पूरा-पूरा अनुभव नहीं हो पाता। इस चतुर्थ प्रकारके स्नानसे भी अधिक आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति किसी गहरे जलके भीतर डुबकी लगानेमें मिलती है। गहरे पानीमें लगाई गई थोड़ी सी देरकी डुबकीसे मानों शरीरका सारा सन्ताप एकदम निकल जाता है, और डुबकी लगाने वालेका दिल आनन्दसे भर जाता है।

उक्त पांचों प्रकारके स्नानोंमें जैसे शरीरका सन्ताप उत्तरोत्तर कम और शान्तिका लाभ उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है, ठीक इसी प्रकारसे पूजा, स्तोत्र आदिके द्वारा भक्त या आराधकके मानसिक सन्ताप उत्तरोत्तर कम और आत्मिक शान्तिका लाभ उत्तरोत्तर अधिक होता है। स्नान-के पांचों प्रकारोंको पूजा-स्तोत्र आदि पांचों प्रकारके क्रमशः दृष्टान्त समझना चाहिए।

जैन परम्पराका आदिकाल

(डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी० एच्० डी०)

जैनधर्मके अनुसार संसार अनादिकालसे चला आ रहा है। इसे न कभी किसीने रचा और न यह किसी एक तत्त्वसे उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भसे ही इसमें अनन्त जीव हैं। अनन्त पुद्गल परमाणु हैं और उनसे बनी हुई असंख्य वस्तुएँ हैं। प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है और किसी रूपमें स्थायित्व भी रहता है। नई पर्याय उत्पन्न होती है, पुरानी नष्ट होती है; फिर भी द्रव्य ज्यों का त्यों रहता है। घड़ा फूटने पर घट पर्याय नष्ट हो गई ठीकरेकी पर्याय उत्पन्न हो गई; किन्तु दोनों अवस्थाओंमें मिट्टी ज्योंकी त्यों रही। प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है। जैनदर्शनका यह मूल सिद्धांत है। तीर्थंकर अपने मुख्य शिष्य गणधरोंको सबसे पहले इसीका उपदेश देते हैं।

जिस प्रकार संसार अनादि है, उसी प्रकार अनन्त भी है। ऐसा कोई समय नहीं आयगा, जब इसका अन्त हो जायगा। इस प्रकार अनादि और अनन्त होने पर भी इसमें विकास और ह्रास होते रहते हैं। जब कभी उत्थानका युग आता है, मनुष्योंकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियां उत्तरोत्तर विकसित होती हैं। जब कभी पतनका समय आता है, उनमें उत्तरोत्तर ह्रास होता है। उत्थान और पतनके इस क्रमको बारह आरे वाले एक चक्रसे उपमा दी गई है। बारहमेंसे छह आरे विकासको प्रगट करते हैं और छह ह्रासको। विकास वाले आरोंको उत्सर्पिणीकाल, तथा ह्रास वाले आरोंको अवसर्पिणीकाल कहा जाता जाता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनोंको मिलाकर एक कालचक्र होता है। इस प्रकारके अनन्तकाल तक इनका प्रवाह चलता रहेगा। इस समय अवसर्पिणीकाल है। इसमें मानवीय शक्तियोंका उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है।

सबसे पहला आरा सुषमा-सुषमा था। उसमें लोग अत्यन्त सुखी तथा सरल थे। उनकी सभी आवश्यकताएँ कल्पवृक्षोंसे पूर्ण हो जाती थीं। न किसीको किसीका अधिकार छीननेकी इच्छा होती थी, न दूसरे पर प्रभुत्व जमाने की। दूसरा आरा सुषमा था। उसमें भी लोग सुखी तथा भद्र थे। तीसरा सुषमा-दुषमा था। उसके पहले दो भागोंमें लोग सुखी थे। किन्तु तीसरेमें कुछ तंगी अनुभव होने लगी। वृक्षोंमें फल देनेकी शक्ति कम हो गई। परिणामस्वरूप बांट कर खानेकी आवश्यकता हुई। अधिक उत्पादनके लिए स्वयं परिश्रम करना अनिवार्य हो गया। तीसरे आरेके प्रथम दो भागों तक समाजकी रचना नहीं हुई थी। उस समय न कोई राजा था, न प्रजा। सबके सब स्वतन्त्र होकर विचरते थे। पारिवारिक जीवनके विषयमें कहा जाता है कि सह-जन्मा भाई-बहिन ही बड़े होकर पति-पत्नी बन जाते थे। इसीको युगल-धर्म कहा जाता है। हृदयके सरल तथा निष्पाप होनेके कारण वे सबके सब मर कर स्वर्ग प्राप्त करते थे। तीसरे आरेके अन्तिम तृतीयांशमें जब जीवन-सामग्री कम पड़ने लगी, तो व्यवस्थाकी आवश्यकता हुई और उसी समय क्रमशः पन्द्रह कुलकर हुए। वैदिक परम्परामें जो स्थान मनुका है, जैन परम्परामें वही कुलकरोंका है। इन कुलकरोंके समय क्रमशः तीन प्रकारकी दण्ड-व्यवस्था बताई गई है। प्रथम पांच कुलकरोंके समय 'हाकार' की व्यवस्था थी, अर्थात् कोई अनुचित कार्य करता तो 'हा' कह कर उस पर असन्तोष प्रगट किया जाता था और इतने मात्रसे अपराधी सुधर जाता था। दूसरे पांच कुलकरोंके समय 'माकार' की व्यवस्था थी, अर्थात् 'मा' कह कर भविष्यमें उस कामको न करनेके लिए कहा जाता था। अन्तिम पांच कुलकरोंके समय 'धिक्कार' की व्यवस्था हुई, अर्थात् 'धिक्' कह कर अपराधीको फटकारा जाता जाता था। इस प्रकार दण्ड-विधानमें उत्तरोत्तर उग्रता आती गई।

ऋषभदेव

पन्द्रहवें कुलकर नाभि थे। उनके समय तक युगल धर्म प्रचलित था। नाभि तथा उनकी रानी मरुदेवीका वर्णन भागवतमें भी आता है। उनके पुत्र ऋषभदेव हुए। जम्बूद्वीपपण्णत्तीमें आया है कि ऋषभदेव इस अवसर्पिणीकालके प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती हुए। उनके समय युगल धर्म विच्छिन्न हो गया। वृक्षोंके उपहार कम पड़ गये। तंगीके कारण लोग आपसमें झगड़ने लगे। तभी ऋषभदेवने समाज-व्यवस्थाकी नींव डाली। लोगोंको तभी खेती करना, आग जलाना, भोजन पकाना, वर्तन बनाना, आदि जीवनके लिए आवश्यक उद्योग-धन्धोंकी शिक्षा दी, विवाह-संस्कारकी नींव डाली, भिन्न-भिन्न कार्योंके लिए अलग-अलग वर्ग

स्थापित किये। मर्यादा भंग करने वालेके लिए दण्डकी व्यवस्था की। उस समयसे भारतवर्ष भोगभूमिसे बदल कर कर्मभूमि बन गया प्रकृतिके वरदान पर जीने वाला मानव अपने पुरुषार्थ पर जीने लगा। ऋषभदेव सर्वप्रथम वैज्ञानिक और समाज-शास्त्री थे। उन्होंने समाजकी सर्व-प्रथम रचना की। भागवतमें आता है कि एक साल वृष्टि नहीं हुई, परिणाम-स्वरूप लोग भूखे मरने लगे। ऋषभदेव-ने अपनी आत्म-शक्तिसे पानी बरसाया और लोगोंका संकट दूर किया। यह घटना भी इस बातको प्रकट करती है कि ऋषभदेवके समय खाद्य वस्तुओंकी तंगी आ चुकी थी और उन्होंने उसे दूर किया।

ऋषभदेवके भरत बाहुबली आदि सौ पुत्र थे, तथा ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी दो कन्याएँ। आयुके अन्तिम भागमें उन्होंने अपना राज्य पुत्रोंमें बांट दिया और स्वयं तपस्वी जीवन अंगीकार कर लिया। उनके साथ और भी बहुत से लोग प्रव्रजित हुए। किन्तु ऋषभदेवने जो कठोर मार्ग अपनाया, उसमें वे ठहर न सके। कठोर तपस्या एवं आत्म-साधना द्वारा कैवल्य प्राप्त करके ऋषभदेवने दूसरोंको आत्म-कल्याणका उपदेश देना प्रारम्भ किया।

इधर भरतके मनमें चक्रवर्ती बननेकी आकांक्षा जगी और वह अपने भाइयोंको आधीनता स्वीकार करनेके लिए बाध्य करने लगा। उन्हें यह बात असह्य प्रतीत हुई। समान अधिकारकी रक्षाके लिए वे पिताके पास पहुँचे। ऋषभदेवने उन्हें त्याग मार्गका उपदेश दिया। परिणाम-स्वरूप बाहुबलीको छोड़कर सबके सब मुनि हो गए और आत्म-साधनाके पथ पर चल पड़े।

बाहुबलीने भरतकी आज्ञाका खुला विरोध किया और युद्धकी तैयारी कर ली। दोनों भाइयोंमें परस्पर मल्ल-युद्ध-का निश्चय हुआ। भरतने मुष्टि-प्रहार किया। बाहुबली सह गये। फिर बाहुबलीने प्रहारके लिए मुष्टि उठाई। उसी समय उनके मनमें आत्म ग्लानि उत्पन्न हो गई। राज्यके लोभसे बड़े भाई पर प्रहार करना उचित नहीं प्रतीत हुआ। क्रोधकी दिशा बदल गई। भाई पर प्रहार करनेकी अपेक्षा आत्म-शत्रुओं पर प्रहार करना उचित समझा। सोचा—'मुझे उसी पर प्रहार करना चाहिए जिसने भाई पर प्रहार करनेके लिए प्रेरित किया।'

बाहुबलीने उसी समय मुनिव्रत ले लिया और आत्म-साधनाके लिए वनकी ओर प्रस्थान कर दिया, आत्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेके लिए वे वनके एक कोनेमें ध्यानस्थ खड़े हो गये। क्रोधको जीता, लोभको जीता, मायाको जीता। किन्तु अभिमानका अंश मनमें रह गया। वे भगवान् ऋषभदेवके पास नहीं गये। मनमें झिझक थी—जाऊँगा तो छोटे भाइयोंको—जो पहले मुनि हो चुके हैं—वन्दना करनी होगी।

एक साल तक खड़े रहे। शरीर पर बेलें चढ़ गई। पक्षियोंने घोंसले बना लिए, किन्तु उन्हें कैवल्य प्राप्त नहीं हुआ। ब्राह्मी और सुन्दरी भी भगवान्के पास दीक्षित हो हो चुकी थीं। उन्हें अपने भाईकी अवस्था मालूम पड़ी। समझानेके लिये वे बाहुबलीके पास पहुँची और बोलीं—'भाई! अहंकार-रूपी हाथीसे नीचे उतरो। जब तक हाथी पर चढ़े रहोगे, कैवल्य प्राप्त नहीं होगा। तुम्हारे मनमें यह अभिमान है कि छोटे भाइयोंकी वन्दना कैसे करूं? आत्म-जगतमें न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। सबकी आत्मा अनादि है और अनन्त है। यहां तो वही छोटा है, जो आत्म-गुणोंके विकासमें पीछे है। संसारमें छोटा-बड़ा शरीर-की अपेक्षा समझा जाता है। आत्म-विकासके साधक शरीर-को महत्त्व नहीं देते।'

बाहुबलीको अपनी भूल मालूम पड़ी। अभिमानका नशा उतर गया। भगवानके पास जानेके लिए कदम उठाने ही वाले थे कि कैवल्य प्राप्त हो गया।

भरत चक्रवर्तीने चिरकाल तक राज्य किया। सांसारिक ऐश्वर्यका भोग किया। एक बार उसने एक शीशमहल बनानेकी आज्ञा दी। जब महल बनकर तैयार हो गया, तो वह राजसी नेपथ्यमें उसे देखनेके लिए गया। महल बड़ा सुन्दर बना था। भरत देख देखकर प्रसन्न हो रहा था और अपने ऐश्वर्य तथा शक्तिका गर्व कर रहा था। राजसी वेश-भूषामें चमकता हुआ सुन्दर शरीर दर्पणोंमें प्रतिबिम्बित होकर जगमगा रहा था और वह हर्ष एवं गर्वसे आप्लावित हो रहा था। चलते चलते एक अंगुलीसे अंगूठी नीचे गिर पड़ी और अंगुलीकी चमक समाप्त हो गई। वह सूनीसी मालूम पड़ने लगी। भरतके मनमें आया—"क्या यह चमक पराई है? जब तक अंगूठी थी अंगुली जगमगा रही थी, उसके अलग होते ही भद्दी दीखने लगी।' उसने दूसरी अंगूठी भी उतार दी। वह अंगुली भी निस्तेज हो गई। मुकुट उतार दिया, चेहरेकी शोभा लुप्त हो गई। धीरे-

धीरे सारे आभूषण उतार दिये और सारा शरीर निस्तेज हो गया। भरतके मनको बड़ा आघात लगा। सोचने लगा—'क्या मैं पराये सौन्दर्य पर इतना अभिमान कर रहा था? यह तो मिथ्या अभिमान था। पराये धन, पराये सौन्दर्य और पराई शक्ति पर किया गया गर्व तो झूठा गर्व है, आत्म-वंचना है, ठगी है। हमें अपने ही सौन्दर्यको प्रकट करना चाहिए। आत्म-सौन्दर्य ही शाश्वत है, नित्य है। उसे कोई नहीं छीन सकता। उसीकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिए।'

भरतका मन सांसारिक भोग और ऐश्वर्यसे विरक्त हो गया। आत्म-चिन्तन करते-करते उसी समय कैवल्य प्राप्त हो गया।

भगवान् ऋषभदेवने चिरकाल तक लोगोंको आत्म-साधनका मार्ग बताया और अन्तमें निर्वाण प्राप्त किया।

१. भगवान् ऋषभदेवका जीवन कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने केवल त्यागमार्गका उपदेश नहीं दिया, किन्तु समाज-रचना और अर्थ व्यवस्थाके लिए भी मार्ग-दर्शन किया था। खेती करना, कपड़े बुनना, बर्तन बनाना, आग जलाना, भोजन बनाना आदि अनेक कलाएँ सिखाई थीं। वर्तमान जैन समाज जो एकांगी निवृत्तिकी ओर झुकता जा रहा है, उनके जीवनसे शिक्षा प्राप्त कर सकता है। आत्म-साधना और धर्म या आदर्श चाहे निवृत्ति हो, किन्तु समाज-रचना प्रवृत्तिके विना नहीं हो सकती। ऋषभदेवने जीवनके दोनों पहलू अपने जीवन-द्वारा उपस्थित किये।

२. भगवान् ऋषभदेवकी पूजा केवल जैनियों तक सीमित नहीं है। वैदिक परम्परामें भी उनको विष्णुका अवतार माना गया है। प्राचीन साहित्यमें तो उनका वर्णन मिलता ही है, उनकी पूजा भी यत्र-तत्र प्रचलित है। उदयपुरके समीप केसरियाजीका मन्दिर इसका स्पष्ट उदाहरण है। जैन-परम्पराकी मान्यता है कि भगवान् ऋषभदेवने वर्ण-व्यवस्थाका प्रारम्भ किया। वृद्धावस्थामें संन्यासको अपनाकर उन्होंने आश्रमधर्मको भी कायम रखा। उनका जीवन वैदिक परम्परासे भी मेल खाता है। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव भारतकी श्रमण एवं ब्राह्मण दोनों परम्पराओंके आदि पुरुषके रूपमें उपस्थित है। वे उस उच्च हिमालयके समान प्रतीत होते हैं जिसके एक शिखरसे गंगा दूसरे शिखरसे यमुना बही। दोनों दिव्य स्रोतोंने भारतीय जन-मानसको आप्लावित किया और संस्कृतिके बीजोंको पल्लवित किया।

३. भरतकी ज्ञान-प्राप्ति निवृत्तिकी जगह अनासक्ति पर जोर देती है। वास्तवमें देखा जाय तो आत्म-साधनाका मुख्य केन्द्र अनासक्ति है। निवृत्ति उसीका एक साधन है। निवृत्ति होने पर भी यदि अनासक्ति नहीं हुई, तो निवृत्ति व्यर्थ है।

४. बाहुबलीकी घटना त्यागमार्गके एक बड़े विघ्नकी ओर संकेत करती है। मनुष्य घर-बार छोड़ता है, धन सम्पत्ति छोड़ता है, कुटुम्ब-कबीला छोड़ता है कठोर संयमके मार्ग पर चलता है, उग्र तपस्याओं द्वारा शरीरको सुखा डालता है, सभी सांसारिक ग्रन्थियां टूटने लगती हैं; किन्तु ये ही बातें मिलकर एक नई गांठ खड़ी कर देती हैं। साधक अपने त्याग तथा तपस्याका मद करने लगता है। एक ओर उग्रचर्या करता है, दूसरी ओर गांठ मजबूत होती जाती है। परिणाम-स्वरूप वह जहांका तहां रह जाता है। कई वार तो ऐसा भी होता है कि अहंकार क्रोधको जन्म देता है और आगे बढ़नेके स्थान पर पतन प्रारम्भ हो जाता है। साधकको पद-पद पर इस बातके ध्यान रखनेकी आवश्यकता है कि उसके मनमें यह गांठ न बधने पाये। इसके लिए उसे अत्यन्त विनयी तथा नम्र बने रहना चाहिये। मान पूजा या प्रतिष्ठाको कोई महत्त्व नहीं देना चाहिए।

ब्राह्मी और सुन्दरी द्वारा भाईको प्रतिबोध दिया जाना स्त्री समाजके सामने एक उज्ज्वल आदर्श उपस्थित करता है। अगर महिला समाज अपने भाई तथा पतियोंको झूठी प्रतिष्ठाके नाम पर झगड़ेके लिए उभारनेकी जगह उन्हें मीठे शब्दोंसे शान्त करनेका प्रयत्न करें, तो बहुत सा कलह योंही मिट जाय। नम्रताकी शिक्षाके लिए पुरुषकी अपेक्षा स्त्रियां अधिक उपयुक्त है।

५ जैनधर्ममें भाद्रपद शुक्ला पंचमीको पर्युषणका सांवत्सरिक पर्व मनाया जाता है। जैनियोंका यह सबसे बड़ा पर्व है। इसी दिन वैदिक परम्परामें ऋषिपंचमी मनाई जाती है। ऋषिपंचमी और पर्युषण दोनों अत्यन्त प्राचीन पर्व हैं और इनकी ऐतिहासिक उत्पत्तिके विषयमें दोनों परम्पराएँ मौन हैं। पं० सुखलालजीकी कल्पना है कि ऋषिपंचमी वस्तुतः ऋषभ-पंचमी होनी चाहिए। ऋषिपंचमी चाहे ऋषभपंचमीसे बिगड़कर बनी हो, या वही नाम मौलिक हो; किन्तु इतना अवश्य प्रतीत होता है कि

इस पर्वका सम्बन्ध भगवान् ऋषभदेवकी स्मृतिसे रहा होगा। यदि इस पर्वको श्रमण और ब्राह्मण दोनों परम्पराएं आत्म-शुद्धिके पर्वके रूपमें मनाएं, तो वह भारतका राष्ट्रीय पर्व बन सकता है।

नोट :—विद्वान् लेखकने यह लेख यद्यपि श्वेताम्बर शास्त्रोंके आधार पर लिखा है, तथापि उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्ष मननीय हैं। —सम्पादक

विश्व-शांतिके अमोघ उपाय

(ले० श्रीअगरचन्द नाहटा)

विश्वका प्रत्येक प्राणी शान्तिका इच्छुक है; जो कतिपय पथ-भ्रान्त प्राणी अशांतिकी सृष्टि करते हैं वे भी अपने लिये तो शान्तिकी इच्छा करते हैं। अशान्त जीवन भला किसे प्रिय है? प्रतिपल शान्तिकी कामना करते रहने पर भी विश्वमें अशांति बढ़ ही रही है। इसका कुछ कारण तो होना ही चाहिये। उसीकी शोध करते हुए शांतिको पानेके उपायों पर इस प्रस्तुत लेखमें विचार किया जाता है। आशा है कि इससे विचारशील व विवेकी मनुष्योंको आशाकी एक किरण मिलेगी, जितनी यह किरण जीवनमें व्याप्त होगी उतनी ही शान्ति (विश्व शान्ति) की मात्रा बढ़ती चली जायगी।

व्यक्तियोंका समूह ही 'समाज' है और अनेक समाजों-का समूह एक देश है। अनेकों देशोंके जनसमुदायको 'विश्व-जनता' कहते हैं और इसी 'विश्व जनता' के धार्मिक, नैतिक, दैनिक जीवनके उच्च और नीच जीवनचर्यासे विश्वमें अशांति व शान्तिका विकास और ह्रास होता है। अशान्ति सर्वदा अवांछनीय व अग्राह्य है। इसीलिये इसका प्रादुर्भाव कब कैसे किन-किन कारणोंसे होता है, इस पर विचार करना परमावश्यक है। प्रथम प्रत्येक व्यक्तिके शान्ति व अशान्तिके कारणोंको जान लेना जरूरी है इसीसे विश्वकी शांति व अशांतिके कारणोंका पता लगाया जा सकेगा। व्यक्तिकी अशांतिकी समस्याओंको समझ लिया जाय और उसका समाधान कर लिया जाय तो व्यक्तियोंके सामूहिक रूप 'विश्व' की अशान्तिके कारणोंको समझना बहुत आसान हो जायगा। संसारका प्रत्येक जीवधारी व्यक्ति यह सोचने लग जाय कि अशान्तिकी इच्छा न रखने पर भी यह हमारे बीचमें कैसे टपक पड़ती है, एवं शान्तिकी तीव्र इच्छा करते हुए भी वह कोसों दूर क्यों भागती है? तो उसका कारण ढूंढते देर नहीं लगेगी।

विश्वके समस्त प्राणियोंकी बुद्धिका विकास एक-सा नहीं होता, अतः विचारशील व्यक्तियोंकी जिम्मेदारी बढ़ जाती है। जो प्राणी समुचित रीतिसे अशांतिके कारणोंको जान नहीं पाता, उसके लिये वे विचारशील पुरुष ही मार्ग-प्रदर्शक होते हैं।

दुनियांके इतिहासके पन्ने उलटने पर सर्वदा विचार-शील व्यक्तियोंकी ही जिम्मेदारी अधिक प्रतीत होती है। विश्वके थोड़ेसे व्यक्ति ही सदा दुनियोंकी अशान्तिके कारणों-को ढूंढनेमें आगे बढ़े, निस्वार्थ भावसे मनन कर उनका रहस्योद्घाटन किया और समाजके समक्ष उन कारणोंको रखा। परन्तु उन्होंने स्वयं अशान्तिके कारणोंसे दूर रहकर सच्ची शान्ति प्राप्त की।

हाँ, तो व्यक्तिकी अशान्तिका कारण होता है अज्ञान, अर्थात् व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूपको न समझकर, काल्पनिक स्वरूपको सच्चा समझ लेता है और उसी व्यक्तिकी प्राप्तिके लिए लालायित होता है, सतत प्रयत्नशील रहता है इससे गलत व भ्रामक रास्ता पकड़ लिया जाता है और प्राणीको अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। उन कष्टोंके निवारणार्थ वह स्वार्थान्ध हो ऐसी अधार्मिक तथा नीति-विरुद्ध क्रियाएँ करता है कि जिनसे जन समुदायमें हलचल मच जाती है और अशान्ति आ खड़ी होती है। यह स्वरूपका अज्ञान जिसे जैन परिभाषामें 'मिथ्यात्व' कहते हैं—क्या है? यही कि जो वस्तु हमारी नहीं है उसे अपनी मान लेना और जो वस्तु अपनी है उसे अपनी न समझ कर छोड़ देना या उसके प्रति उदासीन रहना। उदाहरणार्थ—जड़ पदार्थ जैसे वस्त्र, मकान, धन इत्यादि नष्ट होने वाली चीजोंको अपनी समझ कर उनकी प्राप्ति व रक्षाका सर्वदा इच्छुक रहना और चेतनामयी आत्मा जो हमारी सच्ची सम्पत्ति है—उसे भुला डालना सच्चे दुःखोंका जन्म इन्हीं

क्षणभंगुर वस्तुओंकी प्राप्तिमें लगे रहनेसे ही होता है। दृश्यमान सारे पदार्थ पौद्गलिक हैं, जड़ हैं। आत्मा तो हमें दिखाई देती नहीं, अतः शरीरको ही हमने सब कुछ मान लिया है। उसीको सुखी रखनेके लिये धन-सम्पत्ति इत्यादिको येन केन प्रकारेण जुटानेमें संलग्न रहते हैं। इस तरह हम पर वस्तुओंकी प्राप्तिकी तृष्णामें ही जीवन-यापन करते हुए अपनी वस्तु अर्थात् आत्मभाव, आत्मानुभवसे परान्मुख हो रहे हैं, यही अशान्तिका सबसे प्रधान, मूल और प्रथम कारण है।

जड़ पदार्थ सीमित हैं और मानवकी इच्छाएं अनन्त हैं। अत ज्योंही एक वस्तुकी प्राप्ति हुई कि दूसरी वस्तुको ग्रहण करनेकी इच्छा जागृत हो उठती है। इस तरह तृष्णा बढ़ती चली जाती है और उत्तरोत्तर अधिक संग्रहकी कामना मनमें उद्वेलित हो उठती है। जिससे हम व्यग्र व अशान्त हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य व्यक्ति भी संग्रहकी इच्छा करते हैं और प्रतिस्पर्द्धा बढ़ जाती है। अशान्तिकी चिनगारियां छूटने लगती हैं। व्यक्ति व देशकी अशान्ति रूप ज्वाला धधक उठी कि वह सारे विश्वमें फैल जाती है और एक विश्वव्यापी युद्धका अग्निकुण्ड प्रज्वलित हो उठता है। जिससे सारे विश्वका साहित्य, जन-समूह, सपत्ति, जलकर राख हो जाती है। यही दुनियाकी अशान्तिकी रामकहानी है। इसके लिए समय-समय पर विभिन्न देशोंमें उत्पन्न हुए महापुरुष यही उपदेश दिया करते है कि 'अपनेको पहचानो' 'परायेको पहचानो' फिर अपने स्वरूपमें रहो, और अपनी आवश्यकताओंको सीमित करो। तृष्णा नहीं रहेगी तो संग्रह अति सीमित होगा जिससे वस्तुओंकी कमी न रहेगी। अतः वे आवश्यकतानुसार सभी को सुलभ हो सकेगी। फिर यह जनसमुदाय शान्त और सन्तुष्ट रहेगा। किसी भी वस्तुकी कमी न रहेगी। जनसमुदाय भौतिक वस्तुओंकी प्राप्ति सुलभ होने पर उन पर कम असक्त होगा और आत्मज्ञान की तरफ झुकेगा। मानव ज्यों-ज्यों अपने आत्मस्वरूपको समझनेका प्रयत्न करेगा, त्यों त्यों वह समझता जायगा कि भौतिक वस्तुएं जिनके लिये वह मारा-मारा फिर रहा है .., जल्द नष्ट होने वाली है, पर उसमें मोह रखना मूर्खता है। इन विचारों वाला आवश्यकतासे अधिक संग्रह (परिग्रह) न करेगा और अन्तमें उसे आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है—यह स्पष्ट मालूम हो जायगा—इस तरह एक दिन वह यह भली-भांति समझ लेगा कि आत्मामें मग्न रहना ही सच्ची शान्ति है। यदि इस प्रकार विश्वका प्रत्येक प्राणी समझ ले तो फिर विश्वकी अशांतिका कोई कारण ही न रहेगा। परिग्रह-संग्रह और ममत्व बुद्धि ही अशान्तिका दूसरा कारण है।

आजका विश्व भौतिक विज्ञानकी तरफ आँख मूंदकर बढ़ता चला जा रहा है। योरोपकी बातें छोड़िये। वह तो भौतिक विज्ञानके अतिरिक्त आध्यात्मिक विज्ञानको जानता तक नहीं, सब भौतिक विज्ञानके अधिकाधिक विकास में ही मनुष्योंकी पराकाष्ठा मानता है। फलतः अणु बम जैसे सर्व संहारक शस्त्रका आविष्कार करता है। केवल भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है कि जहां अनादि कालसे आध्यात्मिकधारा अजस्र गतिसे प्रवाहित होती आ रही है और समय-समय पर देशके महापुरुषों ऋषियोंने इसे और भी निर्मल तथा सचेत बनाया और इस धाराका पीयूष-सम जल पीकर अनेक मानव संतुष्ट हुए। अब योरोप भी भारतकी ओर आशाकी दृष्टि लगाए देख रहा है क्योंकि उसे इस देशकी अहिंसा-मूर्ति महात्मा गांधीकी आत्मिक शान्तिका आभास मिल चुका है। वह समझ गया कि अहिंसाकी कितनी बड़ी शक्ति है। जिसके द्वारा भारतवासी अंग्रेजोंके शक्तिशाली साम्राज्यसे बिना शस्त्रोंके लिए भी समर्थ तथा सफल हुए। उन्होंने बड़ी सफलतापूर्वक अपनी चिराभिलषित स्वतंत्रता प्राप्त की। वे समझने लगे हैं कि भारतही अपने आध्यात्मिक ज्ञानके द्वारा विश्व-कल्याण कर सकता है और आत्मानुभवसे ही अखंड शान्ति प्राप्त हो सकती है। 'यह मेरा है, वह व्यक्ति या देश मेरा नहीं है' इस भेद-भावके कारण प्राणी अन्य 'प्राणियों' के विनाशमें उद्यत होता है। इस भेद-भावसे अधिक और कोई बुरी बात हो नहीं सकती। दूसरेके दुखको अपना मानकर दुख अनुभव कर उसके दुख-निवारणमें सहयोग देना ही मानवता है। पराया कोई है ही नहीं, सभी अपने ही हैं ऐसा भाव जहां आया कि किसीको कष्ट पहुँचनेकी प्रवृत्ति फिर हो ही नहीं सकेगी फिर पराया कष्ट अपना ही कष्ट प्रतीत होने लगेगा।

भारत एक अध्यात्म-विद्या प्रधान देश है। इस देशमें बड़े बड़े अध्यात्मवादियोंने जन्म ग्रहण किया है। उनमें प्रायः ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर और बुद्ध अवतीर्ण हुए थे। अहिंसा उनका प्रधान सन्देश था। महात्मा गांधी की 'अहिंसा' व 'विश्व प्रेम' भारतके लिए

कोई नवीन वस्तुएं नहीं थी। सिर्फ इसकी अपार शक्तिको हम भूलसे गये थे। इन्हीं अहिंसा सत्य आदिको भगवान् महावीर और महात्मा बुद्धने अपने पवित्र उपदेशों द्वारा भारतके कोने कोने में प्रचलित किया था। भगवान् महावीर ने ही 'अहिंसा' यानी 'विश्व प्रेम' का इतना सुन्दर और सूक्ष्म विवेचन किया है कि जिसकी मिसाल नहीं मिल सकती। उनका कथन था 'मनुष्यको अपनी आत्माको पहिचानना चाहिए, मैं स्वयं शुद्ध हूं, बुद्ध हूं, चैतन्य हूं, सर्व-शक्ति सम्पन्न एवं वांच्छा-रहित हूं, मुझे किसी भी भौतिक पदार्थमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिए, उनसे मेरा कोई चिरस्थायी सम्बन्ध नहीं। अगर मानव इस उपदेशको ग्रहण करे, तो उसमें अनावश्यक वस्तुओंके संग्रहकी वृत्ति (परिग्रह) ही न रहेगी। उसमें मूर्छा तीव्र आरम्भ व आसक्ति भी न रहेगी और जब चाहना न रही तो प्रतिस्पर्द्धा वैमनस्य और कलह न रहेगा। जब ये सब नहीं रहेंगे तो फिर जन-समुदायमें अशान्तिका काम ही क्या है? सर्वत्र शान्ति छा जायेगी और विश्वमें फिर अशान्तिके बादल और युद्धकी भयङ्कर आशंका छा रही है वह न रहेगी। सर्वत्र मानव महान सुखी दिखलाई पड़ेगा। उपर्युक्त विवेचनसे विश्वशान्तिके निम्नलिखित कारण सिद्ध हुए—

(१) आत्मबोध-चेष्टा और भौतिक वस्तुओंमें विराग अर्थात् आत्मज्ञान।

(२) व्यर्थ अनावश्यक अन्न वस्त्रादिका संग्रह नहीं करना अर्थात् अपरिग्रह।

(३) 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः' अपनी आत्माके समान विश्वके प्राणियोंको समझना। अर्थात् अहिंसा आत्मीयताका विस्तार।

(४) विचार संघर्षमें समन्वयका उपाय—अनेकान्त

आज मनुष्यताका एकदम ह्रास हो चुका, व हो रहा प्रतीत होता है। पारस्परिक प्रेम और मैत्री भावकी कमी परिलक्षित हो रही है। पुराने व्यक्ति आज भी मिलते हैं तो आत्मीयता का अनुपम दर्शन होता है, वे खिल जाते हैं हरे भरे हो जाते हैं। चेहरे पर उनके प्रसन्नता-प्रफुल्लताके भाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं, पर आजके नवयुवकोंके पास बनावटी दिखावेकी मैत्री व प्रेमके सिवाय कुछ है नहीं। बाहरके सुहावने, चिकनी-चुपड़ी बातें, भीतरसे खोखलापन अनुभव होता है। इसीलिए पर-दुख-कातर विरले व्यक्ति ही मिलते हैं। अपना स्वार्थ ही प्रधान होता है। एक दूसरेके लगावसे ही स्वार्थ टकराते है और अशान्ति बढ़ती है। आत्मीयताके प्रभावसे ही यह महान् दुख हट सकता है। हमारा प्राचीन भारतीय आदर्श तो यही रहा है—

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

इस आदर्शको पुनः प्रतिष्ठापित करना है।

विदर्भमें गुजराती जैन लेखक

[ले० प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर, नागपुर महाविद्यालय, नागपुर]

विदर्भसे जैनधर्मका सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। फिर भी चौदहवीं सदीसे वह कुछ अधिक दृढ़ हुआ है। राजस्थान और गुजरातसे बघेरवाल, खण्डेलवाल आदि जातियोंके लोग इस समय बड़ी तादाद में विदर्भमें आकर बसे। इससे यह सम्बन्ध बहुत कुछ दृढ़मूल हुआ। इस सम्बन्धका एक विशेष अंग यह रहा कि विदर्भके जैनसमाजमें स्थानीय मराठी भाषाके साथ साथ राजस्थानी और गुजराती भाषाके साहित्यका भी निर्माण होता रहा। इस लेखमें हमने ऐसे वैदर्भीय गुजराती साहित्यका ही संक्षिप्त निरूपण किया है।

ऐसे लेखकोंमें हमें ब्रह्म ज्ञानसागर सबसे प्राचीन मालूम होते हैं। आप काष्ठासंघके भट्टारक श्रीभूषणके शिष्य थे, जिनका समय सत्रहवीं शताब्दी है। आपकी कई व्रतकथाओंका निर्देश अनेकान्तमें पहले हो चुका है[१]। हमारे संग्रहमें आपके द्वारा रचित दशलक्षणधर्म, षोडशकारण भावना, षट्कर्म, रत्नत्रय आदि विविध विषयोंके कोई चार सौ पद्योंका एक गुटका है। इस गुटकेमें इन स्फुट पद्योंके अलावा आपकी दो रचनाएं और हैं। जिनमेंसे एक रचना 'तीर्थावली' है। इसमें कोई एक सौ पद्योंमें

१ अनेकान्त वर्ष १२, पृष्ठ ३०

सिद्धक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र मिलाकर ७८ तीर्थक्षेत्रों-का परिचय दिया गया है इस 'तीर्थावली' का सारांश हमने मराठी मासिक सन्मतिमें प्रकाशित कराया है २।

आपकी दूसरी रचना 'अक्षर बावनी' है। इस-की प्रशस्ति परसे विदर्भके साथ आपका सम्बन्ध स्पष्ट होता है जो इस प्रकार है—

काष्ठासंघ समुद्र विविध रत्नादिक पूरित।
नंदीतटगच्छ भाण पाप मिथ्यामति चूरित॥
विद्यागुणगंभीर रामसेन मुनि राजे।
तास अनुक्रम धीर श्रीभूषण सूरि गाजे॥
कलियुगमा श्रुतकेवली षट्दर्शनगुरु गच्छपती।
तास शिष्य एवं वदति ब्रह्म ज्ञानसागर यती॥५३॥
वंश बघेर प्रसिद्ध गोत्र एह भणिज्जे।
श्रावक धर्म पवित्र काष्ठासंघ गणिज्जे॥
संघपति बापू नाम लघु वय इहु गुणधारी।
दयावंत निर्दोष सब जनकूं सुखकारी॥
उसकी प्रीत विशेषथे पढनेकूं बावनी करी।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति आगम तत्त्व अमृत भरी॥५४॥

इस प्रशस्तिमें जिन बापू संघईका उल्लेख है वे कारंजा (जिला अकोला) के उस समयके ख्यात-नामा श्रीमान थे। उनके द्वारा प्रतिष्ठित की गई कई मूर्तियाँ वहाँके काष्ठासंघ मन्दिरमें मौजूद हैं।

इस विषयमें उल्लेखनीय दूसरे कवि पामो हैं। आपने कारंजामें ही शक सं० १६१४ में 'भरत भुज-बली' नामक काव्य लिखा। आप भी काष्ठासंघके ही अनुयायी थे। आपके ग्रन्थकी प्रशस्ति इस प्रकार है—

गछ नंदीतट विद्यागण सुरेंद्रकीर्ति नित वंदिये।
तस्य शिष्य पामो कहे दुख-दारिद्र निकंदिये॥२१८॥
सक सोडस सत चौद बुद्ध फाल्गुण सुद पक्षह।
चतुर्थि दिन चरित्र धरित पूरण करी दक्षह॥
कारंजो जिनचंद्र इंद्रवंदित नमि स्वार्थे।
संघवी भोजनी प्रीत तेहना पठनार्थे॥
वलि सकल श्री संघने येधि सहू वांछित फले॥
चक्रिकामनाये करी पामो कह सुरतरु फले॥२१९॥

उल्लेखनीय है कि यहाँ जिन संघवी भोजका उल्लेख है उनकी समृद्धिका वर्णन तत्कालीन श्वेताम्बर साधु शीलविजयजीने भी किया है ३।

इसके बाद उल्लेखनीय लेखक कवि धनसागर हैं। आपने कारंजामें ही सम्वत् १७५६ में 'पार्श्व-पुराण' की रचना की। आप भी काष्ठासंघके ही अनुयायी थे। आपके ग्रंथकी प्रशस्ति इस प्रकार है—

देश वराड मझार नगर कारंजा सोहे।
चंद्रनाथ जिन चैत्य मूल नायक मन मोहे॥
काष्ठासंघ सुगच्छ लाडवागड बडभागी।
बघेरवाल विख्यात ख्यात श्रावक गुणरागी॥
जिनधर्मी जमुना संघपति सुत पूंजा संघपति वचन।
चित में धरी अत्याग्रह थकी रची सुधनसागर रचन॥१४५
षोडशशत एक वीस शालिवाहन शक जाणो।
रस भुज भुज भुज प्रमित वीर जिन शाक बखाणो॥

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ स्थानीय हस्त-लिखित प्रतियोंसे दी गई हैं।

काष्ठासंघके समान मूलसंघके भी भट्टारक-पीठ विदर्भमें थे। यहाँके भट्टारक धर्मचन्द्रके शिष्य गंगादासकी दो रचनाएं स्थानीय सेनगणमन्दिरमें मिलती हैं—आदित्यवार कथा तथा त्रेपन-क्रिया-विनती। पहली रचना सम्वत् १७५० में लिखी गई है। इन दोनोंकी प्रशस्तियाँ इस प्रकार हैं—

आदित्यवार-कथा

विशालकीर्ति विमल गुण जाण। जिनशासनकज प्रगट्यो भाण
तत्पद कमलदलमित्र। धर्मचंद्र धृतधर्म पवित्र॥ ११२॥
तेहनो पंडित गंगादास। कथा करी भवियण उल्हास॥
शाक सोला शत पचर चार। सुदि आषाढ बीज रविवार॥११३

त्रेपन-क्रिया-विनती

कारंजे सुख करण चन्द्रजिन गेह विभूषण।
मूलसंघ मुनिराय धर्मभूषण गतदूषण॥
विशालकीर्ति तस पाट निखिल वंदित नरनायक।
तस पट्टांबुजसूर धर्मचन्द्रह सुखदायक॥
तस पादकजषट्पद मुदा गंगादास वाणी वदे।
त्रिपंचास क्रिया सदा भवियण जन राखो हृदे॥११॥

आगे चलकर भट्टारक धर्मचन्द्रकी परंपरामें

२ सन्मति वर्ष ६, पृष्ठ ३२१

३ जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ४५५।

अजमेरके शास्त्र-भंडारसे

पुराने साहित्यकी खोज

(जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

(५)

१५. मदन युद्ध

यह 'मदन-युद्ध' ग्रन्थ प्राकृत-अपभ्रंश-मिश्रित पुरानी हिन्दीमें कवि वल्हका लिखा हुआ है। जिसका दूसरा नाम बूचिराज है। कविके इन दोनों नामोंकी उपलब्धि ग्रन्थ-परसे होती है। यह ग्रन्थ भी एक गुटकेसे उपलब्ध हुआ है। इसकी पत्रसंख्या २० (११ से ३१) और पद्य संख्या १५८ है। ग्रन्थका विषय ऋषभदेवका काम-विजय है। ग्रन्थका रचनाकाल सं० १५८९ असौज सुदि एकम शनिवार है और लिपिकाल सं० १६६८ समझना चाहिये; क्योंकि जिस गुटकेमें यह ग्रन्थ है वह सं० १६६८ सावन वदि अष्टमीका लिखा हुआ है।

ग्रन्थ के प्रारम्भिक चार पद्य इस प्रकार हैं :—

"जो सव्वट्ठ विमाण हुंति चविओ तिअणाण चित्तंतरे
उववरणो मरुदेवि कुक्खिरयणे कखागंकुले मंडणो ॥
भुत्तं भोगसरज्जदेसविमलं पाली पव्वज्जा पुणो।
संपत्तो णिव्वाण देव रिसहो काऊण सा मंगलं ॥१॥
जिण अरह वागवाणी पणमुं सुहमत्ति देहि जय-जणणी
वरणेमि मयण-जुज्झं किम जित्तउ सिरीय रिसहंसु ॥२॥
रिसह जिणवर पढम तित्थयरु जिण धम्मह उद्धरण।
जुगल-धम्म सव्वइ निवारणु, नाभिराय कुल-कमल ॥
सव्वरणु संसार-तारणु जो सुरइंदहि वंदियो सदा चरण सिरधार।
कहु क्यउं रति-पति जित्तिआ, तं गुण कहुं वित्थार ॥३॥
सुणहु भवियण एहु परमत्थ, तजि चिंता पर कथा इक्कु ध्याने हुइ कण्णु दिज्जयइ।
मणु विहसइ कमल जिम, जइ समाधि इहु अमिय पिज्जइ
परिचइ जिन्ह चितु एहु रसु घालइ कसमल-खोइ।
पुनरपि तिन्ह संसारमहि जम्मण-मरण न होइ ॥४॥

इनमेंसे प्रथम पद्यमें ऋषभदेवका स्मरण किया गया है और यह बतलाया गया है कि वे सर्वार्थसिद्धि-विमानसे चय-कर मरुदेवीकी कुक्षिसे तीन ज्ञानको लिये हुए उत्पन्न हुए थे, वे इक्ष्वाकुवंशके मंडन थे, उत्तम भोगोंको भोगकर उन्होंने प्रव्रज्या ली थी और फिर निर्वाणको प्राप्त हुए थे। दूसरे पद्य (गाथा) में अर्हन्तकी वाणीको नमस्कार करते हुए उसे सुख और जयकी जननी लिखा है और मदनयुद्धके रचनेकी प्रतिज्ञा की है। तीसरे रड्ढा नामके पद्यमें ऋषभदेवका गुण-गान करते हुए उनके कुछ विशेषणोंका उल्लेख किया है और फिर बतलाया है कि मैं उन गुणोंका विस्तारसे कथन करता हूँ जिनके द्वारा उन्होंने कामदेवको जीता है। चौथे पद्यमें भव्यजनोंको लक्ष्य करके कहा गया है कि इस परमार्थकी बात पर चिन्ता और पर-कथा आदिको छोड़ करके पूरी तरह ध्यान देना चाहिये। इससे मन कमल-समान प्रफुल्लित होगा, समाधि-रूपी अमृतकी प्राप्ति होगी और इस रसकी प्राप्तिसे सब पापोंका नाश होकर संसारमें फिर जन्म-मरण नहीं हो सकेगा। और इस तरह मदनयुद्धके अध्ययन आदिका फल बतला कर भव्य-जीवोंको काम-विजयके द्वारा

इसी नामके एक और भट्टारक हुए। उनके शिष्य ऋषभकी भी एक रविवार-कथा अंजनगाँव, जिला अमरावतीके बलात्कारगण मन्दिरमें मिलती है। इसकी रचना विदर्भके कर्णखेट ग्राममें सम्वत् १८३३ में हुई थी। यथा—

विषय वराड मझारि सुनग्र। कर्णखेट धनधान्य समग्र ॥
सुपार्श्वदेव चैत्यालय तुंग। दर्शन देखत पातक भंग ॥१२१॥
तप पट्टोदय शिखरी सूर्य। शक्रकीर्ति भूमंडलवर्य ॥
तत्पट्ट भूषण श्री गुरुराज। धर्मचंद्र गच्छपति क्षिति गाज ॥१२२
तस सेवक बुध ऋषभ धुरीन। रची कथा व्यंजन-स्वर-हीन ॥
संवत अष्टादश तेतीस। श्रावण सुदि बारसि रवि दीस ॥१२३
गंगेरवाल सुश्रांवक्या हीरबा रघुजी भ्रात।
ते वचने कीधी कथा सुणता मंगल ख्यात ॥१२४॥

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरणसे स्पष्ट है कि यदि प्रयत्न किया जाय तो विदर्भमें गुजराती साहित्य काफी मात्रामें उपलब्ध हो सकता है। खासकर कारंजाके भट्टारकीय ग्रन्थ-भण्डारोंकी इस दृष्टिसे छानबीन होनेकी बहुत आवश्यकता है।

आत्म-विकासके लिये प्रोत्साहित किया है।

ग्रन्थके अन्तिम दो पद्य इस प्रकार हैं :—

जह न जरा न न जन्म मरण जत्थ पुणि वाहि-वेअण,
जह न देह न न नेह योतिमइ न हठइ चेयण।
जहइ सुक्ख अनंत ज्ञान दंसण अवलोकहिं,
काल विणस्सइ सयल सुद्ध पुणिकालह खोवइ।
जह वन्न न गंध न रस फरस सबद भेद नहि किह लह्यौ।
बूचिराज २ है श्रीरिसह-जिण सुथिर होइ तहं ठइ रह्यौ
राइ विक्कमतणों संवत् नव्वासीय पनरसइ
सरदरुत्ति आसु वखाणु।
तिथि पडिवा सुकल पख सनीचरवार
कर णिखत्त जाणु।
तिनु दिन वलह जु संठयो मयण-जुज्झ सविसेस।
पढत सुणत रिखखा करौ जयो स्वामिरिसहेसु ॥५७॥

इनमेंसे पहले पद्यमें श्री ऋषभदेवकी निर्वाणावस्थाका वर्णन है, जो उन्होंने मोह-शत्रुके पुत्र और प्रधान सेनापति मदन तथा मोह और अन्य सब अंतरंग शत्रुओंको जीत कर प्राप्त की थी और जिसमें जरा, जन्म, मरण, वेदना देह, नेह आदि किसी भी कष्टदायी वस्तुका सम्बन्ध नहीं रहता। तथा अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्रकट हो जाते हैं। तब आत्मा पुद्गलके सम्बन्धसे रहित होकर अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थिर हो जाता है और वर्ण, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्दके भेदोंसे मुक्त हो जाता है।

इस ग्रन्थकी रचना अनेक छन्दोंमें की गई है। कविता और विषयको चर्चित करनेकी दृष्टिसे यह ग्रन्थ उतने अधिक महत्वका नहीं है जितने अधिक महत्वको यह हिन्दी भाषाके विकासकी दृष्टिको लिये हुए है। अतः भाषा-विज्ञोंके द्वारा यह उस दृष्टिसे अध्ययन किए जाने तथा प्रकाशित किए जानेके योग्य है। इस ग्रन्थकी प्रति जयपुरके शास्त्र-भंडारमें भी पाई जाती है। प्रस्तुत प्रति अशुद्ध है।

१६. जम्बूस्वामि-पूजा

यह पूजा प्रायः संस्कृत भाषामें निबद्ध है और जय-मालादिके कुछ अंश अपभ्रंश भाषाको लिए हुए हैं। यह उन्हीं साहू टोडरकी लिखाई हुई है जिन्होंने कवि राजमल्लसे जम्बूस्वामि-चरित्र लिखाया था। यह जम्बूस्वामि-चरित्र अकबरके राज्यमें सं० १६३२ की समाप्ति पर चैत्र सुदि अष्टमीको रचा गया है। और यह पूजा उससे कोई ४ वर्ष बाद अकबरके राज्यमें ही विक्रम संवत् १६३६ की चैत वदि बृहस्पतिवारको निर्मित हुई है, जैसा कि अन्तके निम्न द्वितीया पद्योंसे प्रकट है:—

श्रीमत्साहि-अकब्बरस्य नृपते राज्ये सतां सम्मते,
शाके विक्रम साहि-साधु विदिते संवत्सरे पावने।
तत्राप्यत्र शतेन षोडशवरे अष्टे (अब्देच) षट्त्रिंशके,
मासे चैत्र-विचित्र-पक्ष-प्रथमे सारे द्वितीयादिने ॥२२॥
वृहस्पति-गुणाधारे वारे याग-शुभे वरं।
केवलज्ञान-स्वामिस्य चरित्रं रचितं शुभम् ॥२३॥

इस पूजामें विद्युच्चर आदि उन पाँचसौ मुनियोंकी पूजा भी शामिल है जो श्रीजम्बूस्वामीके साथ ही दीक्षित हुए थे। पाँचसौ मुनियोंके अलग-अलग नाम स्तुति सहित देकर अर्घ चढाये गए हैं। और यह इस पूजाकी सबसे बड़ी विशेषता है। इस पूजाके कर्ता पंडित 'मोदक' हैं। जिन्हें कहीं कहीं 'लाडनू' नामसे भी उल्लेखित किया गया है। दोनों नामके सूचक कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

जंपइ कइ लाडनु निगुण देव!
हउं करउ-निरंतर तुज्झ सेव। (पत्र ३, २६)
चरित्रं भव्य-जीवानां, मंगलं वितनोतु वै।
धीमता मोदकाख्येन, रचितं पुण्यकारणम् (पत्र२७)

इस पूजाकी रचना यद्यपि साहू टोडरने कराई है परन्तु उसमें दासमल्लकी प्रेरणा भी हुई है जिसका उल्लेख ग्रंथकारने निम्न पद्योंके द्वारा किया है :—

तहविह कइ पंडिपदासमल्ल,
उवरोहें थुइ विरइय रसल्ल॥ (पत्र २)
दासमल्लो विनीतात्मा धर्म-कर्मणि तत्परः।
तस्योपदेशतः ख्यातं चरित्रं जंबुस्वामिनः॥ (पत्र २७)

इनमें दासमल्लको विनीतात्मा और धर्म-कर्ममें तत्पर बतलाया है। ऐसा जान पड़ता है कि पं० दासमल्ल कविकी इस रचनामें भी सहायक हुआ है।

इस पूजाके प्रारम्भिक मंगलाचरणादि-विषयक कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

वाणी यस्य गरीयसी गुणनिधेः सेव्या सदा पंडितै-
र्लोकालोक-निवास-तत्त्वकथनं कर्तुं सतां सम्मता।
सोऽयं श्रीजिनवीरनाथममलं मानावमाने समं
वन्देवा(ऽहं) सततं परं शिवकरं मोक्षाय स्वर्गाय वै ॥१॥
गौतमादि-गणाधीशान्मुनीन्द्र-गुण-पावकान्।
वन्दे सकल-कल्याण-दायकान् नतमस्तकः॥ २॥

नरामर-खगाधीशाः यस्य पाद-पयोरुहम्।
वन्दितुं चोत्सुका यतः वन्दे तं जिनशासनम् ॥३॥
नो कवित्वं करिष्यामि केवलं लोक-रंजनम्।
पुण्याय श्रेयसे किन्तु भक्त्या वा परथा परम् ॥४॥
ये केचिन् सज्जना लोके, विद्यन्ते गुणशालिनः।
नमामि सततं तेभ्यो मे कुर्वन्तु कृपां पराम् ॥५॥
सज्जनानां स्वभावोऽयं. पर-दुःखेन दुःखिताः।
दुर्जनाः सर्पवन् सम्यक् दुःखदा दोष-ग्राहकाः ॥६॥
सुखिनः सन्तु लोके ये जिनागम प्रभावकाः
दया-धर्म-सदाचार-तत्पराः गुणशालिनः ॥७॥

इन पद्योंमें वीरभगवान्, गौतमादि गणधर मुनीन्द्र और जिन-शासनकी स्तुति करते हुए कहा है कि—'यह रचना मैं लोकदृष्टिसे या कवित्वकी दृष्टिसे नहीं कर रहा हूँ किन्तु पुण्य और कल्याणकी दृष्टिसे भक्तिभावको लेकर कर रहा हूँ।' इसके बाद सज्जनोंको नमस्कार करते हुए उनका स्वभाव पर-दुखमें दुखित होना बतलाया है और दुर्जनोंको सर्पके समान दुख देने वाले और दोष-ग्राहक लिखा है। सातवें पद्यमें यह आशीर्वाद दिया है कि वे सब लोग सुखी हों जो जिनागमके प्रभावक हैं, दयाधर्म तथा सदाचारमें तत्पर और गुणशाली हैं।

इन पद्योंके बाद ग्रन्थमें पूजाके लिये मण्डलकी विधि लिखी है। जिसके मध्यमें एक कोठा और उसके चारों ओर क्रमशः १, ८, १६, २४ ३२, ४८, ६४, ८०, १०४ और १३६ कोष्ठक दिए हैं। कोष्ठकोंकी कुल संख्या ५१३ होती है। यह कोष्ठक-संख्या उन मुनि-स्तूपोंकी वाचक जान पड़ती है जो मथुरामें जीर्ण-शीर्ण अवस्थाको प्राप्त थे और जिनका पुनः जीर्णोद्धार साहू टोडरने कराकर एक बड़ी पूजाप्रतिष्ठाकी आयोजनाकी थी, जिसका उल्लेख उनके-द्वारा निर्मापित जम्बूस्वामि-चरितमें पाया जाता है।

इस पूजामें साहू टोडरकी गुरु-परम्परा-सहित एक प्रशस्ति दी हुई है जो इस प्रकार है:—

काष्ठासंघ-परोपकार-चतुरे-गच्छे गणे पुष्करे
लोहाचार्य-वरान्वये गुणनिधिर्भट्टारको सज्जिनः।
जानात्येव जिनेश्वरस्य कथितं तत्त्वार्थभावं परं
सोऽयं श्रीमलयादिकीर्ति-विदितः सेव्यः सदा पण्डितैः॥१
पट्टे तस्य गुणाग्रणी समधनो मिथ्यान्धकारे रविः।
श्रीमज्जैन-जितेन्द्रियोऽस्यतितरां चारित्रचूड़ामणिः॥
नाम्ना श्रीगुणभद्र-न्याय-निपुणो वादीभ-पंचानना।
सारासार-विचारणैकचतुरो जीयात्सदा भूतले ॥११॥
तत्पट्टे गुणसागरो मदहरो मानावमाने समो,
बालत्वेपि दिगम्बरोऽस्ति नितरां कीर्त्या प्रशस्तो महान्।
सोऽयं श्रीरविकीर्तिवाद-निपुणो भट्टारको भूतले,
नन्दत्वेव गुणाकरो वृषधरो भव्यैः सदा सेव्यतः ॥१२
योऽसौ वादि-विनोदनाद निपुणो ध्याने गतो लीनतां
परिताप-विनाशनैक-शशिभृच्चारित्र-चूड़ामणिः।
श्रीमन्नामकुमारसेन-गणभृद् भट्टारकः सम्मतो,
जीयात्सोपि गणाधिपो गुणनिधिरासेव्यतां सज्जनैः॥१३
आम्नाये तस्य ख्यातो भुवि भरतसमः पावनो भूतलेऽस्मिन्
पासा संघाधिपोऽसौ कुलबल-सबलस्तस्य भार्याऽस्ति घोषा
साध्वी श्रीवा द्वितीया जिनचरणरता वाचिवागीश्वरीव
गर्भे तस्या बभूव गुणगणसहितो टोडराख्यस्तु पुत्रः ॥१४
भार्ये तस्य गुणाकरस्य विमले द्वे दान-पूजारते,
या ज्येष्ठा गुणपावना शशिमुखी नाम्ना हरो विश्रुता।
तस्या गर्भ-समुद्भवोऽस्ति नितरां यो नन्दनः शान्तधीः,
मान्यो राजसभा-सु सज्जनसभा-दासो ऋषीणां महान्।
वल्लभा तस्य संजाता रूप-रम्भा-विशेषतः।
भर्तानुगामिनी साध्वी नाम्ना लालमती शुभा ॥१६
टोडरस्य नृपस्य वरांगना लघुतरा गुण-दान-विराजिता।
विमलभापि कुसुंभमतीपुरा, अजनि पुत्रद्वयौ वरदायका
तेषां ज्येष्ठः सुकृत-निरतो मोहनाख्यो विवेकी,
भार्या [तस्य] सुकृत-निरता नामतो माथुरी या।
कान्त्या कामो वचन-सरसो रूप रूकमांगदोऽपि
भार्या गेहे कमलवदना भागमती भाग्यपूरा ॥१८॥
यः सर्वेषां गरिष्ठः स्यात् टोडराख्यः प्रसन्नधीः।
स्वामीति जम्बुनाथस्य तेन कारापितं शुभम् ॥१९॥

इस प्रशस्तिमें काष्ठासंघ परोपकार चतुर (माथुरगच्छ) और पुष्करगणके आचार्योंका उल्लेख करते हुए लोहाचार्यके वंशमें क्रमशः मलयकीर्ति, गुणभद्र, रवि (भानु)कीर्ति और कुमारसेनका पट्ट-परम्परासे उल्लेख किया है। और फिर यह बतलाया है कि कुमारसेनकी आम्नायमें पासा नामके साहू हुए, जिनकी स्त्रीका नाम घोषा था, जो साध्वी, जिन-चरणोंमें रत द्वितीय लक्ष्मी तथा सरस्वतीके समान थी। घोषासे टोडर नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसकी दो स्त्रियाँ थीं। ज्येष्ठा स्त्रीका नाम 'हरो' था और उसके गर्भसे ऋषि

(ऋषभ) दास नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था। लघु स्त्री कुसुम्भमती थी जिसके दो पुत्र थे। बड़ा पुत्र मोहनदास, जिसकी पत्नीका नाम माथुरी था और दूसरा पुत्र 'रूपमांगद,' जिसकी भार्याका नाम भाग्यवती था। इन सबमें गरिष्ठ साहू टोडरने जो प्रसन्न-बुद्धि था, प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना कराई है।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि साहू टोडरके लिखाये हुए जम्बूस्वामि-चरित्रकी प्रशस्तिसे यह मालूम होता है कि साहू टोडर अग्रवालवंशी गर्गगोत्री और भटानिया कोलके निवासी थे। प्रशस्तिमें उनकी एक ही स्त्री कंसूभीका नाम दिया है और उसके तीन पुत्र ऋषभदासादि प्रकट किये हैं। परन्तु यहाँ स्पष्ट रूपसे दो स्त्रियों का नामोल्लेख है और ऋषभदासको जिसे यहाँ ऋषिदास लिखा है पहली स्त्रीका पुत्र बतलाया है। जिसके दोनों नामोंकी उपलब्धि पंचाध्यायीकी उस प्रतिसे भी होती है जिसका परिचय अनेकान्तकी गत किरण नं० ३-४ में दिया गया है। उस प्रशस्तिमें रूपांगदको चिरंजीवी लिखा है और उसकी पत्नीका कोई नाम नहीं दिया, जिससे मालूम होता है कि जम्बूस्वामि-चरितकी रचनाके बाद चार वर्षके भीतर उसका विवाह हो चुका था, तभी उसकी स्त्रीका नाम इस पूजा-ग्रन्थकी प्रशस्तिमें दिया गया। जिसके सूचक दो पद्य इस प्रकार हैं :

मोहो यस्य न विद्यते गुणनिधेस्तावत्परं दुःखदः
संसारे सरतां न तस्य परमज्ञानाधिकस्यैव च।
सोऽयं श्रीजिनराजपावनमतेर्भूयात् सदाचारिणः
श्रीमट्टोडर-भावकस्य सततं कल्याणमारम्भकः॥
स्वामीति जम्बुभवतां पुनातु शांतिं च कांतिं वितनोतु नित्यं
पासा-वरे वंशशिरोमणीनां श्रीटोडरस्यस्य गुणाकरस्य

इनमेंसे पहला आशीर्वाद प्रशस्तिके पूर्वका और दूसरा आशीर्वाद ग्रन्थकी समाप्तिके अन्तका है। इस ग्रन्थमें पूजाके जो अष्टक जयमालादिके शुरूमें दिये हैं उनको पुनः प्रशस्तिके पूर्व भी दिया गया है। ग्रन्थकी पत्र-संख्या २० और श्लोक संख्या ८०० के लगभग है। यह ग्रन्थ-प्रति-सं० १८७७ में वैशाखसुदि अष्टमीको जयदेव नामके महात्माके द्वारा जोबनेरम लिखी गई है और अजमेरके पण्डित पन्नालालने इसे लिखवाया है। प्रति बहुत कुछ अशुद्ध है और उसीका यह परिणाम है कि 'जम्बूस्वामि-पूजा समाप्ता' के स्थान पर 'इनियं जबूद्वीपपूजा समाप्ता' लिखा गया है। इसकी दूसरी प्रतिकी खोज होनी चाहिये और यह ग्रन्थ शीघ्र ही छपाकर प्रकाशित किये जानेके योग्य है।

पीड़ित पशुओं की सभा

(श्रीमती जयवन्ती देवी)

एक खेतमें एक किसान हल जोत रहा था। दस बीघा जमीन जोत चुकने पर भी किसानने बैलोंको नहीं छोड़ा, और अधिक चलानेके लिये बाध्य करने लगा। परन्तु बैलोंके पैर न उठते थे तमाम शरीर दिन भरके परिश्रमसे क्लान्त हो गया था, भूख भी बड़े जोरसे लग रही थी, पर कृषकको दया न आई। स्वार्थ और लोभ जो सिर पर सवार था। वह डंडेसे पीटने लगा उस पर भी उन्हें चलते न देख उसमें लगी तीक्ष्ण आर बैलकी कूखमें निर्दयतापूर्वक घुसेड़ दी। बैल तड़प उठा, खूनकी धारा बड़े वेगसे वह चली वह धड़ामसे पृथ्वी पर गिर पड़ा।

एक मदमस्त हाथी पर स्वर्णमय हौदा सजाया गया. बहुत कीमती कारचोबी कपड़ा ओढ़ाया, चांदीकी घंटी लटकाई और पुष्पहारोंसे तथा अनेक प्रकारकी चित्रावलीसे गजराजको सुशोभित किया गया। क्योंकि उस पर राजा साहब बैठ कर विवाहके लिये जा रहे थे, नाना प्रकारके बाजे बज रहे थे, तरह-तरहके नृत्य हो रहे थे। हाथीका ध्यान आकर्षित हुआ और वह इधर उधर देखने लगा। तभी पीलवानने उसके सिरमें अंकुश लगा दिया। हाथी त्रस्त हो उठा और इन क्रूर एवं कृतघ्न मनुष्योंकी प्रवृत्ति पर सोचने लगा।

आखिरकार एक दिन उसने अपने भाई सभी पशु-पक्षियोंको एकत्रित कर एक सभा की। क्रमशः एकके बाद एकने अपना-अपना दुःख कहना प्रारम्भ किया।—बैल बोला—क्यों जी, हम दिन रात अथक परिश्रम करके, जमीन जोत कर अन्न उत्पन्न करते हैं जिसके बिना मनुष्य दो दिनमें तड़प जाता है और अन्तमें मर जाता है। फिर

भी उनका हमारे प्रति ऐसा निष्ठुर निर्दय व्यवहार क्यों? घोड़ा बोला—भाई देखो न, मनुष्य मेरी ही पीठ पर चढ़ कर बड़ी शानसे इठलाते इतराते चलते हैं और संग्राममें शत्रुओंको परास्त कर विजयी बनते हैं, पैदल चलने वालोंको बड़ी घृणाकी दृष्टि से देखते हैं, हमींसे गौरव प्राप्त करते हैं यदि हम न हों तो उनको यह शान कैसे बढ़े? फिर भी हमको ही कोड़ों-चाबुकोंसे पीटते हैं? हमने उनका आखिर क्या अपराध किया है?

यह सुन कर गाय, भैंस भी बोल उठीं—हां, भय्या! देखो न, हमारे बच्चोंको दूध पीनेसे छुड़ा कर एक तरफ खड़ा कर देते हैं जो उस दूधके पूरे हकदार हैं और जिनके लिये हम दूध पिलानेके बेलाकी घण्टोंकी प्रतीक्षा करती हैं उन दूधमुँहे बच्चोंको घसीट कर एक तरफ बांध कर खड़ा कर देते हैं और हमारा दूध दुह कर आप बड़े शौकसे दूध, चाय खोया, रबड़ी, रसगुल्ले चमचम आदि तरह तरहकी स्वादिष्ट मिठाइयां बना कर खाते और मौज उड़ाते हैं। भला कहो न, क्या बात है जो वे इतना अन्याय हमारे प्रति करें और हम चुप चाप उसे सहन करते रहें? जैसे वे खाते पीते सोते हैं और अपनी सन्तानके प्रति मोह रखते हैं, वैसे ही हम भी तो करते हैं?

यह सुन कर एक-एक कर सभी बोल उठे—अरे भाई! मनुष्योंकी तो बात ही क्या, हमारे बिना तो तीर्थंकरोंकी भी पहचान नहीं होती। जिनके चरण कमलोंमें राजा, महाराजा इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि सभी सिर झुकाते हैं और जिनके चरणोंकी शरण प्राप्त करनेमें अपना अहोभाग्य समझते हैं उन तीर्थंकरोंके सन्निकट रहते हुए भी ये हमारी कद्र करना नहीं जानते। हम तो अब इस तरह संकटापन्न जीवन नहीं बिताएँगे। अब तो अन्यायका प्रतीकार करना ही होगा कि हम तो रात दिन दुख उठावें और सब आनन्द उड़ावें!

अब प्रश्न यह हुआ कि यह निर्णय कैसे हो? अन्तमें सभीने कहा कि चलो, उपवनमें जो महात्मा ध्यान लगाये बैठे हैं उनसे ही यह निर्णय करवायें। क्योंकि वे त्यागी वैरागी हैं, उन्हें किसीका पक्षपात नहीं। अतः उन्हींकी बात प्रमाणित माननी होगी। इसलिये सब मिल कर उनके चरणोंके समीप शान्ति पूर्वक जा बैठे। महात्मा जब ध्यानसे उठे तो उन्होंने अपनी रामकहानी कही। समता-रस भोगी साधुने उन्हें सान्त्वना देते हुए बतलाया कि—

देखो, भाई! पूर्व जन्ममें तुम लोगोंने छल कपटकी वृत्ति रक्खी, बहुतसे पाप कर्म किये, लोगोंको धोखा दिया, अन्याय किया, पर धन चुराया, विश्वासघात किया, मांस-भक्षण किया, अपना शौक पूरा करनेके लिये दूसरोंका शिकार किया, निःकारण कौतुहलवश अनेक निरपराध पशु-पक्षियोंको सताया, तोते आदि जानवरोंको कैदमें-पिंजरे-में बन्द रक्खा, उसीके फल स्वरूप तुम्हें यहांसे दुख उठाने पड़ रहे हैं यदि कुछ भी धर्मसाधन किया होता तो आज मनुष्योंकी तरह तुम भी सुखी होते। अब भी—इस पर्यायमें भी छल-कपट ईर्ष्या कलह, द्वेषका त्याग करो हिंसाको छोड़ो, समता भाव धारण करो जिससे फिर तिर्यंच जातिमें जन्म न हो और तज्जन्य दुःखोंसे निवृत्ति हो।

आज जो मनुष्य तुम पर अन्याचार कर रहे हैं और असह्य यातनाएँ दे रहे हैं, उसका फल आगामी जन्ममें उन्हें भी तुम्हारे ही समान भोगना पड़ेगा। इसलिए इस वक्त तुम लोग शान्ति पूर्वक अपने उदयमें आये हुए कर्मोंके फलको भोगो और पूर्वजन्ममें किये हुये दुष्कर्मोंकी निन्दा करो, तथा आगेके लिए प्रतिज्ञा करो कि हम अब भूल करके भी ऐसे पाप कर्म नहीं करेंगे। इस जन्ममें तुम लोग यद्यपि असहाय हो, तथापि परस्परमें जितनी भी जिस किसी प्रकारसे एक दूसरेकी सहायता कर सको, उसे करो। इससे तुम्हारे पाप कर्म जल्दी दूर हो जायेंगे और मनुष्योंके अन्याचारोंसे तुम्हें मुक्ति मिल जावेगी। साधुकी प्रेमभरी मधुर वाणी सुन करके सभी पशु पक्षियोंकी भीतरी आँखें खुल गईं और उन्होंने अपने-अपने मनमें प्रतिज्ञा की कि आगेसे हम किसीको भी नहीं सतायेंगे और जितनी बनेगी दूसरोंकी सहायता करेंगे।

संस्कारोंका प्रभाव

(श्री पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री)

मनुष्य ही क्या, प्राणिमात्रके ऊपर उसके चारों ओरके वातावरणका प्रभाव पड़ा करता है। फिर जो जीव जिस प्रकारकी भावना निरन्तर करता रहता है, उसका तो असर उस पर नियमसे होता ही है। इसी तथ्यको दृष्टिमें रख कर हमारे महर्षियोंने यह सूक्ति कही—

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।'

अर्थात् जिस जीवकी जिस प्रकारकी भावना निरन्तर रहती है, उसे उसी प्रकारकी सिद्धि प्राप्त होती है। मनुष्यकी भावनाओंका प्रभाव उसके दैनिक जीवन पर स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य जिस प्रकारके विचारोंसे निरन्तर ओत-प्रोत रहेगा, उसका आहार-विहार और रहन-सहन भी वैसा ही हो जायगा। यही नहीं, मनुष्यके प्रतिक्षण बदलने वाले विचारोंका भी असर उसके चेहरे पर साफ-साफ नजर आने लगता है। इसीलिये हमारे आचार्यो को कहना पड़ा कि—

'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्'

अर्थात् मुख मनकी बातको व्यक्त कर देता है। प्रतिक्षण होने वाले इन मानसिक विचारोंका प्रभाव उसके वाचनिक और कायिक क्रियाओं पर भी पड़ता है। और उनके द्वारा लोगोंके भले बुरे विचारोंका पता चलता है।

आजके मनोविज्ञानने यह भले प्रकार प्रमाणित कर दिया है कि विचारोंका प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ा करता है। विचार जितने गहरे होंगे और प्रचुरतासे होंगे, आत्माके ऊपर उनका उतना ही दृढ संस्कार पड़ेगा। किसी भी प्रकारके विचारोंका संस्कार जितना दृढ होगा, उसका प्रभाव आत्मा पर उतने ही अधिक काल तक रहता है। जिस प्रकार बचपनमें अभ्यस्त विद्या बुढ़ापे तक याद रहती है, उसी प्रकार बुढ़ापेमें या जीवनके अन्तमें पड़े हुए संस्कार जन्मान्तरमें भी साथ जाते हैं और वहां पर वे जरा सा निमित्त मिलने पर प्रकट हो जाते हैं। उदाहरणके तौर पर हम बालशास्त्रीको ले सकते हैं। कहते हैं कि वे १२ वर्षकी अवस्थामें ही वेद-वेदाङ्गके पारगामी हो गये थे। इतनी छोटी अवस्थामें उनका वेद-वेदाङ्गमें पारगामी होना यह सिद्ध करता है कि वे इससे पहले भी मनुष्य थे और पठन-पाठन करते हुए ही उनकी मृत्यु हो गई। उनके पठन-पाठनके संस्कार ज्योंके त्यों बने रहे, और इस भवमें वे समस्त संस्कार बहुत शीघ्र बालपनमें ही प्रकट होगये।

दूसरा उदाहरण मास्टर मनहर का लीजिये—जो बचपनमें ही संगीत और वाद्यकलामें निपुण हो गया था। उसकी बचपनमें प्रकट हुई प्रतिभा उसके पूर्वजन्मके संस्कारोंकी आभारी है। तीर्थंकरोंका जन्मसे ही तीन ज्ञानका धारी होना पूर्वजन्मके संस्कारोंका ही तो फल है। किसी व्यक्ति विशेषमें हमें जो जन्म-जात विशेषता दृष्टिगोचर होती है, वह पूर्वजन्मके संस्कारोंका ही फल समझना चाहिये।

आज हम जो जैन कुलमें उत्पन्न हुए हैं और जन्मकालसे ही हमारे भीतर जो मांस-मदिराके खान-पानके प्रति घृणा है, वह भी पूर्वजन्मके संस्कारोंका प्रभाव है। हम निश्चयतः यह कह सकते हैं कि पूर्वजन्ममें हमारे भीतर मांस-मदिराके खान-पानके प्रति घृणाका भाव था और हम पूर्व भवमें ऐसे विचारोंसे ओत-प्रोत थे कि जन्मान्तरमें भी हमारा जन्म मद्य-मांस-भोजियोंके कुलमें न हो। उन विचारोंके संस्कारोंका ही यह प्रभाव है कि हमारा जन्म हमारी भावनाओंके अनुरूप ही निरामिष भोजियोंके कुलमें हुआ। अब यदि वर्तमान भवमें भी हमारे उक्त संस्कार उत्तरोत्तर दृढ होते जायेंगे और हमारे भीतर मद्य-मांस-सेवनके प्रति उत्कट घृणा मनमें बनी रहेगी, तो इतना निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि हमारा भावी जन्म भी निरामिष-भोजी उच्चकुलमें ही होगा। यही बात रात्रिभोजनके विषयमें भी लागू है। पूर्व जन्ममें हमारे भीतर रात्रिमें नहीं खानेके संस्कार पड़े, फलतः हम अनस्तमित-दिवा-भोजियोंके कुलमें उत्पन्न हुए। पर यदि आज हम देश-कालकी परिस्थितिसे या स्वयं प्रमादी बनकर रात्रिमें भोजन करने लगे हैं और रात्रि-भोजनके प्रति हमारे हृदयमें कोई घृणा नहीं रही है, केवल मांस-मदिराके खान-पानके प्रति ही घृणा रह गई है, तो कहा जा सकता है कि हमारा भावी जन्म ऐसे कुलमें होगा—जहां पर कि मांस-मदिराका तो खान-पान नहीं है, किन्तु रात्रि-भोजनका प्रचलन अवश्य है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न संस्कारोंकी बात जानना चाहिए।

पूर्व जन्मकी घटनाओंका स्मरण होना भी दृढ संस्कारोंका ही फल है। इसलिये हमें अपने भीतर सदा अच्छे संस्कार डालना चाहिये, जिससे इस जन्ममें भी हमारा उत्तरोत्तर विकास हो और आगामी भवमें भी हमारा जन्म उत्तम सुसंस्कृत कुलमें हो।

छन्द-कोष और शील-संरक्षणोपाय छप चुके

(श्री अगरचन्द नाहटा)

अनेकान्तके १४वें वर्षसे माननीय श्रीजुगलकिशोर जी मुख्तारने, अजमेरके शास्त्रभण्डारमें जो ग्रन्थ उन्हें महत्वपूर्ण व अप्रसिद्ध ज्ञात हुए उनका परिचय "पुराने साहित्यकी खोज" शीर्षक लेखमालामें देना प्रारम्भ किया है। वस्तुतः अजमेरके शास्त्र-संग्रहमें सौ से भी अधिक अप्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जैसा कि मैंने मुख्तार साहबके पास उक्त शास्त्र-भण्डारकी कार्डोके रूपमें सूची देखकर निश्चय किया। इस भण्डारमें केवल दिगम्बर-ग्रन्थ ही नहीं पर कुछ श्वेताम्बर रचनाओंकी भी प्रतियाँ ऐसी मिली हैं—जो श्वेताम्बर-भण्डारोंमें भी मेरे देखनेमें नहीं आई। इस दृष्टिसे यह भण्डार बहुत महत्वपूर्ण है और मुख्तार साहबने जो यह लेख-माला चालू की है वह भी बहुत ही जरूरी और उपयोगी है।

अनेकान्तके गत जनवरी अंकमें इस लेखमाला के अन्तर्गत 'प्राकृत-छन्द-कोष', 'पिंगल-चतुरशीति-रूपक' और 'विधवा-शील-संरक्षणोपाय' नामक तीन रचनाओंको अनुपलब्ध समझकर परिचय दिया है। वास्तवमें प्राकृत-छन्द-कोष और विधवा-शील-संरक्षणोपाय ये दो रचनाएँ तो अन्यत्र उपलब्ध ही नहीं हैं किन्तु छप भी चुकी हैं और पिंगल-चतुरशीति-रूपक यद्यपि अभी प्रकाशित तो नहीं हुआ पर इसकी कई प्रतियाँ अन्य संग्रहालयोंमें भी प्राप्त हैं।

प्राकृत-छन्दकोषमें वैसे तो ग्रन्थकारने अपना स्पष्ट नाम नहीं दिया, पर इसकी टीका चन्द्रकीर्ति-सूरि-विरचित हमारे संग्रहमें व अन्य भण्डारोंमें प्राप्त है, उसके अनुसार यह नागपुरीय तपागच्छके रत्नशेखर सूरि-द्वारा रचित है। टीकाके मंगला-चरणके दूसरे श्लोकमें और मूलग्रंथके अन्तिम श्लोककी टीकामें इसका स्पष्ट निर्देश है—

छंदकोषाभिधानस्य सूरिश्रीरत्नशेखरैः।
कृतस्य क्रियते टीका बोधनायाल्पमेधसाम् ॥२॥

टी०- इति पूर्वोक्तप्रकारेण छन्दसां कतिपय-नामानि कतिचिदभिधानानि सुप्रसिद्धानि जनविदितानि इह छन्दःकोषाभिधाने छन्दशास्त्रे भणितानि। श्रीमन्नागपुरीय-तपागच्छ-गगनमण्डल नभो-मणिश्री-वज्रसेनसूरि-शिष्यश्रीहेमतिलकसूरि-पट्ट-प्रतिष्ठित श्री-रत्नशेखर-सूरिभिः कथितानीति। कीदृशानि तानि लक्ष्यलक्षण-युतानि। लक्ष्याणि छन्दांसि लक्षणानि गणमात्रादीनि ततो लक्ष्यैः लक्षणैश्चयुतानि सहितानि समाप्ता चेयं श्रीरत्नशेखर-सूरि-संतानीयश्री-राजरत्न-पट्टस्थित-श्रीचन्द्रकीर्तिसूरि-विरचित-छन्दः-कोष-नामग्रन्थस्य टीका। इति श्रीछंद-कोष-टीका॥

टीकाकार ग्रन्थकारकी परम्पराके ही हैं और रत्नशेखरसूरि और चन्द्रकीर्तिसूरि दोनों ही सुप्र-सिद्ध विद्वान ग्रंथकार हैं। छन्दकोष मूल रूपमें प्रोफेसर हरि दामोदर वेलंकरने सम्पादित करके बम्बई युनीवर्सिटी जरनलके मई १९३३ के अंकमें प्रकाशित किया था। इससे पहले सन् १९२२ में डब्ल्यू सुब्रहि्मने प्रकाशित किया था। इसकी टीका-की प्रतियाँ तो काफी मिलती हैं, पर शायद अभी तक प्रकाशित नहीं हुई।

'विधवा-शील-संरक्षणोपाय' १७वीं शताब्दीकी लिखी हुई एक ताड़पत्रीय प्रतिमें विधवा कुलकके नामसे मिला था। वह प्रति पाटण-भण्डारकी थी। यह विधवा-कुलक कोई अट्ठाईस-तीस वर्ष पहले, भावनगरसे 'जैनधर्मप्रकाश'में गुजराती अनुवादके साथ प्रकाशित हुआ था। जब सम्वत् १९८५ में मैंने उसे देखा, तो मुझे वह बहुत उपयोगी लगा। मैंने इन दस गाथाओं पर हिन्दीमें अपनी उस समयकी बुद्धिके अनुसार २६ पृष्ठोंमें विवेचन लिखा और विधवाओंके कर्तव्य-संबंधी अपने स्वतंत्र विचार देकर ६८ पृष्ठोंकी एक पुस्तिका अपनी अभय जैन ग्रन्थ-मालासे विधवा-कर्तव्यके नामसे प्रकाशित की। ग्रन्थ-लेखनके रूपमें मेरी यह सर्वप्रथम रचना थी। इस तरह विधवाशील-संरक्षणोपाय रचना भी गुजराती व हिन्दी अनुवाद व विवेचनके साथ अट्ठाईस-तीस वर्ष पहिले ही प्रकाशित हो चुकी है। पिंगल-चतुरशीति-रूपककी 'अनूप संस्कृत लायब्रेरी' व अन्य संग्रहालयोंमें कई प्रतियाँ प्राप्त हैं।

साहित्य परिचय और समालोचन

१ जैन साहित्य और इतिहास—लेखक पं. नाथूरामजी प्रेमी, प्रकाशक यशोधर मोदी, विद्याधर मोदी, व्यवस्थापक संशोधित साहित्यमाला ठाकुर द्वार बम्बई २। पृष्ठ संख्या ६३० मूल्य सजिल्द प्रतिका ७) रु०।

इस ग्रन्थमें जैन साहित्य और इतिहासका परिचय कराया गया है। जिनमें अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ताओंके परिचयके साथ तीर्थ क्षेत्रोंका भी ऐतिहासिक परिचय दिया गया है। श्रद्धेय प्रेमीजी जैन समाजके ही नहीं किन्तु हिन्दी साहित्य-संसारके सुयोग्य लेखक और प्रकाशक हैं। आपने अपने जीवनमें साहित्यकी बहुमूल्य सेवा की है जो चिरस्मरणीय रहेगी। आप समाजके उन व्यक्तियोंमें से हैं, जिन्होंने समाजको चेतना दी और उसके विकासके लिए क्रान्तिको जन्म दिया। आजके प्रायः जैन विद्वानोंके आप मार्गदर्शक हैं। आपने अपनी इस वृद्ध अवस्थामें भी अनवरत परिश्रम करके उक्त ग्रन्थको पुनः व्यवस्थितकर प्रकाशित किया है। यह संस्करण प्रथम संस्करणका ही संशोधित, परिवर्द्धित और परिवर्तित रूप है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अनावश्यक विस्तारको स्थान नहीं दिया गया, किन्तु उसके स्थान पर अन्य अनेक सामग्री यत्र-तत्र संनिविष्ट कर दी गई है। लेखोंका चयन और संशोधन करते हुए प्रेमीजी ने इस बातका खास ध्यान रखा मालूम होता है कि लेखोंमें चर्चित विषय स्पष्ट और संक्षिप्त हो किन्तु व्यर्थकी कलेवर वृद्धि न हो। वे इसमें कहां तक सफल हुए हैं इसका पाठक स्वयं निर्णय करेंगे। परन्तु इससे प्रस्तुत संस्करणकी उपयोगिता बढ़ गई है। हां, लेखोंका संशोधन करते हुए प्रेमीजी ने अपनी मान्यता विषयक पिछली बातोंको ज्यों का त्यों ही रहने दिया है। जब कि उन मान्यताओंके प्रतिकूल कितनी ही प्रामाणिक सामग्री और युक्तियां प्रकाशमें लाई जा चुकी हैं जिन पर प्रेमीजीको विचार करना जरूरी था; किन्तु आपने उनकी उपेक्षा कर दी है, जिससे पाठकोंको भ्रम या गलतफ़हमी हो सकती है। यदि आप उन पर प्रामाणिक विचार उपस्थित करते तो वस्तु-स्थितिका यथार्थ निर्णय कर विवादास्पद उलझनें भी सुलझ जातीं।

इस लेख संग्रहमें जहां लेखोंका संशोधन परिवर्द्धन कर सुरुचि पूर्ण बनाया गया है वहां अन्य नवीन लेखोंका संकलन भी परिशिष्टके रूपमें दे दिया गया है। जिनमें से प्रथम लेखमें तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थ भाष्यको उमास्वातिकी स्वोपज्ञ कृति बतलाते हुए उन्हें यापनीय संघका विद्वान सूचित किया गया है। जो विचारणीय है। इस तरह उक्त संस्करण अपनी विशेषताओं के कारण महत्त्वपूर्ण हो गया है। इसके लिए प्रेमीजी धन्यवादके पात्र हैं। मेरी हार्दिक कामना है कि वे शतवर्ष जीवी हों। ग्रन्थकी छपाई चित्ताकर्षक है। पाठकोंको इसे मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

२ जैनशासनका मर्म—लेखक पं० सुमेरचन्द्रजी दिवाकर, बी० ए० एल० एल० बी०, प्रकाशक—शान्ति-प्रकाशन, सिवनी (म० प्र०) पृष्ठसंख्या १०४।

प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकके पांच लेखोंका संग्रह है। १ शान्तिकी खोज २ धर्म और उसकी आवश्यकता ३ विश्वनिर्माता ४ विश्वविचार ५ और अहिंसा। आप एक अच्छे वक्ता और सुलेखक हैं तथा समाजके निस्वार्थ-सेवक। पुस्तक गत सभी लेख पठनीय और मननीय हैं। लेखोंकी भाषा सरल और मुहावरेदार है। इसके लिये लेखक महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं।

३—अगुआ और वनफ्शेका फूल—मूल लेखक खलीफ जिब्रान। अनुवादक बाबू माई दयाल जैन। प्रकाशक सुबुद्धिनाथ जैन, राजहंस प्रकाशन सदर बाजार दिल्ली ६, पृष्ठसंख्या ५६८ मूल्य ३) रुपया।

यह पुस्तक सीरियाके प्रसिद्ध लेखक और विद्वान खलील जिब्रानकी ४४ कहानियोंका हिन्दी संस्करण है। जिसके अनुवादक बाबू माईदयालजी जैन बी० ए० बी० टी० हैं। कहानियां सुन्दर और चित्ताकर्षक हैं, अनुवादकी भाषा सरल और मुहावरेदार है और उसे पढ़ते हुए मूल जैसा ही आनन्द आता है। पुस्तकका कलेवर देखते हुए मूल्य कुछ अधिक जान पड़ता है। इसके लिए अनुवादक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

—परमानन्द जैन

★

सिरि कट्ठसंघ माहुरहो गच्छि,*
पुक्खर-गण मुणिवरवई विलच्छि ।
संजायउ वीर जिणुक्कमेण,
परिवाडिए जइवर णिहयएण ।
सिरि देवसेणु तह विमलसेणु,
तह धम्मसेणु पुणु भावसेणु ।
तहो पट्टि उवण्णउ सहसकित्ति,
अणवरय भमिय जए जासु कित्ति ।
तह विक्खायउ मुणि गुणकित्ति णामु,
तव-तेएं जासु सरीरु खामु ।
तहो णय बंधउ जसकित्ति जाउ
आयरिय णमिय दोसु-राउ ।
तें णय बुद्धिए विरइयउ गंथु,
भवियहं दाविय-सुह-मग्ग-पंथु ।

(प्रति आमेर और देहली पंचायती मंदिर शास्त्रभंडारसे, सं० १६१२, सं० १६६१)

२२ हरिवंशपुराण

(भ० यशःकीर्ति) रचनाकाल सं० १५००

आदिभागः—

पयडिय जयहंसहो कुणयविहंसहो भविय-कमल-सरहंसहो ।
पणविवि जिणहंसहो मुणियसहंसहो कह पयडमि हरिवंसहो ॥

जय रिसह रिसकिय रिस पयास,
जय अजिय-अजिय हय-कम्मपास ।
जय संभव भव-तरुवर-कुठार,
जय अभिणंदण परिसेसिय कुणारि ।
जय सुमइ सुमय पयडिय-पयत्थ,
जय पउमप्पह णासिय-कुतित्थ ।
जय जय सुपास हय-कम्मपास,
जय चंदप्पह ससि-भास-भास ।
जय सुविहि सुविहि-पयडण-पवीण,
जय सीयल जिण वाणी-पवीण ।
जय सेय-सेय किय-विगय-सेय,
जय वासुपुज्ज भव-जलहि सेय ।
जय विमल विमल गुण-गण-महंत,
जय संत दंत जिणवर अणंत ।
जय धम्म धम्म विस हरिय ताव,
जय संति समिय-संसार-भाव ।
जय कुंथु सुरक्खिय-सुहुम-पाणि,
जय अरिजिण चक्की सयल-णाणि ।
जय मल्लि णिहय-तिल्लोक-मल्ल,
जय मुणिसुव्वय चूरिय-ति-सल्ल ।
जय णमि जिण विस-रह-चक्कणेमि,
जय जहिय राय रायमइ णेमि ।
जय पास असुर-णिम्महिय-माण,
जय वीर विहासिय-णाय-पमाण ।

घत्ता—

पुणु विगय-सरीर गय-भवतीर तीस छह गुण सूरिवरा ।
उवज्झाय सुमाहू हुय सिवलाहू पणविवि पयडमि कह पवरा ॥१

पुव्व पुराण अत्थु अइ वित्थरु,
काल-पहावें भवियहं दुत्तरु ।
अयरवाल-कुल-कमल-दिणेसरु,
दिउचंदु साहु भविय-जण-मणहरु ।
तासु सज्ज वालुहिइ भणिज्जइ,
दाण गुणहिं लोएहि थुणिज्जइ ।
सच्च-सील-आहरणहिं सोहिय,
भारु सुणिवि कंचणहिं ण मोहिय ।
ताहि पुत्तु विण्णाण वियाणउ,
दिउढा णामधेउ हु जाणउ ।
तहो उवरोहें मइ यहु पारद्धउ,
णिसुणहु भवियण-अत्थ-विसुद्धउ ।
जासु सुणंतहं सहारउ-छिज्जइ,
सग्गापवग्गहं सुह-संपज्जइ ।
अइ महंतु पिक्खवि जणु संकिउ,
ता हरिवंसु सहंसि ओहिंकिउ ।
सह-अत्थ-संबंध-फुरंतउ,
जिणसेणहो सुत्तहो यहु पयडिउ ।
तहु सोसु वि गुणभद्द वि मुणिंदु,

---

*प्रशस्तिका यह भाग आमेर प्रतिमें नहीं है, प्रति-लेखकोंकी कृपासे छूट गया जान पड़ता है । किन्तु पंचायती मंदिर देहली के शास्त्र-भंडारकी प्रतिमें मौजूद है, उसी पर से यहां दिया गया है ।

वाईहिं कुंभदारण-मयंधु[1]।
सज्जण-दुज्जण-भउ अवगणिणवि,
ते णिय-णिय सहाव-रय दोण्णिवि।
कडुयउ-णिंबु महुरु इंगाली,
अंबिलु बीयपूर-चिंचाली।
तिह सज्जण सुसहावें वच्छलु,
दुज्जणु दुत्थु गहइ कवियण छलु।
खेउ दोसु सो मई मोकल्लिउ,
जइ पिक्खइ ता अच्छउ सल्लिउ।

× × ×

अन्तिमभागः—

इहु हरिवंसु सत्थु मइ अक्खिउ,
कुरुवंसहो समेउ णउ रक्खिउ।
पढमहि पयडिउ वीर-जिणेंदे,
सेणियरायहो कुवलय-चंदें।
गोयमेण पुणु किय सोहम्में,
जंबूसामि विण्हु सणामें।
णंदिमित्त अवरज्जिय णाहें,
गोवद्धणेण सु भद्दबाहें।
एम परंपराए अणुलग्गउ,
आइरियहं मुहाउ आवग्गउ।
सुणि संखेव सुत्तु अवहारिउ,
मुणि जसकित्ति महिहि वित्थारउ।
पद्धडिया छंदें सुमणोहरु,
भवियण-जण-मण-सवण-सुहंकरु।
करि वि पुराणु भवियहं वक्खाणिउ,
दिढु मिच्छत्तु मोह-अवमाणिउ।
जो इउ चरिउ वि पढइ पढावइ,
वक्खाणेप्पिणु भवियहं दावइ।
पुणु पुणु सद्दहेइ समभावें,
सो मुच्चइ पुव्वक्किय-पावें।
जो आयरइ ति-सुद्धि करेप्पिणु,
सो सिउ लहइ कम्म छेदेप्पिणु।
जोणु एम चित्तु णिसुणेसइ
सग्गु-मोक्खु सो सिग्घु लहेसइ।

एउ पुराणु भवियहं आसासइ,
आयु-बुद्धि-बलु-रिद्धि पयासइ।
वइरिउ मित्तत्तणु दरिसावइ,
रज्जत्थिउ विरज्जु संपावइ।
इट्ठ समागमु लाइ सुहाइवि,
देवदिंति वरु मच्छरु मुंचिवि।
गह साणुग्गह सयल पयट्टहिं,
मिच्छाभाव खणद्धें तुट्टहिं।
आवइ सव्व जाहिं खम भावें,
सुह-विलास घरि होहि सदावें।
पुत्त-कलित्तत्थियहं सुपुत्तइं,
सग्गत्थियहं अणु हुज्जइ।
जो जं इच्छइ सो तं पावइ,
देसंतरि गउ णिय घरि आवइ।
भवियण संबोहणहं णिमित्तें,
एउ गंथु किउ णिम्मल-चित्तें।
णउ कवित्त कित्तहें धणलोहें,
णउ कासुवरि पवड्ढियमोहें।
इंदउ रहिएउ हुउ संपुण्णउ,
रज्जे जलालखान कय उण्णउ।
कम्मक्खय णिमित्तु णिरवेक्खें,
विरइउ केवल धम्मह पक्खें।
अत्थ-विरुद्धु जं जि इह साहिउ,
तं सुयदेवि खमउ अवराहउ।
णंदउ णरवइ णाय सपत्तउ,
सहुता उवणिय पय पालंतउ।
णंदउ जिणवर सासणु बहुगुणु,
णंदउ मुणिगणु तह सावय जणु।
कालि कालि कालिंविणि वरिसउ,
णच्चउ कामिणि गोमिणि विलसउ।
पसरउ मंगलु वज्जउ मद्दलु,
णंदउ दिउढासाहु गुणग्गलु।
जावहि चंदु सूरु तारायणु,
णंदउ ताम गंथु रंजिय जणु।
विक्कमरायहो ववगय कालइं,
महि इंदिय दुसुण्ण अंकालइं।
भादवि सिय एयारसि गुरुदिणे,
हुउ परिपुण्णउ उग्गंतहिं इणे।

---

१ यह पंक्ति आमेर प्रतिमें नहीं है, किन्तु पंचायती मंदिर देहली भंडारकी प्रतिमें पाई जाती है।

सय चालीस संख स-मायाहु,
गंथ-पमाणु अणुट्ठहं जाणहु ।

घत्ता—

हरिवंसु एहु मइं वज्जरिउ हरिबलणेमहिं चरिउ विसिट्ठिउ।
परिवाडिए कहिउ मुणीसरहं तं तिह भवियहं सिट्ठउ ॥

इह कट्ठसंघे माहुरहं गच्छि,
पुक्खरगणे मुणिवर-वइ विलच्छि।
संजाया वीर जिणुक्कमेण,
परिवाडिय जइवर णिहयएण ।
सिरि देवसेणु तह विमलसेणु,
मुणि धम्मसेणु तह भावसेणु ।
तहो पट्ट उवण्णउ सहसकित्ति,
अणवरय भमिय जए जासु किति ।
तहो सीसु सिद्धु गुणकित्ति णासु,
तव-तेएं जासु सरीरु खामु ।
तहो बंधउ जस मुणि सीसु राउ,
आयरिय पणासिय दोसु-गउ ।
तहो पट्टय सिट्ठउ मलयकित्ति,
मलधारि मुणीसरु पयडिकित्ति ।
तहं अवणइं मातउ दिण्णा चाउ,
आसीवालु विज्जय णायहु जाउ ।
इह जोयणिपुरु बहु पुर हंसारु,
धण-धण्ण-सुवण्ण-णारेहिं फारु ।
सरि-सर-वण-उववण-गिरि-विसालु,
गंभीर परिह उत्तुंगु सालु ।
जउणाणइ तहो पासिहि वहंति,
णर-णारि जत्थ कीडंति णहंति ।
जहिं घरि-घरि ईसर भूइ-जुत्त,
घरि घरि णिय णिय-गोरीहिं रत्त ।
अणवरउ जत्थ वट्टइ सुभिक्खु,
णउ चोरु-मारि णउ ईय-दुक्खु ।
जहिं कालि कालि वरिसंति मेह,
णंदहिं णायर-जण जणिय-णेह ।
जहिं चेयालउ उत्तुंगु वंदु,
धय-रयण-स-घंटहिं णं करिंदु ।
जिण-पडिमा-मंडिउ विगय-मयणु,
कइलासु व उच्चउ सेय-वण्णु ।

घत्ता—

तहिं जिणवर-मंदिर णयणाणंदिरि, आइवि रिसि सुह अच्छहिं
सावय-वय-पालहिं जिणु जयकारहिं सावय दाणु पयत्थहिं ॥

जहिं डूंगर पंडिउ अइ सुदक्खु,
अणुदिणु परिपोसइ धम्मु-पक्खु ।
तहिं अयरवाल-वंसहं पहाणु
सिरि गग्ग-गोत्त णं सेय भाणु ।
जं रूवें वे णिज्जिय काम-बाणु,
दिउचंद साहु किय पत्त-दाणु ।
भत्तारहो भत्तिय इट्ठु पत्ति,
बालुहिय णाम णय-विणय-जुत्ति ।
तहि णंदण चत्तारि वि महत,
संघही दिउढा-डूमाहिं जुत्त
जो पढम गुणग्गलु आसराउ,
णिय पिय तोसउही बहुराउ ।
सुउ चोचा जिण-सुय-भत्त साहु,
पिय यम वीघाही बहुगाहु ।
पुणु दिवचंद भज्जहिं गब्भहूउ,
गुण अग्गलु देओ णाम बीउ ।
देओ पिय परिहुव महुर-वाणि,
णय-सच्च-सील-गुण-रयण खाणि ।
खूतू णामें जिणमय विणीय,
कीलंतहं सा णंदण पसूय ।
मोल्हणु लखमणु तहं गोइंद दक्खु,
दाणेकचित्तु णं कप्परुक्खु ।
देओ बीया भज्जा गुणंग,
वेदो णामें सव्वंग चंग ।
जिण-सासण वच्छल सुद्धभाव,
जिण-पूय-दाण-रय-रिउ सहाव ।
गोइंद पिय ओल्ही गुण-महंतु,
पिय-पाय-भत्तु जिणायासु-पुत्तु ।
दिउढा साहुहिं पिय-अइ-विणीय,
पूल्हाही सइ सीलेण सीय ।
तहं लाडो णामें अवर भज्ज,
संघहं विणयायर अइ सलज्ज ।
भत्तारहो भत्तिय विणयवंति,
रूवें रइ पिय इव कणय-कंति ।

तहो पुत्त वीरदासुवि गुणंगु,
पिय साधाही रूवं अणगु ।
तहो णंदणु णामें उदयचंदु,
पिय-माय-कुमुयवणाणइ इंदु ।
तुरियउ णंदणु डूमामयत्तु
पाहुलही पिय करमसिंह वुत्तु ।

घत्ता—

एयाहिं मज्झि णंदणु तइओ, दिउचंद साहुहिं कियणिज्जइ ।
दिउढाणामें सुद्धमणु सिट्ठि सुदंसणु इव जाणिज्जइ ।

अरहंतुवि एक्कु जि जो झायइ,
ववहार सुद्धणउ भ वइ ।
जो तियाल रयणत्तउ अंचइ,
चउ णिओय रुइ कहव ण मुच्चइ ।
चउविह संघहं दाणु कयायरु,
मंगल उत्तम सरण विणय-परु ।
जिणवरु थुइवि तिकालहिं अंचइ,
धणु ण गणेइ धम्म-धणु संचइ ।
जो परमेट्ठि पंच आराहइ,
पंचवि इंदिय-विसयइं साहइ ।
जो मिच्छत्त पंच अवगण्णइ,
पंचम गइ णिवासु मणि मण्णइ ।
जो अणुदिणु छक्कम्म णिवाहइ,
दाण-पूय-गुरु-भत्तिहिं साहइ ।
जो छज्जीव-निकायहं रक्खइ,
छह दव्वहं गुण-भाव णिरक्खइ ।
सत्त-तच्च जो णिच्चाराहइ,
सत्त-वसण दूरेण पमायइ ।
सत्तवि दायारह गुणजुत्तउ,
इह परसत्त भयहं जो चत्तउ ।
अट्ठ मूलगुण जो परिपालइ,
उत्तर गुण सयल वि संभालइ ।
सइंसण-अट्ठंग-रयण-धरु,
मज्ज-दोसु परिवज्जण-तप्परु ।
णव णव णयवि पयत्थइं बुज्झइ,
दह-विह धम्मग्गहण वि रुच्चइ ।
एयारह पडिमउं जो पालइ,
बारह वयइं णिच्च उज्जालइ ।
जो बारह भावण अणुचिंतइ,
अप्प-सरूव भिण्णु तणु मण्णइ ।
दिउढा जसमुणि पत्थि पवित्तुवि,
काराविउ हरिवंसु-चरित्तुवि ।

घत्ता—

जामहिं णहु सायरु चंदु दिवायरु ता णंदउ दिउढा हु कुलु ।
जें विण्हुहि चरियउ कुरु-वंसहं सहियउ काराविउ हय-पाव मलु ।

इय हरिवंसपुराणे कुरुवंस-साहिट्ठिए विबुह-चित्ताणु-रंजण-सिरिगुणकित्ति-सीसु मुणिजसकित्ति-विरइए साधु-दिउढा णामंकिए णेमिणाह-जुहिट्ठिर-भीमाज्जुण-णिव्वाण-गमण (तहा) णकुल सहदेव सव्वट्ठसिद्धि-गमण-वण्णणो णाम तेरहमो सग्गो समत्तो ॥ संधि १३ ॥

(लिपि सं. १६४४ पंचायती मंदिर दिल्ली शास्त्र भंडारसे)

२३—जिणरत्ति कहा (जिनरात्रिव्रत कथा)

भट्टारक यशःकीर्ति

आदिभाग :—

पणविवि सिरिमंतहो अइसय-जुत्तहो वीरहो णासिय-पावमलु ।
णिच्चल मण भव्वहं वियलिय-गव्वहं अक्खमि फुडु जिण-रत्ति फलु ।

परमेट्ठि पंच पणविवि महंत,
तइलोय णमिय भव-भय कयंत ।
जिण-वयण-विणिग्गय दिव्ववाणि,
पणमेवि सरासइ सहखाणि ।
णिग्गंथ उहय-परिमुक्क-संग,
पणवेवि मुणीसर जिय-अणंग ।
पणविवि णियगुरु पयडिय-पहाउ,
फलु अक्खमि जिणरत्तिहि जहाउ ।

अन्तिमभाग :—

णिसुणिवि गोयम भासिउ णिराउ,
वउ गहिउ झत्ति मणि करि विराउ ।
जिणु वंदिवि तह गोयमु गणेसु,
णिय णयरु पत्तु सेणिउ णरेसु ।
दह-तिउण वरिसि विहारवि जिणिंदु,
पयडेवि धम्मु महियलि अणिंदु ।
पावापुर वर मज्झिहि जिणेसु,
वेदिण सह उज्झिवि मुत्तिईसु ।

चउसेसह कम्मह करि विणासु,
संपत्तउ सिद्ध-णिवास-वासु।
देवाली अम्मावस्स अलेउ,
महो देउ बोहि देवाहिदेउ।
चउदेव-णिकायहं अइमणुज्ज,
आइवि विरइय णिव्वाण-पुज्ज।
जिण णिमियउ जो वि करेइ भव्वु,
पावेइ मोक्खु संहरिय-गव्वु।

घत्ता—

जिण णिसिवउ फलु अक्खिवउ गुणहं किंत्ति मुणीसे।
सिरिजसकित्ति मुणिंदें कुवलयचंदें जिणगुण भत्तिविसेसे ॥१२॥
अमुणिय कव्वविसेसं तह वि जं वीरणाह-अणुराएं।
धिट्ठत्तणेण रइयं तं मयलं भारही खमओ ॥

इति जिनरात्रिव्रत कथा (आमेरशास्त्र भंडारसे)

४२ रविवउ कहा (रविव्रत कथा)

भ० यशःकीर्ति

आदिभाग :—

आदि अंत जिणु वंदिवि सारद,
धरेवि मणि गुरु णिग्गंथ णवेप्पिणु।
सुयणहं अणुमेरवि पुच्छंत भव्वयणह णामणाह तहं रवि-वउ
पभणमि मावयहं, जासु करंतहं लब्भइ संपइ पवरा ॥

अन्तिमभाग :—

पासजिणेंद पसाएं दिवसहं सो कहइ,
पंडिय सुरजन णामहं भव्वउ वउ लवइ।
जो इहु पढइ पढावइ णिसुणइ करणु दइ,
सो जसकित्ति पसंसिवि पावइ परम गइ ॥२०॥

(दिल्ली पचायती मन्दिर शास्त्र भंडारके गुटकेसे)

२५—पासणाह-चरिउ (पार्श्वनाथ चरित)

(कवि श्रीधर) रचनाकाल सं० ११ ६

आदिभाग—

पूरिय भुअणासहो पाव-पणासहो
णिरुवम-गुण-मणि-गण-भरिउ।
तोडिय भवपासहो पणवेवि पासहो
पुणु पयडमि तासु जि चरिउ ॥

× × ×

विरएवि चंदप्पहचरिउ चारु,
चिर चरिय कम्म दुक्खावहारु।
विहरंतें कोउगहल-वसेण,
परिहत्थिय वाएसरि रसेण।
सिरि-अयरवाल-कुल-संभवेण,
जणणी-वील्हा-गब्भुवेण।
अणवरय विणय-पणयारुहेण,
कइणा बुह गोल्ह-तणुरुहेण।
पयडिय तिहुअण-वई गुणभरेण,
मणिणय सुहि सुअणें सिरिहरेण।
जउँणा-सरि सुर-णर हियय-हार,
णं वार विलासिणि-पउर-हार।
डिंडीर-पिंड-उप्परिय-णिल्ल,
कीलिर रहं गंथोब्वउ थणिल्ल।
सेवाल-जाल-रोमावलिल्ल,
वुहयण-मण-परिरंजण छइल्ल।
भमरावलि-वेणी-वलय-लच्छि,
पप्फुल्ल-पोम-दल-दीहरच्छि।
पवणाहय सलिलावत्तणाहिं,
विणिहय-जणवय तणु-ताव-वाहि।
वणमय-गलमय-जल घुसिण लित्त,
दर फुडिय-सिप्पिउ दसण-दित्ति।
वियसंत सरोरुह पवर-वत्त,
रयणायर-पवर-पियाणु रत्त।
विउलामल पुलिण णियव जासु,
उत्तिण्णी णयणहि दिट्ठु तासु।
हरियाणए देसे असंखगामे,
गामियिण जणिय अणवरय कामे।

घत्ता—

परचक्क-विहट्टणु सिरि-संघट्टणु, जो सुरवइणा परिगणिउ।
रिउ रुहिरावट्टणु विउलु पवट्टणु, ढिल्ली णामेण जि भणिउ ॥२

× × ×

जहिं असि-वर-तोडिय रिउ-कवालु,
णरणाहु पसिद्धु अणंगवालु।
णिरदलु वट्ठिय हम्मीरवीरु,
वंदियण-विंद-पवियण्ण-चीरु।
दुज्जण-हिययावणि दलण-सीरु,
दुण्णय-णीरय-णिरसण-समीरु।

बल-भर-कंपाविय णायराउ,
माणिणि-यण-मण-संजणिय-राउ ।
तहिं कुल-गयणं गणेसिय पयंगु,
सम्मत्त विहूसण भूसियंगु ।
गुरुभत्ति णविय तेल्लोक-णाहु,
दिट्ठउ अल्हण णामेण साहु ।
तेण वि णिज्जिय चंदप्पहासु,
णिसुणेवि चरिउ चंदप्पहासु ।
जंपिउ सिरिहरु ते धण्ण 'त,
कुलबुद्धि विहवमाण सिरिअवंत ।
अणवरउ भमइं जगि जाहिं किंत्ति,
धवलती गिरि-सायर-धरित्ति ।
सा पुणु हवेइ सुकइत्तणेण,
वाएण सुएण सुकित्तणेण ।

घत्ता—
जा अविरल धारहिं जणमण हारहिं दिज्जइ धणु वंदीयणहं ।
ता जीव णिरंतरि भुअणब्भंतरि भमइं किंत्ति सुंदर जणहं ॥४

पुत्तेण विलच्छि-समिद्धएण,
णय-विणय सुसील-सिणिद्धएण ।
किंत्तणु विहाइ धरणियलि जाम,
सिसिरयर-सरिसु जसु ठाइ ताम ।
सुकइत्तं पुणु जा सलिल-रासि,
ससि-सूर मेरु-णक्खत-रासि ।
सुकइत्तु वि पसरइ भवियणाहँ
संसग्गें रंजिय जण-मणाहँ ।
इह जेजा णामें साहु आसि,
अइ णिम्मलयर-गुण-रयण-रासि ।
सिरि-अयरवाल-कुल कमल-मित्तु,
सुह-धम्म-कम्म-पवियण्ण-वित्तु ।
मेमडिय णाम तहो जाय भज्ज,
सीलाहरणालंकिय सलज्ज ।
बंधव-जण-मण-संजणिय-सोक्ख,
हंसीव उहय-सुविसुद्ध पक्ख ।
तहो पढम पुत्तु जण वयण रामु,
हुउ आरक्खि तसजीव गामु ।
कामिणि-माणस-विद्दवण-कामु,
राहउ सव्वत्थ पसिद्ध णामु ।

पुणु बीयउ विवुहाणंद-हेउ,
गुरु भत्तिए संथुअ अरुह-देउ ।
विणयाहरणालंकिय-सरीरु,
सोढल-णामेण सुबुद्धि धीरु ।

घत्ता—
पुण तिज्जउ णंदणु णयणाणंदणु जगे णट्टलु णामें भणिउं ।
जिणमइ णीसंकिउ पुण्णालंकिउ जसु बुहेहिं गुण गणु गणिउं ॥५

जो सुंदरु बीया इंदु जेम,
जण-वल्लहु दुल्लहु लोय तेम ।
जो कुल-कमलायर-रायहंसु,
विहुणिय-चिर-विरइय-पाव-पंसु ।
तित्थयरु पयट्टावियउ जेण,
पढमउ को भणियइं सरिसु तेण ।
जो देइ दाणु वंदीयणाहं,
विरएवि माणु सहरिस मणाह ।
पर-दोस-पयासण-विहि-विउत्तु,
जो ति-रयण-रयणाहरण-जुत्तु ।
जो दिंतु चउव्विहु दाणु भाइं,
अहिणउ वंधू अवयरिउ णाइं ।
जसु तणिय किंत्ति गय दस दिसासु,
जो दिंतु ण जाणइ सउ सहासु ।
जसु गुण-किंत्तणु कइयण कुणंति,
अणवरउ वंदियण णिरु थुणंति ।
जो गुण-दोसहं जाणइं वियारु,
जो परणारी-रइ णिव्वियारु ।
जो रूव विणिज्जिय-मार-वीरु,
पडिवण्ण-वयण-धुर-धरण-धीरु ।

घत्ता—
सोमहु उवरोहें णिहय विरोहें णट्टलसाहु गुणोह-णिहि ।
दीसइ जाएप्पिणु पणउ करेप्पिणु उप्पाइय भव्वयणदिहि ॥६

तं सुणिवि पयंपिउ सिरिहरेण,
जिण-कव्व-करण-विहियायरेण ।
सव्वउ जं जंपिउ पुरउ मज्झु,
पइ सब्भावें बुह मइ असज्झु ।
परसंति एत्थु विबुहहं विवक्ख ।
बहु कवड-कूट-पोसिय सवक्खु ।

अमरिय धरणीधर सिर विलग्ग,
णर मरूव तिक्ख मुह कण्णलग्ग।
अमहिय परणर गुण गरुअ रिद्धि,
दुव्वयण हणिय पर कज्ज सिद्धि।
कयणा मा मोडण मच्छ रिल्ल,
भूमिउ डिभंगि खिंदिय गुणिल्ल।
को सक्कइ रजण ताहं चित्तु,
सज्जण पयडिय सुअणत्त रित्तु।
तहि लइ महु किं गमणेण भव्व,
भव्वयण-बंधु परिहरिय-गव्व।
तं सुणिवि भणइं गुण-रयण-धामु,
अल्हण णामेण मणोहिरामु।
पउ भणिउं काइं पइं अरुहभत्तु,
किं मुणहि ण णट्टलु भूरिसत्तु।

घत्ता--जो धम्म-धुरधरु उण्णय-कंधरु सुअण-सहावालंकरिउ
अणुदिणु णिच्चलमणु जसु बंधवयणु करइ वयणु णेहावरिउ।७

जो भव्वभाव पयडण समत्थु,
ण कया वि जासु भासिउ णिरत्थु।
णाइण्णइ वयणइं दुज्जणाहं,
सम्माणु करइ पर सज्जणाहं।
संसग्गु समीहइ उत्तमाहं,
जिणधम्म विहाणें णिच्चमाह।
णिरु करइ गोट्ठि सहुँ बुहयणेहिं,
सत्थत्थ-वियारण हिय-मणेहिं।
किं बहुणा तुज्झु समासिएण,
अप्पउ अप्पेण पसंसिएण।
महु वयणु ण चालइ सो कयावि
ज भणमि करइ लहु तं सयावि।
तं णिसुणिवि सिरिहरु चलिउ तेत्थु,
उवविट्ठउ णट्टलु ठाइं जेत्थु।
तेणवि तहो आयहो विहउ माणु,
सपणय तंबोलासण समाणु।
जं पुव्व जम्मि पविरइउ किंपि,
इह विहिवसेण परिणवइ तंपि।
खणु एक्क सिणेहें गलिउ जाम,
अल्हण णामेण पउत्तु ताम।

घत्ता—

भो णट्टल णिरुवम धरिय कुलक्कम
भणमि किंपि पइं परम सुहि।
पर समय परम्मुह अगणिय दुम्मह
परियाणिय जिण समय विहि।।८।।

काराविवि णाहेयहो णिकेउ,
पविइण्णु पंच वण्णं सुकेउ।
पइं पुणु पइट्ठ पविरइय जेम,
पासहो चरित्तु जइ पुणवि तेम।
विरयावहि ता संभवइ सोक्खु,
कालंतरेण पुणु कम्ममोक्खु।
सिसिरयर-विंबे णिय जणणि णासु,
पइं होइ चडाविउ चंद-धामु।
तुज्झु वि पसरइ जय जसु रसंत,
दस दिसहि सयल असहण हसंतु।
तं णिसुणिवि णट्टलु भणइ साहु,
सइवाली पिय यम तणउ णाहु।।

भणु खंड रसायणु सुह पयासु,
रुच्चइ ण कासु हयतणु पयासु।
एत्थंतरि सिरिहरु वुत्त तेण,
णट्टलु णामेण मणोहरेण।
भो तहु महु पयडिय णेहभाउ,
तुहुँ पर महु परियाणिय सहाउ।
तुहुँ महु जल सरसीरुह सुभाणु,
तुहुँ महु भावहि णं गुण-णिहाणु।
पइं होंतएण पासहो चरित्तु,
आयण्णमि पयडहि पावरित्तु।
तं णिसुणिवि पिसुणिउ कविवरेण,
अणवरउ लद्ध-सरसइ-वरेण।

घत्ता—

विरयमि गयगावें पविमल भावें
तुह वयणें पासहो चरिउ।
पर दुज्जण णियरहिं हयगुण पयरहिं
घरु पुरु णयरायरु भरिउ।। ९।।

× × ×

इय सिरिपासचरित्तं रइयं बुह-सिरिहरेण गुण-भरियं।
अणुमणियायं मणोज्जं णट्टल-णामेण भव्वेण।। १।।
विजयंत-विमाणाओ वम्मादेवीइ णंदणो आओ।
कणयप्पहु चविऊणं पढमो संधी परिसमत्तो।। २।। संधि १२

अन्तिमभाग :—

राहव माहुहें सम्मत्त-लाहु,
संभवउ समिय संसार-दाहु।
सोढल नामहो सयल वि धरित्ति
धवलंति भमउ अणवरउ कित्ति॥
तिरिण वि भाइय सम्मत्त जुत्त,
जिणभणिय धम्म-विहि करण धुत्त।
महिमेरु जलहि ससि सूरु जाम,
सहुँ तणुरुहेहिं णंदतु ताम।
चउविहु वित्थरउ जिणिंद संघु,
परसमय खुद्दवाइहिं दुलंघु॥
वित्थरउ सुयजसु सुअणि पिल्ल,
तुट्टउ तडित्ति संसार-वेल्लि।
विक्कम णरिंद सुपसिद्ध कालि,
ढिल्ली पट्टणि धण कण विसालि॥
सणवासि एयारह सएहिं,
परिवाडिए वरिसहं परिगएहिं।
कसणट्ठमीहिं आगहणमासि,
रविवारि समाणिउ सिसिर भासि॥
सिरि पासणाह णिम्मलु चरित्तु,
सयलामल गुण रयणोह दित्तु।
पणवीस सयइं गंथहो पमाणु,
जाणिज्जहिं पणवीसहिं समाणु।

घत्ता—

जा चन्द दिवायर महिह रसायर ता बुहयणहिं पढिज्जउ।
भवियहिं भाविज्जउ गुणहिं थुणिज्जउ वरलेयहि लिहिज्जउ॥८

इय पासचरित्तं रइयं बुह-सिरिहरेण गुणभरियं।
अणुमणियाय मणुज्जं णट्टल-णामेण भव्वेण॥
पुव्व-भवंतर-कहणो पास-जिणिंदस्स चारु-णिव्वाणो।
जिण-पियर-दिक्ख-गहणो बारहमो संधी परिसमत्तो॥

संधि १२

आसीदत्र पुरा प्रसन्न-वदनो विख्यात-दत्त-श्रुतिः,
सुश्रूषादिगुणैरलंकृतमना देवे गुरौ भाक्तिकः।
सर्वज्ञ क्रम कंज-युग्म-निरतो न्यायान्वितो नित्यशो,
जेजाख्योऽखिलचन्द्ररोचिरमलस्फूर्जद्यशोभूषितः॥१॥
यस्यांगजोऽजनि सुधीरिह राघवाख्यो,
ध्यायानमंदमतिरुज्झित-सर्व्व-दोषः।
अग्रोतकान्वय-नभोङ्गण-पार्व्वणेंदुः,
श्रीमाननेक-गुण-रंजित-चारु-चेताः॥२॥
ततोऽभवत्सोढल नामधेयः सुतो द्वितीयो द्विषतामजेयः।
धर्मार्थकामत्रितये विदग्धो जिनाधिप-प्रोक्तवृषेण मुग्धः॥३
पश्चाद्बभूव शशिमंडल-भासमानः,
ख्यातः क्षितीश्वरजनादपि लब्धमानः।
सद्दर्शनामृत-रसायन-पानपुष्टः
श्रीनट्टलः शुभमना क्षपितारिदुष्टः।
तेनेदमुत्तमधिया प्रविचिन्त्य चित्ते,
स्वप्नोपमं जलदशेषमसारभूतं।
श्रीपार्श्वनाथचरितं दुरितापनोदि,
मोक्षाय कारितमितेन मुदा व्यलेखि॥४॥

—प्रति आमेर भंडार सं० १२७७

नोट—इसके बादमें णट्टलसाहूके सम्बन्धमें १५-२० पंक्तियाँ और दी हुई हैं जिनका सम्बन्ध प्रशस्तिसे न होनेके कारण यहां नहीं दी गई।

२६—वड्ढमाण कव्व (वर्धमानकाव्य)

—कवि हरिइंद (हरिश्चंद)

आदिभाग—

परमप्पय भावणु सुह-गुण पावणु णिहणिय-जम्म-जरा-मरणु।
सासय-सिरि-सुंदरु पणय पुरंदरु रिसहु णविवि तिहुयण-सरणु
पणवेप्पिणु पुण अरहंताणं दुक्कम्म-महारि-खयंताणं।
वसुगुण-संजोय-समिद्धाणं सिद्धाणं ति-जय-पसिद्धाणं॥१॥
सूराणं सुद्ध चरित्ताणं वय-संजम भाविय चित्ताणं।
पयडिय समगमसज्झायाणं भव्वयणहो णिरुउज्झायाणं॥२॥
साहूणं साहिय-मोक्खाणं सुविसुद्धज्झाण-[ ]हि-दक्खाणं।
सम्मत्त-णाण-सुचरित्ताणं स-तिसुद्धएण वमि पवित्ताणं॥३॥
वसहाइसुगोत्तमाणं सु-गणाणं संजम धामाणं।
अवहारि व केवलवंताणं ....॥४॥

× × × ×

अन्तिमभागः—

जय देवाहिदेव तित्थंकर,
वड्ढमाण जिण भव्व-सुहंकर
णिरुवम करुण रसायणु घणणाउ,
कव्व-रयणु कंडलु भउ पुण्णाउ।
सो वंदउ जो णियमणि मण्णइं,
वीर-चरित्तु वि [मणु] आयण्णइं।

वीरसेवामन्दिरके सुरुचि-पूर्ण प्रकाशन

Regd. No D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी „
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू „
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी „
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C.) जैन „
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी „
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी „
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी „
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल „
२५१) सेठ सुआलालजी जैन „
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी „
२५१) सेठ मांगीलालजी „
२५१) साहू शान्तिप्रसादजी जैन „
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर
२५१) सेठ तुलारामजी नथमलजी लाडनूवाले कलकत्ता

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) सेठ लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी कलकत्ता
१०१) बा० शान्तिनाथजी „
१०१) बा० निर्मलकुमारजी „
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, „
१०१) बा० काशीनाथजी, ... „
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी „
१०१) बा० धनंजयकुमारजी „
१०१) बा० जीतमलजी जैन „
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी „
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) श्री जयकुमार देवीदास जी, चवरे कारंजा
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

'वीर-सेवामन्दिर'
२१, दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री वीर सेवामंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली। मुद्रक—रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, देहली

वर्ष १४

किरण ८

विषय-सूची

वीर-सेवा-मन्दिरको प्राप्त सहायता

(गत किरण से आगे जो सहायता मय सदस्य फीस के प्राप्त हुई है, वह निम्न प्रकार है, उसके लिए दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं। आशा है अन्य दानी महानुभाव भी साहित्य और इतिहास आदिके कार्यमें अपना आर्थिक सहयोग प्रदान करेंगे।

४००) ला० पारसदास जी जैन मालिक—जैन टैक्टर्स एन्ड मोटो स्वेअर पार्ट्स, क्वीन्स रोड, दिल्ली

२१) ला० जयचन्द जी जैन, बंसल इलेट्रिक स्टोर, दरीबाकलां, दिल्ला तथा ला० नेमीचन्दजी जैन के, विवाहोपलक्ष में,।

२५) रा० सा० उलफतराय जी जैन सर्राफ, दिल्ली।

१२) ला० महतावसिह जी जैन जौहरी दिल्ली।

४८८)

अनेकान्तको प्राप्त सहायता

११) ला० सूरजमल कुन्दनमल जी जैन के सुपुत्र ला० सांवलदास मीरीमल जी की सुपुत्री के विवाहोपलक्ष में, अनेकान्त की सहायतार्थ।

५) श्री चन्दनारायण जी जैन, गवर्नमेंट कन्ट्रैक्टर ने अपनी पुत्री शिरोमणि जैन प्रभाकर के विवाहोपलक्ष में।

१६)

कुल ५०४)

—मंत्री, वीर सेवामन्दिर

शुभ समाचार

पाठकों यह जान कर हर्ष होगा कि जैन समाज के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार की बाईं आंख का आपरेशन डा० मोहनलाल जी अलीगढ़ द्वारा सानन्द सम्पन्न हो गया है; आज कल मुख्तार सा० अपने भतीजे डा० श्री चन्द्जी जैन 'संगल' एटा के पास ठहरे हैं। डा० साहब उनकी परिचर्या में सानन्द संलग्न हैं। और अप्रेल के प्रारम्भ में मुख्तार साहब की दिल्ली आने की आशा है।

महावीर जयन्ती

गत वर्षोंकी भांति इस वर्ष महावीर जयन्ती चैत्र शुक्ला त्रयोदशी ता० १२ अप्रैल सन् १९५७ गुरुवारके दिन अवतरित हुई है। अतः हमें उस दिन भगवान् महावीरकी साधना और उनके दिव्य सन्देशोंको अपने जीवनमें लाने तथा उनका विश्वमें प्रचार करने का प्रयत्न करना चाहिये। साथ ही उपयोगी साहित्यका वितरण जन-साधारणमें किया जाय। और भगवान् महावीरकी पूजनके साथ उनकी पावन वाणीसे साक्षात् सम्बन्धित आचार्य पुंगव श्रीगुणधर रचित श्री 'कसायपाहुडसुत्त' को, जो आचार्य यतिवृषभकी चूर्णि और पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्रीके हिन्दी अनुवादके साथ वीरशासन संघ कलकत्ता सेप्रकाशित हुआ है। मंगाकर उसकी पूजा करें, और अपने सरस्वती भवनमें विराजमान करें। २०) रुपया भेजने पर बिना किसी पोस्टेजके एक हजार पृष्ठोंसे भी अधिक बहुमूल्य सजिल्द ग्रंथ आपके पास भेज दिया जायगा।

मिलने का पता:—
वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली।

सूचना

धर्मानन्द कौशाम्बीकी जिस 'महात्मा बुद्ध' नामकी पुस्तकके ११वें प्रकरणके सम्बन्धमें मांसाहारको लेकर जैन समाजमें क्षोभ चल रहा था, उसके सम्बन्धमें अकादमीकी मीटिंगमें उसके विषयमें एक नोट लगानेकी योजना स्वीकृत हो गई है। और अन्य भाषाओंमें उसके अनुवाद भी प्रकाशित नहीं किये जायेंगे।

दुखद वियोग

पाठकों को यह जान कर दुःख होगा कि जैन समाज के प्रसिद्ध सेठ छदामीलाल जी फिरोजाबाद की धर्मपत्नी सेठानी श्रीमती शरबती देवी का ता० ७ मार्च सन् १९५७ गुरुवार के दिन सहसा हृदयकी गति रुक जाने से स्वर्गवास हो गया है। आप भी अपने पति के समान ही धार्मिक-कार्यों में सहयोग देती थीं। आपके इस वियोगसे सेठ जी के जीवनको बड़ा आघात पहुँचा है। काल की कुटिल गति के आगे किसी की नहीं चलती है। आपके इस इष्ट वियोग जन्य दुःख में वीरसेवामन्दिर परिवार अपनी समवेदना व्यक्त करता हुआ श्री जिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना करता है कि दिवंगत आत्माको परलोक में सुख-शान्ति की प्राप्ति हो और सेठ जी तथा बाबू विमलप्रसाद जी और अन्य कुटुम्बी जनों को दुःख सहने की क्षमता प्राप्त हो।

शोकाकुल—वीरसेवा मन्दिर परिवार

ॐ अर्हम्

वर्ष १४ किरण, ८ | वीरसेवामन्दिर, २१, दरियागंज, देहली
चैत्र, वीरनिर्वाण-संवत २४८३, विक्रम संवत २०१३ | मार्च ५७

ऊर्जयन्त गिरिके प्राचीन पूज्य स्थान

अजमेर शास्त्र-भण्डारके एक जीर्ण-शीर्ण गुटकेसे निम्न पद्य प्राप्त हुआ है, जिसमें ऊर्जयन्त गिरिकी कुछ विशेषताओंका उल्लेख है। इससे ऊर्जयन्तगिरिके इतिहास पर कितना ही प्रकाश पड़ता है :—

श्रीमच्चन्द्रगुहां वराक्षरशिलां घस्रावतारं सदा, अर्चे चारणपादुकां वनगुहे सर्वामरैरर्चिते।
भास्वल्लक्षणपंक्तिनिर्वृतिपथं बिन्दुं च धर्म्यां शिलां, सम्यग्ज्ञानशिलां च नेमिनिलयं वन्दे सभृङ्गत्रयम् ॥

इसमें यह बतलाया है कि 'मैं चन्द्रगुफाकी, वराक्षर (सुन्दर लेख-मण्डित) शिला की, नित्य केशर वर्षावाले सरोवरकी, सर्व देवोंसे पूजित वन-गुहा (सहस्रार-वनान्तर्गत गुफा) में स्थित चारण-पादुकाकी, दैदीप्यमान लक्षण-समूहसे निर्वृति-पथको दिखानेवाली नेमि-जिन-प्रतिमाकी, बिन्दुकी, धर्म्यशिला (धर्मोपदेशशिला) की, सम्यग्ज्ञान-शिला (केवलज्ञानोत्पत्ति-शिला) की और तीन शिखरोंवाले नेमिजिनालयकी पूजा-वन्दना करता हूँ।

जिन दश स्थानोंका इसमें उल्लेख है, वे सब ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार तीर्थ) से सम्बन्ध रखते हैं और बहुत प्राचीन ऐतिहासिक स्थान हैं। चन्द्रगुहा वह चन्द्राकार गुफा है, जिसमें पहले श्रीधरसेनाचार्य जैसे महर्षियोंका भी निवास स्थान रहा है। 'भास्वल्लक्षण-पंक्ति-निर्वृति-पथं' पदके द्वारा जिस नेमि-जिनकी प्रतिमाका उल्लेख किया गया है, यह वही पूर्वी टोंककी प्रतिमा जान पड़ती है जिसके लिए विक्रमकी दूसरी शताब्दीके विद्वान आचार्य स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयम्भू-स्तोत्रमें 'तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा वहतीति तीर्थं' जैसे शब्दोंके द्वारा उल्लेख किया है। और साथ ही यह भी लिखा है कि आज भी चारों तरफसे ऋषिगण प्रीति-भक्तिसे पूरित हृदयको लिए हुए इस तीर्थ पर सतत आते रहते हैं। इन स्थानोंमेंसे कितने ही स्थान कालके प्रभावसे आज नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं, कितने ही दुर्दशा-ग्रस्त हैं और कुछ का पता भी नहीं हैं।

—जुगलकिशोर, युगवीर

आत्माके त्याज्य और ग्राह्य दो रूप

बहिरात्मा

बहिरात्मेन्द्रिय-द्वारैरात्मज्ञान-परान्मुखः।
स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥ १ ॥

जो इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करता हुआ आत्मज्ञानसे पराङ्मुख रहता है और अपने देहको आत्मरूपसे निश्चय करता है अर्थात् शरीरको ही आत्मा समझता है उसे बहिरात्मा कहते हैं ॥ १ ॥

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यंचं तिर्यगंगस्थं सुरांगस्थं सुरं तथा ॥ २ ॥
नारकं नारकांगस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
तथापि मोहमाहात्म्याद्वैपरीत्यं प्रपद्यते ॥ ३ ॥

बहिरात्मा, मनुष्य-देहमें स्थित आत्माको मनुष्य, तिर्यञ्च-शरीरमें स्थित आत्माको तिर्यञ्च, देव-शरीरमें स्थित आत्माको देव और नारक-शरीरमें स्थित आत्माको नारकी मानता है। यद्यपि तत्त्वदृष्टिसे आत्मा उक्त प्रकार नहीं है, तथापि मोहके माहात्म्यसे बहिरात्मा विपरीत मानता है ॥ २-३ ॥

तनु-जन्मनि स्वकं जन्म तनु-नाशे स्वकां मृतिम्।
मन्यमानो विमूढात्मा बहिरात्मा निगद्यते ॥ ४ ॥

शरीरके जन्म होने पर अपना जन्म और शरीरके नाश होने पर अपना मरण मानने वाला मूढ जीव बहिरात्मा कहलाता है ॥ ४ ॥

अहं दुःखी सुखी चाहं रिक्तो राजा सुधीः कुधीः।
इति सचिन्तयन् मूढो बहिरात्मा निगद्यते ॥ ५ ॥

मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं दरिद्र हूँ, मैं राजा हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं मूर्ख हूँ, इस प्रकार चिन्तवन करने वाला मूढ जीव 'बहिरात्मा' कहलाता है ॥ ५ ॥

सबलो निर्बलश्चाहं सुभगो दुर्भगस्तथा।
इति संचिन्तयन् मूढो बहिरात्मा निगद्यते ॥६॥

मैं बलवान् हूँ, मैं निर्बल हूँ, मैं भाग्यवान् हूँ तथा मैं अभागा हूँ, इस प्रकार चिन्तवन करने वाला मूढ जीव बहिरात्मा कहलाता है ॥ ६ ॥

मम हर्म्यमिदं वित्तं सुत-दारादयो मम।
इति सचिन्तयन् मूढो बहिरात्मा निगद्यते ॥७॥

यह मेरा मकान है, यह मेरा धन है, और ये मेरे पुत्र, स्त्री, आदि हैं, इस प्रकार चिन्तवन करने वाला मूढ जीव बहिरात्मा कहलाता है। बहिरात्म-दशा त्याज्य है ॥ ७ ॥

अन्तरात्मा

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादन्तरात्मा भवत्ययम् ॥ ८ ॥

अन्तरङ्गमें ज्ञान-दर्शनमयी अपने आत्माको देख कर और बहिरङ्गमें अचेतन, ज्ञान-शून्य शरीरादिकको देख कर स्व और परका भेद-विज्ञान होनेसे यह प्राणी अन्तरात्मा बन जाता है ॥८॥

प्रजहाति च यः कामान् सर्वानपि मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः सोऽन्तरात्मा निगद्यते ॥९॥

जो जीव अपने मनोगत सर्व मनोरथोंको सर्वथा त्याग देता है और अपने आत्मामें ही स्वतः सन्तुष्ट रहता है, वह अन्तरात्मा कहलाता है ॥९॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु यो गतस्पृहः।
वीतराग-भय-क्रोधः सोऽन्तरात्मा निगद्यते ॥१०॥

जो दुःखोंके आने पर घबड़ाता नहीं है और सुखोंके मिलने पर जिसे हर्ष नहीं होता, प्रत्युत जो उनमें गतस्पृह (इच्छा-रहित) रहता है, तथा जो राग, भय और क्रोधके वशीभूत नहीं होता, वह अन्तरात्मा कहलाता है ॥१०॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि सोऽन्तरात्मा निगद्यते ॥११॥

जो सांसारिक बन्धुजनोंसे स्नेह-रहित हो गया है और उन-उन शुभ अशुभ वस्तुओंको पाकर न उनका अभिनन्दन करता है और न द्वेष ही करता है, वह अन्तरात्मा कहलाता है ॥११॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च केवलः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टः सोऽन्तरात्मा निगद्यते ॥१२॥

जिसकी एकमात्र अपने आत्मामें प्रीति है, जो अपने आत्मामें तृप्त है और अपने आत्मामें ही सन्तुष्ट है वह अन्तरात्मा कहलाता है ॥१२॥

असक्तः लौकिकं कार्यं सततं यः समाचरेत्।
आसक्त आत्म-कार्येषु सोऽन्तरात्मा निगद्यते ॥१३॥

जो मनुष्य सतत आसक्ति-रहित होकर सर्व लौकिक कार्योंको करता है और आत्मिक कार्योंमें सदा तत्पर रहता है वह अन्तरात्मा कहलाता है ॥१३॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यो जनः।
सुखं वा यदि वा दुःखं सोऽन्तरात्मा निगद्यते ॥१४॥

जो मनुष्य समस्त प्राणियोंके सुख और दुःखको अपने सुख और दुःखके समान देखता है और सबको समान मानता है वह अन्तरात्मा कहलाता है। यह दशा ग्राह्य है ॥१४॥

(भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे शीघ्र प्रकाशित होने वाली जैन गीतासे)

अतिचार-रहस्य

(श्री० पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री)

देव, गुरु, संघ, आत्मा आदिकी साक्षीपूर्वक जो हिंसादि पापोंका–बुरे कार्योंका–परित्याग किया जाता है, उसे व्रत कहते हैं। पापोंका यदि एक देश या आंशिक त्याग किया जाता है, तो उसे अणुव्रत कहते हैं और यदि सर्व देश त्याग किया जाता है, तो उसे महाव्रत कहते हैं। यतः पाप पांच हैं, अतः उनके त्यागरूप अणुव्रत और महाव्रत भी पांच-पांच ही होते हैं। इस व्यवस्थाके अनुसार महाव्रतोंके धारक मुनि और अणुव्रतोंके धारक श्रावक कहलाते हैं। पांचों अणुव्रत श्रावकके शेष व्रतोंके, तथा पांचों महाव्रत मुनियोंके शेष व्रतोंके मूल आधार हैं, अतएव उन्हें मूलव्रत या मूलगुणके नामसे भी कहा गया है। मूलव्रतों या मूलगुणोंकी रक्षाके लिए जो दूसरे व्रतादि धारण किये जाते हैं, उन्हें उत्तरगुण कहा जाता है। इस व्यवस्थाके अनुसार मूलमें श्रावकके पाँच मूलगुण और सात उत्तरगुण बताये गये हैं। उत्तर गुणोंको कुछ आचार्यों-ने 'शीलव्रत' संज्ञा भी दी है। श्रावक धर्मके विकासके साथ-साथ मूलगुणोंकी संख्या पाँचसे बढ़कर आठ हो गई, अर्थात् पाँचों पापोंके त्यागके साथ मद्य, मांस और मधु इन तीनोंके सेवनका त्याग करनेको आठ मूलगुण माना जाने लगा। कालान्तरमें पाँच पापोंका स्थान पांच उदुम्बर-फलोंने ले लिया और एक नये प्रकारके आठ मूल गुण माने जाने लगे। तथा पाँच अणुव्रतोंकी गणना उत्तर गुणोंमें की जाने लगी और सातके स्थान पर बारह उत्तर गुण या उत्तर व्रत श्रावकोंके माने जाने लगे।

मुनिजनोंके पाँचों पापोंका सर्वथा त्याग नव-कोटिसे अर्थात् मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदनासे होता है, अतएव उनके व्रतोंमें किसी प्रकारके अतिचारके लिए स्थान नहीं रहता। पर श्रावकोंके प्रथम तो सर्व पापोंका सर्वथा त्याग सम्भव नहीं। दूसरे हरएक व्यक्ति नवकोटिसे पापों-का त्याग भी नहीं कर सकता है। तीसरे प्रत्येक व्यक्तिके चारों ओरका वातावरण भी भिन्न-भिन्न प्रकारका रहता है। इन सब बाह्य कारणोंसे तथा संज्वलन और नो कषायोंके तीव्र उदयसे उसके व्रतोंमें कुछ न कुछ दोष लगता रहता है। अतएव व्रतकी अपेक्षा रखते हुए भी प्रमादादि तथा बाह्य परिस्थिति-जनित कारणोंसे गृहीत व्रतोंमें दोष लगनेका, व्रतके आंशिक रूपसे खण्डित होनेका और गृहीत व्रतकी मर्यादाके उल्लंघनका नाम ही शास्त्रकारोंने अतिचार रखा है। यथा—

सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभञ्जनम्।

(सागारधर्मामृत अ० ४ श्लोक १८)

जब अप्रत्याख्यानावरण कषायका तीव्र उदय आजाता है, तो व्रत जड़मूलसे ही खण्डित होजाता है। उसके लिए आचार्योंने अनाचार ऐसे नामका प्रयोग किया है। यदि किसी व्रतके पूरे सौ अंक रखे जावें, तो एक से लेकर निन्यानवे अङ्क तकका व्रत-खण्डन अतिचारकी सीमाके भीतर आता है। यदि शत-प्रतिशत व्रत खण्डित हो जावे, तो उसे अनाचार कहते हैं। अनेक आचार्योंने इसी दृष्टि-को लक्ष्यमें रख करके अतिचारोंकी व्याख्या की है। किन्तु कुछ आचार्योंने अतिचार और अनाचार इन दोके स्थान पर अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार ऐसे चार विभाग किये हैं। उन्होंने मनके भीतर व्रत-सम्बन्धी शुद्धिकी हानिको अतिक्रम, व्रत-की रक्षा करनेवाली शील-बाढ़के उल्लंघनको व्यति-क्रम, विषयोंमें प्रवृत्ति करनेको अतिचार और विषयसेवनमें अति आसक्तिको अनाचार कहा है।

जैसा कि आ० अमितगतिने कहा है—

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तिताम्॥

इनके मतानुसार १ से लेकर ३३ अंश तकके व्रत-भंगको अतिक्रम, ३४ से लेकर ६६ अंश तकके व्रत-भंगको व्यतिक्रम, ६७ से लेकर ९९ अंश तकके व्रत-भंगको अतिचार और शत-प्रतिशत व्रत-भंगको अनाचार समझना चाहिए।

परन्तु प्रायश्चित्त-शास्त्रोंके प्रणेताओंने उक्त

चारके स्थान पर 'आभोग' को बढ़ा करके पाँच विभाग किये हैं। उनके मतसे एक बार व्रत खंडित करके भी पुनः व्रतमें वापिस आ जानेका नाम अनाचार है और व्रत-खण्डित होनेके बाद निःशंक होकर उत्कट अभिलापाके साथ विपय-सेवन करनेका नाम आभोग है। किसी-किसी प्रायश्चित्तकारने अनाचारके स्थान पर छन्न भंग नाम दिया है।

प्रायश्चित्त-शास्त्रकारोंके मतसे १ से लेकर २५ अंश तकके व्रत-भंगको अतिक्रम, २६ से लेकर ५० अंश तकके व्रत भंगको व्यतिक्रम, ५१ से लेकर ७५ अंश तकके व्रत भंगको अतिचार, ७६ से लेकर ९९ अंश तकके व्रत-भंगको अनाचार और शत प्रतिशत व्रत-भंगको आभोग समझना चाहिए।

एक विचारणीय प्रश्न

श्रावकके जो बारह व्रत बतलाये गये हैं, उनमेंसे प्रत्येक व्रतके पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र अ० ७, सू० २४ से सिद्ध है—

"व्रत-शीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्।"

ऐसी दशामें स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्येक व्रतके पांच-पांच ही अतिचार क्यों बतलाये गये हैं? तत्त्वार्थसूत्रकी उपलब्ध समस्त दिगम्बर और श्वेताम्बर टीकाओंके भीतर इस प्रश्नका कोई उत्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। जिन-जिन श्रावकाचारोंमें अतिचारोंका निरूपण किया गया है, उनमें तथा उनकी टीकाओंमें भी इस प्रश्नका कोई समाधान नहीं मिलता। पर इस प्रश्नके समाधानका संकेत मिलता है प्रायश्चित्त-विपयक ग्रन्थोंमें—जहां पर कि अतिक्रम व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोगके रूपमें व्रत-भंगके पांच प्रकार बतलाये गये हैं।

हालमें ही अजमेर-भण्डारसे जो 'जीतसार-समुच्चय' नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, उसके अन्तमें 'हेमनाभ' नामका एक प्रकरण दिया गया है। इसके भीतर भरतके प्रश्नोंका भ० वृपभदेवके द्वारा उत्तर दिलाया गया है। वहां पर प्रस्तुत अतिचारोंकी चर्चा इस प्रकारसे दी हुई है—

दृग्-व्रत-गुण-शिक्षाणां पञ्च पञ्चैकशो मलाः।
अतिक्रमादिभेदेन पञ्चषष्टिश्च सन्ततः ॥९॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन तेरह व्रतोंमेंसे प्रत्येक व्रतके अतिक्रम आदिके भेदसे पांच-पांच मल या अतिचार होते हैं। अतएव सर्व अतिचार (१३×५ =६५) पैंसठ हो जाते हैं।

इसके आगे सातवें श्लोकमें अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि पांचों भेदोंका स्वरूप आदि दिया गया है और तदनन्तर कहा गया है कि—

त्रयोदश-व्रतेषु स्युर्मानस-शुद्धिहानितः।
त्रयोदशातिचारास्ते विनश्यन्त्यात्मनिन्दनात् ॥१०॥
त्रयोदश-व्रतानां स्वप्रतिपक्षाभिलाषिणाम्।
त्रयोदशातिचारास्ते शुद्ध्यन्ति स्वान्तनिग्रहात् ॥११॥
त्रयोदश-व्रतानां तु क्रियाऽऽलस्यं प्रकुर्वतः।
त्रयोदशातिचाराः स्युस्तत्त्यागान्निर्मलो गृही ॥१२॥
त्रयोदश-व्रतानां तु छन्नं भंगं वितन्वतः।
त्रयोदशातिचाराः स्युः शुद्ध्यन्ते योगदण्डनात् ॥१३॥
त्रयोदशव्रतानां तु साभोग-व्रतभंजनात्।
त्रयोदशातिचाराः स्युरछन्नं शुद्ध्यधिकाश्रयात् ॥१४॥

अर्थात् उक्त तेरह व्रतोंमें मानस-शुद्धिकी हानिरूप व्यतिक्रमसे जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे अपनी निन्दा करनेसे दूर हो जाते हैं। तेरह व्रतोंके स्व-प्रतिपक्षरूप विपयोंकी अभिलापासे जो व्यतिक्रम-जनित तेरह अतिचार लगते हैं, वे मनके निग्रह करनेसे शुद्ध हो जाते हैं। तेरह व्रतोंके आचरणरूप क्रियामें आलस्य करनेसे जो तेरह अतिचार उत्पन्न होते हैं, उनके त्यागसे गृहस्थ निर्मल अर्थात् अतिचार-जनित दोपसे शुद्ध हो जाता है। तेरह व्रतोंके अनाचाररूप छन्न भंगको करनेसे जो तेरह अतिचार होते हैं, वे मन, वचन, कायरूप तीनों योगोंके निग्रहसे शुद्ध हो जाते हैं। तेरह व्रतोंके आभोग-जनित व्रत-भंगसे जो तेरह अतिचार उत्पन्न होते हैं, वे प्रायश्चित्त-वर्णित नय-मार्गसे शुद्ध होते हैं ॥१०-१४॥

इस विवेचनसे सिद्ध है कि प्रत्येक व्रतके पांच पांच अतिचारोंमेंसे एक-एक अतिचार अतिक्रम-जनित है, एक-एक व्यतिक्रम-जनित है, एक-एक अतिचार-जनित है, एक-एक अनाचार-जनित है और एक-एक आभोग-जनित है। उक्त सन्दर्भसे

दूसरी बात यह भी सिद्ध होती है कि प्रत्येक अतिचारकी शुद्धिका प्रकार भी भिन्न-भिन्न है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि यतः व्रत भंगके प्रकार पांच हैं, अतः तज्जनित दोष या अतिचार भी पांच ही हो सकते हैं।

प्रायश्चित्तचूलिकाके टीकाकारने भी उक्त प्रकारसे ही व्रत-सम्बन्धी दोषोंके पांच-पांच भेद किये हैं—

सर्वोऽपि व्रतदोषः पञ्चषष्ठिभेदो भवति। तद्यथा-अतिक्रमो व्यतिक्रमोऽतिचारोऽनाचारोऽभोग इति। एषामर्थश्चायमभिधीयते जरद्गवन्यायेन। यथा—

कश्चिज्जरद्गवः महासस्यसमृद्धि-सम्पन्नं क्षेत्रं समवलोक्य तत्सीमसमीपप्रदेशे समवस्थितस्तत्प्रति स्पृहां संविधत्ते सोऽतिक्रमः। पुनर्विवरोदरान्तरास्यं संप्रवेश्य ग्रासमेकं समाददामीत्यभिलापकालुष्यमस्य व्यतिक्रमः। पुनरपि तद्-वृत्तिसमुल्लंघनमस्यातिचारः। पुनरपि क्षेत्रमध्यमधिगम्य ग्रासमेकं समादाय पुनरस्यापसरणमनाचारः। भूयोऽपि निःशंकितः क्षेत्रमध्यं प्रविश्य यथेष्टं संभक्षणं क्षेत्रप्रभुणा प्रचण्डदण्डताडनखलीकारः आभोगकार आभोग इति। एवं व्रतादिष्वपि योज्यम्।

(प्रायश्चित्त-चूलिका. श्लो० १४६ टीका)

भावार्थ—प्रत्येक व्रतके दोष अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोगके भेदसे पांच प्रकारके होते हैं। इन पांचोंका अर्थ एक बूढ़े बैलके दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

जैसे कोई बूढ़ा बैल धान्यसे हरे-भरे किसी खेतको देखकर उसके समीप बैठा हुआ ही उसके खानेकी मनमें इच्छा करे, यह अतिक्रम दोष है। पुनः बैठा बैठा ही बाढ़के किसी छिद्रसे भीतरको मुँह डालकर एक ग्रास लेनेकी अभिलाषा करे, यह व्यतिक्रम दोष है। पुनः उठकर और खेतकी बाढ़को तोड़कर भीतर घुसनेका प्रयत्न करना अतिचार नामका दोष है। पुनः खेतमें पहुँचकर एक ग्रास घासको खाकर वापिस लौटना, यह अनाचार नामका दोष है। फिर भी निःशंकित होकर खेतके भीतर घुसकर यथेच्छ घास खाना और खेतके मालिकद्वारा डंडोंसे प्रबल आघात किये जाने पर भी घासका खाना न छोड़ना आभोग नामका दोष है। जिस प्रकार अतिक्रमादिको बूढ़े बैलके ऊपर घटाया गया है, इसी प्रकार व्रतोंके ऊपर भी लगा लेना चाहिए।

इस विवेचनसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि अतिक्रमादि पाँच प्रकारके दोषोंकी अपेक्षा ही प्रत्येक व्रतके पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं।

श्रावक-धर्मका प्रतिपादन करनेवाले जितने भी ग्रन्थ हैं, उनमेंसे व्रतोंके अतिचारोंका वर्णन उपासकाध्ययन और तत्त्वार्थसूत्रमें ही सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है। तथा श्रावकाचारोंमेंसे सर्वप्रथम रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें अतिचारोंका वर्णन किया गया है। जब हम तत्त्वार्थसूत्र वर्णित अतिचारोंका उपासकाध्ययन सूत्रसे जोकि आज एकमात्र श्वेताम्बरोंके द्वारा ही मान्य हो रहा है—तुलना करते हैं, तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि एकका दूसरे पर प्रभाव ही नहीं है, अपितु एकने दूसरेके अतिचारोंका अपनी भाषामें अनुवाद किया है। यदि दोनोंके अतिचारोंमें कहीं अन्तर है, तो केवल भोगोपभोग-परिमाणव्रतके अतिचारोंमें है। उपासकाध्ययन-सूत्रमें इस व्रतके अतिचार दो प्रकारसे बतलाये हैं—भोगतः और कर्मतः। भोगकी अपेक्षा वे ही पाँच अतिचार बतलाये गये हैं, जोकि तत्त्वार्थसूत्रमें दिये गये हैं। कर्मकी अपेक्षा उपासकाध्ययनमें पन्द्रह अतिचार कहे गये हैं, जोकि खरकर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं, और सागारधर्मामृतके भीतर जिनका उल्लेख किया गया है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उपासकाध्ययनमें कर्मकी अपेक्षा जो पन्द्रह अतिचार बतलाये गये हैं, उन्हें तत्त्वार्थसूत्र-कारने क्यों नहीं बतलाया? मेरी समझमें इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार "व्रत-शीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्" इस प्रतिज्ञासे बंधे हुए थे, इसलिए उन्होंने प्रत्येक व्रतके पांच-पांच ही अतिचार बताये। पर उपासकाध्ययन-कारने इस प्रकारकी कोई प्रतिज्ञा अतिचारोंके वर्णनके पूर्व नहीं की है, अतः वे पांचसे अधिक भी अतिचारोंके वर्णन करनेके लिए स्वतंत्र रहे हैं।

तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार-वर्णित अतिचारोंका जब तुलनात्मक दृष्टिसे मिलान करते हैं. तो कुछ व्रतोंके अतिचारोंमें एक खास भेद नजर आता है। उनमेंसे दो स्थल खास तौरसे उल्लेखनीय हैं—एक परिग्रहपरिमाणव्रत और दूसरा भोगोपभोगपरिमाणव्रत। तत्त्वार्थसूत्रमें परिग्रहपरिमाणव्रतके जो अतिचार बताये गये हैं, उनसे पाँचकी एक निश्चित सख्याका अतिक्रमण हो जाता है। तथा भोगोपभोगव्रतके जो अतिचार बताये गये हैं, वे केवल भोग पर ही घटित होते हैं, उपभोग पर नहीं; जब कि व्रतके नामानुसार उनका दोनों पर घटित होना आवश्यक है। रत्नकरण्डके कर्त्ता आ० समन्तभद्र जैसे तार्किक व्यक्तिके हृदयमें उक्त बात खटकी और इसीलिए उन्होंने उक्त दोनों ही व्रतोंके एक नये प्रकारके ही पांच-पांच अतिचारोंका निरूपण किया, जोकि उपर्युक्त दोनों आपत्तियोंसे रहित हैं।

यहाँ पर सम्यग्दर्शन, बारह व्रत और सल्लेखनाके अतिचारोंका अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग इन पांच प्रकारके दोषोंमें वर्गीकरण किया जाता है, जिसकी तालिका इस प्रकार है —

	१	२	३	४	५
अतिचार-क्रम	अतिक्रम	व्यतिक्रम	अतिचार	अनाचार	आभोग
सम्यग्दर्शन	शंका	कांक्षा	विचिकित्सा	अन्यदृष्टिप्रशंसा	अन्यदृष्टिसंस्तव
१. अहिंसाव्रत	छेदन	बन्धन	पीडन	अतिभारारोपण	आहार-वारण
२. सत्याणुव्रत-	परिवाद	रहोऽभ्याख्यान	पैशुन्य	कूटलेखकरण	न्यासापहार
३. अचौर्याणुव्रत	चौरप्रयोग	चौरार्थादान	विलोप	सदृशसन्मिश्र	हीनाधिकविनि०
४. ब्रह्मचर्याणुव्रत	अन्यविवाहकरण	अनंगक्रीड़ा	विटत्व	विपुलतृषा	इत्वरिकागमन
५. परिग्रहपरि०	अतिवाहन	अतिसंग्रह	विस्मय	अतिलोभ	अतिभार-वहन
६. दिग्व्रत	ऊर्ध्वव्यतिक्रम	अधोव्यतिक्रम	तिर्यग्व्यतिक्रम	क्षेत्रवृद्धि	अवधिविस्मरण
७. देशव्रत	रूपानुपात	शब्दानुपात	पुद्गलक्षेप	आनयन	प्रेष्यप्रयोग
८. अनर्थदण्डव्रत	कन्दर्प	कौत्कुच्य	मौखर्य	असमीक्ष्याधिक०	अतिप्रसाधन
९. सामायिक	मनोदुःप्रणिधान	वचोदुःप्रणिधान	कायदुःप्रणिधान	अनादर	अस्मरण
१०. प्रोषधोपवास	अदृष्टमृष्टग्रहण	विसर्ग	आस्तरण	अनादर	अस्मरण
११. भोगोपभोग-परिमाण	विषयविषतोऽनुपेक्षा	अनुस्मृति	अतिलौल्य	अतितृषा	अति-अनुभव
१२. अतिथिसंवि०	हरितविधान	हरित-निधान	मात्सर्य	अनादर	अस्मरण
सल्लेखना	जीविताशंसा	मरणाशंसा	भय	मित्रानुराग	निदान

उक्त वर्गीकरण रत्नकरण्ड-वर्णित अतिचारोंको सामने रखकर किया गया है, क्योंकि वे अतिचार मुझे सबसे अधिक युक्तिसंगत प्रतीत हुए हैं।

अन्तमें पाठकोंसे और खास तौर पर विद्वानोंसे यह नम्र निवेदन कर देना आवश्यक समझता हूँ कि वे मेरे द्वारा किये गये वर्गीकरणको अन्तिम रूपसे निश्चित किया हुआ न मान लेवें। किन्तु इस वर्गीकरण पर खूब विचार करें और जिन्हें जो भी नया विचार उत्पन्न हो, वे उसे अनेकान्तमें प्रकाशनार्थ भेजें, या व्यक्तिगत रूपसे मुझे लिखें। उनके विचारों और सुझाओंका सादर स्वागत किया जायगा।

सरकार-द्वारा मांस-भक्षणका प्रचार

(पं० हीरालाल सिद्धान्त-शास्त्री)

'अहिंसाके नामसे हिंसाका बाजार गर्म' शीर्षक एक लेख 'अहिंसा' पत्रके १ जनवरी ५७ के अंकमें प्रकाशित हुआ है, उसका निम्न अंश अति उपयोगी होनेसे हम यहाँ उसे साभार दे रहे हैं। पाठक गण केवल उसे पढ़कर ही न रह जावें, बल्कि वे पढ़कर दूसरोंको सुनावें और अपने आस-पासका वातावरण दिन पर दिन बढ़ती हुई इस महाहिंसाके विरुद्ध बनाकर सरकारके इस कुकृत्यकी भरपूर निन्दा करके नये कसाईखाने खोलने और मांस-भक्षण प्रचारको रोकनेके लिए अपनी पूर्ण शक्ति लगावें।

"जिस भारतमें २००० वर्ष पहले मांसकी एक भी दुकान नहीं थी, उस भारतके इस नौ वर्ष के स्वतंत्रता-कालमें मांसकी दुकानों, कसाईखानों और मांस-भक्षणको पर्याप्तसे भी अधिक प्रोत्साहन मिला है। अहिंसाका नारा लगानेवाली वर्तमान सरकारके खाद्य-विभागने अंग्रेजी भाषामें एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित की है जिसमें मांस-भक्षणके पक्षमें अनेक युक्तियां देकर मांस-भक्षणको विधेय मार्ग ही नहीं, किन्तु आवश्यक तथा उपयोगी बतलाया गया है। जब कि विदेशोंमें मांसाहारकी प्रवृत्ति कम होती जाकर शाकाहार-की प्रवृत्ति बढ़ती जारही है और संसारके बड़े-बड़े डाक्टर और विशेषज्ञ मांसका आहार मानवीय प्रकृतिके विरुद्ध बतलाते हैं। जिन बुराइयोंको विदेशी विवेकी लोग छोड़ते जारहे हैं, खेद है कि भारतीय उन्हें ग्रहण करते जारहे हैं।"

"यह और भी अधिक दुःखकी बात है कि जिस भारतके खाद्य-विभागसे मांस-भक्षणको प्रोत्साहन देने वाली यह पुस्तक निकली है, उसके सर्वे सर्वा मंत्री 'जैन' महानुभाव हैं। जैनधर्ममें मांस-भक्षण तो क्या, मांस-स्पर्शको भी घोर पाप और महान् अपराध माना गया है। भोजनके समय मांसका नाम लेना भी जहां अन्तरायका कारण बन जाता है, वहाँ मांस-भक्षणको प्रोत्साहन दिया जाना बहुत ही लज्जाजनक बात है।"

मांस-भक्षणको प्रोत्साहन देने वाली सरकारको यह ज्ञात होना चाहिये कि अन्नके अभावमें भूखों मरने वालोंकी भुखमरी मिटानेके लिये वह जिस दयालुता या कर्तव्य-तत्परतासे प्रेरित होकर कसाईखाने खुलवा रही है और लोगोंको मुर्गी वा मछली पालनेके लिए सहायता दे देकर जोर-शोरसे प्रचार कर रही हैं, वह उसका एकदम क्रूरता-पूर्ण नृशंस-कार्य है। जो पश्चिमी देश नास्तिकवादी हैं, लोक-परलोक और पुण्य-पाप कुछ नहीं मानते हैं, उनके क्रूर कार्योंका अन्धानुसरण हमारी वह भारत सरकार कर रही है, जिसका जन-जन आस्तिक एवं परलोकवादी है और पुण्य-पापको मानता है। जीवघात करने वालोंको ज्ञात होना चाहिए कि जिस प्रकार तुम्हें अपने प्राण प्यारे हैं, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणीको भी अपने प्राण प्यारे हैं। जिस प्रकार तुम्हें जरा-सा कांटा चुभने पर कष्ट होता है, उसी प्रकार उन्हें भी कष्ट होता है, फिर तुम क्यों उन दीन-हीन मूक प्राणियों पर छुरी चलाकर अपनी निर्दयता-का परिचय देते हो! भ० महावीरने अपने आद्य उपदेशमें यही कहा था—

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं ण मरिज्जिउं।
तम्हा पाणि-वहं घोरं समणा परिवज्जयंति णं॥
—आचारांग सूत्र

अर्थात्—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, इसलिये प्राणियोंका घात करना घोर पाप है। श्रमण जन सदा ही उसका परित्याग करते हैं।

जब भारतवासी लोक-परलोकके मानने वाले हैं, तो उन्हें यह भी जानना चाहिये कि जिन प्राणियों पर तुम छुरी चलाते हो वे प्राणी भी तुम्हारे पूर्व जन्मोंमें माता, पिता, भाई, पुत्र आदिके रूपमें सगे सम्बन्धी रह चुके हैं। फिर इस जन्मके सगे-सम्बन्धियोंकी भूख-शमन करनेके लिये पूर्व जन्मके ही सगे सम्बन्धियोंको मारकर खा जाना चाहते हो? आश्चर्य नहीं, महान् आश्चर्य है तुम्हारी इस अज्ञानता पर!

इसके अतिरिक्त मांस खाने वाले मनुष्योंको यह भी तो सोचना चाहिये कि यह मांस न बारिशसे बरसता है, न जमीनसे उगता है, न वृक्षों पर फलता है, न पर्वतोंसे झरता है और न अपने आप ही उत्पन्न हो जाता है। यह तो प्राणियोंके मारने पर ही उत्पन्न होता है। जैसा कि हमारे महर्षियोंने कहा है—

पर्जन्यः पिशितं प्रवर्षति न तत्प्रोद्भिद्यते भूतले,
वृक्षाः मांसफला भवन्ति न, न तत्प्रस्यन्दते पर्वतात्।
सत्त्वानां विकृतिर्नचापि पिशितं प्रादुर्भवत्यन्यथा,
हत्वा प्राणिन एव तद्भवति हि प्राज्ञैःसदा वर्जितम्॥

इसलिए प्राणियोंके घातसे उत्पन्न होने वाले ऐसे हिंसा पापसे परिपूर्ण मांसको खाने वाला और उसका प्रचार करने वाला मनुष्य कैसे अहिंसक कहला सकता है? फिर

अपनेको अहिंसक कहने वाली हमारी भारत सरकार इस महाहिंसाके महापापका इस प्रकार खुला प्रचार कर रही है, यह अत्यन्त दुःखकी बात है। धर्मप्राण भारतके नेताओं द्वारा इस महा हिंसाका तीव्र विरोध होना अत्यावश्यक है।

मनुस्मृतिमें भी यही बात कही है:—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥

अर्थात् प्राणियोंकी हिंसा किये विना मांस पैदा नहीं होता, और न प्राणीका वध करना स्वर्ग देने वाला है, इसलिए मांस नहीं खाना चाहिये।

मांसको खानेवाले समझते होंगे कि जानवरको मारने वाले खटीक या कसाई आदिको जीवघातका पाप लगता होगा, खाने वालेको क्या दोष है? परन्तु उनकी यह समझ बिलकुल अज्ञानसे भरी हुई है इसका कारण यह है कि कसाई वगैरः जो भी जानवरका घात करते हैं, वे उसे खाने वालोंके निमित्त ही मारते हैं। यदि खाने वाले लोग मांस खाना छोड़ देवें, तो कसाई खानोंमें प्रतिदिन जो लाखों प्राणी काटे जाते हैं, उनका काटा जाना भी बन्द हो जावे। शास्त्रकारोंने तो यहां तक बतलाया है कि जो स्वयं जीवघात न करके दूसरोंसे कराता है, जीवघात करने वालोंकी अनुमोदना, प्रशंसा और सराहना करता है, वह भी जीवघात करने वालोंके सदृश ही पापी है। जिस प्रकार मांसका खानेवाला पापका भागी है, उसी प्रकार मांसका पकाने वाला, लानेवाला, परोसने वाला और बेचने वाला, भी पापका भागी होता है। बहुत बचपनमें हमने एक भजनमें सुना था—

'हत्यारे आठ कसाई, महाराज मनु बतलाते'

अर्थात् मनु महाराजने आठ प्रकारके कसाई बतलाये हैं। मनुस्मृतिमें बतलाये गये वे आठ कसाई इस प्रकार हैं—

अनुमन्ता विशसिता विहन्ता क्रय-विक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

अर्थात्—पशुघात करने या मांस खानेकी अनुमति देने वाला, पशुघात करने वाला मांसके टुकड़े करने वाला, मांसको बेचने वाला, मांसका खरीदने वाला, मांसका पकाने वाला, मांसका परोसनेवाला और मांसका खाने वाला, ये आठ प्रकारके कसाई होते हैं।

मनुस्मृतिके उक्त कथनसे स्पष्ट है कि मांस-भक्षण करने वालेके समान उसका प्रचार, व्यापार और तैयार करने वाले सभी मनुष्य पापके भागी होते हैं, और इसीलिये मनु महाराजने उन्हें कसाई बतलाया है।

इसलिए भारत सरकार जो दिन पर दिन नये कसाई-खाने खुलवा रही है, और लोगोंको मांस खानेके लिए प्रोत्साहित एवं प्रेरित कर रही है, वह तो जीवहत्याके महा-पापकी भाजन है ही, पर उस सरकारका जो विरोध नहीं करते, वे भी अनुमति-जनित दोषके भागी होते है।

भारतमें जब वैदिक धर्मका बोलबाला था और यज्ञोंमें पशुओंकी बलि दी जाती था, उस समय भी किसी शासकने मांस खानेका प्रचार नहीं किया और न कसाईखाने ही खुलवाये। अंग्रेजोंके आनेसे पूर्वका सारा भारतीय इतिहास देख जाइये, कहीं भी इस प्रकारकी कोई बात नहीं मिलेगी। स्वयं मांस-भक्षी होते हुए भी मुसलमानी बादशाहों और अंग्रेज शासकोंने मांस-भक्षण करनेका ऐसा खुला प्रचार नहीं किया। प्रत्युत इस बातके अनेक प्रमाण मिलते हैं कि अनेकों राजाओं और बादशाहोंने राजाज्ञाएँ और शाही फरमान निकाल करके प्राणघात न करनेकी घोषणाएँ की हैं, जो आज भी शिलालेखों एवं शासन-पत्रोंके रूपमें उपलब्ध हैं। जन्मसे ही मांस-भक्षण करने वाले अनेकों मुसलमान-शासकोंने हमारे धर्म-गुरुओंके सदुपदेशसे स्वयं आजन्मके लिए मांस खानेका परित्याग किया है और अनेकों धार्मिक पर्वों पर किसी भी जीवके नहीं मारनेकी 'अमारी' घोषणाएँ कराई हैं।

इन सबसे भी अधिक महान् दुःखकी बात यह है कि जो शिक्षा विभाग सदाचार और नैतिक नागरिकता-प्रसारके लिए उत्तरदायी है, वह इस समय खूब दिल खोल करके मांस-भक्षणका भारी प्रचार कर रहा है और मांस-भक्षणकी उपयोगिता बताकर धर्म-प्राण भारतीयोंकी गाढ़ी कमाईका असंख्य द्रव्य खींच खींच कर इस प्रकारके निकृष्ट कोटिके पुस्तक प्रकाशनमें पानीकी तरह बहा रहा है। जिस भारतवर्षमें किसी समय दूध-दहीकी नदियां बहा करती थीं, जिस भारतमें विदेशी और म्लेच्छ कहे जाने वाले लोग भी खानेके निमित्त मांस-उत्पादनके लिए पशुओंको घात कर खूनकी नालियां नहीं बहा सके, उस भारतमें आज उसीके और अपनेको अहिंसक कहने वाले शासकोंके द्वारा प्रतिदिन असंख्य मूक पशुओंको काट-काटकर खूनकी नदियां बहाई जारही हैं!!! धर्मप्राण भारतके लिए इससे अधिक और दुःखकी क्या बात हो सकती है!!!

कविवर भगवतीदास

(परमानन्द शास्त्री)

जीवन-परिचय

कविवर 'भैया' भगवतीदास आगराके निवासी थे। आपकी जाति ओसवाल और गोत्र कटारिया था। आपके पितामहका नाम साहू दशरथ था, जो उस समय आगराके प्रसिद्ध व्यापारियोंमेंसे एक थे और जिन पर पुण्योदयसे लक्ष्मीकी बड़ी कृपा थी। विशाल सम्पत्तिके स्वामी होने पर भी आप निरभिमानी थे। उनके सुपुत्र अर्थात् कविवरके पिता साहूलालजी भी अपने पिताके ही समान सुयोग्य, सदाचारी, धर्मात्मा और उदार सज्जन थे।

कविवर भगवतीदास १८वीं शताब्दीके प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान और कवि थे। आप आध्यात्मिक समयसारादि ग्रन्थोंके बड़े ही रसिक थे। इनका अधिक समय तो अध्यात्म ग्रन्थोंके पठन-पाठन तथा गृहस्थोचित षट्कर्मोंके पालनमें व्यतीत होता था, और शेष समयका सदुपयोग विद्वद्गोष्ठी, तत्त्वचर्चा एवं हिन्दीकी भावपूर्ण कविताओंके निर्माणमें होता था। आप प्राकृत, संस्कृत तथा हिन्दी भाषाके अभ्यासी होनेके साथ-साथ उर्दू, फारसी, बंगला एवं गुजराती भाषाका भी अच्छा ज्ञान रखते थे, इतना ही नहीं किन्तु उर्दू और गुजरातीमें अच्छी कविता भी करते थे। आपकी कविताएँ सरल और सुबोध हैं और वे पढ़नेमें बहुत ही रुचिकर मालूम होती हैं। उनकी भाषा प्राञ्जल, अर्थबोधक एवं भाषा साहित्यकी प्रौढ़ताको लिये हुए है। उसमें लोगोंको प्रभावित करनेकी शक्ति है और साथ ही आत्मकल्याणकी प्रशस्त पुट लगी हुई है। कविका विशुद्ध हृदय विषय-वासनाके जजालसे जगतके जीवोंका उद्धार करनेकी पवित्र भावनासे ओत-प्रोत है और उनमेंकी अधिकांश कविताएँ दूसरोंके उद्बोधन निमित्त लिखी गई हैं।

आपकी एकमात्र कृति 'ब्रह्मविलास' है, यह भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखी गई ६७ कविताओंका एक सुन्दर संग्रह है। इसमें कितनी ही रचनाएँ तो इतनी बड़ी हैं कि वे स्वयं एक एक स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें स्वीकार की जा सकती हैं, और वे कितने ही ग्रन्थ-भण्डारोंमें स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें उपलब्ध भी होती हैं। उक्त विलासकी ये कविताएँ काव्य-कलाकी दृष्टिसे परिपूर्ण हैं, उनमें रीति, अलकार, अनुप्रास और यमक यथेष्ट रूपमें विद्यमान हैं। साथ ही अन्तर्लापिका, बाह्लापिका और चित्रबद्ध काव्योंकी रचना भी पाई जाती है। प्रस्तुत संग्रहमें यद्यपि सभी रचनाएँ अच्छी हैं, परन्तु उन सबमें 'चेतन कर्मचरित पंचेन्द्रिय सम्वाद, सूबाबत्तीसी, मनबत्तीसी, बाईसपरीषहजय, वैराग्य पच्चीसिका, स्वप्न बत्तीसी, परमात्मशतक, अष्टोत्तरी और आध्यात्मिकपद आदि रचनाएँ बड़ी ही चित्ताकर्षक और शिक्षाप्रद हैं। ये अपने विषयकी अनूठी रचनाएँ हैं। कविवर भक्तिरसके भी रसिक थे, इसीसे आपकी कितनी ही रचनाएँ भक्तिरससे ओत-प्रोत हैं।

कवित्व और पद

कविकी कविता अनूठी है और वह केवल अपने विषयका ही परिचय नहीं कराती, किन्तु वह कविके आन्तरिक रहस्यका भी उद्घाटन करती है। कविता भावपूर्ण होनेके साथ-साथ सरस, सरल और हृदयग्राही है। उसमें अध्यात्मरसकी पुट पाठकके अंतरमानसमें अपना प्रभाव अंकित किये बिना नहीं रहती। कविवरकी इन कविताओंका जब हम कबीर, दादूदयाल और सूरदास आदि कवियोंकी कविताओंके साथ तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तब उस समय एक दूसरेकी कवितामें कितना ही भाव-साम्य पाते हैं। और इस बातका सहज ही पता चल जाता है कि कविवरकी कविता कितनी अनुभूतिपूर्ण सरस, आत्मप्रभावोत्पादक एवं उद्बोधक है। और वह कविकी पवित्र आत्म-भावनाका प्रतीक है। कविताओंके कुछ पद्य यहाँ उदाहरणके तौर पर उद्धृत किये जाते हैं जिनसे पाठक कविके भावोंका सहज ही परिचय पा सकेंगे। कविवर 'अपनी शत-अष्टोत्तरी' नामक रचनामें पुण्य-पापकी महत्ताका वर्णन करते हुए कहते हैं:—

> 'ग्रीषममें धूप तपै तामें भूमि भारी जरै,
> फूलत है आक पुनि अति ही उमहिकैं।

वर्षाऋतु मेघ झरै तामें वृक्ष केई फरै,
जरत जवासा अघ आपुही तैं डहिकैं।
ऋतुको न दोष कोऊ पुन्य-पाप फलै दोऊ,
जैसे जैसे किये पूर्व तैसे रहैं सहिकैं।
केई जीव सुखी होंहि केई जीव दुखी होंहि,
देखहु तमासो 'भैया' न्यारे नैकु रहिकैं ॥२४॥

गर्मीमें धूप तेज पड़ती है, उससे समस्त भूतल जलता है परन्तु आक वृक्ष (अकौआ) बड़ी उमंगके साथ फूलता है। वर्षाऋतुमें मेघ बरसता है जिससे चारों ओर हरियाली हो जाती है। अनेकों वृक्ष फलते-फूलते हैं; परन्तु जवासेका पेड़ अपने आप ही जलकर गिर पड़ता है। हे भाई, इसमें ऋतुका कोई दोष नहीं है, किन्तु यह पुण्य पापका फल है जिसने जैसे कर्म किये हैं उसे उसी तरहसे उनका फल भोगना पड़ता है। कोई जीव पुण्यके कारण सुखी, और कोई जीव पाप-वश दुःखी होते हैं। अतः हे भाई! तू पुण्य और पाप दोनोंसे अलग रहकर संसारका तमाशा देख। कविने इस कवित्तमें कितनी सुन्दर शिक्षा प्रदान की है।

कवि कहते हैं कि पुण्यके द्वारा प्राप्त हुए सांसारिक वैभवको देखकर अभिमान मत कर।

'धूमनके धौरहर देख कहा गर्व करै,
वे तो छिनमांहि जांहि पौन परसत ही।
संध्याके समान रंग देखत ही होय भग,
दीपक पतङ्ग जैसे काल - गरसत ही।
सुपनेमें भूप जैसे इन्द्र-धनु रूप जैसे,
ओस बूँद धूह जैसे दुरै दरसत ही।
एसोई भरम सब कर्मजाल वर्गणाको,
तामें मूढ़ मग्न होय मरै तरसत ही ॥

इस पद्यमें बतलाया गया है कि हे आत्मन्! तू इन धुएँके मकानोंको देखकर क्यों व्यर्थ गर्व करता है, ये तो हवाके लगते ही एक क्षणमें नष्ट हो जायेंगे। सन्ध्याके रंगके समान देखते-देखते ही छिन्न-भिन्न हो जावेंगे। जैसे दीपक पर पड़ते ही पतंग कालके मुखमें चले जाते हैं. अथवा सपनेमें प्राप्त किया राज्य और इन्द्र-धनुषके विविध रूप ओसकी बूंदके समान ही क्षणभरमें विनष्ट हो जाते हैं इसी तरह यह राज्य वैभव, धन दौलत, महल-मकान, यौवन और विषय-भोग ये सब कर्मोंका भ्रमजाल है, अनित्य और क्षण-विनाशी है। परन्तु मूढ़ मानव इनमें मग्न होकर इन्हींके संग्रहके लिये तरसता हुआ मृत्युकी गोदमें चला जाता है।

इसी तरह ये निम्न पद्य भी शिक्षा-प्रद और आत्म-संबोधनको लिये हुए है—

"जीवन कितेक तापै सामा तू इतेकु करै,
लक्षकोटि जोरि जोर नैकु न अघातु है।
चाहतु धराको धन आन सब भरौं गेह,
यों न जानैं जनम सिरानो मोहि जातु है ॥
काल सम क्रूर जहाँ निश-दिन घेरो करै,
ताके बीच शशा जीव कोलौं ठहरातु है।
देखतु है नैननिसौं जग सब चल्यो जात,
तऊ मूढ चेतै नांहि लोभै ललचातु है ॥

हे आत्मन्! यह मानव जीवन कितनी अल्प-स्थितिको लिये हुए है फिर भी तू उस पर इतना अभिमान कर रहा है। लाखों करोड़ोंकी सम्पदाको जोड़ता हुआ जरा भी नहीं अघाता—तेरी तृष्णा बढ़ती ही जाती है सन्तोष नहीं करता। तू चाहता है कि पृथ्वीकी सारी धनराशि उठाकर अपना घर भरलूँ, परन्तु तू यह नहीं समझता कि मेरा जीवन ही समाप्त होने जारहा है। कालके समान क्रूर दिन-रात जहाँ घेरा डाल रहे हैं, तब उनके मध्यमें स्थित खर गोश कबतक अपनी खैर मना सकता है? तू अपने नेत्रोंसे जगतके सब जीवोंको परलोकमें जाते हुए देख रहा है, तो भी यह मूढ़ जीव अपनी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता और न जागरूक होता, लोभके फन्देमें फँसा हुआ ललचा रहा है।

और भी कवि कहते हैं कि—हे भाई तू पुद्गल-की संगतिमें अपने भरमको मत भूल, ज्ञानके सहयोगसे तू अपना काम सम्हाल, अपने दृष्टि (दर्शन) गुणको ग्रहण कर। और निजपदमें स्थिर हो शुद्ध आत्म-रसका पानकर, चार प्रकारका दान दे, तू शिव-खेतका वासी है और त्रिभुवनका राजा है, अतः हे भाई तू भरममें मत भूल। जैसा कि उनकी निम्न कुंडलियासे प्रकट है:—

भैया भरम न भूलिये पुद्गल के परसंग।
अपनो काज सँवारिये, आय ज्ञानके संग ॥

आय ज्ञानके संग, आप दर्शन गहि लीजे।
कीजे थिरताभाव, शुद्ध अनुभौ रस पीजे॥
दीजे चउविधि दान, अहो शिव खेत-बसैया।
तुम त्रिभुवनके राय, भरम जिन भूलहु भैया॥

इसी तरह कवि शरीरकी अस्थिरताका भान कराते हुए कहते हैं कि—हे आत्मन्! तू इस शरीर-से इतना स्नेह (राग) क्यों करता है, अन्तमें इसकी कोई रक्षा न हो सकेगी। तू बार बार यह कहता है कि यह लक्ष्मी मेरी है, मेरी है, परन्तु कभी क्या वह किसीके स्थिर होकर रही है? तू कुटम्बीजनोंसे इतना मोह क्यों कर रहा है, शायद उन्हें तू अपना समझता है। पर वह तेरे नहीं हैं। वे सब स्वार्थके सगे हैं—साथी हैं। अतएव हे चेतन! तू चतुर है चेत। संसारकी ये सभी दशा झूठी हैं। जैसा कि निम्न सवैयासे स्पष्ट है:—

काहे को देह से नेह करै तुव, अंतको राखी रहैगी न तेरी,
मेरी है मेरी कहा करै लच्छिमीसौं, काहुकी ह्वैके कहूँ रही नेरी।
मान कहा रह्यो मोह कुटुम्बसौं, स्वारथके रस लागे सगेरी।
तातैं तू चेत विचच्छन चेतन, झूंठी है रीति सबै जगकेरी॥१०

इस तरह कविने 'अष्टोत्तरी'के इन १०८ पद्योंमें अपनेको भान कराने वाले आत्मज्ञानका सुन्दर उपदेश दिया है। रचना बड़ी ही सरस और मनो-मोहक है। कवि केवल हिन्दी भाषाके ही कवि नहीं थे। किन्तु वे उर्दू और गुजराती भाषामें भी अच्छी कविता रचनेमें सिद्ध हस्त थे। धार्मिक रचनाओं-को छोड़कर शेष रचनाएँ भी सुन्दर और हृदय-ग्राही हैं। उन रचनाओंमें से कविकी कुछ रचना-ओंका परिचय आगे दिया जारहा है, आशा है पाठक उससे कविके सम्बन्धमें विशेष जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। कविवरने केवल पर उद्‌बोधक ही रचना की हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु उन्होंने अपने अन्तर्मानसको जागृत करनेके लिये कितने ही स्थलों पर 'भैया' तू चेत जैसे वाक्योंका प्रयोग किया है। यथा—

'निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभुको, जो टारै भव-भीरा रे।
'भैया' चेत धरम निज अपनो, जो तारै भव-नीरा रे॥

साथ ही अपनेको सचेत होने, वीतराग प्रभुका ध्यान करने आदि वाक्योंके द्वारा अपनी आत्माको हितमें लगानेकी स्वयं प्रेरणा की है।

कविवरके पदोंमें भक्तिभावके साथ सिद्धान्त, अध्यात्म, वैराग्य और नीतिकी गंभीर अभिव्यंजना हुई है। पार्थिव सौन्दर्यकी लुभावनी चकाचौंधसे उन्मत्त हुए जीव जो आत्मरहस्यसे सर्वथा अपरि-चित हैं, उन्हें सम्बोधित करते हुए ज्ञान-वैराग्य रूप सुधामृतसे सिंचित और स्वानुभवसे उद्वेलित कवि-वरका निम्न पद देखिये जिसमें वस्तु-स्थितिका सुन्दर चित्रण किया गया है। और बतलाया है कि इस परदेशी शरीरका क्या विश्वास? जब मनमें आई, तब चल दिया। न सांझ गिनता है न सबेरा, दूर देशको स्वयं ही चल देता है कोई रोकने वाला नहीं। इससे कोई कितना ही प्रेम करे, आखिर यह अलग हो जाता है। धनमें मस्त होकर धर्म को भूल जाता है और मोहमें झूलता है। सच्चे सुखको छोड़कर भ्रमकी शराब पीकर मतवाला हुआ अनन्तकालसे घूम रहा है, हे भाई! चेतन तू चेत, अपनेको संभाल। इस पदका अन्तिम चरण तो मुमुक्षुके लिये अत्यन्त शिक्षाप्रद है, जिसमें अपनेको आप द्वारा ही संभा-लनेकी प्रेरणा की गई है:—

कहा परदेशी को पतियारो॥

मन माने तब चलै पंथकौ, सांझ गिनै न सकारो।
सबै कुटुम्ब छांडि इतही पुनि त्यागि चलै तन प्यारो॥१
दूर दिशावर चलत आपही, कोउ न राखन हारो।
कोऊ प्रीति करौ किन कोटिक, अंत होयगो न्यारो॥२
धनसौं राचि धरमसौं भूलत, झूलत मोह मझारो।
इह विधि काल अनंत गमायो, पायो नहिं भव-पारो॥३
सांचे सुखसौं विमुख होत है, भ्रम-मदिरा-मतवारो।
चेतहु चेत सुनहु रे 'भैया' आपही आप संभारो॥४

कविका मानस अध्यात्मकी छटासे उद्वेलित है, वह अपने हृदय-कुंजमें आत्म कल्याणकी पावन भावनासे प्रेरित हो, संसारके सम्बन्धों की अस्थि-रताका भान कराता है। आकाशमें घुमड़ने वाले बादलोंके समान क्षणभंगुर एवं उद्दाम वासनाओंका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए अपनेको पिछाननेका सुन्दर संकेत किया है, कवि कहता है—हे आत्मन्!

तू अभिमानको छोड़ दे, तू कहाँ का निवासी है और तेरे साथी कौन हैं ? सभी महिमान हैं, संसार तुझे देखता है और तू अन्य को देख रहा है, घड़ी पलकी कोई खबर नहीं है, कहाँ सबेरा होगा यह कुछ नहीं ज्ञात होता। तू क्रोध, लोभ, मान, मायारूप मोह-मदिराके पानका परित्यागकर, दोषोंको दूर फैंक और अज्ञान तथा अन्तरात्मासे राग-द्वेषको दूर करते हुए अपनेको पिछाननेका यत्न कर।

छांडि दे अभिमान जिय रे
काको तू अरु कौन तेरे, सबही हैं महिमान।
देख राजा रंक कोऊ, थिर नहीं यह थान॥
जगत देखत तोरि चलवो, तू भी देखत आन।
घरी पलकी खबर नाहीं, कहां होय विहान॥
त्याग क्रोधरु लोभ माया, मोह मदिरा पान।
राग-दोषहिं टार अन्तर, दूर कर अज्ञान॥
भयो सुर-पुर देव कबहूँ, कबहूँ नरक निदान।
इम कर्मवश बहु नाच नाचे 'भैया' आप पिछान॥

इस तरह कविवरके सभी पद आत्म बोधक हैं, उनमें भक्तिरसकी पुटके साथ अध्यात्मरसकी अच्छी अभिव्यंजना हुई है।

जगतका संक्षिप्त परिचय

(श्री० पं० अजितकुमार शास्त्री)

यह जगत जिसमें कि विचित्र प्रकारके जड़-चेतन, चर-अचर, सूक्ष्म स्थूल, दृश्य अदृश्य पदार्थ भरे हुए हैं, बहुत विशाल है, अकृत्रिम है, अनादि एवं अनिधन है। (आदि अन्त-शून्य है। जैनसिद्धान्तमें जगतका आकार बाहरकी ओर अपनी दोनों कौनियां निकाल कर, अपनी कमर पर दोनों हाथ रखे हुए तथा अपने दोनों पैर फैलाकर खड़े हुए मनुष्यके समान बतलाया गया है। जगतके चारों ओर घनोदधि (नमीदार वायु) मोटी वायु और तदनन्तर पतली वायुका विशाल बेढ़ा है, वायुके उन बेढ़ोंको जैन ऋषियोंने तीन वात-वलय संज्ञा से कहा है।

यह जगत १४ राजु (असंख्य योजन) ऊँचा है, उत्तरसे दक्षिणकी ओर सब जगह सात राजु मोटा है, किन्तु पूर्वसे पश्चिमकी ओर (खड़े हुए मनुष्यके आकारके समान होने कारण) नीचे सात राजू फिर ऊपरकी ओर क्रमसे घटते हुए सात राजूकी उँचाई पर एक राजू चौड़ा रह गया है। उससे ऊपर उसका फैलाव फिर हुआ है और साढ़े तीन राजूकी उँचाई पर वह पांच राजू का हो गया है। उसके आगे फिर क्रमसे घटते हुए अन्तमें (चौदह राजू की उंचाई पर) केवल एक राजू रह गया है। समस्त जगतका घनाकार क्षेत्रफल ३४३ राजू है।

इस जगतके सात राजू वाले नीचेके विभाग को अधोलोक कहते हैं, जहाँका वातावरण स्वभावसे ही हर तरह दुखदायक है, अतः उसे 'नरक' शब्दसे कहा जाता है। उस अधोलोकके सात विभाग हैं जिन्हें सात नरक कहते हैं। नीचे नीचेकी ओरके नरकोंका वातावरण ऊपर ऊपरके नरकोंकी अपेक्षा अधिक दुखपूर्ण एवं अशान्तिमय है। अतएव उस क्षेत्रमें (अधोलोकमें) नियत समय तक रहने वाले जीवोंको महान् दुखोंको सहन करते हुए अपना जीवन बिताना पड़ता है।

अधोलोकके ऊपर सात राजूकी ऊँचाई पर, यानी जगतके ठीक बीचका क्षेत्र 'मध्यलोक' कहलाता है। यह थालीकी तरह गोल है, अतः जैन भूगोलके अनुसार पृथ्वी गेंदकी तरह गोल न होकर थालीकी तरह गोल है, यदि उस पृथ्वीकी परिक्रमा की जावे तो परिक्रमा करने वाला व्यक्ति जहांसे चलेगा, चलते चलते अन्तमें फिर उसी स्थान पर आ जावेगा, जहांसे कि वह चला था। विशाल भूभाग होनेके कारण एवं विषम वातावरण होनेसे प्रत्येक व्यक्ति परिक्रमा कर नहीं सकता, परन्तु यदि कोई दैवी शक्तिसे अपने संभव क्षेत्रमें भ्रमण करना चाहे तो पूर्वसे पश्चिमकी ओर या पश्चिमसे पूर्वकी ओर चलते हुए अपने ही स्थान पर आ सकता है।

मध्यलोकके ठीक बीचमें एक बहुत ऊँचा पर्वत है जिसका नाम 'सुमेरु' है। मध्यलोककी ऊँचाई उसी पर्वतकी ऊँचाई तक मानी जाती है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे (ज्योतिष चक्र) इसी सुमेरु पर्वतकी सदा स्वभावसे प्रदक्षिणा किया करते हैं। इसी कारण उनके प्रकाशके होने

तथा अस्त होनेके कारण दिन-रात हुआ करते हैं। सूर्य चन्द्रका भ्रमण उत्तरायण (उत्तरकी ओरकी परिक्रमा) तथा दक्षिणायन (दक्षिणकी ओर परिक्रमा के रूपमें नियमित रूपसे होता है, इसी कारण गणितके अनुसार ज्योतिष वेत्ता विद्वान चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहणका नियत समय पहले ही जानकर बतला देते हैं।

पृथ्वीतलसे ७९० योजनकी ऊँचाई पर आकाशमें तारे घूमते हैं, उनसे १० योजन ऊँचा सूर्य है, उससे ८० योजनकी ऊँचाई पर चन्द्रमा है। फिर नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनैश्चर (शनीचर) हैं। ११० योजन मोटे आकाश-प्रदेशमें समस्त ज्योतिष-चक्र है।

मध्यलोकमें असंख्य गोलाकार द्वीप और समुद्र हैं। हमारा निवास-क्षेत्र जम्बूद्वीपमें है, जो कि एक लाख योजन लम्बा चौड़ा (गोल) है। हम जिस भरत-क्षेत्रमें रहते हैं, वह जम्बूद्वीपका धनुष-आकार बहुत छोटा अंश है। भरत क्षेत्रके आर्यखण्डमें ये एशिया, अफ्रीका, यूरोप अमेरिका और आष्ट्रेलिया तथा हिन्द महासागर, प्रशान्त, अतलान्तक आदि समुद्र हैं। जम्बूद्वीपवर्ती ज्योतिष-चक्रमें दो सूर्य दो चन्द्र हैं जो कि समानान्तर पर भ्रमण करते हैं। आधुनिक विदेशी विद्वान् सूर्यको स्थिर और पृथ्वीको गतिशील मानकर गणित निकालते हैं। वे पृथ्वीको गेंदके आकारमें गोल मानते हैं। किन्तु यह मान्यता अभी तक विवादास्पद है। उनके विदेशी विद्वानोंने अपनी विभिन्न अकाट्य युक्तियोंसे इस मान्यताको गलत ठहराते हुये चुनौती दी है। अनेक यूरोपीय विद्वान् पृथ्वीको स्थिर और सूर्यको गतिशील युक्तिपूर्वक बतलाते हैं। (विस्तारके भयसे हम यहां उन युक्तियोंको नहीं दे रहे हैं।)

मध्यलोकसे ऊपर सुखमय वातावरण वाला ऊर्ध्वलोक है जिसके अनेक अन्तर्विभाग हैं। उस सुखमय प्रदेशको 'स्वर्ग' कहा जाता है। वहां पर एक नियत समय तक रहने वाले प्राणियोंको 'देव' नामसे कहा जाता है।

सबसे ऊपरका क्षेत्र 'मोक्ष' स्थान कहा जाता है। संसारी जीव कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर, सांसारिक आवागमन (जन्म-मरण) से अतीत होकर उसी उपरिवर्ती स्थानमें पहुँच कर अनन्त कालके लिये (सदाके लिये) स्थिर (विराजमान) हो जाते हैं।

हमारा निवास मध्यलोकमें है। अपने उपार्जित कर्मके अनुसार संसारी जीव विभिन्न (मनुष्य, पशु, देव, नरक, योनियोंमें जगतके विभिन्न क्षेत्रोंमें भ्रमण करता हुआ अपना अच्छा बुरा कर्म-फल प्राप्त किया करते हैं।

विचार-कण

आत्म विश्वास एक विशिष्ट गुण है। जिन मनुष्योंका आत्मामें विश्वास ही नहीं, वे मनुष्य धर्मके उच्चतम शिखर पर चढ़ने के अधिकारी नहीं।

मुझसे क्या हो सकता है ? मैं क्या कर सकता हूँ ? मैं असमर्थ हूँ, दीन-हीन हूँ ऐसे कुत्सित विचार वाले मनुष्य आत्म विश्वासके अभावमें कदापि सफल नहीं हो सकते।

सती सीतामें यही वह प्रशस्तगुण (आत्मविश्वास) था जिसके प्रभावसे रावण जैसे पराक्रमीका सर्वस्व स्वाहा हो गया, सती द्रोपदीमें वह चिनगारी थी जिसने क्षण एकके लिए ज्वलन्त ज्वाला बनकर चीर खींचनेवाले दुःशासनके दुरभिमान-द्रुम (अभिमान विषवृक्ष) को दग्ध करके ही छोड़ा। सती मैना सुन्दरीमें यही तेज था जिससे वज्रमयी फाटक फटाकसे खुल गया। सती कमलश्री और मीराबाई के पास यही विषहारी अमोघ मंत्र था जिससे विष शरबत हो गया और फुफकारता हुआ भयंकर सर्प सुगन्धित सुमनहार बन गया।

अस्सी वर्षकी बुढ़िया आत्मबलसे धीरे धीरे पैदल चलकर दुर्गम तीर्थराजके दर्शनकर जो पुण्य संचित करती है वह आत्मविश्वासमें अश्रद्धालु डोली पर चढ़कर यात्रा करने वालोंको कदापि सम्भव नहीं।

बड़े बड़े महत्व पूर्ण कार्य जिन पर संसार आश्चर्य करता है आत्मविश्वासके बिना नहीं हो सकते।

—वर्णीवाणीसे

विश्वशान्तिका सुगम उपाय—आत्मीयताका विस्तार

(श्री अगरचंद नाहटा)

विश्व-शान्तिके लिए सभी लोग प्रयत्नशील और इच्छुक हैं और उसके उपयुक्त वातावरण भी नजर आ रहा है। इस समय सोचना यही है कि किस उपायसे काम लिया जाय। हर व्यक्तिके अपने-अपने विचार हैं। इस लेखमें मैं अपना विचार संक्षेपमें रख रहा हूँ। मेरे मनकी संकुचित भावनाके कारण ही प्रधानतया संघर्ष होता है। जैसा व्यवहार हम दूसरोंसे चाहते हैं वैसा व्यवहार दूसरोंके साथ नहीं रखने, यही सबसे बड़ी कमी है।

अहिंसा सिद्धान्त हमें प्राणिमात्रके साथ प्रेम व सद्भावनाके व्यवहार करनेका संदेश देता है। विश्वमें समस्त प्राणी हमारी जैसी ही आत्माएँ हैं। इसलिए सबमें मैत्री भावना और समान व्यवहार होना आवश्यक है और वह तभी हो सकता है जब मेरेपनका संकुचित दायरा बढ़कर सबके साथ अपने पनकी अनुभूति हो। जब सभी प्राणी अपने आत्मीयके सदृश अनुभव होने लगते हैं तो एकका दुःख दूसरेका दुःख बन जाता है और फिर किसीके साथ दुर्व्यवहार, हिंसा, छल, ईर्षा-द्वेष होने का कोई कारण नहीं रहता। अतः आत्मीयताका विस्तार ही विश्व-शान्तिका सुगम उपाय है। प्रत्येक व्यक्ति जो आज अपने पुत्र कुटुम्ब समाज व देशकी आत्मीयताको अनुभव करता है उसे बढ़ाते हुए सारे विश्वके साथ हम एक रूप बन जायेंगे।

आत्मीयता अर्थात् अपनेपनकी अनुभूति, विश्वके प्रायः समस्त प्राणियोंमें आत्मीयता सहज स्वभावके रूपमें पाई जाती है। पर उसकी परिभाषामें काफी अन्तर रहता है। किसीमें वह बहुत सीमित दिखाई पड़ती है तो किसीमें वह असीम प्रतीत होती है। इसी प्रकार शुद्धि एवं घनीभूतताका भी अन्तर पाया जाता है। माताकी पुत्रके साथ इसी प्रकार पारिवारिक कौटुम्बिक-आत्मीयता होती है। उसमें मोह एवं स्वार्थ रहनेसे भी शुद्धि नहीं होती, जब कि सन्तोंकी आत्मीयतामें यह दोष नहीं रहनेसे वह शुद्ध रहती है। किसी किसीके अपनेपनकी अनुभूति पाई अधिक जाती है तो किसीमें वह साधारण होती है।

प्राचीन कालमें मनुष्योंमें सरलता व प्रेम बहुत अधिक मात्रामें होता था। वर्तमानमें सरलताकी बहुत कमी हो गई है और स्नेह भी दिखाऊ ज्यादा हो गया है। कपट एवं स्वार्थकी अधिकता हो जानेसे आत्मीयताका बहुत ही ह्रास हो गया है। आज भी वृद्ध एवं भोले भाले ग्रामीणोंमें आत्मीयताका भाव गहरा प्रतीत होता है। मेरे अपने अनुभवकी बात है। गौरीशंकरजी ओझा, पुरोहित हरिनारायणजी आदिकी स्मृति होते ही उनकी आत्मीयताका दृश्य सम्मुख आ उपस्थित होता है। आदरणीय वयोवृद्ध भैरवदत्तजी आसोपा व रावतमल जी बोथरा आज भी जब कभी मिलते हैं, हर्षसे गद्‌गद् हो जाते हैं। उनकी मुरझायी हृदयकली मानो खिल-सी जाती है। जिसकी अनुभूति उनके चेहरेसे व बोलीसे भलीभांति प्रकट हो जाती है। यद्यपि मेरा उनसे वैसा निकटवर्ती पारिवारिक सम्बन्ध नहीं है। अपने ४० वर्ष तकके आयु वाले निकट सम्बन्धियोंमें भी मुझे वैसी आत्मीयताके दर्शन नहीं होते। कई वृद्ध पुरुषोंको मैंने देखा है उनमें आत्मीयताका भाव इतना गहरा होता है कि वे मिलते ही हर्षातिरेकसे प्रफुल्लित हो जाते हैं।

प्राचीन कालमें संयुक्त परिवारकी समाज-व्यवस्था इसलिए अधिक सफल हो सकी थी। आज तो सगे भाई भी न्यारे-न्यारे हों तो उसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं, पर पिता और मातासे भी पुत्र अलग हो रहे हैं। जहां पहले एक ही कुटुम्बमें पचास व्यक्तियोंका निर्वाह एक साथ होता था, वहां आज दो भी प्रेमके साथ नहीं रह सकते। इसका प्रधान कारण आत्मीयताका ह्रास ही है। आप न रह सकें तो हर जगह वे भले ही अलग-अलग रहें, पर एक दूसरेको देखनेसे प्रेमके स्थान पर द्वेष भाव जागृत हो उठता है, तब साथ जीवन अशान्तिका साम्राज्य बने बिना नहीं रह सकता है।

ऐसी ही स्थितिसे मानव मानवका शत्रु बनता है। गृह-कलह बढ़ता है। यावत् बड़े-बड़े महायुद्ध उपस्थित होते हैं। विश्वकी वर्तमान स्थिति पर दृष्टि डालते हुए यह बात दीपकवत् स्पष्ट प्रतिभासित होती है। आये दिन महायुद्धके बादल छाये हुए नजर आते हैं। आशंका तो प्रति समय बनी हुई है कि कब कौन किससे लड़ पड़े और युद्ध छिड़ जाय। यदि आत्मीयताका भाव विस्तृत किया जाय, तो यह नौबत कभी नहीं आने पावे। तब प्रतिपक्षी या विरोधी कोई रहता ही नहीं है। सभी तो हमारे भाई हैं, मानव हमारे सदृश ही चैतन्य-स्वरूप आत्मा होनेसे हमसे अभिन्न हैं। अतः किससे लड़ा जाय? उसका कष्ट अपना कष्ट है। इसकी बरबादी अपनी ही बरबादी है। अतः आत्मीयताके

प्रसारित करनेसे इन महायुद्धोंका अन्त हो सकता है।

विश्व शांतिकी बातको एक बार अलग भी रखें, पर भारतमें ही अपने भाइयोंके साथ कितने अन्याय व अत्याचार हो रहे हैं। हमारे अलगावकी भावनासे ही पाकिस्तानका जन्म हुआ और लाखों व्यक्तियोंको अमानुषिक अत्याचारोंका शिकार होना पड़ा। उसे भी अलग रखकर सोचते हैं तो प्रान्तीयता, गुट-पार्टी व दलबन्दीसे हमारा कितना नुकसान हो रहा है। इसका एकमात्र कारण आत्मीयताकी कमी ही है। आज काला बाजार, घूसखोरी आदि अनीतियोंका-बोल बाला है। इसमें भी वही अलगावकी वृत्ति काम कर रही है।

यदि हम एक दूसरेसे अभिन्नताका अनुभव करने लगें तो कोई किसीको मनसा, वाचा, कर्मणा दुःख दे ही नहीं सकता। क्योंकि हमारेसे भिन्न तो कोई है ही नहीं। उसका उनका दुःख हमारा दुःख है। इससे व्यक्ति ऐसी आत्मीयता व अपनेपनका भाव रखे तो विश्वकी समस्त अशान्ति विलोप हो जाय और सुख-शान्तिका सागर उमड़ पड़े। आखिर प्रत्येक मनुष्य जन्मा है, वह मरता अवश्य है। तो फिर प्राणिमात्रको कष्ट क्यों पहुंचाया जाय। 'खुद शान्तिसे जीओ और प्राणिमात्रको सुखपूर्वक जीने दो, यही हमारा सनातन धर्म है। भारत का तो यह आदर्श ही रहा है।

अयं निजः परो वेति गणना लघु-चेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

अर्थात् ये मेरा, ये तेरा, यह भाव तो क्षुद्र-वृत्तिके मनुष्योंका लक्षण है। उदार चरित्र व्यक्तियोंका तो समस्त विश्व ही अपना कुटुम्ब है।

भारतीय दर्शनोंमें, विशेषतः जैनदर्शनमें तो आत्मीयताका विस्तार मानव तक ही सीमित न रखकर पशु-पक्षी यावत् सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओंके साथ भी स्थापित करते हुए उनकी हिंसाका निषेध किया गया है। अहिंसाकी मूल भित्ति इसी भावना पर खड़ी है कि किसी दूसरेके बुरे व्यवहारसे मुझे दुःख होता है वैसा ही व्यवहार मैं दूसरोंके साथ करता हूँ तो उसे भी कष्ट हुये बिना नहीं रहेगा। अतः उसे कष्ट देना अपने लिये कष्ट मोल लेना है। जो मुझे अप्रिय है वैसा व्यवहार दूसरोंके साथ भी नहीं किया जाय। वास्तवमें वह भी मेरा अपना ही रूप है, अतः आत्मीय है।

भारतीय महर्षियोंका यह आदर्श वाक्य हमारे हृदयमें अंकित हो जाना चाहिए—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

जीवनके प्रत्येक कार्यको करते समय इस महा वाक्यकी ओर हमारा यह ध्यान रहे। ईश्वरको सृष्टि-कर्ता मानने वाले दर्शन जीव जगतको उस परमात्माका एक ही अंश मानते हैं और सभी प्राणियोंमें वह एक ही ज्योति प्रकाशित हो रही मानते हैं तब उसमेंसे किसीको कष्ट देना परमात्माको कष्ट देना होगा।

भारतीय मनीषी सब जीवोंको अपने समान मानकर ही नहीं रुके, उनकी विचार-धारा तो और भी आगे बढ़ी और सब जीवोंमें परमात्माके दर्शन करने तक पहुँच गये। एक दूसरेसे अलगावका तो प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। अपितु एक दूसरेके साथ मैत्री, एक दूसरेके प्रति श्रद्धा एवं आदर बुद्धिकी स्थापना होती है।

वर्तमानमें हमारी आत्मीयता इने गिने व्यक्तियों तक सीमित होनेसे संकुचित है। उसे उदार भावना-द्वारा विस्तृत कर जाति, नगर, देश यावत् राष्ट्र व विश्वके प्रत्येक प्राणीके साथ आत्मीयता (अपनेपन का विस्तार करते जाना है यही शान्तिका सच्चा अमोघ एवं प्रशस्त मार्ग है।

हमारे तत्त्वज्ञोंने धर्मकी व्याख्या करते हुए—लक्षण बतलाते हुए—'जिससे अभ्युदय व निश्रेयस प्राप्त हो, वही धर्म कहा है। अतः आत्मीयताका विस्तार वास्तवमें हमारा आत्म-स्वभाव या धर्म हो जाना चाहिये। अलगाव-भेदभावको मिटाकर सबमें अपनेपनका अनुभव कर तदनुकूल व्यवहार करें, तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द दृष्टिगोचर होगा। उस आनन्दके सामने स्वर्गके माने जानेवाले सुख कुछ भी महत्त्व नहीं रखते। एक दूसरेके कष्टको अपना ही दुःख समझकर दूर करें, व एक दूसरेके उत्थानको अपना उत्थान समझते हुए ईर्षालु न होकर उसमें हर्षित हों, एक दूसरोंको ऊँचा उठानेमें हम निरन्तर प्रयत्न करते रहें, इससे अधिक जीवनकी सफलता और कुछ हो नहीं सकती।

भारतीय आदर्श यही रहा है कि समस्त विश्वके कल्याणकी भावनाको प्रतिदिन चिन्तन करें और उसके अनुरूप अपने जीवनको ढालनेका प्रयत्न करें। प्राणिमात्रकी सेवामें अमृतत्व हो जाना, दुःखियोंका दुःख मिटाना, गिरेको ऊँचा उठाना और सबके साथ प्रेमभाव व मैत्रीका व्यवहार करना यही सच्ची अहिंसा है जिसे कि जैन दर्शनने अधिक महत्त्व दिया है।

क्या भ० वर्द्धमान जैनधर्मके प्रवर्तक थे?

(परमानन्द शास्त्री)

'भारतीय संस्कृतिका इतिहास' नामक लेखके लेखक श्रीलीलाधरजी पांडेय हैं, जो 'भारतीय संस्कृति' नामक पत्रके सम्पादक हैं। आपका यह लेख २३ मई सन् ४६ के 'हिन्दुस्तान' नामक दैनिक पत्रमें प्रकाशित हुआ है। लेखकने अपने उस लेखमें 'बौद्धधर्म और जैनधर्म' इस उपशीर्षकके नीचे यह निष्कर्ष निकालनेका प्रयत्न किया है कि जैनधर्मके प्रवर्तक वर्द्धमान थे। जैसा लेखकी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है—

'वैदिक कालीन हिंसा और बलि प्रथाके व्यापक प्रचारके कारण बौद्ध और जैनधर्मोंका प्रादुर्भाव हुआ। वैदिक हिंसाका व्यापक विरोध इन धर्मोंके मूल उद्देश्य थे। बौद्धधर्मके प्रवर्तक महात्मा बुद्ध और जैनधर्मके प्रवर्तक वर्द्धमान हुए।'

इसमें सन्देह नहीं कि महात्मा बुद्ध बौद्धधर्मके प्रवर्त्तक थे। परन्तु जैनधर्मके प्रवर्तक महावीर या वर्द्धमान नहीं थे; किन्तु वे जैनधर्मके प्रचारक थे। वर्द्धमानसे पूर्व २३ तीर्थंकर और हो गये हैं। उनमेंसे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव जैनधर्मके प्रवर्तक थे। जो मनु (कुलकर) नाभिरायके पुत्र थे। जिन्हें आदिनाथ, आदिब्रह्मा, आदिजिन, तथा युगादि-जिन, अथवा अग्रजिनके नामसे उल्लेखित किया जाता है। वेद, महाभारत, भागवत और पुराण ग्रन्थोंमें उनका नामोल्लेख ही नहीं किया गया, किन्तु उनका स्तवन भी किया गया है। ऋषभदेवका भागवतके पांचवें स्कन्धमें ऋषभावतारके रूपमें उल्लेख किया गया है और महाभारतमें उन्हें जैनधर्मका आदि प्रवर्तक लिखा है। उन्हींके पुत्र भरतके नामसे इस देशका नाम 'भारतवर्ष' लोकमें विश्रुत हुआ।※ उनका निर्वाण कैलासगिरिसे हुआ है, और उनका चिन्ह वृषभ (नन्दि) था। उनको हुए बहुत अधिक समय हो गया है उसी समयसे भारतमें श्रमण और वैदिक इन दोनों संस्कृतियोंका उद्भव हुआ। इनमें श्रमण संस्कृति जैन संस्कृति है। तभीसे इन दोनों संस्कृतियोंका भारतमें प्रचार और परस्पर आचार-विचारोंका आदान-प्रदान होता रहा है। किन्तु बौद्धसंस्कृतिके जन्मदाता महात्मा बुद्ध हैं। उन्होंने ही उसका प्रवर्तन किया है। जैनधर्मके सम्बन्धमें बौद्धधर्मके साथ तुलना करते हुए यह कह देना कि वर्द्धमान या महावीर जैनधर्मके प्रवर्तक थे, इतिहासकी अनभिज्ञता और जैनसंस्कृतिके अध्ययनकी अपूर्णताका परिचायक है। क्योंकि महावीरको हुए अभी २४८१ वर्ष व्यतीत हुए हैं। उनसे पूर्ववर्ती दो तीर्थंकरोंका अस्तित्व भी ऐतिहासिक विद्वानोंने स्वीकार कर लिया है। उनमें से नेमिनाथ जैनियोंके २२वें तीर्थंकर थे, जो श्रीकृष्णके चचेरे भाई थे और जिनका उल्लेख 'अरिष्टनेमि' के नामसे किया गया है। तेवीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ हैं, जो महावीर भगवानसे २५० वर्ष पूर्ववर्ती हैं। ऐसी स्थितिमें लीलाधरजी पांडेयका वर्धमानको जैन संस्कृतिका प्रवर्तक लिखना सर्वथा असत्य है।

जैनधर्म या जैन संस्कृति प्राचीन कालसे अपने सिद्धांतोंका प्रचार कर रही है। आज भी जैन संस्कृतिकी चार-पांच हजार वर्ष पुरानी कलात्मक मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। हड़प्पासे जो मूर्ति-खंड प्राप्त हुए हैं, उनमें से तीर्थंकरकी एक खंडित मूर्तिका चित्र अनेकान्तकी गत किरणमें आर्किलाजिकल विभागके डायरेक्टर डॉ० रामचन्द्रनके लेखके अनुवादके साथ प्रकाशित हुआ है जिसका काल ऐतिहासिक विद्वानोंने २४०० या २००० वर्ष ईसासे पूर्व बतलाया है। यदि भूगर्भमें दबी पड़ी जैन संस्कृतिकी महत्त्वपूर्ण सामग्रीका उद्धार हो जाय—उसे खुदवाकर प्रकाशमें लाया जाय, तो जन संस्कृतिकी प्राचीनता और महत्ता पर और भी अधिक प्रकाश पड़ सकता है। जैन संस्कृतिका मूल उद्देश्य हिंसाका ही विरोध नहीं रहा है, किन्तु अपने अहिंसा सिद्धान्तका प्रचार रहा है और है। अहिंसाका प्रचार करते हुए यदि हिंसाका या बलि प्रथाका विरोध भी करना पड़ा, तो उसका मूल उद्देश्य अहिंसाका संरक्षण और संवर्द्धन ही रहा है। जैनधर्मके इस अहिंसा सिद्धान्तने केवल भारतीय धर्मोंमें ही अहिंसाकी छाप नहीं लगाई, किन्तु अन्य वैदेशिक संस्कृतियों पर भी अपना प्रभाव अंकित किया है। आशा है 'भारतीय संस्कृतिका इतिहास' पुस्तकके लेखक लीलाधरजी पांडेयका इससे समाधान होगा और वे अपने उस वाक्यका संशोधन करनेकी कृपा करेंगे।

※ ऋषभो मरुदेव्यां ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
भरताद् भारतं वर्षं भरतात्सुमतिस्त्वभूत्, —अग्निपुराण
कैलाशे विमले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः॥—प्रभास पुराण
दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुर-नमस्कृतः।
नीतित्रयस्य कर्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः॥ —मनुस्मृति

क्या मांस मनुष्यका स्वाभाविक आहार है ?

(श्री पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री)

मांस खाना मनुष्यका स्वाभाविक भोजन नहीं है, इस बातकी परीक्षा प्रकृतिदेवीके सच्चे उपासक और तदनुकूल कार्य करने वाले पशुओंसे सहजमें हो जाती है। पशुओंकी दो जातियाँ हैं—एक मांसाहारी दूसरी शाकाहारी (घास खानेवाली)। मांसाहारी पशुओंके नाखून पैने होते हैं, जैसे कि कुत्ता, बिल्ली सिंह आदि हिंस्र प्राणियोंके होते हैं। शाकाहारी पशुओंके नाखून पैने या नुकीले नहीं होते, जैसे कि हाथी, गाय, भैंस, ऊँट आदिके । मांसाहारी पशुओंके जबड़े लम्बे होते हैं, पर शाकाहारियोंके गोल। गाय और कुत्ते के जबड़े देखनेसे यह भेद साफ-साफ नजर आयेगा। मांसाहारी पशु पानीको जीभसे चप-चपकर पीते हैं, किन्तु शाकाहारी प्राणी होठ टेककर पीते हैं। गाय, भैंस, बन्दर और सिंह श्वान, बिल्ली आदिको पानी पीते हुए देख कर यह भेद सहजमें ही ज्ञात हो जाता है। परन्तु मनुष्योंमें पशुओंके समान दो प्रकारकी जातियाँ दृष्टिगोचर नहीं होतीं।

यह एक आश्चर्यकी बात है कि अपनेको बन्दर-की औलाद मानने वाला पश्चिमी संसार बन्दरोंका खाना-पीना छोड़कर कुत्ते-बिल्लियोंका खाना कैसे खाने लगा। यह तो विकास नहीं, उल्टा ह्रास हुआ। जब ये पश्चिमी वैज्ञानिक आंत, दांत, हड्डी आदि-की समता देखकर मनुष्यको बन्दर तककी सन्तान कहनेसे नहीं चूकते, तब फिर उसीकी समतासे वे ... शुद्ध शाकाहारी क्यों नहीं बने रहते, यह सच-मुच विचारणीय है। यथार्थ बात तो यह है कि मनुष्य रसना (जीभ) के स्वाद-वश मांस-भक्षण जैसे महा अनर्थकारी पापमें प्रवृत्त हुआ और होता जा रहा है, अन्यथा यह उसका स्वाभाविक भोजन नहीं है। क्योंकि मनुष्यके दांतोंकी बनावट और उसके खान-पान आदिका तरीका बिल्कुल शाका-हारी प्राणियोंसे मिलता है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि मांस-भक्षण मनुष्यका स्वाभाविक आहार नहीं है।

दूसरी एक महत्वपूर्ण बात यह भी जाननेके योग्य है कि खानेकी चीजें दो तरहकी होती हैं— एक आबी (जलसे उत्पन्न होने वाली) और दूसरी पेशाबी (रज और वीर्यके संयोगसे पैदा होनेवाली)। आबी पदार्थ वे हैं जो बारिश या पानीकी सिंचाईसे पैदा होते हैं। जैसे गेहूं, चना, मटर आदि अनाज और अंगूर, अनार, सेब आदि फल, तथा शाक-भाजी आदि। पेशाबी चीजोंमें मनुष्य और पशु-पक्षियोंकी गणना की जाती है, क्योंकि समस्त पशु-पक्षी आदि पेशाबसे ही पैदा होते हैं। और इन्हीं पेशाबी पशु आदिके घातसे मांस पैदा होता है। इन दोनों प्रकारकी चीजोंमें पेशाबी चीज गन्दी, अपवित्र एवं अभक्ष्य है और आबी चीजें सुन्दर, पवित्र अतएव भक्ष्य हैं।

मांसके खानेवाले लोग समझते हैं कि मांस खानेसे शरीरमें ताकत बढ़ती है, किन्तु यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। ताकत बढ़ानेके लिये मांसमें ५३-५५ डिग्री अंश है, तब गेहूँमें ९८, चनेमें १२४, मूँगमें ११८, भिंडीमें १२१ और नारियलमें १६५ डिग्री शक्तिवर्धक अंश है। शक्ति मांस-खोर शेर, चीते, बाघ आदिकी अपेक्षा घास-भोजी हाथी, घोड़े बैल आदिमें बहुत होती है। बोझा ढोना, हल खींचना आदि शक्तिके जितने भारी काम घोड़े, बैल आदि कर सकते हैं, उतना काम शेर आदि नहीं कर सकते। यही बात मनुष्योंमें है। जो मनुष्य परिश्रम और व्यायाम करनेवाले हैं, वे यदि अन्न, मेवा आदि खाते हैं, तो मांस-भक्षियोंकी अपेक्षा अधिक शक्ति-सम्पन्न होते हैं।

मानसिक बल तो मांस खानेसे उल्टा कमजोर होता है। संसारमें आजकल हम जहाज, विमान, टेलीफोन, ग्रामोफोन आदि जिन आविष्कारोंको देखकर मनुष्यकी बुद्धिका नाप-तौल करते हैं, उन चीजोंके आविष्कारक मांस-भक्षी नहीं, अपितु फला-हारी और शाक-भोजी थे।

किसी छोटे बच्चे के सामने यदि मांसका टुकड़ा और सेब, सन्तरा आदि कोई एक फल डाला जाय, तो बच्चा स्वभावतः अपने आप फलको ही

उठाएगा, और मांस को छुएगा भी नहीं।

इसके सिवाय मांस चाहे कच्चा हो, या पकाया हुआ, गीला हो या सूखा; उसमें असंख्य सूक्ष्मजीव—जिनका कि रूप-रंग मांसके ही सदृश होता है, हमेशा पैदा होते और मरते रहते हैं। इस कारण मांस खानेसे बहुतसे ऐसे रोग पैदा होते हैं, जोकि अन्न-भोजी या शाकाहारी मनुष्योंको नहीं होते हैं। कैन्सर या नासूरका अति भयानक रोग प्रायः मांस-भक्षी मनुष्योंको ही होता है।

इस प्रकार यदि धर्म, पवित्रता, शारीरिक शक्ति, दिमागी ताकत, स्वभाव आदि किसी भी दृष्टिसे विचारकर देख लीजिए, मांस खाना हर तरहसे हानिकारक और अन्न, फल, मेवा, घी, दूध आदि पदार्थोंका खाना लाभप्रद सिद्ध होता है।

स्वास्थ्य-वृद्धिके लिए शाक-भाजीका महत्त्व

भारत शाकाहारी देश है। शरीर-रचनाके निरीक्षणसे बोध होता है कि मानव शाकाहारी है। शरीर और मन पर भोजनका बड़ा प्रभाव पड़ता है। मांस आदि आहार प्रोटीन, स्टार्च आदि द्रव्यसे भरपूर होता है। ये द्रव्य शरीरमें सुगमतासे न पचनेके कारण शरीरमें यूरिक एसिड जैसे विष पैदा करते हैं। शरीरको विजातीय विष दुर्बल बनाते हैं और शरीर यन्त्रके कोमलांग पर अनुचित दबावसे उनके नियमित कार्यमें शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। जो आहार सजीव और चेतनयुक्त होता है, वही शरीरमें जीवनशक्ति और उत्साह पैदा करता है। इस दृष्टिसे शाकभाजी ही मनुष्यका नैसर्गिक अहार बन सकती है।

शरीरको स्वस्थ और पुष्ट रखनेके लिए शरीरमें पौन भाग क्षार और पाव भाग खटास होना आवश्यक है। खटाईकी अभिवृद्धिसे बीमारियाँ पैदा होती हैं। शरीरको क्षारमय रखनेके लिए शाक-भाजी ही आहारमें महत्त्वका स्थान रखती हैं। रोग की स्थितिमें 'शाक-भाजी खाओ' इस सूत्रका उच्चारण आधुनिक डाक्टर लोग भी करने लगे हैं। शाक-भाजी प्रकृति-द्वारा मिली हुई अनमोल भेंट है। उसका सदुपयोग आरोग्यशक्ति देता है। इतना ही नहीं, उसके सेवनसे हम अनेक रोगोंको मिटा सकते हैं।

शाकाहार एक पौष्टिक खुराक है

भारतवासी प्रारम्भसे ही शाकाहारी रहे हैं। बीचके समयमें अनार्य लोगोंके सम्पर्कसे अवश्य कुछ लोगोंने मांस सेवन प्रारम्भ कर दिया, पर ऐसे लोग हमारे यहाँ घृणाकी दृष्टिसे ही देखे जाते रहे हैं। विदेशोंमें जहाँ पर शीतकी अधिकतासे अन्न उत्पन्न नहीं होता था, लोग मांस-भोजी रहे हैं और निरन्तर मांस-सेवन करनेसे उनके हृदयमें यह धारणा घर कर गई कि शरीरको शक्तिशाली बनानेके लिए मांस खाना अनिवार्य है। पर उनकी यह धारणा कितनी भ्रमपूर्ण है, इसे एक जर्मनी महिलाके ही शब्दोंमें सुनिए—

मिस क्राउजे एक जर्मनी महिला हैं वे तीस वर्ष से भी अधिक समयसे जैनधर्मको धारण करके भारतमें रह रही हैं। जब आपने जर्मनीसे भारत आनेका विचार अपने कुटुम्बी जनों और मित्रोंसे प्रकट किया, तो वे लोग बोले—तुम घास-फूस खाने वाले देशमें जाकर भूखों मर जाओगी। अन्न तो घास-फूस है, उसे खाकर मनुष्य कैसे जिन्दा रह सकता है और उससे शरीरको क्या ताकत मिल सकती है? इत्यादि। मिस क्राउजे अपने निश्चय पर दृढ़ रहीं और उन्होंने भारत आनेका संकल्प नहीं छोड़ा। भारत आनेके बाद जब उन्हें यहाँके घृत-तैल-पक्व मैदा, बेसन आदिके बने पकवानोंका परिचय प्राप्त हुआ, तो उन्होंने मांस खानेका सदाके लिए परित्याग कर दिया। वे मुझे बतलाती रही हैं कि अन्न-निर्मित भारतीय पकवान कितने मिष्ट पौष्टिक होते हैं, इन्हें मैं शब्दोंमें व्यक्त नहीं कर सकती हूँ। अपने देश-वासियोंको मैंने पत्रोंमें लिखा है कि अन्न-भोजनके प्रति वहाँ वालोंकी धारणा कितनी भ्रमपूर्ण है।

भोजनके तीन प्रकार

हमारे महर्षियोंने भोजनके तीन प्रकार बतलाये हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। जिस भोजनके करनेसे मनमें दया, क्षमा, विवेक आदि सात्त्विक भावोंका उदय हो, शरीरमें स्फूर्ति और मनमें हर्षका संचार हो, वह सात्त्विक भोजन है।

जैसे दाल, चावल, गेहूँ, दूध, ताजेफल, सूखीमेवा और ताजी शाक भाजी आदि। जिस भोजनके करने पर मनमें रोष, अहंकार आदि राजसिक भावोंका उदय हो, किसी पवित्र कार्यके करनेके लिए मनमें उमंग-उत्साह न हो, प्रस्तुत मान-बढ़ाई और प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिए मनमें उफान उठें, वह राजसिक भोजन है। अधिक खटाई, नमक और मिर्चीवाले चटपटे पदार्थ, दहीबड़े, पकौड़े और नमकीन चाट वगैरह राजसिक भोजन समझना चाहिए। जिस भोजनके करनेसे मनमें काम-क्रोधादि विकार उत्पन्न हों, पढ़ने-लिखनेमें चित्त न लगे, हिंसा करने, झूठ बोलने और पर स्त्री सेवन करनेके भाव जागृत हों, वह तामसिक भोजन है। मद्य, मांस और गरिष्ठ आहारके सेवकको तामसिक भोजन कहा गया है।

तामसिक भोजन करनेवाला व्यक्ति जरासा भी निमित्त मिलने पर एकदम उत्तेजित हो आपेसे बाहर हो जाता है और एक बार उत्तेजित हो जाने पर फिर उसे अपने आप काबू पाना असम्भव हो जाता है। तामसिक भोजन करनेवालेकी प्रवृत्ति हमेशा दूसरोंको मारने-पीटने और नीचा दिखानेको रहेगी। वह दूसरेके न्यायोचित अधिकारोंको भी कुचल करके अपने अन्याय पूर्ण कार्योंको महत्त्वकी दृष्टिसे देखेगा। तामसिक भोजी अत्यन्त स्वार्थी और खुदगर्ज होते हैं।

राजसिक भोजन करनेवाले व्यक्तिकी मनोवृत्ति यद्यपि तामसिक भोजीकी अपेक्षा बहुत कुछ अच्छी होती है, पर फिर भी उसे जरा-जरासी बातों पर चिड़चिड़ाहट उत्पन्न होती रहती है, चित्त अत्यन्त चंचल और मन उतावला रहता है, अपनी प्रशंसा और पराई निन्दाकी ओर उसका अधिक झुकाव रहता है, यह यशः प्राप्तिके लिए रणमें मरणसे भी नहीं डरता है।

सात्विक भोजीकी मनोवृत्ति सदा सात्विक रहेगी। इसके हृदयमें प्राणिमात्रके प्रति मैत्री-भावना होगी, गुणीजनोंको देखकर उसके भीतर प्रमोदका पारावार उमड़ पड़ेगा और दीन-दुःखी जनोंके उद्धार करनेके लिये वह सदा उद्यत रहेगा और दिलमें दया और करुणाकी सरिता प्रभावित रहेगी उसका चित्त स्थिर और प्रसन्न रहेगा। ज्ञानोपार्जनके लिए सदा उद्यत रहेगा।

उक्त विवेचनसे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि मनुष्यके भीतर मानवीय और दैविक गुणोंकी प्राप्ति और उनके विकासके लिए सात्विक भोजन करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। तामसिक भोजनसे तो पाशविक और नारकीय प्रवृत्तियाँ ही जागृत होती हैं यदि हमें नारकी और पशु नहीं बनना है, तो यह अत्यन्त आवश्यक है, कि हम तामसिक भोजनका सदाके लिए परित्याग कर देवें।

अहिंसा और हिंसा

अहिसा जीवन है, तो हिंसा मरण है। अहिंसा शान्तिकी उत्पादिका है। अहिसा उन्नतिके शिखर पर ले जाती है, तो हिंसा अवनतिके गर्तमें ढकेलती है अहिसा स्वर्ग और मोक्षका द्वार है तो हिंसा नरक और निगोदका द्वार है। अहिंसा सदाचार है, तो हिंसा दुराचार। अहिंसा प्रेमका प्रसार करती है, तो हिंसा द्वेषको फैलाती है। अहिंसा शत्रुओं को मित्र बनाती है तो हिंसा मित्रोंको शत्रु बनाती है। अहिंसा विरोधियोंके विरोधको शान्त कर परस्परमें सुलह कराती है, तो हिसा स्नेहीजनोंमें भी कलह कराती है। अहिंसा सर्वप्रकारके सुखोंको जन्म देती है तो हिंसा सभी दुःखोंको जन्म देती है। अहिंसा धैर्यको जीवित रखती है, तो हिंसा धैर्यका नाश करती है। अहिंसा गंगाकी शीतल धारा है, तो हिंसा अग्निकी प्रचण्ड ज्वाला है। अहिंसा रक्षक है, तो हिंसा भक्षक है। अहिंसा शारदी पूर्णिमा है, तो हिंसा भयावनी अमावस्या। अहिंसा भगवतीदेवी है, तो हिंसा विकराल राक्षसी। अहिंसा भव-दुःख-मोचिनी है, तो हिसा सर्व-सुख-शोषिणी है। अहिंसासे संवर, निर्जरा और मोक्ष होता है, तो हिंसासे आस्रव, बन्ध और संसार होता है। ऐसा जानकर आत्म-हितैषियोंको हिंसा-राक्षसीको छोड़कर अहिंसा भगवतीका आश्रय लेना चाहिए।

—क्षु० सिद्धसागर

भ० बुद्ध और मांसाहार

[पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री]

अपनेको धर्म-निरपेक्ष कहने वाली भारत सरकारने अभी पिछले दिनों बुद्ध-जयन्तीके अवसर पर बुद्धधर्मके अनुयायियोंको प्रसन्न करनेके लिए सारे भारतमें अनेकों स्थानों पर अनेक समारोहोंका आयोजन किया और 'भगवान् बुद्ध' नामक पुस्तकका हिन्दी संस्करण प्रकाशित कराया। इस पुस्तकके 'मांसाहार' नामक ग्यारहवें परिच्छेदमें मांस-भक्षण की वैधता सिद्ध करनेके लिए भ० बुद्धके साथ-साथ जैन धर्म और भ० महावीरको घसीटनेका अति साहस श्वेताम्बरीय शास्त्रोंके कुछ उद्धरण और कुछ व्यक्तियोंके मौखिक हवाले देकर किया गया है। प्रस्तुत पुस्तकके लेखक आज दिवंगत हैं और उन्होंने अपने जीवन-कालमें ही दिगम्बर सम्प्रदायके विद्वानों द्वारा उनका ध्यान आकर्षित करने पर अपनी भूलको स्वीकार कर लिया था और पुस्तकके नवीन संस्करणमें उसके स्पष्ट करनेका आश्वासन भी दिया था। वे अपने जीवन-कालमें अपनी भूलको न सुधार सके। परन्तु शासनका तो यह कर्तव्य था कि खास प्रचारके लिए ही तैयार किये गये संस्करणको एक वार किसी निष्पक्ष या धर्म-निरपेक्ष समितिसे उसकी जांच करा लेते कि कहीं किसी धर्मके प्रति इसके किसी वाक्यसे घृणा, अपमान या तिरस्कारका भाव तो नहीं प्रगट होता है? पर जब हमारी सरकारको जो कि मांस-भक्षणके प्रचार पर तुली हुई है, और जिसके पक्षका समर्थन पुस्तकके उस अंशसे होता है, तब वह ऐसा क्यों करती?

दिगम्बर और श्वेताम्बर समस्त आगमोंमें जीवघात और मांस-भक्षणको महापाप बताकर उसका निषेध ही किया गया है। भगवती सूत्रके जिन शब्दोंका मांस-परक अर्थ किया जाता है, जो भ० महावीर पानी, हवा आदिके सूक्ष्म जीवों तककी रक्षा करनेका औरोंको उपदेश देते हों, वे स्वयं पंचेन्द्रिय पशुओंका पका हुआ मांस खा जायें, यह नितान्त असंभव है।

'भगवान् बुद्ध' पुस्तकके लेखक बौद्ध भिक्षु धर्मानन्द कौशाम्बीने मांस-भक्षणकी वैधता सिद्ध करनेके लिये प्रस्तुत पुस्तकके ग्यारहवें परिच्छेदमें यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि बुद्ध स्वयं मांस-भोजी थे और उनके अनुयायी भिक्षु भी मांस-भोजन करते थे। कौशाम्बीजीने जिस 'सूकर मद्दव' शब्दका अर्थ बुद्धघोषाचार्यकी टीकाके अनुसार 'सूकरका मांस' किया है, उसी टीकामें उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि—

'एके भणंति सूकर मद्दवं ति पन मुदु ओदनस्स पञ्चगोरसयूसपाचनविधानस्स नाममेतं। यथा गवपानं नाम पाकनामं ति। केचि भणंति सूकरमद्दवं नाम रसायनविधि, तं पन रसायनत्थे आगच्छति'

अर्थात् कई लोग कहते हैं कि पंचगोरससे बनाये हुए मृदु अन्नका यह नाम है, जैसे गवपान एक विशेष पकवानका नाम है। कोई कहते हैं 'सूकरमद्दव' एक रसायन था और रसायनके अर्थमें उस शब्दका प्रयोग किया जाता है।'

इस उल्लेखसे यह बात बिलकुल साफ दिख रही है कि बुद्धघोषाचार्यके पूर्व 'सूकर मद्दव' का अर्थ 'सूकर-मांस' नहीं किया जाता था। 'मद्दव' शब्दका अर्थ किसी भी कोषके भीतर 'मांस' नहीं किया गया है; किन्तु सीधा और स्पष्ट अर्थ 'मार्दव' ही मिलता है। वस्तुतः बुद्धघोष जैसे स्वयं मांस-भोजी भिक्षुओंने अपने मांस-भोजित्वके औचित्यको सिद्ध करनेके लिए उक्त शब्दको मन-माना अर्थ लगाकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि स्वयं बुद्ध भगवानूने भी अपने जीवन-कालमें मांस खाया था।

यथार्थ बात यह है कि बुद्धने पार्श्वनाथके सन्तानी जैन आचार्यसे जिनदीक्षा ग्रहण की थी और वे एक लम्बे समय तक उसका पालन करते रहे हैं। उस समयकी अपनी तपश्चर्याका उल्लेख करते हुए उन्होंने सारिपुत्रसे कहा है—

'(१) वहां सारिपुत्र! मेरी यह तपस्विता (तपश्चर्या) थी—मैं अचेलक (नग्न) था, मुक्ताचार सरभंग), हस्तापलेखन (हाथ-चट्टा), नएहिभादन्तिक (बुलाई भिक्षाका त्यागी), न तिष्ठ भदन्तिक (ठहरिये कह दी गई भिक्षाका त्यागी) था; न अभिहट (अपने लिये की गई भिक्षा) को, न (अपने) उद्देश्यसे किये गयेको (और) न निमंत्रणको खाता था; ××× न मछली, न मांस, न सुरा, (अर्क उतारी शराब), न मैरेय (कच्ची शराब), न तुषोदक (चावलकी शराब) पीता था; इत्यादि

(मज्झिमनिकाय, १२ महासीहनाद, पृ० ४८-४९)

उपर्युक्त उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि बुद्ध मांस और मद्यका सेवन नहीं करते थे। फिर थोड़ी देरके लिये यह मान भी लिया जाय, कि पीछे उन्होंने अपनी उक्त तपस्विताको छोड़ दिया था और मध्यम मार्गको स्वीकार कर मांसादिका सेवन करने लगे थे, तो भी उनके समर्थनमें या उनके महत्त्वको नहीं गिरने देनेके लिये श्रीकौशाम्बीजीने 'जैन श्रमणोंका मांसाहार' शीर्षक देकर जो यह लिखा है कि 'जैन सम्प्रदायके श्रमण भी मांसाहार करते थे।' यह तो उनका जैन साधुओं पर एकदम असत्य दोषारोपण है और यह लेखकके अति कलुषित हृदयका परिचायक है।

संसारके बड़े-बड़े विद्वानोंने एक स्वरसे यह स्वीकार किया है, कि जैनियोंके अहिंसा धर्मकी छाप वैदिक धर्म पर पड़ी है और उसके ही प्रभावसे याज्ञिक हिंसा बन्द हुई, उस अहिसा धर्मके मानने वाले साधुओंकी तो बात ही दूर है, गृहस्थ तक भी मांसका भोजन तो बहुत बड़ी बात है, उसके स्पर्श तकसे परहेज रखते हैं। गृहस्थोंके जो आठ मूलगुण बतलाये गये हैं, उसमें स्पष्ट रूपसे मद्य, मांस और मधुके सेवनका त्याग आवश्यक बतलाया गया है। यथा—

मद्य-मांस मधुत्यागैः सहाणुव्रत पंचकम्।
अष्टौमूल गुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥

अर्थात् मद्य, मांस और मधुके त्यागके साथ-साथ अहिंसादि पांच अणुव्रतोंको धारण करना, ये गृहस्थोंके आठ मूल गुण महान् श्रमणोंने बतलाये हैं।

जिस सम्प्रदायके श्रमण अपने अनुयायी गृहस्थोंको मांस न खानेका उपदेश देते हों, वे क्या स्वयं मांस भोजी हो सकते हैं? कभी नहीं, स्वप्नमें भी नहीं।

और भी देखिए। आचार्य समन्तभद्रने अपने उसी रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें जिनधर्मको स्वीकार करने वालोंके लिए मद्य, मांस और मधुका त्याग आवश्यक बताया है। यथा—

त्रसहति परिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमाद परिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरण मुपयातैः॥

अर्थात् जो लोग जिन भगवानके चरणोंकी शरणमें जाना चाहते हैं, उन्हें त्रस हिंसासे बचनेके लिए मांस और मधुका, तथा प्रमादके परिहारके लिए मद्यका यावज्जीवनके लिए परित्याग करना चाहिए।

जिस धर्मकी नींव ही अहिंसाके आधार पर रखी गई है और जिस धर्मके पालन करने वाले गृहस्थोंके लिए मांस-मद्यका परित्याग अनिवार्य है, क्या उस धर्मके धारक और अहिंसाके आराधक श्रमणोंके द्वारा क्या स्वयं मांसाहार संभव है?

इतना सब कुछ होते और जानते हुए भी कौशाम्बीजीने भ० महावीरको भी मांसाहारी सिद्ध करनेका निंद्य प्रयास किया है। वे अपनी उसी पुस्तकके पृ० २६६ पर लिखते हैं—

'अब तो इस सम्बन्धमें भी प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हो गये हैं कि स्वयं महावीर स्वामी मांसाहार करते थे।'

कौशाम्बीजीने श्वेताम्बरीय भगवती सूत्र आदिके कुछ अवतरण देकरके अपने पक्षकी पुष्टि करनी चाही है। पर उन शब्दोंका वह अर्थ कदाचित् भी नहीं है जो कि कौशाम्बी जीने किया है। भगवतीसूत्रका वह अंश इस प्रकार है—

'तं गच्छह णं तुमं सीहा, मेढियगामं नगरं रेवतीए गाहावतिणीए गिहे। तत्थ णं रेवतीए गाहावतिणीए ममं अट्ठाए दुवे कवोय सरीरा उवक्खडिया, तेहिं नो अट्ठो। अत्थि से अन्नपारियासिए मज्जारकडएकुक्कुडमंसए तं आहराहि, एएणं अट्ठो।'

अर्थात् जब भ० महावीरको गोशालकके द्वारा छोड़ी गई तेजो लेश्यासे सारे शरीरमें जलन होने लगी, तब उन्होंने अपने सिंह नामक शिष्यसे कहा—

'तुम मेंढिय ग्राममें रेवती नामक स्त्रीके घर जाओ, उसने मेरे लिए जो दो 'कबोय शरीर' बनाये हैं, वे न लाना, किन्तु 'मार्जारकृत कुक्कुट मांसक' लाना। उससे मेरा रोग दूर हो जायगा।

उक्त उद्धरणमें आये कपोत आदि शब्दोंका क्या वास्तविक अर्थ है, इसके लिए ७ मार्चके जैन सन्देशमें प्रकाशित निम्न अंश मननीय है—

'कपोत' 'मार्जार' 'कुक्कुट' और 'मांस' ये चारों शब्द वनस्पतिवाचक शब्द हैं, त्रसप्राणीवाचक नहीं। श्वेताम्बर सूत्रके अनुसार जो रोग भगवान् महावीरको बताया जाता है वह रोग क्या था, यह विचार करें, और फिर यह विचार करें कि उक्त रोगकी औषधि क्या हो सकती है?

'पित्तज्जरं परिगयए सरीरे दाह वक्कंतीए या वि विहरइ अवियाई लोहिय वच्च इं पि पकरेइ।'

(भग० सूत्र १५, १-पृ० ६८५)

अर्थात् भगवान्के पित्तज्वर हो गया, शरीरमें जलन होने लगी और खूनके दस्त होने लगे।

इन रोगोंको जो दूर कर सके वह औषधि हो सकती है। मांस इस रोगके सर्वथा प्रतिकूल है। देखिए—आयुर्वेदके शब्दसिन्धुकोष पृ० ७०१ और ७३६ में मांस व मछलीका गुणधर्म इस प्रकार बताया है कि वह 'रक्तपित्तजनक तथा उष्णस्वभाव हैं' मांस खानेका जिसे परहेज नहीं है ऐसा हिंसक और और अव्रती भी ऐसे रोगके समय मांस खानेसे परहेज करेगा, क्योंकि वह रोगवर्द्धक है, रोगके उपचारसे विरुद्ध है। भगवतीसूत्रके उल्लेखमें आये कपोत शब्दका अर्थ कबूतर नहीं है किन्तु कपोती एक वनस्पति है। जैसा कि निम्न प्रमाणसे स्पष्ट है, देखिए सुश्रुतसंहिता पृष्ठ ८२१ :—

श्वेत कापोती समूलपत्रा भक्षयितव्वा गोनस्य जगरां। कृष्ण कापोतीनां सनखयुष्ठिम् खण्डशः कल्पयित्वा क्षीरेण विपाच्य परिस्रावितमभिहुतञ्च सकृदेवापभुञ्जीत ॥

वनस्पती श्वेत-कापोती और कृष्णा-कापोती ऐसी दो प्रकारकी कही गई है। श्वेत कापोतीका लक्षण इस ग्रन्थमें इस प्रकार बताया है :—

निष्पत्रा कनकाभाषा. मूलं द्वयं गुणसम्मिता।
सर्पाकारा लोहितान्ता, श्वेत-कापोति रूच्यते ॥

अर्थात् श्वेत-कापोती सुवर्ण-वर्ण बिना पत्तेकी, मूलमें दो अंगुल प्रमाण सर्पाकार, अन्तमें लाल रंगकी होती है। कृष्णा-कापोतीका स्वरूप बताया है.—

सक्षीरां रोमशां मृद्वी, रसेनेक्षुरसोपमाम्।
एवं रूपरसाञ्चापि. कृष्णाकापोतिमादिशेत् ॥

जिसमें दूध पाया जाय, रोम वाली, नरम, गन्ने समान मीठा जिसका रस हो वह कृष्णा-कापोती है।

कापोत या कापोती साधारणतया कबूतर और कबूतरीके अर्थमें प्रसिद्ध है, पर सुश्रुत नामक आयुर्वेद ग्रन्थके उक्त श्लोकोंमें वर्णित कापोती क्या वनस्पति (औषधि) के लिये नहीं आया है? पाठक विचार करें।

'कवोय-शरीरे' इसमें 'कपोत-शरीर' शब्दसे जड़ और पत्ते समेत कपोत फल ऐसा अर्थ है। 'शरीर' शब्द वनस्पति प्रकरणमें फल, पत्र, जड़ सबको ले लेनेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। अनेक औषधियोंमें यह बताया गया है कि वह 'पञ्चांग' लेना चाहिए। अङ्ग और शरीर शब्द एकार्थ वाचक हैं। वनस्पतिके भी अङ्ग ५ निम्न प्रकार माने गये हैं। जड़, पींड, पत्ते, फूल, फल। सुश्रुतमें प्रतिपादित उल्लेखमें भी यह बताया गया है कि 'श्वेत-कापोती समूलपत्रा भक्षयितव्या' अर्थात् जड़ पत्तों सहित खानी चाहिये।

पाठक विचार करें कि यथार्थमें कपोत या कपोती शब्द-से और शरीर शब्दसे उस रोगोत्पत्ति नाशक प्रकरणमें 'कपोती वनस्पति' का अर्थ लिया जायगा या कबूतरके मांस का'

आयुर्वेदमें सैंकड़ों वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिनका नाम प्राणीके आकार, रूप रङ्ग परसे उस प्राणी जैसा ही नाम रख दिया गया है। पर उससे प्रकरण तो प्राणीके खानेका नहीं, वनस्पति सेवनका है।

प्रकरणवशादर्थगतिः'

शब्दका अर्थ प्रकरणके वश लगाना चाहिये। भोजनार्थी यदि भोजनके समय 'सैंधवमानय' अर्थात् 'सैंधव लाओ' ऐसा कहे तो उस प्रकरणमें सैन्धवका अर्थ सैंधा नमक ही होगा 'घोड़ा' नहीं। यद्यपि 'सैंधव' शब्दका अर्थ सेंधा नमक भी है और घोड़ा भी। यात्राके प्रसंग पर यदि वह वाक्य बोला गया होता तो सैंधवका अर्थ 'घोड़ा' होता, नमक नहीं। इसी प्रकार कपोत शब्दका कबूतर भी अर्थ है और कापोत नामक वनस्पति भी। औषधिके प्रकरणमें उसका औषधि अर्थ लिया जायगा कबूतर नहीं। अब आगे देखिए —

कृष्ण कापोतीको 'रोमवाली' कहा है सो रोम तो बालोंको कहते हैं और बाल पशु पक्षीके शरीरमें होते हैं पर क्या 'रोम' शब्द पढ़ कर उसे पक्षी समझ लिया जाय? कदापि नहीं, वहाँ तो सुश्रुतकार स्वयं 'रोमवाली' कह कर भी उसका अर्थ वनस्पति की पहिचान मात्र कहते हैं।

कापोती कहाँ पाई जाती हैं इस सम्बन्धमें सुश्रुतकार लिखते हैं :—

कौशिकीं सरितं तीर्त्वा संजयानयास्तु पूर्वतः।
क्षिति प्रदेशो वाल्मीकै राचितो योजनत्रयम्।
विज्ञेया तत्र कापोती श्वेता वल्मीक मूर्धसु।

अर्थात् श्वेत कापोती—कौशिकी नदीके पार संजयंती-के पूर्व ३ योजनकी भूमि है जो सर्पकी बांबियोंसे विस्तृत है, वहाँ बाँबियोंके ऊपर पैदा होती है।

उक्त उद्धरणसे यह दर्पणकी तरह स्पष्ट है कि औषधि-के प्रकरणमें 'कापोती' का अर्थ उक्त वनस्पति है, 'शरीर' का अर्थ समूलपत्रांग है न कि 'कबूतर के शरीर'।

दूसरी बात 'मज्जारकृतकुक्कुट-मांस' शब्द पर विचार करना है।

मज्जार-मार्जार बिल्लीका वाचक है, सत्य है? बिल्ली का वाचक 'विडार' भी है। विडारके नाम पर प्रसिद्ध औषधि है जिसे विदार' या 'विदारीकन्द' कहते हैं।

कुछ प्रमाण देखिए—

(१) 'विडाली स्त्री भूमिकूष्माण्डे'

—शब्दार्थ चिन्तामणि

अर्थात् 'विडाली' शब्द स्त्रीलिंग है और भूमिमें होने वाले 'कूष्माण्ड' जिसे हिन्दीमें 'कुम्हड़ा' या 'काशीफल' कहते हैं उस अर्थमें आता है।

(२) 'विडालिका स्त्री भूमिकूष्माण्डे'

—वैद्यक शब्दसिंधु।

इसका अर्थ ऊपर प्रमाण ही है।

(३) 'विदारी द्वयम् विदारी क्षीर विदारी च।'

अर्थात् विदारी या विडारी दो प्रकार है एक सामान्य विदारी एक क्षीर विदारी। क्षीर विदारीका अर्थ है जो क्षीर कहिये दूधको विदारण कर दे। चूंकि बिल्ली दूधको बचने नहीं देती इस अर्थसे विदारीकन्द जो दूधको दूध नहीं रहने देता, उसका विदारण कर देता है इस अर्थ साम्यके कारण उसे क्षीर विदारी या विदारी या विडारी कहते हैं। लोकमें विडारी या विडारिकाका अर्थ बिल्ली माना जाता है। पर इस प्रकरणमें ग्रन्थकारने उसे 'भूमि-कूष्मांड' या विदारीकन्दके नामसे स्वयं उल्लेख किए हैं।

'गजवाजिप्रिया वृष्या वृक्षवल्ली विडालिका'

यह 'विडालिका' नामक वृक्षकी बेल हाथी और घोड़ों-को प्रिय है, वे खाते हैं और वह पुष्टिकारक है।

इस श्लोकके पढ़नेके बाद 'विडालिका' का अर्थ वृक्षकी बेल स्पष्ट हो जाता है न कि बिल्ली। शब्द प्रयोगमें कभी कभी श्लोकमें यदि विडालिका चार अक्षरका शब्द नहीं बनता तो पर्यायवाची 'मार्जार' शब्दका भी प्रयोग कर दिया जाता है। संस्कृत साहित्यमें इसके सैकड़ों उदा-हरण हैं।

कुक्कुट शब्दका विचार

सुनिषण्णक नामक वनस्पतिका दूसरा नाम कुक्कुट है। देखिये—

कुक्कुट: कुक्कुटक: (पुंलिंग:) सुनिष्णणकशाके— शब्दसिंधु पृष्ट-२१६, सुनिषण्णः सूचिपत्रश्चतुष्पत्रोवितन्नुकः। श्रीवारकः सितिवारः स्वास्तिकः कुक्कुटः सितिः॥

अर्थात् सुनिषण्णकके इतने नाम हैं—

सुनिषण्ण—सूचीपत्र—चतुष्पत्र, वितुनक, सितिवार, स्वास्तिक, 'कुक्कुट' सिति। इसमें सुनिषण्ण वनस्पतिको 'कुक्कुट' यह नाम भी दिया है। जिससे यह स्पष्ट है कि यह भी एक वनस्पति है। शब्दसिन्धुमें इसे 'शाकभाजि लिखा है।

मांस शब्द जिस तरह मनुष्य पशु पक्षीके स्थिर रक्त रूप' अर्थमें आता है वैसे ही अनेक ग्रन्थोंमें फलके गूदेको भी मांस नामसे लिखा है।

अनेक प्रमाण इसके हैं—

रोम शब्द—वनस्पतिके रेशोंमें, रक्त शब्द—वनस्पतिके रसमें, मांस शब्द—वनस्पतिके गूदेमें, अस्थि शब्द—वनस्पतिके बीजोंमें प्रयुक्त किये हैं।

कुछ उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो जायगा।

'मूले कंदे छल्ली पवाल साल दल कुसुम फल बीजे'

—गोमटसार जीवकांड (दिगम्बर जैन करणानुयोग)

इस श्लोकमें सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित वनस्पतिके प्रकरणसे छल्ली शब्दका संस्कृत शब्द 'त्वक्' बताया गया है।

'तनुकतरा' शब्दमें पतलातनु माने पतली छाल अर्थ किया गया है।

त्वक् शब्द चमड़ेके अर्थमें भी आता है और यहां 'छाल' के अर्थमें आया है।

देखिए वाग्भट्ट (वैद्यकग्रन्थ) में—

त्वक् तिक्तकटुका स्निग्धा, मातुलिंगस्य वातजित्। बृहणं मधुरं मांसं वातपित्त हरं गुरु। अर्थात् मातुलिंग (बिजौरा) की छालके लिए त्वक्' शब्द आया है जो चमड़ेके अर्थमें भी आता है। मातुलिंगका गूदा पुष्टिकर मीठा और वातपित्तनाशक है। यहां गूदाके लिये 'मांस' शब्द लिखा गया है।

इस तरहके अनेक प्रकरण हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि त्रस प्राणीके शरीरके वर्णनमें 'त्वक्' शब्दका अर्थ चमड़ा है। रक्तका अर्थ खून और मांसका अर्थ जमा हुआ खून है। अस्थिका अर्थ हड्डी है। किन्तु वनस्पति प्रकरणमें इन सभी शब्दोंका क्रमशः अर्थ त्वक्—छाल। रक्त—रस। मांस—

गूदा याने फलका गर्भ भाग। अस्थिका अर्थ फलके बीज हैं।

दशवैकालिक (श्वे० सूत्र) में वर्णित—

बहुअट्ठियं पुग्गलं अनिमिसं बहुकायं' आदि वाक्योंमें बहुत 'अस्थि' वाले पुद्गल अर्थात् फल, बहुत कांटे वाले फल आदिके खानेका निषेध किया है। यहां अस्थि शब्द बीजका वाचक है तथापि लोकमें साधारणतया अस्थि नाम हड्डीका है।

इस प्रकारके शब्दोंके प्रयोग ग्रंथकारोंने किये हैं। क्यों किए? इसका भी एक कारण है। त्रस प्राणीके शरीरमें जो स्थान चमड़ा, रक्त, मांस और हड्डीका है, फलके निर्माण में भी उसी प्रकार छाल, रस, गूदा और बीजका भी है। रचना प्राणि-जगत्में करीब-करीब समान पाई जाती है। उस लिहाजसे अनेक स्थानोंमें न केवल श्वेताम्बर जैन आगमोंमें बल्कि आयुर्वेदके प्रधानतम ग्रन्थोंमें सर्वत्र ऐसे शब्दोंका प्रयोग पाया जाता है।

उक्त सभी शब्दके अर्थको विचार करने पर फलितार्थ यह होता है कि—'गोशालकके द्वारा तेजोलेश्या छोड़े जाने पर भ० महावीरको पित्तज्वर-दाह आदि रोग होगया और उसके दूर करनेके लिए उन्होंने सिंह नामक शिष्यकी प्रार्थना पर यह आज्ञा दी कि—

मेंढियग्राममें रेवतीके घर जाओ। उसने मेरे रोग-शमनार्थ जो दो कपोतफल समूल-पत्र बनाकर रखे हैं, वे न लाना। कारण वे मेरे निमित्तसे बनाये हैं। उनके खानेमें उद्दिष्ट दोष होगा। तुम उससे 'बिडारी कन्दके द्वारा कृत यानी उसकी भावना दिए हुए शाल्मली वृक्षके फलके गूदेको लाना, जो उसके पास पहलेसे तैयार रक्खा है। जिससे उद्दिष्टका दोष न आवे।

यह उस प्रकरणका संगतार्थ है। पर कौशाम्बीजीने अपने प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए जानबूझ कर उक्त शब्दों-के अर्थका अनर्थ कर भ० महावीर और जैन लोगोंको लांछित करनेका घृणित एवं निंद्य प्रयास किया है।

जैनोंके सभी सम्प्रदायवालोंका इस समय यह परम कर्तव्य है कि वे एक स्वरसे उक्त अंशका प्रबल विरोधकर उसे उस पुस्तकमेंसे निकाल देनेके लिए भारत सरकारके शिक्षा विभागको बाध्य करें। अन्यथा यह पुस्तक भविष्यमें अहिंसाको परम धर्म मानने वाले जैनियोंका मुख ही कलंकित नहीं करेगी, अपितु जैन संस्कृतिको ही समाप्त करने वाली सिद्ध होगी।

पार्श्वनाथ वस्ति-शिलालेख

दक्षिणभारत जैनकला, स्थापत्य और साहित्य, राजा, राजमंत्री, कोषाध्यक्ष, सेनापति, मुनियों, भट्टारकों और श्रावकोंकी धर्म-प्रेमकी गाथाओंसे गौरवान्वित है। वहांके विशाल मन्दिर मूर्तियां, गुफाएँ और कलात्मक अवशेष जैनधर्मकी गरिमाके प्रतीक हैं। यहां चामराजनगरकी पार्श्वनाथ वस्तिके भव्य प्राङ्गणमें छप्पर पर मण्डपके पाषाणपर निम्न शिलालेख उत्कीर्णित है जो शक वर्ष ११०३ प्लव संवत्सरका है। वह पाठकोंकी जानकारीके लिए एपि-ग्राफिका कर्नाटिका जिल्द ४ से नीचे दिया जाता है—

श्रीविद्यानन्द स्वामिनः। चिक्कतायि गलु।
श्रीमदच्युत राजेन्द्राद् दीयमान सुतोवरः।
श्रीमदच्युत-वीरेन्द्र शिक्ययाख्यो नृपाग्रणीः॥ ?
तस्य भिषग्वरः।
कमलन-कुल जातो जैन धर्माब्ज-भानु—
र्विदित-सकल शास्त्रस्सद्बुध-स्तोम-सेव्यः।
मुनिजन पद भक्तो बन्धु-सत्कार-दक्षो।
धरणि-पवर-वैद्यो भाति पृथ्वीतलेऽस्मिन्॥

तस्य कुल वनिता
त्रिवर्ग ससाधनसावधाना साध्वी शुभाकारयुतासुशीला
जिनेन्द्रपादाम्बुज भक्तियुक्ताश्रीचिक्कतायीति महाप्रसिद्धा
प्लवाब्देऽप्याश्विने शुक्ल दशम्यां गुरु वासरे
कनकाचल-पार्श्वेश-पूजार्थं पञ्च-पर्वसु।
मुनीनां नित्य दानार्थं शास्त्रदानाय सन्ततं,
चिक्क-तायीति विख्याता दत्तश्री किन्नरी पुरा॥
तयोः पुत्रः
विद्यासारस्सदाकारस्सुमना बन्धु-पोषकः।
हृदयः पूज्यो भिषग्-राजस्तत्त्वशीलो विराजते॥
ई. शामनद शक वर्ष ११०३ ने प्लव सं०

इस शिलालेखमें धरणी नामके वैद्यराजकी धर्मपत्नी चिक्कतायीके द्वारा पंचपर्व दिनोंमें कनकाचलके पार्श्वनाथकी पूजा, मुनियोंके नित्य (आहार) दान और शास्त्र दानके लिये किन्नरीपुरा नामका ग्राम उक्त शक संवत्की आश्विन शुक्ला दशमी गुरुवारके दिन दानमें दिया गया है।

—परमानन्द जैन

सो णंदउ जो लिहइ लिहावइ,
रस-रसड्ढु जो पढइ पढावइ।
जो पयत्थु पयडेवि सुभव्वहं,
मणि सद्दहणु करेइ सुभव्वहं।
णंदउ देवराय णंदण धर,
होलिवम्मु कण्णु च उण्णाय कर।
एहु चरित्तु जेण वित्थारिउ,
लेहाविव गुणियण उवयारिउ।
होउ संति णीसेसहं भव्वहं,
जिण-पय-भत्तह वियलिय-गव्वहं।
वरिसउ सयल-पहुमि घरवारहं,
मेह जालु पावस-वसुहारहं।
घरि-घरि मंगल होउ सउण्णउ,
दिणि-दिणि धण धण्णहं संपुण्णउ।
होउ संति चउविह जिण-संघहु,
देसवास णरणाह दुलंघहु।
णंदउ सासणु वीर-जिणिंदहो,
सेणियराय-णरिंद-णिवासहो।
मंदर-सिहरि होउ जम्मुच्छउ,
घरि-घरि दुंदुहि-सद्दु अतुच्छउ।
होउ सयल पूरंतु मणोरह,
परमाणंद पवट्टउ इह मह।
अभिय-विड उसहएवहं णंदणु,
जगि जगि मित्तु वि दुरिय-णिकंदणु।
विण्णवेइ सम्मत्त दय किज्जउ,
सासय-सुह-णिवासु महु दिज्जउ।
आल्हा साहु साहसु महुणंदणु,
सज्जण-जणमण-णयणाणंदणु।
होहु चिराउस णिय-कुल-मंडणु,
मग्गहा-जण दुह-रोह विहंडणु।[1]
होउ संति सयलहँ परिवारहँ
भत्ति पवट्टउ गुरु-वय-धारहँ।
पउमणंदि मुणिणाह गणिंदहु,
चरण सरणु गुरु कइ हरिइंदहु।
जं हीणाहिउ कव्वु-रसट्टहँ,
पउ विरइउ सम्मइ अवियट्टहँ।

तं सुअणाण-देवि जगसारी,
महु अवराहु खमउ भंडारी।
दय-धम्म-पवत्तणु विमल सुकित्तणु णिसुणंतहो जिणइंदहो।
जं होइ सुधण्णउ इउ मणि मण्णउ तं सुह जगि हरिइंदहो॥

इति श्री वर्धमानकाव्ये श्रेणिकचरित्रे एकादशमः संधिः।

प्रति जैनसिद्धान्तभवन आरा लि० सं. १६००

२७—भविसयत्त कहा (भविष्यदत्त-कथा)

कवि श्रीधर, रचनाकाल सं. १२३०

आदिभाग:—

ससि-पह जिणचरणइं सिव-सुहकरणइं पणविवि णिम्मल-
गुण-भरिउ।
आहासमि पविमलु सुअ पंचमिफलु भविसयत्त-कुमरहो चरिउ

× × ×

सिरि चंदवार-णयर-ट्ठिएण,
जिण-धम्म-करण उक्कट्ठिएण।
माहुर-कुल-गयण तमीहरेण,
विबुहयण सुयण मण धण हरेण।
णारायण-देह समुब्भवेण,
मण-वयण-काय-णिंदिय-भवेण।
सिरि वासुएव गुरु-भायरेण,
भव-जलणिहि-णिवडण-कायरेण।
णीसेसें सविलक्ख गुणालएण,
मइवर सुपट्ट णामालएण।
विणएण भणिउ जोडेवि पाणि,
भत्तिए कइ सिरिहरु भव्वपाणि।
इह दुल्लहु होइ जीवहं णरत्तु,
णीसेसहं संसाहिय परत्तु।
जइ कहव लहइ दइयहो वसेण,
चउगइ भमंतु जिउ सहरसेण।
ता विलउ जाइ गब्भे वि तेमु,
वायाहउ णाहेसर पब्भु जेमु।
अह लहइ जम्मु ता बहु-विहेहिं,
रोयहिं पीडिज्जइ दुह-णिहेहिं।
जइ णिहिय मायरि अय-खामोयरि अवहेरइ णियमणि अणासु
पय-पाण-विहीणउ जायइ दीणउ तासो णवि जीवेइ सिसु॥२
हउं आयइ मायइ मह मइए,
सइं परिपालिउ मंथर-गइए।

---

१ यह पाठ जैनसिद्धांत भवन आराको प्रतिमें नहीं है।

कप्पयरुव विउलासए सयावि,
दुल्लहु रयणु व पुण्णेण पावि ।
जइ एयहिं विरयमि थोवयारु,
उग्घाडिय सिव सउ हलय वारु ।
ता किं भणु कइ मइ आयएण,
जम्मण-मह पोडा-कारएण ।
पउ जाणि वि सुललिय पयहिं सत्थु,
विरयहि बुहयण मणहरु पसत्थु ।
महु तणिय माय णामेण जुत्त,
पायडिय जिणेसर भणिय सुत्त ।
वणिवइ भविसयत्तहो चरित्तु,
पंचमि उववासहे फलु पवित्तु ।
महु पुरउ समक्खिय वप्प तेम,
पुव्वायरियहिं भासियउ जेम ।
तं णिसुणेविणु कइणा पउत्त,
भो सुप्पढ पइं वज्जरिउ जुत्तु ।
जइ मुज्झ समत्थि णउ करेमि,
हउं अज्जु कहव णिरु परिहरेमि ।
ता किं आयइ महु बुद्धियाइं,
कीरइ विउलाए स-सुद्धियाइ ।

घत्ता—किं बहुणा पुणु-पुणु भणिएं सावहाणु विरएवि मणु ।
भो सुप्पढ महमइ जाणिय भवगइ ण गणमि हउं मणे पिसुण-यणु

× × ×

इय सिरि-भविसयत्त-चरिए विबुह-सिरि सुकइ सिरिहर-विरइए साहु णारायण-भज्ज रुप्पिणि-णामंकिए भविसयत्त उप्पत्ति-वण्णणो णाम पढमो परिच्छेओ समत्तो ॥ संधि १

अन्तिम भाग:—

णरणाह विक्कमाइच्च काले,
पवहतए सुहयारए विसाले ।
वारहसय-वरिसहिं परिगएहिं,
फागुण-मासम्मि वलक्ख पक्खे,
दसमिहि दिणे तिमिरुक्कर विवक्खे ।
रविवार समाणिउ एउ सत्थु,
जिह मइं परियाणिउ सुप्प सत्थु ।
भासिउ भविसयत्तहो चरित्तु,
पंचमि उववासहो फलु पवित्तु ।

—प्रति आमेरभंडार लिपि सं० १५३०

२८ संभवणाह चरिउ (संभवनाथ चरित)

कवि तेजपाल

आदिभाग:—

पणविवि अणिंदहो चरिम जिणिंदहो वीरहो दंसणणाणवहा ।
सेणियहु णरिंदहो कुवलयचंदहो णिसुणहु भवियहो पवरकहा
सेणियरायहो लच्छि सहायहो सयलु सउणउं सुहयरु ।
कुवलय आसासणु तम णिण्णासणु जयउ चरिउ णं हि मयरु
वसंततिलका—संबद्ध सत्तभवरा णियजीवके वि,
सीसेण ·········· पाउलहि विवेउ ।
गोत्तु णिबद्धु अरुहस्स फलेण जस्स,
सइंसणस्स महिमा पयडेमि तस्स ॥छ॥
अहो भवियहो णिसणहु थिरु कुणेहु,
सेणियचरित्तु जह तह सुणेहु ।
चिरु पयडिउ गोयमसामि जेम,
बहु रस रसड्ढु हउं भणमि तेम ।
इह दीवि भरह खेत्तंतराल,
हिउ मगहदेसु गिरि सरि विसाल ।
कणयहिव जो णंदण वणेहिं,
तरु सहलिय कुसुमिय पल्लव घणेहिं ।
रयणायरुव्व रयणायरेहिं,
उवयाय घणुव्व बहु-जल-सरेहिं ।
कय कव्वु व बहुरस-पोसणेहिं,
वल्लहइ व कय हलकरि सणेहिं ।
कण्हु व कंसा णिक्कंदणेहिं,
अरहु व सेविवु सक्कंदणेहिं ।
बहुधण्णेसुव कय-वित्तएहिं,
मीमंसु व पोसिय तक्कएहिं ।
अज्जव महिव्व जण भोइएहिं,
समसरणु व संठिय जोइएहिं ।
जं सोहइ पुरु तहिं रायगेहु,
·········· · ··· ।
जय पास वर भास पूरिय जणास,
जयवीर जिणइंद णिहंद णिव्वास ।
बारसंगि समयग्गय जिणमुहणिग्गय छइंसण पोसिय णिरय ।
दुविहालंकारहिं णेय पयारहिं सा भयवइ सइ जयउ सय ॥१॥
पुणु पणवेमि मुणि तव-तेय-चारु,
चिर चरियकम्म दुक्खावहारु ।
मुणि सहसकित्ति धम्माणुवट्टि,
गुणकित्ति गुणायरु ताह पट्टि ।

तहो सीसु सेय-लच्छी-खिवासु,
जसकित्ति जियायम पह-पयासु।
तहो पट्टि महामुखि मलयकित्ति,
उद्धरिय जेण चारित्त वित्ति।
तहो सीसु णमंसमि णाय-सिरेण,
परमप्पउ साहउ पवर जेण।
दो पडम भाण दूरीकएण,
दो भाणहिं णियमणु दिण्णु जेण।
गुणभद्दु महामइ महसुणीसु,
जिणसंगहो मंडणु पंचमीसु।
जे केवि भव्व कंदोट्ट-चंद,
पणवेप्पिणु तह अरविंदु णिंद।
मुणि गुणकित्ति भडारउ तच्च वियारउ सव्व सुहंकरु विगयमलु
मइ पय पणवंतहो भत्ति कुणंतहो कव्व-सत्ति संभवउ फलु ॥२॥
इह इत्थु दीवि भारहि पसिद्धु,
णामेण सिरिपहु सिरि-समिद्धु।
दुग्गु त्रि सुरम्मु जण जणिय-राउ,
परिहा परियरियउ दीहकाउ।
गोउर सिर कलसाहय पयंगु,
णाणा लच्छिए आलिंगि पंगु।
जहिं-जण णयणाणंदिराइं,
सुणि-यण-गण-मंडिय-मंदिराइं।
सोहंति गउर-वर कइ-मणहराइं,
मणि-जडिय किवाडइं सुंदराइं।
जहिं वसहिं महायण चुय-पमाय,
पर-रमणि परम्मुह मुक्क माय।
जहिं समय करडि घड घड हडंति,
पडिसद्दें दिसि विदिसा फुडंति।
जहिं पवण-गमण धाविय तुरंग,
णं वारि-रासि भंगुर-तरंग।
जो भूसिउ खेत-सुहावणेहि,
सग्यव्व धवल-गोहण गणेहिं।
सुरयण वि समीहहिं जहिं सजम्मु,
मेल्लेविणु सग्गालउ सुरम्मु।
रिउ-मीस-विहट्टणु पविउलु पट्टणु सिरिपहु णामे रयणि-खिहि।
तहि णिवसइ महिवइ रूवें सुरवइ अइतरु परहं पयंडु सिहि ॥३
किं वण्णमि अइ रवि-सरिस-तेउ,
महि-मडलि पयडी कय-विवेउ।
अउहइवंसि दुग्गाह गाहि (?),
णामें पसिद्धु दाउद्दसाहि।
पच्चंत वासि मंडलु असेसु,
णियवलि सहेविणु पुव्वदेसु।
तिहुअणिण ण कोवि जे समु पयंडु,
दक्खिणदिसि पेसिउ णियय दंडु।
पच्छिम दिसि णरवइ जे जियंति,
सेवंति णारु अवसरु णियंति।
उत्तर दिस णरवइ सुइ वि दप्पु,
माणंति आण ढोवंती कप्पु।
किं किं गुण वण्णमि पयड तासु,
णं तोयणिहिव्व गंभीरमासु।
मण इच्छिय-यरु णं कप्पतरुव्व,
अवहरिणु जण वयहो विसुत्तु दुक्खु।
तहिं कुल गयणंगणि सियपयंगु।
सम्मत्तवि-हूसण-भूसियंगु।
सिरि अयरवाल कुल कमल-मित्तु,
कुलदेवि णवड मित्तण गोत्तु।
इह लखमदेउ णामेण आसि,
अइ णिम्मलयर-गुण-रयण-रासि।
वाल्हाही णामें तासु भज्ज,
सीलाहरणालंकिय सलज्ज।
तहो पढम पुत्तु जण-णयणरामु,
हुअ आरक्खिय तस जीव गामु।
णामें खिउसी जण-जणिय-कामु,
वीयउ होलू सुपसिद्धु णामु।
तहो वीइ वरंगण ति-अवसार,
णामेण महादिउही सुनार।
तेहिंमि दोहिंमि सुहलक्खणहिं भज्जहिं सोहइ सेट्ठि वरु।
जिम णंद सुणंदहि मणहरहिं रिसहु जिणेसरु तिजय पहु ॥४॥
तहं दिउही पुत्त चयारि चारु,
णियसवि वि णिज्जिय-वीरु-मारु।
दिउसी णामें जण-जणिय-सेउ,
गुरु-भत्तिए संथउ-अरुह देउ।
तस्साणुउ बंधउ अवरु आउ,
जिणणाहरणालंकियउ काउ।
जो दिंतु दाणु वंदीयणाहं,
विरए वि माणु सहरिस-मणाहं।

जसु तणियकित्ति गय दस दिसासु,
जो दिंतु ण जाणइ सइ सहासु ।
जसु गुण कित्तणु कइयण कुणंति,
अणवरउ वंदियण णिरु थुणंति ।
जो गुण-दोसइं जाणइं वियारु,
जो परणारी-रइ-णिव्वियारु ।
जो रयणत्तय-भूसिय-सरीरु,
पडिवरण-वयण धुर धरण धीरु ।
रेहइ थील्हा णामेण साहु,
गुरुभत्ति णविय तिल्लोक णाहु ।
तस्साणुय अवरुवि मल्लिदासु,
को वण्णिवि सक्कइ गुण-सहासु ।
जिणु कुंथुदासु छट्टमउ भाइ,
जिण पुज्ज पुरंदर गुण विहाइ ।
ता भणइं थील्हु ते धणवंत,
कुल-बल-लच्छी-हर णाणवंत ।
अणवरउ भमइ जणि जगि जाहं कित्ति,
धवलंती सयरापर धरत्ति ।
ता पुणु हवेइ सुकइत्तणेण,
अहवा सुहि पुत्त सुकित्तणेण ।
धणु दिंत किंत्ति पसरेइ लोइ,
णवि दिज्जइ तो जस-हाणि होइ ।
अहं किं पुत्तें धणुहम्मि जाम,
कित्तणु विहाइ धरणियलि ताम ।
सुकइत्तें जा गिरि-सरि-धरत्ति,
ससि सूरि मेरु णक्खत्त पंति ।
सुकइत्तु वि पसरवि भवियणम्मि,
संसग्गें रजिय सज्जणम्मि ।
अह सावय कुल तो मह पहाणु,
लेहावमि संभव-जिण पुराणु ।

एत्तहिं गुण सायरु जण तोल्लायरु जिण सासण भर णिव्वहणु
सावय-वय पालउ सुद्धु सुहालउ दीणाणाह रोस-हरणु ॥२॥

धम्मेण तव पुत्तु समसव्व सुहयारि,
चाएण कण्णु बल-रूवेण कंसारि ।
समदिट्ठि वर वंसि णियगोत्ति णहि-चंदु,
जिणधम्मवर मुत्ति सावय मणाणंदु ।
लखमदेव सोमव्व सुपुत्तु महि धण्णु,
महादेवही माइवर अंगि उप्पण्णु ।
णामेण थील्हा जिण भत्ति सुत्तासु,
तें भणिउं कइ इक्क दिय हम्मि सिरिधासु ।
जिणणाह कम मूलि सिरु णाइ थिरु रत्तु,
अक्खेइ णिय कउल सिरिमंतु सु-महंतु ।
भो पंडिया लद्ध वर कव्व-कय-सत्ति,
अणवरय पइंविहिय आजम्म जिणभत्ति
भव-दुह-तरंगाल-सायर-तरंडस्स,
णं महिय रइणाहु गुणमणि करंडस्स ।
बहुभेय दुट्ठट्ठ-कम्मारि-हय जेण,
परिधविय भव्वयण दयधम्म अमिएण ।
छंडवि उ ण तव तिव्व दित्ती दिणंदस्स,
पाइडहि वर कव्वु संभव-जिणिंदस्स ।
तं णिसुणि विभासइ सरि विसरासइ तेजपालु जयमि तु बुहु ।
तव-वय कय-उज्जमु पालिय संजमु अवहत्थिय गिहदंड दुहु (?)।६

भो णिसुणि थील्हु वर सुद्धवंस,
णिय-कुल-कमलायर-रायहंस ।
मणिमलिण वि दुस्समु कालुएहु,
दुय भाण विवज्जिउ दुक्ख-गेहु ।
णर णरवइ एवहि धम्महीण,
बहु पावयम्म विहवेण खीण ।
जो जो णरु दीसय सो दु मित्तु,
किंह अत्थि पयट्टइ मज्झु चित्तु ।
जिण संभवहो चरिउ एम,
णायण्णु कहमवि कहमि केम ।

× × ×

इय सभव-जिणचरिए सावय-विहाणफल भरिए पंडिय-सिरितेजपालविरइए सज्जणसंदोह-मणअणुमणिए सिरि-महाभव्व थील्हा सवण-भूसणे सिरिविमलवाहणणिव-धम्म-सवण-वण्णणो णाम पढमो परिच्छेओ समत्तो ॥१॥

अन्तिम भाग—

अयरवाल कुल-णहिं दिवसाहिउ,
मीतगु गोत्तु गुणेण य साहिउ ।
णावडिकुल देवय संतुट्ठउ,
धण······धणधार पउट्ठउ ।
सोता संघाहिउ चिरु हुंतउ,
णिय विढत्तु सिरिहलु भुंजंतउ ।
चउविह संघभत्ति जे दाविय,
जे जिणबिंब पइट्ठ कराविय ।

तेजा तासु पुत्त धणरिद्धउ,
जोव्वण सिय लावण्ण समिद्धउ।
तासु-वरंगणि हिय-मिय भासिणि,
थिर राजही दिढ जिण-सासणि।
लखमदेउ तहो सुअ गुणरिद्धउ,
णिय रूवोह हणिय मयरद्धउ।
वाल्हाही तहो णामें पत्ती,
मुणिवर वयण जिणागम भत्ती।
खिउसी तासु पुत्त गुणसायरु,
वच्छराजही गेह कयायरु।
णेमिदासु तहो सुउ संजायउ,
देवदासु अवरुवि विक्खायउ।
खिउसी अवरु होलु तहो भायरु,
छाल्हाही पियमसु सुक्खायरु।
देवपालु तहो पुत्त पसिद्धउ,
आचरइ अवरु गुण-रिद्धउ।
लखमएव गिह बीय वरंगण,
महादेवही णाइ सुरंगण।
दिवसी तासु पुत्त गुण-सायरु,
गंगदेवही णाइय भज्जरु।

घत्ता—तहो पुत्त कुमारसीहु अवरु दिउचदु जाणित्तउ।
णागराजु चउत्थउ धम्मरइ पुणि पंचायणु पंचमउ ॥२६॥

दुवई—णिद्धण कुंट मंट वि दाणं देइ सहउ लंवणो थील्हा।
तासु बंधु कुल मंडणु,दुह-सिहि-समणु णवघणो ॥६॥

कोल्हाही णामें तहो भामिणि,
सुहलक्खण सधम्म रु सामिणि।
तासु कुक्खि उप्पण्णु मणोहरु,
तिहुणपाल णामें कुल-ससहरु।
थील्हा भज्जु अवरु लहुयारी,
आसराजही बहुगुण सारी।
तासु कुच्छि रयमलु उप्पण्णउ,
पुण्णवंतु महिमंडल धण्णउ।
थोल्हा लहुउ बंधु गुण दिद्धउ,
जिणवर मल्लिदासु सुपसिद्धउ।
भावणही तहो तीय महाइय,
रेहइ पुत्त चयारि विराइय।
हंमराजु पढमउं जण-पुज्जिउ,
पुणु जगसी णरपति ती) तइज्जउ।
तुरियउ महणसीहु उवयाय करु,
चंदहु ताम जाम ससि दिणयरु।
लखमदेव सुउ पचमु सारउ,
जिणवर कुंथुदासु इय णारउ।
जसु चाएण दुहिय-सोक्खं-करु,
छिण्णउ आजम्मु वि जायउ गरु।
जा सुत्तउ पेच्छेविणु वंगउ,
लज्जइ कामु वि जाउ अणंगउ।
जसु गंभोरिय गुण असहंतउ,
अंभोणिहि खारत्तणु पत्तउ।
जो जिणभासिय धम्म धुरंधरु,
णिय जसेण धवलिय गिरिकंदरु।
तहो पिय धणणाही घर धण्णउ,
भोज्जु तासु पुत्त उप्पण्णउ।
राजा अवरु जाउ दिहियारउ,
सज्जण-जण-मण-णयण-पियारउ।

घत्ता—पवयण सुवण्णमउ मइं रइउ अमलीकय दिसिमंडलु
सा थील्हा मवणि परिट्ठविउ संभवजिण कह कुंडलु।

दुवई—जयगुरवयण सिहिय संजोए असुद्धिघण णियत्तणं।
हिय मियत्तसिरम्म सोवण्णहं लोहणिकर पवत्तणं ॥६॥

णिय विण्णाणएण णेवाविउ,
सोहंविणु मुणिणाहहो दाविउ।
साहु साहु तासु वणहो भासिउ,
रयणत्तय गुणेण संवासिउ।
णाणा-छंदुविंद मणि जडियउ,
संभवजिण गुण-कंचण घडियउ।
एहु चरिउ कुंडलु सोहिल्लउ,
थील्हा सवणाहणु अमुल्लउ।
वड्ढउ जिणवर धम्म धुरंधरु,
वंस वरणीय पयासण सुंदरु।
सम्मइंसण गुणेण पुरंदरु,
णियरूवें सव्वंगें सुंदरु।
जिह धम्मु विवड्ढिय दयजुत्तिय,
जिय उवसम भावेण जि खंतय।
जिह पुण्णें दइलच्छिय हुत्तणु,
तिह थील्हा मंताण पवत्तणु।
अमुणंतेण एहु आहासिउ,
जिणणाहें जो आगम-भासिउ।

मुणिवर णाहेण जि सोहिव्वउ,
महुलहु बुद्धिए दोसु म दिव्वउ ।
घत्ता—अण मंगलयरु पहु मणु आहासिउ जिणधम्म पहुव्वण ।
......पवड्ढउ भरणियणि णिम्मल्ल-बोहि-समाहि-महो ॥

इय संभवजिण-चरिए सावयायार विहाण-फल-गुणसरिए-कइतेजपाल वणियाद्दे सज्जण-संदोहमणि अणुमरिणयाद्दे सिरि महाभव्व-थील्हा सवण भूमणो संभवजिण णिव्वाण गमणो-णाम छट्ठो परिच्छेओ समत्तो ॥संधि ६॥

—प्रति ऐ० प० दि० जैन सरस्वतीभवन ब्यावर
लिपि सं० १५८३

२६ वरंगचरिउ (वरांगचरित)
कवि तेजपाल रचनाकाल सं० १५०७

आदिभागः—

पणविवि जिणईसहो जियवम्मीसहो केवलणाण पयासहो ।
सुर-णर-खेयर-बुह-णुय-पय-पयरुह, वसु कम्मारि विणासह ॥१

वसु-गुण-समिद्ध पणवेवि सिद्ध,
आयरिय णामो जगि जे पसिद्ध ।
उज्झाय-साहु पणविवि तियाल,
सिव-पहु दरसाविय गुण-विसाल ।
वाएसरि होउ पसण्ण-बुद्धि,
जिणवर वाणिय कय-विमल-बुद्धि ।
हउं णेहु छंद लक्खण-विहीणु,
वायरणु ण जाणमि बुद्धि-हीणु ।
णउ जाणमि संधि समास किंपि,
धिट्ठत्त करेसमि कव्वु तंपि ।
हउं जाणमि जिणवर भत्ति जुत्ति,
वित्थरइ जेण पविमल सुकित्ति ।
जे विउल वियक्खण बुद्धिवंत,
जिणभत्ति-लीण पंडिय महंत ।
ते इ णाहिउ पउ मुणिवि कव्वु,
परिठवहु चारु पउ परम भव्वु ।
सुरसरणयरहिं णिवसंत संत,
महु चिंतउ वणियण भणि महंत ।
महु णाम पसिद्धउ तेयपालु,
मइ गमिउ णिरत्थउ सयलु कालु ।

एवहि हउ करमि चिरमलु हरमि रायवरंग चारु चरिउ ।
जणु जणि णाणहु तमुहयचंदु कोऊहल-सएहि भरिउ ॥१॥

अंतिम भागः—

सय पमाय संवच्छर लीणइ,
पुणु सत्तगल सउवोलीणइ ।
वइसाहहो कियह वि सत्तम दिणि,
किउ परिपुण्णउ जो सुह महुर-झुणि ।
विउलकित्ति मुणिवरहु पसाएं,
रइयउ जिणभत्तिय अणुराएं ।
मूलसंघ गुणगण परियरियउ,
रयणकित्ति हूयउ आयरियउ ।
भुवणकित्ति सीसु वि जायउ,
खम-दमवंतु वि मुणि विक्खायउ ।
तासु पट्टि संपय विणिविहिट्ठउ,
धम्मकित्ति मुणिवरु वि गरिट्ठउ ।
तहो गुरहाइ विमलगुण धारउ,
मुणि सुविसालकित्ति तव सारउ ।
सो अम्हहं गुरु जहि महु दिण्णिय,
पाइय करण बुद्धि मइ गिण्हिय ।
जिणभत्ति-पसायं मइ अणुरायं कियउ कव्वु कय तमु विलउ
पुणु गुरुणा सोहिउ हरइ विरोहिउ विउलकित्ति बुहयण-तिलउ
मर पियवालउ पुरसुपसिद्धउ,
धण-कण-कंचण-रिद्धि-समिद्धउ ।
वरसावडइ वंसु गरु थारउ,
जाल्हउ णाम साहु वणिसारउ ।
तासु पुत्तु सूजउ दयवंतउ,
जिण धम्माणुरत्त सोहंतउ ।
तासु पुत्त जहि कुल उद्धरियउ,
रणमल णामु सुणहु गुणभरियउ ।
तहो लहुयउ वल्लालु वि हुंतउ,
जिण कल्लाणइ जत्त कुणतउ ।
पुणु तह लहुयउ ईसरु जायउ,
सपइ अत्थइ दय गुणरायउ ॥
पोल्हणु णामु चउत्थु पसिद्धउ,
णिय-पुण्णेण दव्व बहुलद्धउ ।
इय चत्तारि वि बंधव जायणु,
वर खंडिल्लवाल्ल विक्खायणु ॥
रणमल णंदणु ताल्हुय हुंतउ,
तासु पुत्त हउं कइ-गुण-जुत्तउ ।

तेयपालु महु णामुय सिव्वउ,
जिणवर-भत्ति विसुद्द-गुण-ल्लउ ॥
कम्मक्खय कारणु मल अवहारणु अरुहभत्ति मइ रइयउ।
जो पढइ पढावइ णियमणि भावइ येहु चरिउ तुइ सहियउ ॥

एहु सत्थु जो सुणइ सुणावइ,
एहु सत्थु जो लिहइ लिहावइ।
एहु सत्थु जो महि वित्थारइ,
सो णरु लहु चिरमल अवहारइ ॥
पुणु सो भवियणु सिवपुरि पावइ,
जहि जर-मरणु ण किंपि वि आवइ।
णंदउ णरवइ महि दयवंतउ,
णंदउ सावय जणु वय-वंतउ ॥
महि जिण-णाहहु धम्मु पवट्टउ,
खेमु सव्व जणावइ परिवड्ढउ।
कालि कालि वर पावसु वरिसउ,
सव्व लोउ दय-गुण उक्करिसउ ॥
अजिय मुणिवर संघु वि णंदउ,
सयलु कालु जिणवरु जणु वंदउ।
जं किंपि वि होणाहिउ साहिउ,
हीण-बुद्धि कव्वु वि णिव्वाहिउ ॥
तं सरसइ मायरि खम किज्जउ,
अवर वि पंडिय दोसु म दिज्जउ।

जो णरु दयवंतउ णिम्मल चित्तउ णिच्चु जि जिणु आराहइ।
सो अप्पउ झाइवि केवलु पायवि मुत्ति-रमणि सो साहइ ॥

इय वरंग-चरिए पंडियतेयपाल-विरइए मुणिविउल-कित्तिसुपसाए वरंग-सव्वत्थसिद्धि-गमणो णाम चउत्थ संधी परिच्छेओ सम्मत्तो, ॥संधि ४॥

—प्रति, भट्टारक हर्षकीर्ति शास्त्रभंडार, अजमेर
लिपि० सं० १६०७

३० सुकुमालचरिउ (सुकुमाल चरित)
मुनि पूर्णभद्र

आदिभाग:—

पढमु जिणवरु णविवि भावे जउ-मउड
विहूसियउ विसय विगहु मयणारि-णासणु।
असुरासुर-णर-थुय-चलणु सत्त तच्च
णव पयत्थ णव णयहिं पयासणु ॥
लोयालोयपयासयरु जसु उप्पण्णउ णाणु।
सो पणवेप्पिणु रिसहजिणु अक्खय-सोक्ख-णिहाणु ॥
ध्रुवकं—पणवेवि भडारउ रिसह णाहु,
पुणु अजिउ जिणेसरु गुण सणाहु।

× × × ×

अन्तिमभाग:—

इय भरहखेत्त संपण्ण देसु,
ठिउ गुज्जरत्तु णामेण देसु।
तासु वि मज्झइं ठिउ सुपसिद्धु,
णायर-मंडल-धण-कण-समिद्धु।
तहिं णयरु णाउ संठियउ ठाणु,
सुपसिद्धु जगत्तउ सिय पहाणु।
सिरि वीरसूरि तहिं पवर-आसि,
विणयालंकिउ गुण-रयण-रासि।
मुणिभद्द सीसु तहिं जाउ संतु,
मोहारि-विणासणु णिम्ममत्तु।
तासुवि सुकमारुह पयाउ,
सिरि कुसुमभद्द मुणीसहु सीसु जाउ।
तासुवि भवियण-यण आस पूरि,
संजायउ सीसु गुणभद्दसूरि।
हउं तासु सीसु मुणि पुण्णभद्दु,
गुणसील-विहूसिउ गुण-समुद्दु।
मइ बुद्धि विहीणेउ एहु कव्वु,
विरयउ भवियण णिसुणंत सव्वु।
घत्ता—जा मज्जय-सायरु तवइ दिवायरु
जाम मेरु महि-वलय थिरु।
जा हवइ णहंगणु जणमण रंजणु
ता एउ सत्थु जइ होइ चिरु ॥१८॥

इय सिरि सुकुमालसामि चरिए भव्वयणाणंदयरे सिरि गुणभद्द सीसु मुणि पुण्णभद्द-विरइए सुकुमालसामि-सव्वत्थ-सिद्धि गमणो णाम छट्ठो परिच्छेओ समत्तो ॥

—प्रति पंचायती मंदिर शास्त्र भंडार दिल्ली।
लिपि सं० १६३२

३१ णेमिणाह चरिउ (नेमिनाथ चरित)
अमरकीर्ति रचनाकाल सं० १२४४

आदिभाग:—

विजयंतु णेमि पह-णह-ससिणा पुरण-पहा पवोहंता।
कुसुमं णाय हरिमउडा सियमणि पडिबिम्ब-लक्खणा णिच्चं ॥१

विजयंतु पास-तणु-मिलिय-धरण-फण-मणि मयूह-णिउरंबा।
घण-घाइ-कम्म-वण-डहण-सुद्ध झाणग्गि-जाल पुंजव्वा ॥२
रयकंलि लग्गसुतणुप्पहाए धम्मोवएस समयम्मि।
स जयउ वि सो जस्सहि सरमब्भ-तडिव्व विप्फुरियं ॥३॥
हरियंको णिद्दोसो सम्मो (?) मय-णास विहाउरसो।
सच्चित्तस्स वियासो संति जिणे सो जये जयउ ॥४॥

अन्तिमभागः—

ताहं रज्जि वट्टंतए विक्कमकालि गए
बारह सय चउ आलए सुक्ख।
सुहि वक्खमए भद्दवयहो सियपक्खेयारसिदिणि तुरिउ ॥
सक्कडिणक्खत्तए समप्पिउ सिरिणेमिणाह चरिउ।
उत्तर माहुर संघायरियहो चंदकित्ति णामहो,
सुहचरियहो पाय-पणासिय परवाक दहो?
सगुणाणंदिय कणइणरिंदहो, सीसें अमरकित्ति णामंके।
जिणवर दमण णयणमयंकहो णाहिउ विरुद्ध अमुणा तं ॥
जं मइ भामिउ कव्वु कुणंते तं मह खमहु मरासइ।
मामिणि जिणवयणुड भव-सिन्न संभारिणि।
असाव्व बुहिहिं समंजय चित्तहिं मउकत्थेहिं।

—प्रति भट्टारकभंडार सोनागिर
लिपि सं० १५१२

३- णेमिणाह चरिउ (नेमिनाथ चरित)
कवि लक्खमण

आदिभागः—

विस-रह-धुर-धारउ विस्स वियारउ विसय विसम विसंकउ विडउ
पणमिवि वसु गुणहरु वसुधर तिय-वरुवारिय लंछण गुण-णिलउ
(चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी स्तुतिके बाद ग्रंथ प्रारम्भ किया गया है।)

× × ×

इति णेमिणाहचरिए अबुहकइ-रयण-सुअ-लक्खणेण विरइए भव्वयणमणाणंदे णेमिकुमार संभवो णाम पढमो परिच्छेओ समत्तो ॥ १ ॥

अंतिम भागः—

मालवय विसय अंतरि पहाणु,
सुरवइरि भूसिउ णं तिमय-ठाणु।
णिवसइ पट्टणु णामइं महंतु,
गोणंदु पसिद्ध बहु रिद्धिवंतु।
आराम गाम परिमिउ घणेहिं,
ण भू-मंडणु किउ णियय-देहि।
जहिं सरि सरवर चउदिसि रवणा,
आणंदिय पहियण तहि विसण्ण।
जहिं चेईहर मणहर विसाल,
णं मेरु जिणालय महिय साल।
तिहुवण मंदिर गिह मणि विहार,
फेडिय पयंतण-यंधयार।
जहिं पढमु जाउ वायरण सारु,
जो बुहियण कंठाहरणु चारु।
सिद्धंतिय जइवर हुअइ तत्थ,
जहिं भवियण लीहय मोक्ख-पंथ ॥
जहिं णिच्च महोच्छव जइण गेहि,
कय भवियहिं भव आसंकिएहिं।
तहिं णिवसइ रयण गरुह भव्वु,
परणारि सहोयरु गलिय-गव्वु।
लखमणामहं तहं तणउ पुत्तु,
लक्खम सराउणामे विसयहिं विरत्तु।
पुरवाड महिसउर तिलउ णाणि,
सो अह-णिसि लीणउ जइणि-वाणि ॥

घत्ता—तहिं जोयउ वइ रायउ, अवलोएविणु भवगइ।
तं किज्जइ हिउ अप्पु, जेण जीउ ण मइ गइ ॥२१॥

पउरवाल-कुल-कमल-दिवायरु,
विणयवंसु संघहु मय सायरु।
घण-कण-पुत्त-अत्थ-संपुण्णउ,
आइस रावउ रूव-रवण्णउ।
तेण वि कयउ गंथु अकसायइ,
बंधव अंबएव सुसहायइ।
कम्मक्खइ णिमित्तु आहासिउ,
अमुणंतेण पमाणु पयासिउ ॥
ज हीणाहिउ किउ वाएसार,
णाणदेवि तं खमइ परमेसरि।
लक्खण-छंद हीणु जं भासिउ,
तं बुहयण सोहेवि पयासिउ।
आरंभिउ आसाढहिं तेरसि,
भउ परिपुण्ण चइतिय तेरसि।
पढइ सुणइ जो लिहइ लिहावइ,
मण-वंछिय तं सो सुह पावइ ॥

घत्ता—जं हीणाहिउ मत्त-विहूणिउ साहिउ गयउ अयाणि।
तं मज्झु खमिव्वउ लहु दय किज्जउ साहु लोउ गमणि ॥२२

वीरसेवामन्दिरके सुरुचि-पूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ४६मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थ उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी ७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... . ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद, छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(१०) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्रका गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीके विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावनासे युक्त, सजिल्द। ... ३)

(११) समाधितंत्र और इष्टोपदेश—श्रीपूज्यपादाचार्यकी अध्यात्म-विषयक दो अनूठी कृतियां, पं० परमानन्द शास्त्रीके हिन्दी अनुवाद और मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीकी प्रस्तावनासे भूषित सजिल्द। ... ३)

(१२) जैनग्रन्थप्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृतके १७१ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्दशास्त्री की इतिहास-साहित्य-विषयक परिचयात्मक प्रस्तावनासे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ४)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेल्गोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैन १)

(१६) कसाय पाहुड सचूर्णी—हिन्दी अनुवाद सहित (वीरशासन संघ प्रकाशन) ... २०)

(१७) जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश ... ... ५)

महावीरका सर्वोदय तीर्थ ≡), समन्तभद्र-विचार-दीपिका ≡),

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर
२१ दरियागंज, दिल्ली।

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C.) जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) साहू शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर
२५१) सेठ तुलारामजी नथमलजी लाडनूवाले कलकत्ता

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) सेठ लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी कलकत्ता
१०१) बा० शान्तिनाथजी ,,
१०१) बा० निर्मलकुमारजी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) श्री जयकुमार देवीदास जी, चवरे कारंजा
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

'वीर-सेवामन्दिर'
२१ दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री वीर सेवामंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली। मुद्रक—रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, देहली

वर्ष १४

किरण ९

विषय-सूची

वीर-सेवा-मन्दिरमें श्री कानजी स्वामी

तीर्थ क्षेत्रोंकी यात्रा करते हुए श्री कानजी स्वामी अपने संघके साथ ता० ४ अप्रैलके प्रातःकाल दिल्ली पधारे। जैन समाजकी ओरसे आपका शानदार स्वागत किया गया और आपको वीर-सेवामन्दिरमें ठहराया गया। प्रति दिन प्रातः ८ से ६ बजे तक और मध्यान्हमें २॥ से ३॥ तक आपका प्रवचन परेडके मैदानमें बनाये गये विशाल मण्डपमें होता था। हजारोंकी संख्यामें नर-नारी आपका प्रवचन सुननेके लिये आते थे। लगातार ३ दिन तक कांग्रेसके अध्यक्ष श्री उ. न.ढेबर भी प्रवचन सुननेके लिए आये। ता० ७-४-५७ को दिनके १ बजे वीर-सेवामन्दिरके संस्थापक आ० जुगलकिशोरजी मुख्तार के सभापतित्वमें वीर-सेवामन्दिर और भा० व० दि० जैन परिषद्की ओरसे श्री कानजी स्वामीको अभिनन्दन पत्र समर्पण किया गया जो कि अन्यत्र प्रकाशित किया जा रहा है। मुख्तार सा. ने संस्थाके समस्त प्रकाशितग्रन्थोंकी, तथा कसाय-पाहुडसुत्त और जैन साहित्य और इतिहास पर विशद-प्रकाशकी एक-एक प्रति भेंट की। संघके समस्त यात्रियोंके लिए सन्मति विद्या प्रकाशमालासे प्रकाशित हुई समस्त पुस्तकोंके ५० सेट तथा अनेकान्तके चालू वर्षकी आठों किरणोंके ५० सेट भेंट किये गये। इस समय नगरके प्रायः सभी गण्य-मान्य महानुभाव उपस्थित थे। इसी समय जैनावाच कम्पनी वाले बा० प्रेमचन्द्रजीने दिल्ली-निवासी कुछ प्रमुख लोगोंका परिचय कानजी स्वामीको कराया। तथा संघके संचालक श्री० नेमीचन्द्रजी पाटणीने संघके प्रमुख व्यक्तियोंका परिचय उपस्थित जनताको कराया।

श्री कानजी स्वामीके निमित्तसे ता० ३ अप्रैलको वीर-सेवामन्दिरके अध्यक्ष श्रीमान् बा० छोटेलालजी भी हवाई जहाजके द्वारा कलकत्तासे दिल्ली आगये थे। स्वागत-समारोहका संचालन आपने किया। और अन्तमें आपने सभी समागत बन्धुओंका आभार माना। श्री कानजी स्वामीसे मिलने और उनसे शंका-समाधान करनेके लिये स्थानीय और बाहिरके अनेक नगरोंसे सैकड़ोंकी संख्यामें लोग प्रतिदिन आते रहे। ता० ६ अप्रैलके प्रातः काल ५ बजे श्री कानजी स्वामीने अलवरके लिए अपने संघके साथ प्रस्थान किया। इस प्रकार पाँच दिन तक वीर-सेवामन्दिरमें आनन्दमय वातावरण रहा।

—प्रेमचन्द्रजैन बी. ए. संयुक्तमन्त्री-वीर सेवामन्दिर

अनेकान्तके प्रेमी पाठकोंसे

जैन पत्रोंमें प्रकाशित अपनी सूचनाके अनुसार हमने विद्वानोंको अनेकान्त अमूल्य भेजना प्रारम्भ कर दिया है। जिनके पत्र २१ मार्चके पूर्व आगये थे, उन्हें २१ मार्चको अनेकान्त-प्रकाशनके दिन ही आठवीं किरण भेज दी गई थी। तथा बादमें आने वाले पत्रोंके अनुसार बुकपोष्टसे उक्त किरण भेजी गई।

हमारी सूचनाका लाभ उठाकर कितने ही ऐसे लोगोंने जिनकी संख्या १०० से भी ऊपर है—अनेकान्तको अमूल्य भेजनेके लिए पत्र भेजे हैं, जो विद्वानोंकी श्रेणीमें न आकर समर्थ व्यवसायी प्रतीत होते हैं। उन लोगोंको ज्ञात होना चाहिए कि यह पत्र प्रतिवर्ष काफी घाटा उठाकर निकाला जा रहा है चालू वर्षमें भी काफी घाटा रहेगा—जिसे वर्ष-की अन्तिम किरणसे सर्व लोग ज्ञात करेंगे। ऐसी स्थितिमें हम अपने अनेकान्तके इन प्रेमी पाठकोंको अनेकान्त अमूल्य भेजनेमें असमर्थ हैं। फिर भी उनके अवलोकनार्थ आठवीं और नवीं किरणको नमूनेके तौर पर भेज रहे हैं। आशा है कि पत्र उन्हें पसन्द आवेगा, और वे उसके वार्षिक मूल्यके ६) भेजकर ग्राहक श्रेणीमें अपना नाम लिखाकर हमें अनुग्रहीत करेंगे। जो भाई वर्षके प्रारंभसे ग्राहक नहीं बनना चाहते हों, वे ३) भेजकर छह मासके लिए ही ग्राहक बन जावें।

साथ ही अमूल्य अनेकान्त प्राप्त करने वाले विद्वानोंसे हम खास तौरसे आशा करेंगे की वे अपने सम्पर्कमें आने वाले धनी एवं सम्पन्न व्यक्तियोंको प्रेरणा करके अनेकान्तके ग्राहक बनाकर उसके वार्षिक या अर्धवार्षिक मूल्यको अग्रिम भिजवाकर वीर शासनके प्रचारमें हमारा हाथ बटावेंगे।

जो विद्वान् चालू वर्षकी प्रारंभिक ७ किरणोंको प्राप्त करना चाहें, वे पोष्टेजके लिए १) मनीआर्डरसे भिजवानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—अनेकान्त

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ६)

एक किरण का मूल्य ।)

वर्ष १४ किरण, ६ | वीरसेवामन्दिर, २१, दरियागंज, देहली
वैशाख, वीरनिर्वाण-संवत २४८३, विक्रम संवत २०१४ | अप्रेल सन् १९५७

श्रीवीर-जिन-स्तवन

मोहादि-जन्य-दोषान्यः सर्वाञ्जित्वा जिनेश्वरः ।
वीतरागश्च सर्वज्ञो जातः शास्ता नमामि तम् ॥१॥

शुद्धि-शक्त्योः परां काष्ठां योऽवाप्य शान्तिमुत्तमाम् ।
देशयामास सद्धर्मं तं वीरं प्रणमाम्यहम् ॥२॥

यस्य सच्छासनं लोके स्याद्वादाऽमोघलाञ्छनम् ।
सर्वभूतदयोपेतं दम-त्याग-समाधिभृत् ॥३॥

नय-प्रमाण-संपुष्टं सर्व-बाध-विवर्जितम् ।
सर्वमन्यैरजेयं च तं वीरं प्रणिदध्महे ॥४॥

यमाश्रित्य बुधाः श्रेष्ठाः संसारार्णव-पारगाः ।
बभूवुः शुद्ध-सिद्धाश्च तं वीरं सततं भजे ॥५॥

—युगवीर

अध्यात्म-दोहावली

(श्री० रामसिंह सूरी)

१

अप्पायत्तउ जं जि सुहु, तेण जि करि संतोसु ।
पर सुहु वढ चिंतंतहं, हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥

२

जं सुहु विसय-परंमुहउ, णिय अप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदु वि णउ लहइ, देविहिं कोडि रमंतु ॥

३

आभुंजंता विसय-सुह, जेण वि हियइ धरंति ।
ते सासय-सुहु लहु लहहि, जिणवर एम भणंति ॥

४

ण वि भुंजंता विसय-सुह, हियडइ भाउ धरंति ।
सालिसित्थु जिम वप्पुडउ, णर णरयहं णिवडंति ॥

५

आयइं अडवड वडवडइ, पर रंजिज्जइ लोउ ।
मणसुद्धइं णिच्चल ठियइं, पाविज्जइ परलोउ ॥

६

धंधइं पडियउ सयलु जगु, कम्मइं करइ अयाणु ।
मोक्खहं कारणु एक्कु खणु, ण वि चिंतइ अप्पाणु ॥

७

अण्णु म जाणहि अप्पणउ, घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ, आगमि जोइहि सिट्ठु ॥

८

मोक्खु ण पावहि जीव तुहुं धणु परियणु चिंतंतु ।
तो इ विचिंतहिं तउ जि तउ, पावहि सुक्खु महंतु ॥

९

घर वासउं मा जाणि जिय, दुक्किय-वासउ एहु ।
पासु कयंते मंडियउ, अविचलु णि्हु संदेहु ॥

१०

मूढा सयलु वि कारिमउ मं फुडु तुहु तुस कंडि ।
सिवपइ णिम्मलि करहि रइ, घरु परियणु लहु छंडि ॥

(पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री)

१

जो सुख स्वात्माधीन है, उससे कर सन्तोष ।
पर-सुख चिंतत हृदयके दूर न हो अफसोस ॥

२

जो सुख विषय-विरक्तके, आतम ध्यान धरंत ।
सो सुख इन्द्र न पा सके, देवी कोटि रमंत ॥

३

भोगत भी जो विषय-सुख, नहिं मन मोह धरांय ।
वे शाश्वत सुख लहु लहैं, जिनवर यों बतलांय ॥

४

नहिं भोगत भी विषय-सुख, जो मन मोह धरंत ।
शालिसिक्थ्य ज्यों दीन वह, नरकों मांहि पड़ंत ॥

५

विपदामें बड़बड़ करें, अनुरंजित हों लोक ।
निश्चल मनकी शुद्धिसे, पर सुधरे पर-लोक ॥

६

धंधोंमें पड़ सकल जग, कर्म करे अनजान ।
मोक्ष-हेतु पर एक क्षण, धरै न आतम-ध्यान ॥

७

घर परिजन तन इष्ट ये पर हैं, निज मत मान ।
नदी नाव संयोग ज्यों, मिले कर्मसे जान ॥

८

मोक्ष न पावे जीव तू, धन परिजन चिंतंत ।
तो भी चिंतै उन्हींको मानत सौख्य महंत ॥

९

गृहावास मत जान जिय, पाप-वास है एह ।
यम-मंडित थिर पास है, इसमें नहिं सन्देह ॥

१०

कर्म-जाल यह सर्व है, मत तुषको तू कूट ।
विमल मोक्षसे प्रीति कर, घर परिजनसे छूट ॥

भ० महावीर और उनके दिव्य उपदेश

(श्री हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री)

चैत्रका महीना अनेक दृष्टियोंसे अपना खास महत्त्व रखता है। भ० ऋषभदेव—जिन्हें लोग युगादि महामानव, सृष्टा, विधाता कहते हैं—का जन्म इसी चैत्र मासके कृष्णपक्षको नवमीके दिन हुआ। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामका जन्म चैत्र शुक्ला नवमीके दिन हुआ। अहिंसाके परम अवतार भ० महावीरका जन्म भी इसी चैत्र मासकी शुक्ला त्रयोदशीको हुआ। तथा श्रीरामके सीतापहरणके समय उनके संकटमें सहायक होनेसे संकट-मोचन नामसे प्रसिद्ध, वज्रांगबली श्री हनुमानका जन्म भी इसी चैत्र मासकी शुक्ला पूर्णिमाके दिन हुआ। इस प्रकार चार महा-पुरुषोंको जन्म देनेका सौभाग्य इसी इस चैत्र मासको प्राप्त है। भारतवर्षके प्रसिद्ध दो संवत्सर—विक्रम संवत् और शक संवत्-भी इसी इसी चैत्र मासके शुक्ल और कृष्ण पक्षसे प्रारम्भ होते हैं। इस प्रकार यह चैत्र मास भारतीय इतिहास-में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है

जिन्होंने भारतीय इतिहासका अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि महाभारत और रामायण कालसे पहले भारतवर्षमें ब्राह्मण और श्रमण नामकी दो संस्कृतियां प्रचलित थीं। जैन आगमोंसे भी इसकी पुष्टि होती है। भ० ऋषभदेवने सर्वप्रथम स्वयं प्रव्रजित होकर श्रमण संस्कृतिका श्रीगणेश किया, तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र एवं आद्य सम्राट् भरत चक्रवर्तीने ब्राह्मणोंकी स्थापना कर उन्हें क्रियाकाण्डकी ओर अग्रसर किया है। ये दोनों ही धाराएँ तभीसे बराबर प्रवाहित होती हुई चली आ रही हैं। किन्तु बीच-बीचमें उन दोनोंके भीतर विकृतिके गन्दे नाले भी मिलते रहे और उस समय होने वाले मध्यवर्ती २२ तीर्थंकरोंने उभय-धाराओंको संशोधित करनेके भी प्रयत्न किये हैं।

भरत चक्रवर्ती-द्वारा संस्थापित ब्राह्मण संस्कृतिका पतन भ० मुनिसुव्रतनाथके समयसे प्रारम्भ हुआ। इसी समयके आसपास वेदोंकी रचना आरम्भ हुई। भगवान् नेमिनाथ और पार्श्वनाथके समयमें ब्राह्मण संस्कृतिने अपनी विकृतिका उग्र रूप धारण कर लिया। ब्राह्मण लोग वेदोंको ईश्वरीय वाक्य मानने लगे। इन्द्र, सोम, यम, वरुण आदि देवताओंकी पूजा कर और यज्ञों में पशु-बलि देकर उससे स्वर्ग-प्राप्ति एवं सांसारिक ऋद्धियोंकी कामना करने लगे। तथा ब्रह्माके मस्तक आदि चार अंगोंसे ब्राह्मणादि चारों वर्णोंको उत्पन्न हुआ कह कर अपनेको सबसे श्रेष्ठ मानकर औरोंको हीन या तुच्छ समझने लगे।

श्रमण लोग इन बातोंके प्रारम्भसे विरोधी रहे हैं। वे सन्यास, आत्म-चिन्तन, सयम, समभाव, तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य-वचनादिके ऊपर जोर देते थे एवं आत्मशुद्धिको प्रधान मानते थे। उनका लक्ष्य लौकिक वैभव या स्वर्गादि अभ्युदयकी प्राप्ति न होकर परम पुरुषार्थ निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्तिका रहा है।

आजसे अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व जब भ० महावीरका जन्म हुआ, उस समय ब्राह्मण संस्कृतिका बोलबाला था और वह अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। भ० महावीरने ज्योंही होश संभाला, तो देखा कि धर्मके नाम पर मूढ़ता-पूर्ण क्रियाकाण्डका कितना आडम्बर रचा जा रहा है। यज्ञ-यागादिको धर्म मानकर उनमें मूक पशुओंकी बलि दी जा रही है, लोग अपनी रसना इन्द्रियको तृप्त करनेके लिए जीवोंकी हिंसा कर रहे हैं, और उन्हें तड़पते एवं चीत्कार करते हुए भी यज्ञाग्निमें जिन्दा भून कर उनके मांसका आस्वाद लेकर प्रसन्न हो रहे हैं। देवी-देवताओंके नाम पर कितना अन्ध-विश्वास फैला हुआ है, तथा सबसे दयनीय दशा स्त्री और शूद्रोंकी हो रही है कि जिन्हें वेदादिके पठन-पाठनकी तो बात ही दूर है, सुनने तकका भी अधिकार नहीं है। शूद्रोंके वेदध्वनि श्रवण कर लेने पर उनके कानोंमें शीशा और लाख भर दिये जाते हैं, * वेदोच्चारण करने पर उनके शरीरके दो टुकड़े कर दिये जाते हैं। शूद्रोंको निंद्य एवं घृणित समझनेके लिए यह मान्यता प्रचलित की गई थी कि शूद्र का अन्न खा लेने पर उच्च वर्णी लोगोंको सूअरका जन्म लेना पड़ता है+। प्रातःकाल बाहिर कहीं जाते-आते समय शूद्रका देखना अपशकुन समझा जाता है, उनके देखनेसे अपवित्र हुई आंखोंको शुद्ध करनेके लिए उन्हें पानीसे धोना और शूद्रके शरीरका स्पर्श कर लेने पर सचेल स्नान तक करना आवश्यक माना जाता है। एक ओर तो भ० महावीरने ब्राह्मण संस्कृतिका यह बोलबाला देखा। दूसरी ओर देखा कि श्रमण-संस्कृति भी अस्त-व्यस्त सी हो रही है और साधु-

---

* गौतमधर्मसूत्र, १२-४-६। + वशिष्ठधर्मसूत्र, ६-२७।

संन्यासी जन भी मूढ़ता-पूर्ण कायक्लेश करनेको ही तप मान कर अपनेको कृतकृत्य अनुभव कर रहे हैं। कहीं कोई धूनी रमा रहा है, तो कहीं कोई पंचाग्नि तप कर अपने साथ दूसरे प्राणियोंको—काष्ठ-गत जीव-जन्तुओंको—भी जिन्दा ही जला रहा है। कहीं सती होनेके नाम पर जीवित कोमलांगी ललनाए जलाई जा रहीं हैं, तो कहीं कोई पर्वतसे गिर कर या नदीमें कूद कर आत्म-घात करनेको ही धर्म मान रहा है।

इस प्रकार दोनों सस्कृतियोंकी दुर्दशा देख कर और चारों ओर अज्ञानका फैला हुआ साम्राज्य देखकर भ० महावीरका हृदय दुःख और करुणासे द्रवित हो उठा, उनके विचारोंमें उथल-पुथल मच गई और उन्होंने सत्य धर्मके अन्वेषण एवं प्रचलित धर्मोंके संशोधन करनेका अपने मनमें दृढ़ निश्चय किया। फल-स्वरूप भरी जवानी-में—तीस वर्षकी उम्रमें—वे राजसी वैभव एव सुन्दर परिवार-को छोड़ करके प्रव्रजित हो गये। उन्होंने निश्चय किया कि मेरे कर्त्तव्य-पथमें कितनी ही विघ्न-बाधाएँ क्यों न आवें, तथा कितने ही घोर उपसर्ग और संकट क्यों न उपस्थित हों, किन्तु मैं सबको धैर्यपूर्वक शान्त भावसे सहन करता हुआ अपने सकल्पसे कभी चल-विचल न होऊँगा और सत्यकी शोध करूँगा।

भ० महावीरने प्रव्रजित होनेके पश्चात् अपने लिए कुछ नियम निश्चित किये। वस्त्रोंके परिधानका यावज्जीवन-के लिए परित्याग किया, दिनमें दूसरोंके द्वारा प्रदत्त, अस-कल्पित, निर्दोष आहार जल एक बार लेने, जमीन पर सोने और निर्जन जंगलोंमें मौन-पूर्वक एकाकी जीवन बितानेका संकल्प किया। उन्हें अपने इस साधक जीवनमें अनेकों बार अतिभयानक कष्टोंका सामना करना पड़ा; परन्तु वे एक वीर योद्धाके समान अपने कर्त्तव्य-पथसे कभी भी विचलित नहीं हुए।

पूरे बारह वर्ष तक मौनपूर्वक आत्म-चिन्तन एवं मननके पश्चात् भ० महावीरको कैवल्य प्राप्त हुआ और वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन गये।

भ० महावीरकी इस सर्वज्ञता और सर्व-दर्शिताको स्वयं महात्मा बुद्धने भी स्वीकार किया है और एक अवसर पर अपने शिष्योंसे कहा है

"णिग्गंठो, आवुसो नाथपुत्तो सव्वञ्ञु सव्वदस्सावी अपरिसेसं-णाण-दंसणं परिजानाति; चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सतत समित्तं णाणं दंसणं पच्चुपट्ठितिं१।"

हे आयुष्मन्! निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे अपने ज्ञान और दर्शनके द्वारा अशेष चराचर जगत्-को जानते और देखते हैं। हमारे चलते, ठहरते, सोते-जागते समस्त अवस्थाओंमें उनका ज्ञान और दर्शन सदैव उपस्थित रहता है।

वेदोंमें भी भ० महावीरका स्मरण किया गया है। यथा—

देव बर्हिर्वर्धमानं सुवीरं स्तीर्णं राये सुभरं वेद्यस्याम्।
घृतेनाक्तं वसवः सीदतेदं विश्वेदेवा आदित्या यज्ञियासः२

हे देवोंके देव वर्द्धमान, आप सुवीर हैं, व्यापक हैं। हम सम्पदाओंकी प्राप्तिके लिये घृतसे आपका आवाहन करते हैं। इसलिए सब देवता इस यज्ञमें आवें और प्रसन्न होवें।

भ० महावीरकी नग्नता और तपस्विताको भी वेदोंमें स्वीकार किया गया है। यथा—

आतिथ्यं रूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः।
रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुरासुता.३॥

अतिथि-स्वरूप, पूज्य, मासोपवासी, नग्नरूपधारी महावीरकी उपासना करो, जिससे संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप तीन अज्ञान और धनमद एवं विद्यामदकी उत्पत्ति नहीं होवे।

भ० महावीरके उपदेशोंसे प्रभावित होकर इन्द्रभूति, वायुभूति, अग्निभूति आदि बड़े-बड़े वैदिक विद्वानोंने अपने सैकड़ों शिष्योंके साथ भगवान्‌का शिष्यत्व स्वीकार किया।

भ० महावीरने कैवल्य-प्राप्तिके पश्चात् भारतवर्षके विभिन्न भागोंमें विहार कर ३० वर्ष पर्यन्त धर्मोपदेश दिया। उन्होंने अपने उपदेशोंमें पुरुषार्थ पर ही सबसे अधिक जोर दिया है। उनका स्पष्ट कथन था कि आत्म-विकासकी सर्वोच्च अवस्थाका नाम ही ईश्वर है और इसलिए प्रत्येक प्राणी अपनेको सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त कर और अपने आपको आत्मिक गुणोंसे युक्त कर नरसे नारायण और आत्मासे परमात्मा बन सकता है। इसी सिलसिलेमें उन्होंने बताया कि उक्त प्रकारके परमात्मा या परमेश्वरको संसारकी सृष्टि या संहार करनेके प्रपंचोंमें पड़ने-की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। जो यह मानते

---

१ मज्झिमनिकाय भाग १, पृष्ठ ९२। २ ऋग्वेद, मंडल २, अ० १, सूक्त ३। ३ यजुर्वेद, अ० १९, मंत्र १४

हैं कि कोई एक अनादि-निधन ईश्वर है, और वही जगत-का कर्त्ता, हर्त्ता एवं व्यवस्थापक है, उसके सम्बन्धमें भ० महावीरने बताया कि प्रथम तो ऐसा कोई ईश्वर किसी भी युक्तिसे सिद्ध ही नहीं होता है। फिर यदि थोड़ी देरके लिए वैसे ईश्वरकी कल्पना भी कर ली जाय तो वह दयालु है या क्रूर? यदि ईश्वर दयालु है, सर्वज्ञ है, तो फिर उसकी सृष्टि में अन्याय और उत्पीडन क्यों होता है? क्यों सब प्राणी सुख और शान्तिसे नहीं रहते? यदि ईश्वर अपनी सृष्टिको, अपनी प्रजाको सुखी नहीं रख सकता तो, उससे क्या लाभ? फिर यही क्यों न माना जाय कि मनुष्य अपने अपने कर्मोंका फल भोगता है, जो जैसा करता है, वह वैसा पाता है। ईश्वरको कर्त्ता माननेसे हम दैववादी बन जाते हैं। अच्छा होता है, तो ईश्वर करता है, बुरा होता है, तो ईश्वर करता है, आदि विचार मनुष्यको पुरुषार्थहीन बनाकर जनहितसे विमुख कर देते हैं। अतएव भ० महावीरने स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा की—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठियो४ ॥

आत्मा ही अपने दुखों और सुखों का कर्त्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलने वाला अपना आत्मा ही मित्र है और बुरे मार्ग पर चलने वाला अपना आत्मा ही शत्रु है।

उन्होंने और भी कहा—

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसाल्मली।
अप्पा काम-दुहा धेणू अप्पा मे नंदनं वनं५ ॥

बुरी विचारधारा वाली आत्मा ही नरककी वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष है और अच्छी विचारधारा वाली आत्मा ही स्वर्गकी कामदुहा धेनु और नन्दन वन है।

इसलिए तुम्हारा दूसरेको भला या बुरा करने वाला मानना ही मिथ्यात्व है, अज्ञान है। तुम्हें दूसरेको सुख-दुख देने वाला नहीं मानकर अपनी भली बुरी प्रवृत्तियोंको ही सुख दुखका देने वाला मानना चाहिये। इसके लिये उन्होंने समस्त प्राणिमात्रको संबोधन करके कहा—

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य६ ॥

बुरे विचारों वाली अपनी आत्माका ही दमन करना चाहिये। अपने बुरे विचारोंको दमन करनेसे ही आत्मा इस लोक और परलोक दोनों में सुखी होता है।

उन्होंने बतलाया—

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए ७ ॥

विकृत विचारों वाली अपनी आत्माके साथ ही युद्ध करना चाहिए, बाहिरी दुनियावी शत्रुओंके साथ युद्ध करनेसे क्या लाभ? अपनी आत्माको जीतने वाला ही वास्तवमें पूर्ण सुखको प्राप्त करता है।

अपने बुरे विचारोंकी व्याख्या करते हुए भ० महावीरने कहा—

पंचिंदियाणि कोहं माणं मायं तहेय लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वमप्पे जिए जियं८ ॥

अपने पांचों इन्द्रियोंकी दुर्निवार विषय-प्रवृत्तिको तथा *क्रोध मान, माया और लोभ इन चार कषायोंको ही जीतना* चाहिए। एकमात्र अपनी आत्माकी दुष्प्रवृत्तियोंको जीत लेने पर सारा जगत जीत लिया जाता है।

आत्माकी व्याख्या करते हुए भ० महावीरने बताया—

केवलणाणसहावो केवलदंसण-सहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सोऽहं इदि चिंतए णाणी ९॥

आत्मा एकमात्र—केवल ज्ञान और केवल दर्शन-स्वरूप है, अर्थात् संसारके सर्व पदार्थोंको जानने-देखने वाला है। वह स्वभावतः अनन्त शक्तिका धारक और अनन्त सुखमय है।

परमात्माकी व्याख्या भ० महावीरने इस प्रकार की—

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमप्पा परमजिणो सिवकरो सासओ सिद्धो१० ॥

जो सर्वदोष-रहित है, शरीर-विमुक्त है इन्द्रियोंके अगोचर है, और सर्व अन्तरंग-बहिरंग मलोंसे मुक्त होकर विशुद्ध स्वरूपका धारक है, ऐसा परम निरंजन शिवंकर, शाश्वत सिद्ध आत्मा ही परमात्मा कहलाता है।

वह परमात्मा कहां रहता है, इसका उत्तर उन्होंने दिया—

णविएहिं जं णविज्जइ, झाइज्जइ झाइएहि अणवरयं
थुव्वंतेहि थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ११॥

जो बड़े-बड़े इन्द्र, चन्द्रादिसे नमस्कृत है, ध्यानियोंके द्वारा ध्याया जाता है और स्तुतिकारोंके द्वारा स्तुति किया

---

४ उत्तरा० अ० २० गा० ३७५ उत्त० अ० २ गा० ३६।
६ उत्त० अ० १, गा० २५।
७ उत्त० अ० ९ गा० ३५। ८ उत्त० अ० ९ गा० ३६।
९. नियमसार गा० ९६। १०. मोक्षप्राभृत गा० १०३।
११. मोक्षप्राभृत गा० ६।

जाता है, वह परमात्मा कहीं इधर-उधर बाहिर नहीं है; किन्तु अपने इसी शरीरके भीतर रह रहा है।

भावार्थ—वह परमात्मा दूसरा और कोई नहीं है, किंतु आत्मा ही अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेने पर परमात्मा हो जाता है अतः तू अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेका प्रयत्न कर।

वह शुद्ध परमात्म-स्वरूप कैसे प्राप्त होता है, इस विषय में भ० महावीर ने कहा—

कम्म पुराइउ जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ।
परम णिरंजणु जो णवइ सो परमप्पउ होइ १२॥

जो अपने पुराने कर्मोंको—राग, द्वेष, मोह आदि विकारी भावोंको—दूर कर देता है, नवीन विकारोंको अपने भीतर प्रवेश नहीं करने देता है और सदा परम निरंजन आत्माका चिन्तवन करता है, वह स्वयं ही आत्मासे परमात्मा बन जाता है।

भावार्थ—जैन सिद्धान्तके अनुसार दूसरेकी सेवा-उपासनासे आत्मा परमात्मपद नहीं पाता; किन्तु अपने ही अनुभवन और चिन्तनसे परमात्मपदको प्राप्त करता है।

संसारमें प्रचलित सर्व धर्मोंके प्रति समभाव रखनेका उपदेश देते हुए भ० महावीरने कहा—

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्माइट्ठी मुणेयव्वो १३॥

जो किसी भी धर्मके प्रति ग्लानि या घृणा नहीं करता, किन्तु सभी धर्मोंमें समभाव रखता है, वह निर्विचिकित्सित सम्यग्दृष्टि यथार्थ वस्तु-दर्शी जानना चाहिए।

सर्व धर्मोंके प्रति समभाव रखनेके निमित्त भ० महावीरने नयवाद, अनेकान्तवाद या समन्वयवादका उपदेश दिया और कहा—

जावंतो वयणवहा तावंतो वा णया वि सद्दाओ।
ते चेव य परसमया सम्मत्तं समुदिया सव्वे १४॥

जितने भी वचन-मार्ग—भिन्न भिन्न पंथ—संसारमें दिखाई दे रहे हैं उतने ही नय हैं और वे ही परसमय या मत हैं। वे सब अपने अपने दृष्टिकोणोंसे ठीक हैं। और उन सबका समुदाय ही सम्यक्त्व है यानी सत्यका यथार्थ या तात्त्विक स्वरूप

इस एक सूत्रके द्वारा ही भ० महावीरने अपने समयकी ही नहीं, बल्कि भूत और भविष्यकालमें भी उपस्थित होने वाली असख्य समस्याओंका समाधान प्रस्तुत कर दिया। पहला और सबसे बड़ा हल तो उन्होंने अपने समयके कर्म-काण्डी क्रिया-प्रधान वैदिक और अध्यात्मवादी वैदिकेतर सम्प्रदायवालोंका किया और कहा—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः १५॥

क्रिया या सदाचारके बिना ज्ञान बेकार है, कोरा ज्ञान सिद्धिको नहीं दे सकता। और अज्ञानियोंकी क्रियाएँ भी निरर्थक हैं, वे भी आत्मसुखको नहीं दे सकतीं। जैसे किसी बीहड़ जंगलमें आग लग जाने पर चारों ओर भागता हुआ अंधा पुरुष जलकर विनाशको प्राप्त होता है और पंगु—लंगड़ा आदमी बचनेका मार्ग देखते हुए भी मारा जाता है।

भ० महावीरने दोनों प्रकारके लोगोंको संबोधित करते हुए कहा—

संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञाः न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।
अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ १६

ज्ञान और क्रियाका संयोग ही सिद्धिका साधक होता है, क्योंकि एक चकसे रथ कभी नहीं चल सकता। यदि दावाग्निमें जलते हुए वे अन्धे और लंगड़े दोनों पुरुष मिल जाते हैं, और अन्धा, जिसे कि दीखता नहीं, किन्तु चलनेकी शक्ति है, वह यदि चलनेकी शक्तिसे रहित, किन्तु दृष्टि-सम्पन्न पंगुको अपने कंधे पर बिठा लेता है तो वे दोनों दावाग्निसे निकल कर अपने प्राण बचा लेते हैं। क्योंकि अन्धेके कंधे पर बैठा पंगु मनुष्य चलने में समर्थ अन्धेको बचनेका सुरक्षित मार्ग बतलाता जाता है और अन्धा उस निरापद मार्ग पर चलता जाता है और इस प्रकार दोनों नगरको पहुंच जाते हैं और दोनों बच जाते हैं।

इस प्रकार परस्परमें समन्वय करनेसे जैसे अंध और पंगुकी जीवन-रक्षा हुई उसी प्रकार भ० महावीरके इस सम-न्वयवादने सर्व दिशाओंमें फैल कर उलझी हुई असख्य समस्याओंको सुलझाने और परस्परमें सौहार्दभाव बढ़ानेमें लोकोत्तर कार्य किया।

इस प्रकार भ० महावीरने परस्पर विरोधी अनेक धर्मों-का समन्वय किया। उनके इस सर्वधर्म समभावी समन्वय-के जनक अनेकान्तवादसे प्रभावित होकर एक महान आचार्य-

१२. पाहुडदोहा ७७।
१३ समयसार गा० २३१ १४ सन्मतितर्क
१५ तत्त्वार्थवार्तिक पृ० १०। १६ तत्त्वार्थवार्तिक पृ. १०

ने कहा है —

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवादस्स१७ ॥

जिसके बिना लोकका दुनियादारी व्यवहार भी अच्छी तरह नहीं चल सकता, उस लोकके अद्वितीय गुरु अनेकान्त-वादको नमस्कार है।

भ० महावीरने धर्मके व्यवहारिक रूप अहिंसावादका उपदेश देते हुए कहा—

सव्वे पाणा पियाउआ सुहसाया
दुक्खपडिकूला अप्पिय-वहा।
पियजीविणो जीविउकामा
णातिवाएज्ज किंचण१८ ॥

सर्व प्राणियोंको अपना जीवन प्यारा है, सबही सुखकी इच्छा करते हैं, और कोई दुःख नहीं चाहता। मरना सबको अप्रिय है और सब जीनेकी कामना करते हैं। अतएव किसी भी प्राणीको जरा भी दुःख न दो और उन्हें न सताओ।

लोगोंके दिन पर दिन बढ़ती हुई हिंसाकी प्रवृत्तिको देखकर भ० महावीर ने कहा—

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं ण मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं णिग्गंथा वज्जयंति णं१९ ॥

सभी जीव जीना चाहते हैं मरना कोई नहीं चाहता। इसलिये किसी भी प्राणी का वध करना घोर पाप है। मनुष्यको इससे बचना चाहिए। जो धर्मके आराधक हैं, वे कभी किसी जीवका घात नहीं करते।

उच्च-नीचकी प्रचलित मान्यताके विरुद्ध भ० महावीरने कहा—

जन्म-मित्तेण उच्चो वा णीचो वा ण वि को हवे।
सुहासुहकम्मकारो जो उच्चो णीचो य सो हवे २० ॥

ऊँची जाति या उच्च कुलमें जन्म लेने मात्रसे कोई उच्च नहीं हो जाता और न नीचे कुलमें जन्म लेनेसे कोई नीच हो जाता है। जो अच्छे कार्य करता है, वह उच्च है और जो बुरे कार्य करता है, वह नीच है।

इसी प्रकार वर्णवादका विरोध करते हुए भी उन्होंने कहा किसी वर्ण-विशेषमें जन्म लेने मात्रसे मनुष्य उस वर्णका नहीं माना जा सकता। किन्तु—

कम्मणा बंभणो होइ, कम्मणा होइ खत्तियो।
कम्मणा वइसो होइ सुद्दो हवइ कम्मणा २१ ॥

मनुष्य कर्मसे ही ब्राह्मण होता है, कर्मसे ही क्षत्रिय होता है, कर्मसे ही वैश्य होता है और शूद्र भी अपने किये कर्मसे होता है।

भ० महावीरने केवल जाति या वर्णका भेद करने वालोंको ही नहीं, किन्तु साधु संस्थाके सदस्यों तकको फटकारा—

ण वि मुंडएण समणो ण ओंकारेण बंभणो।
ण मुणी रण्णवासेण ण कुसचीरेण तापसो २२॥

सिर मुंडा लेने मात्रसे कोई श्रमण या साधु नहीं कहला सकता, ओंकारके उच्चारण करनेसे कोई ब्राह्मण नहीं माना जा सकता, निर्जन वनमें रहने मात्रसे कोई मुनि नहीं बन जाता, और न कुशा (डाभ) से बने वस्त्र पहिननेसे कोई तपस्वी कहला सकता है। किन्तु—

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
णाणेण मुणी होइ, तवेण होइ तापसो २३ ॥

जो प्राणि मात्र पर साम्य भाव रखता है वह श्रमण या साधु कहलाता है, जो ब्रह्मचर्य धारण करता है, वह ब्राह्मण कहलाता है। जो ज्ञानवान है, वह मुनि है और और जो इन्द्रिय-दमन एवं कषाय-निग्रह करता है वह तपस्वी है।

इस प्रकार जाति, कुल या वर्णके मदसे उन्मत्त हुए पुरुषोंको भ० महावीरने नाना प्रकारसे सम्बोधन कर कहा—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२४॥

जो जाति या कुलादिके मदसे गर्वित होकर दूसरे धर्मात्माओंको केवल नीच जाति या कुलमें जन्म लेने मात्रसे अपमानित एवं तिरस्कृत करता है वह स्वयं अपने ही धर्मका अपमान करता है। क्योंकि धर्म धर्मात्माके विना निराधार नहीं ठहर सकता।

अन्तमें भ० महावीरने जाति-कुल मदान्ध लोगोंसे कहा—

कासु समाहि करहु को अंचउ,
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउ।

---

१७ अनेकान्त जयपताका। १८ अज्ञात नाम
१९ दशवैकालिक, गा० ११
२० अज्ञात नाम
२१ उत्तराध्ययन। २२ उत्तराध्ययन, अ० २५, गा० ३३
२३ उत्तराध्ययन, अ० २५, गा० ३४
२४ रत्नकरण्डक, श्लोक २६

हल सहि कलह कण सम्माणउ,
जहिं जहिं जोवहु तहिं अप्पाणउ ॥२५॥

संसारके जाति कुल-मदान्ध हे भोले प्राणियो, तुम किसे छूत या बड़ा मान कर पूजते हो और किसे अछूत मान कर अपमानित करते हो? किसे मित्र मान कर सम्मानित करते हो और शत्रु मानकर किसके साथ कलह करते हो? हे देवानां प्रिय मेरे भव्यो, जहाँ जहाँ भी मैं देखता हूँ, वहाँ वहाँ सब मुझे आत्मत्व ही—अपनापन ही दिखाई देता है।

भ० महावीरके समयमें एक ओर लोग धन-वैभवका संग्रह कर अपनेको बड़ा मानने लगे थे और अहर्निश उसके उपार्जनमें लग रहे थे। दूसरी ओर गरीब लोग आजीविकाके लिए मारे-मारे फिर रहे थे। गरीबोंकी सन्तानें गाय-भैंसोंके समान बाजारोंमें बेची जाने लगीं थीं और धनिक लोग उन्हें खरीद कर और अपना दासी-दास बना कर उन पर मनमाना जुल्म और अत्याचार करते थे। भ० महावीरने लोगोंकी इस प्रकार दिन पर दिन बढ़ती हुई भोगल-लम्पा और धन-तृष्णाकी मनोवृत्तिको देख कर कहा—

जह इंधणेहिं अग्गो लवणसमुद्दो णदी-सहस्सेहिं।
तह जोवस्स ण तित्ती अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि २६॥

जिस प्रकार अग्नि इन्धनसे तृप्त नहीं होती है, और जिस प्रकार समुद्र हजारों नदियोंको पाकर भी नहीं अघाता है, उसी प्रकार तीन लोककी सम्पदाके मिल जाने भी जोवको इच्छाएँ कभी तृप्त नहीं हो सकती हैं।

इसलिए हे संसारी प्राणियो, यदि तुम आत्माके वास्तविक सुखको प्राप्त करना चाहते हो, तो समस्त परिग्रह-का परित्याग करो। क्योंकि—

सव्वग्गंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य।
जं पावइ पीइसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहदि ॥२७॥

सर्व प्रकारके परिग्रहसे विमुक्त होने पर शान्त एवं प्रसन्नचित्त साधु जो निराकुलता-जनित अनुपम आनन्द प्राप्त करता है, वह सुख अतुल वैभवका धारक चक्रवर्तीको नहीं मिल सकता है।

यदि तुम सर्व परिग्रह छोड़नेमें अपनेको असमर्थ पाते हो, तो कमसे कम जितनेमें तुम्हारा जीवन-निर्वाह चल सकता है, उतनेको रख कर शेषके संग्रहकी तृष्णाका तो परित्याग करो। इस प्रकार भ० महावीरने संसारमें विषमताको दूर करने और समताको प्रसार करनेके लिए अपरिग्रहवादका उपदेश दिया।

इस प्रकार भ० महावीरने लगातार ३० वर्षों तक अपने दिव्य उपदेशोंके द्वारा उस समय फैले हुए अज्ञान और अधर्मको दूर कर सज्ज्ञान और सद्धर्मका प्रसार किया। अन्तमें आजसे २४८३ वर्ष पूर्व कार्तिक कृष्णा अमावस्याके प्रात:कालीन पुण्यवेलामें उन्होंने पावासे निर्वाण प्राप्त किया।

भ० महावीरके अमृतमय उपदेशोंका ही यह प्रभाव था कि आज भारतवर्षसे याज्ञिकी हिंसा सदाके लिए बन्द हो गई, लोगोंसे छुआछूतका भूत भगा और समन्वय-कारक अनेकान्त-रूप सूर्यका उदय हुआ।

२५ पाहुडदोहा. गा० १३१
२६ भग० आराधना, गा० ११४३
२७ भग० आराधना, गा० ११८२

रूपक-काव्य परम्परा

(परमानन्द शास्त्री)

भारतीय साहित्यमें रूपात्मक साहित्य अपना महत्व पूर्ण स्थान रखता है। उसमें अमूर्तभावोंका मूर्तरूपमें चित्रण किया गया है। हृदयस्थित अमूर्तभाव इतने सूक्ष्म और अदृश्य होते हैं कि उनका इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार नहीं हो पाता। परन्तु जब उन्हें रूपक उपमाके सांचेमें ढालकर मूर्तरूप दिया जाता है। तब इन्द्रियों द्वारा उनका सजीव रूपसे प्रत्यक्षीकरण अथवा साक्षात्कार होता है। फलतः उनमें एक अद्भुत शक्ति संचरित हुई प्रतीत होने लगती है। और वे भाव इतने गम्भीर, उदात्त और सजीव होते हैं कि उनका प्रभाव हृदयपट पर अंकित हुए बिना नहीं रहता। रूपक साहित्यकी सृष्टिका एकमात्र प्रयोजन पाठक और श्रोताओंको उक्त काव्यमें निहित अन्तर्भावोंकी ओर आकृष्ट करते हुए उन्हें आत्म-साधनकी ओर अग्रसर करना रहा है। क्योंकि रागी और विषय-वासनामें रत आत्माओं पर वैसे कोई प्रभाव अंकित नहीं होता, अतः उन्हें अनेक रूपों एवं उपमाओंका लोभ दिखाकर स्व-हितकी ओर लगानेका उपक्रम किया जाता है। रूपक-काव्योंकी सृष्टि-परम्परा प्राचीनकालसे ही आई हुई जान पड़ती है, परन्तु वर्तमानमें जो उपमान उपमेय रूप साहित्य उपलब्ध है उससे उसकी प्राचीनताका स्पष्ट आभास मिल जाता है।

जैन समाजमें रूपात्मक जैन साहित्यके सृजनका सूत्र-पात कब हुआ? यह विचारणीय है। परन्तु अद्यावधि उपलब्ध साहित्य परसे ऐसा जान पड़ता है कि उसका प्रारम्भ ९वीं शताब्दीसे पूर्व हो गया था। सं० ९६२ में सिद्धर्षिने 'उपमितिभव प्रपंचकथा' का संस्कृतमें निर्माण किया था, कविवर जयरामने प्राकृतमें 'धम्म परिक्खा' नामक ग्रन्थकी रचना प्राकृत गाथोंमें की थी, जो आज अपने मूल-रूपमें अनुपलब्ध है। किन्तु सं० १०४४ में निर्मित धक्कड़-वंशीय हरिषेणकी 'धम्म परिक्खा' उपलब्ध है जिसे भाषा परिवर्तनके साथ अपभ्रंशमें रचा गया है। आचार्य अमित-गतिकी धर्मपरीक्षा भी उसके बाद बनी है। धूर्ताख्यान, मदन पराजय, प्रबोधचन्द्रोदय, मोहपराजय और ज्ञान-सूर्योदय नाटक आदि अनेक रूपक-ग्रन्थ लिखे गए।

इन रूपक-ग्रन्थोंमें 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक' प्रतिशोध-की भावनासे बनाया गया जान पड़ता है; क्योंकि उसमें बौद्धभिक्षु और क्षपणक दि० जैन मुनिका चित्रण विकृत एवं बीभत्स रूपमें किया गया है। ग्रन्थका अध्ययन करनेसे ग्रंथकर्ताकी प्रतिशोधात्मक उग्र भावनाका सहज ही परिचय मिल जाता है। वैसे काव्य सुन्दर है और उसमें पात्रोंका चयन भी अच्छा हुआ है।

रूपक-काव्य केवल प्राकृत संस्कृत भाषाओंमें ही नहीं लिखे गए, किन्तु अपभ्रंश और हिन्दी भाषामें भी अनेक कवियों द्वारा रूपक खण्ड-काव्योंकी रचना की गई है। जिनका एकमात्र प्रयोजन जीवात्माको विषयसे पराङ्मुख-करके स्वहितकी ओर लानेका रहा है।

अपभ्रंश भाषाके रूपक-काव्य

संस्कृत भाषाके समान अपभ्रंश में भी रूपक काव्योंकी परम्परा पाई जाती है। परन्तु अपभ्रंश भाषामें तेरहवीं शताब्दीसे पूर्वकी कोई रचना मेरे देखनेमें नहीं आई। सोमप्रभाचार्यका 'कुमारपाल-प्रतिबोध' प्राकृत प्रधान रचना है और जिसका रचनाकाल संवत् १२४१ है×। परन्तु उसमें कुछ अंश अपभ्रंशभाषाके भी उपलब्ध होते हैं। उसका एक अंश 'जीवमनः करण संलाप कथा' नामका भी है। जो उक्त ग्रन्थमें पृ० ४२२ से ४३७ तक पाया जाता है। यह एक धार्मिक कथाबद्ध रूपक काव्य है। इसमें जीव, मन और इन्द्रियोंके संलापकी कथा दी गई है इतना ही नहीं किन्तु इसमें रूपकान्तर्गत दूसरे रूपकको भी जोड़ दिया गया है। ऐसा होने पर भी उक्त अंशकी रोचकतामें कोई अन्तर नहीं पड़ा। इस रूपक काव्यमें मन और इन्द्रियोंके वार्तालापमें जगह-जगह कुछ सुभाषित भी दिये हुए हैं जिनसे उक्त काव्य-ग्रन्थकी सरसता और भी अधिक बढ़ गई है।

जं पुणु तहु जंपेसि जड़ ! तं असरिसु पडिहाइ।
मण निल्लक्खण किं महइ, नेउरु उट्टहु पाइ ॥७॥

अर्थात्—हे मूर्ख ! तुमतो कहते हो कि वह तुम्हारे योग्य नहीं प्रतीत होता, हे निर्लक्षण मन ! क्या ऊँटके पैरमें नूपुर शोभा देते हैं ?

कथाभाग

काया नगरीमें लावण्यरूप लक्ष्मीका निवास है। उस

× शशिजलधिसूर्य वर्षे शुचिमासे रविदिने सिताष्टम्याम
जिनधर्मः प्रतिबोधः क्लृप्तोऽयं गूर्जरेन्द्रपुरे ।।
—कुमारपाल प्रतिबोध

नगरीके चारों ओर आयुकर्मका भारी प्राकार है, उसमें सुख-दुःख, क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोकादिरूप अनेक प्रकारकी नाड़ियाँ एवं मार्ग हैं। उस काया नगरीमें जीवात्मा नामक राजा अपनी बुद्धि नामकी पत्नीके साथ राज्य करता है। उसका प्रधानमंत्री मन है. और स्पर्शनादि पांचों इन्द्रियाँ प्रधान राजपुरुष हैं। एक राजसभामें परस्परमें विवाद उत्पन्न हो गया, तब मनने जीवोंके दुःखोंका मूल कारण अज्ञान बतलाया, किन्तु राजाने उसी मनको दु खका मूल कारण बतलाते हुए उसकी तीव्र भर्त्सना की, पर विवाद बढ़ता ही चला गया। उन पांचों प्रधान राज पुरुषोंकी निरंकुशता और अहंमन्यताकी भी आलोचना हुई। और प्रधान मंत्री मनने इन्द्रियोंको दोषी बतलाते हुए कहा कि जब एक-एक इन्द्रियकी निरंकुशतासे व्यक्तिका विनाश हो जाता है, तब जिसकी पांचों ही इन्द्रियाँ निरंकुश हों, फिर उसकी क्षेम-कुशल कैसे हो सकती है?* जिन्हें जन्म कुलादिका विचार किये बिना ही भृत्य (नौकर)बना लिया जाता है तो वे दुःख ही देते हैं। उनके कुलादिका विचार होने पर इन्द्रियोंने कहा—हे प्रभु! चित्तवृत्ति नामकी महा अटवीमें महा-मोह नामका एक राजा है उसकी महामूढा नामक पत्नी-के दो पुत्र हैं, उनमें एकका नाम रागकेशरी है जो राजस चित्तपुरका स्वामी है और दूसरा द्वेष-गयंद नामका है, जो तामस चित्तपुरका अधिपति है। उसका मिथ्यादर्शन नामका एक प्रधानमंत्री है। क्रोध, लोभ, मत्सर, काम, मद आदि उसके सुभट हैं। एक बार उसके प्रधानमंत्री मिथ्यादर्शनने आ कर कहा कि हे राजन्! बड़ा आश्चर्य है कि आपके प्रजाजनोंको चारित्र्य धर्म नामक राजाका संतोष नामक चर, विवेकगिरि पर स्थित जैनपुरमें ले जाता है। तब मोहराजाने सहायताके लिये इंद्रियोंको नियुक्त किया। इस तरह कविने एक रूपकके अन्तर्गत दूसरे रूपकका कथन देते हुए उसे और भी अधिक सरस बनानेकी चेष्टा की है।

किन्तु मन द्वारा इन्द्रियोंको दोषी बतलाने पर इन्द्रियों-ने भी अपने दोषका परिहार करते हुए मनको दोषी बत-लाया और कहा कि जीवमें जो रागद्वेष प्रकट होते हैं वह सब मोहका ही माहात्म्य है। क्योंकि मनके निरोध करने पर हमारा (इन्द्रियोंका) व्यापार स्वयं रुक जाता है*। इस तरह ग्रंथमें क्रमसे कभी इन्द्रियों को, कभी कर्मोंको और कभी कामवासनाको दुःखका कारण बतलाया गया है। जब वाद-विवाद बढ़कर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया तब आत्मा अपनी स्वानुभूतिसे उन्हें शान्त रहनेका उपदेश देता है।

अन्तमें मानव जीवनकी दुर्लभताका प्रतिपादन करते हुए तथा जीवदया और व्रतोंके अनुष्ठानका उपदेश देते हुए कथानक समाप्त किया गया है।

* जं तसु फुरइ रागो दोसा वा तं मणस्स माहप्पं।
विरमइ मणम्मि रुद्धे जम्हा अम्हाण वावारो॥४६

मयण पराजय

मदन पराजय एक छोटासा अपभ्रंश भाषाका रूपक-काव्य है, जो दो संधियों में समाप्त हुआ है। इसके कर्ता कवि हरदेव हैं। हरदेवने अपनेको चंगदेवका तृतीय पुत्र और साथ ही अपने दो ज्येष्ठ भाइयोंके नाम किंकर और कण्ह (कृष्ण) बतलाये हैं। इसके अतिरिक्त ग्रंथमें कविने अपना कोई अन्य परिचय एवं समयादिककी कोई सूचना नहीं की। इस ग्रंथ में पद्धडिया छन्दके अतिरिक्त रड्डा छन्दका भी प्रयोग किया गया है। जो इस ग्रन्थकी अपनी विशेषता है। यह एक मनोमोहक रूपक काव्य है, जिसमें कामदेव राजा, मोहमंत्री, अहंकार और अज्ञान आदि सेनापतियोंके साथ भावनगर में राज्य करता है। चरित्रपुरके राजा जिनराज उनके शत्रु हैं; क्योंकि वे मुक्तिरूपी कन्यासे अपना पाणिग्रहण करना चाहते हैं। कामदेवने राग-द्वेष नामके दूत द्वारा जिनराजके पास यह सन्देश भेजा कि आप या तो मुक्ति कन्यासे विवाह करनेका अपना विचार छोड़ दें और अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप सुभटोंको मुझे सौंप दें, अन्यथा युद्धके लिये तैयार हो जाँय। जिनराजने कामदेवसे युद्ध करना स्वीकार किया और अन्तमें कामदेवको पराजित कर अपना मनोरथ पूर्ण किया।

ग्रन्थमें रचनाकाल दिया हुआ नहीं है। किन्तु आमेर-भण्डारकी यह प्रति विक्रम संवत १५७६ की लिखी हुई है जिससे यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उससे पूर्वका बना हुआ है। किन्तु भाषाकी दृष्टिसे इसका रचनाकाल १४वीं शताब्दी जान पड़ता है। ग्रन्थकी शैलीके परिज्ञानके लिये

---

* इय विषय पल्लकओ,
इहु एक्केक्कुइंदिउ जगडइ जगसयलु।
जेसु पंचवि एयइं कयबहु खेयइं,
खिल्लहिं पहु! तसु कउ कुसलु॥२६॥

ग्रन्थकी दूसरी सन्धिका ७वां कडवक द्रष्टव्य है जिसमें कामदेवसे युद्ध करनेवाले युद्धोद्यत सुभटोंके वचन अंकित हैं—

वज्जघाउकोसि रिणपडिच्छइ असिधारापहेणकोगच्छइ
कोजम करणु जंतु आमंघइ, को भवदंडइं सायरु लंघइ
कोजम महिसमिंग उप्पाडइ विप्फुरंतु को दिणमणितोडइ
को पंचायणु सुत्तउखवलइ, काल कुट्टु को कवलहिंकवलइ
आमोविस मुहिकोकरुच्छोहइ,धगधगंतकोहुयवहिसोखइ
लोहपिंडुको तत्तु घवक्कइ, को जिण संमहु संगरिचक्कइ
णय घरमाझिकर्राहहुबधट्टिय,महिलहं अग्गइतेरीवट्टिव

कवि नागदेवने हरदेवके इस 'मयण पराजय' को आधार बनाकर तथा उसमें यथास्थान संशोधन परिवर्तनकर संस्कृतमें मदनपराजय नामक ग्रन्थकी रचना की है। नागदेव हरदेवकी परम्पराका ही विद्वान है। यह रचनाभी बड़ी लोकप्रिय है।

दूसरी कृति 'मन करहा' है। जिसके कर्ता कवि पाहल हैं। कविने अपनी रचनामें उसका रचनाकाल नहीं दिया है। पर सम्भवतः यह रचना १४वीं १५वीं शताब्दी की है। क्योंकि जिस गुटके परसे इसे नोट किया गया है उसका लिपिकाल सं० १५७६ है। अतः यह रचना सं० १५७६ से पूर्ववर्ती है। कितने पूर्ववर्ती है यह अभी विचारणीय है। रचना सुन्दर और शिक्षाप्रद है। इसमें ८ कडवक दिये हुए हैं। जिनमें पांचों इन्द्रियोंकी निरंकुशतासे होनेवाले दुर्गतिके दुःखोंका उद्भावन करते हुए मन और इन्द्रियोंको वशमें करने और तपश्चरण-द्वारा कर्मोको खिपानेका सुन्दर उपदेश दिया गया है।

तीसरी कृति 'मदन-जुद्ध' है। जिसके कर्ता कवि बूचिराज हैं जिनका दूसरा नाम 'बल्ह' भी था। ग्रन्थमें उसका रचनाकाल सं० १५८६ आश्विन शुक्ला एकम शनिवार दिया हुआ है, जिससे यह ग्रन्थ विक्रमकी १६वीं शताब्दीके उत्तरार्धका बना हुआ है*। इस ग्रन्थमें इक्ष्वाकु कुलमण्डन नाभिपुत्र ऋषभदेवके गुणोंका कीर्तन करते हुए उन्होंने कामदेवको कैसे जीता? इसका विस्तारसे कथन किया गया है। कविने ग्रंथ रचनाका फल बतलाते हुए लिखा है कि इस ग्रन्थके अध्ययन करनेसे भव्य जीव काम-विजयके द्वारा आत्माका विकास करनेमें समर्थ हो सकते हैं। और आत्मा उस आनन्दको पा लेता है जिसमें जन्म जरा और मरणकी कोई वेदना नहीं होती, किन्तु आत्मा अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, सुख और वीर्यमें लीन रहता है।

संस्कृत और अपभ्रंश भाषाके रूपक-काव्योंके समान हिन्दीभाषामें भी अनेक रूपक-काव्य लिखे गए हैं। जिनमें कविवर बनारसीदासका नाटक समयसार भैया भगवतीदास-का 'चेतनचरित्र' और पंचेन्द्रिय सम्बाद सूआबत्तीसी, पंचेन्द्रियकी बेल आदि हैं। इनमेंसे यहां सिर्फ भगवतीदासके 'चेतनचरित्र' पर प्रकाश डाला गया है, अगले लेखमें अन्य ग्रन्थों पर प्रकाश डालनेका यत्न किया जायगा।

हिन्दीभाषाका रूपक-काव्य

चेतन-चरित्र

भैया भगवतीदासका 'चेतन चरित्र' एक सुन्दर रूपात्मक काव्य है, जिसकी रचना बड़ी ही सरस और चित्ताकर्षक है। उसे पढ़ना शुरू करने पर पूरी किये बिना जी नहीं चाहता, उसमें कोरा कथा-भाग ही नहीं है किन्तु उसमें चेतन राजा और मोहके चरित्रका ऐसा सुन्दर चित्रण किया गया है जिसका प्रभाव हृदय-पटल पर अंकित हुए बिना नहीं रहता, वह इस मोही प्राणीको अपने स्वरूपकी झांकी प्रस्तुत करता ही है। चरित्रका संक्षिप्त प्रसार इस प्रकार है—

चेतनराजाकी दो रानियां हैं, सुमति और कुमति। एक दिन सुमति चेतन आत्माकी कर्मसंयुक्त अवस्थाको देखकर कहने लगी—हे चेतनराय! तुम्हारे साथ इन दुष्ट कर्मोका संग कहांसे आगया? क्या तुम अपना सर्वस्व खोकर भी प्रबुद्ध होना नहीं चाहते। जो व्यक्ति अपने जीवनमें सर्वस्व गमाकर भी सावधान नहीं होते, वह कभी भी समुन्नत नहीं हो सकता। अतः अनेक परिस्थितियोंमें फँसे रहने पर भी उनकी वास्तविक स्थितिको समझने, उन्हें पूरा करने, उनसे छुटकारा पाने या अपने स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये जागरूक होनेकी जरूरत है। अपनी असावधानी ही अपने पतनका कारण है।

चेतन—हे महाभाग! मैं तो मोहजालमें ऐसा फँस गया हूँ कि उस गहन पंकसे निकलना मुझे अब दुष्कर जान पड़ता है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि इनसे मेरा

---

* राइ विक्कमतणों संवत् नव्वासीय पनरसइ सरदरुत्ति आसु बखाणु।
तिथि पडिवा सुकल पख सनीचरवार कर णक्खत्त जाणु।
तिसु दिन वल्ह जु संठयो मयणजुज्झ-सविवेस।
पढन सुणत रिक्खाकरो जयो स्वामि रिसहेस ॥५७

उद्धार कैसे होगा और मैं अपने निज स्वरूपको कैसे पा सकूँगा ?

सुमति—हे नाथ! आप तो अपना उद्धार करनेमें स्वयं समर्थ हैं, जो व्यक्ति अपने स्वरूपको भूल जाता है वह सहज ही पराधीन हो जाता है। जब तक हम अपनी यथार्थ परिस्थितिको नहीं समझते हैं, तब तक ही दूसरा हमें पराधीन कर हम पर शासन किया करता है और हमारा यद्वा-तद्वा शोषण करता है। किन्तु जब हमें अपने अधिकार और कर्तव्योंका यथार्थ परिज्ञान हो जाता है तब उस शोषण करनेवाले शासनका भी अन्त हो जाता है। इसके लिये भेद-विज्ञान और विवेक ही अमोघ अस्त्र हैं, उन्हींसे आप रण-क्षेत्रमें युद्ध करनेके लिये समर्थ हो सकते हैं और शत्रुको परास्त कर विजय प्राप्त कर सकते हैं। जैसे मोहनधूलिके सम्बन्धसे आत्मा अपनेको भूल जाता है, परको निज मानने लगता है उसी प्रकार आप कुमतिके कुसंगसे अपने स्वरूपको भूल गए हैं। अतएव पदच्युत हैं। और इधर-उधर भ्रमण कर रहे हैं। अब सावधान हो समर-भूमिमें आइये, अपनी दृढ़ता और विवेकको साथ रखते हुए कर्तव्य-पथसे विचलित न होइये, आपकी विजय निश्चित है। सुमतिकी इस बात-को सुनकर चेतनरायने मौन ले लिया।

इतनेमें सहसा कुमति आगई और सुमतिसे बोली—री दुष्टा तू क्या बक-झक कर रही है, तू कुल-कलंकिनी कौन है ? मेरे सामने बोलनेका तेरा इतना साहस, तू नहीं जानती है कि मैं लोक-प्रसिद्ध सुभट मोहकी प्यारी पुत्री हूँ। मुझे इस बातका अभिमान है कि मैंने अपने प्रभावसे अनेक वीर सुभटोंको परास्त किया है—हराया है। तू क्यों इतनी बढ़ बढ़कर बातें कर रही है, यहांसे क्यों नहीं चली जाती ?

चेतनने हँसकर कहा कि अब तुम पर मेरा स्नेह नहीं है। तुम क्यों इस प्रकारकी बातें करके परस्परमें झगड़नेका प्रयत्न कर रही हो और अहंकारके नशेमें चूर हो समता और शिष्टताको गमा रही हो।

सुमति—इतनेमें सुमति बोली—आपने खूब कहा, मैं और यहांसे चली जाऊँ, और तुम अकेली ही क्रीड़ा करो, और चेतनरायको परमें लुभाये रखनेका प्रयत्न करती रहो, जिससे वह अपनेको न जान सके। न-न यह कभी नहीं हो सकता। अब तेरी वह मोह माया अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकेगी, अब मेरे रहते हुए तेरा अस्तित्व भी संभव नहीं है। तू दुराचारिणी है, हट जा यहां से। सुमतिके इन वाक्बाणोंसे कुमतिका हृदय-कुसुम छिन्न-भिन्न हो गया और वह कुपित होकर अपने पिताके पास चली गई। और अपने पितासे अपने आनेका कारण बतलाया। मोहराजने पुत्रीकी बात सुनकर अपनी प्यारी बेटीको समझाते हुए कहा—बेटी, चिन्ता मत करो, मेरे रहते हुए संसारमें ऐसा कौन सुभट है जो तेरा परित्याग कर सके ? मैं तुम्हारे पति की बुद्धिको अभी ठिकाने पर लाता हूँ, अभी अपने सरदारों को बुलाकर चेतनके पास भेजता हूँ, जब तक वह सुमतिको निकालकर तुमको अपने घरमें स्थान नहीं देगा, तब तक मैं चुप होने का नहीं। मेरी और मेरे योद्धाओंकी शक्ति अपार है, वह उसे क्षणमात्रमें अपने आधीन कर लेगी। इस तरह बेटी कुमतिको समझा-बुझाकर मोहने अपने चतुर दूत काम कुमारको बुलाकर आदेश किया कि तुम चेतन राजासे जाकर कहो कि तुमने अपनी स्त्रीका परित्याग क्यों कर दिया है ? या तो हाथ जोडकर क्षमा याचना करो, अन्यथा युद्धके लिये तैय्यार हो जाओ।

दूत कर्ममें निपुण काम-कुमारने मोहराजाका सन्देश चेतनराजासे कह दिया। और बहुत कुछ वाद-विवादके अनन्तर चेतन भी मोहसे युद्ध करनेके लिये तैयार होगया।

दूतने वापिस जाकर राजाचेतनकी वे सब बातें मोहसे कह सुनाईं, और निवेदन किया कि वह युद्धके लिये तैयार है। तब मोहने अपने वीर सुभटोंको चेतनराजाको पकड़नेके लिये आमन्त्रित किया।

मोहके राग-द्वेष दोनों महा सुभट वीर मन्त्रियोंने जो मोहकी फौजके सरदार हैं। अनेक तरहसे परामर्शकर चेतन-को अपने आधीन करनेका उपाय बतलाया। ज्ञानावरणने मन्त्रियोंको प्रसन्न करते हुए कहा कि—'प्रभो! मेरे पास पांच प्रकारकी सेना है। एक चेतनकी तो बात क्या मैंने सारे संसारको अपने आधीन बना लिया है, आप जिस तरह कहें मैं चेतनरायको बन्दी बनाकर आपके सामने ला सकता हूँ। मेरी शक्ति अपार है, जहाँ जहाँ आपको अज्ञानके दर्शन होते हैं वह सब मेरी ही कृपाका परिणाम है। मेरी शक्तिका कोई मुकाबिला नहीं कर सकता।

उसी समय दर्शनावरण अपनी डींग हांकते हुए बोला—देव! मैं अपने विषयमें अधिक प्रशंसा क्या करूँ। मैंने चेतनरायकी बहुत बुरी अवस्था कर रक्खी है, इतना ही नहीं; किन्तु मेरे कारण संसारके सभी जीव अन्धे जैसे हो रहे हैं—वे आत्म-दर्शन करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं, यह सब

मेरा ही प्रमाद है। मेरे नो पराक्रमी सुभट हैं जो जगतको उन्माद उत्पन्न करते रहते हैं।

इतनेमें वेदनीय अपनी धौंस जमाते हुए बोला—देव ! मेरी महिमा तो लोकमें प्रसिद्ध ही है, मेरे दो वीर सुभट हैं जिनसे चतुर्गतिके जीव आकुल-व्याकुल हो रहे हैं। अन्यकी तो बात ही क्या, जिनकेपास परमाणु मात्र भी परिग्रह नहीं है, जो ज्ञान-ध्यान और तपमें निष्ठ रहते हैं, जो समदर्शी और विवेकी हैं, जिनका उपदेश कल्याणकारी है। उन्हें भी मैंने नहीं छोड़ा, क्षण-क्षणमें सुख-दुःखका वेदन कराना ही मेरा कार्य है।

अब आयुकर्मकी पारी आई, और वह अपनी ताल ठोंककर बोला—देव ! सभी संसारी जीव मेरे आधीन हैं, मैं उन्हें जब तक रखना हूँ तब तक वे रहते हैं अन्यथा मृत्युके मुखमें चले जाते है। मेरे पास चार सुभट हैं उनसे युद्ध करने के लिये कौन समर्थ है ? चारों गतिके सभी जीव मेरे दास हैं, मैं उन्हें छोड़ूं तब वे शिवपुर जा सकते हैं।

इतनेमें नामकर्म बोला—देव ! मेरे बिना संसारको कौन बना सकता है ? मैं पुद्गलके रूपका निर्मापक हूँ। जिसमें आकर चेतन निवास करता है। मेरे तेरानवे सुभट हैं, जो विविध रूपरंग वाले और रसीले हैं, उनका जो कोई मुकाबिला करनेका साहस करता है तो वे उसे मरने पर भी नहीं छोड़ते।

अब गोत्रकर्मकी पारी आई और वह बड़े दर्पके साथ बोला—देव ! मेरे दो वीर सुभट हैं, जिनका ऊँच-नीच परिवार है, सूर वंशका यह स्वभाव है कि वे क्षणमें रंक और क्षणमें राजा करते हैं।

अवसर पा अन्तराय बोला, प्रभो ! आप चिन्ता न करें, मेरे पांच सुभट देखिये, जो रणक्षेत्रमें सबसे आगे रहते हैं, तथा हाथमें अस्त्रोंको भी ग्रहण नहीं करने देते, और चेतनकी सब सुध-बुध हर लेते है। इस तरह मोहराजाके १२० प्रधान सुभट हैं, जिनके गुणोंको जगदीश ही जानते हैं। इनके सात प्रकारके वीर हैं, जो शत्रुदल-भंजक और महासुभटकी उपाधिसे अलंकृत हैं।

जब राजा मोहने अपने सभी सुभटोंको सदल-बल देखा, तो उसके आनन्दकी सीमा न रही, वह अपनी अपरमित शक्ति देखकर फूला न समाया और बोला—मेरे जैसे प्रतापी राजाके शासन करते हुए चेतन राजा क्या कभी अनीति कर सकेगा ? और उसे मेरी पुत्रीको फिर कभी घरसे निकालनेका दुःसाहस हो सकेगा। उसने जो भारी अपराध किया है, उसका दण्ड दिये बिना मैं नहीं रह सकता। अब चेतन पर शीघ्रही चढाई कर देना चाहिये।

राजा मोहकी समस्त सेना आनन्दभेरी बजाती हुई, राग और द्वेषको सबसे आगे करके चेतनको जीतनेको चली। जब सैन्यदल चेतनके नगरके समीप पहुँचा तब नगरसे दूरही पडाव डाल दिया गया।

इधर जब चेतनराजाको मोहके सैन्यदलके आनेका समाचार मिला, तब चेतनरायने भी अपने सभी मंत्रियों और सेनानायकों को बुलाया। और उनसे मोहके सैन्यदल सहित आने का समाचार कहा। ज्ञान नामक मंत्रीसे चेतनरायने कहा—वीर ! मैं तुम पर पूर्णविश्वास करता हूँ; क्योंकि अनेक युद्धोंमें मैं तुम्हारी वीरता देख चुका हूं। तुम जैसे वीरोंकी ही इस समय आवश्यकता है। तुम्हारी आन ही मेरी शान है अतः शीघ्र ही अपना सैन्यदल तैयार कर उसे यहाँ लाओ, भयकी कोई बात नहीं है। शायद तुम्हें स्मरण होगा कि तुमने पहले कितनी ही बार मोहराजा पर विजय पाई है अतः घबराने की कोई बात नहीं है शीघ्र जाइये।

ज्ञानदेवके निर्देशानुसार सभी सामन्त और सैनिक सज, धज कर आगए। उनमें सबसे पहले स्वभाव नामका सामंत बोला— देव ! मेरी अरदास सुनिये। मुझे शत्रुके तीर नहीं लग सकते, और मैं क्षणमात्रमें शत्रुको गर्व रहित कर सकता हूँ। इसलिए चिन्ताकी कोई बात नहीं है। इतनेमें दूसरा सामंत शुद्ध यान बड़े दर्पके साथ बोला—देव ! आप मुझे आज्ञा करें तो मैं शत्रु-सैनाको परास्तकर सकता हूँ। मेरे आगे वह सैन्यदल वैसे ही नाशको प्राप्त होगा जैसे कि सूर्योदयसे समस्त अंधकारका नाश हो जाता है। तीसरा चारित्रसूर बोला—महाराज ! मैं क्षण भरमें अरिका नाश कर सकता हूँ। अब विवेककी पारी आई, उसने अपना प्रभाव व्यक्त करते हुए कहा कि—मुझे देख कर ही शत्रु घबरा जायगा और नाशको प्राप्त होगा, निर्भयता और शान्ति जैसे मेरे पराक्रमी वीर हैं अतः आप इसकी चिन्ता न करें। इतने में संवेग सूर अपनी डींग हांकते हुए बोला—हे देव ! मैं शत्रुदलके साथ घमासान युद्ध करने के लिये तैयार हूँ। इसी तरह समभाव, संतोष, दान, सत्य, उपशम, और धीरज नामक अनेक शूरवीर सामन्तोंने अपनी अपनी विशेषाएँ बतलाईं।

ज्ञानदेवने चेतनरायसे कहा कि—हमारी फौज भी सज-धजके तैय्यार हैं। चेतनने देखा कि सैन्यदल तैय्यार होगया है। ज्ञानदेव—प्रभो! मैं आपसे एक निवेदन कर देना चाहता हूँ यदि आप नाराज न हों तो कहूँ।

चेतनराजा— वीरवर! संग्राममें शत्रु पर विजय प्राप्त करना तुम्हारे ही ऊपर निर्भर है इस समय तुम्हारे मुख-मुद्राकी अप्रसन्नता मेरे कार्यमें कैसे साधक हो सकती है? अतएव तुम जो कुछ भी कहना चाहो निस्संकोच होकर कहो, डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं। युद्धके समय वीरोंकी बात कभी अस्वीकृत नहीं होती। रणनीति भी ऐसी ही है, रण विज्ञ राजा युद्धके अवसरों पर अपने वीरोंको कभी अप्रसन्न नहीं होने देते। अत: तुम निर्भयताके साथ अपनी बात कहो।

ज्ञानदेव—प्रभो! संग्राममें आक्रमण करनेसे पूर्व दूत भेजकर शत्रुके प्रधानमंत्रीको या उनके किसी अन्य प्रतिनिधि को बुलवा लीजिये, तथा जहां तक बने इस समय संधि कर लेना ही उचित होगा।'

चेतन राजा—ज्ञानदेव! आज तुम युद्धके अवसर पर कायर क्यों हो रहे हो? हमें अपनी शक्ति पर पूरा विश्वास है, संग्राममें हमारी अवश्य विजय होगी, पर तुम्हीं बताओ, घरमें क्या दुश्मनको बुलवाना उचित है? राजनीति बड़ी गूढ़ और विलक्षण होती है, अब सधिका कोई अवसर नहीं है। इस समय युद्ध करना ही हमारे लिये उचित है।

ज्ञानदेव—प्रभो! आप मोहराजाकी अपरमित शक्तिसे परिचित होकर भी इस प्रकारकी बातें कर रहे हैं। मैं जानता हूँ कि जब आपके सामने मोहके प्रधान सचिव, राग और द्वेष नाना प्रलोभनों और अनेक सुन्दर नवयुवतियोंके हाव-भावों तथा चंचल कटाक्ष बाणोंके साथ प्रस्तुत होंगे। उस समय क्या आपकी दृढ़ता सुस्थिर रह सकेगी? यह संभव नहीं जान पड़ता। आप मोहके लुभावने भयंकर अस्त्रोंसे अभी अपरिचित हैं। इसीसे ऐसा कहते हैं।

चेतन राजा—ज्ञानदेव! यह तुम्हारा कहना ठीक है। मोह राजाने भ्रममें डालकर ही मेरे साथ अपनी पुत्रीका पाणिग्रहण किया था। जिसके कारण मैंने क्या क्या कुकर्म नहीं किये हैं? परन्तु अब हमें अपनी अतुलित शक्ति पर पूरा विश्वास है। हम संग्राममें अवश्य विजयी होंगे, अब उसके वे लुभावने अस्त्र-शस्त्र अब कुंठित हो जावेंगे। रही युवतियोंके कटाक्ष बाणोंकी बात, सो वे अब मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते; क्योंकि अब मैंने अपने स्वरूपका ठीक परिज्ञान कर लिया है और अपनी अदृश्य चैतन्य शक्तिको भी पहिचाननेका यत्न किया है। परन्तु तुम्हें मेरा साथ अवश्य देना होगा। वीरवर! यदि तुमने दृढ़ताके साथ मेरा साथ दिया, और मेरे विवेकका संतुलन बराबर सुस्थिर रहा तो मोहका सैन्यदल मेरा कुछ भी बिगाड़ करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। अत विवेक दूतको मोह राजाके पास भेज देना चाहिये, पर अपने घरमें शत्रुका बुलाना उचित नहीं है जब हममें अनन्त शक्ति और अनन्त सुख है, तब फिर इतना भय क्यों? अस्तु

ज्ञानदेवने विवेक दूतको बुलाया और कहा कि तुम मोह पर जाओ, और यह कहो कि—यदि तुम अपना भला चाहते हो तो यहांसे चले जाओ, यदि वह अन्यथा कहे तो तुम भी उसे अपना धोंस बता देना और कह देना कि तेरा जितना जोर चले तू उतना जोर चला ले, वे सब जीवके ही चाकर हैं, जो क्षणमात्रमें नष्ट कर देंगे। ज्ञानदेवने तो तुम्हारी भलाईके लिये ही मुझे तुम्हारे पास भेजा था, अतः यदि तुम जीवन चाहते हो तो चेतनपुरको छोड़ दो। विवेक मोहके पास आया और उसने मोहसे कहा कि यदि तुम अपना भला चाहते हो तो यहां से भाग जाओ। दूतके वचन सुनकर मोह आग बबूला हो गया और लाल लाल आंखे निकालता हुआ गरज कर बोला—मैं शत्रुका क्षणमात्रमें नाश करूँगा। मेरे आगे तेरी क्या बिसात? मेरे एक ही वीर सुभट ज्ञानावर्णीने केवल तुम्हें ही दुखी नहीं किया किन्तु संसारके सभी प्राणियोंको परेशान कर रक्खा है, फिर भी तुम्हें लाज नहीं आती, जो मुझ जैसे राजाके आगे यहांसे हट जानेको कहते हो। अनन्तकालसे तुम कहां रहे, अब तुम्हारी यह हिम्मत, कि तुम मुझसे लड़नेको तैयार हो गये। तुम चौरासी लाख योनियोंमें अनेक स्वांग धारण कर नाचते रहे, उस समय तुम्हारा पुरुषार्थ कहां गया था, क्या कभी तुमने उस पर विचार किया है? मैंने तुम्हें इतने दिन पाल-पोष कर पुष्ट किया है, सो तुम उल्टे मुझसे ही लड़नेको तैयार हो गए हो, तुम नीच हो, तुम्हें लज्जा आनी चाहिये, तुम तो गुणलोपी दुष्ट हो, ओ चेतनके पापी गुण, तुम सब अभी चले जाओ, मुझे अपना मुख मत दिखाओ। विवेक-राजा मोहके तीक्ष्ण वाक्-बाण सुनकर किसी तरह ज्ञानदेवके पास आया और मोहका सब समाचार कहा, कि मोह यहांसे नहीं भागता,

वह अपनी फौजोंको जोडकर युद्ध करना चाहता है। दूतके वचन सुनकर ज्ञानदेव मनमें कुछ हंसा और कहा कि तुम शीघ्र ही 'अव्रतपुर' जाओ और शत्रुदलको घेर कर उसे नष्ट करो, अब ज्ञानकी समस्त सेना गढ़से निकल कर शत्रुको घेरनेके लिए चली और विवेक सेनानी उसके आगे चला।

इधर ज्ञानदेवके प्रधान सेनापतित्वमें चेतनरायकी सेना, और कामकुमारके सेनापतित्वमें मोहराजाकी सेनामें परस्पर घमासान युद्ध होने लगा। युद्धमें दोनों ओरसे वीर एक दूसरे योद्धाको ललकारते हुए एक दूसरे पर बाणवर्षा करने लगे, यद्यपि ज्ञानदेव युद्धनीतिमें अतिशय निपुण था; तथापि कामकुमार भी उससे कम नहीं था पर वह शरीरसे अत्यन्त सुकुमार था और ज्ञानदेव कठोर, तथा पराक्रमी, ज्ञानदेवने सुकुमार कामकुमारको एक ही बाणमें पृथ्वी पर सुला दिया, कामकुमारने अपने पौरस दिखानेमें कोई कमी नहीं की, किन्तु ज्ञानदेवके समक्ष उसकी एक भी चाल सफल न हो सकी। ज्ञानदेवने केवल कामकुमारका ही हनन नहीं किया, किन्तु मोहसेनाके अन्य सात सुभट वीरोंका भी काम तमाम कर दिया, जो चेतनके मार्गको रोके हुए थे। मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व और अनतानुबंधी क्रोध, मान, माया-लोभ। इन सातों सुभटों-के विनष्ट हो जानेसे मोहने युद्धकी स्थितिको बदलते देख अपने सैन्यदलको पुनः सम्हालनेका यत्न किया पर वहांसे उसे हटना ही पडा। पश्चात ज्ञानदेवने चक्रव्यूह-की रचना कर अपने सैन्यदलको संरक्षित कर लिया और उस चक्रव्यूहके द्वारके संरक्षणका कार्य व्रतदेवको सौंप दिया।

किन्तु यहां ज्ञानदेवने जिस विषम चक्रव्यूहका निर्माण किया था, और उसमें अपने सैन्यदलको इस तरहसे सुव्यवस्थित किया; जिससे शत्रुदलका उसमें प्रविष्ट होना अशक्य हो गया—शत्रु-सेनाका एक-एक सुभट अपनी-अपनी शक्ति पचाकर साहसहीन होगया; परन्तु कोई भी उसका भेदन करनेमें समर्थ न हो सका। इधर व्रतदेवने अपने धनुष-बाणसे अविरतिको भी जा पछाडा जिससे वह युद्ध-भूमिसे उठनेमें सर्वथा असमर्थ हो गया। इस तरह मोहके वे सभी योद्धा जिन पर मोहको सदा नाज रहा करता था एक एक कर मारे गए। अतः मोहने 'अव्रतपुरको छोड दिया' और देश व्रतपुर' जा घेरा। तथा वहां अपनी सेनाको सुदृढ मोर्चेकी ओर लगा दिया, और अप्रत्याख्यान नामक योद्धाको अपने परिवार सहित उक्तनगरकी रक्षाका भार सौंप दिया। उक्त सूरने अव्रतपुरमें स्थित होकर व्रतदेवके कार्योंमें विघ्न डालने का यत्न किया। परन्तु चेतनरायने अपने ज्ञान और विवेककी सहायतासे 'देश व्रतपुरके' मार्गको अवरुद्ध करने वाले सुभटों-को धर्मध्यानकी आराधना द्वारा और संवेग वैराग्यकी दृढ़ता से क्षणमात्रमें मूर्छित कर दिया। और मोहके अन्य अविवेक आर्त-रौद्र रूप सुभटोंको भी पराजितकर देशव्रतपुर पर अपना अधिकार कर लिया। यद्यपि अविवेकने अपना भारी पुरुषार्थ दिखलाया, और अपने घातक बाणोंकी वर्षा द्वारा शत्रुदलको हानि पहुँचानेका भारी यत्न किया; किन्तु उसे किंचत्भी सफलता न मिली, क्योंकि चेतनने अपने क्षायिक सम्यक्त्व रूप चक्रसे शत्रु-सेनाको पराजित कर दिया, और अवशिष्ट शत्रु सेनाको भी देशव्रतपुरसे निकाल कर भगा दिया।

चेतनको देशव्रतपुरकी विजयसे हर्षातिरेक तो हुआ, परंतु साथ ही आगे बढ़ने और अपने समस्त प्रदेशोंसे मोह सेनाके निष्कासन करने का विचार भी स्थिर हुआ और देशव्रत नगरके एकादश श्रावक भावरूप व्रतोंको पुष्ट करने तथा शत्रुओंसे उनकी रक्षा करनेकी महती भावनाको कार्यमें परिणत किया। इतना ही नहीं किन्तु धर्मध्यानरूप कुठारसे शत्रुपक्षका दमन करते हुए चेतनने 'प्रमत्तपुर' को जीतनेका विचार स्थिर किया। क्योंकि उस नगरका मार्ग मोहके प्रबल सेनानी प्रत्याख्यान नामक कषाय सूरने अपने परिवार सहित अवरुद्ध किया था। और मध्यमें प्रमाद जैसा सुभट भी उसकी रक्षा करनेके लिये तत्पर था; साथ ही मोहके अज्ञा-नादि अन्य सुभट भी उनकी सहायताके लिये उद्यत थे। ऐसी स्थितिमें 'प्रमत्तपुर' को अधिकृत करना तुमुल संग्राम के बिना सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त मोह भी स्वयं अपने समस्त परिवारके साथ उसकी रक्षा करनेके लिये कटि-बद्ध था। उसने चेतनको पकडनेके लिये अपने अनेक वीर सैनिक इधर-उधर छिपा रक्खे थे जो अवसर पाते ही चेतन-की शक्तिको नष्ट करनेका प्रयत्न कर सकते थे। साथ ही मोहका यह आदेश था कि यदि चेतन 'देशव्रतपुर' से आगे बढे तो उसे उसी समय गिरफ्तार कर लिया जय। और फिर मैं उसे मिथ्यात्वमें डालकर अपने वैरका मनमाना बदला ले सकूंगा।

इधर चेतन भी अपने सेनानी ज्ञान और विवेकके साथ अपनी दृढताको बराबर बढ़ा रहा था, और मोहको जीतनेसे

चेतनका धैर्य एवं साहस अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा था। उसने अपने शम-दम और समाधिरूपी अमोघ अस्त्रों-का भली-भांति अभ्यास कर लिया था और भेद विज्ञान-रूप पैनी छैनीका प्रयोग भी उसे सुगम था। उसकी उद्दाम वासनाएँ शिथिल एवं जर्जरित हो गईं थीं, संवेग और वैराग्यकी शक्ति बढ़ रही थी, और वह समय भी दूर नहीं था जब वह मोहके प्रत्याख्यान जैसे वीरको क्षणमात्रमें विनष्ट करदे। चेतनको अपनी अतुल शक्ति पर पूरा विश्वास था, वह सब प्रकारके साधनसे सम्पन्न था। इतनेमें सुमनने आकर चेतनसे कहा कि—महाराज! आप सावधान रहें, मोहने अनेक जाल फैलाए हैं, यदि कदाचित् आप उनमें फस गए तो फिर आपकी बहुत बुरी दशा होगी, मैंने आपको सब बातोंकी चेतावनी दे दी है, अतः मेरा कोई अपराध नहीं है। चेतनको सुमनकी बातों पर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। अब चेतनने पुनः अपनी अनन्त-शक्तिकी ओर देखा, इधर सैनिक वाद्योंकी ध्वनि हो रही थी, उसी समय चेतनने भेद विज्ञानरूप छेनीसे प्रत्याख्यान नामक सुभटका निपात किया, और ममतारूपी लंगोटी तथा अन्तर्बाह्य-ग्रन्थिको उखाड़ कर फेंक दिया, और परम शान्त दिगम्बर मुद्राको धारण किया। यद्यपि मोहके सेनापतियोंने काफी प्रतिरोध किया, और अपने अनेक अस्त्र-शस्त्रों द्वारा चेतनको हानि पहुँचानेका प्रयत्न भी किया परन्तु चेतनने अपने भेद-विज्ञानरूप दुफारेसे सबका प्रतिकार करते हुए प्रमत्तपुरमें प्रवेश किया। इस नगरमें मोहका प्रबल सेनानी प्रमाद अभी अवशिष्ट था और वह चेतनके कार्योंमें भारी विघ्न करता था। अतः चेतनने समाधिरूप तीक्ष्ण अस्त्रसे प्रमादका भी क्षणमात्रमें निपात कर दिया, प्रमादके गिरतेही विकथा निद्रा, प्रणय आदि उसके अन्य वीर साथी भी धराशायी हो गए। प्रमादके हनन होजानेसे मोहकी सेनामें खलबली मच गई, और अवशिष्ट शूरगण अपनी-अपनी जान बचाकर भागनेको उद्यत हो गए और प्रमत्तपुर शत्रुओंसे खाली हो गया। अब चेतन अपनी परिणाम - विशुद्धिको बढ़ाता हुआ 'अप्र-मत्तपुर' पहुंचा। अब मोह चूंकि शक्तिहीन हो गया था। अतः अपनेको इधर-उधर लुका छिपाकर रहने लगा। वह ऐसे अवसरकी प्रतीक्षामें था, कि चेतन अपने स्वरूपसे जरा भी शिथिल हो तो मैं उसे धर दबाऊँ। परन्तु चेतन महा विवेकी, अपने अतुल साहसका धनी, सदा अपनेमें सावधान रहता था इस कारण शत्रुदलको यह अवसर ही नहीं मिलता था जिससे वह अपने उद्देश्यमें सफल हो सके।

अब चेतन निज स्वरूपमें सावधान हो आहार-विहार आदि सभी बाधक क्रियाओंका परित्यागकर पद्मासन मुद्रामें अव-स्थित हो भेद-विज्ञान, विवेक और समाधि इन अस्त्रोंको साथ ले ध्यानमें सुस्थिर हो गया और क्षणमात्रमें तीन शत्रुओंका नरक, तिर्यंच और देवआयुका विनाशकर अपूर्वनगर में आकर वहां उसने अपनी अपूर्वकरण परिणतिका विकास किया। तथा तृतीय करणके सहारे नवमपुरको प्राप्त किया और वहां दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके छत्तीस सुभटोंको पराजितकर चेतन दशमपुरमें प्राप्त हुआ। यहां भी उसने सूक्ष्म लोभ नामक सुभटको क्षणमात्रमें विजितकर और ग्यारहवें उपशान्त नगरका उल्लंघनकर अपनी भेद-विज्ञान रूपी परमपैनी छैनीसे मोह शत्रुका सर्वथा विनाश-कर क्षीणमोहपुरमें वास किया। यहां चेतनके यथाख्यात नामका सुखमय चारित्रगुण प्रकट हुआ। अनन्तर चेतन-रायने घातियाकर्मकी प्रकृति रूप सोलह सुभटोंको विनष्टकर लोकअलोकको देखनेवाले अनुपम केवलज्ञानको (पूर्णज्ञानको) प्राप्त किया।

अब चेतनकी सम्पूर्ण आत्म-शक्तिका विकास हो गया। जो अनन्त गुण अनादिकालसे प्रच्छन्न हो रहे थे वे सब प्रकट हो गये। चेतनकी जो आन्तरिक शक्ति प्रकट हुई वह इतनी महान् और आश्चर्यकारक थी कि उसका इस लेखनीसे बयान नहीं हो सकता। चेतनने इस सयोगिपुरमें दीर्घकाल तक अवस्थान कर जगतका महान कल्याण किया—लोकको दुःख-निवृत्तिका साधन बतलाया, और मोहशत्रु पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है उसका एक आदर्श रूप उप-स्थित किया। अनन्तर चेतनने योगनिरोधकर और अयोग-पुरमें पहुँच कर क्षणमात्रमें अवशिष्ट बहत्तर और तेरह—पचासी-कर्म-शत्रुओंका—निपात किया और सिद्धालयमें पहुँच निज स्वरूपमें सुस्थिर हो गया। जहांसे फिर कभी आना नहीं हो सकता, और जो अनन्तकाल तक अपने चिदानन्द स्वरूपमें निमग्न रहता है।

(क्रमशः)

श्रीकानजीस्वामीके अभिनन्दन-समय
वीरसेवामन्दिरमें लिया गया एक चित्र

मध्य में बैठे हुए दाहिनी ओरसे—श्री आ० जुगलकिशोर मुख्तार, श्री कानजी स्वामी, क्षु० पूर्णसागर।

ऊपरकी पंक्तिमें खड़े हुए—श्री ला० प्रेमचन्द जैनावाच, दिल्ली के प्रतिष्ठित व्यक्तियोंका परिचय देते हुए, बाबू प्रेमचन्द बी० ए०, संयुक्त मन्त्री वीरसेवा मन्दिर, बाबू छोटेलाल कलकत्ता, अध्यक्ष वीरसेवामन्दिर, ताराचन्द प्रेमी।

नीचे की पंक्तिमें बैठे हुए—राय सा० ला० उल्फतराय, ला० जुगलकिशोर कागजी, बाबू रघुवरदयाल एम० ए० करौलबाग, वैद्यराज पं० महावीरप्रसाद और श्री नेमीचन्द पाटनी।

आत्मार्थी, आजन्मब्रह्मचारी, अध्यात्म-रसिक, अध्यात्म प्रसारक

श्री कानजी स्वामीकी सेवामें

अभिनन्दन-पत्र

आत्मार्थिन् ! आत्म-धर्मके परम आराधक और प्रसारक होते हुए भी आपने सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके साधन-भूत सिद्धक्षेत्रोंकी वंदनार्थ एक विशाल संघके साथ यात्रा प्रारम्भ की और परम तीर्थाधिराज सम्मेदशिखर, पावापुर, राजगिर, चम्पापुर आदि अनेकों तीर्थस्थानोंकी वंदना करते हुए इस दिल्लीमें पदार्पण किया है, जिसे स्वतन्त्र भारतकी राजधानी होनेका गौरव प्राप्त है। अपनी खोज-शोधके लिये प्रख्यात, प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद्, साहित्य तपस्वी, ब्र० श्रा० जुगलकिशोर जी मुख्तार, 'युगवीर' द्वारा संस्थापित इस वीरसेवामन्दिरमें ठहर कर आपने हम लोगों पर जो अनुग्रह किया है वह हम सबके लिये परम हर्षकी बात है।

आजन्म ब्रह्मचारिन् ! भ० नेमिनाथके पाद-पद्मसे पवित्र हुए और वीरवाणीके समुद्धारक श्रीधरसेनाचार्यकी तपोभूमि होनेके कारण अपने 'सुराष्ट्र' नामको सार्थक करने वाले सौराष्ट्र देशमें आपने जन्म लिया। गृहस्थाश्रममें सर्व साधन सम्पन्न होते हुए भी आपने बाल्यकालसे ही ब्रह्मचर्यको अंगीकार किया, और अत्यन्त अल्प वयमें संसारसे उदास होकर साधु दीक्षा ग्रहण की। पूरे २१ वर्ष तक स्थानकवासी जैन सम्प्रदायमें रह कर श्वेताम्बर आगम-सूत्रों—ग्रन्थोंका विशिष्ट अभ्यास किया, और अपने सम्प्रदायके एक प्रभावक वक्ता एवं तपस्वी बने। उस समय अनेकों राजे-महाराजे और सहस्रों जैन आपके परम भक्त थे, तथा आपको 'प्रभु' कह कर वंदना-पूर्वक साष्टाङ्ग नमस्कार करते थे।

अध्यात्म-रसिक ! श्वे० जैन आगम-सूत्रोंके पूर्ण अवगाहन करने पर भी आपकी आध्यात्म-रस-पिपासा शान्त न हो सकी। सौभाग्यसे दो सहस्र वर्ष पूर्व आ० कुन्दकुन्द-निर्मित परम अमृतमय समयसार आपके हस्तगत हुआ, आपने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे उसका स्वाध्याय प्रारम्भ किया। स्वाध्याय करते ही आपको यथार्थ दृष्टि प्राप्त हुई और विवेक जागृत हुआ। आपने अनुभव किया कि आज तक मैंने शालि-प्राप्तिके लिये तुष-खंडनमें ही अपने जीवनका बहु भाग बिताया है। उस समय आपके हृदयमें अन्तर्द्वन्द्व मच गया। एक ओर आपके सामने अपने सहस्रों भक्तों द्वारा उपलब्ध पूजा-प्रतिष्ठा आदि-का मोह था, और दूसरी ओर सत्यका आकर्षण। इन दोनोंमेंसे अपनी पूजा-प्रतिष्ठाके व्यामोहको ठुकराकर आपने दिगम्बर धर्मको स्वीकार किया, और महान् साहस और दृढ़ताके साथ विक्रम संवत् १९९१ में चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको वीर जयन्ती-के दिन वीरता-पूर्वक अपने वेष-परित्यागकी घोषणा करदी। घोषणा सुनते ही सम्प्रदायमें खलबली मच गई और नाना प्रकारके भय दिखाये गये। परन्तु आप अपने निश्चय पर सुमेरुके समान अटल और अचल रहे। तबसे आप अपने आपको आत्मार्थी कह कर आ० कुन्दकुन्दके अति गहन आध्यात्मिक ग्रन्थोंकी गूढ़तम ग्रन्थियोंके सूक्ष्मतम रहस्यका उद्घाटन कर कुन्दावदात, अमृतचन्द्र-प्रस्यूत, पीयूषका स्वयं पान करते हुए अन्य सहस्रों अध्यात्म-रस-पिपासुओंको भी उसका पान करा रहे हैं और अत्यन्त सरल शब्दोंमें अध्यात्म तत्त्वका प्रतिपादन कर रहे हैं।

आत्म-धर्म-पथिक ! जिस सौराष्ट्रमें दि० जैनधर्मका अभाव-सा हो रहा था, वहाँ आपके प्रवचनोंको श्रवण कर सहस्रों तत्त्व-जिज्ञासुओंने दि० जैनधर्मको धारण किया, सैंकड़ों नर-नारियों और सम्पन्न घरानोंके कुमार-कुमारिकाओंने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार किया। तथा जिस सौराष्ट्रमें दि० जैन मन्दिर विरल ही थे, वहाँ आपकी प्रेरणासे २० दि० जैन मन्दिरोंका निर्माण हो चुका है और इस प्रकार आपने धर्मकी साधना और आत्माकी आराधनाके साधन वर्तमान और भावी पीढ़ीके लिये प्रस्तुत किये हैं।

अध्यात्मप्रसारक ! कुछ शताब्दियोंसे जैन सम्प्रदायके आचार-व्यवहारमें जब विकार प्रविष्ट होने लगा और त्रिवर्णा-चार एवं चर्चासागर जैसे ग्रन्थ प्रचारमें आने लगे तब १९वीं शताब्दीके महान् विद्वान् पं० टोडरमलजी ने इस दूषित व्यवहारसे जनताके बचावके लिये मोक्षमार्ग प्रकाशकी रचनाकर जैनधर्मके शुद्ध रूपकी रक्षा की। उनके पश्चात् इस बीसवीं शताब्दीमें व्यवहार-मूढ़ता-जनित धर्मके विकृत स्वरूपको बतलाकर 'आत्म-धर्म' के द्वारा उससे बचनेके मार्गका आप

शान्तिकी खोज

(प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य एम० ए०)

राजकुमारी मल्लिका अनिन्द्य सुन्दरी थी। रति भी अकचका गई थी उसकी रूपछटा देखकर। उसके रूप-लावण्य और सौंदर्यकी चर्चा इन्द्रकी अप्सराएँ भी करती थीं। उसका शरीर जितना सुन्दर था हृदय भी उतना ही स्वच्छ अन्तःकरण उतना ही पवित्र और आत्मा उतनी ही निर्मल थी। सांसारिक भोगोंमें उसकी जरा भी आसक्ति नहीं थी। वह बचपनसे ही जगत्की क्षणभंगुरता, देहकी नश्वरता और विभूतिकी चंचलताका विचार कर आत्मनिमग्न रहती थी। यौवनने अंग-अंगमें कब प्रवेश किया इसका पता यद्यपि कुमारीको नहीं था, पर उस लौ पर शलभ आ-आकर मँडराने लगे। अनेकों राजकुमार उस पर अपनेको निछावर करनेके लिये उसकी कृपाकोरके भिखारी बन रहे थे।

रूपसी मल्लिकाने देखा कि मेरा यह सौंदर्य स्वयं मेरे लिये भार हो रहा है और माँ-बाप तथा बन्धुजन चिन्तित हो रहे हैं। उसने जब यह समझा कि उसका ही रूप उसे खाये जा रहा है तो उसने एक दिन पितासे कहा कि जो-जो राजकुमार मुझसे विवाह करना चाहते हैं, उन सबको बुलाइये। मैं स्वयं उनसे बात करके निश्चय करूँगी।

स्वयंवरका दिन निश्चित हुआ। कुमारीने आठ दिन पहले ठीक अपनी ही आकृति और रूपकी अनेक पोली स्वर्णमूर्तियां बनवाईं। जो भोजन पानी वह लेती थी वही भोजन पानी उन मूर्तियोंके भीतर ढक्कन खोलकर वह डालती जाती थी।

नियत दिन पर सब राजकुमार शोभा-सज्जाके साथ उपस्थित हुए। सबके मन आशासे उत्तरंग हो रहे थे। कुमारीने एक एक करके राजकुमारोंको उन कमरोंमें आमन्त्रित किया जिनमें वे मूर्तियां सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सज्जित हो अलग-अलग खड़ी थीं। उसने प्रत्येक राजकुमारको उनके अंग-प्रत्यंगके लावण्यरसका पान कराके कहा कि आप जिस प्रकार इसके बाह्यरूप पर मुग्ध हो क्या उसी तरह इसके अन्तरंगको भी चाहते हो या केवल बाह्यछटाके ही लोलुपी हो? राजकुमारोंने जब यह कहा कि हम तो इस रूप-माधुरी पर पूरी तरह निछावर हैं तो राजकुमारीने एक-एक राजकुमारके सामने एक एक मूर्तिका ढक्कन क्रमशः खोले। ढक्कन खुलते ही सड़ा गला अन्न पानी बाहर भरभरा पड़ा और समस्त प्रकोष्ठ असह्य दुर्गन्धसे भर उठा। राजकुमार अपनी नाक दबाकर ज्योंही भागने लगे, त्योंही कुमारीने उनसे कहा ठहरो अभी तो इन मूर्तियोंका एक ही ढक्कन खोला गया है तो भी आप सब नाक-भौं सिकोड़ कर विरक्तिसे भर उठे हैं। कदाचित यह पूरी मूर्ति अनावृत कर दी जाय तो···। सच मानिए जो भोजन, पानी गत सप्ताह मैंने लिया है वही इन मूर्तियोंमें डाला गया है। क्या इस चर्म शरीरकी बहुत अच्छी दशा है। अपनी वासनाओं, कामनाओं और अभिलाषाओंके प्रतिच्छाया स्वरूप इस मुग्धा योषा रूपसी रति अंगना कामिनी, विलासिनी और रामाका अन्तःसार देखो! विषयकीट, जरा जी भरकर इसे देखो, चाटो, सूंघो और छुओ। समस्त राजकुमार सिर नीचा किये सुन रहे थे और लोगोंने देखा कि कुमारी मल्लिका चुपचाप आत्म-साधनाके पथकी पथिक बन शान्तिकी खोजमें जा रही थी।

निर्देश कर रहे हैं। आपके तत्त्वावधानमें आज तक तीन लाख पुस्तकोंका प्रकाशन हुआ है जिससे लोगोंको अपनी 'भूलमें भूल' ज्ञात हुई है।

अध्यात्म-संघनायक! आपने सोनगढ़में रहकर और श्रमण-संस्कृतिके प्रधान कार्य ध्यान-अध्ययनको प्रधानता देकर उसे वास्तविक अर्थमें श्रमण-गढ़ बना दिया है। आप परम शान्तिके उपासक हैं और निन्दा-स्तुतिमें समवस्थ रहते हैं। आपके हृदयकी शान्ति और ब्रह्मचर्यका तेज आपके मुख पर विद्यमान है। आप समयके नियमित परिपालक हैं। भगवद्भक्ति पूजा करनेकी विधि, आध्यात्मक-प्रतिपादन-शैली और समयकी नियमितता ये तीन आपकी खास विशेषताएं हैं। अध्यात्मका प्रतिपादन करते हुए भी हम आपकी प्रवृत्तियोंमें व्यवहार और निश्चयका अपूर्व सम्मिश्रण देखते हैं। आपके इन सर्व गुणोंका प्रभाव आपके पार्श्ववर्ती मुमुक्षुओं पर भी है। यही कारण है कि उनमें भी शान्ति-प्रियता और समयकी नियमितता दृष्टिगोचर हो रही है।

आपकी इन्हीं सब विशेषताओं से आकृष्ट होकर अभिनन्दन करते हुए हम लोग आनन्द-विभोर हो रहे हैं।

हम हैं आपके—वीर-सेवा-मन्दिर, सदस्य, भा० दि० जैन परिषद्-सदस्य

आनन्द सेठ

(पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री)

आजसे अढ़ाई हजार वर्ष पूर्वकी बात है, पटना (बिहार का एक बहुत बड़ा धनिक सेठ आनन्द अनेक लोगोंके साथ भ० महावीरके समवसरणमें गया। सबने भगवानका उपदेश सुना और उपदेश सुनकर अनेक मनुष्य प्रव्रजित हो गये। आनन्द भी भगवानके उपदेशसे प्रभावित हुआ। पर वह घर-बारको छोड़नेमें अपनेको असमर्थ पा भगवानसे बोला—

भन्ते, मैं आपके उपदेशका श्रद्धान करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, वह मुझे बहुत रुचिकर लगा है। पर मैं घर-बारको छोड़नेमें अपने आपको असमर्थ पाता हूँ। अतएव भन्ते, मुझे श्रावकके व्रत देकर अनुगृहीत करें।

भगवानकी दिव्यध्वनि प्रकट हुई—आयुष्मन, जैसा तुम्हें रुचे, करो; प्रमाद मत करो।

भगवान्की अनुज्ञा पाकर आनन्दने कहा—भन्ते, मै यावज्जीवनके लिए त्रस जीवोंकी सांकल्पिक हिंसाका त्याग करता हूँ, लोक-विरुद्ध, राज्य-विरुद्ध, आगम-विरुद्ध एवं पर पीड़ा कारक असत्य वचन नहीं बोलूँगा; बिना दी हुई पर-वस्तुको नहीं ग्रहण करूँगा और अपनी स्त्रीके अतिरिक्त अन्य सबको माता, बहिन और बेटी समझूंगा। इस प्रकार चार अणुव्रतोंको ग्रहण कर परिग्रह-परिमाण व्रतको ग्रहण करनेके लिए उद्यत होता हुआ अपने विशाल वैभवको देखकर चकराया कि अपरिग्रह नामक पंचम व्रतको कैसे ग्रहण करूं? जब अन्तर-से कोई समाधान नहीं मिला तो भगवानसे बोला—

भन्ते, अपरिग्रह व्रत किस प्रकार ग्रहण किया जाता है?

उत्तर मिला—आयुष्मन, परिग्रहका परिमाण तीन प्रकारसे किया जाता है—वर्तमानमें जितना परिग्रह हो, उसमेंसे अपने लिए आवश्यकको रख कर शेषका परित्याग करे, यह उत्तम प्रकार है। जो इसे स्वीकार करनेमें अपनेको असमर्थ पावे, वह वर्तमानमें उपलब्ध परिग्रहसे अधिक न रखने-का नियम करे, यह मध्यम प्रकार है। और जो इसमें भी अपनेको असमर्थ पावे, वह वर्तमानसे दूने, तिगुने परिग्रहको रखनेका नियम कर उससे अधिक-की इच्छाका परित्याग करे, यह जघन्य प्रकार है।

आनन्दने मनमें सोचा— मेरे बारह कोटि स्वर्ण दीनार हैं, पाँच सौ हलकी खेती होती है, चालीस बगीचे हैं, दस हजार गाएँ हैं, पाँच सौ रथ और गाड़ियाँ हैं, और इतना इतना धान्यादि है। इतने प्रचुर धन-वैभवसे मेरा जीवन निर्वाह भली-भांति हो रहा है, अतः अधिककी इच्छा करना व्यर्थ है। और, आज जितना वैभव है, उसका मैं आदी हो गया हूँ, अत: उसे कम भी नहीं कर सकता। ऐसा विचार कर भगवान्से बोला—

भन्ते, 'मैं मध्यम परिग्रह-परिमाणव्रतको अंगीकार करता हूँ', ऐसा कहकर उसने वर्तमानमें प्राप्त धन-सम्पत्तिसे अधिक एक भी दमड़ी नहीं रखनेका संकल्प कर अपरिग्रहव्रतके मध्यम प्रकारको स्वीकार किया। इस प्रकार पंच अणुव्रत धारण किये। तद-नन्तर सप्त शीलोंको भी धारण कर और भगवान्-को नमस्कार कर वह अपने घरको वापिस लौट आया।

घर आकर उसने अधिकारियोंको अपने व्रत, ग्रहणकी सूचना दी और अपना समस्त सम्पत्तिके चिट्ठा बनानेका आदेश दिया। अधिकारियोंने चिट्ठा बनाकर बताया कि आजके दिन आपका चार कोटि सुवर्ण दीनार व्यापारमें लगा हुआ है। चार कोटि सुवर्ण दीनार व्याजपर लोगोंको पूंजीके लिए दिया हुआ है और चार कोटि सुवर्ण दीनार समय-अस-मयपर काम आनेके लिए भण्डारमें सुरक्षित है। खेतोंमें बोनेके लिए सर्वप्रकारके धान्योंकी २५ हजार बोरियाँ कोष्ठागारमें रखी हुई हैं। दश हजार गायोंमेंसे एक हजार दूध दे रही हैं, और लगभग इतनी ही गाभिनें हैं। इसी प्रकार शेष अन्य समस्त सम्पत्तिकी सूची आनन्दके सामने उपस्थित की गई।

आनन्दने अधिकारियोंसे कहा—आज मैंने श्रमणोत्तम भगवान् महावीरके पास श्रावकके व्रत

ग्रहण किये हैं। उनमें परिग्रह-परिमाण व्रतके अन्तर्गत आजके दिन मेरे जितना परिग्रह है, उतनेसे अधिकका परित्याग किया है। अतएव आगे प्रतिदिन होनेवाली आमदनीसे मुझे सूचित किया जाय।

दूसरे दिन बगीचोंसे फलोंसे भरी हुई अनेक गाड़ियाँ आईं। आनन्द फलोंको देखकर मनमें विचारने लगा कि उन्हें बाजारमें बिकवानेसे तो धनकी नियमित सीमाका उल्लंघन होता है। अतएव इनका वितरण कराना ही ठीक होगा, ऐसा विचार कर घरके लिए आवश्यक फलोंको रखकर शेष फलोंको नौकर-चाकर, पुरा-पड़ौस और नगर-निवासियोंके घर भेंट-स्वरूप पहुँचा दिये। यह क्रम उसने सदाके लिए जारी कर दिया और बगीचोंसे प्रतिदिन आनेवाले फल नगरमें सर्वसाधारणको वितरण किये जाने लगे। इसी प्रकार जरूरतसे अधिक बचनेवाला दूध भी गरीबोंको वितरण किये जानेकी व्यवस्था की गई।

कुछ समयके पश्चात् खेतोंसे धान्यकी फसल तयार होकर आई। उसमेंसे जितना बीज बोया गया था, आनन्दने उतना भण्डारमें भिजवा दिया। कुछको वर्षभरके लिए घरू खर्चको रखकर शेष धान्य नगर-निवासी गरीब परिवारोंके घर भिजवा दिया। अकेले-दुकेलोंके लिए सदावर्त बटवानेकी व्यवस्था की, तथा वृद्ध, अनाथ अपंग, रोगी और अपाहिजोंको खाने-पीनेके लिए स्थान-स्थान पर भोजन-शालाएँ खोल दीं।

कालक्रमसे गायोंके जननेके समाचार आने लगे। तब आनन्दने अपने लिए नियत संख्याकी गाएँ रखकर शेष दूध देनेवाली गायोंको बाल-बच्चों वाले उन गरीब परिवारोंके घर भिजवा दिया, जिनके कि घर दूध नहीं होता था।

वर्षके अन्तमें मुनीमोंने व्यापारका वार्षिक चिट्ठा तैयार किया और बतलाया कि विभिन्न मदोंसे सब कुल मिलाकर इतने लाख रुपयोंकी नकद आमदनी हुई है। आनन्द तो प्राप्त पूँजीसे अधिक रखनेका त्याग कर चुका था। अतएव उसने अपने ग्राम और नगरके सारे निर्धन साधर्मी बन्धुओंकी सूची तैयार कराई और उनमेंसे प्रत्येकको यथायोग्य पूँजी प्रदानकर उनके जीवन-निर्वाहका मार्ग खोल दिया।

इस प्रकार वर्ष पर वर्ष व्यतीत होने लगे और आनन्दका यश चारों ओर फैलने लगा। लोग भगवान महावीरके धर्मकी प्रशंसा करने लगे। आनन्दके दिन भी आनन्दसे व्यतीत होने लगे। आनन्द करोड़ोंके अपने मूलधनको सुरक्षित रख करके भी महादानी और ग्राम, नगर एवं देश वासियोंके प्रेमका पात्र बन गया।

काश, यदि आजके धनिक लोग आनन्द सेठका अनुसरण करें, अपनेको प्राप्त वैभवका स्वामी न समझकर उसका ट्रष्टी या संरक्षक समझें, तो समाजमें जो विषमता और असन्तोष है, वह सहज ही दूर हो जाय। धनिकोंका धन भी सुरक्षित बना रहे और वे सबके प्रेम-भाजन बनकर सुख-शान्तिमय जीवन-यापन कर सकें। ऐसा करनेसे परिग्रहको जो पाप कहा गया है, उसका प्रायश्चित्त भी सहजमें हो जाता है। तथा सम्पत्तिका संग्राहक और उपभोक्ता सहजमें दातार बनकर यशोभागी बनता है और एक महान पुरुष बन संसारके सामने आता है।

अनेकान्तके ग्राहकोंसे निवेदन

अनेकान्तके ग्राहकोंसे निवेदन है कि जिन ग्राहकोंने अपना वार्षिक चन्दा ६) रुपया और उपहारी पोष्टेज १।) कुल ७।) रुपया मनीआर्डरसे अभी तक नहीं भेजा है, वे किरण पाते ही शीघ्र मनीआर्डरसे भेज दें जिन ग्राहकोंकी वी. पी. उनकी अनुपस्थितिमें वापिस हो गई है, उनसे निवेदन है कि वे अपना वार्षिक मूल्य शीघ्र ही मनीआर्डरसे १० मई तक भेजकर अनुग्रहीत करेंगे।

मैनेजर अनेकान्त—वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली।

कला का उद्देश्य

(प्रो० गोकुलप्रसादजी जैन एम० ए० साहित्यरत्न)

कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है अतः उसका कोई वास्तविक वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। कलाका मूल अनुभूति है जिसकी स्थिति प्रत्येक कलाकारके हृदयमें समान रूपसे रहती है। उसकी *अभिव्यजनाकी विभिन्न प्रणालियोंके कारण से ही* उसमें भिन्नता प्रतीत होती है। उपयोगिता और सौन्दर्यकी भावना तो कलाके मूलमें सर्वत्र रहती ही है। उपयोगी कलाद्वारा मनुष्यके लौकिक और ललितकलाद्वारा उसके मानसिक एवं अलौकिक आनन्द पदकी सिद्धि होती है। इसी कारणसे कलाके अनेक विभाजनों में 'ललित और उपयोगी' का विभाजन ही सर्वाधिक सार्थक और वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

उपकरणोंकी दृष्टिसे ललितकलाओंके वास्तु, मूर्ति और चित्रकला (दृश्य वर्ग) तथा संगीत और काव्यकला (श्रव्य वर्ग) ये पांच भेद किये गये हैं। पाश्चात्य मीमांसकोंने भी काव्यको ललित-कलाओंके अन्तर्गत माना है। इसी कारणसे काव्य-के प्रयोजनोंका विवेचन व्यापक रूपसे कलाके अनेक प्रयोजनोंके साथ चलता है। कलाके अनेक प्रयो-जनोंमें निम्न लिखित ६ प्रयोजन अधिक प्रसिद्ध हैं—

कला पक्ष—

१—कला कलाके लिये (Art for Art's Sake)

२—कला जीवनसे पलायनके लिये (Art as an escape from life).

३—कला आनन्दके लिए (Art for joy).

४—कला मनोरंजनके लिये (Art for Recreation).

५—कला सृजनकी आवश्यकतापूर्तिके लिये (Art as creative necessity).

उपयोगिता पक्ष—

६—कला जीवनके लिये (Art for Life's Sake).

७—कला जीवनमें प्रवेशके लिये (Art as an escape into life).

८—कला सेवाके लिये (Art for service's Sake).

९—कला आत्मानुभूतिके लिये (Art for self realisation).

उपर्युक्त प्रयोजन एक दूसरेसे नितान्त भिन्न नहीं है। उनमें केवल दृष्टिकोणकी भिन्नता है। प्रथम *ध्येय प्रयोजन कलापक्षके तथा* शेष चार उपयोगिता पक्षके द्योतक हैं प्रथम पक्ष कलाको जीवनके लिये आवश्यक तथा आचार और नैतिकताका कलात्मक माध्यम नहीं मानता जबकि दूसरा वर्ग कलाको जीवनकी उन्नति और नैतिक सदाचारकी स्थापनाके लिये अत्यावश्यक और अनिवार्य मानता है। एकमें लोकहितकी भावना तिरोभूत रहती है तथा दूसरेमें उसका प्राधान्य होता है।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक कलाको जीवनकी प्रति-कृति मानता था। वह कला और जीवनके नित्य और घनिष्ट सम्बन्धका प्रतिपादक था जबकि प्लेटो इसके विपरीत कलाको जीवनकी अनुकृति मात्र मानकर चलता था। उसके अनुसार कला कृतियोंमें जीवनका केवल अनुकरण सम्भव है प्रतिकरण नहीं। अतः कला जीवनकी प्रतिकृति नहीं बन सकती। अपने यथार्थवादी सिद्धान्तके अनुसार अरस्तू कला जीवनके लिये सिद्धान्तका प्रवर्तक तथा पोषक है जब कि प्लेटोका आदर्शवाद कला कलाके लिये के सिद्धान्तका प्रतिष्ठापन करता है। इन दोनों सिद्धांतों का कालान्तरमें इंग्लैण्ड तथा फ्रांसमें पालन-पोषण हुआ तथा वहींसे इनका सिद्धान्त रूपमें प्रतिपादन हुआ। फलतः विचारकोंमें भी दो वर्ग हो गये। कला पक्षके समर्थकोंमें आस्करवाइल्ड, ब्रेडले, क्लाइब वैल, वाल्टर पेटर आदि प्रमुख थे जब कि उपयोगिता पक्षके समर्थकोंमें मैथ्यू अर्नोल्ड, रस्किन, अम्बरक्रावी आदि प्रसिद्ध हैं। प्रथम वर्गमें केवल सौन्दर्य ही सब कुछ था तथा कलाके क्षेत्रमें सद असद्, सभ्य असभ्यका विवेक कोई महत्व नहीं रखता। आचार और कलामें भी कोई सम्बन्ध नहीं है दूसरे वर्गमें लोकपक्ष, उपयोगितावादी लोक-कल्याण आदिकी भावनाका प्राधान्य है।

साहित्यिक क्षेत्रके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रोंमें कुछ

ऐसी विचारधाराएँ भी विद्यमान थीं जो कलाको कल्पनामूलक मानकर 'कला कलाके लिये' के सिद्धान्त का पोषण करती थीं। इनमें फ्रायडका स्वप्नसिद्धांत क्रोचेका अभिव्यंजनावाद तथा यथार्थवाद प्रमुख है।

फ्रायडका स्वप्नसिद्धान्त—फ्रायडके मतानुसार मनुष्य जिन-जिन वस्तुओंको इस जगतमें प्राप्त नहीं कर पाता, उन्हें वह स्वप्नमें प्राप्त करता है। साहित्यका मूल आधार कल्पना है और मनुष्यकी अवरुद्ध वासनाओंकी पूर्त्ति काल्पनिक जगतमें होती है अतः साहित्यमें उनका चित्रण स्वाभाविक है। प्रत्येक साहित्यमें शृंगार भावनाका प्राधान्य इसी कारणसे है।

इस सिद्धान्तका पर्याप्त आलोचन-प्रत्यालोचन हुआ तथा पूर्ण परिनिरीक्षाके परिणामस्वरूप यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण पाया गया। संसारकी अबतककी श्रेष्ठ कलाकृतियाँ अधिकांशतः विवेकवान और आचार निष्ठ पुरुषोंकी देन हैं। कलाकारकी आत्मा महान् होतीहै। लोककल्याणकी भावनासे उसे प्रेरणा मिलती हैं। कलाकारका व्यक्तित्व असाधारण होता है कलाकृतिका प्रणयन करते समय लोक मंगलकी भावनाही उसकी प्रेरक शक्ति होती है। अतः उसकी कलाकृतिको देखकर ही उसके वास्तविक और पूर्ण कवित्वका अनुमान नहीं किया जा सकता। यह सिद्धान्त एकांगी है।

अभिव्यंजनावाद—क्रोचे केवल अभिव्यक्तिको ही कला मानता है। वस्तुका उसकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं। किन्तु यह मान्यता भी सुसंगत प्रतीत नहीं होती। वास्तवमें साहित्यके दोनों पक्षों-भाव-पक्ष और कलापक्षमेंसे भावपक्षका सम्बन्ध भाव या अनुभूतिसे तथा कलापक्षका सम्बन्ध इसकी अभिव्यक्तिकी रीतिविशेषसे है। अतः अनुभूति और अभिव्यक्ति अर्थात् मध्यपक्ष और कलापक्ष दोनों ही अनिवार्यतः सम्बद्ध हैं। अभिव्यक्तिका सम्बन्ध जीवनसे होनेके कारण उसमें जीवनका प्रतिबिम्ब होना स्वाभाविक है। अभिव्यक्ति तो साधन या आवरणमात्र है जिसका आधार भाव या अनुभूति ही है। अतः यह मत भी संगत नहीं ठहरता। यह सिद्धान्त भी एकांगी है।

यथार्थवाद—आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये प्राणीमात्र की मूल वृत्तियाँ मनुष्यमें भी विद्यमान हैं। उसकी शेष उदात्त वृत्तियाँ तो सभ्यता प्रसूत है। अतः मनुष्यकी साहित्यिक कृतियों में उसकी मूल वृत्तियोंका साकार होना स्वाभाविक ही है। यह मान्यता भी पूर्णतया सुस्थित नहीं है। मानवके विवेक शील प्राणी होनेके कारण वह उपरोक्त स्वाभाविक पाशव वृत्तियों पर नियंत्रण रखता है। उसे लोक कल्याणकी भावनासे प्रेरणा मिलती है जिसका आधार सदाचार है। अतः उसकी कृतियोंमें सभ्यता जनित सदाचार सम्बधी उदात्त कृतियाँ उसकी प्रगतिके साथ आती ही रहती हैं। क्योंकि कला सभ्यताका प्रतीक है। पाशव वृत्तियोंसे उसका निरन्तर संघर्ष सभ्यता एवं प्रगतिका द्योतक है। "मनुष्य हृदयमें अनुभव करता है और मस्तिष्कसे मनन करता है। अतः हृदय और मस्तिष्कके संयोग से प्रसूत कलाकृति जीवनसे दूर कैसे रह सकती है और जीवनसे प्रथक उसका मूल्यभी क्या होगा?" अतः यह दृष्टिकोण भी सर्वथा एकांगी और अपूर्ण है।

इन तीनों मतोंके विपरीत हम यह देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीनकालसे संसारके प्रत्येक वाङ्मयमें कलाको उपयोगिताकी कसौटी पर कसा जाता रहा है। भारतीय मनीषियोंके अनुसार कला जीवनका एक अभिन्न अंग माना जाता रहा है तथा कला उनके लिये जीवनकी कलात्मक अभिव्यक्ति रही है। अतः साहित्यकार अथवा कलाकार 'कान्ता सम्मित' उपदेश देने वाला कहा गया है कलाकारका उद्देश्य समाजके अधार स्वरूप सदाचारका कलात्मक स्वरूप उपस्थित कर समाजमें सत्के प्रति आसक्ति और असत् और विषमताके प्रति विरक्ति उत्पन्न करना है। अतः कला और आचारका सम्बन्ध नैसर्गिक-सा हो गया है।

पाश्चात्य-विद्वान भाव पक्षके बजाय कला पक्ष पर अधिक जोर देते रहे हैं किन्तु अब तो उन पर भी इस विचार धाराका प्रभाव पड़ा है। एंजिल्सके मतानुसार साहित्यमें कही हुई बात आकर्षक हो। वंकिमचंद्रभी उसी मतका समर्थन करते हैं। उनके

अनुसार कलाकार सौन्दर्यकी चरम सृष्टि करके संसारकी चित्त शुद्धि करता है। कवि या कलाकार सुधारको बात भी सौन्दर्यके आवरणसे कहता है। कलाको कान्ता सम्मित उपदेश माना जाता है।

संसारके प्रायः सभी सुधारकों, साहित्यकारों तथा नेताओंने कलाको उपयोगिताकी कसौटी पर कसा है। डक्सन, आस्कर वाइल्ड, महात्मागांधी, रवीन्द्रनाथ, टाल्सटाय आदि सभी इसी मतके समर्थक हैं। महात्मागांधीके अनुसार कलासे जीवनका महत्व है। जीवनमें वास्तविक पूर्णता प्राप्त करना ही कला है। यदि कला जीवनको सुमार्ग पर न लाये तो वह कला क्या हुई।' लेकिन वे कलामें उपयोगिताके पूर्ण समर्थक थे। टालस्टायके मतसे कला समभावके प्रचार द्वारा विश्वको एक करनेका साधन है। बर्कके अनुसार आत्म-प्रकाशकी भावना ही हर प्रकारकी कलाका मूल है। सृष्टि ब्रह्माकी कला है और कला मानवकी सृष्टि है।

सत्य संसारमें सर्वत्र व्याप्त है। ईश्वरभी सत्य-स्वरूप है। इसी सत्यकी उपलब्धि ही कलाका उद्देश्य है। कला द्वारा हम उसी सत्यकी उपासना करते हैं किन्तु सुन्दर रूपमें। चेतन, अमूर्त और भावमय होनेके कारण ब्रह्म सबसे बढ़कर सुन्दर है। अतः सुन्दर सत्यका ही रूप है। साथ ही सत्य और शिवमें कोई अन्तर नहीं है। अतः सत्य और शिव स्वतः सुन्दर भी होते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य प्रधानवस्तु कलामें जनकल्याणकी भावना स्वभावतः ही रहती है। अतः कला जीवनसे भिन्न कोई वस्तु नहीं।

भारतमें कला कलाके लिये का नारा योरोपसे आया है तथा अतिवादिताका द्योतक है। कलाको केवल कलाके लिये अथवा केवल जीवन या लोक हितके लिये मानने वाले अतिवादी हैं। कलाका न तो जीवनसे सम्बन्ध ही टूट सकता है और न वह सदाचारकी प्रचारक मात्र बनकर ही रह सकती है। कला-प्रसूत सामग्रीमें मानव जीवनकी सहज एवं भावनाओं तथा प्रवृत्तियोंका मूर्तिरूप कलाको समय, देश और जातिके बन्धनमें न बांधकर उसे सार्वदेशीय तथा सार्वशासकी बना देता है जिसके कारण उसके प्रणेता कलाकार भी अमर हो जाते हैं। प्रसादजी, तुलसी, सूर आदि इसी कारण अमर हैं। कलाकारकी कृतिमें लोकहितकी भावना अनजाने ही में आ जाती है। अतः मध्यम मार्ग ही सर्वोतम है। वह न तो जीवनसे पृथक हो और न प्रचारका साधन मात्र ही बनकर रह जाय। हम उसे केवल जीवनकी सुन्दर अभिव्यक्ति मानकर ही चलें।

वीर-सेवा-मन्दिरके विद्वानों द्वारा प्रचार-कार्य

जैन समाज सरधन के विशेष आग्रह पर ता० ११-४-५७ को पं० जयन्तीप्रसादजी शास्त्री सरधना गये। यहाँ जैनियोंके लगभग १५० घर हैं ५ पाँच दि० मन्दिर हैं और १ श्वे० मन्दिर है। सरधना सदरके लिए प्रसिद्ध है। यहाँ पर जैन हायर सैकण्डरी जैन हायर सैकण्डरी गर्ल्स स्कूल आदि अनेक संस्थायें सुचारु रूपसे चल रही है जिनके प्रमुख कार्यकर्ता श्री. ला. चतरसेनजी जैन सदर वाले तथा श्री ला० हुकुमचन्दजी जैन मा. वर्द्धमान मैन्यूफेक्चरिंग फैक्टरी सरधना हैं।

रथोत्सवके दिन सभी जैन बन्धुओंने पैंठका दिन होते हुए भी दुकानें बन्द रक्खीं तथा जैनेतर समाजने भी रथोत्सव में सहयोग प्रदान किया। रात्रिको श्री ला० सुन्दरलालजी ऑनरीही मजिस्ट्रेट मेरठकी अध्यक्षतामें और दूसरे दिन श्री बा० कृष्णस्वरूपजीकी अध्यक्षतामें विद्वानोंके प्रभाविक भाषण हुये, श्री० बा० विजयकुमारजी सुपुत्र श्री० ला० चतरसेनजी जैन रईसने १०१) एक सौ एक रुपया प्रदान कर अनेकान्तके सहायक बने और ५०) अन्य सज्जनोंसे कुल सरधनासे १५१) हुए। जैनसमाजके आमंत्रण पर श्री. पं. हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री खतौली (मेरठ) गये, वहां आपके दो भाषण एवं प्रवचन हुये। जनता बहुत प्रभावित हुई और ५१) रुपया वीर-सेवा-मन्दिरकी सहायतार्थ प्राप्त हुये। एतदर्थ दातारोंको हार्दिक धन्यवाद।

दिल्लीमें—ता० १२ अप्रैलको श्री पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीने आकाशवाणीसे महावीर-जयन्तीके दिन 'भगवान महावीरके अमूल्य प्रवचन' प्रसारित किये। तथा जैनमित्रमण्डल द्वारा आयोजित समारोहमें आपने और श्री. प. परमानन्दजीशास्त्रीने प्रभावक भाषण दिये

मंत्री—वीरसेवा मन्दिर

संस्कारोंका प्रभाव

(श्री पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री)

संस्कारोंका प्रभाव कितना प्रबल और जन्म-जन्मान्तरों तक साथ रहने वाला होता है, इस बातका कुछ ज़िक्र गत किरणमें किया जा चुका है। यदि मनुष्य स्थिर और एकाग्र चित्त होकर अपने या दूसरेकी प्रवृत्तियोंकी ओर दृष्टिपात करे, तो उसे विदित होगा कि प्रत्येक प्राणीके साथ अनेक संस्कार पूर्व जन्मसे ही साथमें लगे हुए आते हैं। तत्काल उत्पन्न हुए बच्चेको भूख लगते ही वह चिल्लाता है और मांके द्वारा अपना स्तन उसके मुखमें देते ही वह तत्काल उसे चूसने लगता है। तत्काल-जात बालककी यह क्रिया उसके मनुष्योचित पूर्व जन्मके संस्कारोंका पोषण करती है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि कितने ही बच्चे जन्म लेनेके पश्चात् भूखसे पीड़ित रोते-चिल्लाते तो हैं, पर मांके सतत प्रयत्न करने पर भी उसके स्तनको मुंहमें नहीं दबाते हैं। अन्तमें हताश होकर ऐसे बच्चोंके मुंहको किसी चीजसे खोलकर और उसमें चम्मच आदिके द्वारा दूध डालते हैं, जब बच्चा उसके स्वाद आदिसे परिचित हो जाता है, तो मां फिर अपने स्तनके पास बच्चेके मुंहको ले जाकर और उसके खुले मुंहमें अपने स्तनके दूधकी धारको छोड़ती है, और उसको धीरे-धीरे अपने स्तन पानकी ओर अग्रसर करती है। इस प्रकारके बच्चोंको जन्मते ही स्तन-पानकी ओर अग्रेसर न होना भी अकारणक नहीं समझना चाहिए। हो सकता है कि बहुतसे बच्चोंके गलेकी खराबी आदि दूसरे-दूसरे कारण रहे हों, पर जिस बालकके शरीरमें किसी भी प्रकारकी खराबी नहीं है, स्वास्थ्य अच्छा है, गर्भके पूरे दिन बिताकर ही बाहर आया है, उसके स्तन-पानकी ओर प्रवृत्ति न होना तो रहस्यसे रिक्त नहीं माना जा सकता है। ऐसे बच्चोंके लिए हमारे शास्त्रोंमें वर्णित अनेक कारणोंमें से एक कारण यह भी संभव है—संभव ही नहीं, मैं तो निश्चित भी कहनेके लिए साहस कर सकता हूं कि वह बच्चा किसी ऐसी योनिसे आया है, जहां पर उसे माताके स्तनसे दूध पीनेके संस्कार ही नहीं पड़े हैं। संभव है कि वह नरकसे निकल कर मनुष्य हुआ हो, या ऐसी पशु-पक्षियों की योनिसे आया हो, जहां पर कि माताके स्तन ही न होते हों, और अण्डे आदिसे उनकी उत्पत्ति रही हो। अथवा यह भी सम्भव है कि वह सम्मूर्छिम मत्स्य, कच्छप, मेंढकादि योनिका रहा हो।

इसी प्रकार यदि कोई शिशु जन्म लेनेके पश्चात् भूखा होने पर रोनेके बजाय अपने हाथ या पैरके अंगूठेको मुंहमें देकर चूसने लगता है, तो समझना चाहिए कि वह उच्च योनिसे आया है। देखनेमें ये बातें छोटी प्रतीत होती हैं, पर उनके भीतर कुछ न कुछ रहस्य छिपा रहता है। जिन्होंने शास्त्रोंका स्वाध्याय किया है, वे जानते हैं कि उनमें स्वर्ग और नरकसे आकर मनुष्योंमें जन्म लेने वाले जीवोंके भी चिन्ह लक्षण आदिका निरूपण किया गया है।

पुराने संस्कारोंका एक ताजा उदाहरण लीजिये। २५ दिसम्बर सन ५६ के नव भारत टाइम्स'में निम्नलिखित समाचार प्रकाशित हुआ है—

'रोम २४ दिसम्बर। समाचार है कि इटालियन ब्राडकास्टिंग कारपोरेशनका कार्यालय भूत-ग्रस्त हो गया है। लोगोंका कहना है—यह भूत प्रातः और सायं लगभग तीन बजे सीढ़ियों परसे उतरकर घूमता है। एक पहरेदार जिसने इस भूतको देखा, भयभीत हो गया है उक्त पहरेदारको भूतकी प्रामाणिकता पर पूरा भरोसा हो गया है। कुछ लोगोंका विश्वास है कि यह 'नीरो' है। कुछ लोगोंका यह भी कथन है कि यह एक मेहमान था जिसकी मृत्यु १०० वर्ष पूर्व होटलमें हो गई थी। अब यह होटल आई. बी. सी. के कार्यालयमें तबदील हो गया है।'

अभी कुछ मास पूर्व जैन पत्रोंमें एक समाचार छपा था कि अमुक मुनिराज जो कुछ दिन पूर्व सम्मेदशिखरजीकी वन्दना करने के भाव रखते हुए समाधि मरणको प्राप्त हुए थे, वे सम्मेदशिखरजी पर यात्रियोंके द्वारा ध्यानस्थ देखे गये हैं। ज्ञात होता है कि उनकी आत्मामें शिखरजीकी वन्दनाके संस्कार घर कर गये। मरकर वे देव हुए और अपने पूर्व जन्मोपार्जित संस्कारसे प्रेरित होकर तीर्थराजकी वन्दनार्थ आये हों, और ताजे संस्कारोंके कारण मुनिका पूर्व वेष रखकर ध्यानादि करते हुए गिरिराज पर दृष्टिगोचर हुए हों।

उपर्युक्त दोनों घटनाएँ पूर्व जन्मके संस्कारोंके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं और वे यह प्रकट करती हैं कि प्राणी जैसे संस्कार लेकर मरता है, वे संस्कार आगामी पर्यायमें प्रकट होते हैं।

इय गोमिणाहचरिए अबुह-कइ-रयण-सुअ-लक्खम-
गोण विरइए भव्वयणा-अणामणाणंदो सावय-वय-वण्णणो
णाम चउत्थो परिच्छेओ समत्तो ॥ संधि ४ ॥

पंचायती मंदिर शास्त्रभंडार दिल्ली, लिपि सं १४६२

३३—अमरसेन चरिउ (अमरसेन चरित)

कवि माणिक्कराज, रचनाकाल सं० १५७६

आदिभाग—प्रथम पृष्ठ नहीं

ए सयलवि तित्थंकर कुलहोसहिधर ते सव पणविवि पुहमिवर
पुणु अरुह सुवाणी ति-जय पहाणी, णिय मणि धरि वि कुमइ-हर

पुणु गोयमु गणहरु णमउ णाणि,
जे अक्खिउ सम्मइ-जिणह वाणि ।
पुणु जेण पयत्थइ भासियाइं,
भव-उवहि-तरण-पोयण-सुहाइं ॥
पुणु तासु अणुक्कमि मुणि पहाणु,
णिय चेयणत्थ तम्मउ सुजाणु ।
हुय बहु सद्दत्थह-मुह-णिहाणु,
जिह दुद्धरु णिज्जिय-पंचवाणु ।
विण्णाण-कलालय-पारुपत्त,
उद्धरिय भव्व जे सम-विसत्त ।
संतइय ताह मुणि गच्छणाहु,
मय-राय-दोस मंजइय साहु ॥
जे ईरिय गंथह कइ-पवीणु,
णियझाणें परमप्पयइ लीणु ।
तव-तेय णियत्तणु कियउ खीणु,
सिरि-खेमकित्ति-पट्टहिं पवीणु ।
सिरि हेमकित्ति जि हुयउ धामु,
तहुं पट्टवि कुमर वि सेणु णामु ।
णिग्गंथु दयालउ जइ-वरिट्ठु,
जिं कहिउ जिणागम-भेउ सुट्ठु ॥
तहु पट्ट-णिविट्ठउ बुह-पहाणु-
सिरिहेमचंदु मय-तिमिर-भाणु ।
तं पट्टि धुरंधरु वय-पवीणु,
वर पोमणंदि जो तवहिं खीणु ॥
तं पणविवि णियगुरु सील खाणि,
णिग्गंथु दयालउ अमिय वाणि ।
पुणु पत्थमि कह सवणाहिराम,
आयण्णहु जा सहत्थ-राम ॥

गोयम-पुव्वें जा कहिय सेणियस्स सुह-दायणि ।
जा बुहयण-चिंतामणिय धम्मारम्भहु तरंगिणि ॥२॥

महिवीढ पहाणउ गुण-वरिट्ठु,
सुरह वि मण-विंभउ जणइ सुट्ठु ।
वर तिहिण-साल-मंडिउ पवित्तु,
णंदइ पंडिउ सुर पार पत्तु ॥
रुहियासु वि णामें चरिउ इट्ठु,
अरियण जणइ हिय-सल्लु कट्ठु ।
जहिं सहहिं णिरंतर जिण-णिकेय,
पंडुर-सुवण्ण-धय-सुह-समेय ॥
सट्ठाल स-तोरण जत्थ हम्म,
मण सुह संदायण णं सुकम्म ।
चउहट्टय-चच्चर राम जत्थ,
वणिवर ववहरहि वि जहिं पयत्थ ॥
मग्गण-गण-कोलाहल समत्थ,
जहिं जण णिवसहि संपुण्ण अत्थ ।
जहिं आवणम्मि थिय विवह भंड,
कमवट्टहि कसयहिं भम्मखंड ॥
जहिं वसइ महायण सुद्ध-बोह,
णिच्चंचिय पूया-दाण-सोह ।
जहि वियरहिं वर चउ वरण लोय,
पुण्णेण पयासिय दिव्व-भोय ॥
ववहार चाग संपुण्ण भव्व,
जहिं रत्त वसण-मय-हीण भव्व ।
मोत्तण-चूड मंडिय-विसेस,
सिंगार-भार-किय-णिरविसेस ॥
सोहग्ग-विणय जिणधम्म-सील,
जहिं माणिणि-माण-महग्घ-लील ।
जहिं चोर-चाड-कुसुमाल दुट्ठ,
दुज्जण स-खुद्द खल पिसुण भिट्ठ ॥
णवि दीसहि कहि महि दुहिय-हीणु,
पेमाणुरत्त सव्व जि पवीणु ।
जहिं रेहहि हय-पय दलिय मग्गु,
तंबोल-रंग-रंगिय-धरग्गु ॥

सुहलच्छि जम्मायरु णं रयणायरु बुहयण गुउ णं इंदउरु ।
सत्थत्थहिं सोहिउ जण-मण-मोहिउ णं वरणय रह एहु गुरु ॥३॥

तहिं साहि सिकंदरु सामिसालु,
णिय पइ पालइ अरियण भयालु ।
तं रज्जि वसइ वणिवरु पहाणु,
दुक्खिय-जण-पोसणु गुण-णिहाणु ।
जो अयरवाल कुल-कमल-भाणु,
सिंघल-कुवलयहु वि सेय-भाणु ।
मिच्छत्त-वसण-वासण विरत्तु,
जिण-सासणि गंथह पाय-भत्तु ॥
चउधरिय णाम चीमा सतोसु,
जो वंसह मंडणु सुयण-पोसु ।
तं भामिणि गुण गण-सील-खाणि,
मल्हाही णामें महुर-वाणि ॥
तं णंदणु णिरुवम गुण णिवासु,
चउधरिय करमचंदु अरुहदासु ।
जिणधम्मोवरि जें बद्धगाहु,
णिव हियइ इट्टु पुरयणह णाहु ॥
जिण-चरणोदएण वि जो पवित्तु,
आयम-रस-रत्तउ जासु चित्तु ।
उद्धरिउ चउव्विह-संघभारु,
आयरिउ वि सावय-चरिउ चारु ॥
चउदाणवंतु णं गंध-हत्थि,
वियरेइ णिच्च जो धम्म-पंथि ।
सम्मत्त-रयण-लंकिय सरीरु,
कणयायलु व्व णिक्कंपु धीरु ॥
सुहि परियण-कइरव-वणहिं हंसु,
जिणवर-सहमज्झें लद्ध-संसु ।
तं भामिणि दिउचंदहि मियच्छि,
जिण-सुय-गुरु भत्तिय सील सुच्छि ॥
तं जायउ णंदणु सील खाणि,
चउमहणा णामें अमिय-वाणि ।
धण-कण-कंचणु-संपुण्ण संतु,
पंडियहं वि पंडियगुण-महंतु ॥
दुहि-यण-दुह-णासणु बुह कुल-सासणु जिण सासण-रह-धुर-धवलु
णिउजा लच्छी घरु रूवें णयरु अह णिसु किय विह उद्धरणु ॥४

तं पणइणि-पणइ-णिबद्ध-देह,
णामें खेमाही पिय-सणेह ।
सुर-सिंधुर-गइ लहुवइ-विलील,
परिवारहु पोसण सुद्धसील ॥

णर-रयणह णं उप्पत्ति-खाणि,
जा वीणा इव कलयंठि वाणि ।
सोहग्ग-रूव-चेलणि य दिट्ठ,
सिरि रामहु सीया जिह वरिट्ठ ॥
तहि वीर उवयणा रयण चारि,
णं णात चउक्क सुरूव-धारि ।
तम्मज्झि पढमु वियसियसुवत्तु,
लक्खण-लक्खंकिउ वसण-चत्तु ॥
अतुलिय-साहसु सहसेकणेहु,
चाएण कणणु संपइहिं गेहु ।
धीरें गिरि गंभीरें सायरु,
णं धरणीधरु णं रवि-ससि सुरु ।
णं सुरतरु पइ पोसणु सुहहरु,
णं जिणधम्मु पयडु थिउ वसु वरु ।
जिं णियजसि पूरिय दाणि महिं,
जो णिव सुह पालउ सुयणसुहि ॥
दिउराजु णामु चउधरिय सुहिं,
जिणधम्म-धुरंधरु धम्मणिहि ।
विणणाण कुसमु बीयउ सुपुत्तु,
जो मुणइ जिणेसर धम्मसुत्तु ॥
सुपवीणराय-वावार-कज्जि,
गंभीरु जसायरु बहुगुणिज्ज ।
झाभू चउधरिय विसुद्ध भाइ,
जो णिव-मणु रंजइ विविह भाइ ।
अयणु वि तीयउ रिसिदेव-भत्तु,
गिह-भार-धुरंधरु कमल-वत्तु ।
चुगनाणामें चउधरिउ उत्तु,
जो करइ णिच्च उवयारु तंतु ॥
पुणु चउथउ णंदणु कुल-पयासु,
अवगमिय सयल-विज्जा-विलासु ।
जिण-समयामय-रस-तित्त चित्तु,
छुट्टाणामें चउधरिय उत्तु ॥
ए चउ भाइय जिणमइ-राइय, दिउराजुणामु गरुवउ सुपई
णाणासुह विलसइ कइयण पोसइ णियकुल कमलज्जु पुहई ॥५

अयणहि दिणि जिणवर गंथदत्थु,
सम्मत्त-रयण-लंकयहि पत्थु ।
गउ अरुह-गेहि दिउराज साहु,
चउधरिय रायरंजणपणाहु ॥

भावें वंदिउ तहं पासणाहु,
पुण जिण-गंथाणं णविवि साहु ।
सिद्धंत-अत्थ भाविय मणेण,
पुरयण सुहयारउ सुरधणेण ॥
तहं दिट्ठउ पुणु सरसइ-णिवासु,
माणिक्यराज जिण गुरहं दासु ।
तेणवि संभासणु कियउ तासु,
जा गोट्ठि पयासइ बहु सुपासु ॥
तं जिण अंचण पसरिय भुवेण,
अक्खिउ बुहसूरां णंदणेण ।
भो! अयरवालकुल कमलसूर,
बुहयण जणाह मण आस पूर ॥
जिणधम्म-धुरंधर गुण-णिकेय,
जसपूर दिसतर किय सतेय ।
चउधरिय खेमहणासुय सुणेहिं,
कलिकालु पयलु णियमण धरेहिं ॥
दुज्जण अवियट्टवि दोस गाहि,
वट्टंति पउर पुणु पुहइ माहि ।
इय सुकइत्तणि पुणु बद्धणाहु,
णिय हियइ धरेप्पिणु पासणाहु ॥
सत्थत्थ-कुसल लइ रसह भरिउ,
सिरिअमरवइरसेणहु वि चरिउ ।
भउ वंसु गरिट्ठहु पुहइमज्झि,
णं आइसाह हीणंह दु सज्झि ॥
जह जाय पुरिसवर तवहं धारि,
वरसीहमल्ल पमुहाइ सारि ।

तं वयणु सुणेप्पिणु मणि पुलएविणु अक्खइ देवराज बुहहो
भो माणिक पंडिय सील अखंडिय वयणु एकु महु सुणहिं लउ

अन्तभाग :—

णंदहु जिणवर सासण सारउ,
जिणवाणी वि कुमग्ग-वियारउ ।
णंदउ बुहयण समय परिट्ठिय,
णंदउ सज्जण जेवि सविट्ठिय ॥
गंदउ णरवइ पय रक्खंतउ,
णाय-मग्गु लोमहं सदरिसंतउ ।
सति वियंभउ पुट्ठि वियंभउ,
तुट्ठि वियंभउ, दुरिउ णिसुंभउ ॥
सेणिउ णिग्गउ णरय णिवासहु,
जिणधम्मु वि पयडउ भव-वासहु ।
जिं मच्छरु मोहवि परिहरियउ,
सुहयडझणि जें णियमणु धरियउ ॥
हेमचंदु आयरिउ वरिट्ठउ,
तहु सीसु वि तव-तेय-गरिट्ठउ ।
पोमणंद धरणंदउ मुणिवरु,
देवणंदि तहु सीसु महीवरु ॥
एयारह पडिमउ धारंतउ,
राय-रोस-मय-मोह-हणंतउ ।
सुहज्झाणें उवसमु भावंतउ,
णंदउ बंभलोलु समवंतउ ॥
तहं पास जिणेंदह-गिह-रवण्ण,
बे पंडिय णिवसहिं कसायवण्ण ।
गरुवउ जसमलु गुणगण णिहाणु,
बीयउ लहु बंधउ भव्व जाणु ।
सिरि संतिदास गंथत्थ जाणु,
चव्वइ सिरिपारसु विणय-माणु ॥
णंदउ पुणु दिवराउ जसाहिउ,
पुत्त-कलत्त-पउत्तु वि साहिउ ।

घत्ता—रोहियासि पुरि वासि, सयलु लोउ सह णंदउ ।
पास जिणहु पय-सरणु, णाणा थोत्तहिं वंदिउ ॥११

पुणु णामावलि भणउ विसारी,
दायहु केरी वयण विसारी ।
अइरवालु सुपसिद्ध विभासिउ,
सिंघल गोत्तिउ सुयण-समाहिउ ॥
बूल्हा णिवि अहिहाणें भणिउ,
जे णिय-तेएं कुलु संताणिउ ।
करमचन्दु चउधरिय गुणायरु,
दिवचंदहीं भज्जहि वि मणोहरु ॥
तस्स तणुरुह तिण्णि वि जाया,
णं पंडव इव तिण्णि समाया ।
पढमउ सत्थ-अत्थ-रस-भायणु,
महणचंदु णं उइयउ धरइणु ॥
तह वणिया पेमाही सारी,
पुत्तरुउ किं जुव मणहारी ।
अग्गिमु वायें जिउ सेयंसिउ,
उज्जल जसचरिणो वि अयंसिउ ॥

असुवइ परहर तियहि विरत्तउ,
जं असच्च कइया ण उ उत्तउ ।
दिउराजु जि जिण सहहि महल्लउ,
णोणाही तिय रमणु वि भल्लउ ॥
तहु कुक्खि सिप्पि मुत्ताहलाइं,
उप्पणइं वेसु परिउ सलाइं ।
पहिलारउ णिय कुलहं वि दीउ,
हरिवंसु णामु गुणगण विदीउ ॥
घत्ता—तहु भज्जा गुणहिं मणुज्जा, मेल्हाही पभणिज्जए ।
गउरि गंग णं उवहि सुया तहु कस उप्पन दिज्जइं ॥१२
पुव्वहि अभयदाणु असु दिण्णउ,
तह सुउ अभयचंदु सुणि संणिउ ।
अवरु वि गुण-रयणहिं रयणायरु,
देवराज सुउ सयल दिवायरु ॥
रतणपालु णामें पभणिज्जइ,
तहु भूराही ललण वि गिज्जइ ।
देवराय पुणु बीयउ जायउ,
झाभू णामें जग विक्खायउ ॥
तह चोवाही भज्ज कहिज्जइ,
तो तेयहु णेहें जो छिज्जइ ।
पढमउ णायराउ तहु कामिणि,
सूवटही णामें जणराविणि ॥
बीयउ गेल्हु वि अवरु पयासिउ,
झाभू तीयउ पुत्तु पयासिउ ।
चाओ णामें जण विक्खायउ,
महणासुउ चुगणा पिय भासउ ॥
डूंगरही तहु भामिणि सारी,
खेतासिंघ णंदण जुयहारी ।
सिरियपालु पुणु रायमल्लु
पुणु कुंवरपालु भासिउ जडिल्लु ॥
महणा अवरु चउत्थउ णंदणु,
छुटमल्लु वि जो धम्महु संदणु ।
फेराही अंगण मण-हारउ,
दरगहमल्लु वि णंदणु रह सारउ ॥
घत्ता—करमचंदु पुणु पत्तु, बीयउ जो जुत्ति भणिउ ।
साहा हिय पिय उत्तु, गुरु-पय रत्तु वि णाणिउ ॥१३
तहो अंतहो अंगोभव तिण्णि जोय,
विसुसुय पवणंजउ अज्जुणो य ।
पहलारउ रावणु तस्स णारि,
रामाही जाया अहि वियारि ॥
तहु सरीरि सुअ चारि उवण्णा,
पुहइमल्लु वि पढमु सुवण्णा ।
तस्स भज्ज बहु णेहालंकिय,
कुलचंदही जाया बहु संकिय ॥
कित्तिसिंघु तहु कुक्खि उवण्णउ,
गगिर गिरु णव कंचण वण्णउ ।
पुणु जस चंदुव चंदुभणिज्जइ,
लूणाही पिय यम अणुरंजइ ॥
तह वि तणंधउ लक्खणलंकिउ,
मदणसिंघ जो पावह संकिउ ।
अवरुवि वीण कंठु वीणावरु,
पोमाही तहु कामिणि मणहरु ॥
णरसिंघु वि तउ सुउवि गरिट्ठउ,
लच्छि पिल्लु णं पियरहं इट्ठउ ।
पुणु लाडणु रूवें मयरद्धउ,
तहु वीवोकंता वि जसद्धउ ॥
पुणु जोजा बीयउ पुत्तु सारु,
णियरूवें जित्तउ जेण मारु ।
दोदाही कामिणि अणुरंजइ,
जें सुहि मरणें मग्गि गमिज्जइ ॥
जोजा अवरवि णंदणु सारउ,
लखमणु णामें पंडिय हारउ ।
मल्लाहा कामिणि तहु णंदणु,
हारू णामें जण-मण-णंदणु ।
घत्ता—अवरवि णंदणु तीयउ ताल्हू णामे भासिउ ।
बाल्हाही अणहारु वे सुय ताह समासिउ ॥१४॥
पढमउ पोमकंति दामू सुहो,
इच्छाही भामिणि दिण्णउ सुहो ।
महदासु वि तहु पुत्तु पियारउ,
पुणु दिवदासु बीयउ मणहारउ ॥
साधारणाही भज्ज मणोहरु,
घणमलु णंदणु तहु पुणु सुहयरु ।
जगमलही कामिणि तहु सारी,
चायमल्लु सुय पोसण हारी ॥
इय दिवराजहं वंसु पयासिउ,
काराविउ सत्थु जिं रस सारउ ।

कोह-मोह-भय-माण-वियारउ,
जं अक्खरु ण किंपि वियाणिउ ॥
सुपसाएं वि विरुद्धउ भासिउ,
....?
....,
हं सरसइ महु खमइ भंडारी ॥
वीर जिणहो मुहु णिग्गय सारी,
जे धारें ते भव-सरि-तारी ।
हेम-पोम आयरिय विसेसें,
बंभुज्जाणं गुण गविणणईसें ॥
मइ कम वट्टिय वयणधरेप्पिणु,
कव्व सुवएणहु लीह वि देप्पिणु ।
मत्त-अत्थ-सोहग्ग खिवेविणु,
अत्थ-विरुद्ध किट्टि कट्टेविणु ॥
सोहिउ एहु वि मणु लाएविणु,
होउ चिराउसु कव्वु-रसायणु ।
विक्कम रायहु ववगय कालइं,
लेसु मुणीस विसर अंकालइं ॥
धरणि अंक सहु चइतवि मासें,
सणिवारें सुय पंचमि दिवसें ।
किंत्तिय णक्खत्तें सुह जोएं,
हुउ उप्पणणउ सुत्तु वि सुह जोएं ॥

हो वीर जिणेसर जग परमेसर एत्तिउ लहु महु दिज्जउ ।
जं हि कोहु ण माणु आव ण जाणु, सासय-पय महु दिज्जउ ॥१५

इय महाराय-सिरिअमरसेण-चरिए चउवग्ग-सुकह कहासमरसेण-संभरिए सिरिपंडियमाणिक्कु-विरइए साधुसिरि-महणासुय-चउधरि-देवराजणामंकिए सिरि अमरसेणमुनि पंचमगग-गमणवएणणो णाम सतमं इमं परिच्छेओ सम्मत्तो ॥ ७ ॥

—प्रति आमेर भंडार सं० १५७७ कार्तिकवदी चतुर्थी रविवार सुवर्णपथ (सुनपत) में लिखित ।

३४—णागकुमारचरिउ (नागकुमारचरित)

कविमाणिक्यराज रचनाकाल सं० १५७६

आदिभाग:—

ग्रन्थ प्रतिमें आदिके दो पत्र न होनेसे उससे आगेका भाग दिया जाता है :—

× × ×

तहिं जिणमदिरु धवलु भव्वु,
सिरि आइणाह जिणबिंब दिव्वु ।
तहिं णिवसइ पंडिय सहखणि,
सिरि-जयसवाल-कुल-कमल-तरणि ॥
इक्खाकु वंस महियलि वरिट्ठु,
बुह सूरा णंदणु सुउ गरिट्ठु ।
उप्पएणउ दीवा उरि रवएणु,
बुहु माणिकु णामें बुहहि मएणु ॥
तत्थंतरि सावउ इक्कु पत्तु,
वय दाण-सील-णियमेण जुत्त ।
बुहयण रंजणु गुण गण विसालु,
विच्छिएणु वत्थ दिप्पंत भालु ॥
धम्मत्थ काम सेवंतु संतु,
तस जीव दयावरु सिरिमहंतु ।
मेरुव्व धीरु गुणगण-गहीरु,
जिण-गंधोवय-णिम्मल सरीरु ॥
णरवइ सह मंडणु सव्व भासि,
गोहाण गौहु सुय सील-रासि ।
चंदुव्व भुवण-संतावहारि,
वर रूव स उपणउ णं मुरारि ॥
छह अंग विहूसिउ णं महेसु,
मंदाय पुज्जिउ णं महेसु ।
जिण पयसी संकिउ णीलकेसु ॥
रस दंसण पालउ सुयण-तोसु,
सिरि ठाकुराणि जिणधम्म धुरंधरु ।
सुरवइ करभुय जुयलहि विमलु,
सिरि जइसवाल इक्खाकु वंसु ॥
सिरि जगसा णंदणु सुद्धचसु,
टोडरुमल णामें घर पयलु ।
जं किंति तिलोयइ पूरि थिरु ॥

ते आइ वि जिणहरि णयणाणंदणि आइणाहु जिणवंदियउ ।
पुणु दिट्ठउ पंडिउ भवियण मंडिउ अइ विणयें अब्भत्थियउ ॥

× × ×

इय-वय-पंचमि सिरिणायकुमारचरिए विबुह-चित्ताणु-रंजिणे सिरिपंडिय-माणिक्यराज-विरइए चउधरिय-जगसी सुय-राय-रजण-चउधरि टोडरमल्लणामंकिए जयंधर-विवाह-वएणणो णाम पढमो संधि परिच्छेओ समत्तो ।

अन्तिम भाग :—

णंदउ जिणवरिंद जिण-सासणु,
दय-धम्मु वि भव्वह आसासणु।
णंदउ णरवइ पइ पालंतउ,
णंदउ मुणिगणु सुत-तउ-वंतउ ॥
णंदउ जिण सुहमग्गि चरंतउ,
भवियणु दाण-पूय विरयंतउ।
कालि कालि धाराहलु वरिसउ,
दुक्ख-दलिद्दु दुहिक्खु विणिरउ ॥
घरि-घरि णारिउ रहस णव्वउ,
घरि घरि मगलु गीउ पदरिसउ।
घरि-घरि संखु समुद्दलु वज्जउ,
घरि-घरि लोउ सुहेहें रंजउ ॥
चउविह संघह दाणह पोसणु,
जिणवरिंद-सुय-गुर-पय अच्चणु।
णंदउ टोडरमल्लु दयालउ,
पुत्त-कलत्त-सुयण-पइ-पालउ ॥
जावहि मेरुचदु रवि णहयलि,
णंदउ एहु गथु ता महियलि।
भवियण लोयह पाढिज्जंतउ,
णंदउ चिरु दुक्खिउ विहुणंतउ ॥
विक्कमरायह ववगय-कालें,
ले समुणीस विसर अंकालें।
पणरह सइ गुणणासिह उरवालें,
फागुण चंदिण पक्खिससिवालें ॥
णवमी सुह णक्खित्तु सुहवालें,
सिरि पिरथीचन्दु पसायं सुंदरें।
हुउ परिपुण्णु कव्वु रस-मदिरु,
सज्जण-लोयह विणउ करेप्पिणु ॥
पिसुण-वयण कद्दमेण भरेप्पिणु,
विरयउ एहु चरित्तु सुबुद्धिउ।
जइ यहु अत्थ-मत्त हीणउ हुउ,
ता महु दोसु भव्वु म गहियउ ॥
विणवइ माणिक्क कई इम,
महु खमंतु विबुह गुणमंतिम।
अयणुवि अमुणंते हीणाहिउ,
मइ-जलेण जं कायमि साहिउ ॥
तं जि खमउ सुयदेवि भडारी,
कइयण-जण तिल्लोयहु सारी।
बुहयण रोसु ण करहु महु उप्परि,
अइ रोसें सोहिज्जहु गंथु वरि ॥
विसमउ णामिणि वज्जउ मंदलु,
णच्चउ कामिणि होउ सुमंगलु।
गुरयण वच्छल्लें पंडिएण,
माणिक्कराज वज्जिय-मएण ॥
तं पुण्णु करेप्पिणु एहु गंथु,
टोडरमल्ल हत्थें दिएणु सत्थु।
णिय सिरह चढाविउ तेण गंथु,
पुणु तुट्ठउ टोडरमल्लु हियइ गंपि ॥
दाणें सेयांसह कएणु तं पि,
पंडिउ वर पट्टहिं थविउ तेण।
पुणु सम्माणिउ बहु उक्कवेण,
वर वत्थहं कंकण-कुंडलेहिं ॥
अंगुलियहि मुद्दिम णिय-करेहिं.
पुजिउ आहारहि पुणु पुणु तुरंतु।
हरि रोविव सजिउ विणयं णिरुत्तु,
गउ णियघरिं पंडिउ गंथु तेण।
जिण-गेहि णियउबहु उच्छवेण ॥
तहि मुणिवर वंदहि सुक्क गंथु,
दिएणउ गुरु-हत्थें सिवह-पंथु।
वित्थारिउ अत्थु वियारि तेण,
भव्वयणाह सुहगइ दावणेण ॥
पुणु टोडरमल्लहं णिवसरि पुरणाह लिहयइ गंथ बहुसुच्छ णिरु
जिणगिह मुणिसंघहं तव-वय-वंतहं णाणा दाणु तं दियणु वरु ॥

शुभंभूयात्। ग्रंथाग्र ३३००
प्रति आमेरभंडार लिपि सं १५१२

सम्मइ-जिणचरिउ (सन्मति-जिन-चरित्र) कवि रइधू
आदिभाग—

जय सररुहभाणहुँ वड्ढियमाणहु वड्ढमाणतित्थेसरहु।
पणविवि पय-जमलं णह-पह-विमलं चरिउ भणमि तहु हय सरहु
वीरस्साणंत वित्ति अमर-वदि-णुदं धम्मभूयादअहं,
णट्ठा कम्मट्ठविंत्ति परमगुणस्साहिरामं जिणस्स।
वंदित्ता पाय-पोमं ति-जय मणामुयं धम्मचक्काहिवस्स,
वोच्छं भव्वत्थजुत्तं भणह-सुहहरं तच्चरित्तं पवित्तं ॥१॥

× × ×

केवलणाण-सतणु-पहवंती,
साय-वाय-मुह-कमल हसंती।

विणिया पमाण-णयण-जोवंती,
दो-दह-णिय अंगइं गोवंती ॥
वे-णय-कोमल-पयहिं चलंती,
चउदह-पुव्वाहरण-धरंती ।
ति-जय-चित्ति विब्भमु विहुणंती,
अत्थ-पसत्थ-वयण-भासंती ॥
कुणय-विहंडणि संतावंती,
णाणा-सद्द-दसण सोहंती ।
छंद-दुविह-भुयडाल-रवण्णी,
वायरणंगु णाहिं सुयवण्णी ॥
जिणमय-सुत्त-वत्थ-पंगुरणी,
सील-महाकुल-हर-हर-धरणी ।
दुविहालंकारेण पहाणी,
होउ पसण्ण जिणेसहु वाणी ॥
सुयदेवि भडारी ति-जय पियारी दुरियवहारी सुद्धमइ ।
कइयण-यण-जणणी सुहफल-जणणा सा महु दिज्जउ विमलमई

संसारोवहि-पोय-पमाणा,
विगय-दोस वे मुणिय पमाणा ।
णाण-चउक्को जोय दिवायरु,
थावर-तस सत्ताहं दयावरु ॥
जे हुय गोयमु पमुह भडारा,
ते असेस पणविवि सरहारा ।
ताहं कमागय तव-तवियंगो,
णिच्चब्भासिय-पवयणसंगो ॥
भव्व-कमल-सर-बोह-पयंडो,
वंदिवि सिरि जसकित्ति असंगो ।
तस्स पसाएं कव्वु पयासमि,
चिर भवि-विहिउ असुह णिण्णासमि ॥
जइ कह भवि मणुयत्तणु लद्धउ,
देस-जाइ-कुल-वस-विसुद्धउ ।
तं हेलइ विहलउ ण गमिज्जइं,
सत्थब्भासे सहलो किज्जइं ॥
गोवग्गिरि दुग्गमि णिवसंतउ, बहु सुहेण तहिं ।
पणमंतउ गुरु-पाय पायडंतु जिण सुत्त-महिं ॥३॥
जिण-धम्म कम्मम्मि कय उज्जमो जाम,
णिय गेह सयण थलि सुहि सुत्तु बहु ताम ।
सिविणंतरे दिट्ठ सुयदेवि सुपसण्ण ।
आहासए तुज्झ (?) हउं जायसु पसण्ण ॥

परिहरिहिं मण चिंतकरि भव्वणिरु कव्वु,
खलयणहं मा डरहिं भउ हरिउ मइ सव्वु ।
तो देविवयणेण पडिउ विमाणंदु,
तक्खणेण सयणाउ उट्ठिउ जि गय-तंदु ॥
दिसवहणियतोय पुणु तुट्ठ चित्तंमि,
संपत्तु जिणगेहिं सुहगइं णिमित्तम्मि ।
पणवेवि जिणणाहु बहुविह विसंथुत्ति,
मुणिपाय वंदेवि जाथक्कु जसमुत्ति ॥
ता तम्मि खणिखंभ-वय-भार भारेण,
सिरि अइरवालंकवंसम्मि सारेण ।
संसार तणु-भोय-णिव्विण्णचित्तेण,
वरधम्म-झाणामएणेव तित्तेण ॥
सत्थत्थरयणोह-भूसिय-सदेहेण,
दहएग पडिमाण पालण स-णेहेण ।
खेल्हाइ णामेण णामिउण गुरुतेण,
जसकित्तिविक्खात्तु मंडय गुणोहेण ॥
भो मयण-दावग्गि-उल्हवण-वणदाण,
संसार-जलरासि-उत्तार-वर-जाण ।
अम्हहं पसाएण भव-दुह-कयंतस्स,
ससिपहजिणेंदस्स पडिमा विसुद्धस्स ॥
काराविया मइं जि गोवायले-तुंग,
उड्ढचावि णामेण तित्थम्मि सुह-संग ।
आजाहिया हाण महु जणण सुपवित्त,
जिणदेव मुणि पायगंधोवसिरसित्त ॥
दुल्लंभु णर-जम्मु महु जाइ इहु दियणु,
संगहिंवि जिण-दिक्ख मयणारि जिं छिएणु ।
तहिं पढिय उवयारं कारणेण जिण-सुत्ति,
काराविया ताहि सुणिमित्त ससि-दित्ति ॥
कलि-कालु जिणधम्मधुर धारपूढस्स,
तिजयालए सिहरि जस सुज्झरूढस्स ।
सिरि कमलसीहस्स संघाहिवस्सेव,
सुसहायएणावि तं सिद्धु इह देव ॥
जणणी उवयारहु णर-भवयारहु. हुवउ तस्स णिब्भार हउ ।
एव्वहिं मुणि-पुंगम बहु-सुय-संगम आहासमि णिरुविगय-भउ ॥
महु मणम्मि सल्लेक्कु पयट्टइ,
तुम्ह पसाएं सोऊ हट्टइ ।
चित्ति परमु वइराउ धरिंतें
सु-तव-भारि विग्गहु धारंते ॥

णिय अत्थु णामाइं भासिउ जं ते,
किंचि किंचि मणि मोहु कुणंते ।
णाणावरण-कम्म-खय-कारणि,
आसि विहिय कलि-मल-अवहारणि ।
सिरि चरमिल्ल जिणिंदहु केरउ,
चरिउ करावमि मुक्खजणेरउ ।
जइ कुवि कइयणु पुण्णे पावमि,
ता पुण्णाहं फलु तुम्हहं दावमि ।।
तइयाइ ममाइ तासु पउत्तउ,
तेण जि अणुमणिणयउ णिरुत्तउ ।
तं जि सहलु करि भो मुणि पावण,
एत्थु महाकइ णिवसइ सुहमण ।।
रइधू णामें गुण गण धारउ,
सो णो लंघइ वयण तुम्हारउ ।
तं णिसुणिवि गुरुणा गच्छहु गुरुणाइं सिहसेणि मुणेवि मणि
पुरु सठिउ पंडिउ सील अखंडिउं भणिउ तेण तं नमि खणि
भो सुणि कइयण-कुल तिलय-तार
णिव्वाहिय णिच्च कइत्तभार ।
जिण-सासण-गुण वित्थरण दच्छ
मिच्छत्त-परम्मुह भाव-सच्छ ।।
महु तणउं वयण आयण्णि वप्प,
अवगण्णहिं बहु विह मण-वियप्प ।
जोयणिपुराउ पच्छिम दिसाहिं,
सुपसिद्ध णयरु बहु सुह-जुयाहिं ।।
णामें हिसारपिरोज अत्थि,
कराविउ पेरोसाहिज सत्थि ।
वण-उववणेहिं चउपास-किण्णु,
पंथिय-जणाहं पह-खेउं छिण्णु ।।
चित्तंग तरंगिणि अइ गहीर,
वय-हंस-चक्क-मंडिय स तीर ।
जहिं वहइ सुहासु सच्छु जलु सुणिद्धु,
सयलहं जीवहं पोसण समिट्ठु ।।
परिहा-जल लहरि-तरंगएहिं
जा सेवइ सालहु अहमणिवेहिं ।
सप्पुरिसहु सणिहु णाइणारि,
थक्की अवरुंडिवि सुक्खयारि ।।
जहिं पायार वि सुउब्भजियपसत्थ,
रेहंति तिण्णि उत्तुंग जत्थ ।
चहुं गोउर सोहहिं विप्फुरंति.
अरियण मणमाणहु अवहरंति ।।
हु तिक्खणाहं जुत्तवर जत्थ हम्म,
कम-वट्टिहिं कसियहिं जहिं जत्थ मम्म ।
जिण-चेईहरु जहिं मज्झिमाइं,
जिण पडिमहिं जुउं सुर-हरु वणाइं* ।।
जहिं सोहइं सरवरु सलिल-पुण्णु,
परिमलजुएहिं कमलेहिं छण्णु ।
णायालउं सोहइ जहिं विचित्तु,
वर-पंचवण्ण रयणेहिं दित्तु ।।
तिक्खालिय णाहि-भरिय-हट्ट,
छुह-पंकिय जहिं दीसहिं विसट्ट ।
वावार करहिं जहिं वणिय-विंद,
सच्चेण सउच्चे जे अणिंद ।।
खडनामवणि जहिं सुहि वसंति,
विनाणुसारि दाणाइं दिंति ।
अण्ण जहिं सावय विणयविणावय णिचमहिं जिणपयभत्तिरया ।
छक्कम्महिं जुत्ता वसण-विरत्ता पर-उवयारहं णिच्च रया ।।६।।
जो अयरवाल-कुल-कमल-भाणु,
वियसावणि गुण-किरणहिं पहाणु ।
णरपति णामें संघहु सहारु,
संघाहिउ धरियउ संघभारु ।।
तहु णंदणु बील्हा साहु जाउ,
जिणधम्म धुरंधरु विगय-पाउ ।
सम्माणिउ जो पेरोजसाहिं
तहु गुण वण्णणि को सक्कु आहिं ।।
तहु णंदणु हूवा वेवि इत्थ,
बाधू साधू णामें पसत्थ ।
बाधू सुओ जाउ दिवराजु सुपसण्णु,
दालिद्दतिमिरतयरु णंइ रविबिंबएणु ।।

* तहिं मुणिवरु हुउ चिरु सिद्धसेणु,
जो सिद्ध विलासिणि तणउ कंतु ।
तहो सीसु जाउ मुणि कणयकि (त्तु)
जो भव्व-कमल-बोहण-दिणिंदु ।।
ये चारों पंक्तियां नयामंदिर धर्मपुराकी अपूर्ण प्रतिमें और सेठके कूचा मन्दिरके शास्त्रभण्डारकी प्रतिमें नहीं हैं। किन्तु आरा सिद्धान्त भवनकी प्रतिमें पाई जाती हैं।

सौ सौके तीन पुरस्कार

निम्न तीन विषयों पर विद्वानोंके निबन्धोंकी जरूरत है। जिनका जो निबन्ध अपने विषयको भले प्रकार स्पष्ट करता हुआ सर्वश्रेष्ठ रहेगा उन्हें उस निबन्ध पर सौ रुपये नकदका पुरस्कार वीरसेवामन्दिरकी मार्फत भेंट किया जायगा। प्रत्येक विषयका निबन्ध फुलिस्केप साइज २५ पच्चीस पृष्ठों अथवा आठसौ ८०० पंक्तियोंसे कमका न होना चाहिये और वह निम्न पते पर वीरसेवामन्दिरमें ३०-६-५७ तक पहुँच जाना चाहिये। जिस निबन्ध पर पुरस्कार दिया जायगा उसे प्रकाशितकरनेका वीरसेवामन्दिरको अधिकार रहेगा।

१. मोक्षमूल और शुद्ध दृष्टि

इन्द्रभूति गौतमके सम्मुख विषयको स्पष्ट करके बतानेके लिये रक्खा गया एक प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है:—

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीव-षटकाय-लेश्या:
पंचान्ये चास्तिकाया व्रत-समितिगति-ज्ञान-चरित्र भेदा।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः
प्रत्येति श्रद्धधाति स्पृशति च मतिमान यः स वै शुद्धदृष्टिः॥

इस श्लोकके पूर्वार्धमें जिन विषयोंका उल्लेख है उन्हें मोक्षमूल बतलाया गया है। वे क्या वस्तु हैं और कैसे मोक्षका मूल है, इसका निबन्धमें अच्छी तरहसे सहेतुक स्पष्टीकरण और व्याख्यान किया जाना चाहिये। और फिर यह खुलासा करके बताना चाहिये कि उस मोक्षमूलका प्रत्यय, श्रद्धान और स्पर्शन क्या है और उसे करके कोई कैसे शुद्ध दृष्टि बनता अथवा बन सकता है।

२. शुभरागकी महिमा और वीतरागकी सर्वोपरिता

इस निबन्धमें शुभरागकी कृतियों, कृतिप्रकारों और उनकी उपयोगिता तथा महिमाको ऐसे अच्छे प्रभावक ढंगसे स्पष्ट करके बतलाना चाहिये जिससे वे मूर्तिमती-सी नजर आने लगें। साथ ही शुभरागके अभावमें संसारकी क्या दशा हो, इसका थोड़े शब्दोंमें सजीव चित्रण भी किया जाना चाहिये। और फिर वीतरागताकी महत्ताको कारण सहित ऐसे रूपमें प्रदर्शित करना चाहिये जिससे वह सबके ऊपर तैरती हुई दृष्टिगोचर हो और उसके सामने शुभरागजन्य सारे ही महिमामय विषय फीके पड़जांय।

३. सरस्वती-विवेक

इस निबन्धमें सरस्वतीके विषयका अच्छा ऊहापोह होना चाहिये और यह स्पष्टरूपसे बतलाना चाहिये कि सरस्वतीदेवी कोई व्यक्ति-विशेष है या शक्ति-विशेष, यदि व्यक्ति-विशेष है तो वह कब कहां उत्पन्न हुई? उसके रूप तथा जीवनकी क्या विशेषताएँ हैं? अब वह कहां अवस्थित है और उसकी पूजा क्यों की जाती है? यदि शक्ति-विशेष है तो उसका आधार कौन है और उस आधारका रूप क्या है? मानवाकृतिके रूपमें उसके जो विभिन्न चित्रादि तथा परिधान पाए जाते हैं उनका तथा वाग्देवी, भारती शारदा और हंसवाहिनी जैसे विशिष्ट नामोंका क्या रहस्य है? साथ ही सरस्वतीकी सिद्धिका अभिप्राय बतलाते हुए यह व्यक्त करना चाहिये कि सरस्वतीके स्तोत्रों और मंत्रोंमें जो उसे सम्बोधन करके प्रार्थनाएँ की गई हैं उनका मर्म क्या है? और वे कैसी फलवती होती अथवा पूरी पड़ती हैं? इस निबन्धके लिये सरस्वतीके कुछ जैन-जैतर स्तोत्रों तथा मन्त्रोंका भी खास तौरसे पहले अवलोकन किया जाना चाहिये।

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
संस्थापक—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली।

महान्-वियोग

दिल्लीकी प्रसिद्ध फर्म हुकमचन्द जगाधरमलके मालिक श्रीमान् पं० महबूबसिंहजी का ७३ वर्षकी आयुमें ता० २६ मार्चको समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवास होगया। आप दिल्ली जैन समाजके प्रतिष्ठित और धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। आप जैन संस्थाओंके पदाधिकारी और सेठके कूचा जैनमन्दिरकी गद्दीके शास्त्र प्रवक्ता थे। आप एक सम्पन्न परिवारको छोड़कर दिवंगत हुए हैं। हम स्वर्गीय आत्माकी शान्ति-कामना करते हुए कुटुम्बीजनोंके इष्टवियोगजन्य दुःखमें समवेदना प्रकट करते हैं।

वीरसेवामन्दिर परिवार

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C.) जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) साहू शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर
२५१) सेठ तुलारामजी नथमलजी लाडनूवाले
.कलकत्ता

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) सेठ लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी कलकत्ता
१०१) बा० शान्तिनाथजी ,,
१०१) बा० निर्मलकुमारजी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ,,
१०१ बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) श्री जयकुमार देवीदास जी, चवरे कारंजा
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली
१०१) ला० चतरसेन विजय कुमार जी सरधना

'वीर-सेवामन्दिर'
२१, दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री वीर सेवामंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली। मुद्रक—रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, देहली

वर्ष १४

किरण १०

विषय-सूची

वीरशासन जयन्ती

वीरशासन-जयन्तीका पावन दिवस इस वर्ष १२ जुलाई सन् १९५७ शुक्रवारके दिन अवतरित हुआ है। श्रावण कृष्णा प्रतिपदा भारतवर्षकी एक प्राचीन ऐतिहासिक तिथि है। इस तिथिसे ही भारतवर्षमें बहुत पहलेसे नव वर्षका प्रारम्भ हुआ करता था। नये वर्षकी खुशियाँ मनाई जाती थीं। देशमें सावनी और आषाढ़ीके विभागरूप जो फसली साल प्रचलित है वह भी उसी प्राचीन प्रथाका संसूचक जान पड़ता है। जिसकी संख्या आज कल गलतरूपमें प्रचलित हो रही है। इतना ही नहीं किन्तु युगका प्रारम्भ, सुखमा-सुखमादि विभागरूप कालचक्रका अथवा उत्सर्पिणी अपसर्पिणी नामक कालोंका प्रारम्भ भी इसी तिथिसे होता है। वीरशासन-दिवसकी झांकी विक्रमकी ५वीं शताब्दीके आचार्य यतिऋषभकी तिलोय-पण्णत्तीकी उस गाथासे होती है। जिसमें बतलाया गया है कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको अभिजित नक्षत्र-बालवकरण और रुद्रमुहूर्तमें युगका प्रारम्भ होता है, ये नक्षत्र करण और मुहूर्त ही, नक्षत्रों, करणों तथा मुहूर्तोंके प्रथम स्थानीय होते हैं इन्हींसे नक्षत्रादिकोंकी गणना प्रारम्भ होती है वह गाथा इस प्रकार है:—

> सावण बहुले पाडिव रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
> अभिजस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं॥ —तिलोयपण्णत्ती १—७०

इस तिथिकी सबसे बड़ी महत्ता यह है कि उक्त श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके पवित्र दिन आजसे अढाई हजार वर्ष पूर्व विश्वके समस्त जीवोंके द्वारा अभिनन्दनीय, अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठाको प्राप्त, पूर्ण-ज्ञानी भगवान महावीरकी दिव्यवाणीका ससारके त्रसित और पीडित जनोंको विपुलाचलके पावन मैदान-में स्थित समवसरण सभामें लाभ हुआ था, उस सभामें मनुष्य और पशु-पक्षियों आदि सभी जीवोंको कल्याण मार्गकी प्राप्ति हुई थी। उनके दुःखोंका अन्त हुआ था—उन्हें अभय मिला था। तब अहिंसाकी दुन्दुभी लोकमें विस्तृत हुई थी। "सुख पूर्वक स्वयं जियो और दूसरोंको भी सुख पूर्वक जीने दो के नादसे उस समय विश्व गुंजित हुआ था। लोकमें धर्म-मार्गकी सृष्टि हुई थी। और जनसमूह अपने कर्त्तव्य अकर्त्तव्यको समझने लगे थे। स्वार्थ भावनाकी होलीजलाई गई थी। स्व-परहितकी साधनाका मार्ग प्रशस्त हो गया था और जनसमूह दुःखोंसे उन्मुक्त होने लगे थे।

इन्हीं सब कारणोंसे इस वीरशासनकी महत्ता और ऐतिहासिकता प्रसिद्ध है। अतः हमारा कर्तव्य है कि इस दिन हम अपने-अपने नगर, ग्राम और शहरादिमें उत्साहके साथ महोत्सव मनायें, सभाओंकी योजना करें। योग्य विद्वानोंके भाषण करायें और वीरशासनकी महत्ताको लोकहृदयोंमें अंकित करें।

—परमानन्द जैन

निवेदन

जिन महानुभावोंको अनेकान्तकी १० किरणें फ्री भेजी गई हैं। और जिन्होंने उसका वार्षिक मूल्य अभी तक भी नहीं भेजा है, उन्हें आगामी संयुक्त किरण वी० पी० से भेजी जावेगी। अतः वे सज्जन इस किरणके पहुँचते ही अपना वार्षिक मूल्य छह रुपया मनिआर्डर द्वारा भेजकर अनुगृहीत करें।

—मैनेजर 'अनेकांत' वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागञ्ज, दिल्ली।

दुखद वियोग

आरा-निवासी बा० निर्मल कुमारजीको स्वर्गवास हुए अभी कुछ समय भी व्यतीत नहीं होने पाया, कि ता० ३ मई को उनकी धर्मनिष्ठा पूज्यनीया माताजीका धर्म-साधन करते हुए स्वर्गवास हो गया है। वीरसेवामन्दिर-परिवार आपके कुटुम्बी जनोंके साथ इस इष्टवियोग-जन्य दुःखमें समवेदना व्यक्त करता है और दिवंगत आत्माको सुख-शान्ति प्राप्त होने की कामना करता है।

शोक-सन्तप्त—

वीरसेवामन्दिर-परिवार

ॐ अर्हम्

वर्ष १४ किरण, १० | वीरसेवामन्दिर, २१, दरियागंज, देहली
ज्येष्ठ, वीरनिर्वाण-संवत् २४८३, विक्रम संवत २०१४ | मई सन् १९५७

श्री महावीर-जिन-स्तवन

त्राताऽत्राता महात्राता, भर्त्ताऽभर्त्ता जगत्प्रभुः ।
वीरोऽवीरो महावीरस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१॥

त्रायते रक्षति जीवानिति त्राता, न विद्यते कोपि त्राता यस्यासौ अत्राता । त्रातृणां रक्षकानां मध्ये महान् योऽसौ महात्राता । बिभर्ति-पोषयति भव्यजनं केवलामृतवर्षणैः पुष्णाति वा उत्तमे स्थाने धरतीति भर्त्ता । इन्द्रियसुखानि न बिभर्ति न पोषयति इति अभर्त्ता । जगतस्त्रैलोक्यस्य प्रभुः स्वामीः । विशिष्टा ई लक्ष्मी राति-ददातीति भक्तानां वीरः । न विद्यते विशिष्टापि राज्यादिका ई लक्ष्मीस्तस्याऽग्रहणं यस्यासौ अवीरः । कर्मारातिपृतना-जयने महान् वीरः सुभटः महावीरः । असि भवसि, नमस्कारोऽस्तु भवतु ते तुभ्यम् ॥१॥

कर्त्ताऽकर्त्ता सुकर्त्ता च धर्म्मोऽधर्म्मश्च धर्म्मदः ।
पूज्योऽपूज्योऽतिसंपूज्यस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥२॥

कं सुखं इयर्ति गच्छतीति कर्त्ता, निश्चयेन कर्मणामकर्त्ता । वा अं शिवं परमकल्याणं करोतीत्यकर्त्ता । शोभना-क्रियाकारकः सुकर्त्ता । संसार-समुद्रे निमज्जतो जन्तून् उद्धृत्योत्तमे पदे देवेन्द्रादौ विषये धरतीति धर्मः । धर्म्मध्यानरहितत्वा-दधर्म्मः । शुक्लध्यानध्यायकत्वाद्वा त्रयोदशमगुणस्थानापेक्षया धर्म्मं चारित्रं ददातीति भव्यानां धर्म्मदः । पूजायां नियुक्तः पूज्यः, वा पूज्यः परमाराध्यः, न विद्यते कोऽपि पूज्यो यस्यासौ अपूज्यः ॥२॥

सिद्धोऽसिद्धः प्रसिद्धश्च बुद्धोऽबुद्धोऽतिबुद्धिदः ।
धीरोऽधीरोऽविधीरश्च त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥३॥

सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः संजाता यस्य स सिद्धः । सिद्धापेक्षया असिद्धः । वा अघातिकर्मसहितत्वादसिद्धः । बुध्यते जानाति सर्वमिति बुद्धः । [न] केनापि संसारिणा जीवेन ज्ञातो यः अबुद्धः । बुद्धिं ददातीति बुद्धिदः । धियं राति

ददातीति भक्तानां धीरः। वा धियं प्रति ईरति प्रेरयति धीरः। न विद्यते धी ज्ञानं यत्र तदधीमूर्खता,तस्या शोषयो रः वह्निरूपो योऽसौ [अधीरः] अविशिष्टा केवलज्ञानबुद्धिः राति गृह्णातीति अविधीरः ॥३॥

हिंसकोऽहिंसकोऽहिंस्यः सधनोऽसधनो धनी।
रूप्यरूपोऽसमोरूपस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥४॥

कर्मणां हिनस्ति विध्वंसयतीति हिंसकः। हिंसातोऽवरहितो योऽसौ अहिंसकः। अहिंस्यः केनापि मारयितुं अशक्यः। सम्यमीचीनो ज्ञानधनो यस्य स सधनः। न विद्यते असमीचीनो हिरण्यादिवस्तुर्यस्यासावसधनः। धनोऽस्यास्तीति धनी, समवसरणविभूतिमत्वात्। रूपो यस्यास्तीति रूपी सौरूप्यः, अतिशयगुणत्वात्। अरूपसिद्धत्वापेक्षया अरूपः, वा जीवत्वापेक्षया। असमो रूपः असदृशोऽप्रतिमो रूपो यस्य सः ॥४॥

देवोऽदेवो महादेवो निधनोऽनिधनः प्रधीः।
योग्यो ऽयोग्योऽतियोग्यश्च त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥ ५ ॥

स्वकीय-ज्ञाने दीव्यति क्रीडतीति देवः, न विद्यते कोपि देवो यस्य स अदेवः। महद्भिरिन्द्रादिभिराराध्यतेऽसौ महादेवः। अकिंचनत्वाद्बाह्याभ्यंतर-परिग्रहरहितत्वात् निधनः। अनिधनः मरणरहितः। प्रधीःप्रकृष्टा धीः ज्ञानं विद्यते यस्यासौ प्रधीः। योगो नैयायिकः, भगवांस्तु ध्यानयोगाद्योगः, योगस्य भावः योग्यः। न विद्यते योगो मनोवाक्कायव्यापारो यस्येति अयोगः, अयोगस्य भावः अयोग्यः। अतियोग्यः यथाख्यातचारित्रे अतियोग्यः, आसन्नभव्यत्वात् ॥५॥

ध्याताऽध्याता महाध्याता सदयोऽसदयोऽदयः।
नाथोऽनाथो जगन्नाथस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥ ६ ॥

मोक्षमार्गस्य प्रकरणत्वात् ध्याता, वा शुक्लध्यानध्यायकः। केनापि मिथ्यादृष्टिना ध्यातुमशक्योऽध्याता। वा यः अन्येषां परद्रव्यादीनां न ध्यायतीति अध्याता। सर्वेषां ध्यातॄणां मध्ये महान्सर्वोत्कृष्टः योऽसौ महाध्याता। दया-संयुक्तः, वा सत्समीचीनोऽयः स्वभावो यस्यासौ सदयः। असद् अविद्यमानो अयः पुण्यस्वभावो यस्यासौ असदयः, पुण्य पापनिराकरणत्वात्। नाथ्यते याच्यते सर्वैरिंद्रादिभिरिति नाथः। न विद्यते कोऽपि नाथो यस्यासौ अनाथः। सर्वेश्वरत्वात् जगतां अधो-मध्योर्ध्वभेदानां नाथः स्वामी जगन्नाथः ॥६॥

वक्ताऽवक्ता सुवक्ता च सस्पृहोऽसस्पृहोऽस्पृहः।
ब्रह्माऽब्रह्मा महाब्रह्मा त्वं देवासि नमोस्तु ते ॥ ७ ॥

वदतीति वक्ता, सप्ततत्त्वानां पदार्थानां च कथकः। न वक्तीति अवक्ता, छद्मस्थत्वात् मौनसहितः। सुष्ठु शोभनो वक्ता सुवक्ता, मनुष्यतिर्यग्सुरलोकभाषासंवादितत्त्वात्। स्पृहया मुक्ति-वांछया सहितो सस्पृहः, छद्मस्थत्वात्। ए आत्मनि परमब्रह्मणि स्पृहासहितो विद्यते योऽसौ असस्पृहः। न विद्यते स्पृहा वांछा यस्यासौ अस्पृहः। बृंहन्ति वृद्धिं गच्छन्ति केवल-ज्ञानादयो गुणा यस्मिन् स ब्रह्मा। अं परमात्मानं बृंहति वर्द्धयति वा वृद्धिं गच्छति योऽसौ अब्रह्मा, गृहस्थावस्थायां परमात्मस्वभावरहितत्वात्। ब्रह्मणां केवलज्ञानवतां मध्येऽपि महान् योऽसौ महाब्रह्मा ॥७॥

देहोऽदेहो महादेहो निश्चलोऽनिश्चलोऽचलः।
रत्नोऽरत्नः सुरत्नाढ्यस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥ ८ ॥

देहोऽस्यास्तीति देही, चरमशरीरत्वात् वा ऽसकलसिद्धत्वात्। न विद्यते देहो यस्यासौ अदेहः, सिद्धत्वात् वा निर्ममत्वात्। महानुत्कृष्टो देहो शरीरो यस्य सः महादेहः, परमौदारिकशरीरवान्। स्वस्थानान्न चलतीति निश्चलः, स्वात्मस्थत्वात्। अनिश्चलः चतुर्दशगुणस्थाने प्राणान्मुक्त्वा आलोकान्तं व्रजति तस्मादनिश्चलः। यः केनापि परीषहादिना न चाल्यते अचलः, शुक्लध्यानाद्वा व्रतात्। महर्घ्यत्वात्सर्वेषां मध्ये पूज्यत्वात् रत्नवद्रत्नः। [न सन्ति पौद्गलिकरत्नानि यस्यासौ अरत्नः।] सुष्ठु अतिशयेन सम्यग्दर्शनादिरत्नैः आढ्यः परिपूर्णो योऽसौ सुरत्नाढ्यः ॥८॥

श्रमण-परंपरा और चांडाल

(डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ)

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गाराऽन्तरौजसम् ॥

भगवान् समन्तभद्र (शककी प्रथम शताब्दी) ने अपने रत्नकरंडश्रावकाचारकी इस २८ वीं कारिकामें सम्यग्दर्शनकी महिमाका वर्णन करते हुए बताया है कि 'सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न होने पर एक जन्म-जात मातंग (श्वपाक या चांडाल) भी देवतुल्य आराध्य या श्रद्धास्पद हो जाता है।' साथ ही यह स्पष्ट करनेके लिये कि यह मत स्वयं उनका अपना ही नहीं है, यह भी लिख दिया कि 'देव' अर्थात् आप्तदेव, तीर्थंकरदेव या गणधरदेव ऐसा कहते हैं।

स्वामी समन्तभद्रकी गणना जैनधर्मके सर्व महान् प्रभावक आचार्योंमें की जाती है। उनके सम्बन्धमें जो अनुश्रुतियां प्राप्त हैं, उनसे विदित होता है कि उन्होंने पंजाबसे लेकर कन्या कुमारी पर्यन्त और गुजरात मालवासे लेकर बंगाल पर्यन्त सम्पूर्ण भारतवर्षमें विहार करके जैनधर्मका अभूतपूर्व प्रचार किया था। श्रमण तीर्थंकरोंके सच्चे प्रतिनिधिके रूपमें वे यह मानते थे कि धर्म तो जीवमात्रका कल्याणकारी है और जीवमात्र उसके अधिकारी हैं। वर्ण, वर्ग, जाति, लिंग, आयु आदि भेद किसी भी व्यक्तिके धर्म-धारण करने और उसका पालन करनेमें बाधक नहीं होते।

वस्तुतः वैदिक आर्योंकी ब्राह्मण-संस्कृति और अध्यात्मवादी तीर्थंकरोंकी श्रमण-संस्कृतिके बीच इसी प्रश्नको लेकर सबसे बड़ा मौलिक मत-भेद था। तीर्थंकरोंके अनुसार धर्म पर प्राणिमात्रका समान अधिकार है, धर्माचरण एवं धार्मिक कृत्योंके करनेमें प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र, समर्थ एवं अधिकृत है। वैदिक-परंपराके ब्राह्मण आचार्योंके मतानुसार प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक जाति, स्त्री, पुरुष, विभिन्न आश्रम (अवस्था) वाले व्यक्तियों, सबके लिये धर्मका विधान अलग-अलग है। किसी एकके द्वारा दूसरेके धर्मका पालन करना अधर्म है एवं वह दण्डनीय है।

अस्तु, वाल्मीकि ऋषिकी रामायणके अनुसार जब शंबूक नामक शूद्र राजाने अपनी मर्यादासे आगे बढ़कर ब्राह्मण और क्षत्रियोंका धर्म पालन करना शुरू कर दिया वह वेद-पाठ और यज्ञ-याग करने लगा तो ब्राह्मण लोग बड़े कुपित हुए और उन्होंने उसकी इस धृष्टता एवं अधर्माचरणके लिये परम न्यायवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्रसे उसे प्राण-दण्ड दिलवाया। महर्षि वेदव्यासकी महाभारतके अनुसार एकलव्य भीलको पांडवों एवं कौरवोंके गुरु द्रोणाचार्यने उसके सर्वप्रकार योग्य एवं विनयशील होते हुए भी अपना शिष्य नहीं बनाया, और जब वह अपने मनोनीत गुरुकी मिट्टीकी मूर्तिके समक्ष ही अभ्यास करके धनुर्विद्यामें द्रोणाचार्यके साक्षात् शिष्यों अर्जुन आदि क्षत्रिय राजकुमारों—से भी अधिक कुशल सिद्ध हुआ तो उन्हीं ब्राह्मण गुरुने उसके दाहिने हाथका अंगूठा गुरु-दक्षिणाकी भेंट चढ़वाकर, भील होनेके कारण ही उस वीरको सदैवके लिये अपंगु बना दिया। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंने तो विधान बना दिये कि कोई शूद्र यदि वेद-वाक्य सुनता हुआ भी पाया जाय तो उसके कानोंमें शीशा पिघलाकर भर दिया जाय, उच्चारण करता पाया जावे तो उसकी जीभ काट ली जाय, इत्यादि।

इसके विपरीत श्रमण-परम्परामें अनेक ऐसी अनुश्रुतियां एवं कथाएँ मिलती हैं जिससे भली प्रकार स्पष्ट है कि सभी वर्णोंके स्त्री पुरुष स्वेच्छासे गृहस्थ श्रावक ही नहीं, मुनि आर्यिका या भिक्षु भिक्षुणी तक बन सकते थे। एक ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न श्रमण साधु और शूद्रकुलमें उत्पन्न श्रमण साधुके बीच न साधु-संघमें कोई भेद किया जाता था और न श्रावक-समाजमें। श्रमण साधु सभी वर्णों, वर्गों और जातियोंके स्त्री पुरुषोंको समान रूपसे धर्मोपदेश देते थे और धर्ममार्गमें आरूढ़ करते थे। जैसी जिसकी वैयक्तिक योग्यता, क्षमता या परिस्थिति होती, उसे वैसा ही नियम, व्रत आदि धारण कराते। एक सर्वभक्षी भील या चांडाल यदि मांसाहारका भी सर्वथा त्याग न कर सका, बल्कि अधिकांश पशु-पक्षियोंके भक्षणसे विरत होनेमें किसी न किसी कारणसे तैयार न हो सका तो उसे केवल कौएके मांसका सर्वथा त्याग करनेका व्रत लेनेके लिये ही मुनिराजने राजी कर लिया। किन्तु इस अति नगण्य त्यागके फलस्वरूप ही उस सर्वभक्षी चांडालके मनोबल एवं आत्मबलमें वृद्धि होने लगी। परीक्षा आई, वह सफल सिद्ध हुआ, परिणाम-स्वरूप आत्मोन्नतिके मार्ग पर तेजीसे बढ़ने लगा।

श्वेताम्बर जैन उत्तराध्ययन सूत्रमें हरिकेशिबल चांडालकी कथा आती है। वह चांडाल-पुत्र होने पर भी जैनेश्वरी

दीक्षा लेकर बड़ा तपस्वी जैन मुनि हुआ। एक बार एक मासोपवासके उपरान्त पारणाके लिए भिक्षाटन करते हुए वह एक ऐसे स्थान पर पहुँच गया जहाँ कुछ ब्राह्मण एक महा यज्ञ कर रहे थे। उसका कृश मलीन शरीर देखकर याजक ब्राह्मणोंने उसकी भर्त्सना की और वहांसे चले जानेके लिये कहा। इस पर समीपके एक तिंदुक वृक्ष पर रहने वाला यक्ष गुप्तरूपसे हरिकेशिबलके स्वरमें उन ब्राह्मणों-से बोला, 'हे ब्राह्मणों! तुम तो केवल शब्दोंका बोझ ढोने वाले हो। तुम वेदाध्ययन करते हो किन्तु वेदोंका अर्थ नहीं जानते।' उन अध्यापक ब्राह्मणोंने इसे अपना अपमान समझा और अपने तरुण कुमारोंको आज्ञा दी कि वे उस दुष्टको पीट दें। अतः वे युवक मुनिको डंडों, छड़ियों, कोड़ों आदिसे पीटने लगे। यह देख कर कोसलिक राजाकी कन्या एवं पुरोहितकी स्त्री भद्राने उन्हें रोका। इतनेमें अनेक यक्षोंने आकर उन ब्राह्मण कुमारोंको मार-पीट कर लहू-लुहान कर दिया। ब्राह्मण डर गये, उन्होंने हरिकेशिबल मुनिसे क्षमा मांगी और चावल आदि उत्तम अन्नाहार उन्हें समर्पित किया।

आहार लेनेके उपरान्त, हरिकेशिबल मुनि उनसे बोले, 'हे ब्राह्मणो! तुम आग जलाकर अथवा पानीसे बाह्यशुद्धि प्राप्त करनेकी चेष्टा क्यों कर रहे हो? दार्शनिक कहते हैं कि तुम्हारी यह बाह्यशुद्धि योग्य नहीं है।'

इस पर ब्राह्मणोंने पूछा, 'हे मुनि हम किस प्रकारका यज्ञ करें और कर्मका नाश कैसे करें?'

मुनिने उत्तर दिया, 'साधु लोग षट्कायके जीवोंकी हिंसा न करके, असत्य भाषण और चोरी न करके, परिग्रह, स्त्रियाँ, सम्मान एवं माया छोड़कर दांतपनसे आचरण करते हैं। वे पांच महाव्रतोंसे संवृत होकर, जीवनकी अभिलाषा न रख कर, देहकी आशा छोड़कर देहके विषयोंमें अनासक्त बनते हैं और इस प्रकार श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।'

ब्राह्मणोंने फिर पूछा, तुम्हारी अग्नि कौन सी है? अग्निकुण्ड कौनसा है? स्रुवा कौनसी है? उपले कौनसे हैं, समिधाएँ क्या हैं? शान्ति कौनसी है? किस होमविधि-से तुम यज्ञ करते हो? और तुम्हारा सरोवर कौनसा है, शान्तितीर्थ क्या है?'

हरिकेशिबलने उत्तर दिया, तपश्चर्या मेरी अग्नि है, जीव अग्निकुण्ड है, योग स्रुवा है, शरीर उपले हैं, कर्म समिधाएँ हैं, संयम शान्ति है। इस विधिसे मैं ऋषियों द्वारा वर्णित यज्ञ करता हूँ। धर्म ही मेरा सरोवर है और ब्रह्मचर्य ही मेरा शान्ति तीर्थ है। इसीमें निमज्जन करके विमल विशुद्ध महामुनि उत्तम पदको प्राप्त करते हैं।'

'बौद्ध संघाचा परिचय' (पृ० २५३-५६) के अनुसार बुद्धके भिक्षु-संघमें श्वपाक नामक चांडाल और सुनीत नामक भंगी महान् साधु हुए थे। दिव्यावदान, उदान, अंगुत्तर निकाय आदि प्राचीन बौद्ध धर्मग्रन्थोंसे भी यही प्रकट होता है कि किसी भी वर्णका व्यक्ति भिक्षु हो सकता था और भिक्षु होनेके उपरान्त उसका पूर्व कुल जाति गोत्र नष्ट हो गये माने जाते थे। इसी प्रकार जैन मूलाचार, भगवती आराधना, आचारांग सूत्र आदिसे भी यही प्रकट होता है कि जैन मुनिका कोई वर्ण, जाति, कुल या गोत्र नहीं होता, गृहस्थ अवस्थाके ये भेद-प्रभेद उसके मुनि होने पर नष्ट हो गये माने जाते हैं।

बौद्धोंके 'मातंग जातक' (नं० ४९७) में गौतमबुद्धके जन्मसे बहुत पूर्व कालकी मातंग ऋषि नामक एक चांडाल-कुलोत्पन्न श्रमण मुनिकी कथा पाई जाता है। वाराणसी नगरीके बाहर एक चाण्डाल कुलमें उसका जन्म हुआ था। जब वह युवा हुआ तो उसने एक दिन मार्गमें वाराणसीके नगर-सेठकी दृष्टमंगलिका नामक सुन्दरी कन्याको देखा। वह अपने उद्यानमें याचकोंको भिक्षा देने जा रही थी। यह ज्ञात होने पर कि मातंग चाण्डाल है, वह उसका मिलना एक अपशकुन मानकर मार्गसे ही वापस लौट गई। निराश याचकोंने मातंगको बहुत मारा। इस अपमानसे दुखी होकर मातंगने उस सेठीके द्वारपर धरना देदिया और कहा कि सेठ-कन्याको लेकर ही वह वहाँसे टलेगा। अन्ततः सेठने उसे अपनी पुत्री सौंप दी। मातंगने उसके साथ विवाह कर लिया, किन्तु थोड़े समय पश्चात् ही वह उसे छोड़कर वन-में चला गया और घोर तपस्या करने लगा। इस बीचमें उसकी स्त्रीने एक पुत्र प्रसव किया जिसका नाम माण्डव्य हुआ। इस बालकको पढ़ानेके लिये स्वेच्छासे बड़े-बड़े वैदिक पण्डित आये, फलस्वरूप माण्डव्य-कुमार तीनों वेदों में पारङ्गत होगया और ब्राह्मणोंकी बड़ी सहायता करने लगा। एक दिन मातंग ऋषि माण्डव्य कुमारके द्वार पर भिक्षा माँगनेके लिये आया। पुत्रने पिताको पहिचाना नहीं और उसके कृश मलिन शरीर आदिके कारण उसका अपमान किया और धक्के देकर बाहर निकलवा दिया। दरिद्र तपस्वीके प्रभावसे माण्डव्य और उसके साथी

ब्राह्मणोंकी बड़ी दुर्दशा हुई और वे मरणासन्न हो गये। दृष्टमंगलिकाने तपस्वी पतिको पहिचान लिया और अपने पुत्रकी भर्त्सना की तथा उसे ऋषिसे क्षमा मांगनेके लिये कहा। मातंग ऋषिका जूठन खाकर माण्डव्य और उसके साथी ब्राह्मण रोग-मुक्त हुए। किन्तु नगरमें सर्वत्र इस अपवादके फैल जानेसे कि वे ब्राह्मण चाण्डालकी जूठन खाकर ठीक हुए हैं, उनका वाराणसीमें रहना कठिन हो गया, अतः वे ब्राह्मण मेज्झ (मध्य राष्ट्रमें) चले गये। मातंग ऋषि भी घूमता-घामता मेज्झ राष्ट्रमें जा पहुँचा। उन ब्राह्मणोंको जब इस बातका पता चला तो उन्होंने उसके विरुद्ध वहाँके राजाको भड़का दिया। राजाने अपने सिपाहियों द्वारा मातंगका बध करवा दिया, राजाके इस कुकर्मसे देवता बड़े कुपित हुए और उन्होंने उस राष्ट्रको उजाड़ दिया। इस घटनाके उल्लेख अन्य कई जातकोंमें भी आये बताये जाते हैं। मातंग-देहज मातंग ऋषिकी पूजा ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भी करते थे। उसे विषय-कषायों पर विजय पानेके कारण देवत्व प्राप्त हुआ था, यह बात बौद्धोंके 'वंसल-सुत्त' की निम्नलिखित गाथाओंसे भी प्रकट है—

तदमिनापि जानाथ यथा मेदं निदस्सनं।
चण्डालपुत्तो सोपाको मातंगो इति विस्सुतो॥
सो यसं परमं पत्तो मातंगो यं सुदुल्लभं।
आगच्छुं तस्सुपट्ठानं खत्तिया ब्राह्मणा बहू॥
देवयानं अभिरुय्ह विरजं सो महापथं,
कामरागं विराजेत्वा ब्रह्मलोकू पगोअहु।
न नं जाति निवारेसि ब्रह्मलोकू पपत्तिया॥

अर्थात्—इस बातके जाननेके लिये मैं एक उदाहरण देता हूँ। कुत्तेका माँस खाने वाले (श्वपाक) चाण्डालका एक पुत्र मातंग नामसे प्रसिद्ध था। उस मातंगको अत्यन्त श्रेष्ठ एवं दुर्लभ यश प्राप्त हुआ था, अनेक क्षत्रिय एवं ब्राह्मण उसकी सेवा करते थे। विषय-वासनाके क्षय-रूपी महान् मार्गसे देवयान (समाधि मरण) पर आरूढ होकर वह ब्रह्मलोकमें गया। ब्रह्मलोककी प्राप्तिमें उसकी जाति या जन्म बाधक नहीं हुआ।

उपरोक्त कथाओं और कथनोंसे प्रकट है कि श्रमण-परंपरा मूलतः जातिभेद-विरोधिनी थी, कम-से-कम धर्माचरण एवं धर्म-फल-प्राप्तिमें वह जाति और कुलको बाधक नहीं मानती थी। उसके अनुसार निम्नतम कोटिका मनुष्य भी सन्मार्गका अनुसरण करके उच्चातिउच्च पद प्राप्त कर *सकता था। वह न केवल मृत्युके उपरान्त देवत्व ही नहीं* प्राप्त कर सकता था, वरन् इस जीवनमें भी लोक-प्रतिष्ठा, पूजा और सत्कार प्राप्त कर लेता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमण-परम्परामें महावीर और बुद्धके जन्मके बहुत पूर्वसे ही चाण्डालोंसे सम्बन्धित इस प्रकार कुछ अनुश्रुतियाँ प्रचलित थीं, कालान्तरमें उनमें और भी वृद्धि हुई होगी। पूर्वोक्त श्लोकमें स्वामी समन्तभद्र द्वारा 'मातंग' शब्दका प्रयोग सामान्यसे कुछ अधिक महत्त्व रखता प्रतीत होता है। क्या आश्चर्य है जो उक्त श्लोककी रचना करते समय उनके ध्यानमें सम्यग्दृष्टि एवं तपस्वी चाण्डाल कुलोत्पन्न गृहस्थों और साधुओंसे सम्बन्धित कुछ ऐसी ही अनुश्रुतियाँ भी रही हों।

विक्रमी सम्वत् की समस्या

(प्रो॰ पुष्यमित्र जैन, आगरा)

विक्रमी सम्वतके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है। श्री राखालदास बनर्जीके अनुसार इस सम्वत्का प्रवर्तक नहपान है, तथा फ्लीटके अनुसार इसका श्रेय कनिष्कको है। जनरल रायल एसियाटिक सोसाइटी १९१४ पृष्ठ ९७१ पर सर जान मार्शल और रैप्सनने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि विक्रम सम्वत्का प्रवर्तक अजेस है। किन्तु स्टेनकोनोके विचारमें इसका श्रेय उज्जयिनीके विक्रमादित्यको है। श्री काशीप्रसाद जायसवालके मतानुसार गौतमीपुत्र शतकर्णी ही विक्रम-सम्वत्का प्रवर्तक है।

इस सम्वत्के निर्णयार्थ बंगाल एसियाटिक सोसाइटीकी दिसम्बर १९११ वाल्यूम ७ नम्बर २ के जनरलमें ऑनरेरी सदस्य डब्ल्यू किंग्स मिल तथा रायल एसियाटिक सोसाइटीके वाइस प्रेसीडेन्ट चापनाने एक विस्तारपूर्वक लेख प्रकाशित किया है, उन्होंने कुशान-वंशीय महाराज कनिष्कको ही विक्रमादित्य निश्चित किया है। इस राजाके लेख मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त जैन मूर्तियों पर पाये गये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि विक्रमादित्य जैन था। बाबू परमेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय, एम॰ ए॰ बी॰ एल॰ सब जजने भी इसी किरणमें 'विक्रम सम्वत्' शीर्षक लेख प्रकाशित किया था। उसके पढ़नेसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रचलित

विक्रम सम्वत्के प्रवर्तक विक्रमादित्य थे। भविष्यपुराणके अनुसार भी इस सम्वत्की स्थापना विक्रमने की थी। अब प्रश्न उठता है कि यह विक्रमादित्य कौन था और उसका समय क्या है?

कालकाचार्यके कथानकसे भी विक्रमादित्यके अस्तित्व पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। कहते हैं कि कालकाचार्यने उज्जयिनीके राजा गर्दभिल्लसे अपनी बहिन सरस्वतीकी मुक्तिके लिये शकराजसे सहायता ली थी। शकराजने गर्दभिल्ल राजाको पराजित करके उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया। अभिधान राजेन्द्र भाग ५ पृष्ठ १२८६ पर कालकाचार्यका समय वीर नि० ४५३ माना गया है। सर्व-सम्मतिसे धर्मप्रभसूरिकी हस्त-लिखित प्रतियोंके आधार पर कालकाचार्यका समय भी वीर सम्वत् ४५३ है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि कालकाचार्य और गर्दभिल्ल समकालीन थे। पुराणोंसे भी ज्ञात होता है कि सात गर्दभिल्ल राजाओं ने राज्य किया। इसके बाद शकोंका राज्य हुआ।

उपरोक्त कथनसे ज्ञात होता है कि वीर संवत् ४६६ में मालवामें शकोंका राज्य स्थापित हो गया। डॉ० स्टेनकोनेके ग्रन्थ 'कारपस इन्सक्रिप्शन इनडिकेरमके लेखसे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि ई० पू० ६० (वीर निर्वाण सम्वत् ४६६) में शकोंका राज्य सिंध, काठियावाड़ और मालवा तक फैल गया था।

जैन मान्यताओंके अनुसार वीर सं० ४७० में विक्रमादित्यका जन्म हुआ। इनके पिताका नाम गन्धर्वसेन था। इनकी माता गुजरातके राजा ताम्रलिप्तकी कन्या मदनरेखा थी। एक वीर बालकने सारे शक वंशका नाश करके समस्त मालवा पर अधिकार कर लिया। इसीलिए शकोंके नाश करनेके कारण इनका नाम शकारि भी पड़ा। वसुनन्दी श्रावकाचारमें मूलसंघकी पट्टावली दी गई है। उसमें विक्रम-प्रबन्धकी निम्न लिखित गाथाएँ विक्रमादित्यके सम्बन्धमें लिखी हुई हैं—

सत्तरि चउसदजुत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।
अठ वरस बाल-लीला सोडस वासेहि भम्मिए देसे॥
पणरस वासे रज्जं कुणेति मिच्छोपदेस-संजुत्तो।
चालिस वासे जिणवर-धम्मं पालीय सुरपयं लहियं॥

अर्थात् विक्रमादित्यका जन्म सम्वत् ४७० में हुआ। उन्होंने आठ वर्ष तक बाल-क्रीड़ा की और सोलह वर्ष तक देशमें भ्रमण किया, पन्द्रह वर्ष तक अन्य धर्मका पालन करते हुए यज्ञ किया और चालीस वर्ष तक जैन-धर्मका पालन करके स्वर्ग को प्रस्थान किया। इससे सिद्ध होता है कि राज्यारोहण के १५ वर्ष पश्चात् विक्रमादित्यने जैनधर्म ग्रहण किया था। वि० सम्वत् विक्रमादित्य के जन्म कालसे माना जाता है, राज्य-कालसे नहीं। जिस सम्वत् ४७० में विक्रमादित्यके जन्मका उल्लेख है वह वीर सम्वत् है, क्योंकि इसमें इस समय के विक्रम सम्वत्, २०१३ को जोड़नेसे ४७०+२०१३=२४८३ प्रचलित वीर सं० आ जाता है। भद्रबाहु द्वितीयके पट्ट पर बैठनेका समय विक्रम राज्य ४ से आरम्भ लिखा हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य वीर सम्वत् ४९४ में २४ वर्ष की अवस्थामें गद्दी पर बैठे। उपरोक्त गाथाके अनुसार भी यही ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य २४ वर्षकी अवस्थामें ४७०+२४ वीर सं० ४९४ में ही गद्दी पर बैठे थे।

जैन ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि काश्मीरके राजा हिरण्य-के कोई पुत्र न था। उसकी मृत्युके पश्चात् वहां अशान्ति फैल गई। विक्रमादित्यने वहां शान्ति स्थापित की और वहां का भी राजा बन गया। उसकी मृत्युके पश्चात् उसके पुत्र विक्रम चरित्र एवं धर्मादित्यने ४० वर्ष राज्य किया। धर्मादित्यके पुत्र भैल्यने ११ वर्ष राज्य किया। इसके बाद नैल्यने १४ वर्ष तथा नहड़ एवं नहदने दस वर्ष राज्य किया। उसके समयमें सुवर्णगिरि शिखर पर १००८ भगवान महावीरके मन्दिरका निर्माण किया गया।

हिन्दू मान्यताओंके अनुसार विक्रमादित्यको शकारि भी कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकारसे की जा सकती है, शकानां अरिः और शकाः अरयो यस्य। इनके सम्बन्धमें दोनों व्युत्पत्तियां ठीक जँचती हैं, क्योंकि इन्होंने शकोंका नाश किया और अन्तमें उन्हींके षड्यंत्रोंसे वीरगति प्राप्त की। जैन-ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि शकोंने षड्यंत्र-द्वारा समुद्रपाल योगी द्वारा विक्रमादित्यकी हत्या करा डाली।

विक्रमादित्यके सम्बन्धमें उपरोक्त वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है कि विक्रम सम्वत्के संस्थापक विक्रमादित्य है, जिनका जन्म वीर निर्वाण सं० ४७० में हुआ था।

नोट—लेखकने विक्रम संवत्को विक्रमके जन्मकालका बतलानेका प्रयत्न किया है। पर वह जन्मका सम्वत् नहीं है किन्तु मृत्युका सम्वत् है जैसा कि निम्न प्रमाणोंसे प्रकट है—विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स—देवसेन,दर्शनसार। 'समारूढे त्रिदिववसतिं विक्रमनृपे, सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।' आदि—अमितगति सुभाषित-रत्न सन्दोह।

—परमानन्द जैन

राजस्थानके जैनशास्त्र-भंडारोंसे हिंदीके नये साहित्यकी खोज

(कस्तूरचन्द काशलीवाल, एम. ए. शास्त्री)

भारतीय विद्वानोंने हिन्दी भाषा एवं उसके साहित्यकी जो अमूल्य सेवाएँ की हैं वे इतनी विस्तृत एवं गहरी हैं कि हम अभी तक उस विस्तार एवं गहराईका पता लगानेमें असमर्थ रहे हैं। वर्तमान शताब्दीकी तरह प्राचीन शताब्दियोंमें भी हजारों साहित्यिकोंने विपुल साहित्य लिखकर हिन्दी भाषाकी सर्वांगीण उन्नति करनेमें अथक परिश्रम किया था। १३-१४वीं शताब्दीसे ही विद्वानोंका ध्यान हिन्दी भाषाकी ओर जाने लगा था और उन्होंने हिन्दीमें रचना करना प्रारम्भ कर दिया था। भारतके उत्तर प्रदेशको छोड़ शेष प्रान्तोंकी अपेक्षा राजस्थानमें ऐसे विद्वानोंकी संख्या अधिक रही और वहाँके निवासियोंने हिन्दी-साहित्यको अधिक प्रोत्साहन दिया। लेकिन दुःखके साथ लिखना पड़ता है कि उनकी सेवाओंके अनुसार हम उनका मूल्यांकन नहीं कर सके और न उनके प्रति कोई सम्मान ही प्रकट कर सके। यद्यपि हिन्दी साहित्यके इतिहासमें बहुतसे विद्वानोंका परिचय दिया जा चुका है तथा इसके अतिरिक्त भी विभिन्न लेखों, रिपोर्टोंमें, पुस्तकोंमें बहुतसे अज्ञात हिन्दी विद्वानोंका परिचय दिया जा चुका है किन्तु अब भी सैकड़ों ऐसे विद्वान् हैं जिनके सम्बन्धमें अभी तक कुछ भी नहीं लिखा गया है तथा बहुत सी ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हें हम भुला चुके हैं। इसका प्रमुख कारण राजस्थानमें स्थित जैन ग्रन्थ-भण्डारोंके महत्त्वको नहीं आंका जाना है। इन भण्डारोंमें संग्रहीत साहित्यको प्रकाशमें लानेकी ओर न तो जैनोंने ही ध्यान दिया और न जैनेतर विद्वानोंने ही उनके अभावको महसूस किया। नहीं तो जिन्होंने हिन्दी साहित्यके विकासकी नींव लगायी थी उन्हें भुलानेका हम साहस नहीं कर सकते थे।

गत कुछ वर्षोंसे राजस्थानके जैन-भण्डारोंके आलोकन एवं सूची प्रकाशनका जो थोड़ा बहुत कार्य किया जा रहा है उससे हिन्दीकी बहुत सी नवीन रचनाएँ सामने आयी हैं। ये रचनाएँ सभी विषयोंसे सम्बन्धित हैं तथा जैन एवं जैनेतर दोनों ही विद्वानोंकी लिखी हुई हैं। बहुत दिनोंसे ऐसी एक लेखमाला प्रारम्भ करनेका विचार था जिसमें अज्ञात रचनाओंका परिचय होता। लेकिन सूची-प्रकाशन एवं अन्य ग्रन्थोंके सम्पादन कार्यमें व्यस्त रहनेके कारण इस लेखमालाको प्रारम्भ नहीं किया जा सका। अब उस लेखमालाको प्रारम्भ किया जा रहा है। लेखमें प्राचीन एवं महत्वपूर्ण रचनाओंका परिचय देनेका प्रयत्न किया जावेगा। आशा है इससे हिन्दीकी विस्मृत रचनाओंको प्रकाशमें लानेके कार्यमें सफलता मिलेगी।

१. तत्त्वसार दूहा—

भट्टारक शुभचन्द्र १६वीं शताब्दीके प्रमुख विद्वान् हो गये हैं। ये भट्टारक सकलकीर्तिकी शिष्य-परम्परामेंसे थे। शुभचन्द्र संस्कृत भाषाके उच्च कोटिके विद्वान थे तथा षट् भाषा-चक्रवर्ती, त्रिविध विद्याधर आदि उपाधियोंसे अलंकृत थे। संस्कृतभाषामें इनकी ४० से भी अधिक रचनाएँ मिलती हैं। इन्हींके द्वारा हिन्दी भाषामें निर्मित तत्त्वसार दूहा अथवा दोहा अभी जयपुरके ठोलियोंके जैन मन्दिरके शास्त्र-भण्डारमें उपलब्ध हुआ है। रचनामें जैन सिद्धान्तके अनुसार सात तत्त्वोंका वर्णन किया गया है इसलिये यह सैद्धान्तिक रचना है। तत्त्वोंके अतिरिक्त अन्य कितने ही साधारण जनताके समक्षमें आने वाले विषयोंको भी कविने रचनामें लिया है। सोलहवीं शताब्दीमें ऐसी रचनाओंके अस्तित्वसे यह प्रकट होता है कि उस समय हिन्दी भाषाका अच्छा प्रचलन था, तथा कथा, कहानी, पद एवं रासाओं एवं काव्योंके अतिरिक्त सैद्धान्तिक विषयों पर भी रचनाएँ लिखा जाना प्रारम्भ हो गया था।

तत्त्वसार दोहामें ९१ पद्य हैं जिनमें दोहे और चौपाई दोनों ही शामिल हैं। भ० शुभचन्द्रका गुजरात प्रमुख केन्द्र होनेके कारण रचनाकी भाषा पर गुजरातीका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह रचना 'दुलहा' नामक श्रावकके अनुरोधसे लिखी गई थी क्योंकि विद्वान् लेखकने उसको कितने ही दोहोंमें सम्बोधित किया है :—

रोग रहित संगीत सुखी रे, सपदा पूरण ठाण।
धर्म बुद्धि मन शुद्धिडी, 'दुलहा' अनुक्रमि जाण ॥४॥

मोक्षके स्वरूपका वर्णन करते हुए कविने लिखा है—

कर्म कलंक विकारनो रे निःशेष होय विनाश।
मोक्ष तत्त्व श्री जिन कही, जाणवा भावु अल्पास ॥२६

आत्माका वर्णन करते हुए कविने लिखा है किसीकी आत्मा ऊँची अथवा नीची नहीं है, कर्मोंके सम्पर्कके कारण उसे उच्च, नीचकी संज्ञा दे दी जाती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र कोई वर्ण नहीं है, क्योंकि आत्मा तो राजा है वह शूद्र कैसे हो सकता है—

उच्च नीच नवि अप्पा हुवि,
कर्म कलंक तणो की तु सोइ।

बंभण क्षत्रिय वैश्य न शुद्र,
अप्पा राजा नवि होय क्षुद्र ॥७०॥

आत्माके विषयमें अन्य पद्योंमें लिखा है—

अप्पा धनि नवि नवि निर्धन्न,
नवि दुर्बल नवि अप्पा धन्न।
मूर्ख हर्ष द्वेष नवि ते जीव,
नवि सुखी नवि दुखी अतीव ॥७१॥

कविकी यह रचना कब समाप्त हुई थी इसके संबन्धमें तो शुभचन्द्रने कोई संकेत नहीं दिया है। परन्तु अपने नामका उल्लेख रचनामें दो तीन स्थानों पर अवश्य किया है। अन्तमें रचना समाप्त करते हुये इसमें अपना नामोल्लेख निम्न रूपसे किया है—

ज्ञान निज भाव शुद्ध चिदानन्द,
चींततो मूको माया मोह गेह देहए।
सिद्ध तणां सुखजि मल हरहि,
आत्मा भावि शुभ एहए।
श्री विजयकीर्त्ति गुरु मनि धरी, ध्याऊँ शुद्ध चिद्रूप।
भट्टारक श्री शुभचन्द्र भणि था तु शुद्ध सरूप ॥६१॥

२. अध्यात्म सवैयाः—

यह कविवर रूपचन्दकी रचना है जो १७वीं शताब्दीके एक उच्च आध्यात्मिक कवि थे। यद्यपि कविकी कितनी ही रचनाएँ तो पहिले ही प्रचलित हैं, तथा पंच मंगल जैसी रचना तो सभीको याद है। किन्तु यह रचना अभी तक प्रकाशमें नहीं आयी थी, तथा कविकी अभी तक उपलब्ध पंच मंगल, परमार्थ दोहा शतक, परमार्थ गीत तथा, नेमिनाथ रासो आदि से यह भिन्न रचना है। यह रचना भी जयपुरके ठोलियोंके मन्दिरके शास्त्र-भण्डारमें उपलब्ध हुई है।

अध्यात्म सवैया कविकी एक अच्छी रचना है जो अध्यात्म रससे ओत-प्रोत है। अध्यात्मवादका कवि द्वारा इसमें सजीव वर्णन हुआ है। विषयकी दृष्टिसे ही नहीं, किन्तु भाषा एवं शैलीकी दृष्टिसे भी यह उच्च रचना है। कविने आत्मा, परमात्मा, संसार-स्वरूप आदिका जो उत्कृष्ट वर्णन किया है वह कविकी प्रगाढ़ विद्वत्ताकी ओर संकेत करता है। ऐसा मालूम होता है कि मानो कविवर रूपचन्द इस विषयके माहिर विद्वान् थे। रचनामें १०१ पद्य हैं जिनमें सवैया इकतीसा, सवैया तेईसा, कुण्डलिया आदि छन्दोंका प्रयोग हुआ है।

कविने यह रचना कब लिखी थी इसका कहीं उल्लेख नहीं किया गया है। कविने अपने विषयमें भी कुछ नहीं लिखा है। अधिकांश छन्दोंके अन्तिम चरणोंमें 'चन्द' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा अन्तमें 'इति श्री अध्यात्म रूपचन्द कृत कवित्त समाप्त' यह लिखा हुआ है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि यह रचना कविवर रूपचन्द-द्वारा निबद्ध है। किन्तु १५वें, १६वें पद्यमें 'तेज कहे' यह भी लिखा हुआ है। कविवर रूपचन्द संसारका स्वरूप वर्णन करते हुये कहते हैं:—

एक वट बीज मांहि बूंटो प्रतभास्यौ एक,
एक बूंटा मांहि सो अनेक बीज लगे हैं।
अनेकमें अनेक बूंटा, बूंटामें अनेक बीज,
असे तो अनंत ग्यान केवलीमें जगे हैं॥
असी ही अनंतता अनंत जीव मांहि देखी,
असे ही संसारका सरूप माहि पगे हैं।
कोई समौ पाव कै, सरीर पायौ मानव कौ,
सुध ग्यान जान मोख मारग कुं वगे हैं ॥२६॥

संसारी प्राणीकी दशाका चित्र निम्न शब्दोंमें उपस्थित किया गया है —

जीवतकी आस करै, काल देखै हाल डरै,
डोले च्यारू गति पै न आवै मोक्ष मग मैं॥
माया सौं मेरी कहै मोहनीसौं सीठा रहै,
तापै जीव लागै जैसा डांक दिया नग मैं॥
घर की न जानै रीति पर सेती मांडे प्रीति,
वाटके बटोई जैसे आइ मिलै वग मैं॥
पुग्गल सौं कहै मेरा जीव जानै यहै डेरा,
कर्म की कुलफ दीयै फिरै जीव जग मैं ॥३०॥

सज्जन पुरुषका कविने जो वर्णन किया है वह कितना सुन्दर एवं स्पष्ट है इसे देखिये—

सज्जन गुनधर प्रीति रीति विपरीत निवारै।
सकल जीव हितकार सार निजभाव संभारै॥
दया सील संतोष पोष सुख सब विध जानै।
सहज सुधारस स्रवै तजै माया अभिमानै॥
जानै सुभेद पर भेद सब निज अभेद न्यारौ लखै।
कहै 'चंद' जहां आनन्द अति जो शिव सुख पावै अखै

एक स्थान पर क्षमाकी प्रशंसामें कविने जो लिखा है वह भी कितना रुचिकर है —

खिमा अलख है खेम खिमा सज्जन षट् काइक।
खिमा खिपै परभाव खिमा निज गुन सुखदायक॥

खिमा अहल पद लहै खिमा चंचल पद त्यागै।
खिमा क्रोध रिपु हनै खिमा निज मारग लागै॥
जागै जग तज आप मैं भागै चम मिथ्यात मल।
खिमा सहज सुख सासतो अविनासी प्रगटै अचल॥६६

इस तरहसे अध्यात्म सवैया हिन्दी भाषाकी एक अच्छी रचना है जिसका मनन करनेसे व्यक्तिका भटकता हुआ मन शुद्धोपयोगकी ओर लग सकता है। कविने प्रारम्भिक पद्यमें भी मंगलाचरण न करके उसमें भी अध्यात्मकी ही गंगा बहायी है तथा 'अनुभव' अर्थात् चिंतन, मनन ही आत्माके विकासका एक मात्र साधन है तथा उसीसे स्वपरका विवेक हो सकता है यही सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है —

अनुभौ अभ्यास में निवास सुध चेतन कौ,
अनुभौ सरूप सुध बोध को प्रकास है।
अनुभौ अनूप उपरहत अनत ग्यान,
अनुभौ अनीत त्याग ग्यान सुख रास है॥
अनुभौ अपार सार आप ही कौ आप जानै,
आपही में व्याप्त दीसै जामैं जड नास है।
अनुभौ अरूप है सरूप चिदानंद चंद,
अनुभौ अतीत आठ कर्म स्यौं अफास है॥१॥

(३) उपदेश दोहा शतक

हेमराज १७-१८वीं शताब्दीके हिन्दीके श्रेष्ठ गद्य लेखक हो गये हैं। इन्होंने प्राकृत एवं संस्कृत भाषामें निबद्ध पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, गोमट्टसार कर्मकाण्ड, परमात्मप्रकाश आदि कितनी ही रचनाओंकी हिन्दी गद्यमें टीकाएँ लिखी हैं। इनकी भाषा सरल, सुसंस्कृत एवं भावपूर्ण है। अब तक इनकी १२ रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पद एवं गीत भी मिले हैं। हेमराज सांगानेर (जयपुर) में उत्पन्न हुए थे तथा कामांगढ जाकर रहने लगे थे जहाँ कीर्तिसिंह नामक नरेश शासन करता था। साधारणतः कविका साहित्यिक जीवन सम्वत् १७०१ से १७३० तक माना जाता है। लेकिन सम्वत् १७४२ में इन्होंने रोहिणीव्रत-कथाको समाप्त किया था जिसकी एक प्रति मस्जिद खजूर देहलीके जैन मन्दिरके शास्त्र-भण्डारमें मिलती है।

'उपदेश दोहा शतक' नामक रचना अभी कुछ समय पूर्व जयपुरके ठोलियोंके जैन मन्दिरमें शास्त्र-सूची बनाते समय मिली है। उपदेश दोहाशतक एक सुभाषित रचना है जिसमें सभी विषयों पर दो-चार दोहे लिखकर कविने अपनी विद्वत्ताका परिचय दिया है। हेमराजमें थोड़े शब्दोंमें अधिक कहनेकी कितनी क्षमता है यह इस रचनासे मालूम पड़ जाता है। सभी दोहे सुन्दर एवं अर्थ-बहुलताको लिये हुये हैं। कविने इसे सम्वत् १७२५ में समाप्त किया था जैसा कि शतकके निम्न दोहोंसे जाना जा सकता है—

उपजौ सांगानेरि कौं, अब कामांगढ वास।
वहाँ हेम दोहा रचे, स्वपर बुद्धि परकास॥९८॥
कामांगढ़ सूवस जहां, कीरतिसिंह नरेस।
अपने खडग बल बसि किये, दुर्ज्जन जितके देस॥ ९
सतरह सै पचीस कौं, बरतै संवत सार।
कातिग सुदि तिथि पंचमी पूरन भयो विचार॥१००॥
एक आग रे एक सौ, कीये दोहा छंद।
जो हित दै बांचै पढै, ता उरि बढै आनन्द॥१०१॥

कविने देहको दुर्जन मनुष्यसे उपमा दी है। जैसे दुर्जनको चाहे कितना ही खिलाया पिलाया जावे, अथवा प्रसन्न रखा जावे, किन्तु अन्तमें वह अवश्य धोखा देता है उसी तरह इस शरीरकी भी दशा है। इसे चाहे कितना ही स्वस्थ रखा जावे, पर यह भी एक न एक दिन अवश्य धोखा देता है—

असन विविध विंजन सहित, तन पोषत थिर जानि।
दुरजन जनकी प्रीति ज्यौं, देहै दगौ निदानि॥१२॥

भगवानके दर्शनोंके लिये यह मनुष्य स्थान-स्थान पर घूमता है किन्तु परमात्मा उसके घटमें विराजमान है जिन्हें वह कभी देखनेका प्रयत्न नहीं करता।

ठौर ठौर सोधत फिरत, काहे अंध अवेव।
तेरे ही घट में बसो, सदा निरंजन देव॥२५॥

कवि कहता है कि जन्म, मृत्यु और विवाह इन तीनोंमें ही समान बातें होती हैं। लोग मिलने आते हैं, बाजे बजते हैं, पान खाये जाते हैं और इत्र एवं गुलाल लगाई जाती है इसलिये क्यों फिर एकके प्राप्त होने पर प्रसन्न होते हैं तथा दूसरे समयमें विषाद करते हैं—

मिलै लोग बाजा बजै, पान गुलाल फुलेल
जनम मरण अरु ब्याहमें, है समान सौं खेल॥३६॥

कविने कंजूसको दानीकी पदवी किस व्यंग्यके साथ दी है—

खाइ न खरचै लच्छि कौ, कहै कृपन जग जांहि।
बडौ दानि वह मरत ही, छोडि चल्यो सब तांहि॥६६

इसी तरहके सभी दोहे कविने चुन-चुन करके अपने दोहा शतकमें रखे हैं।

(श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजीके अनुसन्धान विभागकी ओरसे)

अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त

(प्रो० देवेन्द्रकुमार, एम० ए०)

महाकवि स्वयंभूके बाद, पुष्पदन्त ही अपभ्रंश-के महान् कवि हुए। अपने विषयमें कविने अपनी कृतियोंमें जो कुछ लिखा है, उसके साक्ष्य पर इतना ही कहा जा सकता है कि वह कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे और उनके माता-पिता का नाम मुग्धादेवी और केशव भट्ट था। प्रारम्भमें कवि शैव थे, और उसने भैरव नामक किसी शैव राजाकी प्रशंसामें काव्य रचना भी की थी, परन्तु बादमें वह मान्यखेट आने पर, मंत्री भरतके अनुरोधसे जिनभक्तिसे प्रेरित होकर काव्य-रचना करने लगे। (महापुराण १ पृ० ७)। उनके व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी जानकारी नहीं मिलती, परन्तु उनकी उक्तियोंसे यही अनुमान होता है कि वह उग्र स्वाभिमानी और एकान्त-प्रेमी जीव थे।

जन्मभूमि और समय—अपने जन्म-स्थान और समयके सम्बन्धमें भी कविने कोई विशेष सूचना नहीं दी, उन्होंने केवल इतना ही लिखा है कि मान्यखेटमें ही मैंने अधिकांश साहित्य रचा। श्री नाथूराम प्रेमी उन्हें 'दक्षिण' में बाहर से आया मानते हैं, उनका कहना है कि एक तो अपभ्रंश साहित्य उत्तरमें लिखा गया और दूसरे पुष्पदन्तकी भाषामें द्रविड शब्द नहीं है १। कुछ मराठी शब्द होनेसे उन्हें विदर्भका होना चाहिए।' पर इसके लिए ठोस प्रमाणकी आवश्यकता है। अपभ्रंश एक व्यापक काव्य भाषा थी, अतः किसी भी प्रांतका निवासी उसमें लिख सकता था। डॉ० पी० एल० वैद्य 'डोड्ड, बोड्ड' आदि शब्दों को द्रविड समझते हैं। कविने यह तो लिखा है (म० पु० १ पृ० ३०८,३१२) कि वे मान्यखेट पहुँचे, पर कहांसे यह नहीं लिखा। इस कालमें विदर्भ साधनाका केन्द्र था, हो सकता है वे वहीं से आये हों। सौभाग्यसे कविके समय-को ठीक रूपसे निश्चित करनेकी सामग्री उपलब्ध है। उन्होंने धवल और जयधवल ग्रन्थोंका उल्लेख किया है, जयधवला टीका जिनसेन (वीरसेनके शिष्य) ने अमोघवर्ष प्रथम (८३७) के समयमें पूर्ण की थी। णायकुमार चरिउकी प्रस्तावनामें मान्यखेट नगरीके वर्णन-प्रसंगमें कवि कहता है कि वह राजा कन्हराय 'कृष्णराज' की कृपाण-जल-वाहिनीसे दुर्गम है। वैसे राष्ट्रकूट वंशमें कृष्ण नामके तीन राजा हुए हैं, परन्तु उनमें पहला शुभ-तुंग उपाधिधारी कृष्ण नहीं हो सकता; क्योंकि उसके बाद ही अमोघवर्षने मान्यखेटको बसाया था। दूसरा कृष्ण भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके समय गुणभद्रने उत्तरपुराणकी रचना की थी, और यह पुष्पदंतके पूर्ववर्ती कवि हैं। अतः कृष्ण तृतीय ही इनका समकालीन था। कविके वर्णित कई विव-रण इसके साथ ही ठीक बैठते हैं। उन्होंने लिखा है "तोडेप्पिणु चोडहो तणउ सीसु"। इतिहास से यह भलीभाँति सिद्ध है कि कृष्ण तृतीयने 'चोल देश' पर विजय प्राप्त की थी। कविने धारा-नरेश द्वारा मान्य-खेटकी लूटका उल्लेख किया है १। यह घटना कृष्ण तृतीयके बादकी और खोट्टिगदेवके समयकी है। धनपालकी 'पाइयलच्छी' कृतिसे भी सिद्ध है कि वि० सं० १०२६ में मालव-नरेशने मान्यखेटको लूटा २। यह धारा-नरेश हर्षदेव था जिसने खोट्टिग-देवसे मान्यखेट छीना था। ३ अतः कविका कृष्ण तृतीयके समकालीन होना निर्विवाद है। परन्तु एक शंका यह है कि जब महापुराण शक सं० ८८८ में पूरा हो चुका था और उक्त लूट शक स० ८९४ में हुई तब उसका ल्लेउख कैसे कर दिया गया। हम समझते हैं उक्त संस्कृत श्लोक प्रक्षिप्त हैं ४। यशस्तिलक-

१ (जैन-साहित्य और इतिहास पृ० ३०२)

१ धारानाथ-नरेन्द्र-कोप-शिखिना दग्धं विदग्धं प्रियं क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदंतः कविः।

२ विक्कमकालस्स गए अउणत्तिसुतीरे सहस्सम्मि मालव-नरिंद धाडीए लूडिए मरणखेडम्मि"

३ ग्वालियरका शिलालेख एपि ग्राफिका इंडिका जि० १ पृ० २२६)

४ श्री जुगलकिशोर मुक्तारने जसहर चरिउकी अंतिम प्रशस्तिके आधार पर, कविको बहुत बादका माना था। पर अब उक्त प्रशस्ति प्रक्षिप्त सिद्ध हो चुकी है।

चम्पूके लेखकने जिस समय अपना ग्रन्थ समाप्त किया था, उस समय कृष्ण तृतीय मेलपाटीमें पड़ाव डाले पड़ा हुआ था। सोमदेवने भी उसे चोल-विजेता बताया है अतः पुष्पदंत और वह समकालीन सिद्ध होते हैं। कवि शक सं० ८८१ में मेलपाटी पहुँचे थे, तभीसे उन्होंने अपनी साहित्य-साधना शुरू की।

आश्रय और आश्रय-दाता—कवि क्रमशः भरत और नन्नके आश्रयमें रहे। ये दोनों ही महामात्य वंशके प्रतापशाली और प्रभावशाली मंत्री थे। कवि जो इनकी प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते उसमें कुछ सचाई अवश्य है, क्योंकि वे शस्त्रज्ञ और शास्त्रज्ञ दोनों थे। भरतमें दो गुण बहुत अच्छे थे एक तो उन्हें साहित्यसे प्रेम था और दूसरे मानव-स्वभावकी अच्छी परख थी। पुष्पदंत जैसे उग्रभावुक और स्वाभिमानीको अपने घर रखकर उनसे इतना काम ले लेना भरतके लिए ही संभव था। मेरी धारणा यह है कि मान्यखेट आनेके पहले ही वह साहित्य जगत्में कीर्ति अर्जित कर चुके थे तभी उन्हें भरतने अपने पास रखा। समय-समय पर वह कविको प्रेरणा भी देते रहते थे। इन दोनोंकी कैसी पटती थी, एक घटनासे इसका पता चल जायगा। आदिपुराण लिखनेके अनंतर कविका मन काव्यसे उदासीन हो उठा। इस पर भरतने उनसे कहा, "तुम उन्मन और निष्प्रभ क्यों हो, तुम्हारा मन ग्रन्थ-रचनामें क्यों नहीं है ? क्या किसीने तुम्हें विरत कर दिया है, या मुझसे कोई अपराध हो गया है ? लो मैं हाथ जोड़कर तुम्हारे आगे बैठा हूँ, तुम्हें वाणी-रूपी कामधेनु सिद्ध है, तुम उसे क्यों नहीं दुहते।' यह सुनकर कविने लिखना स्वीकार कर लिया। भरतके बाद उनके पुत्र नन्नके आश्रय में कवि रहे। यह राजा वल्लभका गृहमंत्री था। जसहर चरिउकी रचना इसीके घर हुई। कविने जो 'तुडिग' राजाका उल्लेख किया है, वह असलमें कृष्णका घरेलू नाम था। इसके अतिरिक्त उसने वल्लभराय, वल्लभनरेंद्र, शुभतुंगदेवका भी उल्लेख किया है इनमें 'वल्लभराय' राष्ट्रकूट नरेशोंकी उपाधि थी जो उन्होंने चौलुक्य-नरेशोंको जीतनेके उपलक्षमें ग्रहण की थी, शेष, इस वंशके ऐतिहासिक राजा हैं।

काव्य-कृतियाँ— इनकी कुल तीन रचनाएँ प्राप्त हैं, महापुराण, णायकुमारचरिउ और जसहरचरिउ। प्रेमीजीका अनुमान है कि हेमचन्द्रने अपनी देशी नाममालामें 'अभिमान-चिन्ह' नामके जिस शब्द-कोषकारका उल्लेख किया है, वह पुष्पदन्त ही होना चाहिए। क्योंकि इनकी भी यह एक उपाधि थी, संभव है इन्होंने कोई शब्द-कोष लिखा हो, पर अभी इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं मिला। महापुराणमें कविने त्रेसठ शलाका पुरुषोंका वर्णन किया है। यह ग्रन्थ श० सं० ८८१ में शुरू कर ८८७ में पूरा किया, 'जसहर चरिउ' की समाप्ति तक मान्यखेट लूटा जा चुका था। महापुराणमें मुख्य रूपसे आदिनाथ, राम और कृष्णका जीवन विस्तारसे है। पर इसमें कथा-सूत्र न तो सम्बद्ध है और न धारावाहिक। चरित्रोंके आधार पर इसके कई खंड हो सकते हैं। संधिके संकोच विस्तारका भी कोई नियम नहीं है। कोई संधि ११ कड़वकोंमें पूरी होती है तो कोई ४० में। वस्तुतः पुराण-काव्योंकी शैलीमें कथा-विकासका उतना महत्त्व नहीं है जितना कि पौराणिक आख्यानोंको काव्यका पुट देकर संवेदनीय बनानेका। काव्यात्मक वर्णनोंके सिवा काव्य रूढ़ियोंका समावेश भी इसमें है। पुराण काव्य अनेक चरित्रोंका संग्रह ग्रन्थ है, और कवि उनको इसलिए निबद्ध करना चाहता है क्योंकि वे धर्मके अनुशासनके आनन्दसे भरे हुए हैं। यह श्रोत वक्ता शैलीमें है। समूचा काव्य १०२ परिच्छेदों और ३ खंडोंमें पूरा हुआ है। णायकुमारचरिउ रोमांटिक कथा काव्य है, इसकी रचनाका लक्ष्य श्रुतपंचमीके व्रतका महत्त्व दिखाना है। राजा जयंधरका सापत्न्य पुत्र नागकुमार इसका नायक है, वह सौतेली माँके व्यवहारसे तंग आकर घरसे चला गया। प्रवासमें उसने बहुतसे रोमांटिक और साहसिक कार्य किए। अन्तमें कवि बताता है कि कुमारको यह लोकोत्तर रूप श्रुतपंचमी व्रतके अनुष्ठानसे प्राप्त हुआ! जसहरचरिउ, वस्तुतः संवेदनीय काव्य है। यौधेय देशका राजा मारिदत्त भैरवाचार्यके कहनेसे नर-बलि देने लगा। इसके लिए कुमार साधु अभयरुचि और

उसकी साध्वी बहिनको राज-कर्मचारी पकड़ कर ले आए। उन्होंने यज्ञ-स्थल पर ही अपनी पूर्व कथा सुनाई, उससे जब मारिदत्तको यह ज्ञात हुआ कि ये उसके सम्बन्धी हैं तो वह विरक्त हो उठा। इस काव्यकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि कथानकका विकास नाटकीय ढंगसे होता है। सारी कथावस्तु बालक अभिरुचि अपने मुखसे कहता है, इसका सारा कथानक धार्मिक और दार्शनिक उद्देश्योंसे भरा है कथाके चलते प्रवाहमें आध्यात्मिक संकेत भी हैं। लेखक एक हद तक मानवीय करुणाको स्पंदित करनेमें समर्थ है। आदर्श ऊँचा है और उत्तम पुरुषमें होनेसे शैली आत्मीय है।

उद्देश्य और विचार :— कविने अपने साहित्यका उद्देश्य स्पष्ट रूपसे रक्खा है, उनकी साहित्य-संबंधी धारणा भी सुलझी हुई हैं, निश्चय ही उसका उद्देश्य धार्मिक है। कविका कथन है कि भैरव-नरेशकी स्तुति-काव्य बनानेसे जो मिथ्यात्व उत्पन्न हुआ था, उसे दूर करनेके लिए उसने (म० पु० १, पृ० ४) महापुराणकी रचना की १। उनकी समस्त रचनाएँ जिनभक्तिसे उसी तरह ओत-प्रोत हैं जिस तरह तुलसीकी रामभक्तिसे। कवि मन्त्री भरतसे कहते हैं "लो तुम्हारी अभ्यर्थनासे मैं जिन-गुण-गान करता हूँ२, पर धनके लिए नहीं, केवल अकारण स्नेहसे"३। एक स्थल पर वे कहते हैं कि जिन-पद-भक्तिसे मेरा काव्य उसी तरह फूट पड़ता है जिस प्रकार मधुमासमें कोयल आम्र-कलिकाओंसे कूज उठती है। उपवनमें भ्रमर गूँजने लगते हैं और कीर आनन्दसे भर उठते हैं ४। कविने सरस्वतीकी जो वंदना की है उससे उसकी काव्य-संबंधी धारणा स्पष्ट हो जाती है। वह कहते हैं, 'कोमल पद पर कल्पना गूढ़ हो, भाषा प्रसन्न किन्तु गंभीर होनी चाहिए। छंद और अलंकार काव्यकी गतिके आवश्यक साधन हैं शास्त्र और अर्थ तत्त्वकी गंभीरता होनी चाहिए, (म० पु० १, पृ० १) इस कसौटी पर कविकी रचनाएँ खरी उतरती हैं। पुष्पदंत बार-बार अलंकृत और रस-भरी कथा की उपमा देते हैं (जैसे म० पु० २ पृ० १८, ४३, १३७, १५८, २१२, ३५५। उससे यही अर्थ निकलता है कि कथाका निर्वाह ठीक हो, उसमें रस हो, अलंकार हो। णायकुमार चरिउमें भी (पृ० ३२, ४४, ४६) इसी प्रकारकी उपमाएँ हैं। जसहर चरिउमें उसकी एक बहुत ही सार गर्भित उपमा है, वह कहता है "उसके पुत्र उत्पन्न हुआ वैसे ही जैसे कविबुद्धिसे काव्यार्थ" ५। इससे स्पष्ट है कि कवि काव्यमें अनुभूतिको महत्त्व देता है। यहाँ अनुभूति आत्मा है और कल्पना शरीर। अनुभूतिकी प्रसव-वेदनासे जब कविकी बुद्धि छटपटाती है तभी कल्पना उसे मूर्त रूप देकर वह काव्यार्थके शिशुको जन्म देती है।

व्यक्तित्व और स्वभाव :— कविका घरेलू नाम खंड या खंडू था, ऐसे नाम महाराष्ट्रमें अभी-तक प्रचलित हैं। पुष्पदंतका स्वभाव उग्र और खरा था। राज्य और राजासे उन्हें चिढ़ जैसी थी। भरत और बाहुबलीके प्रसंगमें उन्होंने राजाको लुटेरा और चोर तक कह दिया है। उनके उपाधिके नाम ढेर थे, अभिमान-चिन्ह कवि-कुल तिलक, सरस्वती-निलय और काव्य पिसल्ल आदि। महापुराणके अंतमें कविने जो परिचय दिया है, उससे कविके व्यक्तित्वका जीता जागता चित्र झलक उठता है। "सूने घरों और देव-कुलिकाओंमें रहने वाले, कलिमें प्रबल पाप-पटलोंसे रहित, बेघर-बार, पुत्र-कलत्र-हीन, नदी, वापिका और सरोवरोंमें स्नान करनेवाले, पुराने वल्कल और वस्त्र धारण करने-वाले, धूलि-धूसरित अंग, दुर्जनके संगसे दूर रहने वाले, जमीन पर सोने वाले, अपने हाथोंका तकिया लगाने वाले, पंडितमरणकी इच्छा रखने वाले मान्य-

---

१ देखो म० पु० १, पृ० ४।

२ मज्झु कइत्तणु जिणपद भत्तिहि पसरइ णउ णिय-जीविय-वित्तिहि।

३ धनु तणा-समु मज्झु ण तं गहणु णेहु णिकारणु इच्छमि।

४ बोल्लइ कोइल अंबय कलियहि काणणि चंचरीउ रुणुरुंटइ। —(म० पु० १ पृ० ६)

५ तणुरुह कव्वत्थुव कइमईए (जस० च० पृ० १८)

खेट-वासी अरहंतके उपासक, भरत-द्वारा सम्मानित, काव्य-प्रबंधसे लोगोंको पुलकित करनेवाले, पापरूपी कीचड़को धोनेवाले, अभिमान-मेरू पुष्पदंतने यह काव्य जिनपद-कमलोंमें हाथ जोड़े हुए भक्ति - पूर्वक क्रोधन-संवत्सरमें असाढ़ सुदी दसमीको बनाया।"

उक्त पंक्तियोंमें कविका साहित्यिक और व्यक्तिगत दोनों तरहका जीवन अंकित है। प्रेमीजीके शब्दोंमें "इसमें कविकी प्रकृति और निःसंगताका एक चित्र-सा खिंच जाता है।" इसमें संदेह नहीं कि कविकी एक ही भूख थी और वह थी निःस्वार्थ प्रेमकी। भरतने भी उनकी इस भूखको अपनी सुजनता और शांत प्रकृतिसे शांत कर दिया। वे एक दूसरेके मानों पूरक थे। कविमें अभिमान था तो भरतमें विनय। एक भावुक था तो दूसरा विचारशील, एकमें काव्य-प्रतिभा थी दूसरेमें दुनियादारी। पुष्पदंतका फक्कड़-पन देखिए कि जीवन भर काव्य-साधना करके भी वह अपनेको काव्य-पिसल्ल (काव्यका पिशाच) कहनेसे नहीं चूके। अपनी आकृतिके संबंधमें उनकी यह व्यंग्योक्ति है 'दुबला-पतला सांवला शरीर एक-दम कुरूप, पर स्वभाव हंसमुख, और जब बोलता तो दंत-पक्तियोंसे दशों दिशाएँ धवलित हो उठतीं हैं।" इससे बढ़कर, अपने संबंधमें निरहंकारी और स्पष्टवादी कौन हो सकता है। सचमुच उनके श्यामल शरीर में सफेद दांत किसी लता में कुसुमकी भाँति लगते होंगे।

विरोधाभास :—कविके व्यक्तित्वमें कई विरोधी बातोंका विचित्र सम्मिलन था। एक ओर वह अपनेको सरस्वती-निलय मानते हैं और दूसरी ओर यह भी कहते थे कि मैं कुक्षिमूर्ख हूँ। एक ओर तावमें आकर कवि सरस्वतीसे कहता है कि तुम जाओगी कहाँ मुझे छोड़कर, तो दूसरी ओर वह यक्ष-यक्षिणियोंसे काव्य-रचनाके लिए भीख भी मांगते हैं। वे विलास और ऐश्वर्यसे जीवन भर दूर रहे, पर उनके काव्यमें इनका जीभर वर्णन है। वे दुनियाके एक कोनेमें रहना पसद करते थे, पर शायद दुनियाकी सर्वाधिक जानकारी उन्हींके काव्यमें है। वह राज्यके उग्र विरोधी थे, पर आश्रयमें रहे एक राजनैतिक व्यक्तिके। अपनी इस विरोधी प्रकृतिके कारण उसके काव्यमें भी विरोधा-भास और श्लेषकी शैलियां व्यवहृत हुई हैं। यह कहा जा सकता कि वह शैवसे जैन बने थे, या राज-स्तुतिसे जिन-भक्तिकी ओर झुके थे। उनका यह विरोधी स्वभाव शिवभक्तिका प्रसाद था, या जिनभक्तिका प्रभाव, यह बताना हमारा काम नहीं।

मूल्यांकन—कवि स्वयंभूकी रामकथा (पउम चरिउ) यदि नदी है, तो पुष्पदन्तका महापुराण समुद्र। सचमुच उनकी वाणी अलंकृता रसवती और जिनभक्तिसे भरित है। दर्शन और शास्त्रीय ज्ञानका उनके काव्यमें प्रदर्शन है, दर्शन और साहित्यकी पिछली परम्पराके वे कितने विद्वान् थे यह इसीसे जाना जा सकता है कि उन्होंने अपनी अज्ञता प्रकट करनेके लिए, सभी दर्शनों इतिहास, व्याकरण, पुराण तथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश कवियों-की लम्बी सूची दी है। (म० पु० १ संधि १ कड० ६ पुरा)। उनके काव्यमें ओज और प्रवाह है, पर अनुभूतिमें वह पीछे नहीं है। प्रकृतिके उभय रूप उन्हें आकृष्ट करते हैं, ठाठ-बाटसे कहानी कहनेमें वह निपुण है, श्लिष्ट और सरल, कोमल तथा कठोर—सभी तरहकी शैलियोंका प्रयोग वह कर सकते हैं। छन्दोंकी कलामें वह अद्वितीय है। जीवन-कालमें ही उनकी प्रतिभाकी धाक जम गई थी, कोई उन्हें काव्य-पिसल्ल कहता था तो कोई विद्वान् (म० पु० २ पृ० ६)। हरिषेणने अपनी 'धर्मपरीक्षा' में लिखा है कि पुष्पदन्त मनुष्य थोड़े ही है, सरस्वती उसका पीछा नहीं छोड़ती। कुछ आलोचकोंने पुष्पदंतकी पहचान इसी नामके दूसरे व्यक्तियोंसे की है [१]। पर यह निराधार कल्पना है।

१ प्रेमीजीने शिवमहिम्न स्तोत्रके लेखक पुष्पदंतसे इनकी एकता होनेकी संभावना व्यक्त की है, (जैन इतिहास और साहित्य पृ० ३०२), पर यह अनुमान है, अतः विचार करना व्यर्थ है। दूसरे डा० हजारीप्रसादने लिखा है 'इनको ही हिन्दीकी भूली हुई अनुश्रुतियोंमें राजा मानका पुष्प कवि कहा गया है' (हिन्दी साहित्य पृ० २०)। पर यह एकदम निर्मूल और असंगत पहिचान है।

उसमें थोड़ा भी तथ्य नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाणभट्टके बाद राजनीतिका इतना उग्र आलोचक, कोई दूसरा कवि नहीं हुआ। सचमुच मेलपाटीके उद्यानमें, भरत और पुष्पदंतकी किसी अज्ञात मुहूर्तमें हुई वह भेंट भारतीय साहित्यके इतिहासकी बहुत बड़ी घटना है। वह भेंट अनुभूति और कल्पनाकी वह अक्षयधारा थी जिससे अपभ्रंश साहित्यका कानन हरा-भरा हो उठा। मंत्री भरत माली थे और कविका हृदय काव्य-कुसुम। उनके स्नेहके आल-बालमें सचमुच ही कविका काव्य-कुसुम खिल उठा।

ग्वालियरके तोमर वंशका एक नया उल्लेख

(ले०—प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर, नागपुर)

मध्ययुगीन जैन इतिहासमें ग्वालियरके तोमर राजवंशका स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस वंशके पांच प्रसिद्ध राजा हुए—वीरमदेव, गणपतिसिंह, डूंगरसिंह, कीर्तिसिंह तथा मानसिंह। इनके समय अर्थात् विक्रमकी १५वीं-१६वीं सदीमें ग्वालियर बहुत ही समृद्ध दुर्ग था और वहां जैनधर्मका पर्याप्त प्रभाव था। विशेष रूपसे माथुरगच्छके भट्टारकों द्वारा मूर्ति-प्रतिष्ठा, शास्त्र-लेखन आदि धर्मकार्य यहां संपन्न हुये थे।

गत वर्ष कारंजाके सेनगण मन्दिरके प्रसिद्ध शास्त्र-भंडारमें आचार्य कुदकुंदके ग्रन्थोंकी हस्त-लिखित प्रतियोंका अवलोकन करते समय हमें तोमर वंशके महाराज डूंगरसिंहके समयकी समयसारकी एक प्रति उपलब्ध हुई। यह प्रति वैशाख शुक्ल तृतीया, संवत् १५१० को माथुरगच्छके भट्टारक गुणभद्रके आम्नायके श्रावक गर्गगोत्रीय मोलिक द्वारा लिखवाई गई थी। इसकी प्रशस्ति काफी विस्तृत है और संस्कृत भाषाकी दृष्टिसे भी पठनीय है। इससे उस समयके ग्वालियरके वैभवका अच्छा आभास मिलता है, तथा राजा डूंगरसिंहके समय पर भी कुछ और प्रकाश पड़ता है। यह पूरी प्रशस्ति इस प्रकार है—

येषामंघ्रिनतेर्भव्या नम्यते जगता श्रिया।
आलिंग्यंते नमस्तेभ्यो जिनेभ्यो भवशांतये ॥१॥
गगनावनिभूतेंदुगण्ये (१५१०) श्रीविक्रमाद्गते।
अब्दे राधे तृतीयायां शुक्लायां बुधवासरे ॥२॥
जिनालयैराढ्यगृहैर्विमानसमैर्वरैश्चुंबितवायुमार्गः।
अदीनलोको जनमित्रसौख्यप्रदोऽस्ति गोपाद्रिरिहर्द्धिपूर्णः

श्रीतोमरानूकशिखामणित्वं
यः प्राप भूपालशतार्चितांघ्रिः।
श्रीराजमानो हतशत्रुमानः
श्रीडुंगरेंद्रोऽत्र नराधिपोऽस्ति ॥४॥

दीक्षापरीक्षानिपुणःप्रभावान् प्रभावयुक्तोद्यमदादिमुक्तः
श्रीमाथुरानूकललामभूतो भूनाथमान्यो गुणकीर्तिसूरिः॥५

पट्टे तदीयेऽजनि पुण्यमूर्ति-
रावारिधिख्यातगुणोऽच्छकीर्तिः।
निर्नाशितानंगमहामयोमा
श्रीमान् यशःकीर्तिरनल्पशिष्यः ॥६॥
कुंथ्वादिजीवार्द्रमना विमान
आत्मस्वरूपानुभवाभिलाषः।
तेजोनिधिः सूरिगुणाकरोऽस्ति
पट्टे तदीये मलयादिकीर्तिः ॥७॥

समंततो भद्रगुणानुरक्तः समंतभद्रांघ्रियुगे सुभक्तः।
पट्टे ततोऽस्यारिरनंगसंग-भंगः कलेःश्रीगुणभद्रसूरिः॥८
आम्नाये वरगर्गगोत्रतिलकं तेषां जनानादकृत (?)
यो (?) अन्वयमुख्यसाधुर्महितः श्रीजैनधर्मावृतः।
दानादिव्यसनो निरुद्धकुनयः सम्यक्त्वरत्नाम्बुधि-
जंज्ञेऽसौ जिनदाससाधुरनघो दासो जिनांघ्रिद्वयोः ॥९॥

गुणगणरत्नखनिः पतिभक्ता
जिनवरचरणशरणपरचित्ता।
परिहृतपंककलंकविनीताऽ-
भवदबलास्मिन् शुभगतिडाली ॥१०॥

उदारचित्तः परदारबन्धुर्गुणौघसिन्धुः परकार्यसंधः।
अभूद्भुवि प्राप्तगुरुत्वमानः खेताह्वयस्तत्तनुजो जनेष्टः ॥
चित्तं यस्या विरक्तंभवसुखविषयेजन्मभीरुर्विमान्या(?)
सौमानिन (?) पुत्रवल्लभवचनाकर्णने दत्तकर्णा।
पात्रे दानावधाना धनजननिचये भावितानित्यभावा
भावादेवी निधाना परिजनहृदयानंददात्री तदीया ॥१२

तदात्मजो जननयनामृतप्रदो दिव्य (?)
कृताखिलकुमतिः सुसंगतिः।
कलावलो गुरुपदपद्मषट्पदोऽस्ति
मोलिको निजकुलपंकजार्यमा ॥१३॥

वाल्हाही (?) ॥ श्री श्री श्री ॥

क्या कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य नहीं हैं ?

(श्रीहीरालाल सिद्धान्त-शास्त्री)

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्दने बोधपाहुडके अन्तमें रची हुई दो गाथाओंके द्वारा स्पष्ट शब्दोंमें अपनेको द्वादशाङ्ग-वेत्ता, चतुर्दश पूर्वधर और श्रुतकेवली भद्रबाहुका शिष्य घोषित किया है, तथापि अन्य कितने ही कारणोंसे कुछ ऐतिहासिक विद्वान् उन्हें पंचम श्रुतकेवली प्रथम भद्रबाहुका साक्षात् शिष्य माननेको तैयार नहीं हैं और उन्हें विक्रमकी प्रथम शताब्दीमें होने वाले द्वितीय भद्रबाहुका शिष्य सिद्ध करनेका प्रयास करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ मैं ऐतिहासिक विद्वानों द्वारा दी गई, या दी जाने वाली दलीलोंकी उलझनोंमें न पड़कर सबसे पहले उन दोनों गाथाओं पर विचार करूंगा, जिनमें कि उन्होंने स्वयं अपनेको भद्रबाहुका शिष्य और उन्हें अपना गुरु प्रकट किया है। बोध पाहुडके अन्तमें दी गई वे दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारस-अंगवियाणं चउदस-पुव्वंग-विउल-वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥६२॥

इन दोनों गाथाओंमेंसे प्रथम गाथाके पूर्वार्धका अर्थ कुछ अस्पष्ट है। श्रुतसागर सूरिकी संस्कृत टीका और पं० जयचन्द्रजीकी भाषा वचनिकासे भी उसका स्पष्टीकरण नहीं होता। अतएव आजसे ठीक तीन वर्ष पूर्व मैंने जैन समाजके गण्य-मान्य ८-१० विद्वानोंको उक्त दोनों गाथाएं लिखकर उनका स्पष्ट अर्थ जानना चाहा था। पर उनमेंसे आधे विद्वानोंने तो जवाबी पत्र तकका भी उत्तर नहीं दिया। कुछ विद्वानोंने पत्रका उत्तर तो देनेकी कृपा की, परन्तु अर्थका कुछ भी स्पष्टीकरण न करके मात्र यह लिख करके भेजा कि हम भी इन गाथाओंके अर्थके विषयमें संदिग्ध हैं। दो-एक विद्वानोंने वही अर्थ लिख करके भेजा, जो कि पं० जयचन्द्रजीने अपनी भाषा-वचनिकामें किया है।

श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने पुरातन जैन-वाक्य सूचीकी प्रस्तावनामें बोधपाहुडका परिचय देते हुए लिखा है—

"इस ग्रन्थकी ६१वीं गाथामें कुन्दकुन्दने अपनेको भद्र-बाहुका शिष्य प्रकट किया है जो संभवतः द्वितीय भद्रबाहु जान पड़ते हैं, क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयमें जिन-कथित श्रुतमें कोई ऐसा विकार उपस्थित नहीं हुआ था जिसे उक्त गाथामें 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं' इन शब्दोंके द्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहुके समयमें वह स्थिति नहीं रही थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था, वह अनेक भाषा-सूत्रोंमें परिवर्तित हो गया था। इससे ६१वीं गाथाके भद्र-बाहु, भद्रबाहु द्वितीय ही जान पड़ते हैं।"

परन्तु श्रीमुख्तार साहबने 'सद्दवियारो हूओ' का जो अर्थ कल्पित करके कुन्दकुन्दको द्वितीय भद्रबाहुके शिष्य बनानेका जो प्रयत्न किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि ६१वीं गाथाका सीधा-सादा अर्थ मेरी समझके अनुसार इस प्रकार है—

जो अर्थ जिनेन्द्रदेवने कहा है, वही गणधरोंके द्वारा द्वादशांगरूप भाषात्मक सूत्रोंमें शब्द विकार अर्थात् शब्दरूपसे ग्रथित या परिणत हुआ है और भद्रबाहुके शिष्यने उसी प्रकार जाना, तथा कहा है।

अनन्तकीर्ति ग्रन्थमालासे प्रकाशित अष्टपाहुडकी भूमिकामें स्व० श्री० पं० रामप्रसादजी शास्त्रीने भी संस्कृत छायाके साथ अन्वय करते हुए इसी प्रकारका अर्थ किया है। यथा—

ज—यत् जिणे—जिनेन कहियं—कथितं, सो—तत् भासासुत्तेसु—भाषासूत्रेषु (भाषारूप-परिणत-द्वादशाङ्ग-शास्त्रेषु) सद्दवियारो हूओ-शब्दविकारो भूतः (शब्द-विकार रूपपरिणतः) भद्दबाहुस्स—भद्रबाहोः सीसेण य—शिष्येनापि तह—तथा णायं-ज्ञातं, कहियं—कथितम्।

उक्त अर्थ बिलकुल प्रकरण-संगत है और आ० कुन्द-कुन्दने उसके द्वारा यह प्रकट किया है कि जो वस्तु-स्वरूप अर्थरूपसे जिनेन्द्रदेवने कहा, शब्दरूपसे जिसे गणधर देवोंने भाषात्मक द्वादशांग सूत्रोंमें रचा, वही भद्रबाहुके शिष्य इस कुन्दकुन्द ने तथैव जाना और तथैव कहा।

इस प्रकार ६१वीं गाथाका अर्थ स्पष्ट है और उसके उत्तरार्धसे आ० कुन्दकुन्दने बहुत स्पष्ट शब्दोंमें अपनेको भद्रबाहुके शिष्य होनेकी घोषणा की है। यहां यह आशंका की जासकती थी कि भले ही तुम भद्रबाहुके शिष्य होओ ? पर भद्रबाहु नामके तो अनेक आचार्य हुए हैं, उनमें तुम किसके शिष्य हो ? सहजमें उठनेवाली इस आशंकाका समा-

धान आ० कुन्दकुन्दने ६२ वीं गाथा बनाकरके किया और बताया कि—

"जो द्वादशाङ्गके वेत्ता, चतुर्दश पूर्वोके अर्थका विपुलरूपसे विस्तार करनेवाले और श्रुतज्ञानी (श्रुतकेवली,) भद्रबाहु आचार्य हुए हैं, वे ही भगवान् भद्रबाहु मेरे गमक-गुरु, (ज्ञानगुरु या विद्यागुरु) हैं" और ऐसा कह करके उनका जयघोष किया है।

इस गाथामें दिये गये तीन पद खासतौरसे विचारणीय एवं ध्यान देनेके योग्य हैं—द्वादशाङ्ग वेत्ता चतुर्दश पूर्वधर और श्रुतज्ञानी। इन तीनोंमेंसे प्रत्येक पद या विशेषण अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके बोध करानेके लिए पर्याप्त था, क्योंकि जो द्वादशाङ्गका वेत्ता है, वह चतुर्दश पूर्वोका ज्ञाता होता ही है। अथवा जो चौदह पूर्वोका ज्ञाता होता है, वह द्वादशाङ्गका वेत्ता होता ही है। इसी प्रकार दोनोंका वेत्ता पूर्ण श्रुतज्ञानी या श्रुतकेवली माना ही जाता है। फिर क्या वजह थी कि आ० कुन्दकुन्दको अपने गुरुके नामके साथ तीन-तीन विशेषण लगाने पड़े? इसका कारण स्पष्ट है और वह यह कि वे उक्त तीनों विशेषण देकर और उसके पश्चात् भी 'भयवओ' (भगवन्त) पद देकर खुलेरूपमें जोरदार शब्दोंके साथ यह घोषणा कर रहे हैं कि मैं उन्हीं भद्रबाहुका शिष्य हूँ, जो कि द्वादशाङ्ग वेत्ता, या चतुर्दशपूर्वधर या अन्तिम श्रुतकेवलीके रूपसे संसार में विख्यात हुए हैं।

इसी ६२वीं गाथामें दिया गया 'गमकगुरु' पद भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और गहराईसे विचार करने पर उससे कितनी विशेष बातोंका आभास मिलता है और ऐसा प्रतीत होता है कि उनके सामने आई हुई, या आगे आनेवाली उस प्रकारकी सभी शंकाओंका समाधान आ० कुन्दकुन्दने उक्त तीनों पदोंके साथ 'गमकगुरु' पद देकर किया है। मेरी कल्पनाके अनुसार जिन आशंकाओंको ध्यानमें रखकर आ० कुन्दकुन्दने उक्त पदका प्रयोग किया है, वे इस प्रकारकी होनी चाहिए :—

(१) यतः कुन्दकुन्दाचार्यके दीक्षा-गुरु अन्य थे।

(२) यत: बोधपाहुडकी रचनाके समय भद्रबाहुको दिवंगत हुए बहुत समय हो गया था और उस समय संभवतः उनके या दोनोंके पट्टों पर तीसरी या चौथी पीढ़ीके आचार्य आसीन थे।

उक्त दोनों आशंकाओंके औचित्य पर क्रमशः विचार किया जाता है :—

यतः कुन्दकुन्दका जन्म दक्षिण भारतमें हुआ था और उन्होंने किन्हीं दाक्षिणात्य आचार्यसे दीक्षा ग्रहण की थी, जिसकी विश्रुति भी सर्वत्र थी, अत: उनका अपने लिए 'सीसेण या भद्दबाहुस्स' इतना मात्र उल्लेख सन्देहजनक या भ्रम-कारक होता। उसे दूर करनेके लिए दूसरी गाथामें उन्होंने 'गमयगुरु' पद दिया और उसके द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी कि यद्यपि मेरे दीक्षागुरु अन्य हैं, तथापि मेरे ज्ञान-(विद्या-) गुरु भद्रबाहु स्वामी ही हैं। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि कुन्दकुन्दको भद्रबाहुके साक्षात् शिष्यत्वकी साक्षी देनेवाले सहाध्यायी या सहदीक्षित आचार्योंमेंसे उस समय कोई भी विद्यमान नहीं हों और सभी स्वर्गवासी हो चुके हों।

(२) दूसरी आशंका भी समुचित प्रतीत होती है, उसका कारण यह है कि नन्दिसंघकी पट्टावलीके अनुसार भद्रबाहुके पश्चात् विशाखाचार्यका काल १० वर्ष, प्रोष्ठिलका १९ वर्ष और क्षत्रियका १७ वर्ष है। यदि ये तीनों ही आचार्य कुन्कुन्दके जीवन-कालमें दिवंगत हो चुके हों, और उसके बाद चौथी पीढ़ीके आचार्य जयसेन वर्तमान हों तो भी कोई असंभव बात नहीं है। इसका कारण यह है कि भद्रबाहुके बाद होने वाले उक्त तीनों आचार्योका काल ४६ वर्ष ही होता है। आ० कुन्दकुन्दकी आयु अनेक आधारोंसे ८४ वर्षकी सिद्ध है। और उन्होंने बाल-वयमें दीक्षा ली थी, यह बात भी उनके 'एलाचार्य' नामसे प्रकट हैं। भगवती आराधनाकी टीकामें 'एलाचार्य' का अर्थ 'बालदीक्षित साधु' किया गया है। अतएव यदि दीक्षाके समय कुन्दकुन्दकी आयु १६ वर्षकी भी मानी जावे और पूरे १० वर्ष साधु-जीवन यापन करनेके पश्चात् उन्हें भद्रबाहुके पास पहुँचनेकी कल्पना की जावे तो भी उन्हें भद्रबाहुके चरणसान्निध्यमें बैठकर १०-१२ वर्ष तक ज्ञानाभ्यास करनेका अवसर अवश्य मिला सिद्ध होता है। इस सर्व कथनका निष्कर्ष यह निकला कि यदि श्रुतकेवली भद्रबाहुके स्वर्गवासके समय कुन्दकुन्दकी अवस्था ३५-३६ वर्षकी मानी जाय, और तदनन्तर उनके पट्ट पर आसीन होने वाले तीन पीढ़ीके आचार्योंका समय ४६ वर्ष व्यतीत हुआ भी मानें, तो भी चौथी पीढ़ीके आचार्य जयसेनके पट्टपर बैठनेके समय कुन्दकुन्दकी आयु ८१-८२ वर्षकी सिद्ध होती है। और यदि इसी समयके लगभग कुन्दकुन्दने बोध-पाहुडकी रचना की हो, तो लोगोंमें इस शंकाका उठना स्वाभाविक था कि भद्रबाहुको दिवंगत हुए तो ३ पीढ़ियां व्यतीत हो चुकी हैं,

फिर तुम उनके शिष्य कैसे हो सकते हो ? संभवतः इसी लिए उन्हें ६२वीं गाथा रचकर स्पष्ट करना पड़ा कि वे मेरे दीक्षागुरु नहीं है, किन्तु ज्ञानगुरु हैं।

लोग कुन्दकुन्दको द्वितीय भद्रबाहुका शिष्य सिद्ध करनेके लिए यह आपत्ति उपस्थित किया करते हैं कि यदि कुन्दकुन्द प्रथम भद्रबाहुके शिष्य थे, तो फिर उनके पश्चात् होने वाली श्रुत-परम्परा या आचार्य-परम्परामें उनका नाम क्यों नहीं दिया गया ? इन दोनों शंकाओंका भी समाधान उपर्युक्त विवेचनसे भलीभाँति हो जाता है, अर्थात्—यतः भद्रबाहुके स्वर्गवासके समय कुन्दकुन्द अल्पवयस्क थे और संभवतः उस समय तक वे ११ अंगों और १० पूर्वोंके पूर्ण वेत्ता नहीं हो सके थे, अतः स्वयं भद्रबाहुने या संघने श्रुतगुरुके रूपमें विशाखाचार्यको जोकि उस समय ११ अंग और १० पूर्वोंके वेत्ता और वयोवृद्ध थे* प्रतिष्ठित कर दिया। तथा भद्रबाहुके पश्चात् उनके साक्षात् दीक्षित शिष्योंमें भी उनका उल्लेख नहीं किया जा सका, क्योंकि वे अन्य आचार्यसे—श्रुतसागरके उल्लेखानुसार जिनचन्द्रसूरिसे—दीक्षित थे।

उपर्युक्त कारणोंसे ही उनका नाम, भद्रबाहुके पश्चात् न तो श्रुतावतार-प्रतिपादक ग्रन्थोंमें ही मिलता है और न गुरु-शिष्यरूपसे दीक्षाचार्योंकी पट्टावलियोंमें ही। और यह हम पहले बतला ही चुके हैं कि दोनों प्रकारके आचार्य-परम्पराकी तीन पीढ़ियां बीतने तक भी संभवतः कुन्दकुन्दाचार्य जीवित रहे हैं। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि अपने जीवनके अन्त तक दोनों परम्पराओंमेंसे किसी भी परम्पराके आचार्यपदका भार उन्होंने नहीं सम्हाला।

यहां यह पूछा जा सकता है कि यदि आपकी उक्त कल्पनाको सत्य मान लिया जावे तो दोनों परम्पराओंमेंसे किसी भी परम्पराके आचार्य-पदको स्वीकार न करनेका क्या कारण हो सकता है ? क्या वे उन दोनोंमेंसे किसी एकके भी योग्य नहीं थे, अथवा कोई अन्य ही कारण है ? आचार्य कुन्दकुन्दको दोनों परम्पराओंमेंसे किसी भी परम्पराके आचार्यत्वके अयोग्य होनेकी तो कल्पना की नहीं जा सकती, क्योंकि उनके ग्रन्थ ही इस बातके सबसे बड़े साक्षी हैं कि वे एक महान् आचार्य हुए हैं। फिर दूसरा क्या कारण हो सकता है, इस मुद्देको लेकर जब हम कुन्दकुन्दाचार्यकी संभवतः सबसे पहली रचना मूलाचारकी छान-बीन करते हैं, तो हमें इसका समाधान बहुत अच्छी तरह मिल जाता है।

मूलाचारके समाचाराधिकारकी १५५वीं गाथा-द्वारा यह प्रकट किया गया है कि साधुको उस गुरुकुलमें या संघमें नहीं रहना चाहिये जिसमें कि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर, ये पांच आधार न हों। तदनन्तर १५६वीं गाथामें उन पांचों आधारोंके लक्षण दिये हुए हैं। आजसे तीन वर्ष पूर्व अनेकान्तमें प्रकाशित अपने लेखोंसे मैं यह प्रमाणित कर चुका हूँ कि मूलाचारके कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द ही हैं और वे उपर्युक्त पांच आधारोंमेंसे प्रवर्त्तक पदके धारक थे, यह बात भी उनके वट्टकेराचार्य (वर्त्तक+एलाचार्य) नामसे सिद्ध की थी। मूलाचारमें वर्त्तक या प्रवर्त्तकका अर्थ संघ-प्रवर्त्तक किया है, और वृत्तिकारने 'चर्यादिभिरुपकारकः' अर्थ किया है। तदनुसार आचार्य कुन्दकुन्द संभवतः भद्रबाहुके जीवन-कालमें ही इस प्रवर्त्तकके पद पर आसीन हो गये थे। और यह पद उन्हें इतना अधिक पसन्द आया प्रतीत होता है कि उन्होंने उसे जीवन पर्यन्त स्वीकार किये रहनेमें ही दिगम्बर-परम्पराका कल्याण समझा। अथवा तात्कालिक संघने उन्हें उस पर आसीन रहनेके लिए जीवनान्त तक बाध्य किया और वे अपने जीवन-पर्यन्त मुनिसंघकी बागडोर अपने हाथमें लेकर उसका सम्यक् प्रकारसे संचालन करते रहे।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध है कि भले ही कुन्दकुन्दका नाम भद्रबाहुके तुरन्त बाद ही उनकी साक्षात् शिष्य-परम्परामें होने वाले आचार्योंके भीतर न मिलता हो, पर उससे उन्हें प्रथम भद्रबाहुके साक्षात् शिष्य होनेमें कोई बाधा नहीं आती।

* वयोवृद्ध कहनेका कारण यह है कि विशाखाचार्य भद्रबाहुके स्वर्गवासके पश्चात् केवल १० वर्ष ही जीवित रहे हैं।

विद्वानोंकी सेवामें आवश्यक निवेदन

श्रुतपंचमीके दिन आप अपने यहाँके शास्त्र-भंडारोंकी छान-बीन कीजिये, जो नवीन ग्रन्थ मिलें, उनसे हमें सूचित कीजिए और जिन जीर्ण-शीर्ण पुराने खंडित पत्रोंको बेकार समझ कर अलग बस्तेमें बांध रक्खा हो, उन्हें समाजकी अनुमति लेकर हमारे पास भेजिये।

अधिष्ठाता—वीरसेवामन्दिर

शाह हीरानन्द तीर्थ-यात्रा-विवरण

और

सम्मेतशिखर चैत्य परिपाटी

(श्री० अगरचन्द नाहटा)

कविवर बनारसीदासजीने अपनी अर्धकथानक नामक आत्मकथामें हीरानन्द मुकीमके प्रयागसे संवत १६६१ चैत्र सुदी २ को सम्मेत शिखर यात्राके लिये संघ निकालने और उसमें उनके पिता खड्गसेनके सम्मिलित होनेका वर्णन इस प्रकार दिया है--

दोहा—आयौ संवत इक सठा, चैत मास सित दूज ॥२२३॥
साहिब साह सलीम कौ, हीरानन्द मुकीम।
ओसवाल कुल जौंहरी, वनिक वित्तकी सीम ॥२२४॥
तिन प्रयागपुर नगर सौं, कीजौ उद्दम सार।
संघ चलायौ सिखरको, उतर्‌यो गंगा पार ॥२२५॥
ठौर ठौर पत्री दई, भई खबर जित तित्त।
चीठी आई सैन कौं, आवहु जात निमित्त ॥२२६॥
खरगसेन तब उठि चले, ह्वै तुरंग असवार।
आइ नन्दजी कौं मिले, तजि कुटम्ब घरबार ॥२२७॥

यात्राकी समाप्तिका प्रसंग निम्न रूपसे चित्रित है।

चौ०—संवत सोलहसै इकसठे, आये लोग संघ सौं नठे।
केई उबरे केई मुए, केई महा जहमती हुए ॥२३१॥
खरगसेन पटनें मौं आइ, जहमति परे महादुख पाइ।
उपजी विथा उदरके रोग, फिरि उपसमी आउ बल जोग ॥
संघ साथ आए निज धाम, नंद जौनपुर कियो मुकाम।
खरगसेन दुख पायौ बाट, घर मैं आइ परे फिर खाट ॥
हीरानंद लोग मनुहार, रहे जौनपुर मौं दिन च्यार।
पंचम दिवस पारके बाग, छट्ठे दिन उठि चले प्रयाग ॥

दोहा-संघ फूटि चहुँ दिसि गयौ, आप आपकौ होइ।
नदी नांव संजोग ज्यौं, बिछुरि मिलै नहिं कोइ ॥२४३

शा० हीरानन्द जीके संघका विशेष विवरण अभीतक अनुपलब्ध था कि वह संघ कौनसे रास्तेसे किस-किस तीर्थकी यात्रा करने गया। सौभाग्यवश अभी हालमें ही एक हस्तलिखित गुटका मिला, जिसमें खरतर गच्छके मुनि तेजसारके शिष्य वीर विजयने संवत् १६६१ में निकले हुए इस तीर्थ-यात्री संघने कौन-कौनसे तीर्थोंकी यात्रा की, इसका विवरण दिया है।

प्राप्त सम्मेत सिखर चैत्य परिपाटीके अनुसार आगरेसे यह संघ यात्रा करने निकला था वहाँके नौ मन्दिरोंकी पूजा कर माघ सुदि १३ को आगे चला। शहिजादपुरमें खमण-वसहीकी जिन मूर्तियोंकी वंदना कर एक दिन वहाँ रह कर प्रयाग की ओर संघ चला। प्रयाग जैन और शैव दोनोंका तीर्थ है। गंगा जमुना सरस्वतीका संगम वहाँ हुआ है। जैन ग्रन्थोंके अनुसार आचार्य अन्नियापुत्रने गंगाजलमें केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया और आदीश्वर भगवानने अक्षयवडके नीचे दीक्षा ली। यहाँके मन्दिरके भुंहरेमें जैन मूर्तियोंकी वंदना की और आदिनाथकी पादुकाकी पूजा की। तीन दिन वहाँ रह कर संघ बनारस गया। यह भी जैन और शिव दोनों का तीर्थ है। पार्श्वनाथ और सुपार्श्व-नाथका जन्म यहाँ हुआ। यहाँके २ मन्दिरोंकी यात्रा की। श्रेयांस नाथकी जन्मभूमि सिंहपुरीकी यात्रा की। सूरजकुंडके पास १६ दिन रहे।

शा० हीरानन्द साह सलेमको प्रसन्न कर उसकी आज्ञासे अपने परिवारके साथ यात्रा करनेको प्रयागसे बनारस आये उनके साथ हाथी, घोड़े, रथ, पैदल और तूपकदार थे। चैत्रवदी नवमीको इनका संघ बनारसमें आगरेके खरतर संघके साथ जाकर सम्मिलित हुआ। बनारससे संघ चन्द्रपुरी गया और चन्द्रप्रभुके पादुकाकी पूजा की। फिर पटने पहुँचे। वहाँ नेमिनाथ और बहुतसी मूर्तियों-को नमस्कार कर बाहर डूंगरीमें सेठ सुदर्शनकी पादुकाकी भी पूजा की। पांच दिन संघ वहाँ रहा फिर विहार नगरके तीन मन्दिरोंकी वंदना की। वहाँ दो दिन स्वामी वच्छल हुए फिर पावापुरीमें महावीर भगवानके पादुकाओंकी पूजन किया। फिर शिवपुरके राजाने कपट करके संघसे बहुत अदावट की पर अन्तमें उसे झुकना पड़ा। उसके मंत्रीको साथ लेकर वन और खालनालके भयंकर दोनों ओर पर्वत और ऊँचे-ऊँचे वृक्ष, मद झरते हुये हाथी वाले विकराल रास्तेसे संघ आगे बढ़ा

तो भीलके टोलोंने बाधा उपस्थित की। शा० हीरानन्दने उन्हें वांछित देकर काम निकाला। बीचमें किसी तीर्थकी भी वंदनाका उल्लेख है पर नाम स्पष्ट नहीं हैं। दस दिन वहाँ रह कर पालगंज-के राजाको संतुष्ट कर वैसाख सुदि १२ को समेत सिखरकी २० टुंक और बहुत सी मूर्तियोंकी वंदना की। वहाँ से लौटते हुये नवादाके रास्ते एक बड़ा जंगल पड़ा। जेठ वदी ६ शेष राजगृहीके पांच पर्वतोंकी यात्रा की। यहाँ मुनिसुव्रतका जन्म, धन्ना-शालीभद्रका स्थान है। यहाँ से बड़गाँवमें गौतम गणधरका स्तूप और बहुतसे जैन मन्दिर व मूर्तियों-की पूजा करते हुये संघ पटना आया। १५ दिन वहाँ रहे। सब संघको पहिरावणी दी गई। वहाँसे संघ जौनपुर आया। वहाँके एक मन्दिरकी बहुतसी मूर्तियोंका दर्शन कर संघ अपने नगर लौटा।

अयोध्यामें पाँच तीर्थंकरोंके कल्याणक रत्नपुरमें धर्मनाथ, सौरीपुर, हस्तिनापुर और अहिच्छत्र पार्श्वनाथकी वीरविजयने यात्रा की। इस प्रकार संघने संवत् १६६१ में बहुतसे पूर्व * के तीर्थोंकी यात्राके वर्णन वाली समेत शिखर चैत्य परिपाटी-की रचना की। जो आगे दी जा रही है।

वीरविजय सम्मेतशिखर चैत्य-परिपाटी

पणमि-गुण वास सिरि पास-पयपं-कयं,
रचिसु संमेयगिरि, थवण निसंकयं।
आगरा नगर थी, संघि जात्रा करी,
तेमहुँ वीनवुं, हरख हियडइ धरी ॥१॥

आगरइ पूजि नव, देहरा इक मनइं,
माह सुदि तेरिसइं, चालि नइ सुभु दिनइं।
अनुक्रमइ नगर सहिजाद पुरि आविनइ,
खमणा वसही सु जिण बिंबवर वंदिनइं ॥२॥
अेक दिन रहिय सहु, संघ भगताविआ,
तिहां थकी चालि, प्रयाग पुरि आविआ।

तासु महिमा सु जिन, सैवमइ बहु भई,
बहइ इकथानि, गंगा जमुन सरसई ॥३॥
जैन सिद्धांत मह, वात ए परगडी,
आयरिय अन्निआ-सुत तणी एवडी।
गंग जल मांहि, केवल लही सिव गयउ,
तयणु बहु जैन सुर, मिलिअ उच्छव कयउ ॥४॥
तेणि प्रयाग इणि, नामी तीरथ कहाउ,
आदि जिण दिव्य, वडअखय पिण इहां कहाउ,
देहरइ भूंहरइ, जैन बिंब वंदिअइ।
आदिजिण पादुका पूजि अभिनंदिअइ ॥५॥
दिन तीनि तिहां रहि, वाणारिसि पुरि पत्ता,
सुरिज कुंड पासइ, दिन उगणीस वसंता।
ए पिण वड तीरथ, जिन सिवमति सुकहति,
इहां पास सुपास, जिणेसर जनम भणंति ॥६॥
निरमल जलि जिहां नित, गंगा बहइ विसाला,
दुइ जिणका दिहरा पूजइ सघ रसाला।
नितसंघ जिमावण, सुखि भ्रमि दिवसु लहंति,
नइडा जिण सेअंस, सीहपुरी पूजंति ॥७॥
हिव साह हीरानंद, रंजवि साहि सलेम,
तसु दूआ पामी, लेइ बहु धन तेम।
हय गय रथ पायक, तिम बहु तुपकदार,
निज पुत्र कलत्र सहु, साथइं करि परिवार ॥८॥
प्रयाग थकी चलि, वाणारिसि पुरि आवइ,
वदि चेत नवमि दिनि, खरतर सोभ वजावइ।
तिहां थी चलतां हिव, चंदपुरी छइ पंथि,
चंद्रप्रभु पगला, पूज्या निज-निज हाथि ॥९॥
सहु संघ साथइं करि, आवइ पट्टण ठामि,
दिहरइ बहुविधसुं नेमीसर सिर नामी।
बाहिरि डुंगरि नव, पासइ पूज्या पाय,
श्रीसेठ सुदरसण, सील सिरोमणि राय ॥१०॥
दिन पंच लगइ तीहां, सहु संघकुं भगतावी,
तिग जिणहर वंदा, नगर विहारई आवी।
दिह दुइ संघ वच्छल दोइ कोस आणंद,
पावापुरि पूज्या, पगला वीर जिणंद ॥११॥
ढाल गऊड़ी की—
हिव सिव उर कइ राइ, कपट करि लेइं,
अदावद तिणि बहु कीयउ ए,
साहसु पुन्य पसाय, तेहसु कउ थयउ,
साह ईंधन तसु बहु दीयउ ए।

* संवत् १६६० ६२ के बीच खरतरगच्छके जै निधानने भी पूर्वदेशके बहुतसे तीर्थोंकी यात्राके स्तवन बनाये हैं। वे शायद इस संघसे स्वतन्त्र रूपमें गये हों।

सन्देह

(श्रीजयन्तीप्रसाद शास्त्री 'रत्न')

सन्तानके लिए नारीका हृदय कितना अशान्त रहता है, सूना रहता है, उसमें बिना सन्तानके कोई रस नहीं, जीवन ही भार हो जाता है। नारी जीवनकी, सफलता एवं शोभा ही सन्तान है, सन्तान-का न होना पति और पत्नीके सुखमय जीवनमें कसक बनकर खटकता रहता है। यहाँ तक कि गरीबकी झोंपड़ी तथा धनिकोंके राजमहल सभी कुछ बेकार हैं।

यही विचार पं० रमाशंकर और उनकी धर्म पत्नी सुशीलाके हृदयमें बार-बार आकर उमंगोंको सूना बनाये हुए थे। उनके विवाहको आज ठीक अठारह वर्ष हो गये थे। उनकी अवस्था भी अड़-तीस वर्षकी हो चुकी थी। घर-बार धन-धान्यसे परिपूर्ण होते हुए भी जीवन बेकार-सा लगता था। कभी-कभी सुशीला छोटे-छोटे बच्चोंको देखकर बड़ा ही आनन्द मानती थी, पर देखते-देखते ही

तसु मंत्री संगि लीध, हिव पंथइ कहउ,
बहु दुख जंजालइं अरयउ ए,
खाल नाल सुविसाल, वन झंगी घणी,
देखी कायर मन डरयउ ए ॥१२॥
ऊँचा रूंख अनेक, दुहु दिसि डूंगर,
मयगल माता मद झरइ ए,
घटवाला विकराल, भूमी अ भोलड़ा,
टोला मिलि आडा फिरइ ए।
सीह हीरानंद साह, तसु वंछित दिअइ,
पसुकी परिते सहु गया ए,
हिव निरभय आणंदि, तीरथि आविआ,
देखत दुख हरइ थया ए ॥१३॥
दिन दस करीअ मुकाम, दुइ पालगंज मइ,
तसु राजा संतोषिआ ए,
हय वर बहु धन दीध, सुदि वयसाख की,
चवदिसि दिवसिउ पोषिआ ए।
प्राति वछ्यागिरि श्रृंगि, रंगइं पेखिआ,
वीस टूंक सोभानिला ए,
अद्‌भुत बिंब अनेक, वीस जिणेसर,
पूज्या वंद्या पावला ए ॥१४॥
विषय कषाय अठार, पातक थान सु,
मोह मिथ्यातइं भव भवइ ए,
कीधा पाप अपार, ते तिकरण सूधइ,
मिच्छ दूकड मुझ हिवइ ए।
इम आलोइ पाप, जनम सफल करी,
निवादा पथि पाछा वल्या ए,
विचि इक अटवी बार, कोस अजल पिया,
सुखि लंघी दुख निरदल्या ए ॥१५॥

ढाल इकतीसाकी—
जेठ नवमी रे वदि आल्या राजगृही,
पंच परवत रे पेल्या गढ सेती लही।
वेभारइ वंद्या बावन जिणहरू,
धन सालिभद्र रे वीर इग्यारे गणहरू।
गणहरू पगला, नम्या रोहण, गुफा थी दूरइ अछइ
गिरि विपुल अइइक, उदइ जिणहर,
कनक गिरि सोलह पछइ।
दुइ रतनि हिव पोसाल सालिभद्र, कूआ हेठि मनोहरा
मुनि सोव्रत वीसम सामि जिण चंद, जनम करि सोभकरा ॥१६
वडगामइं रे, गौतम गणधर थंभ छइ,
बहु जिणहर रे, बहु बिंब तिहां पूज्यां पछइ।
पुर पट्टणि रे, पनहर दिन आवी रही,
पहिराव्यउ रे, सयल संघ साहइ सही ॥
साहइ सही हिव तिहां थकी चलि, ज ओणपुरि संघ आविआ
इक चैत्य बहु बिंब साथि सामी, पास जिण भाविआ।
हिवे तिहां थकी चलि संघ सिगला, निज नगरि निज-निज घरइ
आणंदि उछरंगि तुरत पहुता, कुसल खेमइं सादरइं ॥१७॥
दोहा—अ ‚धइ पणमुं पंच जिण, रयणपुरी धमनाथ।
सोरीपुरि हथणाउरइं अहिछति पारसनाथ ॥१८॥
इम सोलसइं इक सठा वरसइं, बहुत तीरथ वंदिआ,
वरदेस पूरवका अपूरव, भविकजण आणंदिआ।
सिरि तेजसार सुसीस भावइं, वीर विजय पयंपए,
नित पढत गुणतां हुवइ मंगल, मिलइ नवनिधि संपए ॥१९

इति श्रीसम्मेतशिखरचैतपरवाडिस्तवनं समाप्तं।
क्षमाईदास लिखतं ॥छ॥

कसक हृदयसे आकर मुँह पर छा जाती थी, उसकी इस प्रकारकी उदासीनता देखकर रमाशंकर भी दुखी होते थे और उसे हर तरहसे समझाते हुए आजकलके सुपुत्रोंका जो व्यवहार माता पिताओंके साथ हो रहा है, कहते थे कि देखो सुशीला ? आजकलकी सन्तानसे तो बिना सन्तानके ही भले। वृद्ध हो जाने पर सन्तान वालोंकी कितनी दुर्दशा हो जाती है इसको तुमने सामने ही देखा है कि हमारे पड़ोसी ला० लक्ष्मीचन्द्रका बुढ़ापेमें लड़कोंने क्या हाल कर रक्खा है। विवाह हुआ कि बहूको लेकर अलग हो गये। पढ़ा लिखाकर योग्य बना दिये तो नौकरी लगने पर दूर चले गये। फिर पूछा भी नहीं कि माँ-बाप कहाँ है। इस प्रकार समझाते रहने पर सुशीलाका हृदय मातृ-स्नेहसे उमड़कर और भी दुखित हो जाता और सांस भरकर कहती कि चाहे मेरी सन्तान मुझे कितना ही दुख दे, पर………। कहते-कहते निराशाके शोक-सागरमें निमग्न हो जाती थी।

सन्तानकी लालसामें जिसने जो-जो बताया सुशीलाने सब कुछ किया। न जाने किन-किन देवी-देवताओंको पूजा, पीरको पूजा, हनुमानको पूजा; शिव और पार्वतीको मनाया, महावीरजी जाकर भी पूजा की, दर्शन किये सब कुछ किया। पर सब ओरसे निराशा ही मिली। किसी देवी-देवतामें शक्ति नहीं निकली जो सन्तान उत्पन्न कर देता। जगके काजी-मुल्ले भगत वगैरह सबका ढोंग दिखाई देने लगा। धर्ममें इस प्रकारके ढोंगको देखकर भारी खेद और निराशा हुई।

एक बार ऐसा हुआ कि ये दोनों पति-पत्नी लम्बे तिलकधारी ज्योतिषाचार्य पं० बद्रीप्रसादजीके पास पहुँचे। उनका हृष्ट-पुष्ट शरीर, चौड़ा माथा और उस पर लम्बा तिलक। आसन जमाये बैठे थे। इन दोनोंको आता देख समझनेमें देर नहीं लगी। बड़े आदर-सत्कारके साथ आसन दिया। बच्चा भी कोई साथ नहीं था और फिर सुशीलाके बिना सन्तानके शरीरको भापनेमें भी कोई देर नहीं लगी, फौरन ही समझ गये। पूछा—कहिये, आनन्द तो है ? अच्छा तो आपने जिस कामके लिए कष्ट किया है, उसे हमारी ज्योतिष जानती है। कुछ इधर-उधरके दृष्टान्त दे देकर उनके दिलमें बड़ा भारी विश्वास पैदा कर दिया। कुछ बनठनकर पोथी-पन्ने उलट-पुलटकर हिसाब-किताब लगाकर बोले—कि आपकी मनोकामना पूर्ण होगी। ज्योतिषाचार्यजीके वचन सुनते ही सुशीला चौंकी और सोचने लगी कि यह क्या ? बता तो रहे थे हमारे आनेकी बातें, और कहने लगे हमारी मनोकामनाएँ।

सुशीला इस प्रकार सोच ही रही थी, कि यह भापनेमें उन ज्योतिषीजीको कोई देर नहीं लगी। तत्काल ही बोले—आप घबड़ायें नहीं, मैं वही बताऊँगा जिसके लिए आप आये हैं ? तो फिर आपने इस सामने लगे बोर्डको देख ही लिया होगा। पं० रमाशंकरजी बोले—हाँ, यह लीजिये आप अपने प्रश्नके दस रुपये। ज्योतिषाचार्यजी रुपया लेते हुए बोले, देखिये पंडितजी पहले बताई कड़वी बातें भी पीछे अच्छी रहती हैं। कितने ही महानुभाव प्रश्न तो कितने ही पूछ लेते हैं पर प्रश्नकी फीस देनेमें परेशान करते हैं, इसलिए कहना पड़ता है। और फिर आप तो भले आदमी मालूम पड़ते हैं।

हाँ तो फिर आप सन्तान न होनेके कारण दुखी हैं, पर कुछ कहते-कहते सोचमें पड़ गये, रुक गये, विचारने लगे, कुछ देरके लिए आँखें बन्द कीं, अंगुलियों पर, स्लेट पर हिसाब-पर-हिसाब लगाये और सुशीलाका हाथ तथा जन्म-कुण्डली देखकर बोले—कि आपके तो सन्तानका योग है, परन्तु रमाशंकरजीकी कुण्डलीमें सन्तानका योग नहीं है। फिर भी आपके सन्तान जरूर होगी। आप आठवें दिन आकर एक तावीज मुझसे ले जाँय और फिर उसका विधि-विधान मेरे बताये अनुसार कीजिये, सन्तान जरूर होगी।

सुशीला और पं० रमाशंकरजी पांच रुपया और तावीजके देकर घर चले आये, पर उन ज्योतिषाचार्यजीकी बातोंसे दोनोंके दिलमें एक दूसरेके प्रति संदेहात्मक भाव उत्पन्न होने लगे। रमाशंकरजी सोचने लगे—मेरे सन्तानका योग नहीं है और इसके सन्तानका योग है और सन्तान होगी भी, यह क्या है ? बड़ी भारी समस्या थी

जिसने हृदयमें ऐसा घर कर लिया कि निकालेसे भी नहीं निकलती थी।

इधर सुशीलाकी भावनाएँ कुछ और ही और होती जा रही थीं। अब उसे यह विश्वास हो चला था कि मेरे पतिदेवमें कुछ न कुछ कमी अवश्य है, जिसके कारण सन्तानका योग नहीं है और मेरे सन्तानका योग है आखिर यह क्या है? एक समस्या उठ कर खड़ी हुई। क्या मुझे सन्तानके लिए दूसरा मार्ग अपनाना पड़ेगा? नहीं नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकती। पर सन्तान ·····।

ज्योतिषाचार्यजीने सुशीलाके अनुपम रूपको देख कर अपनी मनोकामना पूरी करनेके लिए उसके सामने एक सरल एवं आकर्षक समस्या रख दी थी और यह निश्चय कर लिया था कि यह सुन्दर चिड़िया चंगुलमें जरूर ही फँसेगी। आठवें दिनका इन्तजार था। इस प्रकारकी कई घटनाएँ उनके जीवनमें आ चुकी थीं। वे सोचते थे कितना अच्छा है ज्योतिषका एक ही नुसखा, जिसमें भोग भी है और पैसा भी।

आखिर आठवां दिन आ ही गया और सुशीला भी सज-धज कर तावीज लेने ज्योतिषाचार्यके पास चल दी, क्योंकि आजकी नारी अपने अंग-प्रत्यंगोंको सजा कर दूसरोंको दिखानेमें ही आनन्दका अनुभव करती है। उसे इस प्रकार देख कर ज्योतिषाचार्य-को सारी कल्पनाएँ साकार नजर आने लगीं। आज उनके मनमें उमंग थी और भविष्यकी कल्पनाएँ आनन्दातिरेक पैदा कर रही थीं। सोचने लगे—देखो नारीमें सन्तानको पैदा करनेकी इच्छा कितनी बलवती होती है। सन्तानके लिए वह सब कुछ कर सकती है, यहाँ तक कि·········।

सुशीलाको देख कर उल्लासके साथ ज्योतिषीजी बोले—पं० रमाशंकरजी नहीं आए? आप अकेली ही आई हैं? हाँ, मैं अकेली ही आई हूँ, कार्य-वश वे कहीं बाहर चले गये हैं। उस दिन मैं आपकी बातोंको स्पष्ट रूपसे नहीं समझ पाई थी। ऐसा मालूम पड़ता था मानो आप कहना तो चाहते थे कुछ और, कह कुछ और ही रहे थे। मेरे विचारों-में उस दिनसे बड़ी उथल-पुथल मच रही है।

ज्योतिषाचार्यजीको समझते देर नहीं लगी कि मेरी मंजिल अपने आप ही मेरे पास आती जा रही है, मेरा कितना अच्छा वैज्ञानिक प्रयोग है। मेरे पूज्य गुरुदेवका यह कैसा अनोखा मंत्र है। फिर मुस्कराते हुये बोले—हाँ आप मेरी सारी बातोंका मतलब तो समझ ही गई हैं। बात यह है कि जिस समय आपका विवाह हुआ उस समय आपकी और आपके पतिदेवकी जन्म-कुण्डली ठीक-ठीक नहीं मिलाई गई। या फिर पं० रमाशंकर जीने उस ज्योतिषीको कुछ रुपये देकर आप जैसी अप्सराको पानेका पूरा-पूरा प्रयत्न किया, और सफल हो गए। अब उसमें इतना है कि आपके सन्तानका योग है और आपके पतिदेवके नहीं है, फिर भी सन्तान अवश्य होगी। इस मामलेको तो आप समझ ही रही होंगी। साथ ही यह तावीज इसमें पूरी-पूरी सहायता करेगा। मैंने इसको कई दिन रातके परिश्रमसे तैयार किया है। इतने हवन किसीके तावीजके तैयार करनेमें नहीं किये। आइये इसे बांध दूं।

सुशीला सब कुछ भले प्रकार समझ गई थी। सन्तानकी लालसा न जाने उसे किस अनजाने पथ पर ले जाना चाह रही थी। वह क्या करे? क्या न करे? कोई रास्ता ही नजर नहीं आ रहा था। उसकी भावना और विचारोंमें द्वन्द्व मचा हुआ था। कुछ निर्णय न करनेके बाद भी उसने अपनी बांह ज्योतिषाचार्यजीकी ओर बढ़ा दी और तावीज बंधवा लिया।

तावीज बंधवानेके बाद बोली—ज्योतिषी जी! यह तावीज क्या करेगा! तावीज कहीं सन्तान पैदा कर सकता है? यह तो सब आप लोगोंका पैसा बटोरनेका ढंग है। लोगोंको फुसलानेका आपके पास अच्छा तरीका है।

ज्योतिषाचार्यजी बोले—तो फिर···। आपके सामने एक वही रास्ता है, जिस पर आप अब तक निर्णय नहीं कर पा रही हैं। अगर आपको संतान-से मोह है तो इस रास्तेको अपनाना ही पड़ेगा। वरना आपके सन्तान नहीं हो सकती।

सुशीला बिना कुछ कहे सुने ही वहाँसे चल

दी। दिन-रात उसके विचारोंमें उन ज्योतिषाचार्य-जीके शब्द गूंजते रहते कि 'अगर आपको सन्तान-से मोह है तो यह रास्ता अपनाना ही पड़ेगा, वरना सन्तान नहीं हो सकती। उस दिन घर देरसे पहुँचने पर पतिदेवने टोक ही दिया कि इतनी देर कहाँ लगाई ?

सुशीला उनके इस कौतूहलपूर्ण प्रश्नको सुनकर चौंकी और बातको बनाते हुए बोली—यहीं पड़ोसमें ला० लक्ष्मीचंदके यहाँ गई थी। बात कुछ टल गई। पर थोड़ी देर बाद ही उसकी बाँह पर बन्धे ताबाज पर उनकी दृष्टि गई तो सन्न रह गये। उनको यह समझनेमें देर नहीं लगी कि यह ज्योतिर्षाके यहाँ गई थी और मुझे धोखा दे रही है, कहती है पड़ोस में गई थी। तूफान पर तूफान उठने लगे और सुशीलाके प्रति घृणा पैदा हो चली। वे उद्विग्न रहने लगे और हंसीका स्थान सन्देहने ले लिया।

सुशीलासे अब कोई बातचीत भी करता था तो उनको सन्देह दिखाई देता था। उसका किसीके साथ हंसना तो विष ही घोल देता था और शृंगार करना तो बुरी तरह खटकने लगा था। जहाँ पहले वे सुशीलाको घुमाने बाजार ले जाते थे, नई-नई फैशनेबुल चीजें पहना पहना कर, और बिना उसके कहे ही सब चीजें लाते रहते थे यह सोचकर कि यह कहीं दिलमें यह न सोचे कि ये मुझसे प्यार नहीं करते ? अर्थात् उसके मनका बहलाव नाना प्रकारसे करते रहते थे। सिनेमा ले जाते थे हर रविवारको। वहाँ आज शृंगारकी चीजें समाप्त हो गई हैं। सुशीलाके कहने पर भी वे नहीं लाई जा रही हैं। सिनेमा उनकी दृष्टिमें पतन करने वाला सिद्ध हो गया है और तिलकधारी ज्योतिषियोंके तो नामसे ही घृणा हो गई है। कभी-कभी तो वे यहाँ तक सोचते कि अगर मेरे हाथमें राजसत्ता हो जावे तो मैं सबसे पहले इन दुराचारी पाखण्डी ज्योतिषियों-को जेलोंमें बन्द कर दूं और उन साधुओंको भी, जो हमारी माता-बहिनोंको सन्तानकी लालसामें फुसलाकर पतित करते रहते हैं।

सुशीला भी अपने पतिदेवकी इन सारी क्रियाओं-को गम्भीरतासे देख रही थी और उनकी उदासी-नताको समझ रही थी। उसका कारण भी उसकी दृष्टिसे दूर नहीं था। उसका भी दिल पतिदेवसे दूर-दूर रहने लगा था इसीलिये उसने उन्हें मनाने-की भी कोई चेष्टा नहीं की। दूसरे वह ऐसा करती भी क्यों ? क्योंकि पहले वह नाममात्रको भी रूठती थी तो उसके पतिदेव उसे मना लिया करते थे। फिर आज वह कैसे उस नियमको भंग कर दे ?

दिन पर दिन बीतते गये। एक दिन सुशीलाका भाई आया अपनी बहिनकी बिदा करानेके लिये। पं० रमाशंकरजीने पहले जैसा हंसी-खुशीके साथ उसके प्रति बर्ताव करना चाहा, बहुत कोशिश की लेकिन सन्देहने उमंगको नष्ट कर दिया था। फिर भी उनका साला उनकी आन्तरिक चेष्टाओंको न पढ़ सका। दो तीन दिन रहनेके बाद उसने पं० जीके आगे सुशीलाको लिवा जानेका प्रस्ताव रखा। जहाँ पहले पं० जीने आजतक उसे भेजनेमें मनाई नहीं की, ससुरालकी बातको टाला नहीं, वहाँ आज बोले—मि० जगदीशजी, इस समय कुछ ऐसी बातें हैं जिनकी वजहसे मैं भेज नहीं सकता। वैसे मैंने जीवनमें आजतक कभी आपको मना नहीं किया, पर मुझे दुख है कि इस समय नहीं भेज सकता।

सुशीला रसोईघरमें बैठी यह सब कुछ सुन रही थी। कहते हैं 'कुछ ऐसी बातें हैं,' चोटीसे पैरों तक आग लग गई। बेलना कहीं और अंगीठी कहीं पटक दी और फौरन ही कमरेमें पहुँची जहाँ उसका भाई और पं० रमाशंकरजी थे। भौंहें चढ़ाकर और चिल्लाकर बोली—उसकी वाणीमें गौरव था, स्वाभिमान था। आज वह अपनेको नष्ट करके सदाके लिये सुखी होना चाहती थी। उसके रूपको देखकर ही लोगोंने महाकालीका रूप बनाया होगा ऐसा प्रतीत होता था। बोली—क्या कहते हो—'इस समय कुछ ऐसी बातें हैं जिनकी वजहसे भेज नहीं सकता।' वे कौन-कौन सी बातें हैं खोलते क्यों नहीं, उबले-उबलेसे रहते हो, एक दिन मुझे मार ही डालो इस तरहसे क्या होगा। इतना कहते-कहते जोर-जोरसे रोने लगी।

पं० रमाशंकरजी उसकी इन हरकतोंको देखकर बोले—कि यह सब त्रिया-चरित्र है, बा० जगदीशजी, अगर आप इन बातोंको ही पूछना चाहते हैं तो सुनें, मैं आज स्पष्ट रूपसे आपसे कह देना चाहता हूं इसके ऊपर उस ज्योतिषीकी बातोंका पूरा-पूरा असर हो गया है, उसने कहा था कि 'तुम्हारे तो सन्तानका योग है और इनके नहीं है, पर तुम्हारे होगी जरूर' एक ताबीज ले जाना, बस उस दिनसे ही इसमें इतना परिवर्तन हो गया कि क्या पूछते हो ? आठवें दिन यह उस ज्योतिषीके यहाँ गई और बहुत देरमें आई। मैंने पूछा—कहाँ गई थीं तो बोली कि यहीं पड़ोसमें गई थी । मैंने इसके बाजू पर ताबीज बँधा देखा, दूसरे मैंने थोड़ी देर बाद ला० लक्ष्मीचन्दजीके यहाँ भी पूछा, पता लगा कि यहाँ तो आज आई नहीं है और फिर उस दिनसे क्या कहूं, घरका सारा काम ही ऊटपटांग करती है।

सुशीला रोती ही रही और अपनी इस भूलपर पछताती रही कि मैं ज्योतिषीके पास इनको लेकर क्यों नहीं गई ? उसका भाई बिना कुछ कहे सुने थैला हाथमें लेकर चला गया। अधिक देर तक वह इन बातोंको सहन नहीं कर सका और न वास्तविकता समझ ही सका कि आखिर सत्य क्या है ?

छः महीनेका समय इसी प्रकार बीत गया, न कोई हँसी थी और न कोई किसी प्रकारकी चहल-पहल। पर अन्दर-ही-अन्दर दोनों परस्पर मिलापके लिए उत्सुक हो रहे थे। पहले कौन आगे आये, यह समस्या थी। पं० रमाशंकर तो यह सोचते थे कि यह मनाये, क्योंकि मैं इसका पति हूं और फिर इसकी गलती है। और सुशीला यह सोचती थी कि ये पहले मनायें, क्योंकि इन्होंने मेरे ऊपर झूठा सन्देह मनमें जमा रक्खा था इसलिये इनकी गलती है और फिर ये सदा मुझे मनाते आये हैं। पर समस्या हल नहीं हो पा रही थी।

एक दिन पं० रमाशंकरजी कोई नई चीज खाने को लाये, लाकर रख दी। चीज रक्खी थी पर कोई भी एक दूसरेसे न कह सका कि आप खाइये ? मनमें दोनोंके आ रही थी, पर पहले कहे कौन ? दोनों कभी मुस्करा जाते थे, कभी-कभी आंखोंसे आँखें भी मिल जाती थीं। जब सुशीला अपने आंचलसे अपने मुँहको ढक लेती, तब रमाशंकरजीको एक अद्भुत ही आनन्द आता था मानो वे क्षण उन दोनोंको सुहागरातकी याद दिला रहे थे।

आखिर सुशीलाने उसमेंसे एक ग्रास रमाशंकरजीके मुँहमें दिया और वे बिना आनाकानी किये ही खा गये फिर तुरत ही उन्होंने सुशीलाको खिलाया। फिर क्या था बोलचाल प्रारम्भ हो गई। उस दिन इतनी लाड़-प्यारकी बातें हुई मानो पिछले महीनोंकी कमी पूरी कर रहे हों।

उस दिनसे दोनोंका जीवन पहलेसे भी अधिक सुखमय हो गया। नरक स्वर्ग बन गया था और भूला पंछी फिर लौट कर अपने घरको पाकर खुश हो रहा था।

तभी सुना कि एक बहुत ही होशियार लेडी डाक्टर यहाँके सरोजिनी नायडू अस्पतालमें आई है। उसने कितने ही सन्तान-हीन मां-बहिनोंके सन्तान कर दी है। दूर-दूरसे लोग आने लगे। प्रसिद्धि बढ़ चुकी थी।

रमाशंकरजीने भी सुना और अपनी सुशीलाको लेकर अस्पताल पहुँच गए। लेडी डाक्टरने सारी देखभाल की दवाएं दीं और दो तीन महीनोंके बाद ही सुशीलाकी जीवन अभिलाषा बीजरूपमें अंकुरित हो गई। माँ बननेके लक्षण उसमें आ चुके थे।

सुशीलाने अपरिमित खुशी लेकर रमाशंकरजीसे कहा तो उनकी खुशीका भी ठिकाना न रहा। आज उन दोनोंके दिलसे वह सन्देह दूर हो चुका था।

अनेकान्तकी आगामी किरण संयुक्त होगी

ग्रीष्मावकाशके कारण वीरसेवामन्दिरके विद्वान् बाहिर रहनेसे ११वीं किरण जूनमासमें प्रकाशित नहीं हो सकेगी। किन्तु वह जुलाईमें १२वीं किरणके साथ संयुक्त रूपसे प्रकाशित होगी। अतएव पाठक नोट कर लेवें और धैर्यके साथ अगली संयुक्त किरणकी प्रतीक्षा करें।

—व्यवस्थापक अनेकान्त

एमाइ बहु वणिय-कुल भूरि णिवसंति,
जिण-पूय-उच्छव सुदाणाइं ववसंति ।
णिम्मलु कुलुब्भूय जुवईउ जिणहम्मि,
कर पूय संजुत्ति कय जंति सुहकम्मि ॥
तं णयरु को वण्णणेई सुकइलोह,
सुरगुरु वि वण्णंतु संदेह मइ होइ ।

तहि पट्टणि अरिदल वट्टणि जिण-पय-पयरुह भमरणिहु ।
बुद्धिए मेहव णिरुसहजपालणिरुअयरवालकुल गयणविहु

तहु णंदणु मुणियण-पायभत्तु,
विहलियजणआसपूरण सुसत्तु ।
संघाहिउ सहएव जि पसिद्धु,
चउविह-सघहं चाए समिद्धु ।
णियकुल-कुवलय-अरुणीस-तुल्लु,
पर-उवयारहं जो मणि अभुल्लु ।
काराविवि जिणहु पइट्ठ जेण,
लच्छिहिं फलु गिण्हिउ सुहमणेण ।
तित्थयरु गोत्तु दुल्लहु णिबद्धु,
महिमंडल णिम्मलु सुजस लद्धु ।
तोसउ णामें तहु लहुउ बंधु,
सत्थत्थ-कुसल जो सव्वसंधु ।
जिणचरणकमल-गंधोवएण,
तणु सिंचिवि कलिमलु हणिउ जेण ।
संसार-महावय-णासणाइं,
पविहियइ जेण सुह-भावणाइं ।
सग-वसण-तिमिर-घण-चंडरोइ,
जिणधम्म-धुरंधरु एत्थु लोइ ।
सम्मत्त रयण-भूसिय-णियंगु,
जे पालिउ सावय-वय अभंगु ।
बुहयण-जणाण जो भत्तिवंतु,
बहु सील-सउच्चें अइमहंतु ।
दाणेण गुणेण णि अइपवीणु,
धम्मामएण जसु चित्तु लीणु ।
आजाहो पियपम-सुह-णिहाणु,
वणिवर विंदहं ॐ लद्धु माणु ।

तहुँ पुण तहो भव्वहुँ णियलिय गव्वहुँ णामु चडावहिं कव्वु णिरु
जेम जि कालंतरि, इह भरहंतरि परिवट्टइं सो तं जि थिरु ॥८

जहं पयपास-जिणिंदह केरउ,
चरिउं रइउ बहु सुक्ख जणेरउ ।
पुणु मेहेसर चमुवइ चरिउं,
लोय पयासिउ बहुरस-भरिउं ।
खेमसीह वणिणाहहु णामें,
किं पइं पूरिय चित्तहु कामें ।
पुणु तेसट्ठि पुरिस-रयणायरु,
पवर महापुराणु महसायरु ।
कुंथु णास विरणतिवसें जिहं,
पइं विरयउं पुणु भो पंडिय तिहं ।
सिद्धचक्कविहिं पुणु जि पउत्ती,
हरसीसाहु णि मत्त णिरुत्ती ।
पुणु बलहद्द-चरिउं सुक्खालिउं,
तहेव सुदसण-सीलकहालिउं ।
धणयकुमार-पमुह बहु चरियइं,
जिह पय विहियइं भूरिरस-भरियइं ।
तिह कर वड्ढमाण जिणणाहहु,
चरिउं जि केवलणाण पवाहहु ।
महु वयणे तोसउहु णिमित्तें,
चयहिं तं दु मणि विहिय ममत्तिं ।
तं णिसुणिवि हरसिंहहु पुत्तें,
खण-भंगुर-संसार-विरत्तें ।
गुरु पय-कमल-हत्थ धारेप्पिणु,
कइणा बोलिउ ता पणवेप्पिणु ।
हउं तुच्छमइं कव्वु किह कीरमि,
विणु बलेण किम रणमहि धीरमि ।
णो आयण्णिय वायरण तक्क,
सिद्धंत चरिय पाहुड अवक्क ।
सुद्धायम परम पुराण गंथ,
माणा-संसय-तम-तिमिर-मंथ ।
किह कव्वु रयमि गुण-गण-समुद्द,
को उग्घाडइं जिण-समय-मुद्द ।
अम्हारिसेहि णिय घर कईहिं,
बुह-कुलह मज्झि उज्झिय-मईहिं ।
णामस्स वि धारणि गहणु भव्वु,
भो किं कीरिज्जइं चारु कव्वु ।

ता सूरि भणइ सुणि कइ-ललाम,
भो रयधू ! किवय छंद गाम ।
तुहु बुद्धि तरंगिणिए समुद्द,
मिच्छावाइय भययरु रउद्द ।
इय परियाणिवि मा होहिं मंदु,
अणुराएं थुणिज्जइ ति-जयवंदु ।
ता सुकइ भणइं भो धम्म नाय,
दुल्लंघणिज्जमहु तुम्ह वाय ।
चउमुह दो सुणु सयंभुकइ, पुप्फयंतु पुणु वीर भणु ।
ते णाणदुमणि उज्जोययरा, हउं दीवोवमु हीण-गुणु ॥९॥
पुणु विहसेप्पिणु सूरि पयंपइं,
एह चिंतमणि मावहि संपइं ।
जइं खगेसु णहयलि गमु सज्जइं,
ताम उरु किं णिय कमु वज्जइं ।
जइ सुरतरु इच्छिय फल अप्पइं,
ता किं इयरु चयइं फल रुंपइं ।
जइं रवि किरणहि तमभरु खंडइ,
ता खज्जोउ सपहु किं छंडइ ।
जय मलयाणिलु भुवण वहु वासइं,
ता किं इयरु म वहउं स आसइं ।
जसु मइ पसरु अत्थि इह जेत्तउ,
दोसु णत्थि सो पयडुउं तेत्तउ ।
इय णिसुणिवि जस मुणिहु पओत्तउं,
कइणा ता मणिणउं णिरुत्तउं ।
करणहि महइं कइत्तु जि जामहिं,
हुव दुज्जणहं सक्कमणि तामहिं ।
पर-गुण दोस-करण-गयतंदा,
सज्जण जसु सहंति णवि मंदा ।
पणवंतह खलु अहियउ कुप्पइं,
खीरु लेवि जिहं फणि विसु अप्पइं ।
अमियइं को वि णिंबु जइ सिंचइ,
सो कडुवत्तणु तो वि ण मुचइ ।
जं ण हवइ ण सुणिज्जइ, मणि ण मुणिज्जइं
णवि सच्च वियइं पुणु वयणा ।
तं पडि जंपहि दुज्जण, णिरुव मलिण
मणहइं गालवि दुव्वयणा ॥ १० ॥
एत्थंतरि खलयण विहिय तासु,
गुरु आहासइं पंडिय जणासु ।
भप्फर-संगें महुरंदरोइं,
किं वच्छुण णिम्मल दित्ति होइ ।
परदोस विवर मुह लद्धलक्खु,
चरणुज्झिय सर्कुडल गइ दुलक्खु ।
पवणासणुव्व दुज्जण-दुरासु,
अवगणिणवि भव्वहं पूर आस ।
णउ किज्जइ मणि भउं किंपि ताहं,
तेउं य णारिय णिरु कइयणाहं ।
जइ खल सवंक अंकुस ण होंत,
ता बुह गइंद णो सज्झ ठंत ।
अवगुण-सुउ कब्बु रयंति लोइं
ति वड्ढारउं गुण कइहु होइं ।
जं विहिणा णिम्मिय खल अलज्ज,
तं बहु उवयारु जि विहिय सज्ज ।
ता कइणा सुहमइ मंदिरेण,
दुम्मइं-कयली-वण-सिंधुरेण ।
पडिवण्णउं गुण-रयणाउ तेण,
आरंभिउं सच्छ जि सुह दिणेण ।
अवगमिय तियालाहिल णिमित्तु,
मुणि रयण-संजीवण-जायमित्त ।
पयडिय केवलु जगि वड्ढमाणु,
वंदेवि चरमजिणु वड्ढमाणु ।
तहु चरिउं भणमि पय णियइ बोह,
अब्भत्थ वि भत्तिए सज्जणोह ।
खेल्हण बंभ पयज्ज, पुण्ण करेसमि हउं तुरिया ।
जाता बहु अग्गेण आसि विहिय तिगुण-भरिया ॥ ११ ॥

अन्तिम भाग :—

छंदालंकारेहिं अणेयइ,
तहं पुणु गणमत्ताहं जि भेयइ ।
अमुणंते मइं एहु णिरुत्तउं,
चरमजिणिंदहु चरिउं पवित्तउं ।
तं गुणियण महु दोस खमिज्जहु,
अयरिं हीणाहिउं सोहिज्जहु ।
णंदउ वड्ढमाण जिण-सासणु,
णंदउ गुण-रयण-तच्च-पयासणु ।
कालि कालि देउ जि संवरसइं,
दुक्खु दुहिक्खु दूरि सो णिरसउं ।

णंदउ राणउ णीइवियाणउं,
पय पुणु णंदउ पाउ-णिकंदउ ।
सावय वग्गुवि पुरणा समग्गुवि,
.... ।
घरि घरि वीयराउ अंचिज्जउ,
मिच्छातम भरु भव्वहं खिज्जउं ।
मुणि जसकित्तिहु सिस्स गुणायरु,
खेमचंदु हरिसेणु तवायरु ।
मुणि तहं पाल्हबंभुए णंदहु,
तिणिण वि पावहु भारु णिकंदहु ।
देवराय संघाहिव णंदणु,
हरिसिंघु बुहयणं कुल-आणंदणु ।
पोमावइ-कुल-कमल-दिवायरु,
सो वि सुणंदउ एत्थु जसायरु ।
जस्स घरिज रइधू बुहु जायउ,
देव-सत्थ-गुरु-पय-अणुरायउ ।
चरिउ एहु णंदउ चिरु भूयलि,
पाढिज्जंतु पवट्टउ इह कलि ।
घत्ता—गोवग्गिरि दुग्गहिं, खय असि गाहिं, सुक्खयरे ।
गोउर चउदारहिं, तोरण-फारहिं, बुहयण-मण-संतोस-यरे ।२८
भयलिह मेहहिं, जिणवर गेहहिं,
मणिगण चंदिरि, णयणाणंदिरि ।
जिण पुज्जिज्जइ, धम्मु सुणिज्जइ,
णिच्च जि जत्थहिं, थक्क अवत्थहिं ।
तउ ता विज्जइं भव-मलु-खिज्जइं,
जहं पुणु घरि घरि, धण कंचण भरि ।
मंगल गिज्जहिं, उच्छह किज्जहिं,
सावय लोयहिं, मणहु पमोयहिं ।
तिविहहं पत्तहं, गुण-गण-जुत्तहं,
दाणइं दिज्जहि, पुण्णइं लिज्जहि ।
घरि घरि सइंसणु, भाविज्जइं मणु,
तसु भावणइ, कम्म-मलु-खिज्जइं ।
आवणि आवणि, वर कंचण मणि,
विक्कहिं वणिवर, रूवें जियसर ।
करि-त्तर-दाणें, जहिं अप्पाणें,
पंथइं सित्तइं, अलि आसत्तइं ।
दह दिस भाविय, कत्थ ण पाविय,
तहं पुह-ईसरु, णाइं सुरेसरु ।
रूवें ण सरु, कंतिय ससहरु,
लच्छिहि आयरु, णावइ सायरु,
कर करवाले, अरि-खय काले ।
तोमर वंसहु, ति-जय-पसंसहु,
उज्जोयणायरु, कुल संतय धरु ।
णामें डोगरु, अरि-यण-खययरु,
तासु जि रज्जहिं, मइ णिरवज्जहि ।
जिणहरि ठंते, सुहमइवंते ।
विरयउ कव्वे, एहु जि भव्वे ।
पुव्वायरियहिं, पट्टि गुणायरु,
अणुकमेण संठिउ, वयसायरु ।
मिच्छत्त-तिमिर हरु णाइं सुहायरु, आयमत्थहरु तव-णिलउं
णामेण पयडु जणि देवसेणु गणि, संजायउ चिरु बुह-तिलउं
तासु पट्टि णिरुवम गुण-मंदिरु,
णिच्च भव्वजण-चित्ताणंदिरु ।
विमल मई केडिय मल-संगमु,
विमलसेणु णामें रिसि-पुंगमु ।
वत्थु-सरूव धम्म-धुर धारउं,
दह-विह-धम्मु भुवणि वित्थारउ ।
वय-तव-सील-गुणिहिं जे सारउ,
वज्झब्भंतर संग-णिवारउ ।
धम्मसेणु मुणि भवसर तारउं,
.... ।
भावसेणुपुणु भाविय णिय-गुणु,
दंसण-णाण-चरणु तहं चेयणु ।
दोविह तविण जेण ताविउ तणु,
धम्मामइं पोसिउ भव्वहं गणु ।
मूलुत्तर-गुणेहिं जो पावणु,
सुद्धप्पहु सरूउ संभावणु ।
कम्म-कलंक-पंक-सोसण इणु,
सहसकित्ति उब्बासिय-भव-वणु ।
तासु पट्टि उदयहि-दिवायरु,
बज्झब्भंतर-तव-कय-आयरु ।
बुहयण-सत्थ-अत्थ-चिंतामणि,
सिरि गुणकित्ति-सूरि पायउ जणि ।
तहु सिहासणि सिहरि परिट्ठिउ,
मुत्ति-रमणि राएणोक्कंठिउ ।

सुजस पसर वासिय दिव्वामउं,
सिरि जसकित्ति णाम दिव्वामउं।
तहु आसणि गुण-गण-मणि-सायरु,
पवयणत्थ-अब्भासण-सायरु।
दो-विह-तव-तावें तवियंगो,
भव्व कमल-वण-बोह-पयंगो।
बज्झब्भतर-संग-असंगो,
जें दुज्जउ णिज्जियउ अणंगो।
पुव्वायरियहं मग्ग पयासणि,
सच्चेयण मउरंदुव णिरु जणि।
णिग्गथुवि अत्थहं संजुत्तउ,
सत्थाणवि इयरहं परिचत्तउ।
छंद-तक्क-वायरणहिं वाइय,
जिणि जिणि विस-सिक्खा दाविय।
उत्तम-खम-वासेण अमंदउं,
मलयकित्ति रिसिवरु चिर णदउं।
तहो वर पट्टु वइरिउंइ अज्जमु,
धरिय चरित्तायरणु स-मंजमु।
गुरु-गुणयण-मणि-पाइय-भूसणु,
वयण-पउत्ति-जणिय-जण-तूसणु।
कय-कामाइय-दोस विमज्जणु,
दंसिय माण-महागय तज्जणु।
भवियण मण-उप्पाइय-बोहणु,
सिरि गुणभद्द महारिसि सोहणु।

घत्ता—एयह मुणिविंदहिं भवतम-चंदहं पय-कमलहं जे भत्त हुया
ताहं जि णामावलि पयडमि भूयलि, वंदिगणहिं जा णिच्च थुया

णिय जस-पसर-दिसा-मुह-वासिय,
वर-हिंसार-पट्टणहि णिवासिय।
अयरवाल कुल-कमल दिवायर,
गोयल गोत्ति पयउ णियमायर।
आसि पुरिस जे अगणिय जाया (यउ),
ताहं जि किं वण्णम्मि विक्खायउ।
जिण-पय-पकयाहं सिरु कप्पड,
परियाणिउ सचित्ति परमप्पउ।
जाल्हे णाम साहु चिरु वुत्तउं,
पुत्तु जुयलु तहु हुवउ णिरुत्तउं।
सह जोब्भण गुण मणिरयणायरु,
तिविह पत्तदाणेण कयायरु।

सहजपाल पढमउं जयवल्लहु,
तेजू इयरु विबुहजण दुल्लहु।
णिरुवम-रूव-सील-वय-सज्जा,
झाझेही य पढमिल्लहु भज्जा।
पुरिस-रयण-उप्पायण-खाणी,
सच्चित्त जि परहुव-सम वाणी।
तह उवरि उवण्णा लक्खण-पुण्णा छह णंदण आणंद-भरा।
णं जिणवर भासिया दव्व सुहासिया, णं रस छह जण पोस-भरा॥

ताहँ पढमु वर-कित्ति-लयाहरु,
दुहिय जणाण दुक्ख धण खययरु।
दाणुण्णय-करु णं सुरकरि-करु,
परिवारहु पोसणि सुर भूरुहु।
जिण-पूयाविहि-करण-पुरंदरु,
णियकुल मंदिर बहु सोहायरु।
भूरि दव्वु ववसाएं अज्जिवि,
लच्छि सहाउं चवलु पडिवज्जिवि।
जिणणाहहु पइट्ठ काराविवि,
मण-इंछिय दाणइं बहु दाविवि।
तित्थयरत्त-गोत्तु जि बद्धउ,
संघाहिउ सहदेउ जसद्धउ।
धामाहिय तहु भामिणि भासिय,
जिणदासहु सुवेण णेहासिय।
कुमरपाल हिय जिणदासहु पिय,
कहु उवमिज्जइं तहि सीलहु सिय।
झाणु झाइय जिण-पय-कमल,
पढमउं बीयउं तीयउ अमल।
वच्छराज साभूणा माल,
तिण्णि पुत्त हुय ताहं गुणाल।
सहजपाल सुउ बीयउ पुणु हूयउ, छीनमु णयनमु विमलजसु
दुहियहं दुक्ख-खंडणु णियकुलमंडणु गुण-वण्णणिको ईसु तसु।२३
तहु पिया खिम गुण सील अतुल्ली,
जायण-जण आसा तरु-वल्ली।
खिउ धरणी अहिहाणें साहिउं,
ताहि गब्भि हुउं पुत्त गुणाहिउं।
छह पमाण भूयलि सु-पमाणिय,
गुरयण जेहिं णिच्च सम्माणिय।
वणिवर-थट्टहं जो सुक्खेमरु,
वीयराय-पय-पंकय-महुयरु।

वीरदेउं पढमउं गुणमंदिरु,
दाणुगणय करु जो जगि सुंदरु।
बीयउं हेमाहे सुव दुल्लहु,
णिय-परियण-जणम्मि अइवल्लहु।
लउदिउ णामें भासिउ तइयउं,
देव-सत्थ-गुरु-पाय-विणीयउं।
रूपा रूवें जिम मयरद्धउं,
जे णिम्मलु जसु महियलु लद्धउं।
अत्थि थिरा पंचमु धमंम्गो,
णिच्च विहिय बुहयण-जण-संगो।
गिरणारहु जत्तहं सघाहिउं,
चउविह सघभारु णिव्वाहउ।
छहउ जाला सुवणिय जाणणु,
परिवारहु भत्तउ वमलाणणु।
सहजपाल णंदणु पुणु तीयउं,
जिण सासण वि जेण मणि भाविउं।
मणवंछिय-दायण-चिंतामणि
खेमद णामें विक्खायउ जणि।
भीखुहीय तहो पियपम-सारी,
पुत्त चउत्थहिं सोहा-धारी।
पढम पुत्त खेता खेमकरु,
बीयउ चाचा चाएं सुंदरु।
ठाकुरु णामें तीयउं णंदणु,
भोजा चउथउ जण आणंदणु।

सहजपाल सुउं तुरिउं पुणु हूउं, डाला णामें पीणा भुउं।
आभाहिय तहु पिया णं रामहु सिया चारि पुत्त संजाय धुउं ॥३३

जिणदेव-भत्त दूदणु गरिट्ठु,
परिवारु भत्त दरवेसु सिट्ठु
सेवू णामें तिय सपुगणु,
जासा चउत्थ णं दाण-कणु।
पुणु महजपाल सुउ पचमिल्लु,
थील्हा णामें बहु-गुण-गरिल्लु।
केसा हिय भामिय तहु कलत्त,
तहु तिण्णि पुत्त जाया पवित्त।
पहराजु पसिद्धउ मज्झ लोइं,
चउविहदाणें भो भव्व जोइं।
ईसरराजु जि पडिय गुण-पहाणु,
छक्कम्म-रत्तु गुण-गण-णिहाणु।
जगसीहु जयम्मि मई पहाणु,
णिय-कुल-कमलस्स वियास-भाणु।
सिरि सहजपाल सुउ भणिउ छट्ठु,
संसार-महण्णव-पडण भट्ठु।
सग-वसण-विरत्तउं धम्मि रत्तु,
पालियउं जेण सावय-चरित्तु।
गेहम्मि वसंति अइ पवित्तु,
धणु अज्जिउ जिं दाणहु णिमित्तु।
तोसउ णामें तोसिय जणोह,
आजाही तहु पिय जणिय णोह।
णं कुलहर-कमल-णिवास-लच्छि,
सुर-सिंधुर-गामिणि दीहरच्छि।
सुर वल्लि व परियण-पोसयारि,
जुवई-यण सयलहं मज्झि सारि।
दाणि पीणिय णिरु तिविह पत्त,
सइ सील पइव्वय णाह-भत्त।
तहिं गब्भि समुब्भव पुत्त दुण्णि,
ण सहिं पयरवउं वउं य विण्णि।
जेणहु दंसण-रयणहु करंडु,
कुल-कमल-वियासण-किरण चंडु।
खेल्हण णामें गुणसेण मंड,
मिच्छत्त सिहरि-सिर-वज्ज-दंडु।
कुरुखेत्त देसवासिय पवित्त,
सावय-वय पालण-विमल-चित्त।
जिण-पूयाइवि-छक्कम्म रत्त,
परिवारहु मडण गुण-णिउत्त।
जिण-धम्म-धुरंधर एत्थु लोइं,
तहं गुण को वण्णणि सक्कु होइ।
सहजा माहहि पमुह जि रवणु,
भायर चउक्कजुउ पुणु वि अवणु।
सिरि संट्टिवम उप्पण्णु धम्मु,
तेजा साहू जि णामें पमण्णु।
तहु पिय जालपहिं य वण्णणीय,
परिवार-भत्त सीलेण सीय।
तहि गब्भि उवण्णा सुव सपुण्णि,
राजा स पालु ठाकरु जि तिण्णि।
तुरिया वि पुत्तिजा पुण्णमुत्ति,
णिच्च जि विरइय जिणणाह-भत्ति।

खीमी णामा वरसील थत्ति,
को कई वरणइं तहिं गुणहं किंत्ति।
सा परिणिय तेण गुणायरेण,
बहुकालें जं तें सायरेण।
णिय भायर णंदण गुण णिउत्त,
मागेप्पिणु णिणिहउं कमलवत्त।
हेमा णामें परिवार-भत्तु,
तहो धरहो भारु देप्पिणु विरत्तु।
विसयहं सुहु मणिवि दुह-णिमित्तु,
....।
जिण-वय-धारण-उक्कंठएण,
संसारु असारउं मुणिमणेण।
अणणो जणणुवि परिवार-लोउं,
सयलहं वि खमावणु करिवि सोउं
अप्पणु वि खमेप्पिणु तक्खणेण,
जिणवेसु धरिउं णीसल्लएण।
जसकित्ति मुणिंदहु णविवि पाय,
अणुवय धारिय ते विणय-भाय।
तोसउ णंदणु दिवराज अण्णु,
साधाहिय पिय णेहें पसण्णु।
परिवार-भत्तु गुणसेणि-जुत्तु,
णिय-वंस-गयण-उज्जोइ-मित्तु।
सच्चावभासि सच्चेयणीणु,
जिणधम्म कम्मु कारण पवीणु।
तहु णंदणु जाया दुणिण वीरु,
जिणधम्म-धुरंधर गुण-गहीरु।
चंदुव्व कलायरु सिहरुचंदु,
पढमउं सज्जणजणहं अणंदु।
बीयउं पुणु णामें मल्लिदास,
वीसेगुणहं जिणवरहुँ दास।
तोसउ हु पुत्ति तुणु विणिण जाय,
जिणधम्म-कम्मि रय विणय-भाय।
जेठी णामें जीवो जि उत्त,
जिण-पय-गंधोवइ णिच्च सित्त।
वय-णियम-सील-पालण-समग्ग,
जिण-समयहुभरु धरणि अभग्ग।
लहुडी णामें सेल्ही पवित्त,
विहु परिवारहं जा णिच्च भत्त।

सीलें सोहग्गें सिय-समाणु,
णिरु पत्तहं चउविह देय दाणु।
तहिं णंदण हूया विणिण सज्ज,
झांझू भोजा णामें मणोज्ज।
पंच जि भायरहं वि अण्ण सूय,
जाल्ही वीरो पमुहाइ हूय।
इहु परियणु वुत्तउं, मजम पवित्तउं, जा कणयायलु सूर ससि।
जावहिं महिमंडलु, दिवि आहंडलु, णंदउ तावहिं सजसवसि ॥३४

इय-सम्मइ-जिण-चरिए, णिरुवम-संवेय-रयण-संभरिए, वरचउवग्गपयासे, बुहयण-चित्तस्स जणिय-उल्लासे, सिरि-पंडिय-रइधू-विरइए, साहु सहजपालु-सुय सिरि संघाहिव सहएव-लहुय-भायर-महाभव्व-तोसउ-साहुणाम-णामंकिय-कालचक्क तहेव दायारस्स वसणिद्देस-वण्णणो णाम दहमो संधी परिच्छेओ समत्तो। संधि १०। लिखितं पांडे केसा ॥

वि० सं०१६०० प्रति सिद्धान्त भवन, आरा,
नया मंदिर धर्मपुरा दिल्ली।

३६ सुकोसल चरिउ रचनाकाल सं० १४९६
(सुकोशल चरित्र) पंडित रइधू

आदिभाग—

जिणवर-मुणिविंदहु थुव-सय-इंदहु चरण-जुवलु पणवेवि तहो
कलिमल-दुहनासणु सुहयण-सासणु चरिउ भणमि सुकोसलहो

तिहु मेय पसिद्ध जि भुवणि सिद्ध,
णिक्कल तहं सयल विसद्द-रिद्ध।
वसुगुण-समिद्ध वसुकम्म-मुक्क,
वसुमी वसुहहिं जे णिच्च थक्क।
परमाणंदालय अप्पलीण,
उप्पत्ति-जरा-मरण-त्ति-हीण।
वर णाणमए णरसेण सिच्च,
ते णिक्कल सिद्ध णवेवि णिच्च।
जे घायइं कम्म विणासणेण,
महि विहरहिं केवल-लोयणेण।
अड पाडिहेर अइसय सु-सोह,
भावत्थि विभासणि भवणिरोह।
अहि-णर-सुर-वइणा णमिय-पाय,
सव्वहं हिय मागहि जाइ वाय।
ते सकल सिद्ध तहं पुणु णवेवि,
पुणु वारसंग सुय पय सरेवि।

जिण-वयण-विणिग्गउ वयण-पिंडु,
तं सद् सिद्धु झाइवि अखंडु ।
ए सिद्ध तिविह पणविवि णिरीह,
मिच्छत्त-माण-णिद्दलण-सीह ।
तह गणहर सामिय सुह गइ गामिय भव-सर सोस-दिणेसर
जे सत्त सत्तसय पयडिय महिदय, तेवयण हियं णिहय सर ॥१
ते पणविवि बहु भत्तिए गणहर,
ताहं पट्टि पुण जे हुव मुणिवर ।
विजयसेण पमुहाय गुणायर,
आयम-सत्थ-अत्थ-रयणायर ।
तेहिं अणुक्कमि सूरि पहाणउं,
छंद-तक्क-वायरणहं ठाणउं ।
खेमकित्ति णामेण जईसरु,
महिउ जेण दुम्महु णिरई सरु ।
तासु पयासणि कलिमल-चत्तउ,
णिच्च चित्त भाविउ रयणत्तउ ।
बारह-विह तव भेय सुहंकरु,
हेमकित्ति अहिहाणु दुरिय-हरु ।
तासु पट्टि तव लच्छिहि मंदिरु,
अइ अकंपु णं छट्ठउ मंदिरु ।
दुद्दम-इंदिय बल-दमणायरु,
भव्वह-मण-संसय-तम-भायरु ।
मणसिय-विसहर-विस-विणिवारउ,
तेरहविह चारित्त जो धारउ ।
आयम रस रसेण जो सित्तउ,
अहणिसु जें भाविउ रयणत्तउ ।
कुमरसेणु णामें कलि गणहरु,
पणविवि णिय-झाण-सुद्धिए भव-हरु ।
अवर वि जे णिग्गंथ महामुणि,
णवकोडि वि तिहु ऊणिय बहु गुणि ।
अवणाहिं दिणि जिणहरि धयलग्गंवरि रइधू बहु-सुह-झाण-रओ
जिणवर दिट्ठउ णयण मणिट्ठउ सिरु धर धरियण वाउ कओ ॥२
तहिं वंदिउ गच्छहं परमेसरु,
कुमरसेणु पुणु परम जईसरु ।
आसीवाउ दिण्णु तहु राए,
णेहु समप्पि वि अविरल वाए ।
पुणु गुरुणा जपिउ भो पंडिय,
रइधू णिसुणहि साल अखंडिय ।
तुव जुग्गउ भणेमि हउ पेसणु,
तं करणिज्जु अवसु दुह-णासणु ।
जहं पइ णेमि जिणिंदहु केरउ,
चरिउ रइउ बहु सुक्ख जणेरउ ।
अण्णुवि पासहु चरिउ पयासिउ,
खेऊ साहु णिमित्त सुहासिउ ।
बलहद्दहु पुराण पुणु तीयउ,
णियमण अणुराएं पइं कीयउ ।
तहु सुकोसल चरिउ सुहंकरु,
विरयहि भव-सय-दुक्ख-खयंकरु ।
तं णिसुणिवि हरसिंघहु णंदणु,
पडिजंपइ किम जिण-पय-वंदणु ।
सत्त-अत्थ-हीणउ हउ सामिय,
किम पंगुल हवंति णह गामिय ।
किम अतरंडु तरइ पुणु सायरु,
किम अभिडइ रणं गणि-कायरु ।
वोक्कडु धूलु करिहु किं बोल्लइ,
किम वच्छउ धवल हर भरु भिल्लइ ।
आसि कइंदहि चरिउ जि भासिउ,
कह विरयमि हउं तं गेहासिउ ।
पिंगल छंदु विहत्ति ण जाणवि,
किम अप्पउ कइत्त गुणि माणवि ।
अहं तुम्हह वयणहिं करमि सत्थु सुहसय-यरणु ।
पर कारणु सामिय तव पह गामिय, एकु अत्थ संसय-हरणु ॥३

अंतिमभाग—

जं गण मत्ताहीणउं चरित्तु,
मम भणिउ किंपि इहु गुण पवित्तु ।
तं कोसलमुह णिग्गय सुवाणि,
महु खमहु भंडारी अत्थ-खाणि ।
बुहयण मा गिण्हहु किंपि दोसु,
सोहेज्जहु एहु चएवि रोसु ।
भवि भवि होज्जउ महु धम्म बुद्धि,
संपज्जउ तह दंसण-विसुद्धि ।
भवि भवि दुल्लभ समाहि बोहि,
संपज्जउ महु भव-तम-विरोहि ।
राणउ णंदउ सुहि वसउ देसु,
जिण-सासण णंदउ विगय-लेसु ।

सावय-वय ग्रहु किय सुकम्म,
जे वय-भरु धारहि ग्रट्ठ-कम्म ।
गंदउ रणमलु पुणु साहु धरगु,
जिं चरिउ कराविउ इहु रवरगु ।
मुणियण सहसारहो तव-वयधारहो
मरुसेण सामिहु तणश्रो ।
उवएससुहं करु णासिय-भव-दुहु
महु मणि णिच्च थुत्ति-कुणश्रो ॥२॥
सिरि विक्कम समयंतरालि,
वट्टंतइं दुस्सम विसम कालि ।
चउदह सय संवच्छरइं अण्ण,
छण्णउव अहिय पुणु जाय पुण्ण ।
माह दुजि किण्ह दहमा दिणम्मि,
अणुराहु रिक्खि पयडिय सकम्मि ।
गोवागिरि गोवग्गिरि) डुंगर णिवहु रज्जि,
पहु पालंतइ अरिराय तज्जि ।
जिण-चरण-कमल णामिय सरीरु,
सावय-वय-रहधुर-धरण-धीरु ।
*सिरि अयरवाल कुल गयण चंदु,
सघवीर विधा जण जणिय णंदु ।
वे पक्खुज्जल सात णिय भज्ज ?,
अभणी णामा वय-सील-सज्ज ।
तहि उवरि उवण्णउ णर-पहाणु,
अह-णिसु भाविउ जिं धम्म-भाणु ।
महलगि दिउ णामें साहु धरणु !
णिय जसेण महि वीढ छरणु ।
तहु भज्जा दुक्खिय-जण जणेरि,
मह सील तीर वहणेक्क धीरि ।
वीरो णामा वर चाय-लीण,
गइ हंसिणोव सहेण वीण ।
तहु पुत्तु पढमु जिण-पाय-भत्तु,
आणाहिहाणु गिह-धम्मि रत्तु ।
तहु धरिणि गुणायर सुद्ध सील,
जिण-धम्म-रसायणि जाहि कील ।
वीधो णामा गेह-लच्छि,
चउविह-संघह दाणेण दच्छि ।
तहि उवरि उवण्णा गुण संपुण्णा, पुत्त तिणि लक्खणहि जुवा
ताह जि पुणु पढमउ णं ससि पढमउ, पीथा णामें दीह भुवा
तासु पिया पियचित्त सुहायरि,
भणिय कुवेरदेव णं सुरसरि ।
बीयउ णंदणु फुडु जस जसयरु,
णिय-कुल-कमल वियासण-भायरु ।
पल्हण सी (सा) हु वसण-मण-चत्तउ,
जिण-चरणारविंद-रय-रत्तउ ।
कउर पालही तहु [सुह] भामिणि,
णाहहु चित्त णिच्च अणुगामिणि ।
तीयउ सुउ पुणु बहु लक्खण धर,
जो आराहइ अह-णिसु जिणवर ।
देव-सत्थ-गुरु पायहि लीणउ,
कहमवि वयणु ण जंपइ दीणउ ।
रणमलु णामु महिहि विक्खायउ,
जालपही पियवम-अणुरायउ ।
ति सुक्कोसल चरिउ कराविउ,
णिच्च चित्ति पुणु तहु गुण भाविउ ।
जामहि रयणायरु णहि ससि भायरु, कुलगिरि-वर-कणयहि वरा
तावइं जं तउ बुहहि णिरुत्तउ चरिउ पवट्टउ एहु धरा ॥२३

इय-सुकोसल-मुणिवर-चरिए णिरुवम-सवेय-रयण-संस (भ) रिए सिरि-पंडिय-रइधू विरइए सिरि-महा भव्व-आणासुत-रणमल-णाम-णामंकिए सुकोसल-णिव्वाण-गमणं णा। चउत्थो संधी परिच्छेश्रो समत्तो ॥ छ ॥ संधि ४॥

प्रति देहली पंचायती मन्दिर लिपि सं० १६३३

सिरि पासणाह चरिउ (पार्श्व पुराण)

पं० रइधू

आदिभाग—

पणविवि सिरिपासहो, सिवउरि-वासहो,
विहुणिय पासहो गुण-भरिश्रो ।
भवियहं सुह कारणु, दुक्ख णिवारणु,
पुणु आहासमि तहु चरिश्रो ॥
पुणु रिसहणाहु पणविवि जिणिंदु,
भव-तम-णिण्णासणि जो दिणिंदु ।
सिरि अजिउ वि दोस-कसायहारि,
संभउ वि अयत्तय-सोक्खकारि ।

---

*— सिरि अयर वाल वंसहि पहाणु,
सिरि विधा संघइ (ई) गुण णिहाणु ।
सुकौशल चरित १—४

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C.) जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) साहू शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर
२५१) सेठ तुलारामजी नथमलजी लाडनूवाले कलकत्ता

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) सेठ लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० शान्तिनाथजी ,,
१०१) बा० निर्मलकुमारजी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) श्री जयकुमार देवीदासजी, चवरे कारंजा
१०१) ला० रतनलालजी कालका वाले, देहली
१०१) ला० चतरसैन विजय कुमारजी सरधना

'वीर-सेवामन्दिर'
२१ दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक—परमानन्द जैन शास्त्री वीरसेवामंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली। मुद्रक—रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, देहली

वर्ष १४

किरण १२

विषय-सूची

साहू शान्तिप्रसादजी वीर-सेवामन्दिरके नूतन भवनका उद्घाटन कर आ० देशभूषणजी महाराजको भीतर प्रवेश करा रहे हैं।

ॐ अर्हम्

एक किरण का मूल्य ।)

वर्ष १४ किरण, ११-१२ | वीरसेवामन्दिर, २१, दरियागंज, देहली
आषाढ़-श्रावण वीरनिर्वाण-संवत २४८३, विक्रम संवत २०१४ | जून-जुलाई सन १९५७

जिनस्तुति-पञ्चविंशतिका

[यह पच्चीस पद्यात्मक जिनस्तुति अजमेरके भट्टारकीय भण्डारसे प्राप्त हुई है। इसके रचयिता महाचन्द्र नामके कोई प्रौढ विद्वान् हैं। नामका सूचन श्लेषरूपसें पच्चीसवें पद्यमें किया गया है। इस स्तुतिकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके पच्चीसों ही पद्य पच्चीस छन्दोंमें रचे गये हैं। स्तुति प्रौढ, प्राञ्जल एवं प्रसाद-गुणसे युक्त है तथा सुन्दर भक्ति भावको लिए हुए है। स्तुतिके अन्तमें छन्द नाम-सूचक दो पद्य दिये हुए हैं। युगवीर]

स्रग्धरा— संसारासारपाथोधिगतभवभृतां मज्जनं यो विदित्वा,
तद्धेतून कर्मशत्रून जगदसुखकृतान् ध्यानखड्गेन हत्वा।
त्रैलोक्यादर्शरूपप्रकटितचरमज्ञाननेत्रेण वीक्ष्या-
स्पृष्टस्तद्वंशजातामिव समवसृतिं सोऽस्तु मे ज्ञानभूत्यै ॥१॥

इन्द्रवज्रा— मिथ्यात्वहालाहलघूर्णितं यज्जगत्सुधर्मामृतपानतस्तत्।
उल्लाघतां नीय सुबोधकं च शिवाध्वगं येन कृतं स्तुवे तम् ॥२॥

मत्तमयूरं— गत्वा कोः खे पञ्चसहस्रोन्नतदण्डान सोपानानां विंशतिसाहस्रसुरम्यान।
रेजे शाला श्रीदकृता यस्य हि लोके तं वन्देऽहं शक्रनमस्यं जिनदेवम् ॥३॥

वसन्ततिलका— स्रक्-सिंह-पङ्कज-शुभाम्बर-वैनतेया, मातङ्ग गोपतियुता अथ वैनतेयाः।
चिन्हेषु केकि-सुरथाङ्ग-सुराजहंसा, लक्ष्मीर्विधात्वनुपमा इति यस्य सन्ति ॥४॥

औपपूर्व छन्दः— मुनिकल्पसुराबला नुता व्रतिका भूम-सुनागभामिनी।
भुव-भौमन-कल्पजा नराः सदसि स्थाः पशवोऽपि तं यजे ॥५॥

शार्दूलविक्रीडितं— चञ्चच्चन्द्रमरीचिचामरलसत् श्वेतातपत्रे पत्—
त्रैलोक्यप्रभुभावकीर्तिकथकं शुम्भत्सुभृङ्गारकम्।

काञ्चत्कुम्भधुनद्ध्वजौ च विलसत्तालः सदादर्शकम् ।
येऽस्योद्भान्ति च सुप्रतीकसहितास्तस्मै जिनेशे नमः ॥६॥

प्रहर्षिणी - सेनानी स्थपतिगजाश्वचक्रदण्डस्त्रीचर्मासिमणिपुरोधकाङ्क्षिणीनाम् ।
नाथा हर्म्यपतिसुछत्रसंयुतानां वन्दन्ते यममलबोधिनं भजे तम् ॥७॥

हरिणी— भववनधिगानां यो धर्मः प्रतारणनौसमोऽमृतपथगतानां पाथेय नरास्तु त आसताम् ।
तरुरपि यदीयं तं श्रुत्वा व्यशोकमितो जगदुदयति रवौ किं नो एति प्रबोधमगैः सह ॥८॥

शिखरिणी— सुरा यन्माहात्म्यानुभवभवसंहर्षमनसो विधीयन्ते तेऽत्राङ्मुखसुमनसां वृष्टिमनघाम् ।
धरित्रीं प्राप्तां तां सकलसुखदां वीक्ष्य च हृदीति चेतन्तीयं नो विधिरिपुगते रीतिरनया ॥६

पृथ्वी— यदीयहृदयाम्बुधेर्गतमहागिरस्तन्वते, जनस्य जननादिरोगशमने सुधारूपताम् ।
अनन्तसुखमीप्सवस्तनुमुखं य उत्सर्गिण, पिबन्ति हि विमानि नोऽमरपदं हि गच्छन्ति ते ॥१०

मालिनी— विधुकर-धवलाभोऽस्वप्नधृक्चामरौघो, यदमलगुणकीर्त्त्युद्योतनोद्यत्प्रभावः ।
कथयति भविनां मध्येऽहमागत्य गत्वाऽमृतगतमनमश्चेत्तर्हि सेवध्वमेनम् ॥११॥

रुचिरा— गंभीरवागनुपमगर्जनं जिनं मणिप्रभाचलशुभविष्टरस्थितम् ।
व्यलोचयन घनमिव भव्यचातकाः शुभाद्रिगं शिववृषबिन्दुमिच्छवः ॥१२॥

प्रमिताक्षरा— द्युतिमण्डलेन सहितः सहितः सदसः प्रकृष्टतमसा तमसा ।
भवतु प्रबोध भवतां भवतां तरणिप्रकाशविभवे विभवे ॥१३॥

पुष्पिताग्रा भुवनत्रिमिहिरादिशब्दलक्ष्मी नदति सुताडितलेखदुन्दुभिः खे ।
वदति भवभृतोऽत्र मन्य उच्चैः शिवपदगा यदि चेद्भजध्वमेनम् ।१४॥

जलधरमाला— नानारत्नैः खचितमनौपम्यं यन् स्वैस्तेजोभिः कृतरवितेजोमन्दम् ।
तच्छत्रत्रयमनघं त्रैलोक्ये न त्वस्य द्योतकमिव चिन्हं ह्यस्ति ॥१५॥

द्रुतविलम्बितं— इति पुरस्सरभूतियुतो जगज्जनहितो विधिदस्युमहान्तकः ।
भवतु यो भववारिधिमज्जतः प्रवहणस्य समानगतः स मे । १६॥

आर्या— भवति गते गुणराशौ भवति गते जनपदे च सफलौ तौ ।
भवति गते चन्द्र इव भवति गतेरुभयमाफल्यम् ॥१७।

त्रोटकं— परमं पवनं सकलं यमिनं समिनं दमिनं भवदावनिलम् ।
तमसा रहितं विशगीररिपुं मुनिराजमनन्तगुणामृतधिम् ॥१८॥

भुजङ्गप्रयातं— चिदेकं त्वनेकं महायोग्यसेव्यं वदन्ति प्रभो योगिराजा इति त्वाम् ।
त्वमेवेन भूयाज्जगन्मुक्तिदाताऽपि मे जन्म-जन्मन्यनेकं शरण्यम् ॥१६॥

अनुष्टुप्— विडौजसा कृता यस्येति स्तुति त्रिजगत्प्रिया ।
स ईशोऽवतु मां शश्वल्लोकालोकविलोकनः ॥२०॥

रथोद्धता— ताडनासुखराशिनर्कतो (?) यो वपुर्भृत उद्धृत्य चामृते ।
स्थापयत्यगणशर्मवारिधौ यद्वृपः स हृदि तं दधेऽनिशम् ॥२१॥

वंशस्थं— चमूमवस्कन्द विभिन्द तद्गिरि लुनीहि शस्त्राणि गृहाण सद्धनम् ।
विगृह्य चक्रे भटमोहभूभृता य इत्यमस्वास्थ्यमिनः स पातु माम् ॥२२॥

मन्दाक्रान्ता— ब्रध्नोस्तैर्यें यदमलगिरां तुल्यतां यद्वदन्ति, लोकव्यापि प्रकटसुतमो नाशने तन्न युक्तम् ।
राहुग्रस्तास्त अहनि परं द्योतकाश्चाब्दरुद्धा, मिथ्याध्वन्ततमस इति नो नाशने तत्प्रभावः ॥२३

शालिनी— क्लृप्ता यस्येति स्तुतिर्या मया हि भक्त्या तन्नामाक्षरेण प्रपथ्या ।
भव्यानां चाहं तया याञ्चयामि, भावे भावे तां तदीयांसेवाम् ॥२४॥

एतदनूनं जैनं स्तोत्रं प्राज्ञाः पठेयुरमलं ये ।
तेषां कुमुदनिभानां स जिनो भूयान्महाचन्द्रः ॥२५॥

आ० कुन्दकुन्द पूर्ववित् और श्रुतके आद्य प्रतिष्ठापक हैं।

(श्री० पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री)

श्रुतावतार-प्रतिपादक ग्रन्थोंके अनुसार क्रमशः कम होने वाले श्रुतके धारक आचार्योंकी ६८३ वर्षकी गणनामें यद्यपि आ० कुन्दकुन्दका नाम नहीं मिलता, तथापि उनके द्वारा रचे गये और स्वय ही रखे गये ग्रन्थोंके नामोंसे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि वे पूर्व-श्रुतके विशिष्ट अभ्यासी और ज्ञाता थे। जो पाठक श्रुतज्ञानके भेद-प्रभेदोंसे परिचित हैं, वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि पूर्वोके अन्तर्गत जो अधिकार होते हैं, उन्हें वस्तु कहते हैं और वस्तुके अन्तर्गत जो अधिकार होते है, उन्हें पाहुड कहते हैं। कुन्दकुन्दके ग्रन्थ पाहुडोंके नामसे प्रसिद्ध ही नहीं हैं, अपितु उन्होंने स्वयं ही अपने अनेक ग्रन्थोंका 'पाहुड' नाम दिया है और उसका किसी ग्रन्थके आदिमें, किसीके अन्तमें और किसी-किसीके आदि व अन्तमें नाम-निर्देश किया है।

आदिमें नामोल्लेख—

(१) दंसणमग्गं वोच्छामि। (दंसणपाहुड, गा०१)

(२) वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण।
(लिंगपाहुड गा०१)

अन्तमें नामोल्लेख—

(१) एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए।
(मोक्खपाहुड गा० १०६)

(२) इयलिंगपाहुडमिणं। (लिंगपाहुड, गा० २२)

आदि और अन्तमें नामोल्लेख—

(१) आदिमें—चारित्तं पाहुडं वोच्छे। (चारित्तपाहुड, गा०१)
अन्तमें—फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव। (,, गा.४४)

(२) आदिमें—वोच्छामि भावपाहुड। (भावपाहुड, गा.१)
अन्तमें—इयभावपाहुडमिणं। (,, गा. १६३)

(३) आदिमें—वोच्छामि समयपाहुड-(समयपाहुड, गा.१)
अन्तमें—जो समयपाहुडमिणं। (,, गा. ४१५)

इन उल्लेखोंसे यह सिद्ध होता है कि आ० कुन्दकुन्द पूर्व-गत प्राभृतोंके ज्ञाता थे। कहा जाता है कि आ० कुन्दकुन्दने ८४ पाहुडोंकी रचना की है। यद्यपि आज वे सब उपलब्ध नहीं है, तथापि अनेक पाहुडोंके नाम अवश्य मिलते हैं, जो कि इस प्रकार हैं—

१ समयपाहुड, २ पंचत्थिकायपाहुड, ३ प्रवचनसार, ४ अष्टपाहुड, ५ नियमसार, ६ जोणिसार, ७ क्रियासार, ८ आहारणापाहुड, ९ लब्धिपाहुड, १० बन्धपाहुड, ११ रयणसार, १२ तत्त्वसार, १३ भावसार, १४ अंगपाहुड, १५ खपणपाहुड, १७ बोधपाहुड, १८ क्रमपाहुड, १९ पुयपाहुड, २० विद्यापाहुड २१ उघातपाहुड, २३ सिद्धान्त-पाहुड, २४ लोयपाहुड, २५ चरणपाहुड, २६ समवाय-पाहुड, २७ नयपाहुड, २८ प्रकृतिपाहुड, २९ चूर्णिपाहुड, ३० पंचवर्गपाहुड, ३१ एयमपाहुड, ३१ कर्मविपाकपाहुड, ३३ विहियापाहुड, ३४ वस्तुपाहुड, ३५ सूत्रपाहुड, ३६ बुद्धिपाहुड, ३७ पयद्धपाहुड, ३८ उत्पादपाहुड, ३९ दिव्व-पाहुड, ४० सिक्खापाहुड, ४१ जीवपाहुड, ४२ आचार-पाहुड, ४३ स्थानपाहुड, ४४ प्रमाणपाहुड, ४५ आलाप-पाहुड, ४६ चूलीपाहुड, ४७ षट्दर्शनपाहुड, ४८ नोकम्म-पाहुड, ४९ संठाणपाहुड, ५० निलयपाहुड, ५१ सालमी-पाहुड इत्यादि।

उक्त नामोंमेंसे १, २, ३, ४, ५ और ११ नं० के पाहुड तो आज उपलब्ध हैं और अपनी टीकाओंके साथ प्रकाशित भी हो चुके है। शेष पाहुडोंकी रचना यदि सचमुच आ० कुन्दकुन्दने की है, तो निःसंदेह यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वे अगों और पूर्वोके बहुत बड़े ज्ञाता थे। ऊपर दिये गये पाहुडोंके नामोंमेंसे अनेक तो उनके अगश्रुत पर लिखे गये ग्रन्थोंकी ओर संकेत करते हैं। यथा—

१—आचारपाहुड आचारांगका द्योतक है। संभव है कि मूलाचारको ही आचारपाहुडके नामसे उल्लेख किया गया हो।

२—सुत्तपाहुड सूत्रकृतांग नामक दूसरे अंगका सूचक है।

३—ठाणपाहुड स्थानांग नामक तीसरे अंगकी ओर संकेत करता है।

४—समवायपाहुड चौथे समवायांगका बोधक है।

५—कर्मविपाकपाहुड ग्यारहवे विपाकसूत्रांगका द्योतक है।

शेष पाहुडोंकी रचना उनके पूर्वश्रुतधरत्वकी परिचायक है। किस पाहुडकी रचना किस पूर्वके किस वस्तु और पाहुडके आधार पर की गई है, यह जाननेका यद्यपि आज हमारे सामने कोई सीधा साधन नहीं है, तथापि पूर्वोके नामोंके साथ कुन्दकुन्द-रचित पाहुडोंके उद्गमस्थानरूप पूर्वोका आभास अवश्य मिल जाता है। यथा—

समयपाहुडके विषयको देखते हुए वह आत्मप्रवाद नामक सप्तम पूर्वकी किसी वस्तुके समयपाहुड नामक अधिकारका उपसंहार ज्ञात होता है। समयसारकी मंगल-गाथासे भी

इसकी पुष्टि होती है। इस मंगल-गाथामें दिया हुआ 'सुयकेवली-भणियं' पद तो और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है। इस पदके द्वारा आ० कुन्दकुन्द इस बातको बहुत अधिक जोरदार शब्दोंमें प्रकट कर रहे हैं कि मैं उसी समयपाहुड-को कहूँगा, जिसे कि श्रुतकेवलीने कहा है। उनके इस उल्लेखसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आ० कुन्दकुन्द भद्र-बाहु श्रुतकेवलीके सम्पर्कमें रहे हैं। इसी प्रकार इसी समय-सारकी नवीं और दशवीं गाथामें जो श्रुतकेवलीका स्वरूप दिया हुआ है वह भी उक्त कथनका ही पोषण करता है।

आगम-निरूपित उत्पादपूर्वके स्वरूपको देखते हुए पंचास्तिकायपाहुडको उसके अन्तर्गत माना जा सकता है। प्रवचनसारकी रचना यद्यपि अनेक पाहुडोंकी आभारी प्रतीत होती है, तथापि स्याद्वादका प्ररूपण करने वाली, 'अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य' आदि गाथाएँ 'अस्तिनास्तिप्रवाद' नामक चौथे पूर्वकी याद दिलाती हैं। नियमसारके अन्तर्गत जो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना और प्रायश्चित्त नामक अधिकार रचे गये हैं, उनका आधार प्रत्याख्यान नामक नौवां पूर्व है ऐसा आभास इन अधिकारोंके अभ्याससे मिलता है।

इसके अतिरिक्त ऐसे भी प्रमाण अब सामने आ रहे हैं, जिनसे यह पता चलता है कि आ० कुन्दकुन्दने प्रायश्चित्त विषयक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रचा था। अनेकान्त वर्ष १४ किरण १ में 'पुराने साहित्यकी खोज' स्तम्भके अन्तर्गत 'जीतसारसमुच्चय' नामक एक नवीन उपलब्ध ग्रन्थका परिचय दिया जा चुका है। उसके कर्त्ता वृषभनन्दीने उसके सम्बन्धमें लिखा है—

मान्याखेटे मंजूषेऽसौ सैद्धान्तः सिद्धभूषणः।
सुजीर्णां पुस्तिकां जैनीं प्रार्थ्याप्य संभरीं गतः॥ ३४॥
श्रीकोण्डकुन्दनामाङ्कां जीतोपदेशदीपिकाम्।
व्याख्या सा मद्धितार्थेन मयाप्युक्ता यथार्थतः॥ ३५॥
सद्-गुरोः सदुपदेशेन कृता वृषभनन्दिना।
जीतादिसारसंक्षेपो नंद्यादाचन्द्रतारकम्॥ ३६॥

अर्थात् सिद्धभूषण नामक एक सैद्धान्तिक मुनिने मान्यखेट नगरमें श्री कोण्डकुन्दाचार्यके नामसे अंकित जीतोपदेश दीपिका' नामकी एक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण पुस्तिकाको एक मंजूषामें रखी हुई देखा उसे उन्होंने उसके स्वामीसे मांग करके प्राप्त किया और उसे लेकर संभरी (सांभर) चले गये। उन्हीं मुनिराजने वृषभनन्दीके हितार्थ उसकी व्याख्या की और तदनुसार वृषभनन्दीने प्रस्तुत जीतसारसमुच्चयकी रचना की है। ये वृषभनन्दी नवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें हुए हैं ऐसा श्री मुख्तार सा० ने उक्त परिचयमें सप्रमाण सिद्ध किया है।

उक्त कथनसे यह अर्थ निकला कि आजसे ग्यारह सौ वर्षके पूर्व प्रायश्चित्त-विषयक एक अति प्राचीन ग्रन्थ मिला था, जो अति जीर्ण-शीर्ण दशामें एक पेटीके भीतर रखा था और जो आ० कुन्दकुन्दका बनाया हुआ था। इससे भी आ० कुन्दकुन्दके प्रत्याख्यान पूर्वके वेत्ता होनेकी बात सिद्ध होती है।

ऊपर जो कुन्दकुन्द-रचित अनेक पाहुडोंकी नामावली दी है, उससे एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी सिद्ध होती है कि कुन्दकुन्दने किसी भी नवीन नामसे किसी ग्रन्थकी रचना नहीं की है, किन्तु जो अंग और पूर्वके रूपमें श्रुत-ज्ञान प्रवाहित होते हुए भी उत्तरोत्तर क्षीण हो रहा था, उसीका उन्होंने अपनी रचनाओंमें उपसंहार किया है। यही कारण है कि उनकी अधिकांश रचनाएँ पूर्वगत पाहुडों-के नाम पर ज्यों की त्यों अंकित हैं। और जिन रचनाओंमें अनेक अंगों या पूर्वोका सार खींचा गया है, वे नियमसार, प्रवचनसार, आदिके रूपमें सारान्त नाम वाली हैं, जो यह प्रकट करती है कि आ० कुन्दकुन्द परमागमके बहुत बड़े ज्ञाता थे और उन्होंने ही भ० महावीरके प्रवचनोंका सार गाथाओंमें रच कर सर्वप्रथम श्रुतकी प्रतिष्ठा इस युगमें यहाँ पर की है। हमारे इस कथनकी पुष्टि श्रवणबेल्गोलके शिलालेखमें उत्कीर्ण निम्न श्लोकसे भी होती है। यथा—

वंद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्दप्रभा-प्रणयि-कीर्त्ति-विभूषिताशः।
यश्चारुचारणकराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥

(श्रवणबेल्गोल, शिलालेख नं० ५४)

जिनकी कुन्द कुसुमकी प्रभाके समान शुभ्र एवं प्रिय कीर्तिसे दिशाएँ विभूषित हैं—सब दिशाओंमें जिनका उज्ज्वल और मनोमोहक यश फैला हुआ है—, जो प्रशस्त चारणोंके—चारण ऋद्धिधारक महामुनियोंके—कर-कमलोंके भ्रमर हैं और जिन्होंने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी-आगमशास्त्रकी-प्रतिष्ठा की है, वे पवित्रात्मा कुन्दकुन्द स्वामी इस पृथ्वी पर किनसे वंदनीय नहीं हैं? अर्थात् सभीके द्वारा वन्दनीय हैं।

इस शिलालेखसे यह सिद्ध होता है कि इस युगमें भरतक्षेत्रके भीतर सर्वप्रथम कुन्दकुन्दाचार्यने ही श्रुतकी प्रतिष्ठा की है।

शास्त्रके प्रारम्भमें जो मंगलश्लोक पढ़ा जाता है, उससे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि गौतम ग्रथित श्रुतके आद्य प्रतिष्ठापक कुन्दकुन्दाचार्य हुए है। वह मंगल पद्य इस प्रकार है —

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

इस मंगल-पद्यमें भ० महावीर और गौतम गणधरके पश्चात् आ० कुन्दकुन्दके नामका उच्चारण अकारणक नहीं है बल्कि वह एक महत्त्वपूर्ण अर्थका सूचक है। श्वेताम्बर-परम्परामें 'मंगलं कुन्दकुन्दार्यो' के स्थान पर 'मंगलं स्थूलभद्रार्यो' बोला जाता है, उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार भद्रबाहुश्रुतकेवलीके पश्चात् श्वे० परम्परा में स्थूलभद्र साधु-संघके नायक हुए हैं, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परामें कुन्दकुन्द साधु-संघके नायक या संचालक हुए हैं। मूलाचार, दर्शनपाहुड, बोधपाहुड और भावपाहुडमें उन्होंने जिस तेजके साथ साधुओंको फटकार बतलाते हुए सम्बोधित किया है, उनसे उनकी संघ-संचालन-योग्यता और तेजस्विताका सहज ही पता लग जाता है।

आ० कुन्दकुन्दको अपने ग्रंथोंमें जहाँ कहीं अपने कथन-को प्रमाणित करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई है, वहां उन्होंने प्रायः 'जिणेहि भणियं, केवलि-भणियं, सुयकेवलि-भणियं' अथवा 'सुत्ते ववहारदो उत्ता, दंसिदा सुत्ते' आदि पदोंका प्रयोग किया है। इन प्रयोगोंमें दो बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं—एक तो यह कि उन्होंने उस बातको साक्षात् केवली या श्रुतकेवलीसे जाना है। श्रुतकेवली भद्रबाहुके वे साक्षात् शिष्य थे, यह तो गत किरणमें प्रकाशित लेखसे प्रमाणित किया जा चुका है। और 'केवली-भणियं' आदि पद उनके विदेहमें जाकर सीमंधरस्वामीके मुखसे साक्षात् उपदेश सुननेकी पुष्टि करते हैं। इसके अतिरिक्त सूत्रके उल्लेख भी खास महत्त्व रखते हैं। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यने सूत्र पदका अर्थ अरहन्त या तीर्थंकर-भाषित और गणधर-ग्रथित द्वादशांग श्रुतको ही सूत्र माना है (देखो सूत्रपाहुड गा० १ और भावपाहुड गाथा ९०)। तथा एक स्थल पर तो 'सुत्तमंग-पुव्वगयं' (समयसार गा० ४०४) कह कर स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि अंगश्रुत और पूर्वश्रुत-गत वचन ही सूत्र हैं। इससे यह सिद्ध होता है, कि उनके समय तक अन्य सूत्र-ग्रन्थोंकी रचना नहीं हुई थी, किन्तु द्वादशाङ्गश्रुतका पठन-पाठन उनके सामने चल रहा था। किन्तु दिन पर दिन लोगोंकी ग्रहण-धारण शक्तिको हीन होती हुई देख कर अंग-पूर्व गत श्रुतका उपसंहार गाथाओंमें करके उन्होंने सर्व प्रथम श्रुत-प्रतिष्ठानके मार्गका श्रीगणेश किया।

जैनधर्ममें सम्प्रदायोंका आविर्भाव

(श्री पं० कैलाशचन्द्रजी, शास्त्री)

जब विश्वका कोई धर्म सम्प्रदाय मत या पन्थ भेदसे अछूता नहीं रहा तब जैनधर्म ही कैसे अछूता रहता। भगवान् महावीरके पश्चात् इसमें भी दो सम्प्रदाय स्थापित हुए। एक सम्प्रदाय दिगम्बर कहलाया और दूसरा सम्प्रदाय श्वेताम्बर। दिगम्बर शब्दका अर्थ है—दिशा ही जिसका अम्बर (वस्त्र) है अर्थात् वस्त्र-रहित नग्न। और 'श्वेताम्बर' का अर्थ है—सफ़ेद वस्त्र वाला। दिगम्बर सम्प्रदायके साधु नग्न रहते हैं और श्वेताम्बर सम्प्रदायके साधु सफ़ेद वस्त्र धारण करते हैं। अतः दिगम्बर (नग्न) जैन गुरुओंको मानने वाला सम्प्रदाय दिगम्बर जैन सम्प्रदाय कहा जाता है और श्वेताम्बर (श्वेत वस्त्र धारी) जैन गुरुओंको मानने वाला सम्प्रदाय श्वेताम्बर सम्प्रदाय कहा जता है। दोनों सम्प्रदाय भगवान् ऋषभदेवसे लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थङ्करोंको अपना धर्म-प्रवर्तक और पूज्य मानते हैं। दोनोंके मन्दिरोंमें उन्हींकी मूर्तियां स्थापित हैं। किन्तु उनमें भी वही भेद पाया जाता है। अर्थात् दिगम्बरोंकी मूर्तियां दिगम्बर रहती हैं और श्वेताम्बरोंकी मूर्तियां सवस्त्र होती हैं। इस तरह दोनों सम्प्रदायोंमें गुरुओंके वस्त्र-परिधानको लेकर मत-भेद है और मुख्य रूपसे इसी मत-भेदने सम्प्रदाय-भेदको जन्म दिया है। दोनों सम्प्रदायोंके अनुयायी अपने अपने सम्प्रदायको प्राचीन और प्रतिपक्षी सम्प्रदायको अर्वाचीन बतलाते आते हैं। दोनोंके साहित्यमें

इस विषयमें जो कुछ लिखा गया है वह भी इसी दृष्टिकोण-से लिखा गया है। किन्तु विचार-शील पाठकोंको यह समझानेकी आवश्यकता नहीं है कि दोनों सम्प्रदायोंका आविर्भाव समकालीन है, उनमेंसे कोई एक न अर्वाचीन है और न दूसरा प्राचीन। क्योंकि इन दोनों सम्प्रदायोंके आविर्भावसे पहले जैन तीर्थङ्करोंके द्वारा प्रतिपादित धर्म जैनधर्म या आर्हतधर्म कहा जाता था। न उसके साथ दिगम्बर विशेषण जुड़ा हुआ था और न श्वेताम्बर विशेषण। अत: जिस दिनसे उसे एक पक्षने दिगम्बर जैनधर्म कहना आरम्भ किया उसी दिनसे अपर पक्ष उसे श्वेताम्बर जैन धर्म कहने लगा। और इस तरहसे भगवान् ऋषभदेवसे लेकर महावीर पर्यन्त अखण्ड रूपसे प्रवाहित होने वाली जैनधर्मकी धारा महावीर भगवानके पश्चात् दो खण्डोंमें विभाजित होगई।

वह कब विभाजित हुई और कैसे विभाजित हुई, ये प्रश्न जैनधर्मके इतिहासमें बड़े महत्त्वके हैं, किन्तु इनका निश्चित उत्तर खोज निकालना भी सरल नहीं है। फिर भी जैनधर्मके अभ्यासियोंके लिये इन प्रश्नों पर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाता है। दिगम्बर-परम्पराके अनुसार यह विभाजन मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्तके राज्य त्यागनेके पश्चात् हुआ। उस समय तक जैनधर्मकी धारा अखण्ड रूपमें प्रवाहित थी और उसके एकमात्र नायक श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें उत्तरभारतमें बारह वर्ष तक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, अत: भद्रबाहु एक बहुत बड़े मुनिसंघके साथ दक्षिण देशको प्रस्थान कर गये। सम्राट् चन्द्रगुप्त भी राज्य त्याग कर उनके साथ चले गये। वहां वर्तमान मैसूर राज्यके श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर भद्रबाहुका संन्यास मरण होगया। चन्द्रगिरि पर्वत (श्रवणबेलगोलामें स्थित) पर उत्कीर्ण शिलालेखोंमें इस घटनाका विवरण दिया हुआ है और पुरातत्त्वविदोंने[१] उसे ऐतिहासिक सत्यके रूपमें स्वीकार किया है।

श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़नेकी घटनाका वर्णन श्वेताम्बर[२] साहित्यमें भी है। तथा दुर्भिक्षके कारण भद्रबाहु तथा साधु संघके देशान्तर गमनकी भी चर्चा है, किन्तु उसके लेखकके अनुसार भद्रबाहु नैपाल चले गये थे। अस्तु, जो कुछ हुआ हो, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़ना और भद्रबाहु तथा साधुसंघका देश त्यागकर अन्यत्र चले जाना दोनों परम्पराओंको मान्य है और इसमें कोई मत भेद नहीं। दुर्भिक्षके बाद संघ-भेद कैसे हुआ? इसके सम्बन्धमें हरिषेण-कृत बृहत्कथाकोशमें तथा देवसेनकृत भावसंग्रहमें वर्णन पाया जाता है। दोनों ही ग्रन्थ विक्रमकी दसवीं शतीके रचे हुए हैं, किन्तु दोनोंके वर्णनमें बहुत अन्तर है। भावसंग्रहका वर्णन साम्प्रदायिक अभिनिवेशको लिये हुए है किन्तु कथाकोशमें दत्त भद्रबाहुकी कथामें तथ्यकी झलक है। कथाका उत्तरार्ध इस प्रकार है—

सुभिक्ष होने पर भद्रबाहुका शिष्य विशाखाचार्य अपने संघके साथ दक्षिण पथसे लौट आया और रामिल्ल, स्थविर स्थूलभद्र सिन्धुदेशसे लौट आये। सिन्धुदेशसे लौटनेवालोंने बतलाया कि वहांके श्रावक दुर्भिक्ष पीड़ितोंके भयसे रात्रिमें भोजन करते थे और उनके आग्रहसे हम लोग रात्रिमें जाकर भोजन ले आते थे और दिनमें खाते थे। एक दिन रात्रिमें जैसे ही एक क्षीणकाय निर्ग्रन्थ साधुने एक श्रावकके घरमें प्रवेश किया उसे देखकर एक गर्भिणी स्त्रीका भयवश गर्भपात होगया। तब श्रावकोंने साधुओंसे प्रार्थना की कि आप दक्षिण हाथमें पात्र लेकर बाएँ हाथसे अर्धफालक (वस्त्रखण्ड) को आगे करके भोजनके लिये आया करें। तबसे हम अर्धफालक धारण करते हैं। उन्हें समझाने पर कुछ अर्धफालक छोड़कर पूर्ववत् निर्ग्रन्थ होगये और कुछ नहीं माने। उन्होंने दो भेद कर दिये—एक जिनकल्प और एक स्थविरकल्प। इस तरह शक्तिहीन कायरोंने नये पन्थको जन्म दिया। सौराष्ट्र देशके वलभीपुरकी रानी अर्धफालकोंकी बड़ी भक्त थी। एक दिन राजाने अर्धफालक साधुओंको देखकर कहा कि या तो आप लोग निर्ग्रन्थ हो जायें, या अपने शरीरको वस्त्रसे वेष्ठित करलें। राजाके कहनेसे उन्होंने वस्त्र-धारण कर लिया और काम्बल तीर्थ स्थापित होगया। इसी काम्बल तीर्थसे दक्षिणा पथके सावलिपत्तन नगरमें यापनीय संघ उत्पन्न हुआ[१]। देवसेनने भी वलभी

१—भारतका प्राचीन इतिहास (वी. स्मिथ) तृतीय संस्करण, पृ. १४६। मि. राईस द्वारा सम्पादित 'श्रवणबेलगोलके शिलालेख'। जर्नल आफ विहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द ३ में स्व. के. पी. जायसवालका लेख।

२—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६, श्लो० ५५-५८।

१ छत्तीसे वारिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥११॥दर्शनसार

नगरीमें ही श्वेतपट संघकी उत्पत्ति विक्रम सम्वत् १३६में बतलाई है।

श्वेताम्बर-साहित्यमें दुर्भिक्षके पश्चात् पाटलीपुत्रमें मुनियोंके एक सम्मेलनकी चर्चा है, जिसमें ग्यारह अंग संकलित किये गये। किन्तु भद्रबाहुस्वामीके नैपालदेशमें स्थित होनेसे बारहवां अंग संकलित नहीं होसका। संघसे तब दो मुनियोंको भद्रबाहुको बुलानेके लिये भेजा गया। ध्यान रत होनेसे उन्होंने आना स्वीकार नहीं किया। इस परसे मुनिसंघ और भद्रबाहुके बीचमें कुछ खींचातानी भी होगई। इसीसे डा. याकोबीने कल्पसूत्रकी प्रस्तावनामें लिखा है कि पाटलीपुत्रमें जैन संघने जो अंग संकलित किये वे श्वेताम्बर सम्प्रदायके हुए, समस्त जैन संघके नहीं, क्योंकि उस संघमें भद्रबाहु सम्मिलित नहीं हुए। अस्तु, जो कुछ हो, इतना सुनिश्चित प्रतीत होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें बारह वर्षके भयंकर दुर्भिक्षके कारण कोई ऐसी घटना अवश्य घटी जिसने आगे जाकर स्पष्ट संघ-भेद का रूप लेलिया और अखण्ड जैन संघ दो खण्डोंमें विभाजित होगया।

श्वेताम्बर-परम्परामें भ० महावीरके तीर्थकालमें सात निन्हव माने गये हैं। आगमकी यथार्थ बातको छिपाकर अन्यथा कथन करनेका नाम निन्हव है। और इस तरहकी घटनाएँ सम्प्रदायोंके आविर्भावमें कारण होती है। किन्तु इन निन्हवोंके कारण कोई नया सम्प्रदाय उत्पन्न नहीं हुआ और एकके सिवाय शेष सभी निन्हवोंके कर्ता आचार्य समझानेसे मान गये। स्थानांग सूत्रमें सातों निन्हवोंके नाम, स्थान और कर्ता आचार्योंका निर्देश है। आवश्यक, निर्युक्तिमें काल भी दिया है। किन्तु उसमें आठ निन्हवों का काल दिया है। भाष्यकारके अनुसार यह आठवां निन्हव बोटिकमत या दिगम्बर मत है, जो वीर निर्वाणके ६०९ (वि० सं० १३९) वर्ष पश्चात प्रगट हुआ १।

इस आठवें निन्हव दिगम्बर मतको जन्म देने वाला शिवभूति नामका एक आवारा राज-सेवक था जो घरसे झगड़ कर आर्य कृष्ण नामक आचार्यके पाद-मूलमें स्वयं ही दीक्षित होकर साधु बन गया। एक बार राजाने उसे रत्नकम्बल भेंट दिया। आचार्यके मना करने पर भी शिवभूतिने उसे लेकर छिपा लिया। ज्ञात होने पर गुरुने उसके टुकड़े करके साधुओंको पैर पूंछनेके लिये दे दिये। शिवभूति बुरा मान गया। एक दिन गुरु जिनकल्पी साधुओंका वर्णन कर रहे थे। उसे सुनकर शिवभूति बोला—जिनकल्प ही क्यों नहीं धारण करते? गुरु बोले—जम्बू स्वामीके पश्चात् जिनकल्प विच्छिन्न हो गया। शिवभूति बोला—मेरे रहते जिनकल्प विच्छिन्न कैसे हो सकता है? गुरुके समझाने पर भी वह नहीं माना और वस्त्र त्यागकर दिगम्बर होगया तथा दो शिष्योंको दीक्षित करके बोटिकमत चलाया।

दोनों सम्प्रदायोंकी उक्त कथाओंका निष्कर्ष इस प्रकार है—

१—दिगम्बरोंका कहना है कि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समय तक सब जैन साधु दिगम्बर ही रहते थे। भद्रबाहुके समयमें अशक्त साधुओंको दुर्भिक्षकी कठिनाइयोंके कारण अर्धफालक (वस्त्र-खण्ड) स्वीकार करना पड़ा। आगे चलकर विक्रम राजाकी मृत्युके १३६ वर्ष बाद इस अर्धफालक सम्प्रदायसे श्वेताम्बर सम्प्रदायका जन्म हुआ।

२—श्वेताम्बरोंका कहना है कि जम्बूस्वामीके पश्चात् जिनकल्प विच्छिन्न होगया। अर्थात् जम्बूस्वामी तक तो जैन साधु दिगम्बर रह सकते थे, दिगम्बर रहना सबके लिये अनिवार्य नहीं था। उनके पश्चात् साधुके लिये दिगम्बर रहना निषिद्ध हो गया। किन्तु वीर निर्वाणके ६०९ वर्ष पश्चात् शिवभूति नामके साधुने उसे चलाकर दिगम्बर मतको जन्म दिया।

उक्त निष्कर्षमें निहित समस्याको सुलझानेके लिये साधुओंके वस्त्र-परिधान अथवा त्यागके सम्बन्धमें विचार करना आवश्यक है। श्वेताम्बर आगमोंके अवलोकनसे ऐसा प्रतीत होता है कि भ० महावीरने पार्श्वनाथके धर्ममें कुछ सुधार किये थे। भगवती सूत्रमें कलास वेसीयपुत्त जो पार्श्वापत्येय था और महावीरके शिष्यमें विवाद होनेकी चर्चा है। अन्तमें कलास प्रार्थना करता है कि मैं १तुम्हारे पासमें चातुर्याम धर्मसे पंच महाव्रत रूप सप्रतिक्रमण धर्मकी दीक्षा लेकर विहार करूँगा। अर्थात् पार्श्वनाथके धर्ममें चार यम

१—छव्वाससयाइं नवुत्तराइं तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
तो बोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥२५५०॥
—विशे० भा०

१ 'तुज्झं' अंतिए चातुज्जामातो धम्मातो पंचमहव्वियं सपडिक्कमनं धम्मं उवसंपज्जिता विहरित्तए।

थे— ब्रह्मचर्यव्रत परिग्रह-त्यागमें सम्मिलित था। महावीरने उसे अलग करके पांच महाव्रत कर दिये। तथा पार्श्वनाथका धर्म प्रतिक्रमण-रहित था—किन्तु महावीरका धर्म सप्रतिक्रमण था। दिगम्बर ग्रन्थ मूलाचारमें भी कहा है कि भगवान् ऋषभदेव और महावीरके सिवाय शेष बाईस तीर्थंकरोंने छेदोपस्थापना चारित्रका उपदेश नहीं दिया। कारण यह है कि सामयिक व्रतमें दूषण लगने पर छेदोपस्थापनाकी आवश्यकता होती है। किन्तु उस समयके मनुष्य ऋजु और प्राज्ञ होनेके कारण व्रतमें दूषण नहीं लगाते थे। इसीसे उनके लिये प्रतिक्रमणकी भी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिये प्रतिक्रमण किया जाता है। भ० ऋषभदेवके समयके लोग ऋजु किन्तु जड़ (अज्ञानी) थे और महावीरके समयके मनुष्य वक्र (कुटिल) और जड़ थे। इसलिये आदि और अन्तके तीर्थंकरोंके धर्मसे शेष बाईस तीर्थंकरोंके धर्ममें कुछ अन्तर होता है—ऐसा श्वेताम्बर साहित्यमें लिखा है।

उत्तराध्ययन सूत्रमें लिखा है कि जब पार्श्वनाथकी परम्पराके अनुयायी केशीने गौतमसे प्रश्न किया कि भगवान् महावीर और पार्श्वनाथका धर्म जब एक ही है तो क्या कारण है कि महावीरने अपना धर्म 'अचेलक' रखा और पार्श्वनाथने 'सान्तरोत्तर'? तब गौतमने उत्तर दिया भगवान् पार्श्वनाथके समयके मनुष्य सरल और बुद्धिमान् थे, भगवान्का ठीक-ठीक आशय समझते थे और उसमें अर्थका अनर्थ नहीं करते थे। किन्तु भगवान् महावीरके समयके मनुष्य मन्दबुद्धि और कुटिल हैं अतः भगवान्ने स्पष्ट रूपसे अपने धर्मको 'अचेलक' रक्खा। हरिभद्रसूरि[1] ने 'पञ्चाशक' में भ० महावीरके धर्मको 'दुरनुपालनीय' बतलाया है। टीकाकार अभयदेव सूरिने उसका अर्थ करते हुए लिखा है—अन्तिम जिनके साधु वक्रजड होते हैं जिस-तिस बहानेसे हेय पदार्थोंका भी सेवन करते हैं।

अतः पार्श्वनाथ और महावीरके धर्ममें यदि कुछ अन्तर था तो पालक मनुष्योंकी मनःस्थितिके कारण ही अन्तर था–अभिप्रायमें कोई अन्तर नहीं था। चूंकि प्रकृत चर्चा वस्त्रके सम्बन्धमें है अतः उसे ही लेना उचित होगा।

केशी-गौतम-संवादमें महावीरके धर्मको 'अचेलक' और पार्श्वनाथके धर्मको 'सान्तरोत्तर' बतलाया है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ज्यों-ज्यों वस्त्र-पात्रवादका जोर होता गया त्यों-त्यों 'अचेलक' शब्दका अर्थ भी बदलता गया। हरिभद्र[1]-सूरिने नग्न जैसे स्पष्ट शब्दके उपचार नग्न और निरुपचरित नग्न दो भेद करके कुचेलवान् साधुको उपचरित नग्न और जिनकल्पीको निरुपचरित नग्न कहा है। इसी तरह अचेलका अर्थ अल्पचेल[2] और अल्प[3]मूलचेल किया गया है। यही बात 'सान्तरोत्तर' शब्दके सम्बन्धमें भी हुई। अचेलका अर्थ 'अल्पमूल्यचेल' करने वाले टीकाकार नेमिचन्द्रने 'सान्तरोत्तर' का अर्थ किया है–'सान्तर' अर्थात् वर्द्धमान स्वामीके साधुओंकी अपेक्षा प्रमाण और वर्णमें विशिष्ट, और 'उत्तर' अर्थात् महा मूल्यवान् होनेके कारण प्रधान, ऐसे वस्त्र जिसमें धारण किये जाते हैं। इसका यह मतलब हुआ कि पार्श्वनाथके साधुओंको महा मूल्यवाले और चित्र विचित्र कपड़े पहिननेकी अनुज्ञा थी और भ० महावीरके साधुओंको अल्पमूल्य वाले वस्त्र पहिनने की। किन्तु दोनों ही अर्थ प्रवृत्तिमूलक हैं, सैद्धान्तिक नहीं हैं।

आचारांग सूत्रके विमोक्षाध्ययनमें भी वस्त्रके प्रकरण (सू० २०१) में 'संतरुत्तर' पद आया है। आचार्य शीलांकने इसका अर्थ किया है–सान्तर[4] है उत्तर–ओढना जिसका। अर्थात् जो वस्त्र को आवश्यकता होने पर ओढ़ता है और फिर उतार कर पासमें रख लेता है। अचेलकके वास्तविक अर्थ वस्त्र-रहितके साथ इस अर्थकी संगति ठीक बैठ जाती है। महावीर स्वामीका धर्म अचेलक था उनके साधु निर्वस्त्र रहते थे और पार्श्वनाथका धर्म 'सान्तरोत्तर' था, उनके साधु आवश्यकता होने पर वस्त्र ओढ लेते थे। इसीलिये श्वेताम्बर साहित्यमें महावीरके धर्मको अचेल और पार्श्वनाथके धर्मको सचेल और अचेल कहा है। वस्त्र धारण करने के तीन कारण बतलाये[1] हैं। एक ह्री-प्रत्यय, लज्जाके कारण, एक जुगुप्सा-प्रत्यय–लिंग दोष होने पर लोकनिन्दाके कारण और शीतादि परीषहके कारण। अतः

१—दशवैकालिक टीकामें।

२—आचारांग सू० १८२ टीका शीलांक में।

३—अल्पमूल्यं चेलमप्यचेलम्—उत्तरा० टी० नेमिचन्द्र पृष्ठ १७।

४—सान्तरमुत्तरं प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित्प्रावृणोति क्वचित् पार्श्ववर्ति बिभर्ति।

१ तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरिज्जा-'हीरिवत्तियं' दुगुंच्छावत्तियं, परीसहवत्तियं।

हो सकता है कि अपने अनुयायियोंको सरल हृदय और विवेकशील समझकर पार्श्वनाथने उक्त तीन स्थितिमें वस्त्र धारण की आज्ञा दे दी हो। किन्तु स्वयं तो वे महावीरकी तरह अचेलक-नग्न दिगम्बर ही रहे थे—जैसा कि जिनभद्रगणिने अपने विशेषावश्यक भाष्य[२] में सभी तीर्थङ्करोंके लिये लिखा है कि वे वैसे तो वस्त्र-पात्र ग्रहण नहीं करते, किंतु सवस्त्रतीर्थका उपदेश देनेके लिये एक वस्त्र ग्रहण करते हैं और उसके गिर जाने पर अचेलक हो जाते हैं, अस्तु।

फिर भ० महावीरके समयमें पार्श्वनाथको हुए २५० वर्ष हो गये थे। अतः यह भी संभव है कि इतने समयमें उनके अनुयायी साधुओंमें भी शिथिलाचार आगया और यद्यपि उन्होंने महावीरका धर्म अंगीकार किया, किन्तु शिथिलाचारकी प्रवृत्ति न गई हो और आगे चलकर उनके संसर्गसे ही महावीरके साधु-संघमें भी वस्त्रकी ओर अभिरुचि उत्पन्नकी हो। कुछ देशी और विदेशी विद्वानोंका भी ऐसा विचार है। भद्रबाहुके समयमें दुर्भिक्षकी भयानकतासे उक्त प्रवृत्तिको प्रोत्साहन मिलना तो साधारण बात है। अतः उस समय मानसिक प्रवृतिका बाह्य रूप लेलेना असंभव नहीं है।

हरिषेणकी कथा बतलाती है कि पहले अर्धफालकके रूपमें वस्त्रकी प्रवृत्ति आई। अर्थात् बायें हाथ पर वस्त्र डालकर उसे आगे कर लेते थे। मथुराके कङ्काली टीलेसे जो आयाग पट्ट मिला है उसमें एक साधुकी मूर्ति है बनी जो बायें हाथ में एक वस्त्र खंडके द्वारा अपनी नग्नताको छिपाये हुए है। उसे, आर्य[१] कण्हकी मूर्ति कहा है और सम्वत् ९५ की बतलाई है। यह आर्यकण्ह वे ही जान पड़ते हैं जिनके पास शिवभूतिने दीक्षा ली थी। चूंकि मथुरासे प्राप्त शिलालेखोंमें जो आचार्य आदिके नाम आये हैं वे श्वेताम्बर कल्पसूत्र के अनुसार[२] हैं, अतः उक्त मूर्ति श्वेताम्बर साधु कण्ह की हो सकती है और ऐसी स्थितिमें यह मानना होगा कि विक्रमकी प्रथम शतीमें श्वेताम्बर साधु भी एक तरहसे नग्न ही रहते थे। उसके पश्चात् ही वस्त्रकी वृद्धि हुई। हरिभद्रसूरिने सम्बोधप्रकरणमें अपने समयके शिथिलाचारी साधुओंकी चर्चा करते बतलाते हुए लिखा है कि वे बिना कारण कटिवस्त्र बाँधते हैं। विशे० भा० (गा. २५९९) की टीकामें मलयगिरिने लिखा है कि साधु कांछ नहीं लगाते, दोनों कूर्परोंके अग्र भागमें ही चोलपट्टक धारण करते हैं। अतः विक्रमकी आठवीं शताब्दि और उसके बाद भी श्वेताम्बर धुमायोंमें वस्त्रका अनावश्यक उपयोग नहीं होता था। किन्तु धीरे धीरे उसमें वृद्धि होती गई और इस तरह जैन धर्म श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायमें विभाजित होगया।

२ गाथा २५८१-२५८३।

१-२ देखो जैन साहित्यनो इतिहासमें लगा चित्र, पृ. १२४

विचार-कण

संसारमें दुःखादिका कारण परिग्रह पिशाच है। यह जहाँ आया अच्छे अच्छे महापुरुषोंकी मति भ्रष्ट करदेता है। परिग्रहकी मूर्च्छा इतनी प्रबल है कि आत्माको आत्मीय ज्ञानसे वंचित कर देती है। जब तक इसका सद्भाव है आत्मा यथाख्यातचारित्रसे वंचित रहता है। अविरत अवस्थासे पार होना कठिन है।

जब परिग्रह नहीं तब कलुषित होनेका कोई करण नहीं। किन्तु वास्तवमें देखा जावे तब हमने परिग्रह त्यागा ही नहीं। जिसको त्यागा वह तो परिग्रहही नहीं। वह तो पर पदार्थ है उसको त्यागना ही भूल है। उनका तो आत्मासे कोई सम्बन्ध ही नहीं। आत्मा तो दर्शन ज्ञान चारित्रका पिण्ड है। उस मोहके विपाकसे कलुषता आती है वह चारित्र गुणकी विपरिणति है उसे त्यागना चाहिये। उसका त्याग यही है परन्तु उसका खेद मत करो। उसमें निजत्वकी कल्पना भी मत करो!

परकी आलोचनासे सिवा कलुषताके कुछ हाथ नहीं आता। परन्तु अपने उत्कर्षको व्यक्त करनेकी जो अभिलाषा है वह दूसरोंकी आलोचना किये बिना पूर्ण नहीं होती। उसे पूर्ण करनेके लिये मनुष्य जब परकी आलोचना करता है तब उसके ही कलुषित परिणाम उसके सुगुण घातक बन बैठते हैं।

निंदामें विषादका होना और प्रशंसामें हर्षका होना तो प्रायः बहुत मनुष्योंको होता है परन्तु हमको तो निन्दा ही अच्छी नहीं लगती। और प्रशंसामें भी खेद होता है। वास्तवमें ये अनात्मीय धर्म हैं इसमें रागद्वेष करना सर्वथा वर्जनीय है।

—वर्णी वाणीसे

समन्तभद्रका समय

(डा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए., एल. एल. बी.)

आधुनिक युगमें स्वामी समन्तभद्रकी ऐतिहासिकता एवं समयादिका सूचन डाक्टर आर. जी. भंडारकर, के. बी. पाठक, सतीशचन्द्र विद्याभूषण, ई. पी. राइस, लुइसराइस, आर. नरसिंह आचार्य, रामास्वामी आयगर आदि प्राच्य-विदोंने अपने-अपने लेखों एवं ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम किया था। समन्तभद्र-सम्बन्धी ये सूचन और विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त और प्रायः चलतऊ थे। अपनी परंपरामें प्रचलित अनुश्रुति-के अनुसार जैनोंकी यह धारणा रहती आई है कि आप्त-मीमांसा, स्वयंभूस्तोत्र, रत्नकरंडश्रावकाचार आदिके रचयिता महान् दिगम्बराचार्य स्वामी समन्तभद्र विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हुए थे। डा० भंडारकरको शक संवत् ६० (सन् १३८ ई०) में समन्तभद्रके होनेका उल्लेख लिये हुए एक पट्टावली प्राप्त हो गई जिससे उपरोक्त जैन अनुश्रुतिका समर्थन होता था—संभव है कि वह पट्टावली ही उक्त अनुश्रुतिका मूलाधार रही हो। डा० भंडारकरकी उक्त सूचनाके आधार पर अन्य अधिकांश विद्वानोंने समन्तभद्रके उक्त परम्परा-सम्मत समयको साधार होनेके कारण प्रायः मान्य कर लिया। किन्तु डा० पाठक और डा० विद्याभूषण-ने उसे मान्य नहीं किया। प्रथम विद्वान्ने उसके स्थानमें ८ वीं शताब्दी ई०के पूर्वार्धमें तथा दूसरेने छठी शताब्दी ई० के अन्तके लगभग समन्तभद्रका होना अनुमान किया।

स्वामी समन्तभद्रके अनन्य भक्त, उनके इतिहासके अथक गवेषक तथा उनकी वाणीके उत्साही प्रभावक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने लगभग तीस वर्ष हुए अपने प्रायः दो सौ पृष्ठके महत्त्वपूर्ण निबन्धमें स्वामी समन्तभद्र-के इतिहासका विवेचन किया था और उस निबन्धके लगभग आधे भागमें बहुत विस्तार एवं ऊहापोहके साथ उक्त आचार्यके समयका निर्णय करनेका प्रयत्न किया था। उन्होंने पाठक, विद्याभूषण प्रभृति उन विद्वानोंकी युक्तियोंको जो समन्तभद्रको अपेक्षाकृत अर्वाचीन सिद्ध करना चाहते थे, निस्सार सिद्ध कर दिया था। किन्तु स्वयं भी केवल इसी निष्कर्ष पर पहुँच सके थे कि '...समन्तभद्र विक्रम की पांचवीं शताब्दीसे पीछे अथवा ईस्वी सन् ४५० के बाद नहीं हुए; और न वे विक्रमकी पहली शताब्दीसे पहलेके ही विद्वान् मालूम होते हैं—पहलीसे पांचवीं तक पांच शताब्दियोंके मध्यवर्ती किसी समयमें ही वे हुए हैं। स्थूल-रूपसे विचार करने पर हमें समन्तभद्र विक्रमकी प्रायः दूसरी या दूसरी और तीसरी शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं। किन्तु निश्चयपूर्वक यह बात भी अभी नहीं कही जा सकती।'

मुख्तार साहबके इस निबन्धके प्रकाशनके उपरान्त भी कई विद्वानोंने समन्तभद्रको विक्रमकी ५वीं, ६ठी या ७वीं *शताब्दीका विद्वान् ठहरानेका प्रयत्न किया।* दूसरे विद्वानों-ने इन नवीन मतोंका सफल खंडन भी किया। सन् १९४७ ई० में हमने भी 'स्वामी समन्तभद्र और इतिहास' शीर्षक एक विस्तृत लेख द्वारा ईस्वी सन्की प्रारम्भिक शताब्दियोंके दक्षिण भारतीय इतिहासकी पृष्ठभूमिमें स्वामी समन्तभद्रका समय-निर्णय करने और उनके इतिवृत्तका पुनर्निर्माण करनेका प्रयत्न किया था। उस लेखका सारांश वर्णी अभि-नन्दन ग्रन्थमें प्रकाशित हुआ था। स्थानाभावके कारण ग्रन्थके संपादकोंने उक्त लेखमेंसे विभिन्न मत-मतान्तरोंकी आलोचना तथा राजनैतिक इतिहासके विवेचनसे संबन्धित कई बड़े बड़े अंश छोड़ दिये थे। इस लेखमें हमने समस्त उपलब्ध प्रमाणों एवं ज्ञात मतोंकी आलोचना एवं विवेचन करते हुए स्वामी समन्तभद्रका समय १२०-१८५ ई० निर्णय किया था और यह प्रतिपादित किया था कि उनका जन्म पूर्वी तटवर्ती नागराज्यसंघके अन्तर्गत उरगपुर (उरैयूर= वर्तमान त्रिचनापल्ली) के नागवंशी चोल-नरेश कीलिक-वर्मनके कनिष्ठ पुत्र एवं उसके उत्तराधिकारी सर्ववर्मन (सोर नाग) के अनुज राजकुमार शांतिवर्मनके रूपमें सम्भव-तया सन् १२० ई० के लगभग हुआ था, सन् १३८ ई० (पट्टावली प्रदत्त शक सं० ६०) में उन्होंने मुनिदीक्षा ली और १८५ ई० के लगभग वे स्वर्गस्थ हुए प्रतीत होते हैं। अभी हालमें ही अपने ग्रन्थ 'स्टडीज इन दी जैना सोर्सेज आव दी हिस्टरी आव एन्शेन्ट इंडिया' के लिये समन्तभद्र-सम्बन्धी समस्त सामग्रीका पुनः आलोडन परीक्षण करने पर भी उपरोक्त मतको संशोधित या परि वर्तित करनेका कोई कारण नहीं मिला।

अब अनेकान्त वर्ष १४ किरण १ के पृष्ठ ३-८ पर श्री मुख्तार साहबका 'समन्तभद्रका समय-निर्णय' शीर्षक लेख

प्रकाशित हुआ है। इस लेखमें वे अपने पूर्व निर्णयको संशोधित करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—'यह बात असंदिग्ध रूपसे स्पष्ट हो जाती है कि स्वामी समन्तभद्र विक्रमकी दूसरी शताब्दीके विद्वान् थे। भले ही वे इस शताब्दीके उत्तरार्धमें भी रहे हों या न रहे हों', तथा 'समन्तभद्र विक्रमकी दूसरी अथवा ईसाकी पहली शताब्दीका समय और भी अधिक निर्णीत और निर्विवाद हो जाता है।'

विद्वान लेखकने अपने इस निर्णयका प्रधान आधार निम्नलिखित साधनोंको बनाया है—

(१) कथित दिगम्बर पट्टावलीका उल्लेख—'६० शाके राज्ये *दिगम्बराचार्यः १७ श्रीसामन्तभद्रसूरिः।'*

(२) कतिपय श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें सामन्तभद्र नामक एक आचार्यके पट्टारम्भकी तिथिका वीर नि० सम्वत् ६४३, तथा उनके पट्टशिष्य द्वारा एक प्रतिष्ठा करानेको तिथिका वीर नि० सम्वत् ६९५ में दिया जाना।

(३) लूइसराइस द्वारा दूसरी शती ईस्वीके अन्तके लगभग गंगराज्यकी स्थापना करनेवाले आचार्य सिंहनन्दिका समन्तभद्रके बादमें होना अनुमान किया जाना।

(४) हुमच (शिमोगा, नगर तालुके) से प्राप्त ११वीं १२वीं शताब्दी ई० के तीन शिलालेखोंमें गंगराज-संस्थापक सिंहनन्दिका समन्तभद्रके अन्वयमें होना सूचित किया जाना। और

(५) नंजनगूड तालुकेसे प्राप्त और एपीग्राफी कर्णाटिकाकी जिल्द ८ में नं० ११० पर प्रकाशित वह शिलालेख जिसमें प्रथम गंगनरेश-द्वारा शक सम्वत् २५ (सन् १०३ ई०) में किसी दानके दिये जानेका उल्लेख है।

उपरोक्त प्रमाणोंमेंसे पहले तीन मुख्तार साहबके सन्मुख उस समय भी उपस्थित थे जब उन्होंने अपना 'स्वामी समन्तभद्र' शीर्षक निबन्ध प्रकाशित किया था। अन्तिम दो भी यद्यपि प्रकाशमें आ चुके थे, किन्तु उनकी ओर उनका ध्यान उस समय तक आकृष्ट नहीं हुआ था। अपने प्रस्तुत निर्णयमें सर्वाधिक बल उन्होंने नं० ५ वाले प्रमाण पर ही दिया है और उसीके आधार पर समन्तभद्रको प्रथम शताब्दी ईस्वीका विद्वान् निर्णीत किया है।

किन्तु जहां तक इस शिलालेखका प्रश्न है, गंगवंशकी कालानुक्रमणिकाको स्थिर करनेमें किसी भी विद्वानने इसका उपयोग या संकेत नहीं किया है। मैसूरके प्राचीन गंगवाडि राज्यकी स्थापनामें जैनाचार्य सिंहनन्दिका प्रेरक एवं सहायक होना सभी विद्वान मान्य करते हैं, प्रमाणबाहुल्य उन्हें इस तथ्यको मान्य करनेके लिये बाध्य करता है। किन्तु सिंहनन्दि-द्वारा गंगराज्यकी संस्थापन-तिथिके सम्बन्धमें भारी मतभेद है। फ्लीट, नरसिंहाचार्य, कृष्णास्वामी आयंगर, शामाशास्त्री, गोविन्दपै, कृष्णाराओ, सिवेल, मोरेइस, रामास्वामी आयंगर, सालतोर, श्रीकण्ठशास्त्री आदि जितने विद्वानोंने भी गंगनरेशोंके इतिहास, कालक्रम एवं अभिलेखों पर कार्य किया है उन सबहीने उपरोक्त कथित शक सम्वत् २५ वाले अभिलेखकी उपेक्षा की है और सिंहनन्दि-द्वारा गंगवंशकी स्थापना तथा इस वंशके प्रथम नरेश माधव प्रथम कोंगुणिवर्मनकी तिथि *तीसरी शताब्दी ई० के मध्यके* लगभग निश्चित की है। कुछ विद्वान् तो इस तिथिको चौथी शताब्दी ईस्वीके उत्तरार्ध अथवा पांचवीं शताब्दी ईस्वीके पूर्वार्ध तकमें निश्चित करते हैं। स्वयं लुइसराइसने जिसने उक्त शिलालेखको प्रकाशित किया था उसके आधार पर अपने मतमें परिवर्तन नहीं किया। राइसके मतानुसार गंगराज्यकी स्थापना दूसरी शताब्दी ईस्वीके अन्तके लगभग हुई थी और क्योंकि तामिल इतिहास ग्रन्थ 'कोंगुदेशराजक्कल' के लेखकने कुछ अन्य आधारों पर वह तिथि १८८-८९ ई० तथा कोंगुणिवर्मन प्रथमका समय १८९-२४० ई० निश्चित किया था राइसने इन तिथियोंको ही अपनी गंगकलानुक्रमणिकाका आधार बनाया। वस्तुतः अन्य मतोंकी अपेक्षा यही मत अधिक संगत एवं मान्य भी हुआ।

इस (*शक २५ वाले*) *शिलालेखको मान्यता प्राप्त* न होनेका कारण यही था कि वह अभिलेख जाली अथवा बहुत पीछे लिखा गया माना जाता रहा है। भाषा और लिपि तथा उसमें उल्लेखित तथ्य उसके दूसरी शती ई० के आरम्भका होनेमें विरुद्ध पड़ते हैं। शक सम्वत् की प्रारम्भिक दो तीन शताब्दियोंमें इस सम्वत्के शक नामसे प्रयुक्त होने का कोई भी असंदिग्ध प्रमाण अन्यत्र नहीं मिला है। उत्तरापथमें उदित इस संवत्का २५ वर्षके भीतर ही सुदूर दक्षिण कर्णाटकमें प्रचलित हो जाना भी प्रायः असम्भव है। कोंगुणिवर्मन सभी गंगनरेशोंकी वंश-विशिष्ट उपाधि थी और 'कोंगुणिवर्म धर्ममहाधिराज' के रूपमें उसका सर्वप्रथम प्रयोग इस वंशके सातवें नरेश अविनीत के समय से ही मिलना प्रारम्भ होता है। प्राचीन गंग अभिलेखोंमेंसे अनेक जाली या अविश्वसनीय सिद्ध हुए हैं। स्वयं अविनीतका मर्करा ताम्रपत्र (शक ३८८) भी जाली अथवा

कई शताब्दि उपरान्त मूल दानशासनका नवीनीकरणमात्र ही माना जाता है। प्रस्तुत शिलालेखके सम्बन्धमें भी यही समझा जाता है कि यदि यह बिल्कुल जाली नहीं है तो कम-से-कम यह बात तो निश्चित है कि इसमें से 'पंचविंशति' के साथ प्रयुक्त होनेवाला शताब्दि सूचक शब्द या तो नष्ट हो गया है अथवा लेखककी भूलसे छूट गया है और यह लेख किसी उत्तरवर्ती गंग नरेशका है।

इसके अतिरिक्त, गंग शिलालेखोंके अनुसार सिंहनन्दि द्वारा प्रस्थापित नवीन गंगवाडि राज्यकी पूर्वी सीमा तोंडेयनाडु थी। तोंडेयनाडु या तोंडेयमंडलम्‌का उदय १५० ई० के उपरान्त हुआ था। उसकी राजधानी कांचीका निर्माण, विकास एवं प्रसिद्धि भी तभीसे प्रारम्भ हुई। यूनानी भूगोलवेत्ता टालेमीकी साक्षीके अनुसार १४० ई० तक पूर्वीतटकी नागसत्ता विद्यमान थी और उस समय तोंडेयमंडलका कोई अस्तित्व न था। १५० ई० के उपरान्त नागसत्ताके विच्छिन्न होने पर एवं कांचीमें पल्लव वंशकी स्थापना होने पर उक्त नाम प्रसिद्ध हुए।

गंगवंशकी स्थापना तिथिके लगभग एक सौ वर्ष पीछे ले जानेसे सुनिश्चित तिथियों एवं नाम तथा घटना समीकरणों के आधार पर गंगवंशकी जो कालानुक्रमणिका स्थिर की जाती है वह सब विच्छिन्न हो जाती है और उसमें अपरिहार्य बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

आचार्य सिंहनंदिके समय-निर्णयका गंगराज्य स्थापनकी घटनाके अतिरिक्त और कोई अन्य सुनिश्चित आधार नहीं है और इस घटनाके आधार पर उनका समय दूसरी शताब्दी ईस्वीके अन्तिम दशकसे लेकर तीसरी शताब्दी ई० के मध्यके बीच स्थिर होता है, उसके पूर्व नहीं। अतः सिंहनंदिके पूर्वापरके आधार पर समन्तभद्रको पहली शताब्दी ईस्वी में हुआ सिद्ध करना न प्रमाण संगत ही है और न युक्ति-संगत ही।

इसके अतिरिक्त आचार्य समन्तभद्रको पहली शताब्दी ई० में हुआ मानने में और भी अनेक बाधाएँ हैं यथा—

(१) बौद्ध विद्वान् नागार्जुन कुषाणकालमें हुआ था और उसकी अंतिम ज्ञात तिथि १८१ ई० है। समन्तभद्रका उस पर और उसका समन्तभद्र पर साक्षात् प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(२) अनुश्रुतियों एवं शिलालेखोंके अनुसार समन्तभद्र न केवल कुन्दकुन्द और उनके शिष्य कुन्दकीर्तिके, वरन् उमास्वामी और उनके पश्चात् होने वाले बलाकपिच्छके भी उत्तरवर्ती हैं। उमास्वामी कुन्दकुन्दके पश्चात् हुए हैं और ये दोनों विद्वान् पहली शताब्दी ईस्वी के हैं। बल्कि उमास्वामीके तो दूसरी शताब्दी ई०के कुछ भागमें भी जीवित रहनेकी संभावना है। स्वयं मुख्तार साहबकी अभी तककी मान्यता इसके विपरीत नहीं है।

(३) दिगम्बर आम्नायके आगमोंके संकलनकर्त्ता आचार्य गुणधर, आर्यमंक्षु, नागहस्ति और धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलिका समय भी पहली शताब्दी ईस्वी ही निश्चित होता है। उसके उपरान्त रहा मानने वाले विद्वान् तो हैं किन्तु उससे पूर्व रहा प्रायः कोई भी नहीं मानता। समन्तभद्रने अपना गंधहस्तिमहाभाष्य भूतबलिके षट्खण्डागम अथवा उमास्वामीके तत्त्वार्थाधिगम पर रचा था ऐसा माना जाता है।

(४) *दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भेद* तथा दाक्षिणात्य मूलसंघका उपसंघोंमें विभाजन पहली शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुआ था। जिन शिलालेखों (हुमच पंच बसदि आदि) को सिंहनंदिका समन्तभद्रके अन्वय या साक्षात् शिष्य-परम्परामें होनेके लिये आधार बनाया गया है उन्हींके समकालीन एवं समान आशय वाले अन्य कई शिलालेखोंमें सिंहनंदिको मूलसंघान्तर्गत कुन्दकुन्दान्वयके काणूरगण, मेषपाषाणगच्छका आचार्य सूचित किया गया है (११२२ ई० का सिद्धेश्वर बसदि लेख, इ. सी. VII)।

सिंहनंदिके इतने निकट पूर्ववर्ती समन्तभद्रका भी यही गण, गच्छ आदि होना संभव है। किन्तु अर्हद्बलि द्वारा मूलसंघके प्रस्थापित नंदि, देव, सिंह, सेन, भद्र आदि भेदों में काणूर गणका कहीं पता नहीं चलता। इन गणगच्छ आदिकी उत्पत्ति होने या उनके रूढ होने एवं शाखा-प्रशाखाओंमें बँटनेके लिये एक शताब्दीका समय भी थोड़ा ही है।

(५) जहां तक श्वेताम्बर पट्टावलियोंके १७वें आदि पट्टधर श्वेताम्बराचार्य सामन्तभद्रसूरिके साथ दिगम्बराचार्य स्वामी समन्तभद्रका अभिन्नत्व सिद्ध करनेका प्रयत्न है, वह निस्सार सा है। एक सम्प्रदायके विद्वानोंने दूसरे सम्प्रदायके प्रतिभाशाली विद्वानोंकी प्रशंसा और उनके प्रति आदर प्रदर्शन तो बहुधा किया है, किन्तु अपने आम्नायके एक कट्टर समर्थक, पोषक एवं प्रभावक विद्वानको दूसरे सम्प्रदाय द्वारा अपना लिये जानेके शायद ही कोई उदाहरण मिलें, और जबकि उन्हें अपना लेने पर भी उनको किसी भी

कृतिको न अपनाया जावे। एक नामके एक ही समयमें एक ही सम्प्रदायमें एकाधिक विद्वानोंके होनेकी बात जैन संघमें अनोखी नहीं है तब प्रायः एक ही समयमें दोनों ही सम्प्रदायोंमें मिलते-जुलते नामके दो विद्वानोंका होना असंभव नहीं है। प्रस्तुत अभिन्नत्वको सिद्ध करनेका प्रयत्न पहिले भी कतिपय विद्वानों द्वारा हो चुका है। किन्तु ऐसे विचार या प्रयत्न सदेच्छा-सूचक मात्र ही हैं। यदि इस अभिन्नत्वकी थ्योरीमें कुछ तथ्यांश मान भी लिया जाय तो भी उक्त पट्टावलियोंके अनुसार समन्तभद्रका समय ११६ ई० (वी. नि. सं० ६४३) से लेकर १६८ ई० (वी. नि. सं ६९५) जो कि उनके पट्टशिष्यका समय सूचित किया गया है, तक चलता है और यह समय हमारे द्वारा निर्णीत समय (१२०-१८५ ई०) के साथ ही अधिक मेल खाता है।

(६) समन्तभद्रकी तिथि सन् १३८ ई० (शक सं ६०) प्रदान करने वाली जो पट्टावली है, जिसे कई स्थलों पर दिगम्बर पट्टावलीके नामसे उल्लेखित किया गया है तथा जिसे किसी श्वेताम्बर विद्वान् द्वारा संकलित की गई बताया है वह भंडारकरकी रिपोर्टमें संग्रहीत पट्टावलीसे अभिन्न जान पड़ती है।

इस पट्टावलीमें उदारमना संकलनकर्ताने दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदभावके बिना अपनी दृष्टिमें श्री वर्धमान स्वामी प्ररूपित शुद्ध धर्मके आराधक प्रमुख-प्रमुख अथवा विख्यात जैनाचार्योंकी एक कालक्रमानुसार सूची बनाई प्रतीत होती है। ऐसी स्थितिमें उसे किसी विशेष पट्ट-परम्पराका सूचक मानना भ्रमपूर्ण होगा और इसीलिये यही अधिक सम्भव है कि जिन जिन आचार्योंका उन्होंने उल्लेख किया है उनके संबंधमें जिस सर्वाधिक महत्वपूर्ण तिथिको उन्होंने परंपरा अनुश्रुतिसे प्राप्त किया, उसे ही लिख दिया। किसीकी तिथि निधनकी सूचक हो सकती है, तो किसीकी पट्टारंभकी सूचक; दीक्षा-समयकी सूचक, जन्मकी सूचक अथवा अन्य किसी विशेष घटना या प्रभावक कार्यकी सूचक भी हो सकती है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि समन्तभद्रकी तिथि (शक सं० ६०) उनके निधनकी ही सूचक हो, वह उनके दीक्षारंभकी भी सूचक हो सकती है जैसा कि हमारा अनुमान है।

उपरोक्त तथ्योंकी दृष्टिसे समन्तभद्रका समय दूसरी शताब्दी ई० से पहले ले जाना, अथवा १२०-१८५ ई० से अधिक इधर-उधर करना प्रमाण एवं युक्ति दोनोंसे बाध्य प्रतीत होता है।

सम्पादकीय नोट—

इस सारे लेखका सार अथवा फलितार्थ इतना ही है कि स्वामी समन्तभद्रका जो समय शक सम्वत ६० (सन् १३८ ई०) प्रसिद्ध तथा एक पट्टावलीमें अंकित है वह उनका निधन-समय न होकर उनको दीक्षाका समय है। परन्तु दीक्षाका समय है इसको स्पष्ट करके बतलाने वाला कोई भी प्रमाण लेखमें उपस्थित नहीं किया गया, जबकि पट्टावलीमें दिये हुए अन्य समयोंकी दृष्टिसे वह प्रायः निधन-समय प्रतीत होता है। उदाहरणके तौर पर पट्टावलीमें वीरके निर्वाणके १२ वर्ष बाद गौतमका समय और भद्रबाहु का १७० वर्ष बाद दिया है। ये दोनों समय महावीरके बाद उन आचार्योंके पट्टारोहणके समय न होकर उनके पट्ट-समयकी समाप्तिके द्योतक हैं। पट्टावलियोंमें आम तौर पर पट्टारोहण अथवा पट्ट-समाप्तिका समय ही दिया होता है—दीक्षाका नहीं। दीक्षाका समय जहाँ देना होता है वहाँ उसका स्पष्ट रूपसे उल्लेख किया जाता है। लेखक महाशयने डा० भण्डारकरके द्वारा सन् १८८३-८४ की रिपोर्टमें प्रकाशित उक्त पट्टावलीको देखा मालूम नहीं होता, यदि देखा होता तो उसके सम्बन्धमें जो कल्पनाएँ लेखके अन्तिम भागमें की गई हैं उनके करनेका उन्हें अवसर ही प्राप्त न होता। वह पट्टावली साफ़ तौर पर किसी श्वेताम्बर विद्वानके द्वारा ही संकलित की गई है और उसमें प्रायः श्वेताम्बर-आचार्योंके नामोंका ही उल्लेख है, नं० ६५ तक गुरु या पट्ट-परम्परा दी है, फिर अन्य घटनाओंका समयादिकके साथ उल्लेख किया है। अस्तु।

शक संवत् ६० (सन् १३८ ई०) को समन्तभद्रका निधन समय मानने पर यह तो स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि वे ईसाकी दूसरी शताब्दीके भी विद्वान् रहे हैं और इसलिये विचारणीय लेखमें ईसाकी पहली-दूसरी शताब्दीके स्थान पर यदि पहली शताब्दी ही छप गया है तो उसे लेकर यह प्रतिपादन करना तथा आपत्तिका विषय बनाना ठीक नहीं है कि मेरे द्वारा उस लेखमें समन्तभद्रका समय ईसाकी पहली शताब्दी ही सीमित किया गया है। लेखकने जो उक्त समयको दीक्षा-समय अनुमान किया है उसका प्रधान हेतु समन्तभद्रको नागार्जुनका उत्तरवर्ती बतलाकर

नागार्जुनका समय सन् १८१ ई० निर्दिष्ट करना है, परन्तु नागार्जुनका यह समय उन्होंने वर्णी-अभिनन्दन ग्रन्थमें दिये हुए अपने समन्तभद्र-सम्बन्धी लेखमें (पृ०३८४) 'तत्त्वसंग्रह' की जिस भूमिका पर आधारित किया है उस भूमिकाके लेखक उस समयके सम्बन्धमें स्वयं संदिग्ध हैं और उन्होंने जो सन् १८१ समय दिया है वह इस कल्पनाके आधार पर दिया है कि यदि १२ वें आचार्य (कुलगुरु) अश्वघोषकी मृत्युको सन् १२७ में मान लिया जाय और उसके बाद होने वाले गुरुओंके समयका औसत अन्तराल २७ वर्षका मान लिया जाय तो १४ वें गुरु नागार्जुनका मृत्यु-समय ई० १८१ और २१ वें गुरु विश्वबन्धुका मृत्यु-समय ३६० ई० बैठता है। ऐसे अनिश्चित समयको 'अन्तिम ज्ञाततिथि' प्रकट करना और उसके आधार पर समन्तभद्रके समयका ठीक निर्णय दे देना कल्पनाकी दौड़में वह जानेके सिवाय और कुछ भी नहीं है—उसे निरापद नहीं कहा जा सकता। नागार्जुनके समय-सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंका परस्पर मतभेद है। श्री राहुल सांकृत्यायन 'वादन्याय' की अपनी काल निश्चायक सूचीमें नागार्जुनका समय २५०ई० बतलाते हैं और विग्रह-व्यावर्तिनीकी प्रस्तावनामें विंटरनीजके द्वारा मान्य समय १६६-१९६ ई० को ठीक बतलाते हैं। ऐसी स्थितिमें समन्तभद्रका समय शक संवत् ६० अर्थात् ई० सन् १३८ नागार्जुनसे कितने ही वर्ष पूर्वका हो जाता है तथा समन्तभद्र नागार्जुनके समकालीन होते हुए भी वृद्ध ठहरते हैं और यह बात लेखक महोदयके खुदके कथनके विरुद्ध पड़ती है।

इसी तरह लेखमें अन्य अनेक बातें भी कल्पित आधारों पर स्थित हैं और उनसे प्रकृत विषयका कोई खास समर्थन नहीं होता। जब तक गंगवंशकी स्थापनाका समय ईसाकी दूसरी शताब्दीसे भिन्न कोई दूसरा प्रबल प्रमाणोंके आधार पर सुनिश्चित न हो जाय तब तक कुछ विद्वानोंके कोरे अनुमानों, अटकलों अथवा उनके द्वारा शक सम्वत् २५ वाले शिलालेखकी उपेक्षाका कोई विशेष मूल्य नहीं समझा जा सकता। उपेक्षा तो इसलिये भी हो सकती है कि उसके पास उसके विरोधमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं था। गंगवंशके जिन अभिलेखोंके जाली होने की कल्पना की जाती है उसके समर्थनमें जब तक कोई भी समर्थ एवं पुष्ट प्रमाण सामने नहीं आता तबतक उन्हें जाली नहीं माना जा सकता। लेखक महाशयका यह लिखना कि 'स्वयं लुइस राइसने जिसने उक्त शिलालेखको प्रकाशित किया था, उसके आधार पर अपने मतमें परिवर्तन नहीं किया' स्वयं उनके इस कथनके विरुद्ध पड़ता है जो उन्होंने 'वर्णी अभिनन्दन-ग्रन्थमें प्रकाशित अपने लेखमें निम्न शब्दों-द्वारा व्यक्त किया है—

"बादमें नागमंगल शिलालेखके आधार पर उन्होंने (लुइसराइसने इस तिथिको शक २५ (सन् २१३ ई०) अनुमान किया था। दूसरे विद्वानोंने राइस साहबके प्रथम मतको ही स्वीकार किया है।"

शक सम्वत्‌का दक्षिणमें प्रचार होनेके लिये २५ वर्षका समय पर्याप्त है। उसमें असंभवता जैसी कोई बात नहीं है, जिसकी लेखकने कल्पना कर डाली है।

श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें नं० १५, १६, अथवा १७ पर उल्लेखित 'सामन्तभद्र' दिगम्बर-पट्टावल्यादिमान्य 'समन्तभद्र' से भिन्न कोई दूसरे ही व्यक्तित्वके आचार्य थे, इसका पोषक कोई भी पुष्ट प्रमाण अभी तक सामने नहीं लाया गया। प्रत्युत इसके अनेक विचारशील श्वेताम्बर विद्वान् भी दोनोंके एक व्यक्तित्वको मानते हैं। मुनि श्री कल्याणविजयजीने अपने द्वारा सम्पादित तपागच्छकी पट्टावलीके प्रथम भाग (पृ० ८०) में आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयंभू और जिनस्तुति शतकको अपने सामन्तभद्रके ग्रंथ बतलाया है और लेखक महाशय इन्हीं ग्रंथोंको अपने दि० समन्तभद्रके ग्रन्थ बतलाते हैं, इससे भी समन्तभद्र और सामन्तभद्र दोनोंका व्यक्तित्व एक ठहरता है और वे दोनों संम्प्रदायोंके मान्य आचार्य पाये जाते हैं। जिस प्रकार उमास्वाति और सिद्धसेन आचार्योंके नाम उभय-संप्रदायकी पट्टावलियोंमें पाए जाते हैं उसी प्रकार समन्तभद्रका नाम भी दोनो सम्प्रदायोंमें अपने अपने सम्प्रदायके आचार्यरूपमें यदि पाया जाता है तो इसमें आपत्तिके लिये कोई स्थान नहीं और न असंभव जैसी कोई बात ही प्रतीतिमें आती है—खासकर उस हालतमें जबकि ग्रंथ भी दोनोंके भिन्न नहीं है और डा० भाण्डाकर-द्वारा प्रकाशित पट्टावलीमें श्वे० श्रीचन्द्रसूरि और देवसूरिके मध्यमें सामन्तभद्रसूरिके पट्टका उल्लेख करते हुए उन्हें साफ़ तौर पर 'दिगम्बराचार्यः' इस विशेषणके साथ उल्लेखित किया है और इस रूपसे ही उन्हें श्री वर्धमानस्वामीके द्वारा प्ररूपित शुद्धधर्मके आराधकोंकी पट्ट-परम्परामें स्थान दिया है।

लेखकका आचार्य कुन्दकुन्द, गुणधर, आर्य मंक्षु, नागहस्ती और धरसेनादि सभीको निश्चित रूपसे ईसाकी प्रथम

शताब्दीका विद्वान् बतलाना भी कल्पना मात्र है। इनमेंसे किसीका भी निश्चित समय अभी तक स्थिर नहीं हो पाया फिर भी धवलादिग्रंथोंसे इतना स्पष्ट है कि आर्यमंक्षु और नागहस्तीको गुणधराचार्यके कसायपाहुडका ज्ञान आचार्य-परम्परासे प्राप्त हुआ था। वे आ० गुणधरके साक्षात् शिष्य नहीं थे, उनसे यतिवृषभने उक्त पाहुडका ज्ञान प्राप्त किया था और इसलिये वे यतिवृषभके गुरु रूपमें समकालीन थे, जिनका समय ईसाकी पांचवीं शताब्दी पाया जाता है। गुणधराचार्यका समय पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्रीने कसायपाहुडकी प्रस्तावना (पृ० ४८) में विक्रम पूर्व एक शताब्दी बतलाया है। तब गुणधरके समय-सम्बन्धमें लेखकका यह कहना कि उसे ईसाकी पहली शताब्दीसे पूर्वका कोई भी विद्वान् नहीं मानता, समुचित नहीं कहा जा सकता।

लेखमें यह भी व्यक्त किया गया है कि समन्तभद्र नागवंशी चोल-नरेश कीलिक वर्मनके कनिष्ठ पुत्र तथा राज्यके उत्तराधिकारी सर्ववर्मन (मोरनाग) के अनुज राजकुमार शान्तिवर्मा थे; परन्तु इसका भी कोई स्पष्ट आधार-प्रमाण साथमें नहीं दिया गया, न उस लेखमें पाया जाता है जो वर्णिअभिनन्दनग्रंथमें मुद्रित हुआ है और अपने जिस नवीन ग्रंथका लेखकने उल्लेख किया है वह अभीतक मुद्रित होकर प्रकाशमें नहीं आया।

ऐसी स्थितिमें मैंने यह चाहा था कि लेखक महाशय अपने कथनोंकी पुष्टिमें स्पष्ट प्रमाणोंको सामने लानेकी कृपा करें—कोरी कल्पनाओं पर ही उनका आधार न रक्खें, जिससे लेखमें तदनुसार सुधार कर उसे छापा जाय; क्योंकि यदि शक संवत् ६० समन्तभद्रका दीक्षा-समय सिद्ध हो और यह भी सिद्ध हो कि वे चोल-नरेश कीलिकवर्माके कनिष्ठ पुत्र शान्तिवर्मा थे तो मुझे उसको माननेमें आपत्ति नहीं होगी। परन्तु वे ऐसा नहीं कर सके और लेखको ज्यों का त्यों छपाने की ही उनकी इच्छा रही। तदनुसार लेखको प्रकाशित करते समय मुझे यह सम्पादकीय नोट लगानेके लिये बाध्य होना पड़ा, जिससे व्यर्थके विचार-भेदको अवसर न मिले।

जुगलकिशोर मुख्तार

जीवन-यात्रा

(लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज')

कौन जाने किस समयसे पथिक पथमें जा रहा है?

राह उसकी दीर्घ यद्यपि, किन्तु फिर भी पार पाने।
शक्ति उसकी न्यून यद्यपि, किन्तु फिर भी आजमाने॥
सहचरी आशा लिये निज-पद बढ़ाता जा रहा है॥ १॥

काल उसका पूर्ण जब तक, हो नहीं कुल जायगा।
मार्ग उसका पूर्ण जब तक, हो नहीं तय जायगा॥
जायगा तब तक बढ़ा वह, यही समझे जा रहा है॥ २॥

बीज अंकुर बन जहाँ तक, खेतमें जब तक बढ़ेंगे।
चरण उसके दिवस बेला जान कर जब तक बढ़ेंगे॥
जायगा तब तक चला वह, लक्ष्य ले यह जा रहा है॥ ३॥

पवन जबसे चल रहा और सूर्य जबसे जल रहा है।
सलिल जबसे वह रहा औ बर्फ बनकर गल रहा है॥
पथिक तबसे चल रहा है, चला चलता आ रहा है॥ ४॥

वह किसीकी राहको भी, भूल कर ना जानता है।
बाहिरी संकेत भी ना, पूर्ण कोई जानता है॥
कह न सकता वह स्वयं कुछ, कहा जो भी जा रहा है॥ ५॥

लिये आशा नहीं आशा तो निराशा भी नहीं है।
वही ध्वनि औ टेक भी वह, श्वांस तक वह ही बनी है॥
उस सहारे ही बटोही, चला चलता जा रहा है॥ ६॥

एक मात्र पुकार उसने, हृदय-तन्त्रीकी सुनी जो।
बाहर वही-भीतर वही, सभी कुछ पूँजी बनी जो॥
प्राण सा पकड़े उसीको, जग-बटोही जा रहा है॥ ७॥

रह जायगा बढ़ जायगा, चला चलना बस काम है।
इसीमें आराम उसको, श्रम सा समझता नाम है॥
देख लो वह रह रहा है बढ़ रहा है जा रहा है॥ ८॥

प्रश्न जगका एक ही है और उत्तर एक ही है।
प्रश्नमें उत्तर बना तो प्रश्न-उत्तर एक ही है॥
प्रश्नमें उत्तर लिये वह प्रश्न उत्तर पा रहा है॥ ९॥

कह रहा जो आज जग है, कह रही वाणी वही है।
कह रहा आकाश भी वह, कह रही वसुधा वही है॥
कह रहा वह सुकवि जगका, कहा जो कुछ जा रहा है॥१०॥

जो न सुलझे वह पहेली, बन्धु जीवन यात्रा है।
सत्य समझो नहीं निश्चित, बन्धु जीवन मात्रा है॥
सैकड़ों दुख सहे सुखको, पथिक जीता जा रहा है॥११॥
कौन जाने किस समयसे-पथिक पथमें जा रहा है?

अविरत सम्यग्दृष्टि जिनेश्वरका लघुनंदन है

(—श्री क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी)

जिस द्रव्यका जो गुण होता वह उसका स्व कहलाता और जिसका जो स्व होता वह उसका स्वामी कहलाता है। आत्माका स्व ज्ञान है और आत्मा ही उसका स्वामी है पर-द्रव्य अपने स्वगुण-पर्यायोंका स्वामी है। इस जीवको जब यह अनुभव होने लगता है तब उसे ससारकी महानसे महान सम्पदा भी नहीं लुभा पाती, चक्रवर्तीकी सम्पदा भी उसे नगण्य प्रतीत होने लगती है।

वज्रदन्त चक्रवर्ती कमल-कोशमें मरे हुए भौंरेको देखकर विरक्त हो गये और अपने पुत्रोंको बुलाकर कहा—'राज्य सँभालो।' पर उनके पुत्र तो उनसे भी अधिक विरक्त चित थे, कहने लगे-हम भी आपके साथ हैं। पिताने कहा—'अभी तुम्हारी वय दीक्षा-योग्य नहीं, कुछ समय राज्य-भोग करनेके पश्चात् दीक्षा लेना। पुत्र बोले—पिता जी! यह राज्य तो रागका घर है। जिस रागको आप शत्रु समझके छोड़ रहे हैं, वह हमारे लिये ग्राह्य कैसे हो सकता है? आपतो हमारे हितैषी हैं अतः रागके कारणभूत यह राज्य-सम्पदा हमारे लिये हितप्रद नहीं। हम भी आपकी ही तरह मुक्त होना चाहते हैं। मनुष्य-पर्याय इसके अनुकूल है, अब तो इस जीवनमें रत्नत्रयकी आराधना कर सिद्धि प्राप्त करेंगे।

पिता-पुत्रका यह संवाद किस मनुष्यको एक क्षणके लिये विरागी न बना देगा। इसलिये रागको छोड़ो। अकेली चीज थी, अकेली ही रह जाती है। दूसरेके सम्बन्धसे राग होता तो उस संबंध को हटाओ, रागको त्याग दिया तो रागके कारण-भूत सामग्रीका तो स्वतः त्याग हो जाता। अब ये संबंध थोड़े ही दुख देते। इनको हम अपना बना लेते हैं तभी दुखी हो जाते हैं। अभिप्रायमें तो यह ऐब निकल जाना चाहिये।

इच्छा रागकी पर्याय है—चाहे वह शुभ हो वा अशुभ। शुभ कार्यके मूलमें भी एक प्रकारकी इच्छा है। संसारमें धर्म अधर्म–खान, पानकी ही तो इच्छा होती है। सम्यग्दृष्टि इनमें से किसी बातकी इच्छा नहीं करता। उसके लिये इच्छा ही परिग्रह है। महाव्रतीके और क्या होता है? सम्यक्त्वीके बहुत परिग्रह है तो मुनिके पीछी-कमण्डलु होता है। ये शिष्योंको पढ़ाते और वह बाल-बच्चोंको शिक्षा देता है। लेकिन अंतरंगसे विचारो तो अभिप्रायमें दोनोंके ही किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है। दोनोंके इच्छाको मेटनेका अभिप्राय है। मुनि इच्छाको शुभ कार्यों द्वारा मिटा देते और वह विषयादि प्रवृत्ति-द्वारा अपनी इच्छाको मिटा देता है।

सिद्धान्तकी प्रक्रिया बनी रहे इसीलिये तो वीर-सेन स्वामीने 'धवलादि' जैसे महान टीका-ग्रन्थ रचे। पं० टोडरमलजीने सोचा कि आगेके जीव हमसे हीन-बुद्धिवाले होंगे तो उन्होंने प्राणियोंके कल्याणार्थ मूल ग्रन्थों पर हिंदी टीका आदि रच दिये। जो काम छठे गुणस्थानवर्ती मुनिने किया, वही काम चौथे गुणस्थानवर्ती जीवने कर दिया। बतलाइये, अभिप्रायमें क्या अन्तर है?

हमसे पूछते हो जो १२ वें गुणस्थानवर्ती जीवका अभिप्राय है वही अभिप्राय चौथे गुणस्थानवर्ती जीवका है। तीर्थंकरका ठाठ देखो। इतना बड़ा समवसरण जिसकी महिमा देखते ही बनती है। तो क्या तीर्थंकर महाराज उसको चाहते हैं? अव्रत सम्यग्दृष्टिके थोड़ी सी सामग्री होती है तो क्या वह उसे चाहता है? ज्ञान उनके अधिक है और इसके कम है, लेकिन है तो जाति एक ही। वह समझता है जब यह तुम्हारा नहीं तब यह हमारा कैसे हो सकता है? रागको तुमने हेय जाना तो हमने भी उसे हेय जान लिया। जिस मार्गका तुमने आश्रय लिया उसी मार्गका हमने आश्रम ले लिया, तब क्या हम आप जैसे नहीं हो सकते?

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

जो अरहंत देवको द्रव्य-गुण-पर्यायसे जानता है वह निश्चयसे अपनी आत्माके गुण-पर्यायको

जानता है। अब थोड़े दिनका उपद्रव है सो काल पाकर मिट जायेगा।

जैसे शरीरमें मल रुक जानेसे अनेकों बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। वैद्यको हजारों रुपये देकर मलको निकलवाते हैं। वैसे ही आत्माका मल है राग-द्वेष। सम्यग्दृष्टि इसी मलको निकालनेका प्रयास करता है। उसका साधन है संयम। अतः संयम-द्वारा रागको मिटाकर सुखी बन जाओ।

प्रेषक—कपूरचन्द्र बरैया

नालन्दा का वाच्यार्थ

(ले०—सुमेरुचन्द्र दिवाकर B. A. L L. B. सिवनी)

प्राचीन भारतवर्षके शिक्षा-केन्द्रोंमें नालंदा विश्वविद्यालयकी बहुत प्रसिद्धि थी। डा० बेनीप्रसादने अपनी पुस्तक 'हिन्दुस्तानकी पुरानी सभ्यता' (पृष्ठ ४१३) में लिखा है कि 'नालंदामें १० हजार विद्यार्थी पढ़ते थे। वहाँ १५१० अध्यापक थे। विद्यार्थियोंके खान-पान तथा औषधिका पूर्ण प्रबन्ध था। नालंदाके संघारामको १०० ग्रामोंका कर मिलता था।'

चीनी यात्री ह्युएनत्सांग ७ वीं सदीमें भारतमें आया था। वह १६ वर्ष यहाँ रहकर अपने देशको लौटा था। नालंदाके बारेमें वह लिखता है कि 'वहाँ कई हजार संन्यासी विद्याध्ययन करते थे। वहाँ निःशुल्क शिक्षा थी। नालंदाके पुस्तकालयके नाम रत्नरंजक रत्नसागर, रत्नदधि थे। रत्नदधि पुस्तकालय नौ मंजिलका था।' इत्सिंग नामक चीनी यात्रीने वहाँ रहकर ४०० ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि की थी। ह्युएनत्सांगने ६५७ ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि कराई थी। नालंदाके कई ग्रन्थ लंदन और केम्ब्रिजके पुस्तकालयोंमें सुरक्षित हैं। नालंदा बौद्धोंके महायान सम्प्रदायका था। विक्रमकी १३ वीं सदीमें नालंदाका संहार हुआ था।'

(बुद्ध और बौद्धधर्म—चतुरसेन शास्त्री।)

नालंदा राजगृहके समीप लगभग ६ मील पर है—भारतशासनने अब नालंदामें पुनः एक विद्यापीठकी स्थापना की है। जिस नालंदाने भारतमें सैकड़ों वर्षों तक ज्ञानकी गंगा बहाई उसका अर्थ क्या है? भगवान् महावीरके शिष्य गौतमगणधर-रचित प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयीसे इस प्रश्नका समाधान प्राप्त होता है। ईसासे छह सदी पूर्व होने वाले गौतम स्वामीने द्वादशांग नामके आगम ग्रन्थ बनाये थे। उनमें दूसरे आगम ग्रन्थका नाम 'सूत्रकृतांग' है। इस सूत्रकृतांगमें २३ अधिकार थे। उसके २१ वें अधिकारका नाम श्रुत था, २२ वें का नाम अर्थ था और २३ वें का नाम नालंद था।

उक्त ग्रन्थके पृ० ५६ में २३ अधिकारोंके नाम इस प्रकार कहे गए हैं।

समए वेदालिंमे एत्तो उवसग्ग इत्थिपरिणामे।
णिरयंतर-वीरथुदी कुसील-परिभासिए विरिए॥ १॥
धम्मो य अग्गमग्गे समोवसरणं तिकालगंथहिदे॥
आदा तदित्थगाथा पुंडरिको किरियठाणे य॥ २॥
आहारय परिणामे पच्चक्खाणाणगारगुणकित्ती।
सुद-अत्था-णालंदे सुद्दयडज्झाणाणि तेवीसं॥ ३॥

इनमें अन्तिम पंक्तिके ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

'सुद-अत्था णालंदे सुद्दयडज्झाणाणि तेवीसं'॥

इस पर टीकाकार प्रभाचन्द्र पंडितने प्रकाश डालते हुए लिखा है—

'सुदा—श्रुताधिकारः श्रुतस्य माहात्म्यं वर्णयति। अत्था—अर्थाधिकारः श्रुतस्य फलं वर्णयति। णालंदे—नालंदाधिकारो ज्योतिषां पटलं वर्णयति॥ पृ० ५८'

सूत्रकृतांगके श्रुत नामक अधिकारमें श्रुतका माहात्म्य बताया है। अर्थाधिकारमें श्रुतका फल कहा गया है। तथा नालंद नामके तेवीसवें अधिकारमें ज्योतिषी-पटलका कथन है।' इससे स्पष्ट होता है कि ज्योतिर्लोक सम्बन्धी अधिकारका नाम नालंद था।

प्रतीत होता है देश-विदेशमें ज्ञानकी रश्मियों-द्वारा अज्ञान अन्धकारको दूर करने वाले विद्याके विख्यात केन्द्रका नाम नालंदा उक्त कारणसे रखा गया था। नभोमंडलमें सूर्य-चन्द्रादि प्रकाश देते हैं, भारतमें तथा चीन आदि देशोंमें ज्ञानका प्रकाश देने वाला वह विद्यापीठ प्रसिद्ध था।

उसका नालंदा नाम सूत्रकृतांगके उक्त आधारका प्रभाव सूचित करता है।

भ० भा० पुरातत्त्व विभागके डाइरेक्टर जनरलको इस सुझाव पर ध्यान देनेका विशेष अनुरोध है।

टिप्पणी—

श्री हीरानन्द शास्त्रीने 'नालंदा' नामक अपनी पुस्तकमें लिखा है कि 'नालंदा' इस नामका निर्वचन क्या है, यह तो ठीक-ठीक ज्ञात नहीं। नालंदाके आस-पास बहुत सी झीलें हैं, जिनमेंसे बहुतसे 'नाल' निकाले जाते थे और अब भी निकाले जाते हैं, संस्कृतमें नाल बिस अर्थात् कमलकी जड़को कहते हैं। यह भूमि नालोंको देने वाली है। यह संभव प्रतीत होता है कि इसीलिए इसे नालंदाके नामसे अङ्कित किया गया होगा। चीनी यात्री हुएनत्सांगने जो न+अलं+दा (=लगातार दान) की व्युत्पत्ति दी है, वह केवल निदान कथा है।'

पर मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः इसका नाम 'णाणंदा' रहा है। प्राकृत भाषामें ज्ञानको 'णाण' कहते हैं। दा नाम देने वालेका है। भ० महावीरने यहाँ १४ चतुर्मास किये थे—यह बात श्वे० आगम-सूत्रोंसे प्रमाणित है। चतुर्मासके समय लोग उनसे ज्ञान प्राप्त करते रहे और लोग अन्य लोगोंको भी ज्ञान-प्राप्तिके लिए प्रेरणा करते हुए कहते रहे कि जाओ—राजगिरके ईशान-कोणमें बाहिरिकाके समीप ज्ञानको देने वाला विद्यमान है, उसके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। संभवतः तभीसे भ० महावीरका आश्रय पाकर उस स्थानका ही नाम 'णाणंदा' प्रारम्भमें रहा होगा।

बौद्धग्रन्थोंसे ऐसा कोई खास पता नहीं लगता है कि बुद्धने वहाँ पर दो चार चतुर्मास किये हों। हाँ एकाध बार बुद्ध वहाँ ठहरे अवश्य हैं, पर उस स्थान पर उनके चतुर्मास करनेके कारण वह स्थान उस समय भ० महावीरके नामसे जितना विख्यात हुआ, संभवतः उतना बुद्धके कारण नहीं। क्योंकि बुद्धने अपने धर्मका प्रवर्तन सारनाथसे किया है, जो कि बनारसके समीपमें है। पर भ० महावीरने राजगिरके समीपस्थ विपुलाचलसे ही अपना आद्य उपदेश दिया है और राजगिरकी विभिन्न दिशाओंमें स्थित गिरि, उपवन और उपनिवेशोंसे ज्ञानकी गंगा बहाई है। इसलिए यही बहुत अधिक संभव जान पड़ता है कि 'णाणंदा' इसका प्रारंभिक नाम रहा है, और उसका सीधा संबन्ध भ० महावीरके उपदेशोंसे है। पीछे यह नाम बिगड़ कर या उच्चारणकी सुगमतासे लोगोंमें 'नालन्दा' नामसे प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है।

श्री दिवाकरजीने जिस सूत्रकृतांगका अपने लेखमें हवाला दिया है, उसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि नालन्दामें रहते समय भ० महावीरके जो प्रवचन हुए और इन्द्रभूतिने जिन्हें अंगरूपमें ग्रथित किया, वे सब 'नालन्दीय' अध्ययनके नामसे सूत्र-ग्रन्थोंमें उल्लेखित किये गये हैं। श्वे० आगमोंसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है। यथा—

नालंदाए समीपे मणोरहे भासि इंदभूइणा।
अज्झयणं उदगस्स उ एवं नालंदइज्जं तु ॥ ४ ॥

नालंदायाः समीपे मनोरथाख्ये उद्याने इन्द्रभूतिना गणधरेणोदकाख्य - निर्ग्रन्थ-पृष्टेन भाषितमिदमध्ययनम्।
(सूत्र० २ श्रु० ७ अ०)

इतिहासका अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि भ० महावीरके निर्वाणके पश्चात् लगभग दो-तीनसौ वर्षों तक जैनाचार्योंके द्वारा उस स्थानसे भगवानके प्रवचनोंका प्रसार होता रहा है। पीछे जैन सम्प्रदायमें मत-भेद उठ खड़े हुए और अधिकांश जैन साधुओंने विहार प्रान्तसे अन्य प्रान्तोंको विहार कर दिया, तब किसी समय वहाँ बौद्ध साधुओंने रहना प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे उनका प्रभाव वहाँ बढ़ता गया। हुएनत्सांगके लगभग तीनसौ वर्ष पूर्व फाहियान नामक एक चीनी यात्री आया था, और उसने भी अपनी भारत-यात्राका वर्णन लिखा है। उसने नालंदामें एक स्तूपके सिवाय किसी खास चीजका उल्लेख नहीं किया है इससे ज्ञात होता है कि उसके आनेके समय तक नालन्दामें बौद्धधर्मका कोई प्रभाव या विद्यापीठ आदि नहीं था। उसके बाद और हुएनत्सांगके पूर्व ५-६ वीं शताब्दीके मध्यमें बौद्धविद्यापीठ वहाँ स्थापित हुआ है ऐसा अनुमान होता है।

— हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री

राजस्थानके जैन शास्त्र-भण्डारोंसे—

हिन्दीके नये साहित्यकी खोज

(कस्तूरचन्द काशलीवाल, एम० ए० शास्त्री जयपुर)

४. शील बत्तीसी—

यह रचना कवि अकमल-द्वारा निबद्ध है, जो जयपुरके लूणकरण जी पाण्ड्या वाले मन्दिरके शास्त्र-भण्डारके एक गुटकेमें संगृहीत है। गुटकेका लेखन-काल संवत् १७२१ है। कविने रचनामें अपना नामोल्लेखके अतिरिक्त समय एवं स्थानके बारेमें कुछ भी नहीं लिखा है। किन्तु गुटकेके लेखन-कालके आधारसे यह कहा जा सकता है कि कवि १७ वीं या इससे भी पूर्व शताब्दीके थे। कवि जैन थे तथा हिन्दीके अच्छे विद्वान् थे। शील-बत्तीसी साहित्यिक दृष्टिसे भी अच्छी रचना है। रचनामें शीलधर्मके गुण गान गाये गये हैं तथा व्यभिचार, परस्त्री-गमन आदि बुराइयोंकी खूब निन्दा की गई है। रचनामें ३४ पद्य हैं जो सभी सवैया छन्दमें हैं। प्रत्येक सवैयाके अन्तमें कविने अपने नामका उल्लेख किया है। रचनाकी भाषा अलंकारमयी है। अनुप्रासोंका तो सर्वत्र प्रयोग हुआ है। भाषा शुद्ध हिन्दी खड़ी बोली है।

कविने लिखा है कि विधाताने आँखें संसारको निहारनेके लिये बनायी हैं, न कि दूसरेकी स्त्रियोंको देखनेके लिये।

नैन विधाता निरमए निरखनकौं संसार।
सैनि सबै कछु निरखिजे मत निरखै परनारि ॥
मत निरखै परनारि जाणि या विषय तनरसु।
तनक नरम होंहि जन मनु जाय किये वसि ॥
जे पालै प्रिय सील ते जु सुणियै सिव जाता।
अकु निरखि चालिये नैन निरमए विधाता ॥ ६ ॥

कवि इसीके सम्बन्धमें आगे लिखता है कि पर-स्त्रीको देख कर चतुर मनुष्यको कभी भी अपना मन चंचल नहीं करना चाहिये; क्योंकि चारित्र ही मनुष्यका रत्न है, उसे कौड़ीके लिये नहीं गमाना चाहिये।

चतुर न कीजै चपल मन देखि परायी नारि।
कौड़ी कारण सील से रत्न न गवहि गवार ॥
रत्न न गवहि गवार सार संसार मत्थि गिण।
तप अनेक जै करै सुख न वि लहहि सील विनु ॥
सुख पवसि परलोक लोक विस्तर सिव-सुह परि।
कहै अक धनि सील सील विनु वाद चतुर नर ॥७॥

विषय भोग विषधर एवं विष तीनों ही मृत्युके कारण हैं। किन्तु सर्पके काटने और जहरके खानेसे तो एक बार ही मृत्यु होती है, पर विषयोंमें फँसनेके पश्चात् उससे कितने ही जन्म तक दुःख भोगना पड़ता है।

विषय विषधर विषु सरसु लीनै एकहि मंतु।
विषु विषधर एकै मरण विषया मरण अनंत ॥
विषया मरण अनंत मंत्र ताहि मूल न लागै।
मनि मुहरा औषधि अपार तिन देखत विषु भागै ॥
सोई सजन सोई सगुर देई वंभवतु सिखया।
कहै अकु धनि सुदिन त दिन तजियत विषया ॥

इस प्रकार बत्तीसी समाप्ति पर भी यही लिखा है।

हरि हर इंदु नरिंद नर जस जपै यक चित्त।
जे नर नारी सील जल तन मनु करहिं पवित्त ॥
तन मन करहि पवित्त चित्त सुमरै चौबीसी।
बढ़त सुणर संतोष सगुण यह सील बत्तीसी।
काम अंध नहि रुचै कहै कोउ कौ हुँकारि ॥
संवर करहु सुजान तासु जसु जंपे हरिहर ॥३४॥

५. मनराम विलास

मनराम १७ वीं शताब्दीके प्रमुख हिन्दी कवि थे, वे कविवर बनारसीदासजीके समकालीन थे। मनराम विलासके एक पद्यमें उन्होंने बनारसीदासजीका स्मरण भी किया है। उनकी रचनाओंके आधारसे यह कहा जा सकता है कि मनराम एक ऊँचे अध्यात्म प्रेमी कवि थे। उन्होंने या तो अध्यात्म-रसकी गंगा बहाई है, या जनसाधारणको उपदेशात्मक, अथवा नीति-वाक्य लिखे हैं। कविकी अब तक अक्षरमाला, बड़ाकक्का, धर्म सहेली, बत्तीसी, मनराम-विलास एवं अनेक फुटकर पद आदि रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं।

कवि हिन्दीके प्रौढ विद्वान् थे इसीलिये कविकी रचनाएँ शुद्ध खड़ी बोलीमें लिखी गयी हैं। जान पड़ता है कि कवि संस्कृतके भी अच्छे विद्वान् होंगे; क्योंकि इन रचनाओंमें संस्कृत शब्दोंका भी प्रयोग मिलता है और वह भी बड़े चातुर्यके साथ। लेकिन संस्कृत शब्दोंके प्रयोगसे कविकी रचनाएँ क्लिष्ट हो गयी हों, ऐसी बात नहीं है।

'मनरामविलास' कविके स्फुट सवैयों एवं छन्दोंका संग्रहमात्र है, जिनकी संख्या ६६ है। इनके संग्रह-कर्त्ता विहारीदास थे। वे लिखते हैं कि विलासके छन्दोंको उन्होंने छांट करके तथा शुद्ध करके संग्रह किये हैं। जैसा कि विलासके निम्न छन्दसे जाना जा सकता है—

यह मनराम किये अपनी मति अनुसारि।
बुधजन सुनि कीज्यौं छिमा लीज्यौ अबै सुधारि ।६३।
जुगति पुराणी ढूंढ़ कर, किये कवित्त बनाय।
कछु न मेली गांठिकी जानहुँ मन वच काय ॥ ६४ ॥
जो इक चित्त पढ़ै पुरुष, सभामध्य परवीन।
बुद्धि बढ़ै संशय मिटै, सबै होय आधीन ॥ ६५ ॥
मेरे चितमें ऊपजी, गुन मनराम प्रकास।
सोधि बीनए एकठे, किये विहारीदास ॥ ६६ ॥

प्रसंग संगतिका चल रहा है। यह कहा जाता है—जैसी संगति होगी, वैसे ही उसके संस्कार होंगे। किन्तु सज्जनोंकी संगति कितनी अच्छी है कि उससे दुर्जनोंके दोष भी ढक जाते हैं जैसे बहुतसे पेड़ोंके झुण्डमें एक ही मलयतरु सभी पेड़ोंकी हवाको सुगन्धित बना देता है, तथा उन्हीं मलय-वृक्षों पर सर्प लिपटे हुए होते हैं, किन्तु फिर भी वे वृक्ष अपनी सुगन्धको नहीं छोड़ते हैं।

अवगुनहूं दूरि जांहि सब, गुनवंताके साथ।
दुर्जन कोटिक काजके, सज्जन एक समत्थ ॥
सज्जन एक समत्थ बहुत द्रुमि मलयातर।
जिते व्रिछि ते संग सकल कीए आप सर ॥
तजते न अपनी वास रहे विसहर जु लपटि तन।
अचरज यह मनराम गहत नांहि उनके अवगुन।।२६।।

सत्पुरुषोंका दूसरोंके साथ कैसा स्नेह होता है इसका वर्णन कविने कितनी सुन्दरतासे किया है, उसे पढ़िये—

मिलत खीर कौ नीर सर्व अपनौ गुन दीन्हौ।
दूध अगनि पर धर्‍यो वारि तन छीजन कीन्हौ ॥
अंब खेद लखि उफन चल्यौं पय पावक वाहियौ।
बहुर्‍यौ जल सींचयौ इहि विधि सनेह निरवाहियौ ॥
उपसम निवारि दुख अरस परस तजि कपट मन ॥
यह तो प्रमान मनराम कहि है सभाव सतपुरुपजन

दान देना मानवका उत्तम गुण है, लेकि. कवि कहता है कि दान उसीका श्रेष्ठ है जो उसके गुणावगुणको समझ कर देता है क्योंकि बिना गुणावगुण जाने बहुत-सा दान भी व्यर्थमें ही जाता है—

रीझत नहीं तउनागर जन,
मुसकि गवार देत द्रिगदोइ।
अति ही मगन होत मन मांहि,
पुरतिय एक कटाछि ही जोइ ॥
देवहुँ दान बिना गुन समझै,
गुनी पुरुषको हरप न होइ।
पावत सुख मनराम महा वह,
जो गुन समझ अलप दे कोइ ॥८१॥

इस प्रकार विलासके सभी छन्द एकसे एक बढ़कर हैं। सुभाषित रचनाकी दृष्टिसे विलास हिन्दीकी एक अच्छी रचना है। विलासके कुछ दोहे और पढ़िये—

भली होइ छिन मैं बुरी भली ह्वै जाइ।
लखि विचित्रता करम की सुख दुख मूढ कराइ ।।७१।।
मन भोगी तन जोग लखि जोगी कहत जिहान।
मन जोगी तन भोग तसु जोगी जानत जान ॥ ७२ ॥
सबै अरथ जुत चाह पर पुरुष जोग सनमान।
ए समझै मनराम जो बोलत सो जग जान ॥ ७३ ॥

× × × ×

कहुं आदर अर फल नहीं कहुँ फल आदर नांहि।
आदर फल मनराम कहि, बड़े पुरुष ही मांहि ।।८२।।

६ डूंगरकी बावनी—

कुछ समय पूर्व तक 'बावनी' लिखनेका कवियोंको बहुत चाव था। इसी कारण हिन्दीमें आज कितनी ही बावनियां उपलब्ध होती हैं। 'डूंगरकी बावनी' कवि पद्मनाभ द्वारा संवत् १५४३ में लिखी गई थी। पद्मनाभ हिन्दी एवं संस्कृतके प्रतिभा सपन्न विद्वान् थे, इसलिये सघपति डूंगरने उनसे बावनी लिखनेका अनुरोध किया था और उसीके कारण पद्मनाभ यह बावनी लिख सके थे। डूंगरसीका परिचय देते हुए कविने लिखा है कि वे श्रीमाल कुलमें पैदा हुए थे। उनके पिताका नाम रामदेव था और उनके छोटे पुत्र थे। —

महियल कुलि श्रीमाल, सात फोफला भणिज्जै।
तस अवदात अनंत जहि कहि येह घुणिज्जै ॥
एल्ह तोल्ह श्री- प्रनए लाल सन दरउ वज्रकर।
रामदेव श्रीसंघभार आचार धुरंधर ॥

तस तणइ अंववर तरणि, बारहदेस गरित गुर।
तस उवरि उपना है रतन डूंगरसी पगर सुयण ॥३॥

बावनीकी भाषा शुद्ध हिन्दी नहीं है, तथा उस पर राजस्थानी भाषाका अधिक प्रभाव है। रचनाके मुख्य विषय दयाधर्म, पुरुषार्थ, शीलधर्म, दान एवं त्यागधर्म, विनयशीलता आदि हैं।

संसारमें धन ही दुर्लभ वस्तु है, ऐसा कविका मत है और इसलिये धनका अधिक संचय किया जाना चाहिये। धनके अभावमें राजा हरिश्चन्द्र आदिकी क्या दशा हो गई थी, इसे सभी व्यक्ति जानते हैं। कविके विचारोंको पढ़िये—

धन संचहु धनवंत, धन संसारिहि दुलहा।
धन विणि तापुडित महिय खुध्याखिति मंडल ॥
धन विण सति हरिचन्द राइ विकणिय दसहर्ताल
सकुलीणी सयुन जणि जहाँ धन तह दीसंति बहु।
संघपति राइ डूंगर कहै, धन विण अकयथ सहु ॥

बावनीमें सभी इसी तरहके छन्द हैं। अन्तिम दो छन्दोंमें कविने अपना परिचय आदि दिया है वह पढ़नेके योग्य है —

खिमा करवि सुजाण वयण सहू को आधारै।
दिड पुण वुलिये वयण मेक विचारै ॥
मय आपणै मनि आलिकि बाध निर्वादितीय।
श्री डूंगर श्रीमालराइ, गुणराय भनंतिय ॥
कवि कहै पदम कर जोड़ि, प्रतिभणइ कंठ सरस्वती।
प्रसिद्ध नाम जपिये समन संताप खोट उनखरमुपरखिये
संवत् पंदरह चालसे तीनि आगला मुदिताय।
सुकल पखि द्वादसी वार रविधिरस मंगल।
पूर्वपाढ नषित्र जोग हरषिण हरिषगल।
सुभ लगन सुभ घड़ी.....................।
सुभ वेला सुभ वचन पदमनभ कहि कवरै।
बावनी लंद डूगर मूयण बसुधा मंडलि विस्तरै ॥५३॥

× × ×

हुंबड हरिप आंणद उछाहनु म मंदिर।
सजन मति उलास पिसुण भंजवि गिरिकंदरि।
दिन चढ़ि ज्यमु प्रताप तेज निहुं भुवण प्रगासै ॥
ससि करंति संसारि, ससि जेम विकासै।
धन पुत्र लछि सुख संपदा कहय पदम जयवंत हुय।
श्री डूंगर बालह देय वरु जयवंत ः जाइ मेरुधव ॥५४

इति बावन अखिर बावनी समाप्ता। इति डूंगरसाह बीजत बावनी।

जयपुरके ठोलियोंके मन्दिरके जिस गुटके में यह बावनी संग्रहीत है वह बहुत ही अशुद्ध लिखी हुई है तथा लिपि भी स्पष्ट नहीं है।

७. दस्तूरमालिका—

दस्तूरमालिका कविवर वंशीधरने संवत् १७६५ में समाप्त की थी। कवि शक्तिपुरके निवासी थे। कविने रचनाके प्रारम्भमें बादशाह आलम, राजा छत्रसाल, एवं शक्तिसिंहके नामोल्लेख करके उनके शासनकी प्रशंसा की है।

पातसाह आलम अमिल सालिम प्रबल प्रताप।
आलम मैं जाको सबै घर घर जापत जाप ॥५॥
छत्रसाल भुवसालको राजत राज विसाल।
सकल हिन्दु उगजाल में मनो इंद दुतजाल ॥६॥
ताकै अंत सोभिजै, सकतसिध बलवान।
उग्रसहै नरनाह के नंद दीह दलवान ॥७॥
सहर सनतपुर राजही सुख समाज सब ठौर।
परम धरम सुकरम जहाँ सबै जगत सिरमौर ॥८॥
संवद् सत्रासै करा, पैंसठ परम पुनीत।
करि बरननि यहि ग्रंथ कौ छइ चरनन कविमीत ॥६

दस्तूरमालिका गणितशास्त्रसे सम्बन्धित रचना है अर्थशास्त्रसे भी इसका खूब सम्बन्ध है क्योंकि हिसाब करनेके गुरु दिये हुये है। रचनाका अध्ययन करनेके पश्चात् वस्तुओंकी नाप तोल एवं क्रय-विक्रय करनेकी कला सीखी जा सकती है।

कवि कपड़ा खरीदकी विधिका वर्णन करता है। वह कहता है कि जितने ही रुपये गज उतने ही आनोंका एक गिरह कपड़ा आवेगा, यदि गजका भाव आनों में हो तो तो उसकी फैलावटके लिये जो विधि लिखी है वह निम्न प्रकार है —

जिते रूपैया मोल कौ, गज प्रत जो पट लेइ।
गिरह येक आना तिते लेख लिखारी लेइ ॥१०॥
आना ऊपर होवै गज प्रति रुपिया अंक।
तीन दाम आठ अंसु बद ग्रह प्रत लिखौ निसंक ॥११॥

इसी प्रकार 'मालिका' में सुवर्ण खरीदका दस्तूर तोराके लिखेको दस्तूर, सोनेके बानको दस्तूर, धात खरीदको दस्तूर, केशर खरीदनेको दस्तूर, मासिक वेतन बांटने-

कौ दस्तूर आदिके नियम दिये हुये हैं। मालिकामें खेत नापनेकी विधि भी दी हुई है जो निम्न प्रकार है —

दो ऊपर चालीस कौ, अंगुल गिन बन ताज।
डोरी कौ गज सो कह्यौ, नीकी विधि सौं साज ॥१२२॥
ऐसे गज गनि तीन पै, गाढ़े को गहि बाघ।
कीजे गाढे बीस की, डोरी करिये नाप ॥१२३॥
धाप नाप लामी कहै, चौरी कर कौ जान।
जो डोरी जिहि ठा लगै, गुन बीघा उनमान ॥१२४॥

इस प्रकार 'दस्तूरमालिका' भारतीय प्रथाके अनुसार गणितका सामान्य ज्ञान करनेके लिये बहुत अच्छी रचना है। भण्डारमें इसकी पूर्ण प्रति नहीं है केवल १४३ पद्य उपलब्ध हुये हैं जिनमें से भी कुछ दोहे पूर्ण नहीं हैं। मालिकाकी भाषा सरल है किन्तु कविके अर्थको समझनेमें कहीं कहीं अटकना पड़ता है। रचना पर उर्दू भाषाका काफी प्रभाव है। संभवतः अभी तक यह अप्रकाशित है।

८. बावनी (क्षमाहंसकृत)—

राजस्थानी भाषामें निबद्ध 'बावनी' के कर्त्ता कवि क्षमाहंस थे। राजस्थानके वे किस प्रदेशको सुशोभित करते थे इसका तो रचनामें कहीं उल्लेख मिलता नहीं है किन्तु इतना अवश्य निश्चित रूपसे लिखा जा सकता है कि क्षमाहंस जैन श्रावक थे तथा १७ वीं या उससे भी पूर्वकी शताब्दीके थे। उक्त बावनीको छोड़कर अभीतक कविकी अन्य रचना हमारे देखनेमें नहीं आयी।

बावनीकी भाषा जैसा कि ऊपर कहा गया है राजस्थानी है। बावनी में ५४ पद्य हैं जो सभी सवैया हैं। रचना सुभाषित है जो संसारी जीवको प्रतिबोधनेके लिये लिखी गयी है। क्षमाहंस विषयको स्पष्ट करके समझानेमें कुशल थे। कहीं-कहीं पूर्व कथाओंके आधार पर भी विषयका वर्णन किया गया है। कालकी महिमा सब कोई जानता है तथा आज तक उसके सामने सभी महापुरुषोंने हार मानी है। कवि कहता है—

ईस इंद रवि चंद चक्रधर चउमुह चलाया।
वासदेव बलदेव कालि पुणि तेही कलाया ॥
मांधाता बलि कन्न गयउ रद रावण सोई।
सागर सगर गंगेउ गया सो सेन सजाई ॥
भूपति भोज विक्रम सरिस भल पुणि भले से पणि गया
कवि कहिइ खेम अचरज किसउ कालइ कवसा न गंजिया ॥६॥

कविने एक स्थान पर आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखा है कि स्त्रीको अबला क्यों कहा जाता है। उसने तो आज तक जगतमें बहुतसे उल्लेखनीय काम किये हैं। इस भावको कविके शब्दोंमें पढ़िये—

झूठउ अबला नाम काम सबला कीया सुन्दरि।
सीह लंक हारव्यउ गयउ लाजत गिरिं कंदरि ॥
मुख मयंक हारव्यउ गयउ लाज्यो गये गंगणि।
गति गयंद हारव्यउ गयउ लाजि गयउ वीडवणि ॥
सुर असुर नाग नडिया नरिंद सुकवि खेम जंपइ सही
जिणि भमुह भगि जीतो जगत अबला तसु नवजइ कही ॥ २६ ॥

बावनीका अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है—

क्षमा खग्ग करि ग्रह्मा पिसुण दह वाट पुलाइ।
कागडाफ उड मंताप जाइ ज्यउ बादल वाइ ॥
क्षमा खग्ग करि ग्रह्मा घणा घरि उच्छव मंगल।
संप कुंटब साथि आथि ऊपजइ अनंगल ॥
कवि क्षमाहंस खंतहि खरी बावन्नी कवि ते ते करी।
सब सयण सुणंता सीखतां वसुधा पिंगलइ विस्तरी ॥

राजस्थानी भाषा होनेसे कहीं-कहीं भाषा अति क्लिष्ट हो गई है लेकिन फिर भी रचना अच्छी है तथा प्रकाशित होने योग्य है।

९. पञ्च कल्याणक महोत्सव

कविवर रूपचन्दका पञ्चमंगलपाठ जैन समाजमें अति प्रसिद्ध है जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियां तो प्रायः सभीको याद होंगी। अभी जयपुरके गोधोंके मंदिरके शास्त्र-भण्डारमें कवि हरचन्दका पञ्चकल्याणक महोत्सवकी एक हस्तलिखित प्रति मिली है। कविने इसे सम्वत १८३३ जेठ सुदी सप्तमीके दिन समाप्त किया था, जो रचनाके अन्तिम पद्यमें निर्दिष्ट है—

तीनि तीनि वसु चन्द्र ए संवतसर के अंक।
जेष्ट शुक्ल सप्तम दिवस पूरन पढौ निसंक ॥११८॥

कविने अपने नामोल्लेखके अतिरिक्त अन्य कोई परिचय नहीं दिया है। लेकिन रचनाकालके आधार पर यह तो निश्चित है कि कवि १८वीं शताब्दी के थे।

रचनामें ११८ पद्य हैं जिसमें दोहा, तेईसा सवैया, महानाराच छन्द, घत्ता छन्द आदि हैं। अधिकांश पद्य सवैया तेईसामें लिखे हुये हैं।

रचना छोटी है लेकिन बहुत सुन्दर है। ऐसा मालूम होता है कि हरचन्द हिन्दीके अच्छे कवि थे तथा अलंकार एवं रस-शास्त्रके पारंगत थे। भगवान् आदिनाथके जन्म कल्याणक पर देवोंने जो उत्सव मनाया था उसका कविने विस्तारसे वर्णन किया है। केवल अप्सराओं एवं देवियोंके नाच-वर्णनमें ७ सवैया हैं। उनमें से दो पढ़िये—

हाव भाव विभ्रम विलास युत खडग !
　　रिषभ गावै गंधार।
ताल मृदंग किंकिनी कटि पर
　　पग नेवज बाजे झनकार।
वीन बांसुरी मुरज खंजरी, चंग उपंग बजै सहनारि।
कोडि सताइस दल बल ऊपर रचै अपछरा नचैंअपार
सीसफूल सीसन के ऊपर पग नूपर भूपर सिंगार।
केसरि कुंकुम अगर अरगजा
　　मलय सुभग ल्याये घनसार।
चलनि हंसनि बोलनि चितवन करि
　　रति के रूप किये परिहार।
कोडि सताइस दल बल ऊपर
　　रचै अपछरा नचें अपार॥

पूर्णज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् ऋषभदेवका वर्णन करते हुये कविने लिखा है—

जाकी वपु कान्ति दशा दिम भांति
　　महा सुख शांति धरन जगके।
जाकी वपु तेजु हरे रवि सेजु
　　दरे दुख जे जु करम ठगके॥
जाकी शुभ दर्श हरे भव पर्श
　　करे शिव शर्श सरम लगके।
जाकी गुन ज्ञान धरे मुनि ध्यान
　　करें कल्याण परम मगके॥ ७६॥

आदिनाथ जहाँ जहाँ विहार करते हैं वहांका वायुमण्डल स्वच्छ बन जाता है। वे मागधी भाषामें अपना पावन उपदेश देते हैं जिसको सुनकर सब प्राणी आपसके बैर छोड़ देते हैं। प्रकृति श्रीभगवान्के आगमनसे प्रसन्न होकर मानों अपनी ६ ऋतुयें एक साथ ले आती हैं। इसका वर्णन कविके शब्दोंमें पढ़िये— भुजगप्रयात छंद—

खिरै मागधी भाख सबको पियारी।
　　तजै बैर आजन्म सब देहधारी॥
फलै वृक्ष पट रितु तनै गंध भारी।
　　करै भूमि दर्प्पन मनो निर्मलारी॥ ८३॥
वहै पवन मंद सुगंध सुखारी।
　　लहै परम सुखकंद जिनवंदतारी॥
करै रत्न भूमी मरु देवतारी।
　　झरै मेघ निर्झर सुगंध कुनारी॥८४

इस प्रकार कविने बहुत ही सुन्दर रीतिसे तथा थोड़ेसे शब्दोंमें आदिनाथके पांच कल्याणकोंका वर्णन किया है, अन्तमें वह विनयी बनकर अपनी रचनामें आये हुये दोषोंके लिये क्षमा मांगता है—मरहटी छंद—

मो मति अति हीनी नहीं प्रवीनी जिन गुन महा महंत
अति भक्ति भावतें हिये चावतें नहिं जस हेत कहंत॥
सबके भानन कौं गुन जानन कौं मो मन सदा रहंत।
जिनधर्म प्रकासन भव-भव पावन जन हरचद चहंत॥

दोहा—

अब सज्जन बुद्धिवंत जे तिनसों विनती एह।
भूल चूक अक्षर अमिल करयो सुद्ध सनेह॥११४॥

क्रमशः

(श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजीके अनुसंधान विभागकी ओरसे)

सौन्दर्यकी क्षण विनश्वरता

सनत्कुमार चक्रवर्ती अपने युगका सर्वश्रेष्ठ सुन्दर पुरुष था। इन्द्रने अपनी सभामें उसके सौन्दर्यकी बड़ी प्रशंसा की। दो देवोंको भूमगोचरी के शरीर सौन्दर्य पर सन्देह हुआ। वे विप्रका रूप बनाकर सनत्कुमारके रूप सौन्दर्य-को देखनेके लिये चल पड़े। व्यायामशालामें धूल-धूसरित चक्रवर्तीके शरीरको देखकर देव चकित रह गये। उन्हें इस प्रकार देखकर चक्रवर्तीने कहा—विप्रवर ! सुन्दरताका पूर्ण अवलोकन राज्य सिंहासन पर करना।

थोड़ी देर बाद देव राज्य-सभामें पहुँचे, वहां देवोंको उनके शरीर सौन्दर्यमें पहलेकी अपेक्षा कमी मालूम हुई। वे बोले—स्वामिन् ! वह व्यायामशालाका सौन्दर्य अब नहीं रहा—उसका अपेक्षाकृत ह्रास हो चुका है। यह सुनते ही चक्रवर्तीको संसारसे वैराग्य हो गया।

ये सुन्दर जीवनकी कलियां, नित क्षण-क्षणमें मुरझाती हैं। तुम इन पर क्या इठलाते हो, ये मुरझानेको आती हैं॥

वीर-शासन-जयन्तीका इतिहास

श्री वीरभगवानके शासन तीर्थकी जिसे स्वामी समन्तभद्रने 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है, उत्पत्ति पंच शैलपुर (राजगृह) के विपुलाचल पर्वत पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको प्रातः सूर्योदयके समय अभिजित नक्षत्रमें हुई, जबकि उस नक्षत्रका रुद्र मुहूर्तके साथ प्रथम योग हो रहा था। इस तीर्थको अवतार लिये २४१३ वर्ष बीत चुके हैं, आज उसकी २४१४ वीं वर्षगाँठ है। वीरके तीर्थकी यह उत्पत्ति-तिथि ही 'वीरशासनजयन्ती' कहलाती है।

देशमें धवल-जयधवल जैसे पुरातन सिद्धान्त-ग्रन्थोंका पठन-पाठन बहुत वर्षोंसे उठा हुआ था, उनका नाम सुना जाता था किन्तु दर्शन दुर्लभ था। दैवयोगसे मुझे उनके अवलोकनका सौभाग्य प्राप्त हुआ और मैंने उन परसे प्रायः एक हजार पृष्ठके नोट्स लिये। नोट्सका यह कार्य आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा सं० १९९० ता० ७ जुलाई सन् १९३३ को आरा जैन सिद्धान्त भवनके संनिकट श्री शान्तिनाथजीके मंदिरमें समाप्त हुआ। नोट्स लेते समय कुछ ऐसी प्राचीन गाथाएँ इन ग्रन्थोंमें उद्धृत पाई गईं, जिनमें भगवान महावीरके शासनकी उत्पत्तिके समय तथा स्थानादिका उल्लेख है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदाकी उक्त तिथि वर्षके प्रथम मास और प्रथम पक्षकी तिथि है। उनमेंसे दो गाथाएँ इस प्रकार हैं :—

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्मि ॥२॥
सावणबहुल पडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभि जिस्स पढम जोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वा ॥३॥

इन गाथाओं परसे जहां भ० महावीरके शासन तीर्थकी उत्पत्तिकी तिथि मालूम करके प्रसन्नता हुई वहां यह नई बात मालूम करके और भी प्रसन्नता हुई कि भारतमें बहुत प्राचीन समय पहले वर्षका प्रारम्भ इसी तिथिसे हुआ करता था तथा युगका प्रारम्भ भी इसी तिथिसे होता है और इसलिये इस तिथिको अनेक दृष्टियोंसे बड़ा ही महत्त्व प्राप्त है। देशमें सावनी-असाढ़ीके विभागरूप जो फसली साल प्रचलित है वह भी उसी प्राचीन प्रथाका सूचक है, जिसकी संख्या आजकल ग़लत प्रचलित हो रही है और इस बातको बतलाती है कि वर्षारम्भ-सम्बन्धी उस प्राचीन प्रथाका किसी समय यह उद्धार किया गया है।

कृतज्ञता और उपकार-स्मरण आदिकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि दूसरी जन्मादि तिथियोंसे कितने ही अंशोंमें अधिक महत्त्व रखती है; क्योंकि दूसरी पंचकल्याणक तिथियां जब व्यक्ति-विशेषके निजी उत्कर्षादिसे सम्बन्ध रखती हैं तब यह तिथि पीड़ित, पतित और मार्गच्युत जनताके उत्थान एवं कल्याणके साथ सीधा सम्बन्ध रखती है, और इसलिये अपने हितमें सावधान, कृतज्ञ-जनताके द्वारा ख़ासतौरसे स्मरण रखने तथा महत्त्व दिये जानेके योग्य है। इन विचारोंके आतेही हृदयमें यह उत्कट भावना उत्पन्न हुई कि हमें अपने महोपकारी वीर प्रभु और उनके शासनके प्रति अपने कर्तव्यका कुछ पालन जरूर करना चाहिये। तदनुसार मैंने १५ मार्च सन् १९३६ को 'महावीरकी तीर्थप्रवर्तन तिथि' नामसे एक लेख लिखा और उसे तत्कालीन 'वीर' के विशेषांकमें प्रकाशित कराया, जिसके द्वारा जनताको इस पावन तिथिका परिचय देते हुए और इसकी महत्ता बतलाते हुए इसकी स्मृतिमें उस दिन शुभ कृत्य करने तथा उत्सवादिके रूपमें यह पुण्यदिवस मनानेकी प्रेरणा की गई थी और अन्तमें लिखा था—

'इस दिन महावीर-शासनके प्रेमियोंका ख़ास तौर पर उक्त शासनकी महत्ताका विचार कर उसके अनुसार अपने आचार-विचारको स्थिर करना चाहिये और लोकमें महावीर-शासनके प्रचारका — महावीर-सन्देशको फैलानेका भरसक उद्योग करना चाहिये अथवा जो लोग शासन-प्रचारके कार्यमें लगे हों उन्हें सच्चा सहयोग एवं साहाय्य प्रदान करना चाहिये, जिससे वीर-शासनका प्रसार होकर लोकमें सुख-शान्ति-मूलक कल्याणकी अभिवृद्धि हो।'

इसके बाद ही २४ अप्रैल सन् १९३६ को उद्घाटित होने वाले अपने वीरसेवामन्दिरमें ५ जुलाई सन् १९३६ को वीर-शासन-जयन्तीके उत्सवका प्रथम आयोजन किया गया और उस वक्तसे यह उत्सव बराबर हर साल मनाया जा रहा है।

बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि उक्त खोजका सभी प्रमुख विद्वानोंने अभिनन्दन किया, मेरे सुझावको अपनाया, उत्सवादिके अनुकूल अपनी आवाजें उठाईं और तभीसे यह पावन तिथि एक महान् पर्वके रूपमें उत्सवादिके साथ भारतके प्रायः सभी भागोंमें मनाई जाती है प्रतिवर्ष पत्रोंमें विद्वानों द्वारा इस पर लेख लिखे जाते हैं तथा वीरशासनके अनुकूल आचरण और उसके प्रचारादिकी प्रेरणाएँ की

जाती हैं और इसके मनाने वालोंकी संख्या प्रतिवर्ष तेजीके साथ बढ़ रही है।

आजसे कोई तेरह वर्ष पहले राजगृह (विपुलाचल) तथा कलकत्तामें, वीरशासनको प्रवर्तित हुए ढाई हजार वर्षकी स्मृति एवं खुशीमें, इस उत्सवका एक महान् आयोजन बा० छोटेलालजी और साहू शान्तिप्रसादजी कलकत्ताके नेतृत्वमें हुआ था, जिसमें देशके कोने-कोनेसे प्रचुर संख्यामें विद्वान् तथा प्रतिष्ठित जन पधारे थे। साथ ही कलकत्तामें भगवान महावीरके उपदेशोंको विश्व व्यापी बनानेके लिये वीरशासन-संघकी भी स्थापना हुई थी। कलकत्तामें यह आयोजन ३१ अक्टूबरसे ४ नवम्बर सन् १९४४ तक बड़ी सफलताके साथ सम्पन्न हुआ था।

वीरसेवामन्दिरके द्वारा जिस वर्ष, (जुलाई मासमें) जिस स्थान पर और जिनके सभापतित्वमें यह उत्सव मनाया गया उसकी सूची इस प्रकार है—

वर्ष	स्थान	सभापति
१९३६	सरसावा	पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य.
१९३७	”	” ” ”
१९३८	”	ला० तनसुखरायजी, दिल्ली
१९३९	”	ला. हुलासचंद्रजी, नकुड़ (सहारनपुर)
१९४०	”	प० मक्खनलालजी प्रचारक, दिल्ली
१९४१	”	मुनि कृष्णचन्द्रजी, पचकूला
१९४२	”	ला० प्रद्युम्नकुमारजी, सहारनपुर
१९४३	”	बा० छोटेलालजी, कलकत्ता
१९४४	राजगिरि	बा० छोटेलालजी, कलकत्ता
१९४५	सरसावा	बा० जयभगवानजी, वकील पानीपत
१९४६	”	बा० छोटेलालजी, कलकत्ता
१९४७	”	बा० नेमचन्द्रजी वकील, सहारनपुर
१९४८	सुरार	क्षुल्लक श्रीगणेशप्रसादजी वर्णी
१९४९	दिल्ली	” ” ”
१९५०	सरसावा	प० रामनाथजी, सरसावा
१९५१	”	बा० छोटेलाल जी, कलकत्ता
१९५२	”	पं० रामनाथजी, सरसावा
१९५३	महावीरजी	सेठ छदामीलालजी फिरोजाबाद
१९५४	दिल्ली	साहू शांतिप्रसादजी, कलकत्ता
१९५५	”	आ० देशभूषणजी महाराज
१९५६	”	रायसाहब उल्फतरायजी, दिल्ली
१९५७	”	साहू शान्तिप्रसादजी, कलकत्ता

सन् १९३८ के उत्सवकी यह विशेषता है कि अनेकान्त पत्र ७-८ वर्षसे बन्द पड़ा था, सभापति लाला तनसुखराय-जीने उसको पुनः निकालनेकी खासतौरसे प्रेरणा की और उसके संचालन तथा घाटेका भार अपने ऊपर लिया तदनुसार उसे दो वर्ष तक बड़ी शानके साथ दिल्लीसे प्रकाशित किया।

सन् १९४३ के उत्सवकी विशेषता यह है कि सभापति बाबू छोटेलालजीकी प्रेरणासे राजगृहीमें, जहां विपुलाचल पर्वतपर वीरशासनका अवतार हुआ, वहीं उत्सव मनानेका प्रस्ताव पास हुआ। तदनुसार उत्सव राजगृहीमें आदर्श-रूपसे मनाया गया और उसमें कितने ही प्रमुख विद्वानोंने भाग लिया।

१९४४ के राजगृही-उत्सवकी यह बड़ी विशेषता है कि वहां शासनके प्रभावसे वर्षादिका प्रकोप समय पर एकदम शान्त हो गया और उत्सव बड़ी शानके साथ मनाया गया, तथा विपुलाचलके उस स्थान पर जहां भगवानकी प्रथम देशना हुई थी एक कीर्ति-स्तम्भ कायम करनेके लिये शिलान्यास किया गया।

सन् १९४८ में सुरारके उत्सवकी यह विशेषता रही कि वीरसेवामन्दिरकी एक शाखा दिल्लीमें कायम करनेके लिये राय साहब उल्फतरायजीने अपने चैत्यालयके नीचेका मकान फ्री देनेकी स्वीकृति दी। तदनुसार करीब दो साल तक राय साहबके उस मकानमें वीरसेवामन्दिरका कार्यालय दिल्लीमें रहा। दूसरी विशेषता यह रही कि उत्सवमें आये हुए बाबू नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता मेरे साथ सरसावा पधारे और उन्होंने यह देखकर कि ग्रन्थोंके प्रकाशनका कार्य अर्थाभावके कारण रुका पड़ा है, उसके प्रकाशनके लिये १००००) दस हजार रुपयेकी सहायता प्रदान की, जिससे आप्तपरीक्षादि कितने ही ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

सन् १९५१ के उत्सवकी यह विशेषता है कि मैंने वीरसेवामन्दिरके नाम जो ट्रस्ट २ मईको रजिस्ट्री कराया था वह ट्रस्टनामा ट्रस्टियोंके सामने पेश किया गया और ट्रस्टके नियमानुसार व्यवस्थादिके लिये प्रस्ताव पास किये गये और कुछ नये ट्रस्टी भी चुने गये।

सन् १९५३ के उत्सवकी यह विशेषता है कि इस अवसर पर मैंने सप्तम श्रावकके व्रत ग्रहण किये और इस

खुशीमें पांच हजारकी रकम छात्राओंको छात्रवृत्ति देनेके लिये अपनी दिवंगत पत्नीकी स्मृतिमें दान की।

सन् १९५४ के उत्सवकी यह विशेषता है कि साहू शान्तिप्रसादजीके कर-कमलों द्वारा वीर-सेवा-मन्दिरकी बिल्डिंगका शिलान्यास हुआ और चौखटका मुहूर्त किया गया। तथा साहूजीने बड़ी उदारताके साथ नीचेकी मंजिलका कुल खर्च उठानेको स्वीकारता प्रदान की और तदनुसार आपसे ३५०००) रुपयेकी सहायता प्राप्त हुई।

बाईसवां उत्सव इस वर्ष पुनः साहू शान्ति-प्रसादजीके सभापतित्वमें आज मनाया जा रहा है, यह बड़ी खुशीकी बात है। इसी अवसर पर वीरसेवामन्दिरके नूतन भवनका उद्घाटन कार्य भी आपके ही कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हो रहा है यह इस उत्सवकी खास विशेषता है।

जुगलकिशोर मुख्तार

वीरशासनजयन्ती और भवनोत्सव

श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके प्रातःकाल ७॥ बजेसे ६॥ बजे तक वीर शासन जयन्तीका समारोह भारतके प्रसिद्ध उद्योग-पति, श्रावक-शिरोमणि, दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी जैन कलकत्ताके सभापतित्वमें सानन्द सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर ससंघ आचार्य देशभूषणजी महाराज, श्रीमती अजित-प्रसादजी (केन्द्रीय खाद्यमन्त्री) श्रीमती कमला जैन, काका कालेलकर, महात्मा भगवानदीनजी, श्री जैनेन्द्रकुमार-जी, श्री यशपालजी, श्री अक्षयकुमारजी, रा० सा० लाला उल्फतरायजी, ला० श्यामलालजी, ला० जुगलकिशोरजी कागजी, ला० परमादीलालजी पाटनी, ला० मुंशीलालजी, ला० राजकृष्णजी, ला० तनसुखरायजी, ला० नन्हेंमलजी, ला० रतनलालजी बिजली वाले, ला० रतनलालजी मादी-पुरिया, ला० रघुवीरसिंहजी, राय बहादुर उल्फतरायजी इंजीनियर मेरठ, वैद्य महावीरप्रसादजी, सेठ मोहनलालजी कठोतिया, बा० पन्नालालजी अग्रवाल, डॉ० किशोर, डॉ० सी० आर० जैना, बा० आदीश्वर लालजी एम. ए., बा० आनन्दप्रकाशजी एम० ए०, बा० गोकुलप्रसादजी एम. ए. पं० अजितकुमारजी शास्त्री, पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य, पं० बलभद्रजी न्यायतीर्थ, बा० विमलप्रसादजी, श्री शांति-लालजी वनमाली आदि नगरके अनेक गण्य-मान्य श्रीमान् और विद्वान् उपस्थित थे।

पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीके मंगलाचरण करनेके पश्चात् बा० छोटेलालजी जैन, अध्यक्ष वीर-सेवामन्दिरने साहूजीका परिचय दिया। बा० प्रेमचन्दजी बी० ए०, संयुक्त मंत्री वीर-सेवामन्दिरके हार पहनानेके पश्चात् श्री ताराचन्द्रजी प्रेमीने जैन शासन और स्याद्वाद पर एक बहुत सुन्दर कविता बोली, जिसे सुनकर सभी उपस्थित लोग आनन्द-विभोर हो गये। तदनन्तर श्री० जुगलकिशोर जी मुख्तार, संस्थापक वीर-सेवामन्दिरने वीर शासन जयन्ती का इतिहास बतलाया। (जो कि इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित है) महात्मा भगवानदीनजीने अस्वस्थ और अशक्त होते हुए भी बड़े मार्मिक शब्दोंमें अपना भाषण दिया। आपने इस बात पर सबसे अधिक जोर दिया कि कथनीकी अपेक्षा करनीका महत्त्व बहुत अधिक है। हमें अपने भीतर जैनत्व जागृत करना चाहिए और इच्छा निरोधरूप तपको जीवनमें उतारना चाहिए। श्री काका कालेलकरने जैन साहित्यकी महत्ता पर प्रकाश डाला और बतलाया कि अहिंसाकी आज बहुत आवश्यकता है। आपने अहिंसात्मक आन्दोलनकी इस अवसर पर चर्चा करते हुए कहा कि हमें वह काम करना चाहिए जिससे मनुष्यका आपसमें वैरभाव घटकर परस्पर मनुष्यता बढ़े। आपने परामर्श दिया कि हमें जातिसे जैनोंकी संख्या न बढ़ाकर हृदयसे जैन-भावनाका आदर करने वाले लोगोंकी आव-श्यकता है। आपने आजके संसारकी स्थितिकी चर्चा करते हुए शान्तिवादियोंका एक मजबूत संगठन बनानेकी भी इस अवसर पर चर्चा की। अन्तमें आपने बताया कि मैंने विदेशोंका भ्रमण किया है, मैं स्वयं निरामिषभोजी हूँ और मैंने अनुभव किया है कि विदेशी लोगोंमें शाकाहारकी प्रवृत्ति बढ़ रही है।

पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीने अपनी ओजस्विनी भाषामें वीर-शासनका महत्त्व बतलाते हुए अहिंसा, अने-कान्त, अपरिग्रह, कर्मसिद्धान्त आदि पर बहुत सुन्दर ढंगसे प्रकाश डाला और कहा कि आत्मासे परमात्मा बननेका मार्ग बतलाना ही जैनशासनकी सबसे बड़ी विशेषता है। अपने भाषणके अन्तमें आपने खाद्य समस्या पर प्रकाश डालते हुए कहा कि मनुष्य स्वभावतः शाकाहारी प्राणी है

नवभारत टाइम्स के सौजन्य से

वीर शासन जयन्ती महोत्सव

बाएं से दाएं—साहू शान्तिप्रसाद जी (भाषण करते हुए,) २ महात्मा भगवानदीन जी, ३ श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार, ४ श्री जैनेन्द्र कुमारजी, ५ बा० प्रेमचन्द्रजी, ६ सेठ मोहनलालजी कठोतिया, ७ श्री काका कालेलकर (भाषण करते हुए)

यह बात उसके दांत आदिकी बनावटसे ही सिद्ध है। फिर भी अपने को अहिंसक कहलाने वाली हमारी भारत सरकार खाद्य समस्याको हल करने के लिए दिन पर दिन मांस-भक्षण का प्रचार करने पर तुली हुई है। उसे ज्ञात होना चाहिए कि मांस मनुष्यका प्राकृतिक आहार नहीं है, यह एक मात्र उन हिंस्र पशुओंका भोजन है जिनके कि दांत आदिकी रचना शाकाहारी पशुओंसे भिन्न है। आज वैज्ञानिक परीक्षणोंसे यह सिद्ध हो चुका है कि जहां कसाईखाने अधिक होते हैं, वहांके वातावरणमें रहने वाले मनुष्योंकी क्रिमिनल (अपराध करनेकी मनोवृत्ति बढ़ती है और उससे मार-काट, डांकेजनी, अत्याचार और व्यभिचारको प्रोत्सेजना मिलती है। मनुष्यके स्वभावमें बर्बरता और उग्रता आती है। इसलिए दिन पर दिन बढ़ने वाले कसाईखाने और मांसाहारके विरुद्ध सभी अहिंसा-प्रेमियोंको प्रबल आन्दोलन करना चाहिए और मत्स्य-मुर्गी-पालनके स्थान पर गो-पालन फल, उत्पादन आदिके प्रचार-द्वारा शाकाहारके लिए सरकार और जनताको प्रेरित करना चाहिए। तथा चमड़ेसे बनी वस्तुओंका व्यवहार नहीं करना चाहिये। तत्पश्चात् आचार्य देशभूषणजी महाराजका भाषण हुआ। आपने वीर-शासनकी विशेषताओंको बतलाते हुए कहा कि यह महान् हर्षकी बात है कि श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार अपने वीर-सेवा-मन्दिरके द्वारा वीर-शासन-जयन्ती मना करके वीर-शासनका प्रचार कर रहे हैं और साहूजी उसमें आर्थिक सहायता देकर तथा जैन साहित्यका प्रकाशन करा करके अपनी लक्ष्मीको सफल कर रहे हैं। अन्तमें आपने बतलाया कि भ० महावीरने जैनधर्मरूपी जिस सरोवरको अपने अमृतमय उपदेशरूपी जलसे भरा है, उसके जलको पीनेका प्रत्येक मनुष्यको अधिकार है। आज उस तालाबकी पाल टूट रही है और उसमेंका जल समाप्त होनेका अंदेशा है। इसलिए प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि उसके टूटे हुए पालमें एक-एक ईंट लगाकर उसकी पालको मजबूत बनाये रखें, जिससे कि सरोवरमें धर्मरूप जल बराबर भरा रहे और प्रत्येक प्राणी उसमें के जलका पान करके चिरकाल तक अपनी प्यास बुझाता रहे।

अन्तमें साहूजीने अपना भाषण प्रारम्भ किया और आचार्य महाराजके व्याख्यानकी प्रशंसा करते हुए कहा—महाराजने धर्मरूप सरोवरसे सभीको जल पीनेका अधिकार बतलाया है। हमें चाहिए कि हम धर्मरूप सरोवरसे सबको जलपान करने देवें। आगे आपने कहा कि भारतकी राजधानी होनेके नाते यहांके जैनियोंका कर्त्तव्य है कि सबका समानरूपसे कल्याण करनेवाले वीर-शासनके सिद्धान्तोंका अधिकसे अधिक प्रचार करें। तत्पश्चात् बा० छोटेलालजी जैनने सर्व समागत बन्धुओंका आभार माना और साहूजीसे वीरसेवा-मन्दिरके नवीन भवनके उद्घाटनकी प्रार्थना की। साहूजी सभा-मण्डपसे वीरसेवा मन्दिर पधारे, वहां पर श्रीमती अजित प्रसादजीने आपको तिलक किया और साहूजीके आग्रहसे आपने पं० सुमेरुचन्द्रजी उन्निनीपु तथा पं० मिट्ठनलालजीके द्वारा मंत्रोच्चारण किये जानेके साथ वीरसेवा-मन्दिरका उद्घाटन किया। सर्व प्रथम आ० देशभूषणजी महाराजने भीतर प्रवेश किया। साहूजीने ऊपर हॉलमें जाकर शेष विधि-विधान सम्पन्न किया। तदनन्तर सभी भाई-बहिनोंको लाडुओंसे भरे हुए थैले भेंट किये गये। इस प्रकार वीरशासनकी जयध्वनि पूर्वक प्रात:कालीन कार्यक्रम समाप्त हुआ।

सायंकालको ८ बजेसे श्री टी. एन्. रामचन्द्रन्, संयुक्त डायरेक्टर जनरल पुरातत्त्व विभाग भारत सरकारने स्लाइडके द्वारा जैनमूर्तियों और मन्दिरोंके प्राचीन चित्रोंको दिखाते हुए जैन संस्कृति और कलाके विषय पर अंग्रेजीमें बहुत ही गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण भाषण दिया, जिसका सार हिन्दीमें बा० छोटेलालजी बीच-बीचमें बतलाते जाते थे।

दूसरे दिन बा० छोटेलालजी सा० साहूजी से उनके निवास-स्थान पर मिले और वीरसेवामन्दिरकी आर्थिक स्थिति उनके सामने रखी और बतलाया कि संस्थाको १५ हजार रुपयोंकी तत्काल आवश्यकता है। साहूजीने १५०००) रु० का सहायता देना स्वीकार किया। इसके लिए वीर सेवामन्दिर आपका बहुत आभारी है।

मन्त्री—वीर सेवामन्दिर

वीर शासन-जयतीके उपलक्षमें समारोहके अध्यक्ष
साहू शान्तिप्रसादजीके प्रति

रचयिता : ताराचन्द जैन 'प्रेमी

(१)

धरा धन्य हो गई किसे पा
गया धैर्य भी जीत रे!
लक्ष्मी और सरस्वती दोनों
गाती किसके गीत रे?

(२)

बीता तिमिर निशा का
प्राची पर प्रकाश की अरुणाई
ऊषा आज पुजारिन बनकर
केशर थाल सजा लाई।

(३)

मेघ मगन होकर धरती पर
क्यों निर्भर झर झर झरते?
जाने किस वरदानी के
चरणों का प्रक्षालन करने?

(४)

मां मूरति का हृदयस्थल
भारत भर का आल्हाद है
देश जाति का गौरव ये ही
साहू शान्ति प्रसाद है।

(५)

सत्य साधना से विश्वासी
गया भाग्य को जीत रे
लक्ष्मी और सरस्वती दोनों
गातीं इनके गीत रे।

(६)

वृक्षों की डालें झुक झुक कर
करतीं हैं सम्मान रे
भ्रमरों की टोलियाँ झूम कर
गाती हैं गुण गान रे।

(७)

गिरि की उँची चोटी जैसा
उन्नत हृदय महान् रे।
और सिन्धु की गहराई सा
गहरा इनका ज्ञान रे।

(८)

सूरज को दीपक दिखलाऊँ
क्या कुछ कह कर मीत रे?
लक्ष्मी और सरस्वती दोनों
गाती इनके गीत रे।

(९)

नहीं मेघ की बूँदें हैं ये
सुर बालाओं के श्रम कण?
अथवा पायल के घुँघरू हैं
या श्रद्धा के सजल नयन?

(१०)

उपवन भी अपना आंचल
सुरभित फूलों से भर लाया।
आज सरलता से मिलने को
इन्द्र हृदय भर कर आया।

(११)

व्यक्त न हो पाती शब्दों में
अन्तर तम की प्रीत रे।
लक्ष्मी और सरस्वती दोनों
गाती इनके गीत रे।

नन्दिसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण की

शाखा-प्रतिशाखाएं

(श्री० पं० पन्नालाल सोनी)

इतस्तत बिखरी हुई मामग्री के आधार पर उक्त शाखा-प्रतिशाखाओ के मकलन का यह प्रयास है, जो कि अत्यन्त दुरूह है, फिर भी यह कदम बढाया जा रहा है। वह इस लिए कि इनकी कुछ जानकारी हासिल हो सके और उत्तरोत्तर अधिकाधिक विचार-विमर्श हो सके। इसके सकलन की मामग्री निम्न प्रकार विभाजित की जा सकती है। १—ग्रन्थ प्रणेताओं के उल्लेख २—उनकी प्रशस्तिया ३—ग्रन्थ लिखा कर देने वालो की प्रशस्तिया ४—ग्रन्थ-लिपिकारो की प्रशस्तिया ५—शिलालेख ६—प्रतिमालेख, ७—विप्रकीर्ण ८—पट्टावलिया।

संघोत्पत्ति

सबमे प्रथम संघो की उत्पत्ति कैसे हुई यह जान लेना आवश्यक है। कहते है पूर्व समय मे मुनिजन ज्ञान-विज्ञान मे प्रवीण वडे आचार्य के पादमूल मे पचवार्षिक प्रतिक्रमण किया करते थे जो प्रति पांचवे वर्ष के अन्त मे सम्पादित हुआ करता था। इसे युगप्रतिक्रमण भी कहते हैं। इसका दूसरा नाम महिमा या महामहिमा भी है। इसमे दूर दूर तक के मुनियो का समुदाय सम्मिलित हुआ करता था। दो युग प्रतिक्रमणों मे दो विशेष घटनाएं घटित हुईं। एक मे पाच कुलो या चार सघो की उत्पत्ति हुई और दूसरे मे षट्खडागम की उत्पत्ति का स्रोत प्रस्फुटित हुआ।

जिसमे कुलो या सघो का नाम सस्करण हुआ था वह युग प्रतिक्रमण भगवत्-अर्हद्बली के पादमूल मे हुआ था आचार्य प्रवर इन्द्रनन्दी श्रुतावतार नाम के प्रवचन मे लिखते है कि आचाराग के धारक मुनियो के अनन्तर अगो और पूर्वो के एक देश के धारक विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त ये चार मुनिप्रवर हुए। इनके अनन्तर पूर्व देश के मध्यवर्ती पुडवर्धनपुर मे सब अंगो और पूर्वो के देशैकदेश के वेत्ता आचार्य अर्हद्बली हुए। जो इस श्रुत के प्रसारण और धारण करने मे समर्थ थे, विशुद्ध समीचीन क्रियाओं के आचरण मे उद्युक्त थे, अष्टांग निमित्तो के ज्ञाता थे, संघ के अनुग्रह-निग्रह करने मे समर्थ थे। वे उस समय पाँच पांच वर्षो के अनन्तर सौ योजन तक के निवासी मुनिजन के समक्ष युग प्रतिक्रमण किया करते थे। वे जब एक बार युगान्त मे युगप्रतिक्रमण कर रहे थे तब उन्होने आगत मुनिजनों से पूछा, क्या सब मुनिजन आ गये? मुनिजन बोले, हां, भगवन्! हम सब अपने २ सघ के साथ आ गये। उनके इस प्रतिवचन को सुनकर भगवत् अर्हद्बली ने सोचा, अहो अब मे आगे इस कलियुग, मे यह जैनधर्म अपने अपने सघ भेद के पक्षपात को लिए हुए स्थित रहेगा, उदासीन रूप से नही।

इस निमित्त को पाकर भगवान् अर्हद्बलीने पाच स्थानों मे आये हुए मुनिजनो के पांच कुल नियत कर दिए और उनकी पृथक् पृथक् दश सज्ञाए भी निश्चित कर दी। जो गुहावास से आये थे उनमे किन्ही की नन्दी और किन्ही की वीर, जो अशोकवाट से आये थे उनमे किन्ही की अपराजित और किन्ही की देव, जो पचस्तूप्यनिवास से आये थे उनमे किन्ही की सेन और किन्ही की भद्र, जो शाल्मलि नाम के महाद्रुम से आये थे उनमे किन्ही की गुणधर और किन्हीं की गुप्त तथा जो खडकेसर नाम के द्रुममूल से आये थे उनमे किन्ही की सिंह और किन्ही की चन्द्र।

इस कथन की पुष्टि मे आचार्य इन्द्रनन्दी ने एक प्राचीन पद्य भी उधृत किया है। वे सज्ञाओ के सम्बन्ध मे अन्य आचार्यो का कुछ विभिन्नता का सूचक मतभेद भी व्यक्त करते है। यद्यपि उनका सज्ञाओ के विषय मे कुछ मतभेद अवश्य है किन्तु कुलो के विषय मे कोई मतभेद नही है। अन्तिम उपसहार करते हुए वे ही आचार्य इन्द्रनन्दी कहते है—इस प्रकार मुनिजनो के संघो के प्रवर्तक आचार्य अर्हद्बली के अन्तेवासी मुनीन्द्र हुए हैं, जो समान कुलाचरण के कारण सभी उपासनीय है—माननीय है। तात्पर्य पाँचों कुलो के आचरण मे कोई भेद नही है, सभी कुलो का आचरण एक सा है। अत उस समानाचरण के प्रतिपालक सभी मुनि अभिवंदनीय हैं।

नीतिसार के विधाता आचार्य प्रवर द्वितीय इन्द्रनन्दी इस प्रकार कहते हैं कि जब विक्रमनृपति और भद्रबाहु-योगीश्वर स्वर्ग चले गये तब प्रजा पाप मे विमोहित हुई

स्वच्छन्दचारिणी हो गई और परमार्थ के ज्ञाता और आत्म ध्यान मे तल्लीन यतियो में स्वपराध्यवसाय उत्पन्न हो गया उस समय जातिसांकर्य से भयभीत हुए महर्द्धिक लोगों ने सबके उपकारार्थ ग्राम-नगर आदि के नाम से कुलों की रचना की और उसी वक्त सब निमित्तज्ञों में अग्रगी यति-राज अर्हद्बली ने भी संघों का संगठन किया। जो कि संघ स्थान-गुहा, शाल्मलीद्रुम, अशोकवाट आदि मे स्थित अर्थात् निवास के भेद से सिंहसंघ, नन्दिसंघ, सेनसघ और देवसंघ इस प्रकार स्पष्ट हैं।

दोनो इन्द्रनन्दी आचार्यों के उल्लेखों के अनुसार स्पष्ट है कि स्थान स्थिति को लेकर पाँच कुलों के नामो और उनकी संज्ञाओं का तथा चार संघों का सगठन अष्टाग निमित्त वेत्ता आचार्य अर्हद्बली ने ही किया था।

संघों के अन्तर्गत नाम भी यत्र तत्र पाये जाते है जिनमें कुलों और सघो मे एकीकरण प्रतीत होता है। कुलों की अन्तर्गत संज्ञाए दी जा चुकी हैं, संघों की अन्तर्गत संज्ञाए ये है—नन्दिसंघ के मुनियो की नन्दी, चन्द्र, कीर्ति और भूषण, सेनसंघ के मुनियों की सेन, वीर और भद्र; सिंह संघ के मुनियों की सिंह, कुंभ, आस्रव और सागर, तथा देवसघ के यतियों की देव, दत्त, नाग और तुंग। कुलो की अन्तर्गत संज्ञाओं मे नन्दि, सेन, सिंह और देव प्रथम नाम दृष्टिगत हो रहे है और सघो की अन्तर्गत संज्ञाओं में भी नन्दि, सेन, सिंह और देव प्रथम नाम है। इस पर से ऐसा आभास मिलता है कि कुलो के अन्तर्गत प्रथम नामों पर से सघों के नाम व्यवहृत हो गये हैं और कुलों के गुहावास, पंच-स्तूप्य आदि नाम विलुप्त हो गये हैं। फलितार्थ यह कि कुल और संघ जुदे जुदे नहीं हैं। गुहावास कुल ही नन्दि संघ है, पंचस्तूप्य कुल ही सेनसघ है अशोकवाट कुल ही देवसंघ है और खडकेसर कुल ही सिंह संघ है। उदाहरण के बतौर, धवल और पूर्वांश जय-धवल के कर्त्ता आचार्य वीरसेन अपने को चन्द्रसेन के प्रशिष्य, और आर्यनन्दी के शिष्य बतलाते हुए पंचस्तू-पान्वय का सूर्य बताते हैं। इन्ही वीरसेन के शिष्य जयधवला के उत्तरांश के कर्ता जिनसेन अपने गुरु स्वामी वीरसेन को चन्द्रसेन का प्रशिष्य और आर्यनन्दि का शिष्य उद्घोषित करते हुए उन्हें पंचस्तूपान्वय रूप आकाश में चमकने वाला सूर्य कहते हैं। इस तरह दोनों ने अपनी कुल परंपरा का परिचय देते हुए अपने को पंचस्तूपान्वयी बतलाया है। परन्तु इन्ही वीरसेन के प्रशिष्य और इन्हीं जिनसेन के शिष्य गुणभद्र भदन्त इन दोनो को सेनान्वयी कहते हैं और कहते है कि वीरसेन से जिनसेन हुए और जिनसेन के सधर्मा दशरथ गुरु हुए, मैं जिनसेन और दशरथ गुरु इन दोनों का जगद्विश्रुत शिष्य हुआ हूँ। इस पर से ज्ञात होता है कि पंचस्तूप्य कुल और सेनसंघ दोनों एक ही परंपरा के नाम हैं। अतः दोनो जुदी जुदी वस्तु नही है। इसी तरह गुहावासी कुल और नन्दिसंघ, अशोकवाट कुल और देवसंघ, तथा खंडकेसर कुल और सिंहसघ भी अभिन्न जान पड़ते है। शाल्मलीवृक्षमूल कुल भी इन चार मे से किसी एक मे अन्तर्भूत हो गया दिखता है।

इन संघों से अनेक गण-गच्छ उत्पन्न हुए हैं, जो स्व-पर को सुखोत्पादक है। उनमे प्रव्रज्या, चर्या आदि मे कोई भेद नही है, न प्रतिक्रमण-क्रिया में भेद है, न प्रायश्चित्तविधि मे भेद है और न ही आचार-वाचना आदि मे विभिन्नता है, यह भी नीतिसार मे कहा गया है। ये सब सघ और उनके गण-गच्छ मूलसंघ के अन्तर्गत है। मूलसंघ नाम परापर पूर्वक्रमवर्ती मुमुक्षुओ के एक वर्ग का है, जो कि भगवान महावीर से लेकर अविच्छिन्न रूप से चला आया गृहीतार्थ संविग्न आचार्यों का सम्प्रदाय विशेष है।

(उन गण-गच्छों के नाम भी पुस्तकों मे जहाँ तहा देखने में आते है। जैसे दक्षिण पथ के नन्दिसंघ में पुस्तकगच्छ और वक्रगच्छ तथा देशिगण। उत्तरापथ के नन्दिसघ में सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण,) सेनसंघ मे पुष्करगच्छ सूरस्थगण, सिंहसंघ मे चन्द्रकपाटगच्छ काणूर-गण। यह इतिवृत्त उत्तरापथ के नन्दिसंघ के सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण से सम्बन्धित है, जिसका कि आधार पूर्वोक्त सामग्री है।

पट्टावलियाँ मुख्यतया हमारे पास दो हैं एक संस्कृत पट्टावली और दूसरी अजमेर पट्टावली। पहली पट्टावली संस्कृत भाषा में है और वह पद्यात्मक है। दूसरी मारवाडी हिन्दी भाषा में गद्यात्मक है। इसमें नन्दिसंघ के बलात्कार गण के पट्टधरों की पट्ट संख्या, उनके जन्म के वर्ष, दीक्षा

वर्ष, पट्ट वर्ष और पूर्ण आयु का ब्योरा दिया गया है। उसमे पट्टधरों की जातियों का भी उल्लेख है और कौन-कौन पट्टधर कहा कहा रहे, यह भी निर्दिष्ट है। इन सब का उपयोग किया जाना तो अशक्य है, क्योंकि जो प्रति हमारे पास है वह उक्त विषयो को सर्वथा शुद्धता पूर्वक प्रतिपादन नही करती और कई स्थलो पर त्रुटित भी है। इस लिए उसमे के उपयोगी विषय ही यथास्थान बतलाये जा सकेंगे। सस्कृत पट्टावली मे इनके बाद ये हुए और इनके बाद ये हुए, इतना मात्र उल्लेख है। हाँ, आचार्य वसन्तकीर्ति से आगे कुछ विशेष परिचय भी पाया जाता है। दोनो पट्टावलियाँ सर्वथा एक मत नहीं है। उनमें कुछ अंशों मे समानता भी है और कुछ अंशों मे असमानता भी। जिनका यथा स्थान उल्लेख किया जायगा। सब से पहली बात यही है कि सस्कृत पट्टावली मे आद्य पट्टधर आचार्य माघनन्दी को कहा गया है और अजमेर पट्टावली मे भद्रबाहु को। परन्तु संस्कृत पट्टावली मे मगल रूप मे भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्त का भी इस रूप मे स्मरण किया गया है कि मानो इस संघ से उनका भी कोई खास सम्बन्ध रहा है। अत. यह इतिवृत्त भद्रबाहु से ही आरंभ किया जाता है।

१ आचार्य भद्रबाहु

भद्रबाहु नाम के कम से कम दो आचार्य हो गये हैं। एक ग्यारह अगो और चौदह पूर्वो के वेत्ता और दूसरे एक अग के वेत्ता। कोई कोई आचार्य अंगो-पूर्वो के एक देश के ज्ञाता भद्रबाहु का और कोई कोई अष्टाग निमित्तो के ज्ञाता भद्रबाहु का भी उल्लेख करते हैं। परन्तु समय के लिहाज से इनका अन्तर्भाव दूसरे भद्रबाहु मे ही किया जा सकता है। वी० नि० स० ६८३ तक के आचार्यों की जो परंपरा ग्रन्थो मे उपलब्ध है वह किन्ही किन्ही के पर्याय नामो को छोड कर प्रायः समान रूप मे है। जैसे कोई आचार्य सुधर्मस्वामी को सुधर्मस्वामी लिखते है तो कोई उन्हे लोहाचार्य और सुधर्माचार्य दोनों नामो से लिखते है। इसी तरह कोई आचार्य एकांग के वेत्ता भद्रबाहु को भद्रबाहु और कोई यशोबाहु लिखते हैं। इस विषय मे पुष्ट हेतु यह है कि आचार्य वीरसेन एकांग के पाठी चार मुनियो के नाम क्रम से सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य गिनाते है, तो उन्ही के खास शिष्य स्वामी जिनसेन यशोबाहु के स्थान मे भद्रबाहु का नाम देते हैं। यह हो नही सकता था कि गुरु द्वारा उल्लिखित परंपरा उन्हें ज्ञात न हो, वह उन्हें ज्ञात थी, फिर भी वे यशोबाहु न लिखकर भद्रबाहु लिखते हैं। और इन्ही दोनों के प्रशिष्य और शिष्य गुणभद्रदेव भद्रबाहु न लिखकर यशोबाहु लिखते हैं। इस पर से मालूम पडता है कि यशोबाहु और भद्रबाहु एक ही आचार्य के पर्याय नाम हैं जो कि एकांग के वेत्ता थे। इस तरह ६८३ वर्ष तक की परंपरा में भद्रबाहु नाम के दो आचार्य हो गये हैं।

विक्रम प्रबन्ध के कर्त्ता भी दो भद्रबाहुओ का होना स्वीकार करते हैं। परन्तु वे प्रथम भद्रबाहु को ग्यारह अग और चौदह पूर्व के ज्ञाता और दूसरे को दश-नव-अष्ट अग के ज्ञाता कहते है और उनका समय वी० नि० ५१५ मानते हैं। उनकी मानी हुई परपरा इस प्रकार है—अन्तिम जिनके निर्वाण चले जाने के पश्चात् गौतम, सुधर्म और जंबू ये तीन क्रमश केवल ज्ञानी हुए। इनके काल का परिमाण १२-१२-३८ वर्ष का है, जो मिला कर ६२ वर्ष प्रमाण हैं। इनके अनन्तर १०० वर्ष पर्यन्त ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के धारक क्रमश १४, १६, २२, १६, २६ वर्षो मे विष्णुकुमार नन्दिमित्र अपराजित गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच मुनि हुए। इनके पश्चात् १८३ वर्ष पर्यन्त ग्यारह अंग और दश पूर्व के वेत्ता क्रमश. १०, १७, १८, २१, १७, १८, १३, २०, १४, १६, १६ वर्षो मे विशाखाचार्य प्रोष्ठिलाचार्य क्षत्रियाचार्य, जयसेनाचार्य, नागसेनाचार्य, सिद्धार्थाचार्य धृतिसेनाचार्य, विजयाचार्य, बुद्धिलिगाचार्य, देवाचार्य, और धर्मसेनाचार्य ये ग्यारह मुनिवर हुए। इनके बाद १२३ वर्ष पर्यन्त क्रमश. १८, २०, ३६, १४, ३२ वर्षों मे नक्षत्राचार्य, जयपालाचार्य, पांडुआचार्य, ध्रुवसेनाचार्य और कंसाचार्य ये पांच आचार्य ग्यारह अंग के पाठी हुए। इनके अनन्तर ९७ वर्ष पर्यन्त क्रमशः ६, १८, २३, ५० वर्षों मे सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य ये चार मुनिवृषभ दश नव आठ अंगों के धारी हुए है। इनके पश्चात् ११८ वर्ष पर्यन्त क्रमश. २८, २१, १६, ३०, २० वर्षो मे अर्हद्बली, माघनन्दी, धरसेन पुष्पदन्त और भूतबली ये पांच आचार्य एक आचाराग के ज्ञाता हुए। उक्त क्रम मे केवल ज्ञानियों, ग्यारह अंग

चतुर्दश पूर्वधरो, और ग्यारह अंग-दशपूर्वधरों तक के नामों और समय में कोई अन्तर नही है। अन्य आचार्य भी इनका काल क्रमशः ६२, १००, १८३ मिलाकर ३४५ वर्ष मानते हैं तो विक्रम प्रबन्ध के कर्ता इनके नाम और समय भी इतना ही मानते है। किन्तु आगे एकादशांगधारियो के नाम तो अन्य आचार्य और विक्रम प्रबन्ध के कर्ता वे ही गिनाते हैं जो कि ऊपर कहे गये हैं। किन्तु समय इनका अन्य आचार्य जहा २२० वर्ष कहते है वहाँ विक्रम प्रबन्ध-कर्ता १२३ बताते हैं। अवशिष्ट ९७ वर्षों मे सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य दश नव अष्ट अग के धारक हुए ऐसा कहते हैं जिनको कि अन्य कितने ही आचार्य एकांगज्ञाता कहते हैं और समय ११८ वर्ष बताते हैं। विक्रम प्रबन्ध के कर्ता के मतानुसार लोहाचार्य तक की काल गणना ६२, १००, १८३, १२३ और ९७ मिलकर ५६५ वर्ष होती है, जब कि अन्य आचार्यों के मतानुसार ६२, १००, १८३, २२० और ११८ मिलाकर ६८३ वर्ष होती है। विक्रम प्रबन्धके अनुसार वी० नि० ४७० वर्ष पीछे विक्रम राजा हुआ है। लोहाचार्य के ५६५ वी० नि० मे से ४७० घटा देने पर लोहाचार्य का वि० स० ९५ आता है। लोहाचार्य ५० वर्ष तक पट्ट पर जीवित रहे हैं, अत: वि० सं० ९५ और वी० नि० ५६५ मे से ५० वर्ष बाद कर देने पर भद्रबाहु का समय वि० सं० ४५ और वी० नि० सं० ५१५ के लगभग आता है। पट्टावली मे भद्रबाहु का समय वि० स० ४ दिया गया है जो अनकरीब पास ही पड़ता है। पट्टावली मे विशेष उल्लेख यह भी है कि आ० भद्रबाहु की कुल आयु ७६ वर्ष ११ माह की थी। २४ वर्ष उनके गृहस्थपने मे ३० वर्ष दीक्षावस्था मे २२ वर्ष ११ महीने पट्ट अवस्था मे व्यतीत हुए थे। विक्रमप्रबन्ध मे इनका आचार्य-काल २३ वर्ष माना गया है। पट्ट-विषयक वर्षों मे विक्रम प्रबन्ध और पट्टावली एक मत है। नीतिसार के कर्ता इन्द्रनन्दी के उल्लेखो पर से प्रतीत होता है कि विक्रम नृपति और आ० भद्रबाहु समसामयिक थे। दोनो के स्वर्गस्थ हो जाने पर प्रजा स्वच्छन्दचारिणी हो चली थी और योगियो मे स्वपर का अध्यवसाय रूप भाव उत्पन्न हो गया था। अत: महर्द्धिक लोगो ने जाति साकर्य से बचने के लिए ग्रामादिक के नाम से कुलों की रचना कर दी और आचार्य अर्हद्वली ने संघो की रचना कर दी थी। अस्तु उक्त प्रमाणो पर से तो यही सूचित होता है कि द्वितीय भगवद् भद्रबाहु विक्रम राजाके समयमे विद्यमान थे।

भगवत्कुन्दकुन्द भी एक भद्रबाहु श्रुतज्ञानी का जय-वाद रूप मे स्मरण करते है वे प्रथम भद्रबाहु जान पडते हैं, क्योकि ग्यारह अग और चौदह पूर्व के ज्ञाता प्रथम भद्रबाहु ही थे। आचार्य शाकटायन अपरनाम पाल्यकीर्ति भी अमोघवृत्ति मे 'टः प्रोक्ते' सूत्र की व्याख्या मे उदाहरण के रूपमें 'भद्रबाहुना प्रोक्तानि भद्रबाहवाणि उत्तराध्ययनानि' इस प्रकार उल्लेख करते हैं। ये भी संभवत. प्रथम भद्रबाहु ही है। क्योकि इन्होने ही गणधर प्रणीत उत्तराध्ययन सूत्रोका द्वादशागके वेत्ता होनेके नाते परिपूर्ण अन्तिम उप-देश या व्याख्यान दिया था।

तात्पर्य—पूर्वाचार्य अपनी अपनी कृतियोंमे कोई श्रुत-केवली भद्रबाहु का, कोई अष्टांग निमितज्ञ भद्रबाहुका नामस्मरण करते है, कोई इन्हे दश नव अष्ट अंगधर, कोई आचारांगधर आदि पदों से भी विभूषित करते हैं। इस तरह दो भद्रबाहु हो गये है। अधिक भी हुए हो तो निषेध तो निश्चित तौर से किया नही जा सकता। परन्तु महर्षिपर्युपासनो मे और आचार्यो की नामावलियो आदि मे दो ही भद्रबाहुओंके नाम देखने में आते है। प्रथम भद्रबाहु तो ग्यारह अंग चौदह पूर्वके ज्ञाता श्रुतज्ञानी थे इस विषय में तो किसीका भी मतभेद नही है। किन्तु द्वितीय भद्रबाहुको कोई दश नव अष्ट अंगधर, कोई आचा-रागधर, कोई अग-पूर्वों के एक देशधर और कोई अष्टाग-निमितज्ञ कहते हैं यह मतभेद अवश्य है।

२ **आ० गुप्तिगुप्त**—आचार्य गुप्तिगुप्त उक्त आचार्य भद्रबाहु मुनिपुंगव के पट्ट पर हुए थे। इनके चरण सम्पूर्ण राजाओ द्वारा वन्दनीय थे। वे सबको निर्मल मघवृद्धिको देवे ऐसी पट्टावली के मंगल वाक्य मे कामना की गई है। यथा—

श्रीमानशेषनरनायकवन्दितांह्रि श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुतनामधेय.। यो भद्रबाहु-मुनिपुंगवपट्टपद्मसूर्य स वो दिशतु निर्मलसंघवृद्धि । १।।

अजमेर की पट्टावली मे इनके सम्बन्ध मे वर्णन तो इस प्रकार दिया गया है कि 'विक्रमार्क सुं वर्ष ४ भद्रबाहु शिष्य बैठा (भद्रबाहु) गुप्तिगुप्त तस्य नाम त्रयं ३ गुप्तिगुप्त अर्हद्वली २ विशाखाचार्य ३।' किन्तु पट्ट प्रारम्भ करते

हुए भद्रबाहु के अनन्तर इनका नाम नहीं दिया है। किन्तु जिनचन्द्र का नाम दिया गया है। सोलहवीं शताब्दी के मध्यवर्ती सूरि श्रीश्रुतसागर भी इनके तीन नाम गिनाते हैं किन्तु वे इनको प्रथम भद्रबाहु का शिष्य मानते हुए इन्हें दशपूर्वधर कहते हैं। इस प्रकार अजमेर पट्टावली इनको द्वितीय भद्रबाहु का शिष्य और श्री श्रुतसागर प्रथम भद्रबाहु का शिष्य बतलाते हैं यह यहां पर भेद है।

३ आ० माघनन्दी—सरकृत पट्टावली कहती है—

श्री मूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्राभवत् पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः ॥२॥

अर्थात् मूलसघ मे नन्दिसघ है, उसमें अतिरमणीय बलात्कार गण है, उसमे पूर्वपदो के अंगों के वेत्ता श्री माघनन्दी हुए जो कि मनुष्यों और देवों द्वारा वन्दनीय थे।

श्रुतावतार के कर्ता आचार्य इन्द्रनन्दी लिखते हैं कि अर्हद्बलीके अनन्तर अनगारपुंगव माघनन्दी नामके आचार्य हुए। वे भी अंगो और पूर्वों के एक देश को प्रकाशित कर समाधिद्वारा स्वर्ग को चले गये। अजमेर की पट्टावली मे माघनन्दी आचार्यका वर्णन तो इस प्रकार आया है 'नन्दीवृक्षमूने (न) वर्षा योगो धृत. स (ह्) माघी (घ) नन्दी, तेन नन्दीमघः स्थापितः'। नन्दी वृक्ष के मूल में वर्षा योग धारण किया, इस कारण माघनन्दी कहलाये, उन्होंने नन्दीसघकी स्थापना की। परन्तु उसमें पट्ट का प्रारम्भ माघनन्दी से न मानकर भद्रबाहु से माना है और पट्टधरों में भी इनका नाम नहीं गिनाया है। विक्रम प्रबन्ध के कथनानुसार ये एकांग के वेत्ता थे। जैसा कि भद्रबाहु के प्रकरण में कहा गया है।

४आ० जिनचन्द्र—संस्कृत पट्टावली मे आचार्य माघनन्दी के बाद आ० जिनचंद्र का नाम उपलब्ध होता है। महर्षिपर्युपासन मे पं० आशाधरजी ने भी भगवत्कुन्दकुन्द के पूर्व में इनका नाम दिया है। श्रुतसागर सूरि ने भी यही मार्ग अपनाया है, इन सब से यही तात्पर्य हासिल होता है कि आचार्य जिनचंद्र हुए हैं। पट्टावली का वह वाक्य यह है—

पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तो जिनादिचंद्रः समभूदतन्द्र. ।१

इस पर से ज्ञात होता है कि आचार्य माघनन्दी के पट्ट पर आचार्य जिनचन्द्र हुए थे। जोकि भगवत्कुन्दकुन्द देव के गुरु भी थे। इनका समय अजमेर पट्टावली में वि० सं० २६ दिया गया है।

५ पद्मनन्दी कुन्दकुन्द—भगवत्पद्मनन्दी अपरनाम कुन्दकुन्द, आचार्य जिनचंद्रके पट्ट पर सुप्रतिष्ठित हुए थे. जो कि पांच नामों के धारक थे। यथा—

ततोऽभवत् पंचसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ॥३॥
आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छः पद्मनन्दीति तन्नुतिः ॥४॥

इनका अन्तिम समय वि० सं० ४६ था। पट्टावली में भी यही समय माना गया है। कितने ही इतिहासवेत्ताओं का भी लगभग यही अभिमत है। नन्दिसंघ के पट्टाधीशों ने अपने को कुन्दकुन्दान्वय में होना घोषित किया है। कई ग्रन्थ-प्रणेताओ ने भी इनको अपनी परम्परा का महापुरुष मानकर अपना सौभाग्य व्यक्त किया है। यहा तक कि वीरप्रभु, गौतमगणी और जैनधर्म की बराबरी में इनकी गणना की गई है। जो कि निम्न पद्य पर से सुस्पस्ट है—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥१॥

भगवत्कुन्दकुन्द चारण ऋद्धि के धारक थे, वे पृथ्वीतल से चार अंगुल ऊंचे गमन करते थे और विदेहस्थ सीमन्धर तीर्थंकर की वन्दना के लिए विदेह क्षेत्र गये थे ऐसा भी जैन वाङ्मय मे देखा जाता है। ज्ञान इनका बहुत ऊंचा था। अनेक पूर्ण-अपूर्ण प्राभृतोंके ये ज्ञाता थे। कम से कम पाचवें ज्ञानप्रवाद पूर्वकी दशवी वस्तुके दशवें प्राभृतक के ये परिपूर्ण ज्ञाता तो थे ही। क्योंकि अज्झप्पपाहुड पर मे उन्होंने समयपाहुड या समयसारकी रचना की थी। यह भी कथानक है कि भगवत्कुन्दकुन्ददेव ने ८४ पाहुडों की रचना की थी। कालदोष से वे सब इस समय उपलब्ध नही हैं। कुछ उपलब्ध हैं उनके नाम ये हैं-समयपाहुड या समयसार, पवयणपाहुड या प्रवचनसार, पंचत्थिपाहुड या पंचास्तिकाय दंसण पाहुड, चरित्तपाहुड, सूत्रपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिंगपाहुड, नियमसार, रयणसार, इत्यादि। इनके अलावा बारस अणुवेक्खा, प्राकृतसिद्ध भक्ति, प्राकृत श्रुतभक्ति, प्राकृत चरित्र भक्ति, प्राकृत योगिभक्ति प्राकृत आचार्यभक्ति, प्राकृत पंचगुरुभक्ति आदि भी इन्ही

के नाम से प्रसिद्ध हैं। मूलाचार भी इन्ही की कृति है ऐसा मूलाचार की अनेको प्रतियों के अन्त मे उल्लिखित देखा जाता है। कुन्दकुन्द नाम से अकित एक मूलाचार उपलब्धि भी है। मुद्रित मूलाचार और इस मूलाचार मे कुछ गाथा सूत्रों की हीनाधिकता और एकाध अध्यायके आगे पीछेके सिवा कोई विशेष अन्तर नही है। पूर्ण सभव है कि मूलाचार भी कुन्दकुन्ददेवकी ही देन हो।

पद्मनन्दी नामके अनेक आचार्य हो गये है। श्रुतावतार मे भी एक पद्मनन्दी आचार्यका नाम आया है। वहा वे भगवत्पुष्पदन्त और भगवत् भूतवलिप्रणीत षट्खडागमके आद्य त्रिखडो पर बारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म ग्रन्थ के कर्ता कहे गये हैं और कहा गया है कि वे कुन्दकुन्द पुर में हुए थे। इस ग्राम नाम पर से इन्ही पद्मनन्दीको कुन्दकुन्द अनुमानित किया जाता है। परन्तु यह कोई पुष्ट प्रमाण हो ऐसा लगता नही। सभव है और ही पद्मनन्दी कुन्दकुन्द नामसे प्रख्यात हुए हों। अत जब तक और कोई पुष्ट हेतु या प्रमाण न मिल जाय, तब तक यह अनुमान सशयास्पद ही रहेगा। इसी तरह वह एक पद्य भी पट्टावली मे पद्मनन्दी के प्रकरण मे लिखा हुआ मिलता है—

पद्मनन्दिगुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥
ऊर्जयन्तगिरौ तेन गच्छ (:) सारस्वतो भवेत्
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नम श्रीपद्मनन्दिने॥

ये पद्मनन्दी सकलकीर्ति की परपरा मे हुए है, वे रामकीर्ति के पट्टधर थे, रामकीर्ति का समय प्रतिमालेखो के अनुसार सं० १६७२ है और पद्मनन्दी का समय इससे आगे तथा १७१० के पूर्वतक रहा है। क्योकि सं० १७१० के पूर्व किसी समय इनके पट्ट पर देवेन्द्रकीर्ति आ गये थे। उक्त पद्य से मिलता जुलता यह एक पद्य कविवर वृन्दावन जी का भी देखा जाता है—

सघ सहित श्रीकुन्दकुन्दगुरु, वदन हेत गये गिरनार,
वाद परयौ तहँ संशयमतिसो साक्षी बदी अविकाकार।
सत्यपंथ निरग्रंथ दिगंवर कही सुरी तह प्रकट पुकार।
सो गुरुदेव वसो उर मेरे विघ्नहरन मगलकरनार

दोनों पद्यों में विशेष अन्तर नही है। पहले पद्य में पद्मनन्दी ने ऊर्जयन्त अर्थात् गिरनार पर्वत पर पाषाण घटित सरस्वती देवीकी मूर्ति को बुलवाया और सारस्वत-गच्छ को प्राचीन साबित कराया। दूसरे पद्य में कुन्दकुन्द देवने उसी गिरनार पर्वत पर अंबिका की मूर्ति से दिगम्बर सप्रदाय को प्राचीन कहलवाया। सारस्वत गच्छ निर्ग्रन्थ दिगंबरोंका ही तो सत्पथ है। मालूम पड़ता है पद्मनन्दीसे कुन्दकुन्द देव को समझ लिया गया है और ऐसा समझ कर कुन्दकुन्द के साथ उस घटना का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। नाम साम्य से ऐसा हो जाना स्वाभाविक भी है उसी तरह कुन्दकुन्दपुर पर से पद्मनन्दी को भी कुन्दकुन्द देव समझ लिया जा सकता है। अत. परिकर्म-कर्ता पद्मनन्दी ही कुन्दकुन्द थे यह अभी निर्णयाधीन है। ऐसी भावना है कि कुन्दकुन्द देव षट् खडागम के कर्ताओं से भी पहले हो गये हैं।

६ **उमास्वाति या उमास्वामी**—ये भगवत्कुन्दकुन्द के उत्तराधिकारी हुए हैं। पट्टावलियों मे निम्न पद्यके साथ साथ भगवत्कुन्दकुन्दके अनन्तर इनका नाम आता है। अजमेर पट्टावली में इनकी पट्ट सख्या भी छह दी गई है। वह पद्य यह है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वप्रकटीकृतसन्मतः।
उमास्वातिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिराशुमान्॥५॥

इनका नाम गृध्रपिच्छ भी था, जो कई शिला लेखो मे व्यक्त किया गया है। आचार्य वीरसेन और आचार्य विद्यानन्दी ने भी इनको इसी नाम से स्मरण किया हैं। अजमेर पट्टावली मे इनका स्वर्ग समय वि. सं० १०१ लिखा है। इनके तत्त्वार्थसूत्र पर अनेकों छोटी बडी टीकाएं कई भाषाओं मे पाई जाती है। इन पर से इसका महत्त्व स्वय सिद्ध है। कहते है तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वामिसमन्तभद्रप्रणीत ८४००० श्लोकप्रमाण एक गन्धहस्ती भाष्य भी था, जो इस समय उपलब्ध नही है। कितने ही जैन ग्रन्थो मे इसके नामका उल्लेख मिलता है। अनेक दिग्गज जैनाचार्योंने उमास्वामी खूब ही प्रशसा की है। इनका तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर और श्वेताम्बर उभय सम्प्रदायो मे परिपूर्णमान्य है। फिर भी वह दिगम्बर सम्प्रदाय मे अधिक मान्य है जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उसके कितने ही विषय उन्ही के आगमो से विरुद्ध करार दिये गये हैं। दिगम्बर सप्रदाय मे यह बात नही है। दिगम्बर सम्प्रदाय में तो उसके पाठ करने का फल एक उपवास बराबर और उसका एक एक अक्षर प्रमाणभूत माना गया है।

७ **लोहाचार्य**—पट्टावली मे कहा गया है कि उमा-

स्वामी के अनन्तर लोहाचार्य हुये। ये जात रूपके धारक थे श्रमणों द्वारा सेवनीय थे और सम्पूर्ण तत्त्वार्थों का ज्ञान कराने मे विशारद थे। इनसे आगे नन्दि संघ दो पट्टों में विभक्त हो गया जिनके नाम अपाची अर्थात् दक्षिणापथ पट्ट (नन्दिसंघ) और उदीची अर्थात् उत्तरापथ पट्ट (नंदिसंघ) उनके ये नाम है यह सब निम्न दो पद्यों पर से निश्चित होता है –

लोहाचार्यस्ततो जातो जातरूपधरोऽमरैः।
सेवनीयः समस्तार्थविबोधनविशारदः ॥६॥
ततः पट्टद्वयी जाता प्रा (पा) च्युदीच्युपलक्षणात्।
तेषां यतीश्वराणां स्युर्नामानीमानि तत्त्वतः ॥७॥

८ यशःकीर्ति—लोहाचार्य के अनन्तर यशः कीर्ति हुए। सं १५३

९ यशोनन्दी—यशः कीर्तिके अनन्तर यशोनन्दी हुये। सं. २०६

१० देवनन्दी पट्टावली के पद्य मे इनका दूसरा नाम पूज्यपाद दिया गया है और यशःकीर्तिके अनन्तर यशोनन्दीका और यशोनन्दीके अनन्तर इनका नाम आया है। यथा—

यशःकीर्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
पूज्यपादापराख्यो यो गुणनन्दी गुणाकरः ८॥

इस परसे एक तो यह जानकारी मिलती है कि ये देवनन्दी जैनेन्द्रशब्दानुशासन, सर्वार्थसिद्धि, आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके रचयिता प्रख्यात पूज्यपाद ही हैं। दूसरे, इनके गुरुका नाम यशोनन्दी था। अजमेर की पट्टावली में देवनन्दी और पूज्यपाद ऐसे दो पट्ट जुदे जुदे दिखाये गये हैं। इस परसे देवनन्दीके पट्ट पर पूज्यपाद हुए हैं यह स्पष्ट प्रतीत होता है। समयकाल भी दोनोंका जुदा जुदा दिया गया है। देवनन्दीका समय वि० सं० २५८ और पूज्यपादका ३०८। पट्ट संख्या भी क्रमशः १० और ११ दी गई है। यह भी कहा गया है कि देवनन्दी पोरवाल थे और पूज्यपाद पद्मावती पोरवाल। परन्तु संस्कृत पट्टावलीके अनुसार देवनन्दी और पूज्यपाद एक ही है, जुदे जुदे नही। जैसा कि ऊपरके पद्यसे प्रतीत होता है। देवनन्दी-पूज्यपादके बनाये हुए निम्न ग्रन्थ समुपलब्ध हैं—जैनेन्द्रशब्दानुशासन, सर्वार्थसिद्धि, समाधिशतक, इष्टोपदेश, जैनाभिषेक, सिद्धिप्रियस्तोत्र, सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, शान्त्यष्टक-शान्तिभक्ति आदि। इनके सिवाय वैद्यकग्रन्थ, सारसंग्रह, छन्दोग्रन्थ आदि भी पूज्यपाद-कृत सुने जाते हैं।

११ गुणनन्दी—संस्कृत पट्टावली में देवनन्दी-पूज्यपादके अनन्तर गुणनन्दीका नाम आया है। जैसाकि ऊपरके पद्य मे दिया गया है। अजमेर की पट्टावलीके अनुसार इनका अन्तिम समय सं० ३५३ था। आगे सिर्फ नाम और अजमेर पट्टावलीके अनुसार संवत् दिया जाता है। क्योंकि आगे नामोंके सम्बन्ध मे हमे विशेष अनुसन्धान नही है।

१२. वज्रनन्दी ३६४। १३. कुमारनन्दी ३८६। १४ लोकचन्द्र ४२७। १५ प्रभाचन्द्र ४५३। १६. नेमिचन्द्र ४७८। १७. भानुनन्दी ४८७। १८. सिंहनन्दी ५०८। १९. वसुनन्दी ५२५। २० वीरनन्दी ५३१। २१ रत्ननन्दी ५६१। २२. माणिक्यनन्दी ५८५। २३ मेघचन्द्र ६०१। २४. शान्तिकीर्ति ६२७। २५. मेरुकीर्ति ६४२। २६. महाकीर्ति ६८६। २७. विश्वनन्दी ७०४। २८. श्रीभूषण ७२६। २९. शीलचन्द्र ७३५। ३०. श्रीनन्दी ७४९। ३१. देशभूषण ७६५। ३२. अनन्तकीर्ति....। ३३. धर्मनन्दी ७८५। ३४. विद्यानदी ८०८। ३५ रामचंद्र ८४०। ३६ रामकीर्ति ८५७। ३७. अभयचन्द्र ८७८। ३८ नरचंद्र ८९७। ३९. नागचंद्र ९१६। ४० नयनंदी ९३९। ४१. हरिश्चंद्र ९४८। ४२. महीचंद्र ९७४। ४३. माधवचंद्र ९९०। ४४. लक्ष्मीचंद्र १०२३। ४५. गुणकीर्ति १०३७। ४६. गुणचंद्र १०४८। ४७. वासवचंद्र...। ४८. लोकचंद्र १०६६। ४९. श्रुतकीर्ति १०८९। ५० भानुचंद्र १०९४। ५१. महाचंद्र १११५। ५२ माघचंद्र ११४०। ५३ ब्रह्मनन्दी ११४४। ५४. शिवनंदी ११४८। ५५. विश्वचंद्र ११५५। ५६. हरिनंदी ११५६। ५७ भावनन्दी ११६०। ५८. सुरकीर्ति ११६७। ५९ विद्याचंद्र ११७०। ६०. सुरचंद्र ११७४। ६१. माघनंदी ११८४। ६२. ज्ञाननंदी ११८८। ६३. गंगनंदी ११९९। ६४. सिंहकीर्ति १२०६। ६५ हेमकीर्ति १२०९। ६६. चारुनंदी १२१६। ६७. नेमिनंदी १२२३। ६८ नाभिकीर्ति १२३०। ६९. नरेन्द्रकीर्ति १२३२। ७०. श्रीचंद्र १२४१। ७१. पद्मकीर्ति १२४८। ७२. वर्धमान १२५३। ७३. अकलंकचंद्र १२५६। ७४. ललितकीर्ति १२५७। ७५. केशवचंद्र १२६१। ७६. चारुकीर्ति १२६२। ७७. अभयकीर्ति १२६४।

७८ आ० वसन्तकीर्ति—ये ऊपरके क्रमानुसार अभयकीर्ति के पट्टधर थे। क्योकि निम्न पद्य मे अभय-कीर्तिका नाम पहले है और वसन्तकीर्ति का पश्चात्। इस परसे अभयकीर्तिके पट्ट पर वसन्तकीर्ति हुए यह जान लेना अस्वभाविक नही है। यथा—

सिद्धान्तिकोऽभयकीर्तिर्वनवासी महातपाः ।
वसन्तकीर्तिर्व्याघ्राहिसेवित. शीलसागर. ॥२१॥

पद्य का भाव स्पष्ट है कि आचार्य अभयकीर्ति सैद्धान्तिक थे वनवासी थे और महान् तपस्वी थे। वसंतकीर्ति भी वनवासी थे, तपस्वी थे, व्याघ्रो और सर्पो द्वारा सेवित थे और शीलके सागर थे। पट्टावली मे दोनो का समय वि० सं० १२६४ दिया गया है। इस परसे ज्ञात होता है कि दोनों की पट्टावस्था सभवतः एक ही वर्षके भीतर भीतर समाप्त हो गई थी।

सोलहवी शताब्दी के मध्यभागीय बहुश्रुत विद्वान् श्री श्रुतसागरसूरि जिन्होने अनेक प्रौढ ग्रन्थों की मौलिक टीकाएं लिखी हैं और कई मूलग्रंथो की भी रचना की है—षट्प्राभृत की टीका मे अपवाद वेषका उल्लेख करते हुए एक वसंतकीर्ति स्वामीका निम्न प्रकारसे परिचय देते हैं—

कोऽपवादवेष ? कलौ किं म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वा उपद्रव यंतीना कुर्वन्ति तेन 'मंडपदुर्गे' श्रीवसतकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलाया तट्टी सादरादिकेनचर्यादिकं कृत्वा पुनस्तुन्मुन्वतीत्युपदेश. कृतः

इस उद्धरण मे जिन वसतकीर्ति स्वामी को अपवाद वेष का उपदेष्टा कहा गया है। वे प्रकृत वसतकीर्ति ही प्रतीत होते हैं। क्योकि स्वामी वसन्तकीर्तिने यह उपदेश मडप दुर्ग मे दिया था। जो कि इस वक्त माडलगढ़ कहलाता है। उसी मडप दुर्ग मे उनके शिष्य प्रख्यात कीर्ति का होना कहा गया है। इस परसे यह जान लेना सहज है कि पट्टावलीके वसतकीर्ति और श्री श्रुतसागरके लक्ष्यभूत वसन्तकीर्ति एक ही अभिन्न महापुरुष हैं।

७९ आ० प्रख्यातकीर्ति—ये आचार्य वसंतकीर्तिके पट्ट पर हुए थे। क्योकि पट्टावली मे प्रख्यातकीर्ति को आ. वसतकीर्ति का शिष्य बताया है। नीचेके पद्य में इनका परिचय इस प्रकार दिया गया है कि उन वनवासी वसत-कीर्ति के शिष्य त्रिभुवन-प्रख्यातकीर्ति हुए। जो अनेक गुणों के आलय थे, सम यम और ध्यानके सागर थे, वादियों में इन्द्रके तुल्य थे, परवादी रूप हाथियोंके मद को विद्रावण अर्थात् चूर चूर करने के लिए सिंह सदृश थे, त्रैविद्य विद्याके आस्पद थे, और श्री मंडपदुर्ग मे प्रति विदित थे या प्रसिद्ध मडपदुर्ग मे निवास करते थे। यथा—

तस्य श्रीवनवासिनस्त्रिभुवने प्रख्यातकीर्तिरभू च्छिष्यो-
ऽनेकगुणालयः सम-यम-ध्यानापगासागरः ।
वादीन्द्र. परवादिवारणगणप्रागल्भविद्रावण.
सिंहः श्रीमति मंडपेऽतिविदितस्त्रैविद्यविद्यास्पदः ॥२२॥

इस परिचय पर से ज्ञात होता है कि आ० प्रख्यात-कीर्ति वस्तुभूत त्रिभुवन प्रख्यातकीर्ति थे। मेवाड़ के माडल-गढ के जंगलों मे वे अपने शिष्य-समूह के साथ रहते थे। पट्टावली मे इनका समय १२६८ दिया गया है। इनकी सर्वायु २८ वर्ष ३ माह २३ दिन थी, पट्ट पर २ वर्ष ३ माह २३ दिन रहे थे। इनके अवशेष ११ वर्ष गृहस्थपने मे और १५ वर्ष दीक्षावस्थामे व्यतीत हुए थे, यह भी पट्टावली मे ही उद्धृत है।

८० आ० विशालकीर्ति-ये आचार्य श्रीप्रख्यातकीर्ति के पट्टधर थे। ये उत्कृष्ट व्रतो की मूर्ति थे और तपो-महात्मा थे। यथा—

विशालकीर्तिर्वरवृत्तमूर्तिस्तपोमहात्मा ……… ।

अजमेर पट्टावली और नागौर पट्टावली मे प्रख्यात-कीर्ति के बाद शान्तिकीर्ति का नाम है और समय उनका क्रमशः १२६८ और १२७१ दिया गया है। कितने वर्ष शान्तिकीर्ति पट्ट पर रहे यह ज्ञात नही हो पाता है। कारण आगे पाठक्रम नष्ट है। तथा दोनो ही पट्टावलियो मे शान्तिकीर्ति के पश्चात् धर्मचन्द्र का नाम दिया गया है। आमेर और सूरत की पट्टावलियों मे शान्तिकीर्ति का कोई नाम है ही नही। उनमे भी वसन्तकीर्ति, प्रख्यातकीर्ति विशालकीर्ति, शुभकीर्ति और धर्मचन्द्र इस क्रमसे नाम दिये गये हैं। इस पर से स्पष्ट है कि अजमेरकी पट्टावली मे पाठ भ्रष्ट हो गया है और नागौर की पट्टावली जिसमे केवल नाम और सवत्का ही उल्लेख है, उसने भी अजमेर पट्टावली का ही अनुसरण कर लिया है। क्योकि अजमेर और नागौर के पट्ट एक ही परपरा की देन है।

भट्टारक विद्यानन्दी जो कि सोलहवी शताब्दी के प्रारंभ में हो गये हैं और जो बहुश्रुत विद्वान् श्रुतसागर सूरि तथा भ० मल्लिभूषण के गुरु थे अपनी वंशपरंपरा, विशालकीर्ति से प्रारभ करते हुए सुदर्शनचरित मे इनका

परिचय निम्न शब्दो मे देते है—

योगत्रयेषु निष्णातः विशालकीर्तिः शुद्धधी. ।
श्रीकुन्दकुन्दसंताने बभूव मुनिसत्तमः ॥९८॥

विशालकीर्ति शुद्ध ज्ञान के धारक थे, योगत्रय मे निष्णात थे, श्रीकुन्दकुन्द की सन्तान-अन्वय-में हुए थे और मुनियों में प्रशस्ततम थे। पट्टावली मे भी विशालकीर्ति उत्कृष्ट चारित्रमूर्ति और अनुपम तपस्वी कहे ही गये है। दोनो पर से इनका होना सुनिर्णीत है।

८१ आ० शुभकीर्ति—आचार्य शुभकीर्ति आचार्य विशालकीर्ति के पट्ट पर हुए थे। क्योंकि पट्टावलियों मे शुभकीर्ति का नाम विशालकीर्ति के अनन्तर आया है और कहा गया है कि शुभकीर्तिदेव एकान्तर आदि उग्र तपश्चरणो को करने वाले थे और सन्मार्ग के विधि-विधानमे ब्रह्मा के तुल्य थे। यथा—

....शुभकीर्तिदेव. ।
एकान्तराद्युग्रतपोविधाता धातेव सन्मार्गविधेर्विधाने २३

भ० विद्यानन्दी भी कहते हैं कि शुभकीर्ति विशालकीर्ति के पट्ट पर हुए थे। उनकी बुद्धि पचाचार के पालन से पवित्र थी, नामानुसार शुभकीर्ति के धारक थे, मुनियो मे श्रेष्ठ थे और शुभ के प्रदाता थे। यथा—

तत्पट्टेऽजनि विख्यात पंचाचारपवित्रधी· ।
शुभकीर्तिमुनिश्रेष्ठ शुभकीर्तिः शुभप्रद ॥९९॥

इन दो प्रमाणो पर से शुभकीर्ति नामके आचार्य भी हुए है और वे विशालकीर्ति के पट्ट पर हुए हैं यह सुनिश्चित होता है।

८२ आ० धर्मचन्द्र—आ० शुभकीर्ति के पट्ट पर आचार्य धर्मचन्द्र हुए। ये हम्मीर भूपाल द्वारा माननीय थे, अच्छे सिद्धान्तवेत्ता थे, संयम रूप समुद्र को वृद्धिगत करने मे चन्द्रमा जैसे थे। उनने अपने प्रख्यात माहात्म्य से अपना जन्म कृतार्थ किया था। इस बात को कहने वाला पट्टावली का यह एक पद्य है—

श्रीधर्मचन्द्रोऽजनि तस्य पट्टे हम्मीरभूपाल समर्चनीयः ।
सिद्धान्तिक सयमसिन्धुचन्द्र प्रख्यातमाहात्म्यकृतावतार. ॥

भ० विद्यानदी भी शुभकीर्ति के अनतर इनके नाम का उल्लेख करते हैं। वह श्लोक आगे पद्मनदी के प्रकरण मे दिया गया है। इनका समय अजमेर पट्टावली में १२७१ दिया है। परंतु अजमेर पट्टवली यहां पर अशुद्ध हो गई है। नागौर पट्टावली मे १२९६ दिया गया है। हम्मीर भूपाल के विषय मे मालूम किया तो मालूम हुआ कि वे मेवाड के राजा थे और वि० स० १२४३ (ई० स० १३००) में वे गद्दीनशीन हुए थे। यद्यपि पट्टावली के सवत् में और उदयपुर राज्य के इतिहास के सवत् मे कई वर्षों का अतर है। फिर भी आ० धर्मचंद्र और हम्मीर भूपाल के होने मे संदेह नही है। अतएव हम्मीर भूपाल द्वारा ये समर्चनीय थे, सस्कृत पट्टावली का यह अश तथ्य को लिये हुए है।

८३ आ० रत्नकीर्ति—ये आचार्य धर्मचंद्र के पट्ट पर हुए है। इनसे सबधित दो पद्य पट्टावली मे निम्नरूप के पाये जाते है—

तत्पट्टेऽजनि रत्नकीर्तियतिप. स्याद्वादविद्याम्बुधि-
र्नानादेशविवृत्तशिष्यनिवहप्रार्च्यांघ्रियुग्मो गुरुः ।
धर्माधर्मकथासु रक्तधिषण पापप्रभावाधको
बालब्रह्मतपः प्रभावमहित. कारुण्यपूर्णाशयः ॥२५॥
अस्ति स्वस्तिसमस्तसंघतिलकः श्रीनन्दिसंघोऽतुलो
गच्छस्तत्र विशालकीर्तिकलितः सारस्वतीय पर· ।
तत्र श्रीशुभकीर्ति कीर्तिमहिमा व्याप्ताम्बर सन्मति-
जीयादिंदुसमानकीर्तिरमलः श्रीरत्नकीर्तिगुरु. ॥२६॥

(१) इनमें कहा गया है कि आ० धर्मचंद्र के पट्ट पर यतिनायक रत्नकीर्ति हुए, जो स्याद्वाद विद्या के अथाह समुद्र थे, जिनके दोनो चरण नानदेशों मे निवास करने वाले शिष्यों द्वारा पूजित थे, जो धर्म-अधर्म मे भेद प्रस्थापक कथाओ के व्यावर्णन करनेमे अनुरक्त चित्त थे, पापके प्रभावके बाधक-नाशक थे, बालब्रह्म रूप तप के प्रभाव से महित थे, पूजित थे, उनका आशय करुणाभाव से परिपूर्ण था। (२) मे कहते है कि सब संघो मे अनुपम नदिसघ है। नदिसंघ मे विशाल कीर्ति से कलित सारस्वतीय गच्छ है। उस गच्छ मे जिन्होने शुभकीर्ति की कीर्ति रूप महिमा से आकाश को व्याप्त कर रक्खा था, जो प्रशस्त ज्ञानवान थे, जिनकी कीर्ति चद्रमा के समान निर्मल थी, वे श्री रत्नकीर्ति गुरु जयवत होवें। इन दोनों पद्यो मे रत्नकीर्ति की प्रशसा और जयवाद के साथ साथ उनका धर्मचंद्र के पट्ट पर आरूढ होना कहा गया है, जो उनके व्यक्तित्व को ऊंचा उठाने वाला है। पद्य-गत शुभकीर्ति पद धर्मचंद्र के गुरु और विशालकीर्ति पद उनके दादागुरु को भी प्रध्वनित करते है। अजमेर पट्टावली मे सं० १२९६ से १३१० पर्यन्त पट्ट पर इनका स्थित रहना कहा गया है। (क्रमश·)

लाला महावीर प्रसादजी ठेकेदारका स्वर्गवास

अन्तिम समय ५० हजार का दान

देहली जैन समाजके प्रतिष्ठित श्रीमान् ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदारका ८० वर्षकी वयमें १० जून, सोमवार सन् १९५७ के मध्यान्हमें स्वर्गवास हो गया।

लालाजी का जन्म वैशाख वदी १४ सं० १९३१ में हुआ था। साधारण शिक्षा प्राप्त करनेके बाद सर्व-प्रथम आपने देहली नगरपालिकामें खजांचीका काम किया। कुछ समयके पश्चात् नौकरी छोड़कर ठेकेदारीका स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया और अपने पुरुषार्थ, ईमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठा आदि गुणोंके द्वारा व्यापारिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रमें अच्छी उन्नति की। आपने अपने जीवनमें अनेक महान् कार्य किये। आप बहुत उदार दानी थे। सन् १९५४ में आपने ५० हजार रुपया निकाल कर महावीर प्रसाद चेरिटेबिल ट्रस्ट कायम किया। तथा अन्तिम समय-में भी करीब ५० हजार दान कर गये हैं। जिसकी विगत इस प्रकार है—

स्व० ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार

३००००) महावीरप्रसाद चेरिटेबिल फण्डमें
१००००) अयोध्या में विशालमूर्तिके चबूतरेके निर्माणार्थ
२०००) भूवलय ग्रन्थके प्रथम अध्यायके प्रकाशनार्थ
१०००) देहली जैन मन्दिरोंको
२०००) देहली जैन संस्थाओंको
१०००) टी० बी० के रोगियोंकी सहायतार्थ
शेष रुपया फुटकर सहायतार्थ

आपकी ज्ञानदानमें बहुत रुचि थी। आपने जैन पूजा-पाठ संग्रह, धर्मध्यान दीपक, रत्नकरण्डश्रावकाचार, आत्मा-नुशासन आदि प्रकाशित कराके बिना मूल्य वितरण किये।

आपकी मुनियोंमें परम भक्ति थी। दिल्लीमें मुनियोंके जितने भी चतुर्मास आज तक हुए हैं, आपने उन सबकी सर्व प्रकारसे खूब वैयावृत्य की और आहारदान देकर महान् पुण्य उपार्जन किया। आ० वीरसागरजीसे जयपुर चतुर्मासमें आपने ब्रह्मचर्य और दूसरी प्रतिमाके व्रत अंगीकार किये। गत ३ माससे आप बीमार थे। अन्तिम समय जिनेन्द्रदेवका स्मरण करते हुए आप स्वर्गवासी हो गये। अपने पीछे आप अपनी धर्मपत्नी, ४ पुत्र, ६ पुत्रियां, पोते, परपोते, धेवते, धेवतियां आदि विशाल परिवार छोड़ गए हैं। स्वर्गस्थ आत्माको शान्ति लाभ हो, और उनके कुटुम्बीजनोंको वियोगजन्य दु:खके सहन करनेकी शक्ति प्राप्त हो, ऐसी हमारी हार्दिक भावना है।

—वीर सेवामन्दिर परिवार

चिट्ठा हिसाब अनेकान्त १४वें वर्षका

(अगस्त सन् १९५६ से जुलाई सन् १९५७ तक)

आय

८५६=)६ ग्राहक खाते जमा जो वी० पी० आदि के द्वारा प्राप्त हुए।

२७७-) सहायता खाते

    २०२) सहायकोंसे
    ७५-) साधारण सहायतासे

    २७७-)

४६।।।) अनेकांतकी फाइलों तथा फुटकर किरण बिक्रीसे प्राप्त

५१) रद्दी खाते जमा

    १२३०।।।≡)६

१८६-)६ कागज खाते जमा ग्रंथ छपनेको लिया गया।

४३०४।।)२ घाटा जो देना है। ❀

    ५७२१।।-)२

व्यय

१२६७=)६ कागज खाते खर्च २०×३०=२४=२६=२७ रिम ५१ और ५ दस्ता, टाइटिलमें ४० पौंड आर्ट पेपर

    ७३१।-) सेठ बिरधीचन्द एण्ड संस
    ४०४।।)३ रूपचन्द एण्ड संस
    १३१।-)३ मुन्शीलाल एण्ड संस आदिके यहाँसे।

    १२६७=)६

१६४०) छपाई खाते खर्च किरण १ से १० तक।

    १६१२) रूपवाणी प्रेस
    २८) सन्मति प्रेस

    १६४०)

२१३-)८ पोस्टेज खाते किरण १ से १० तक।

३९≡)६ ब्लॉक आदि में

२१-)६ यातायात खाते

६१) स्टेशनरी खाते

    ३३४।=)८

२१००) वेतन खाते जो १२ महीने की बाबत पं० परमानन्दजीको दिये गये।

३८०) संयुक्त किरण ११-१२ की बाबत जो अनुमानतः देना बाकी है।

    १५०) कागज
    २१०) प्रेस छपाई, बाईंडिंग आदि
    २०) पोस्टेज आदि

    ३८०)

    ५७२१।।-)२

मन्त्री—वीर सेवामन्दिर

❀ पं० हीरालालजी और पं० जयन्तीप्रसादजीने भी वर्ष भर अनेकान्तके सम्पादनादिमें कितना ही हाथ बटाया है। यदि उनके वेतनका एक चौथाई भाग भी इसमें जोडा जाता, तो घाटेकी रकम और भी अधिक हो जाती।

सम्पादकीय

इस किरणके साथ अनेकान्तका चौदहवाँ वर्ष समाप्त हो रहा है। हमने इस वर्ष अनेकांतको और भी अधिक आकर्षक बनाने और सुन्दर पाठ्य सामग्री देनेका भरसक प्रयत्न किया, परन्तु विद्वान् लेखकोंका सहयोग न मिल सकने के कारण जैसी पाठ्य सामग्री हम देना चाहते थे, वैसी नहीं दे सके।

अनेकान्तके ग्राहकोंकी संख्या पहलेसे ही कम चली आ रही थी। हमने समय समय पर अपने प्रेमी ग्राहकोंसे निवेदन भी किया कि वे कमसे कम एक एक ग्राहक और बनावें। परन्तु नये ग्राहक बननेके स्थान पर कितने ही पुराने ग्राहकोंने अनेकान्तकी वी० पी० वापिस कर दीं और इस प्रकार हमें कितने ही पुराने ग्राहकोंसे भी वंचित होना पड़ा। इस मध्य हमने विद्वानोंको अनेकान्त अमूल्य देनेकी भी सूचना पत्रोंमें भी प्रगट की और उसके फल स्वरूप विद्वानों तथा सभी वर्गोंके लोगोंको २०० से भी अधिक प्रतियां प्रतिमास भेजी जाती रहीं। तथा उनसे प्रेरणा भी की गई, कि प्रत्येक विद्वान् एक-दो ग्राहक बनाने का प्रयत्न करे। पर इस ओर हमारे उन विद्वानों ने भी कोई प्रयास नहीं किया।

इसी अंकमें अनेकान्तके चौदहवें वर्षके आय-व्यय का चिट्ठा प्रकाशित किया जा रहा है। पाठक देखेंगे कि इस वर्ष ग्राहकी फीस आदि से लगभग १२००) की आय हुई है, जब कि व्ययकी रकम ६०००) के लगभग है। इस प्रकार आमदनी से व्यय की रकम साढ़े चार हजारसे भी ऊपर है। इसके अतिरिक्त पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री और पं० जयन्तीप्रसादजी शास्त्रीने भी वर्ष भर अनेकान्त के सम्पादनादि कार्योंमें कितना ही हाथ बटाया। यदि उनके वेतनका एक चतुर्थांश भी इसमें जोड़ा जाता, तो घाटे की रकम साढ़े पांच हजार से अधिक हो जाती। पाठकगण स्वयं ही विचार करें कि इतना अधिक घाटा उठा कर कोई भी संस्था किसी भी पत्र को कितने दिन तक चला सकती है?

हमें दुःख है कि 'अनेकान्त' जैसे-उपयोगी पत्रके प्रति भी समाजके अधिकांश श्रीमानों और विद्वानों की ऐसी उदासीन मनोवृत्ति चल रही है जिससे अनेकान्त को बराबर घाटेमें ही चलाना पड़ा है।

ऐसी आर्थिक परिस्थितिमें संस्थाके संचालकोंने यह निर्णय किया है कि 'अनेकान्त' को मासिकके स्थान पर त्रैमासिक निकाला जाय और ६) रु० वार्षिक मूल्यके स्थान पर ३) वार्षिक मूल्य रखा जाय।

पन्द्रहवें वर्ष की पहली किरण अक्टूबर में प्रकाशित होगी। पाठक गण नोट कर लेवें।

दशलाक्षणी पर्व तक मूल्यमें भारी कमी

अनेकान्तके पिछले वर्षोंकी फाइलोंको तथा चालू वर्षकी सबे किरणोंको भादों सुदी १५ तक आधे मूल्यमें दिया जायगा। जो सज्जन एक मुस्त २५) रु० मनीआर्डरसे पेशगी भेज देंगे उन्हें अनेकान्तकी पूरी फाइल भेज दी जावेगी। जो एक एक वर्षकी फाइल मंगाना चाहें वे ३) प्रति वर्षके हिसाबसे मनीआर्डर भेजें। वर्ष १, २, ३ और ६वें वर्षकी फाइलें स्टाकमें नहीं हैं।

व्यवस्थापक—अनेकान्त

अहिणंदणु जिणु पुणु णाण-चक्खु,
सिरि सुमइदेउ पोसिय-सपक्खु ।
पउमप्पहु पउमाऽऽलिंगि अंगु,
सिरि जिणु सुपासु पुणु विगय-संगु ।
चंदप्पहु जिणु चंदंसु वाणि,
सिरि पुप्फयंतु तित्थयरु णाणि ।
सीयलु वि सील-वय-विहि-पवीणु,
सेयंसु वि सिव-पय-णिरुच-लीणु ।
वासवेण महिउ जिणु वासुपुज्जु,
विमलुवि विमलयर गुणेहिं सुज्जु ।
तित्थयरु अणंतु वि अंत चुक्कु,
अरि-कोह-माण-मय-सयल-मुक्कु ।
सिरिधम्मु वि धम्मामय-णिहाणु,
पुणु संति जिणेसरु जय-पहाणु ।
सिरिकुंथु वि णंत-चउक्कठाणु,
अरणाहु वि लोयालोय-जाणु ।
सिरि मल्लिणाहु तित्थयरु संतु,
मुणिसुव्वउ अहसय सिरि महंतु ।
तह णमि जिणेसु पावाहि मंतु,
पुणु रिट्ठनेमि राइमइ-कंतु ।
सिरि पासणाहु विग्घंत-यारि,
पुणु वड्ढमाणु दुग्गइ-णिवारि ।
तसु तित्थ पवट्टइ भरह खेत्ति,
पयडिय धम्माहम्म जुत्ति ।

ये सयल जिणेसर, हुव होसहि धर, ते सयल वि पणवेवि धरा
पुणु जिणवर-वाणी लोय- हाणी, णियमणि धारिवि परमपरा

पुणो वि गोयमो मुणी पयासिया जिणज्भुणी,
पयत्थ जेण भासिया सुसव्व जीव भासिया ।
अणुक्कमेण तासु जे, जई वि जाय सव्व ते,
णविवि णाण-धारया भवण्णबोहि-तारया ।
मुणिंदु ताहं संतई, विराय-रोस संजई,
जिणेस सुत्त भासओ गुणाण भूरिवासओ ।
सुचेयणत्थ तम्मओ तवेण सोसिओ वओ,
सहस्सकित्ति पट्टि जो गुणम्मुकित्ति णाम सो
सुतासु पट्टि भ.यरो वि आयमत्थ-सायरो,
रिसीसु गच्छणायको जयत्तसिक्ख-दायको ।
जसक्खुकित्ति सुंदरो अकंपु णाय-मंदिरो,
सुसिस्सु तस्स आयओ खमागुणेण राइओ ।
सुखेमचंद पायडो जिओ जिणिंद णओ भडो,
रिसीस सव्व मज्भु ए मई विसाल दिंतु ते ।

महिवीढि पहाणउं णं गिरि राणउं, सुरहं वि मणि विंभउ जणिउं
कउ सीसहिं मंडिउ णंदउ पंडिउ, गोयायलु णामें भणिउं ॥२

जहिं सहहिं णिरंतर जिण-णिकेय,
पंडुरसुवण्णधयवडु समेय ।
सट्टाल-सतोरण जत्थ हम्म,
मणसुह संदायण णं सकम्म ।
चउहट्ट चच्च सदाम जत्थ,
वणिवर ववहरहिं वि णहिं पयत्थ ।
मग्गण ठाण कोलाहल समत्थ,
जहिं जण णिवसहिं परिपुण्ण अत्थ ।
जहिं आवणम्मि थिय विविह भंड,
कसवट्टहिं कसियहिं भम्मखंड ।
जहिं वसहिं महायण सुद्धबोह,
णिच्चंचिय पूया-दाण सोह ।
जहिं णिवसहिं वर चउवण्ण लोय,
पुण्णेण पयासिय दिव्वभोय ।
ववहार-पार-संपण्ण सव्व,
जहिं सत्त-वसण मय-हीण भव्व ।
सोवण्णचूड मंडिय विसेस,
सिंगार भारकिय णिरवसेस ।
सोहग्ग-णिलय जिणधम्मसील,
जहिं माणिणि माण महग्घ लील ।
जहिं चरड चाड कुसुमाल दुट्ठ,
दुज्जण सखुद्द खल पिसुण धिट्ठ ।
णवि दीसहिं कहिंमिव दुहिय हीण,
पेमाणुरत्तु सव्वजि पवीण ।
जहिं रेहहिं हय-पय-दलिय-मग्ग,
तंबोल-रंगरगिय-धरग्ग ।
जहिं सव्व मणुच्छवाई विहाइ,
दुग्गहु अवरु दइ पहणाइ ।
सोवण्णरेख णं ठवहिं आय,
णं तोमर णिव पुण्णेण आय ।

ताह तिसोहिउ गोयायलक्खु,
यां भज्ज समागाउं गाहु दक्खु ।
सुहवाच्छि जलायरु यां रयणायरु, बुहयण जुहुया इंदउरु ।
सत्थत्थहिं सोहिउ जणमणु मोहिउ, यां वर यायरह एहु गुरु ।३
तहिं तोमर कुल सिरि रायहंसु,
गुणगण रयणायरु लद्धसंसु ।
अयणायणाय यासण पवीणु,
पंचंग मंत सत्थहं पवीणु ।
अरि-राय-उरत्थलि-दिग्ण-दाहु,
समरंगणि पत्तउ विजय-लाहु ।
खग्गग्गि डहिय जें मिच्छ-वंसु,
जसऊरिय ऊरिय जे दिसंतु ।
णिव-पट्टालंकिय विउल भालु,
अतुलिय बल-खल कुल-पलय-कालु ।
सिरि गिवगणेस णंदणु पयंडु,
णं गोरक्खण विाहयाउ वसंडु ।
सत्तंगरज्ज भरदिण्ण खंधु,
सम्माण-दाण-तोसिय-सबंधु ।
करवाल पट्टि विप्फुरिय जोहु,
पव्वंत णिवह-गय-दलण सोहु ।
अइ विसम साह सुहाम थामु,
सायरहु तीर संपत्तु णामु ।
छत्तीसाउह-पयडण-पसिद्धु,
साहण-सायरु जस-रिद्ध-रिद्धु ।
पर-बल-संतासणु णिव-पय-सासणु यां सुरवइ बहु-धण-धणिउं
गत्र जलहर खस्सरु पहुपहुई धरु, डोंगरिंदु णामें भणिउं ।।४
तहु पट्ट महाएवी पसिद्धु,
चंदादे णामा पणयरिद्ध ।
सयलंते उर मज्झहं पहाण,
णिय-पइ-मण-पोसण-सावहाण ।
तहु णंदणु णिरुवम गुण-णिहाणु,
तेयगलु यां पच्चक्खु भाणु ।
यां णवउ जसंकुरु पुहमि जाउ,
णं जय-सिरीए पयडियउ भाउ ।
सिरि कित्तिसिंधु णामें गरिट्ठु,
यां चंदु कलायरु जय मणिट्ठु ।
सिरि डूंगरसीह णरिंद रज्जि,
वणिवरु णिवसइ पुणु बहु दु सज्जि ।

दुक्खिय-जण-पोसणु गुण-णिहाणु,
जो अयरवाल-कुल-कमल-भाणु ।
मिच्छत्त-वसण-वासण-विरत्तु,
जिण सत्थ णिग्गंथहं पायभत्तु ।
सिरि साहु पहुणुजि पहसियासु,
तहु णंदणु णिरुवम गुणणिवासु ।
सिरि खेमसीह णामेण साहु,
जिण धम्मोवरि जें बद्ध-गाहु ।
जिणचरणोदएण वि जो पवित्तु,
आयम-रस-रत्तउ जासु चित्तु ।
उद्धरिउ चउव्विह संघ भारु,
आयरिउ वि सावय चरिउ चारु ।
रिसि दाणवंतु यां गंध-हत्थि,
वियरेह णिच्च जो धम्म-पंथि ।
सम्मत्त-रयणालंकिय सरीरु,
कणयायलुव्व णिकंपु धीरु ।
सुह-परियण-कइरव-वण-हिमंसु,
उद्धरिउ पुरण पालहु जि वंसु ।
धण-कण कंचण-संपुरणु संतु,
पंडियह वि पंडिउ गुण-महंतु ।
दुहियण-दुह-णासणु बुह-कुल-सासणु जिण-सासण-रहधुर-धरणु
विज्ञालच्छीधरु रूवेण सरु अहणिसु-किय-विह उद्धरणु ।।५
तहु पणयणि पणय णिबद्धदेह,
णामेण धणोवइ सीलगेह ।
सुर सिंधुरगइ पायडिय लील,
परिवारहु पोसण सुद्ध सील ।
णर रयणहं णं उप्पत्ति खाणि,
गय-हसिणीव कलयंठि-वाणि ।
सोहग्ग-रूव चेल्लणि व दिट्ठ,
सिरि रामहु जिंह पुणु सीय सिट्ठ ।
तहिं उवरि उवण्णा रयण चारि,
णं णंत चउक्क सरुव धारि ।
तह मज्झि पढमु वियसिय सुवत्तु,
लक्खणं लक्खंकिउ वसण-चत्तु ।
अउलियसाह सहसेक्क-गेहु,
सिरि सहसराजु णामें मुणेहु ।
विण्णाण-कुसलु बीयउ सुपुत्तु,
जो मुणइ जिणेस-भणिउं सुत्तु ।

सुपवीणराय वावार-कज्जि,
गंभीरु जणायरु बहु-गुणज्जि ।
पहूराजु पहायरु पुहमिणाह,
जो णिव मणु रंजइ विविह भाइ ।
अएणु वि तीयउ रिसि-देव-भत्तु,
गिह-भार-धुरंधरु कमल वत्तु ।
सिरि देवसीहु देवावयारु,
जो करइ णिच्च उवयारु सारु ।
चउथउ णंदणु पुणु कुलु पयासु,
अवगमिय णिहिल-विज्जाविलासु ।
जिण समयामय-रस-तित्त चित्तु,
सिरि होलिवम्मु णामें पवित्तु ।
एमहिं चहुं सहियउ गुणगण अहियउ खेउसाहु जसायरु ।
णाणासुह विलसइ जईयण पोसइ णिय-कुल-कमल दिवायरु

अएणहिं दिणि आयम सत्थदत्थु,
सम्मत्त-रयणलंकिय समत्थु ।
गउ जिण-हरि खेउं साहु साहु,
भावें वंदिउ तहिं णेमिणाहु ।
पुणु पाल्हबंभु पणवियउ तेणु,
सिद्धत्थ भाव भाविय मणेण ।
पुणु तहिं दिट्ठउ सरसइ-णिकेउ,
रइधू पंडिउ पयडिय विवेउ ।
तेण वि सभासणु कियउ तासु,
जो गोट्ठि पयासइ बहु सुयासु ।
ता जिण अच्चण पसरिय भुवेण,
जपिउ हरसिंघ संघवी सुवेण ।
भो अयरवाल कुल कमलसूर,
पंडिय-जणाण मण-आसपूर ।
जिणधम्म-धुरंधर गुण-णिकेय,
जस-पसर दिसंतर किय ससेय ।
सिरिपजणसाहु णंदण सुणेहिं,
कलिकालु पयडु णिय-मणि मुणेहिं ।
दुज्जण अत्थियइ्ड त्रि दोसगाहि,
वट्टंति पउर पुणु पुहइ माहि ।
मइं सुकइत्तणि पुणु बद्धुगाहु,
पणविवि अणुराएं पासणाहु ।
तुहु सत्थु कुसलु लेलेहि भारु,
सिरि पासचरित्तहु जणण-तारु ।

तहु वयण सुणेप्पिणु मणि-पुलएप्पिणु, जंपइ खेउं तासु पुणु ।
भो रइधू पंडिय सील अलंकिय, तुहु वि एक्कु महु वयणु सुणु

णिय गेहि उवएणउ कप्प-रुक्खु,
तहु फलु को णउ वंछइ ससुक्खु ।
पुएणेण पत्तु जइ कामधेणु,
को णिस्सारइ पुणु विगय-रेणु ।
तह पइ पुणु महु किउ सइं पसाउ,
महु जम्मु सयलु भो अज्जु जाउ ।
तुहुं धएणु जासु एरिसउ चित्तु,
कइयण-गुणु दुल्लहु जेण पत्तु ।
बहु जोणि अणंताणंत कालु,
भवि भमइ जीउ मोहेण बालु ।
कहमवि पावइ णउ मणुव जम्मु,
अह पावइ तो पयडइ कुकम्मु ।
बालत्तणि असइ अभक्खु-भक्खु,
रंगइ महि महइ अणंत दुक्खु ।
कहमवि पावइ तारुएण भाउ,
वम्मह-वसेण सेवेइ पाउ ।
ण वियाणइं जुत्ताजुत्त-भेउ,
णउ सत्थु ण सरु अरहंतु देउ ।
धावइ दहदिहि दविणत्ति खिएणु,
णउ भावइ चेयणु परहु-भिएणु ।
लोहें बद्धहु आलियउ रसंतु,
पर-धणु-पर-जुवई मणि सरंतु ।
मिच्छत्तु विसम-रस-पाण-तत्तु,
णउ कहमवि जिणवर धम्मु पत्तु ।
अहवा विपत्तु णउ मुणइं तत्तु,
विहलउ हारइ पुणु ताण रत्तु ।
रयणुव्व दुलहु सावयहु जम्मु,
मइ पुएणें मइं लद्धउ सकम्मु ।
भो पंडिय सिरि पासहु चरित्तु,
पभणहिं हउं सुणमिसु एयचित्तु ।
ते मवणाजि सुणहिं जिणिंद-वाणि,
मलेहु किंपि मा चित्ति ठाणि ।

इय साहुहु वयणें वियसियवयणें पंडिएण हरिसेप्पिणु ।
तें कव्व रसायणु सुहमयदायणु पारद्धउ मणु देप्पिणु ।।८।।

अन्तिमभाग :—

सिरि अयरवाल-कुल-जलद-संसु,
एंडिल गोत्तें वरणाइं हंसु ।
जोइणिपुरम्मि णिवसंतु आसि,
सिरि देदासाहु स पुण्ण-रासि ।
पुणु तासु अणुक्कमि लच्छिकोसु,
महियालामें जण जणिय-तोसु ।
तहु णंदणु पेरूणावहीरु,
पुणु तासु तणुब्भउ धम्मि लीणु ।
अच्चियति जिणवर चरणारविंद,
मह दाणें पोसिय वंदिविंद ।
णामेण पुण्णपालु जि पउत्तु,
चाहडिय णाम पुणु तहु कलत्तु ।
तहु पुत्तु विणिण चउक्क सोह,
जिणधम्म धुरंधर पयड गोह ।
तह गरुवउ साहु जा पउत्तु,
नाथू साहु वि पुणु तासु पुत्तु ।
नाथूसाहुहु सुव बिणि हूव,
झाभणु बीधा गुणसारभूव ।
बीयउ जि पुण्णपालहु जि पुत्तु,
जायउ भाविय‍उ जिणिंद सुत्तु ।

जिणवरपयभत्तउ गिह-वयरत्तउ, जसु जसु तिहुयणहिं गुणिउं ।
परियण-सुह-दायणु गुणसय भायणु पजणसाहु णामें भणिउं

तहु पिय वील्ही णाम गुणायर,
पिययम चित्तहो णिच्च सुहायर ।
ताहि तणुब्भउ महि विक्खायउं,
अहणिसु पवयण-गुण-अणुरायउ ।
चउविह-संघ-भार-धुर-धारिउ,
जें मिच्छत्त-महागउ मोडिउ ।
संसारहु संसरणे भीयउ,
दाणेणं सेयंसु जि बीयउ ।
खेउं णाम साहु विक्खायउ,
देव-सत्थ-गुरु-पय-अणुरायउ ।
तासु धणो णामा पियवई मई,
जिम राहवहु सीय वम्महु रई ।
णंदण चारि तासु जय सारा,
सजाया गुणियणाहं पियारा ।

ते चत्तारि वि चहु दिसि मंडण,
आवय जण-मण-रोस विहंडण ।
सहसराजु पढमउं तहं सच्चइ,
जो संघवी गिरनारहु वुच्चई ।
स-रतनपालही णामा तहु पिय,
उधरण सुव उच्छंगिरमियमिय ।
पहाराजु जि बीयउ ससिकर-पहु,
दाण भोय उवमिज्जइ सो कहु ।
मयणपालही तहु पिय घरणी,
सोणपाल णंदणेण सउरणी ।
तीउ पुत्तु पुणु रइपति भासिउ,
गिह-भर-भारु वहणु जसु भासिउ ।
कोडी णामा तासु जि भामिणि,
अहणिसु सधव-चित्तमण-रामिणि ।
ताहि पुत्तु लोहगु णं समहरु,
वंजण लक्खण चच्चिव मणहरु ।
चउथउ सुउ तिज्जारत भरियउ,
होलिवम्मु णामें विप्फुरियउ ।
तहु कलत्त सरसुत्ती णामा,
दाण सील सुंदर अहिरामा ।

तहु पुत्तु गुणायरु णाउं कलायरु, चंदपालु णामेण सिसु ।
इहु वंसु पवित्तउ जिण-पय-भत्तउ, णंदउ महि-धण कण-वरिसु

एयहं सव्वहं जो मज्झि सारु,
खेऊं सुसाहु कयणावयारु ।
तें काराविउ पासहु पुराणु,
भव-तम-णिण्णासणु णाइं भाणु ।
कइणा विरएप्पिणु सुह मणेण
रइधू णामेण वियक्खणेण ।
संपुण्ण करेप्पिणु पयड अत्थु,
खेऊंसाहुहु अप्पियउ सत्थु ।
बहु विणए त गिण्हियउं तेण,
तक्खणि आणंदिउ णिय-मणेण
दीवंतर-आगय- विविह-वत्थु,
पहिराविव अइसोहा पसत्थु ।
आहरणहिं मंडिउ पुणु पवित्तु,
इच्छादाणें रंजियउ चित्तु ।
संतुट्ठउ पंडिउ णिय-मणंमि,
आसीवाउ वि दिण्णउ खणम्मि ।

अविरल-जल-धारहिं तयह णिवारहि तप्पउ मेइणि णिच्चपरा
कलि-मल-दुह खिज्जहु मंगल गिज्जहु पास-पसाए घरि जि घरा।

णिरुवद्दउ णिवसउ सयलु देसु,
पय पालउ णंदउ पुणु णरेसु ।
जिण-सासणु णंदउ दोस-मुक्कु,
मुणिगणु णंदउ तहिं विसय-मुक्कु ।
णंदहु सावय-यण गलिय-गाव,
जो णिसुणहिं जीवाजीव भाव ।
सिरि खेऊँसाहु सुधम्मि रत्तु,
णंदणहिं समउं णंदउ बहुत्तु ।
णंदउ महि णिरसिय असुह कम्मु,
जो जीव दयावरु परम धम्मु ।
अहि णंतउ पास पुराणु एहु,
सज्जण जणाह जि जणिउ णेहु ।
कंचण महिहरु जा ससि दिणिंदु,
जा पुणु महियलि कुल महिं हरिंदु ।
जा सक्क सग्गि सुरसिय समिद्धु,
ता सत्थ पवट्टउ अत्थ सिद्धु ।

मच्छर-मय-हीणउं सत्थ-पवीणउं पंडिय-मण-णंदउ सुचिरु ।
पर-गुण-गहणायरु णय-णियमायरु, जिणपयपयरुह णविय सिरु

इय सिरि पासणाह-पुराणे आयम-अत्थ-सुणिहाणे सिरि-पंडिय-रयधू-विरइए सिरि महाभव्व-खेऊँसाहु णामंकिए सिरिपासजिण-पंचकल्लाण-वण्णणो तहेव दायार-वंस-णिद्देसो णाम सत्तमो संधी परिच्छेओ सम्मत्तो ॥छ॥ संधि ७ ॥छ॥

प्रति तेरापन्थी बड़ा मन्दिर जयपुर, लिपि सं० १६५५

३८—पउमचरिउ (पद्म पुराण) कवि रइधू

आदिभागः—

पर णय-विद्धंसणु मुणिसुव्वय जिणु,
पणविवि बहु-गुण-गण-भरिउ ।
सिरिरामहो केरउ सुक्ख जणेरउ,
सह-लक्खण पयडमि चरिउ ॥
सिरि आइणाह-भव्वयणु इट्ठु,
पणवेप्पिणु लोयत्तय-वरिट्ठु ।
पुणु ससि-पहु धम्मामय सवंतु,
भव्वयणहं भवतयहं संमंतु ॥
तहिं संतिवि जीव-दया-पहाणु,
जिं भासिउ महियलि विमल-णाणु ।
पुणु वड्ढमाणु चरमिल्लु देउ,
सो सव्वहं जीवहं करउ-सेउ ॥
पुणु ताहं वाणि झाए विचित्त,
लोयत्तय-गामिणि वयण दित्ति ।
पुणु इंदभूइ गणहरु णवेवि,
सोधम्मु वि जंबूसामि तेवि ॥
पुणु ताइं अणुक्कमि देवसेणु,
इंदिय-भुअंग-णिद्दलण-वेणु ।
पुणु विमलसेणु तह धम्मसेणु,
सिरिभावसेणु णय-पाव-रेणु ॥
तह सहसकित्ति आयम-पहाणु,
तहिं पट्ट-णिसण्णउ गुण-णिहाणु ।
गच्छह णायकु सिरि गुणमुणिंदु,
सहत्थ-पयासणु विणय-तंदु ॥

तहु पट्ट जईसरु णिहय-रईसरु जसकित्ति मुणियण-तिलउ ।
तहु सिस्स पहाणउं तव-वय-ठाणउं खेमचंदु आयम-णिलउ॥१

गोवग्गिरि णामें गढु पहाणु,
णं विहिणा णिम्मिउ रयण-ठाणु ।
अइ उच्च धवलु णं हिमगिरिंदु,
जहिं जम्मु समिच्छइ मणि सुरिंदु ॥
तहिं डुंगरिंदु णामेण राउ,
अरिगण-सिरग्गि-संदिण्ण-घाउ ।
तुंवर-वर-वंसहं जो दिणिंदु,
जिं पवलहं मिच्छहं खणिउ कंदु ॥
तहु पट्ट धरणि णं रूव-लच्छि,
णामें चंदादे अइ-सुदच्छि ।
तहु सुउ कित्तिसिंघु जि गुणिल्लु,
जो रायणीइ-जाणण-छइल्लु ॥
पिउ-पाय भत्तु पच्चक्ख मारु,
पज्जुण्णु व महियलि कुमर सारु ।
तहिं रज्जि वणीसरु सुद्धचित्तु,
संचियउ जेण जिणधम्म-वित्तु ॥
जसु चित्तु सु-पत्तहं दाण-रत्तु,
जिणणाह-पूय जो णिच्च-भत्तु ।
मणामएण अइ-णिसिहि लीणु,
काउस्सग्गें तणु किमउ खीणु ॥
णायमु-पुराण-पढणहं समत्थु,
णिय-मणुय-जम्मु जि किउ कयत्थु ।

जो अयरवाल-वंसहं मयंकु,
विहु-पक्ख-सुद्ध सो णेय वंकु ॥
वाटूसाहुहु णंदणु पवीणु,
णिय-जणणिह-लोइय-विणय-लीणु ।
जिण-सासणु-भत्तु कसाय-खीणु,
हरसीहु साहु उद्धरिय-दीणु ॥
तहो भज्जा गुण-गण-सज्जा णोचंदही णामें भणिया ।
मुणिदाण-पियंकर वय-णियमायर णं पवित्ति रूवहो तणिया॥
बीई तिय वील्हाही गुणंग,
अइसील-विसुद्ध वि णाय-गंग ।
जेठिहि णंदणु सिरि करमसीहु,
गिह-भारु धुरंधरु बाहु दीहु ॥
मुणिसह णिवसह जसु पढम लीह,
जा वय-जणण पूरिय-समीह ॥
तसु भज्जा जोणाही पवीण,
गुरुदेव सत्थ-पय-भत्ति लीण ।
तहु वहणीऽणंतमती पहाण,
मह-सील-लीण गिह-लद्ध-माण ॥
चउविह दाणें पोसिय-सुपत्त,
अह-णिसु जिणवर-कम-कमल-भत्तु
लहुईहिं पुत्ति रुवें सुतारु,
णामेण ननो नेहें सुसारु ॥
जिण-चरण-कमल णाविय-सरीरु,
वय-तरु-णिव्वाहण-धीरु वीरु ।
अण्णहिं वासरि चिंतियउ तेण,
हरसीह णाम इच्छिय सिवेण ॥
किं किज्जइ वित्तें विहिय ममत्तें जेण ण दीणु भरिज्जइ ।
किं तेण जि काएं पयडियराएं वय-तरु जिण ण धरिज्जइ ॥३
णरभउ पाविव करणीउ एम,
भवदहि णिवडणु णो होइ जेम ।
चिंतिव्वउ दंसणु णाणु इट्ठु,
चरणु वि पुणु लोयत्तय-वरिट्ठु ॥
धम्मु जि दहलक्खणु लोयसारु,
सेविव्वउ एत्थु भवण्णतारु ।
विणु धम्में जीउ ण सुक्खि थाइ
त विणु कर चडिउ वि मयलु जाइ ॥
इय चिंतिवि पुणु गउ साहु तत्थ,
अच्छइ पंडिउ जिणगेह जत्थ ।
बहु विणएं पुणु विण्णत्तु तेण,
कर आरोप्पेविणु णिय-सिरेण ॥
भो रइधू पंडिय गुण-णिहाणु,
पोमावइ-वर-वंसहं पहाणु ।
सिरिपाल बम्ह आयरिय सीस,
महु वयणु सुणहि भो बुह-गिरीस ॥
सोढल-णिमित्त णेमिहु पुराणु,
विरयउ जहं कइ-जण-विहिय-माणु ।
तहं रामचरित्तु वि महु भणेहिं,
लक्खण समेउ इउ मणि मुणेहिं ॥
महु साणराउ तहु मित्त जेण
विण्णत्ति मज्झु अवहारि तेण ।
महु णामु लिहहि चंदहो वि माणि,
इय वयणु सुद्ध णिय चित्ति ठाणु ॥
इय णिसुणिवि वयणइं, जंपिय सवणइं पंडिएण ता उत्तउ ।
हो हो किं वुत्तउ एत्थु अजुत्तउ हउं गिह कम्में गुत्तउ ॥ ४ ॥
घडएण मवइ को उवहि-तोउ,
को फणि-सिर मणि पयडइ विणोउ ।
पंचाणण-मुहि को खिवइ हत्थु,
विणु सुत्तें महि को रयइ वत्थु ॥
विणु बुद्धिए तह कव्वहं पसारु,
विरएप्पिणु गच्छमि केम पारु ।
इय सुणिवि भणइं हरसीहु साहु,
पावियउ जेण महि धम्म लाहु ॥
तुहं कव्वु धुरंधरु दोमहारि,
सत्थत्थ-कुसलु बहु-विणय-धारि ।
करि कव्वु चिंत परिहरहिं मित्त,
तुह मुहिं णिवसइ सरसइ पवित्त ॥
तं वयणु सुणिवि भणियउ तेण,
पारद्धु सत्थु पुणु पंडिएण ।
तह विहु दुज्जण महु भउ करंति,
घूयड जह दुमणिय भय उवंति ॥
जहं काय-निंद मइयहु सरीरु,
सेयंति पेय-वणि लोय भीरु ।
तहं अवगुणु गुणु ते पाव लिंति,
णिय पयडि सहाउ जि पायडंति ॥
सज्जण अब्भत्थमि हउं सतुण्ह,
एगेव समेव्वउ दोसु अम्ह ।

इहु तुम्ह पसाएं करमि कव्वु,
हउं मइ विहीणु सोहेहु सव्वु ॥
जसु मइ इह जोत्तिय सो पुणु तेत्तिय पयडउ दोसु ण अत्थि इह
णिय धणु अणुमारें सहु परिवारें ववसाउवि सो करउ तिह ॥५

× × ×

इय बलहद्द-पुराणे बुहयणविंदहि लद्ध-सम्माणे सिरिपंडिय-रइधू-विरइए पाइय-बंधेण अत्थि विहि-सहिए सिरि हरिसींहु साहु-कंठ-कठाहरणे उहय-लोय-सुह-सिद्धि-करणे वंस-णिद्देस-रावण उप्पत्ति-वण्णणो णाम पढमो संधि-परिच्छेओ समत्तो ॥

चरम भाग :—

भव्वहं गुण णंदउ किउ सुकम्मु,
अरु णंदउ जिणवर-भणिउ धम्मु ।
राउ वि णंदउ सुहि पय समाणु,
णंदउ गोवग्गिरि अचलु ठाणु ॥
सावय जणु णंदउ धम्म-लीणु,
जिणवाणी आयण्णण पवीणु ।
देसु वि णिरवद्दउ सुहि-वसेउ,
घरि घरि अच्चिज्जउ आइदेउ ॥
णंदउ पुणु हरसीसाहु एत्थु,
जि भाविउ चेयण-गुण पयत्थु ।
मइं अंगिमंतु जसु फुरइ चित्ति,
कलिकाल-धरिय जिं भाण सत्ति ॥
सिरि रामचरित्तु वि जेण एहु,
काराविउ सव्वहं जणिय णेहु ।
तहु णंदणु णामें करमसीहु,
मिच्छत्त महागय-दलण-सीहु ॥
सो पुणु णंदउ जिण-चलण-भत्तु,
जो राय महायणि माणु पत्तु ।
सिरि पोमावइ परवाल वंसु,
णंदउ हरिसिंघु सवंी जासु संसु ॥

वाहोल माहणसिंह चिरु णंदउ
इह रइधू कइ तीयउ विधरा ।
मोलिक्क समाणउ कल गुण जाणउ
णंदउ महियलि सोवि परा ॥ १७ ॥

इय बलहद्द-पुराणे बुहयण-विंदेहिं लद्ध-सम्माणे सिरि पंडिय-रइधू-विरइए पाइय-बंधेण अत्थ-विहि-सहिए सिरिहरिसीह-साहु-कंठ कंठाहरणे उहयलोय-सुह-सिद्धिकरणे सिरिराम-णिव्वाण-गमणो णाम एकादसमो संधि परिच्छेओ समत्तो ॥११॥

प्रति आमेर भंडार, लिपि सं० १५५१
(स० १५४६ की लिखित नया मन्दिर धर्मपुराकी अपूर्ण प्रतिसे संशोधित)

३६—मेहेसर चरिउ
(मेघेश्वर चरित) कवि रइधू

आदिभाग—

सिरि रिसह जिणंदहु थुवसय इंदहु भवतम चंदहु गणहरहु ।
पय-जुयलु णवेप्पिणु चित्ति णिहेप्पिणु चरिउ भणमि मेहेसरहु

जय रिसहणाह भव-तिमिर-सूर,
जय णासिय तासिय कुमइ दूर ।
जय करण हरण गणहरि अपाव,
जय ति-जय-सुहंकर सुद्धभाव ॥
जय तियस-मउड-मणि-घिट्ठ-पाय,
जय आइ जिणेसर वीयराय ।
जय णिम्मल केवल णाण वाह,
जय अट्ठदह दोस-विगय अवाह ॥
जय भासिय तच्चं रूवसार,
जय जणणोवहि णिरु पत्त पार ।
जय वाणसरि वह हिम-गिरिंद,
जय चरुह णिरामय मइ अणिंद ॥
जइ णिहय पमाय भयंत मंत,
जय मुत्ति-रमणि-रजण-सुकंत ।
जय धम्मामय ससि सुजस सोह,
जय भव्वहं दुग्गइ-पह-णिरोह ॥

पुणु सिरि वीर जिणेंदु पणविवि भत्तिए सुद्धउ ।
सम्मइ सग्गु सारु जासु तित्थें मइ लद्धउ ॥१॥

साय-वाय-मुह-कमल-हसंती,
वे पमाण-णयणहिं पेच्छंती ।
पवयण अत्थ भणइ गिरि कोमल,
णाणा सद्द दमण-पह-णिम्मल ॥
वे उवओय करण जुमु संठिउ,
णासा वंस सुचरित्तु परिट्ठिउ ।
रेहा विग्गह तह गल कंदलि,
वे णय उररुह सहहि उरत्थलि ।
वायरणंगु उयरु णिरु दुग्गमु,
णाहि अत्थ गंभीर मणोरमु ।

दुविह छंद भुयदंड रवरणी,
जिण मय सुत्त सुवत्थहिं झुयणी ॥
सुकइ पसारु णिबंधु विसालउ,
अंग पुव्वओ तुषु रमालउ ।
संधि-विहत्ति-पयहि णिरु गच्छइ,
रस णव णाइभाव सु पयच्छइ ॥
पंचणाणा आहरणहिं लंकिय,
मिच्छाताइहिं कहि व ण पंकिय ।
विमल महाजस पसर विहूसिय,
जम्म-जरा-मरणत्ति अदूसिय ॥
सा होउ महुप्परि तुट्ठमणा, कुमइ-पडल णिराणासणि ।
तिल्लोय पयासणि णाणधरा दिसहहु वयण णिवासिणि ॥२
पुणु सिरि इंदभूइ गणसारउ,
पणविवि जिण-णाहहु गिरिधारउ ।
तासु अणुक्कमेण पुणि पावणु,
जायउ बहु सीसु वि ण उ रावणु ॥
णं सरसइ सुरसरि रयणायरु,
सत्थ-अत्थ-सु-परिक्खण-णायरु ।
सिरि गुणकित्ति णामु जइ-पुंगमु,
तउ तवेइ जो दुविहु असंगमु ॥
पुणु तहु पट्टि पवर जस-भायणु,
सिरि जसकित्ति भव्व-सुह-दायणु ।
तहु पय पंकयाइं पणमंतउ,
जा बुइ णिवसइ जिणपयभत्तउ ॥
ता रिसिणा सो भणिउ विणोएं,
हत्थुणिए वि सुमहु तेजोएं ।
भो रइधू पंडिय सुसुहाएं,
होसि वियक्खणु मज्झु पसाएं ।
इय भणेवि मंतक्खरु दिण्णउ,
तेणाराहिउ तं जि अच्छिण्णउ ॥
चिर पुण्णें कइत्त गुण सिद्धउ,
सुगुरु पसाएं हुवउ पसिद्धउ ।
पुत्थत्थि वि सुंदरु रयणाणिहि भूयलि पायडु सुक्खयरु ।
दे यट्टहु कुडुव अयलु णिरु गोपायलु णामें णायरु ॥३॥
णर रयणाहरु णं मयरहरु,
अरियण भयहरु णं वज्जहरु ।
णं णाय कणय कसवट्ट पहु,
णं पुहइ रमणि सिरि सेहरहु ॥

वण उववण छण्णउ णाइ भडु,
णयणाहं रुहदातण णाइंणडु ।
सोवण्ण रेखणाइं जहिं सहए,
सज्जण वयणु व सा जलु वहए ।
उत्तुंगु धवलु पायारु तसु,
णं तोमर णिव संताण जसु ।
जहिं मणहरु रेहइ हट्ट पहु,
णीसेस वत्थु संचय जि बहु ।
वर कणय रयण पह विप्फुरिउ,
णं महियलि सुरधणु वित्थरिउ ।
जहिं जण णिवसहिं उवयार-रया,
धण-कण-परिपुण्ण-सधम्मसया ।
तहिं राउ गुणायरु पवर जसु अरियण-कुल-संतावरु ।
सिरिडुंगरिंदु णामें भणिउ स-पयावें जिउ सहसयरु ॥४॥
णीइ तरंगिणि णावइ सायरु,
सयल-कलालउ ण वि दोसायरु ।
वे पक्खुज्जलु णिय पय पालउ,
मिलच्छ-णरिंद-वंस-खय-कालउ ।
एयच्छत्तु रज्जु जि जो भुंजइ,
गुणियण विंदह दाणें रंजइ ।
सयल-तेउराह णिरु सेवी,
पट्ट महिसि तहु चंदाएवी ।
तहु णंदणु भूयलि विक्खायउ,
रयदाणें कलिकण्णु समायउ ।
कित्तिसिंह णामेण गुणायरु,
तोमर-कुल-कमलायर भायरु ।
सिरि डूंगरणिव रज्जि वणीसरु,
अत्थि दुहियजण-मण-चिंताहरु ।
अयरवाल वंसं वर-भायरु,
दाण पूय-बहुविहि-विहियायरु ।
पजणु साहु जिणपय-भत्तिल्लउ,
पर-उवयार-गुणेण अभुल्लउ ।
तहु णंदणु दमवल्ली सुर-तरु,
जें णिव्वाहिउ जिणसंघहु भरु ।
अप्पा-पर सरूव-गुण-जाणणु,
कुणय-गइंद-विंद-पंचाणणु ।
गुणमंडिय विग्गहु जस-लुद्धउ,
रयणत्तउ भणि भावइ सुद्धउ ।

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोकहितका संदेश-वाहक
नीति-विज्ञान-दर्शन-इतिहास-साहित्य-कला और
समाज-शास्त्रके प्रौढ़ विचारोंसे परिपूर्ण
सचित्र मासिक

सम्पादक-मंडल

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

छोटेलाल जैन कलकत्ता

जयभगवान जैन एडवोकेट पानीपत

परमानन्द जैन शास्त्री

चौदहवाँ वर्ष

(श्रावण शुक्ला १ वीर नि० स० २४८३ से आषाढ़ शुक्ला १५ वीर नि० सं० २४८४
वि० सं० २०१३, १४ अगस्त सन् १९५६ से जुलाई सन् १९५७ तक)

प्रकाशक

परमानन्द जैन शास्त्री
वीरसेवामन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली

वार्षिक मूल्य	जुलाई	एक किरणका मूल्य
छह रुपया	१९५७	आठ आना

अनेकान्तके चौदहवें वर्षकी लेख-सूची

लेख लेखक पृष्ठ

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C.) जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) साहू शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर
२५१) सेठ तुलारामजी नथमलजी लाडनूवाले कलकत्ता

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) सेठ लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० शान्तिनाथजी ,,
१०१) बा० निर्मलकुमारजी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१ बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ,,
१०१ बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) श्री जयकुमार देवीदासजी, चवरे कारंजा
१०१) ला० रतनलालजी कालका वाले, देहली
१०१) ला० चतरसैन विजय कुमारजी सरधना

'वीर-सेवामन्दिर'
२१, दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक—परमानन्द जैन शास्त्री वीरसेवामंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली। मुद्रक-रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, देहली